

जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला १

रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी



चौरवम्बा प्रकाशन

जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला १

रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी



चौरवम्बा प्रकाशन

सत्यनारायणदास-कृष्णदास पाच्यविद्या ग्रन्थमाला

रासपञ्चाध्यायी-प्रीतुषोधिनी



चैरवम्बा प्रकाशन

॥ श्रीः ॥

जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१

ॐ नमः

श्रीगुद्धाद्वैतसम्प्रदायाचार्यानुमोदिता

रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी

(महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यविरचिता श्रीमद्भागवतदशमस्कन्ध-रासपञ्चाध्यायीव्याख्या)

हिन्दी व्याख्याकार

श्री पं० जगन्नाथ (मुनमुन जी) चतुर्वेदी

(दशभुजी गणेश, शरवन पुरा, मथुरा)

शुभाशंसक

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यवंशावतंस विद्वन्मूर्धन्य-

गोस्वामी श्री दीक्षित जी महाराज

प्रेरक-सहायक

एवं

प्राक्कथन-लेखक

प्रो० श्री राधेश्याम जी रस्तोगी



चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी-१

१६७१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२८

मूल्य : ३०-००

© चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)
फोन : ६३१४५

प्रधान शाखा
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, पो० बा० ६६, वाराणसी-१
फोन : ६३०७६

THE
JAIKRISHNADAS-KRISHNADAS PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA

I
००००

RĀSAPAÑCĀDHYĀYĪ ŚRĪ SUBODHINĪ

Being

A COMMENTARY ON THE FIVE RĀSA CHAPTERS

of

ŚRĪMAD BHĀGAVATA

by

MAHĀPRABHU ŚRĪ VALLABHĀCĀRYA

AS ACCEPTED BY THE ĀCĀRYAS OF

THE ŚUDDHĀDVAITA SECT

With A Hindi Commentary

by

ŚRĪ Pt JAGANNĀTHA (MUNMUNJI) CATURVEDĪ

Introduced by

GOSVĀMĪ ŚRĪ DĪKṢITAJĪ MAHĀRĀJA

Preface by

PROF. RADHESHYAM RASTOGI

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1971

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office

Gopal Mandir Lane
P. O. Chowkhamba, Post Box 8
Varanasi-1 (India)

1971

Phone : 63145

First Edition

1971

Price : Rs. 30-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 63076

अखण्डभूमण्डलाचार्य-



श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुः

विषय-प्रवेश

	पृ०
शुभाशंसा : गोस्वामी श्री दीक्षित जी महाराज : बंबई	९-१२
प्राक्कथन : प्रो० श्री राधेश्याम जी रस्तोगी : लखनऊ	१५-१७
शुभाशीर्वचनम्	१९-३४
(१) द्वितीय पीठाधीश्वर गो० श्री १०८ : श्री कल्याणराय जी महाराज : नाथद्वारा	२१
(२) तृतीय पीठाधीश्वर गो० श्री० १०८ : श्री ब्रजभूषणलाल जी महाराज : कांकरोली	२२
(३) चतुर्थ पीठाधीश्वर गो० श्री १०८ : श्री देवकीनन्दन जी महाराज	
(श्री सुरेश बाबा) : गोकुल	२३-२४
(४) पञ्चम पीठाधीश्वर गो० श्री १०८ : श्री गोविन्दलाल जी महाराज : भरतपुर	२५
(५) षष्ठ पीठाधीश्वर गो० श्री १०८ : श्री मुरलीधरलाल जी महाराज :	
गोपालमन्दिर, काशी	२६-२८
(६) गो० श्री १०८ : श्री ब्रजरत्नलाल जी महाराज : सूरत	२९-३१
(७) गो० श्रीमती शरदवल्लभा बेटी जी : वाराणसी	३२-३३
(८) स० गृ० गोस्वामी श्री १०८ : श्री रघुनाथलाल जी महाराज : भरतपुर	३४
शुभाकांक्षा : महामहिमोपाध्याय, पडितराज श्री राजेश्वरशास्त्री द्राविड	३५-३६
हर्षोद्गार : माननीय श्री महेशप्रसाद जी, जिलाधीश, वाराणसी	३७
'जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला' : संक्षिप्त परिचय	३९-४२
भूमिका : श्री पं० जगन्नाथ (मुनमुन जी) चतुर्वेदी : हिन्दी व्याख्याकार	१-५४
ग्रन्थारम्भः	१-५२३
प्रथमाऽध्याय : श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धस्थ षड्विंशाध्यायविवरण	१
द्वितीयाऽध्याय : " " सप्तविंशाध्यायविवरण	१७५
तृतीयाऽध्याय : " " अष्टविंशाध्यायविवरण	२५२
चतुर्थाऽध्याय : " " एकोनत्रिंशाध्यायविवरण	३१५
पञ्चमाऽध्याय : " " त्रिंशाध्यायविवरण	४०६
रासपञ्चाध्यायीस्थ श्रीमद्भागवत-श्लोकानुक्रमणिका	५२५
रासपञ्चाध्यायीस्थ 'श्रीसुबोधिनी' व्याख्योक्त श्लोकानुक्रमणिका	५२७

शुभाशंसा



गोस्वामी श्री दीक्षित जी महाराज
(बंबई)

‘ऋचोऽक्षरे परमेव्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेदं स किं ऋचा करिष्यति य इद्विदुस्त इमे समासते ॥ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति । वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ।’
इत्यादि श्रुति-स्मृति से सिद्ध एवं ब्रह्मसूत्रसमन्वयाध्यायद्वारा भगवान् वेदव्यास के द्वारा प्रतिपादित सर्वश्रुतिसमन्वित ब्रह्म का समन्वय उभय प्रकार से है ।

भगवान् वेदव्यास ने समन्वयाध्याय में शब्दात्मिका श्रुतियों का आध्यात्मिक प्रकार से ब्रह्म में समन्वय दिखाया है और उन्हीं ऋचाओं का आधिदैविक समन्वय महर्षि व्यास ने ‘रासपञ्चाध्यायी’ में दिखाया है । ‘वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे’ श्रीमद्भागवत के इस वाक्य से जिस तरह वेदों का मन्त्रात्मक रूप है, उसी तरह वेदों का मूर्तिमद् रूप भी सिद्ध होता है । तद्वत् वेद की ऋचाओं का भी मूर्तिमद् रूप—‘मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः’—‘रासपञ्चाध्यायी’ के इस वाक्य से सिद्ध होता है । इन्हीं का समन्वय रासपञ्चाध्यायी में प्रतिपादित है ।

सर्वप्रथम हमको देखना चाहिए कि इस रास में प्रविष्ट गोपियों का स्वरूप क्या है ?

(६)

‘न स्त्रियो ब्रजमुन्दर्यः पुत्र ! ताः श्रुतयः किल ।
नाहं शिवः शेषश्च श्रीश्च ताभिः समाः कचित् ॥
पष्टिवर्षसहस्राणि मया तत्र तपः पुरा ।
तथापि न मया प्राप्ताः तासां वै पादरेणवः ॥’ (बृहद्वादनपुराण)

(ब्रज की रमणियाँ साधारण स्त्रियाँ नहीं हैं, ये तो श्रुतियाँ ही हैं, अर्थात् श्रुतियाँ गोपियों का रूप धारण कर ब्रज के साथ रमती थीं । न मैं, न शिव, न शेष या न लक्ष्मी जी भी उनके बराबर हैं । पूर्वकाल में साठ हजार वर्ष तक मैंने तपस्या की, तब भी उनका पद-रज भी मुझे नहीं मिल सका ।)

बृहद्वादनपुराण के इन वचनों से श्रुतिरूपा गोपीजन हैं, यह स्पष्ट सिद्ध होता है । ये श्रुतियाँ भगवान् वादरायण के मत से ब्रज में ही समन्वित हैं । इसी को वेदानुकूल युक्तियों से विद्वानों के लिये भगवान् वेदव्यासने समन्वयाध्याय में सिद्ध किया और इन आध्यात्मिकरूपा श्रुतियों के समन्वय को वेदानुकूल युक्तियों से उपपादित कर इन्हीं श्रुतियों के आधिदैविक-रूपक रसात्मक समन्वय को प्रदर्शित करने के लिये भावुक भक्तहृदय रसिकों के लिये भगवान् वेदव्यास ने दशमस्कन्ध में पञ्चाध्यायी का आविर्भाव किया है । किन्तु इस पञ्चाध्यायी का वास्तविक तात्पर्य श्री सुबोधिनीजी के परिज्ञान विना प्राप्त होना नितान्त कठिन है ।

एकमात्र श्री सुबोधिनीजी ही ऐसी व्याख्या है जिसके परिज्ञान से रास में प्रविष्ट श्रुतिरूपा और ऋषिरूपा (कुमारिका) गोपियों के स्वरूप को हम समझ सकते हैं । श्री सुबोधिनीजी को देखे बिना गोपीजनों के स्वरूप-सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं । अच्छे-अच्छे विज्ञ विद्वानों को ‘कामाद् गोप्यः’ इस वाक्य का भ्रान्त अर्थ करते हुये मैंने स्वयं देखा है ।

पञ्चाध्यायी प्रकरण में त्रिविध गोपियों का सम्बन्ध है—श्रुतिरूपा, ऋषिरूपा और अन्तर्गृहगता । अन्तर्गृहगता का जो प्रकरण है उसका उद्देश्य ही यह है कि रासाधिकारी ऐसी कौन गोपीजन हैं जिन्होंने भगवत्स्वरूप को—

‘य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति यस्य आत्मा शरीरं स आत्मान्तर्या-
म्यमृतः ।’

(जो आत्मा में रहते हुए आत्मा को अन्दर से नियन्त्रित करता है, और जिसका आत्मा, शरीर है वह परात्मा अन्तर्यामी अमृत है ।)

इस बृहदारण्यक उपनिषद् वाक्य के अनुसार तथा—

‘अहमात्मात्मवान् धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि ।’

(मैं आत्मा-का-भी-आत्मा हूँ और प्रियवस्तुओं में भी अतिप्रिय हूँ ।)

इस भागवत वाक्यानुसार जिन्होंने विशुद्ध आत्मात्मभाव से भगवान् में सर्वथा निष्काम स्नेह किया है, वे ही रासाधिकारिणी और वे ही श्रुतिरूपा और ऋषिरूपा हैं और जिनको कामभाव संयुक्त जारभाव से स्नेह हुआ, उन अन्तर्गृहगता गोपीजनों का रास में प्रवेश ही नहीं है । यही बात—

‘तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः ।

जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥’

(उसी परमात्मा को ‘जार’ समझ कर भी मिली हुई (प्रेम करने वाली) ब्रज की स्त्रियों ने त्रिगुणात्मक शरीर का त्याग किया और तत्काल संसार-बन्धन से मुक्त हो गईं ।)

इन श्लोकों से भगवान् शुक रास में प्रविष्ट गोपीजनों का एवं रास में अप्रविष्ट गोपीजनों का स्वरूप पृथक् पृथक् करके दिखाते हैं । इनकी जारभाव से रति है जो कि रास में अप्रविष्ट हैं । इस बात को दिखाने के लिये ही—‘जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः’ ऐसा कहा है और जिनका रास में प्रवेश है, उनकी आत्मभाव से रति है । इस बात को सुव्यक्त दिखाते हुए—‘प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ।’ यह वाक्य इनके मुख से कहलाया है । किन्तु इन सब प्रभेदों का ज्ञान श्री सुबोधिनीजी के ज्ञानाधीन है ।

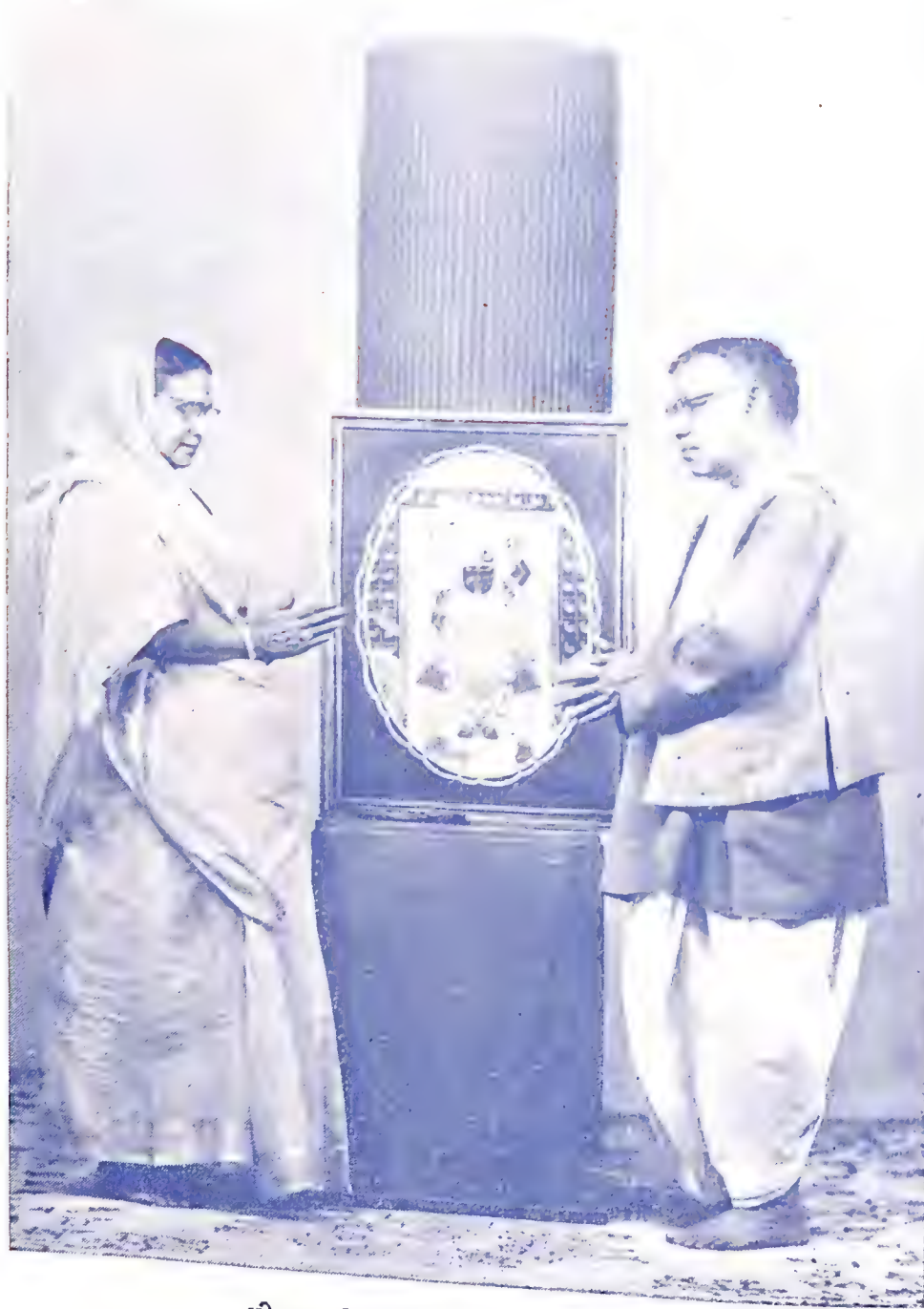
श्री सुबोधिनीजी का साम्प्रदायिक अध्ययन जिस पद्धति से हम लोगों को मिला है उस प्रकार का अध्ययन आज विरल हो गया है । ऐसी परिस्थिति में इन ग्रन्थों का हिन्दी भाषानुवाद वर्तमान युग में परमावश्यक है, और वह भी अनुवाद केवल श्री सुबोधिनीजी का ही हो, तब भी पर्याप्त नहीं है । किन्तु टिप्पण्यादि व्याख्योपव्याख्यायुत श्री सुबोधिनीजी को हम वास्तविकता से समझ सकते हैं । यह कार्य भगवच्चरण प्राप्त बाबू श्री वृजगोपाल जी तथा श्रीयुत प्रो० राधेश्याम जी रस्तोगी के प्रोत्साहन एवं परमाग्रह से सम्प्रदाय-रहस्य के सुयोग्य ज्ञाता विद्वान् श्री पं० जगन्नाथ (जगन) जी ने अतिसुन्दर रीति से सम्पादन किया है, और इसके प्रकाशन-मुद्रण कराने में प्रो० श्री राधेश्याम जी रस्तोगी के प्रोत्साहन से चौखम्बा संस्कृत सीरीज के अध्यक्ष स्वनामधन्य गोलोकवासी श्री जयकृष्णदास जी गुप्त के सुपुत्र श्री मोहनदास जी गुप्त तथा स्वनामधन्य गोलोकवासी श्री कृष्णदास जी के सुपुत्र

श्री विठ्ठलदास जी गुप्त, इन दोनों वन्धुओं के सर्वविध सहयोग एवं प्रोत्साहन से सर्वाङ्गपूर्ण हो कर सम्पन्न हुआ है, इसमें मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। अत्यधिक प्रसन्नता इस बात में है कि गोलोकवासी श्री हरिदास जी गुप्त तथा उनके सुपुत्र वन्धुद्वय गोलोकवासी श्री जयकृष्णदास जी गुप्त तथा गोलोकवासी श्री कृष्णदास जी गुप्त ने निःस्वार्थभाव से संस्कृत साहित्य की जो सेवा की है, वह विश्व-प्रसिद्ध है। इसके लिये हम सभी संस्कृत विद्वान् उनके चिरकृणी हैं।

बहुत ही हर्ष और प्रमोद का विषय है कि 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' के समुत्थापक गोलोकवासी वन्धुद्वय श्री जयकृष्णदास जी गुप्त तथा श्री कृष्णदास जी गुप्त के स्मारक स्वरूप 'जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला' में सर्वप्रथम यह ग्रन्थरत्न 'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी' प्रकाशित हो रहा है।

श्री चि० मोहनदास तथा श्री चि० विठ्ठलदास, इन दोनों उदीयमान वन्धुओं ने अपने-अपने पिता के भावानुरूप उन दोनों पुण्यात्माओं की स्मृति में 'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी' का जो इतना सुन्दर मनोरम मुद्रण कर के पितृ-ऋण से मुक्त होने का स्तुत्य प्रयास किया है, इसके लिये मैं दोनों वन्धुओं का हार्दिक और अनन्त आशिषाभिनन्दन करता हूँ तथा पुनः वावू श्री वृजगोपाल जी तथा प्रो० श्री राधेश्याम जी एवं सफल हिन्दी व्याख्याकार श्री जगन्नाथ (जगन) जी का भी हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। इति शम्।

गोस्वामिदीक्षितजी



श्रीनाथ जी के सान्निध्य में लखनऊ निवासी
प्रोफेसर श्री राधेश्याम जी रस्तोगी, स्वर्गीया धर्मपत्नी सहित

प्राक्कथन

श्रीमद्भागवत-गूढार्थ-प्रकाशन-परायण परमाचार्यवर्य श्रीमन्महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने अपने प्रस्थानचतुष्टय में श्रीमद्भागवत की समाधिभाषा को प्रमेयतत्त्व का परम प्रतिपादक माना है। इनमें वर्णित भगवच्चरित्र भवरोगग्रसित जीवों के लिए महामहौषधि के समान है, तो आत्माराम निष्काम परमहंसजनों के लिए भी लोक के परे परमानन्द का अनुभव कराना इनका महान् वैशिष्ट्य है।

यह वैष्णवों का परम धन है। अखिल कलेशकीला ललित श्री हरिलीला की अमन्द मन्दाकिनी इसमें अनवरत रूप से प्रवाहशील है।

आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिपूर्वक श्री हरि के पाद-पद्म का रसास्वादन करा देना ही इनका परम फल है। समस्त संशयों का यह शयन-स्थल है।

कलिकाल-तमश्छन्न प्रसुप्त तन्द्रित भगवद्भावविस्मृत मायापिशाची के लौहमय करों से पिसे हुए, दरिद्रता के दुःख से प्रपीडित एवं आशाओं के पाश से जकड़े हुए मानवों के लिए श्रीमद्भागवत का अधिकारभेद से सबके उद्धार की सुखद सान्त्वना प्रदान करने की कृपा करना सहज स्वभाव है।

महर्षि वेदव्यासरचित पुराणों में इनका सर्वतंत्र स्वतंत्र स्थान है।

‘यस्मिन् पारमहंसमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।’ इस उक्ति के अनुसार यह मूधन्य माना गया है। वास्तव में इसके सम्बन्ध में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है।

भगवदीय विद्वज्जनों की राय में इतिहासों में पुराण और पुराणों में श्रीमद्भागवत और भागवत में दशमस्कंध और दशमस्कंध में भी रासपञ्चाध्यायी एक श्रेष्ठतम प्रसंग माना गया है। श्रीमद्भागवत-पीयूषसमुद्रमथनक्षम परम दार्शनिकाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने अपनी टीका श्री सुबोधिनी जी में इसका सुन्दर आख्यान किया है। वस्तुतः इस पञ्चाध्यायी में वर्णित लीला के गूढ रहस्य की व्याख्या प्राकृत जगत में नहीं की जा सकती। क्योंकि यह जागतिक क्रीड़ा ही नहीं है। यह तो भौतिक संस्पर्शशून्य परम दिव्यमय, आनन्दमय, रसमय, राज्य की

चमत्कारमयी लीला है, जिसका दर्शन एवं श्रवण करने के लिए आत्माराम परमहंसजन भी परम उत्कण्ठित रहते हैं।

श्रीनन्दनन्दन की मुखाम्बुज-मुधा का अपने अंजनयुक्त नयनों से पान करने वाली नित्यसिद्धा परम सौभाग्यशालिनी रसमयी गोपियों के साथ रमण करने वाले ब्रजराज, ब्रजजन-सर्वस्व, प्राणप्रियतम परब्रह्म सगुण निर्गुण से परे भक्तजनवन्द्य नित्यनिकुंजेश्वर भगवान् श्यामसुन्दर के अप्राकृत अपरिमेय लीला-रस का वर्णन इस पञ्चाध्यायी में ही मिलता है।

जिनकी चरण-धूलि की प्राप्ति, जन्मजन्मान्तर तप करने वाले योगियों को भी नहीं हो पाती। विविधसाधनों के अनुष्ठान करने के बाद भी जिनकी सांवरी सलोनी मूर्ति ध्यान में नहीं आती, उन प्रभु को अपने, हाव-भाव कटाक्ष आदि स्नेहमयी क्रिया के द्वारा सामने उपस्थित करके उनके श्रीविग्रह का चिदानन्दमय रसास्वादन करने वाली मोक्ष संन्यासिनी गोपिकाओं के रसमय कथानक का यह केन्द्र है।

समस्त रसशास्त्रों के आलम्बनभाव आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के स्थायीभाव को महाभाव में उद्दीपन करने वाली परम उद्दीपिका रसकल्लोलिनी गोपीजनों की सहज सुबोध प्रीति की रीति का परम मार्मिक वर्णन रासपञ्चाध्यायी का प्रमुख विषय है।

ब्रह्मादिक देववृन्द जिनके जूठन प्रसाद की इच्छा बार बार करते हैं, उन्हें अपना चर्चित ताम्बूल देकर स्ववश कर लेना इन महामहिमशालिनी गोपिकाओं का ही काम है।

रसशास्त्रसागर श्री शुकाचार्य जी के शब्दों में इस पञ्चाध्यायी का प्रारम्भ होता है। कुन्द, मंदार, कचनार, अनार, कदंब, जूही, चम्पा, मौलिश्री, गुलाब आदि प्रसून भी अपने-अपने रसमयी विहसन से ब्रजराज प्रभु के चरणकमल में स्वकीय अंजलि उपस्थित करते हुए महारासेश्वर प्रभु की लीला का दर्शन करते हैं।

“जन्म कर्म च मे दिव्यम्” इस भगवद्वाक्यानुसार प्रभु ने परम लीलाधिकारिणी स्वयंवश गोपियों के साथ जो महारास किया, वह सर्वथा भौतिक संस्पर्श शून्य है।

इस अलौकिक लीला को समझने के लिए परम भगवत्कृपावल की आवश्यकता है। वह साधनसाध्य न होकर भगवत्कृपासाध्य है। लौकिक अंगसंयोगजन्य क्षणिक सुख की कल्पना की कसौटी पर उस परम दिव्यातिदिव्य निर्मल निष्कलंक भगवल्लीला-प्रसंग (जिसके नायक थे सच्चिदानंद विग्रहपरात्पर तत्त्व पूर्णतप स्वाधीन और अंकुशरहित स्वेच्छा-विहारी गोपीजन-प्राणवल्लभ नन्दनन्दन भगवान्, और नायिका थीं, स्वयं आह्लादिनी शक्ति नवनिकुंजेश्वरी वृन्दावनाधीश्वरी ठकुरानी राजरानी महारानी श्री राधाजी, और उनकी

ही कायव्यूहस्वरूपा स्वतःसिद्धा घनीभूत प्रेमस्वरूपिणी श्री गोपीजन) को परखना अक्षम्य अपराध है।

इस रसमय रासप्रसंग की फलश्रुति का वर्णन व्यास-कुमार श्री शुकाचार्य जी महाराज के श्रीमुख से किया जाता है—

‘विक्रीडितं ब्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः, श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं, हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥’

ब्रजवधुओं के साथ भगवान् की इस रासक्रीडा का जो धीरपुरुष श्रद्धायुक्त (संशयहीन) मन से श्रवण और कीर्तन करेगा वह प्रभु की प्रेमापरा भक्ति को प्राप्त होगा और हृद्रोग (काम क्रोधादि पड़ विकार, अहंता, ममतात्मक सांसारिक भाव जो कि जीव के वास्तविक स्वरूप को आवृत कर प्रभु से दूर रखते हैं) सर्वथा विनष्ट हो जायगा।

भक्ति-मार्गाब्ज-मार्तण्ड श्रीमद्वल्लभाचार्य जी ने अपनी सुबोधिनी टीका में रसिक भगवज्जनों के परमानंद प्राप्ति हेतु इस महारास का सुमधुरभावपूर्ण वर्णन किया है। विस्तार न करके मुझे यह प्रस्तावना पुष्पांजलि लेकर उपस्थित होते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है।

इस परम रसमय सुबोधिनी आख्यान का हिन्दी अनुवाद व टीका नित्य भगवल्लीला प्राप्त, संप्रदाय के वयोवृद्ध विद्वान् भगवत्सेवाकथानुरागी परम भगवदीय श्री जगन्नाथ चतुर्वेदी, (मुनमुन जी) मथुरा धाम निवासी ने परम परिश्रम व अनुशीलन के साथ किया था। उन मनीषिवर्य के हम महान आभारी हैं जिन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार करते हुए इस परम पुनीत कार्य को संपादित किया था।

श्रीमदाचार्य-पीठाधीश्वरों के शुभाशीर्वचनों से इस संस्करण का जो अभिनन्दन किया गया है उसके लिये लेखक, प्रकाशक और हम तीनों सोत्फुल्ल आभारी हैं। गोस्वामी श्री दीक्षित जी महाराज की ‘शुभाशंसा’ के आलोक में यह संस्करण और भी चमक उठा है। रासलीला के प्रसंग को लेकर जनसाधारण में जो भ्रान्तियाँ फैली हुई थीं, श्री दीक्षित जी की ‘शुभाशंसा’ से सभी दूर हो जाती हैं। उनकी विद्वत्ता सर्वतोभावेन स्तुत्य है।

इस दिव्य संस्करण से भगवत्प्रेमीजन लाभ उठाकर अलौकिक फल के भागी बनें तथा मेरे प्रयास को अपनी शुभकामनाओं से संवर्धित करने की कृपा करते हुए मेरे द्वारा की गई त्रुटियों को क्षमा करें। विशेष श्री हरिकृपा—

श्री मद्वल्लभचरणरजानुरागी वैष्णवों को सप्रेम भगवत्स्मरण !

—राधेश्याम रस्तोगी

शुभाशीर्वाचनम्

(१)

द्वितीय पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री १०८

श्री कल्याणराय जी महाराज

(नाथद्वारा, राजस्थान)



मैंने 'जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला' के प्रथम पुष्परूप प्रकाशित ग्रन्थ श्रीमदाचार्यचरण प्रणीत तामसफलान्तर्गत प्रकरण 'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी' का अवलोकन किया। इसके सुन्दर प्रकाशन एवं मुद्रण कराने का श्रेय सम्प्रदाय के निष्ठावान् सेवक श्री मोहनदासजी गुप्त तथा श्री विठ्ठलदास जी गुप्त बन्धुओं को है, जिन्होंने अपने-अपने गोलोकवासी सम्प्रदायानुरागी पिता की स्मृति में बल्लभीय सृष्टि के लिए एवं श्रीभागवतपिपासुओं के हितार्थ इस अनुपम पुष्प को प्रकट किया है।

इस ग्रन्थ के हिन्दीव्याख्याकार पुष्टि-साहित्य के मर्मज्ञ एवं रसज्ञ श्री पं० जगन्नाथ जी चतुर्वेदी ने इस स्तुत्य सत्कार्य द्वारा अपनी लेखनी को सफल किया है। श्री चतुर्वेदीजी ने श्रीसुबोधिनीजी पर यावत् उपलब्ध, साहित्य का सदुपयोग समुचित ढंग से इस ग्रंथ में किया है जिससे पाठकों को समझने में सारल्य हो जाता है। गूढ़ भावों के रहस्य को भी सुबोध शैली में वर्णित किया गया है।

मैं ऐसे सुन्दर एवं मनोरम पुष्टि साहित्य के प्रथम प्रकाशन के लिए गुप्त बन्धुओं का अभिनन्दन करता हूँ और भविष्य में भी वे सम्प्रदाय के साहित्य का प्रकाशन करते रहें यही सुकामना करता हूँ।

गो. कल्याणराय

(२१)

(२)

तृतीय पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री १०८
श्री ब्रजभूषणलाल जी महाराज
(कांकरोली)



‘जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला’ का प्रथम पुष्प ‘रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुवो-
धिनी’ प्राप्त हुआ। अवलोकन करने में ज्ञात हुआ कि श्रीमद्भागवत के तत्त्वपूर्ण रसप्रसंग को
लेकर ग्रन्थमाला का यह प्रारम्भ एक सुन्दर प्रयास है।

अनुवाद की भाषा भी सुन्दर है। श्री सुवोधिनी के पूरे साहित्य के उल्लेख के साथ
अनुवाद का प्रकाशन इसकी विशेषता है। सबसे विशिष्ट बात यह है कि मूल सुवोधिनी को
अनुवाद के साथ रखा गया है। अनुवादक प्रायः मूल को भूल जाते हैं, जिसमें किस शब्द का क्या
अर्थ वा मर्म है, यह पाठक को विदित नहीं हो पाता, परन्तु प्रस्तुत संस्करण सर्वाङ्गपूर्ण है।

श्री दीक्षित जी ने अपनी ‘शुभाशंसा’ में ब्रजसीमन्तिनियों एवं भगवान् के स्वरूप
को थोड़े शब्दों में समझाते हुए जो लिखा है, वह रासपञ्चाध्यायी पढ़ने के पूर्व वास्तव में
मननीय है।

उपर्युक्त ग्रन्थमाला की प्रस्तुत योजना द्वारा सम्प्रदाय एवं संस्कृत साहित्य की सेवा
सराहनीय है।

श्री. ब्रजभूषणलाल

(२२)

(३)

चतुर्थ पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री १०८
श्री देवकीनन्दन जी महाराज
(श्री सुरेश बाबा)
गोकुल, मथुरा



॥ श्रीगोकुलेशो जयति ॥

श्रीवल्लभकृतां रास-पञ्चाध्यायीं शुभाभिमाम्।
टीकां सुवोधिनीं वन्दे लोकालोकोज्ज्वलोज्ज्वलाम् ॥ १ ॥
भागवतार्थोऽगाधः क, काऽल्पविषया मतिः।
तथापि सचिरोद्धार्यं शुभाशंसा समर्प्यते ॥ २ ॥

इस प्रपञ्चात्मक विश्व में जब चारों ओर से भव-विभीषिका मुंह बाये दौड़ी हुई आ रही है,
नित्य नव दारुण दुःख-परम्परा जन-मानस को प्रताडित कर रही है; तब शान्ति के शाश्वत
सुगम पथ पर अग्रसर होने के लिए श्रीमद्भागवत की परमाराध्य श्रीमद्ब्रह्माचार्य-चरण-कृत
‘श्रीसुवोधिनी’ टीका ही सांसारिक जनों के लिए एकमात्र साधन है।

जीव की कामना ‘सुखं मे भूयात् दुःखं मे मा भूत्’ इस वाक्य के अनुसार सतत सुख-
परक रही है। इस सांसारिक सुख से भी कहीं अधिक एक और सुख है, जिसे आत्मकल्याण के
रूप में कहा जाता है। उस आत्मकल्याण की दिशा में श्रीमदाचार्यचरण का यह चरम चिन्तन
जागतिक जीवों को उस ‘रसो वै सः’ रस निधि ब्रजेन्द्रनन्दन की कलित कलिन्दजा के
कमनीय कूल-स्थित कान्त केलियों के वास्तविक दर्शन का पथ प्रशस्त करने में विशेष रूप से
सहायक होगा।

(२३)

प्रस्तुत ग्रन्थरत्न-प्रकाशक परम भगवदीय श्री जयकृष्णदास जी के आत्मज श्री मोहन-
दास जी तथा परम भगवदीय श्री कृष्णदास जी के भुत श्री विठ्ठलदास जी बन्धुद्वय ने
श्रीमद्भागवतमहापुराण दशमस्कन्धान्तर्गत श्रीकृष्णप्राण रामपञ्चाध्यायी की आचार्य-पाद-
कृत श्रीसुवोधिनी टीका की हिन्दी व्याख्या पृष्टिसम्प्रदाय के सौहार्दविज श्री पं० जगन्नाथ जी
चतुर्वेदी द्वारा कराकर अपने-अपने गोलोकवासी पिता के स्मृति-स्वरूप “जयकृष्णदास-
कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला” के प्रथम पुष्प रूप में प्रकाशित कर सम्प्रदाय की जो स्तुत्य
सेवा की है, इसके लिए वे वैष्णवजगत् के आशीर्वादपात्र हैं।

सर्वान्तर्यामी निखिल ललित-लीला-ललाम मदीय सतत आराध्यतम श्रीगोकुण्डेशप्रभु
के चारु चरणारविन्दों में साग्रह निवेदन है कि वे बन्धुद्वय को चिगयुष्य प्रदान कर विविध
साम्प्रदायिक धर्मग्रन्थों के प्रणयन एवं प्रकाशन में प्रेरित करते रहें।

‘रासलीला हरैर्जीयात् यत्र वै रमते हरिः।
प्रपञ्चात्मकपरे लोके नित्यानन्दप्रदायिनी ॥’

गोस्वामी देवमीनन्द
(सुरेश कान्वा)



(४)

पञ्चम पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री १०८
श्री गोविन्दलाल जी महाराज
(कामां, भरतपुर)

मंगलमय प्रभु की परम अनुकम्पा से हिन्दी का साहित्य क्षेत्र ‘रासपञ्चाध्यायी-
श्रीसुवोधिनी’ के प्रकाशन से पल्लवित हो उठा है। इसका हिन्दी व्याख्यान श्री पं० जगन्नाथ चतुर्वेदी
(मुनमुन जी) मथुरा निवासी ने बहुत ही परिश्रम तथा सावधानी से किया है। आचार्य श्री
महाप्रभु ने ‘श्री सुवोधिनी जी’ के द्वारा वैष्णव जनों को प्रभु का तात्त्विक दर्शन कराया है।
हमारा तो दृढ विश्वास है कि ‘श्री सुवोधिनी’ का तात्त्विक अध्ययन कर लेने के बाद ही
रासलीला का पूर्ण मौलिक रहस्य समझ में आ सकता है। आधुनिक युग में इन लीलाओं पर
जैसी शंकाएँ जनता में उठाई जाती हैं, उन सब का पूर्णतः समाधान प्रस्तुत श्री सुवोधिनी की
व्याख्या के सावधान अनुशीलन से हो जाता है। इस समय ऐसे संस्करण की परम आवश्यकता
थी। हमारी कामना है कि बहुमीय जनों को अधिकाधिक संख्या में इस ग्रंथ का लाभ
उठाना चाहिए।

इस ग्रंथ का प्रकाशन गोलोकवासी जयकृष्णदास तथा गोलोकवासी कृष्णदास दोनों
बन्धुओं की स्मृति में संस्था द्वारा स्थापित “जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला” के
प्रथम पुष्प के रूप में हो रहा है। आशा है संस्था द्वारा भविष्य में भी एतादृश उपादेय ग्रंथों
का प्रकाशन होता रहेगा।

श्री० गोविन्दलाल जी

(५)

पष्ठ पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री १०८
श्री मुरलीधरलाल जी महाराज
(गोपाल मन्दिर, वाराणसी)

॥ श्रीमुकुन्द-गोपालौ विजयतः ॥

श्रीभागवतपीयूष-समुद्रमथनक्षमः ।

तत्सारभूतरास-स्त्रीभावपूरितविग्रहः ॥

—सर्वोत्तमस्तोत्र

नाश्रितो बह्मभाषीशो नच दृष्टा सुवोधिनी ।

नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले ॥

—श्री हरिराय जी



श्रीमद्भागवतोक्त 'रासपञ्चाध्यायी' के पाँचों अध्याय श्रीमद्भागवत के पञ्चप्राण माने जाते हैं। उनके गूढतम रहस्यों को महान् अलौकिक बुद्धिवाद द्वारा भगवत्कृपा में ही कोई समझ सकता है।

आनन्दस्वरूप गोपीजनवल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण की परम अन्तरंग लीला तथा निज स्वरूपभूता गोपियों और ह्लादिनी शक्ति श्री रासेश्वरी राधा के साथ होने वाली भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्याऽतिदिव्य क्रीडा का वर्णन इस 'रासपञ्चाध्यायी' में किया गया है।

'रास' शब्द का मूल अर्थ 'रस' है और रसस्वरूप भगवान् श्री कृष्ण ही हैं। 'रसो वै सः' ऐसी श्रुति भी है। तात्पर्य यह है कि—“जिस दिव्य क्रीडा में एक ही रस अनेक रसों में रूपान्तर धारण करता हुआ अनन्त रसों का समास्वादन करे तथा रससमूह में प्रकट होकर स्वयमेव आस्वाद्य-आस्वादक लीला-धाम और विभिन्न लीलायुक्त आलम्बन एवं उद्दीपन के रूप में क्रीडा करे उसीका नाम 'रस' है। भगवान् श्रीकृष्ण की यह लीला गोलोक के दिव्य धाम में दिव्य रूप से निरन्तर हुआ करती है।

(२६)

श्रुतियों (वेद की ऋचाओं) ने जब कठिन श्रमसाध्य तपश्चर्या की, तब उन्हें उस अलौकिक दिव्य लीला का रसास्वादन और भगवत्साक्षात्कार हुआ और कृष्णावतार में वे ही ऋचायें मूर्तिमन्त होकर ब्रज-रमणियों के रूप में गोपियों बन-बन कर प्रकट हो गयीं।

वर्तमान काल में जो अभिनेता एवं अभिनेत्री या नट-नटी रासलीला का अभिनय कर लौकिक जनों का मनोरंजन करती हैं, इसकी तुलना रासलीला से कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि महान् ज्योतिरूप परमानन्दमय “आनन्दमात्ररूपादमुखोदरादि” रसमय ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण की तथा भगवदभिवाङ्ग स्वरूपा कठोरतम तपश्चर्या के प्रभाव से वरदान में प्राप्त श्रुति की ऋचारूपा आह्लादिनी शक्ति श्री राधिका एवं उन गोपियों के अलौकिक आनन्दप्रद वह रासलीला है जो—“सन्त्यज्य सर्वविषयास्तत्र पादमूलम्” अर्थात् समस्त विषयों (कामनाओं) को छोड़ कर वासनारहित एवं संसार से परे होकर सर्वतोभावेन श्रीकृष्ण को ही अपना सर्वस्व समर्पित कर तद्रूप हो चुकी थीं।

भगवान् श्रीकृष्ण की यह रास-लीला और उन्हीं की अंगभूता श्री (राधिका) जी जीवधारी शरीर की तरह जड़ नहीं, अपितु दिव्यरूपा हैं। जड़ की सत्ता तो भगवान् की दृष्टि में ही हुआ करती है। जहाँ प्रकृति भी चिन्मयी ही है, वहाँ जड़ की प्रतीति होती ही नहीं। वहाँ तो अचित्त (जड़) की प्रतीति केवल चिद्विलास या भगवान् की लीला के लिये ही होती है। यही कारण है कि सदा-सर्वदा जड़ता या स्थूलता के साम्राज्य में ही रहने वाला मस्तिष्क भगवान् की उन अप्राकृतिक लीलाओं को भी पूर्ववासनाभिभूत होकर जड़ प्रकृतिक रूप ही समझने लगता है। और भागवती दिव्य लीला के वास्तविक तथ्य से कोशों दूर रहने से भवसागर के नानाविध दुःखों को भोगने के लिये बाध्य होता है। अतः जिनकी यशो-गाथा अनादि काल से श्रुति, स्मृति, पुराणों में त्रिकालदर्शी महामनीषी महर्षि गाते आये हैं, वे आनन्दमय अजन्मा, सनातन, अनादिनिधन परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके समान ही दिव्यस्वरूपा श्री-राधिकारानी एवं श्रुतिरूपा और ऋषिरूपा गोपियों का अन्योन्य सम्बन्ध दिव्यता की परतमा सीमा ही है।

भगवान् श्रीकृष्ण का वेणुनाद नादब्रह्म जड़ को चेतन, चेतन को जड़, विक्षिप्त को समाधिस्थ एवं समाधिस्थ को विक्षिप्त बना देता है। अत एव उन नादब्रह्मस्वरूप वंशीनाद को सुनकर गोपियाँ सब काम-धाम छोड़ देती थीं और बलात् प्रेमाकृष्ट हो अपनी-अपनी सुध-बुध खोकर श्रीकृष्ण की ओर अबाध गति से चल पड़ती थीं, जैसे शिखर से गिरती हुई गङ्गा-यमुना आदि नदियाँ साक्षात् या परम्परया (महानदियों की सहायक नदियाँ बनकर) जबतक नदी-वल्लभ समुद्र को प्राप्त नहीं करतीं और उनमें सर्वात्मना एकाक्यति हो विलीन नहीं हो जातीं तबतक अबाध गति से आगे बढ़ती ही रहती हैं। वैसे ही वे कृष्णमात्रपरायणा

(२७)

गोपियाँ तबतक आगे बढ़ती गयीं जबतक गोपीबद्धभ श्रीकृष्ण भगवान् के पास पहुँच कर तन्मय तद्रूप हो नहीं गयीं और जो कदाचित् कृष्णभगवान् के निकट नहीं पहुँच सकीं वे भी उनके स्वरूप का ध्यान करती हुई उनके विग्रह में मग्न हो उस स्थूल शरीर का त्याग कर भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह में ही लीन हो गयीं।

इसीमे पृष्ठिमार्ग में सर्वात्मभावनायुक्त श्रीविग्रह की सेवा तथा अहर्निश भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुये चिन्तन करने की आज्ञा महाप्रभु श्रीबल्लभाचार्य ने दी है। भक्तिवर्द्धिनी ग्रन्थ में महाप्रभुजी ने कहा भी है—

‘मेवायां वा कथायां वा यस्यः शक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावर्जीवं तस्य नाशो न कार्षीति मतिर्मम ॥’

अर्थात् इस घोर कलिकाल में नित्य नये-नये वातावरण में अहर्निश अनेकानेक क्लेश में मुक्त होने के लिये केवल भगवच्छरण ग्रहण करते हुए श्रीमत्प्रभु के चरणकमलों का ध्यान एवं ब्रजसीमन्तिनी श्री गोपीजन की किरा द्वारा उनके औदार्य से—“तव कथामृतं तप्तजीवनं” रूप इस जीवन के अन्तिम क्षण तक भगवत्प्रेमलक्षणा, भक्तिस्वरूपा श्री गोपीजन के चरण-पद्म की किंचित् रेणु मेरे मस्तक पर आ जाय यही मेरी अभिलाषा अहर्निश हृदय में विद्यमान रहे यही महाप्रभु से विनम्र अभ्यर्थना है।

श्रीमद्भागवतोक्त ‘रासपञ्चाध्यायी’ की ‘सुबोधिनी’ टीका श्रीमहाप्रभुबल्लभाचार्य ने भगवद्-भक्त जनसमुदाय के कल्याण एवं भगवान् के क्षणमात्र के ध्यान में चित्त की शान्ति के लिये की है। इस बात को ध्यान में रखते हुये हमारे सम्प्रदाय के सुयोग्य विद्वान् श्री पं० जगन्नाथ (मुनमुन) जी चतुर्वेदी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी में इसका अनुवाद किया और उसका प्रकाशन परम-वेणव प्रो० श्री राधेश्याम जी रस्तोगी ने चौखम्बा संस्कृत सीरीज के अध्यक्ष भगवच्चरणानुरागी गोलोकवासी जयकृष्णदास जी गुप्त के सुपुत्र श्री मोहनदास जी गुप्त तथा उपाध्यक्ष गोलोकवासी श्री कृष्णदास जी गुप्त के सुपुत्र श्री विट्ठलदास जी गुप्त—इन वन्धुद्वय के सहयोग से करवाया है। ‘चौखम्बा संस्कृत सीरीज’ के अन्तर्गत गोलोकवासी वन्धुद्वय के स्मारक स्वरूप “जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला” में सानुवाद रासपञ्चाध्यायी का प्रकाशन हुआ देखकर महान् हर्ष हो रहा है। सम्प्रदाय की सेवा में निरन्तर संलग्न चौखम्बा-परिवार के सदस्य-गण इस प्रकार के अप्रकाशित अन्यान्य ग्रन्थों का भी मुद्रण व प्रकाशन कर अलभ्य ग्रन्थामृता-स्वादन सर्वजन साधारण को कराते हुए समस्त ऐश्वर्यसम्पन्न सुखी एवं दीर्घायु हों यही महाप्रभु से प्रार्थना है। इति शम्।

जे. सुरलीधर लाल जी.

(२८)

(६)

गो० श्री १०८

श्री ब्रजरत्नलाल जी महाराज

(सूरत)

॥ श्रीबालकृष्णो विजयतेतमाम् ॥

श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धस्थ ‘रासपञ्चाध्यायी’ की भगवल्लीला के नित्यत्व एवं अलौकिकत्व का प्रतिपादन वेद और महर्षि व्यास के ब्रह्ममूत्र में किया गया है—

ऋग्वेद की ऋचाओं में रासलीला और श्री गोकुल का वर्णन तथा अलौकिकत्व एवं नित्यत्व का प्रतिपादन सुविशद रूप से किया गया है। यथा—

(१) “ता वां वास्तूनि उप्यसि गमध्वै, यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः। तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरीति।” (ऋग्वेदे, विष्णुमुक्तम्)

श्रुति का भाष्य—

ता = तानि, वां = युवयोः—कृष्णराधयोः, गोपीमाधवयोर्वा, वास्तूनि = स्थानानि, गमध्वै प्राप्तुम्, उप्यसि = कामयामहे। तानि कानि? इत्याकांक्षायां गूढाभिसन्धिमुद्घाटयति—यत्र = गोकुले, भूरिशृङ्गाः = दीर्घशृङ्गाः, गावः वसन्ति इति शेषः। अथवा आरण्यग्राम्यपशुलक्षणार्थम्। भूरिशृङ्गाः = रुरुप्रभृतयो मृगाः, गावश्चेत्यर्थः। अयासः = शुभाः। अत्र स्थाने—भूमौ, तल्लोक-वेदप्रसिद्धम्, उरुगायस्य = उरुकीर्तः—भगवतः, वृष्णः = कामान् वर्षतीति वृषा, तस्य गोपिकासु काम-वर्षकस्य गोकुलं परमं = पदं—स्थानं, वैकुण्ठं, तस्मादपि अधिकं परमं पदम्। प्रकृति-कालाद्यतीतत्वेनापि वैकुण्ठाद्यपेक्षयाऽतिप्रियत्वेनापि, परमं सदृशं पदमवभाति = प्रकाशते। भूरि = बहुतरम्।

तथा च यदेतादृशं तयोः स्थानं, तत्स्थानसम्बन्धीनि वास्तूनि प्रसादनेन प्राप्तुं कामयामहे, नान्यानि, इति वाक्यार्थः सम्पद्यते। भूरिशब्दस्य बाहुल्यार्थत्वेन—अनेकविधनिकुञ्जहरप्रदेश-यमुनापुलिन-गोवर्धन-सान्वादिषु निरन्तरं भगवतः स्थित्या तत्तद्गुरूं प्रकाशते, इति तात्पर्यार्थः।

भूधातोः अस्त्यर्थत्वे व्यामुक्तमिति वा। तथा च परमत्वेन भगवत्स्थानत्वेन च नित्यत्वं गोकुलस्य आयाति। (विद्वन्मण्डनम्)—

(२) किञ्च तैत्तिरीयके (१. ३. ६.) पठ्यते—“ते ते धामानि उप्यसि गमध्वै। गावो यत्र भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरीति।”

(२६)

भाष्यार्थः—ते = तव, तानि, धामानि=स्थानानि, गमय्ये = ग्राभं उपयमि = कामयामहे ।
इति । भुरेर्वहुरूपस्य रासोत्सवादिषु तथा प्राकट्यान् ।

अत्र नित्यो वेदः स्वयमवभार्तानि पदं स्वभावविषयस्य गोकुलस्यापि नित्यत्वमाह ।

(३) एतदनन्तरं पठ्यते—“विष्णोः कर्माणि पश्यत । यतो व्रतानि पश्यते । इन्द्रस्य युज्यः
सखा । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति मृगयः । दिवीव चक्षुरागततम ।” इति तैत्तिरीयके
(१. ३. ६.) मन्त्रद्वयम् ।

भाष्यार्थः—तथा च भूर्गस्मिन् मन्त्रे—“यत्र भूर्गुश्चक्षुः गावः अयामः तदुरुगायस्य
परमं, पदम्” इत्युक्त्वा तदनन्तरम्—यजुःकर्मभ्यो हेतुभूतेभ्यः व्रतानि कात्यायन्यर्चनादीनि
सांनिध्यात् विष्णुः स्पृष्टवान् । तत्फलत्वेन तत्कर्त्रापि आधिभूय तामु सर्वाः लीलाः कृतवान् । तत्र
कृतानि कर्माणि अपि विष्णोः “कर्माणि पश्यत”, पृतनामुपयःपानरिंगणादीनि कर्माणि
पश्यतेत्यर्थः । इति मन्त्रेण निरूप्य पुनः पूर्वोक्तं लीलास्थानं तद्विष्णोः परमं पदेनानुद्य तस्य
नित्यत्वं निरूपणायाह—“सदा पश्यन्ति मृगयः” इति ।

मृगयो विद्वांसः । तत्त्वं च, शब्दब्रह्म-परब्रह्मरूपवित्त्वम् । परब्रह्मज्ञानं च भक्त्यैवेति निर्णयः ।

“भक्त्या मामभिजानाति” “भक्त्याहमेकया ग्राह्यः” इति वाक्यात् । तेन ‘मृगि’पदेन भक्ता
उच्यन्ते ।

ननु काननकलिन्दगिरिवराद्यात्मकत्वेनोद्भूतरूपवन्महच्च परमं पदं कथं भक्तैकदृश्यम् ? न
साधारणजनचक्षुर्विषयः ? इत्याशंक्य तन्निरासाय दृष्टान्तमाह—“दिवीव चक्षुरागततमिति” ।
दिवि = स्वर्गे, यथा आसमन्तात् तत् = व्याप्तं “यत्र दुःखेन संमिश्रम्” इति वाक्यात् मुखैक-
साधनतद्रूपस्वर्गपदार्थम् । तत्रस्थानामेव चक्षुः पश्यति, नान्येषां तथेत्यर्थः । तेन तल्लीलामध्य-
पातिनामेव चक्षुः पश्यति नान्येषामिति भावः ।

(४) तैत्तिरीयश्रुतिः (१. ३. ६.)—“विष्णोः कर्माणि पश्यत” श्रुति का स्वरूप लिखते
है—“गोकुल में श्रीकृष्ण ने कोई लीला ‘पृतनामुपयःपान, रिंगण आदि देखो । कात्यायन्यर्चनादि
व्रतों का श्रीकृष्ण ने स्पर्श किया अर्थात् कुमारिकाओं में फलस्वरूप प्रवेश करके कुमारिकाओं के
साथ अनेकविध लीला की । गोपीजन के साथ स्मरणरूप भगवत्कर्म देखो ।”

(५) ब्रह्मसूत्र (अ० ४, ४, २७) में भगवल्लीला का अलौकिकत्व वर्णन किया गया है—
“जगद्रूपापरवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च” जगत्सम्बन्धालौकिकव्यवहारकाय-वाङ्मन का
लौकिकव्यापार से रहित क्षणवद् रमण भोग इत्यादि लीला है । लीला में लौकिकत्व नहीं है ।
“ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” यह श्रुति मुक्तिप्रकरण की है । प्रभुलीला, कालमाया से परे है ।
इस लिये प्राकृत जगत् दूरतर है ।

भगवान् लीलाप्रकटनेच्छा से लीलाधिष्ठान योग्य मथुरादि अतिशुद्ध देश में स्थापन कर
लीला करते हैं । तदपि लीलामध्यपाति भक्तों का लौकिक व्यापार की संभावना नहीं है । भगवान्
स्वतन्त्र फलस्वरूप हैं ।

आशावाद और आशीर्वचन

‘रासपञ्चाध्यायी-श्रीभुवोधिनी’ का हिन्दी अनुवाद महान् कार्यदक्ष गोलोकवासी भगवदीय
श्री जयकृष्णदास जी एवं गोलोकवासी भगवदीय श्री कृष्णदास जी का स्मारकस्वरूप है । विद्वज्जनों
को ज्ञात है कि ‘चौखम्बा संस्कृत सीरीज’ में विद्वज्जन योग्य सर्वदार्शनिक एवं सर्वजनोपयुक्त
साहित्य के प्रकाशन से सनातन संस्कृत का संरक्षण हो रहा है । सम्प्रदाय सिद्धान्तमर्मज्ञ
प्रो० श्री राधेश्याम जी रस्तोगी की आन्तरप्रेरणा से श्री मोहनदास गुप्त एवं श्री विठ्ठलदास गुप्त
ने अपने-अपने पिता के आधिदैविक स्मारक प्रकट करके रासलीलामृत का आस्वाद रसिक जनों
को करवाया है ।

ये बन्धुद्वय ऐसे-ऐसे पुष्टिमार्गीय उच्चतर साहित्यों का निरन्तर प्रकाशन करते रहें ऐसी
शुभकामना एवं शुभाशीः है । हम इन्हें हार्दिक अभिनन्दन पूर्वक धन्यवाद देते हैं ।

सम्प्रदाय के विद्वान् श्री पं० जगन्नाथ जी का यह भाषानुवाद अत्यन्त प्रशंसनीय है ।

—गो० ब्रजशतलाल



(७)
गो० श्रीमती शरदवल्लभा
वेटी जी
(वाराणसी)

गो० वा० श्रीकृष्णप्रिया वेटी जी

चौखम्बा संस्कृत सीरीज के समुत्थापक गोलोकवासी बन्धुद्वय श्री जयकृष्णदास जी तथा श्री कृष्णदास जी की पुण्य-स्मृति में उनके आत्मज श्री मोहनदास तथा श्री विट्ठलदास ने 'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुवोधिनी' का प्रकाशन कर बल्लभसम्प्रदाय के अनुयायियों का महान् उपकार किया है। श्रीसुवोधिनीजी संस्कृत भाषा में अमूल्य ग्रंथ हैं और जो विषय उसमें प्रतिपादित किये गये हैं, वे भी अत्यन्त गंभीर हैं, फिर भी पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के लिए यह अत्यावश्यक है कि वे श्रीसुवोधिनीजी का पठन-पाठन और मनन करें। श्री हरिराय महाप्रभु ने जन्मवैफल्य-निरूपण ग्रंथ में यह निर्देश किया है—

‘नाश्रितो बल्लभाधीशो न च दृष्टा सुवोधिनी ।

नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले ॥’ —श्री हरिराय जी

‘रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुवोधिनी’ का सरल हिन्दी भाषा में प्रकाशन वर्तमान युग में परमावश्यक था। संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ साधारण जन श्रीसुवोधिनीजी के गूढ़ भावों को अब भलीभाँति समझ सकेगा और लाभान्वित होगा। मुझे विश्वास है कि श्रीसुवोधिनीजी का हिन्दी भाषा में यह प्रकाशन वैष्णव जनोपयोगी सिद्ध होगा।

(३२)

गोलोकवासिनी मेरी अग्रजा (श्रीकृष्णप्रिया वेटी जी) जो बल्लभ-दर्शन में विशेष रुचि रखती थीं, वे आज रहतीं, तो सर्वांगपूर्ण इस ग्रन्थ को देखकर बड़ी प्रसन्न होतीं। वैष्णव-समाज से मेरा यह अनुरोध है कि वह इस ग्रंथ को अपनावे और लाभ ले।

ग्रंथ-प्रकाशन में परम भगवदीय भाई मोहनदास तथा भाई विट्ठलदास, इन दोनों उदीयमान भाइयों का परिश्रम स्तुत्य और अभिनन्दनीय है। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि अपने पूर्वजों की परम्परा के अनुसार ये दोनों भाई भी महाप्रभु श्री बल्लभाचार्य विरचित बहुमूल्य ग्रंथों के प्रकाशन में सदैव संलग्न रहें। आपके पूर्वजों द्वारा संस्कृत साहित्य की महती सेवा हुई है, जो विश्व-प्रसिद्ध है। श्री मदनमोहन प्रभु चौखम्बा परिवार के सदस्यों को दीर्घायु प्रदान करें और सत् प्रेरणा देते रहें, जिससे वैष्णव-जगत् का बौद्धिक विकास होता रहे।

गो० शरदवल्लभा

(३३)



(८)

म० गुरु गोस्वामी श्री १०८
श्री रघुनाथलाल जी महाराज
(कामां, भरतपुर)

The signal Service rendered by the Publishers of Chowkhamba Sanskrit Series is too well known among Oriental Scholars to need any further comment. That a new Series called "जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला" is being started to perpetuate their sacred memory is a very welcome piece of news. The two brothers, श्री जयकृष्णदास गुप्त and श्री कृष्णदास गुप्त, the original publishers of Chowkhamba Sanskrit Series, were not only enterprising businessmen but were also devout Vaishnavas. And that is just why Lord Krishna, the Almighty, has willed that the very first volume of this new Series should be रासपञ्चाध्यायी which depicts his रासलीला. That this रासलीला is the highest, the best, and the purest of all his Divine Sports is very well known to all his sincere devotees. But at the same time its true significance is known only to those who are the noblest and the purest in their heart of hearts. This true significance thereof has been very ably, forcefully, and clearly shown by my Revered Guru, श्री दीक्षितजी महाराज, in his शुभाशंसा. That I wholeheartedly subscribe to every word therein needs no mention. What remains for me to do is to pray to Lord Krishna, the Almighty, that signal success may attend this new venture, i. e. this new series may prosper and continuously serve the cause of Oriental studies. Further, I must congratulate all the persons that have contributed to the publication of this first volume : (1) श्री मोहनदास गुप्त एवं श्री विट्ठलदास गुप्त, who have shown their loving devotion to their father and their uncle by starting this new series and publishing this First Volume; (2) पं० श्री जगन्नाथ चतुर्वेदी of मथुरा, the learned author of the Hindi Commentary, and (3) श्री राधेश्यामजी रस्तोगी and श्री ब्रजगोपालजी who have kindly contributed a Foreword.

Raghu Nath Sharma

(३४)

शुभाकाङ्क्षा

महामहिमोपाध्याय

पण्डितराज श्री राजेश्वरशास्त्री द्राविड

॥ श्रीगुरुः शरणम् ॥

‘विक्रीडितं ब्रजवधूभिरिदं च विष्णोः धृष्टान्वितोऽनुश्रुणुयादथ वर्णयेद्यः ।

भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥’

श्रीमद्भागवत की इस फलश्रुति के अनुसार सभी सम्प्रदायों के लिये ‘रासपञ्चाध्यायी’ बड़ा महत्त्व रखती है। इसका प्रकृत पक्ष में पूरा विश्लेषण कर महाप्रभु गोस्वामी श्रीवल्लभाचार्य ने महान् उपकार किया है, उसके बाद भी तत्सम्प्रदायानुयायी टीकाकारों ने विचार प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की है, पर इससे समस्त भक्तों को ‘रासपञ्चाध्यायी’ का भाव समझना कठिन हो रहा था। वह त्रुटि मथुरावासी श्री जगन जी चतुर्वेदी ने हिन्दी भाषा में ‘सुबोधिनी’ व्याख्या का अनुवाद कर दूर कर दी है।

‘सुबोधिनी’ की यह विशेषता है कि, ‘श्रीकृष्णो दोषी, परदारगमनवत्त्वात्’ इस कुतर्क के खण्डन में ‘मिथ्याज्ञानजन्यवासनावत्त्वमुपाधिः’ ऐसा नैयायिकों की भाषा में कह कर उक्त दोष को दूर किया है। भगवन्निष्ठ को ही भक्ति प्राप्त हो सकती है, चित्त की अस्थिरता को दूर करने में शृंगार रस के बिना दूसरा उपाय नहीं है। इसलिये शृङ्गार का वर्णन भागवत में किया गया है। यह बात अद्वैत मत के अनुयायी श्रीमधुसूदनसरस्वती जी के निम्नलिखित पद्य से प्राप्त होती है :—

‘शृङ्गारो मिश्रितत्वेऽपि सर्वेभ्यो बलवत्तरः ।

तीव्रतीव्रतरत्वं हि रतेस्तत्रैव वीक्ष्यते ॥’

इस रस की आराधना में भगवान् उसकी अधिदेवता होने के कारण प्रकट होते हैं, इसीलिये उनका रंग श्याम माना गया है, सूक्ष्मता से समझने का विषय यहां पर यह है कि काम का पराजय अन्य उपायों से नहीं हो सकता, वह ‘रासपञ्चाध्यायी’ से होता है, उसका चिन्तन करने वालों को भी वह प्राप्त होता है यह अद्भुत बात है।

श्रीमद्भागवत के ११ वें स्कन्ध में :—

‘वेद दुःखात्मकान् भावान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ।

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्हृदनिश्चयः ॥’

‘यदृच्छया मत्कथादी जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।

न निविष्णो नातिसक्तः भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥’

(३५)

कह कर भगवान् ने संसार में विलुप्त लोगों के लिये भक्ति योग ही साधन बतलाया है, जो कि रासपञ्चाध्यायी से प्राप्त होता है। इसके सिवाय अद्वैत मत में कठोर चित्र वालों के लिये भी ज्ञानमार्ग का अधिकार बतलाया गया है जैसे सनक सनन्दन प्रभृति उसके उदाहरण हैं। 'नात्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः' कह कर उनका निर्वाचन हुआ है, तथापि भक्तिमार्ग से भी लोग अपना उद्धार कर सकते हैं :—

‘आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्मः।

कुर्वन्त्यहेतुकीं भक्तिमित्यंभूतगुणो हि सः॥’

ऐसा कहा है। मधुसूदन सरस्वतीजी ने भली भाँति इसका निरूपण किया है। इसलिये यह प्रसङ्ग अत्यन्त आदरणीय एवं प्रशंसनीय है। ऐसे लोकोपकारी ग्रन्थ का प्रकाशन करना आवश्यक था। वह कार्य बाबू जयकृष्णदास के सुपुत्र मोहनदास जी एवं बाबू कृष्णदास के सुपुत्र बिट्टलदास जी ने अपने-अपने पिता के स्मारक-स्वरूप ‘जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला’ में इस ‘रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी’ नामक ग्रन्थ को प्रथम पुष्प रूप में प्रकाशित कर पूर्ण किया है, यह स्तुत्य है।

पिता के कार्य आगे पुत्र चलाते रहें, ऐसा समझकर पिता पुत्र को छोड़कर जाते हैं। पुत्र भी वह कार्य अपना समझकर चलाते हैं, इससे बढ़कर और आनन्द की बात क्या होगी? जैसे दोनों बन्धुओं के पिता भक्ति एवं विद्वानों के आदर में रत थे, वैसे उनके ये यथाक्रम दोनों पुत्र वही कार्य चला रहे हैं, इसको देखकर हमलोगों को आनन्द हो रहा है। भगवान् इन दोनों पितृभक्त पुत्रों को मङ्गल करते हुए चिरायु करें, ऐसी भगवान् के चरणों में विनम्र प्रार्थना करता हूँ। इति—

—श्री राजेश्वरशास्त्री द्राविडः

हर्षोद्गाह

श्रीमन्माननीय महेशप्रसाद जी,

आई० ए० एस०

कलेक्टर एवं जिला मजिस्ट्रेट, वाराणसी

‘चौखम्बा संस्कृत सीरीज’ के संचालक न केवल इस प्रदेश में अपितु सारे भारतवर्ष में संस्कृत पुस्तकों के प्रमुख प्रकाशक हैं। शुद्ध पाठ और टीका, व्याख्या आदि के साथ अनेक संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन करके इन्होंने देववाणी की प्रशंसनीय सेवा की है। अब इन्होंने ‘जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला’ के नाम से एक नयी ग्रन्थमाला चालू की है। इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित प्रथम ग्रन्थ ‘रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी’ को देखने का अवसर मिला। मैं इस ग्रन्थ एवं ग्रन्थमाला की सफलता की कामना करता हूँ और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि चौखम्बा संस्थान के संचालक इसी प्रकार से संस्कृत वाङ्मय की सेवा करते रहें।

—महेश प्रसाद

बन्धुद्वय का स्मारक

जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

(संक्षिप्त परिचय)



गो० वा० श्री जयकृष्णदास गुप्त



गो० वा० श्री कृष्णदास गुप्त

श्री हरिदास जी गुप्त ने विक्रम संवत् १९४८ (ई० सन् १८९२) में गवर्नमेण्ट पंजीकृत “चौखम्बा संस्कृत सीरीज” की स्थापना की। उस समय काशी पण्डित-समाज के वरिष्ठ विद्वान—म० म० श्री लक्ष्मणशास्त्री जी, म० म० श्री गोपीनाथ कविराज जी, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र गोस्वामी श्री दामोदरलाल जी प्रभृति महामनिषियों के तत्त्वावधान में कार्यारम्भ हुआ था। चौखम्बा मुहल्ला के निकट इस संस्था की स्थापना होने के कारण ही मुहल्ले के नाम पर इस संस्कृत सीरीज का नाम “चौखम्बा संस्कृत सीरीज” रखा गया। इस सीरीज की विशेष विशेषता यह रही है कि इसमें संस्कृत के अमुद्रित ग्रन्थ ही प्रकाशित होंगे। आज भी वही परम्परा चली आ रही है।

दैवगति विनिर्दिष्ट है। “चौखम्बा संस्कृत सीरीज” का भास्कर उदित हो ही रहा था कि लगभग ४५ वर्ष की अल्पायु में ही श्री हरिदास जी गुप्त का असमय में गोलोकवास हो गया।

श्री जयकृष्णदास जी गुप्त एवं श्री कृष्णदास जी गुप्त श्री हरिदास जी गुप्त के कमशः बड़े एवं सबसे छोटे पुत्र थे।

श्री जयकृष्णदास जी गुप्त :—आपका जन्म काशी में दिनांक २२-११-१८९२ ई० को हुआ था। जिस समय श्री हरिदास जी का गोलोकवास हुआ उस समय आप की उम्र मात्र १४ वर्ष की थी। इतने अल्पवयस्क होते हुए भी आप इस वज्रपात से विचलित नहीं हुए और अपने पिता के स्वप्न को साकार बनाने के अटल व्रती बन बैठे।

उस समय अंग्रेजी राज में संस्कृत भाषा मृतभाषा कही जा रही थी। संस्कृत की पाण्डुलिपियाँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी थीं। उनको संग्रह करने में श्री जयकृष्णदास जी को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता था, परन्तु वे अपनी लगन से विमुख नहीं हुए। अल्प समय में ही उन्होंने ‘सीरीज’ में वीरमित्रोदयादि शताधिक अग्रगण्य ग्रन्थों का प्रकाशन कर दिया और अपने पूज्य पिता की स्मृति में “हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला” की भी स्थापना कर दी। जिसमें आज शताधिक ग्रन्थ-रत्न देदीप्यमान हो रहे हैं।

श्री कृष्णदास जी गुप्त :—आपका भी जन्म काशी में दिनांक २६-११-१९०४ ई० को हुआ था। आप अपने बड़े भाई श्री जयकृष्णदास जी के सहयोग के लिए अपनी सोलह वर्ष की अवस्था में ही ‘चौखम्बा’ प्रकाशन आदि का कार्य देखने सुनने लगे। अपने बड़े भाई की तरह आप भी अपनी लगन के बड़े ही पक्के, धीर एवं परिश्रमी थे। चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस के अन्तर्गत विभिन्न ग्रन्थमालाओं में आप भी संस्कृत के ग्रन्थों को चुन-चुन कर प्रकाशित करने लगे। आपके द्वारा संस्थापित “चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस” की प्रधान शाखा—“चौखम्बा विद्याभवन” के विभिन्न ग्रन्थमालाओं में आज शताधिक ग्रन्थ-रत्न प्रकाशित होकर राष्ट्र की अमूल्य निधि बने हुए हैं।

उक्त दोनों भाई बड़े ही धार्मिक विचार के थे। वैष्णवों की तन-मन-धन से सेवा करना अपना परम पुनीत कर्तव्य समझते थे। नित्य प्रति दोनों भाई अपने मन्दिर में स्नान कर श्री ठाकुर जी की घंटों सेवा करते रहते थे।

कार्यालय के कठोर परिश्रम के कारण कहिए अथवा विधि के विधान के अनुसार—ई० सन् १९६६ से श्री कृष्णदास जी का स्वास्थ्य गिरने लगा। स्वास्थ्य-लाभ के लिए यहाँ से बम्बई

तक बहुत ही प्रयत्न किया गया। परन्तु विधि के विधान के आगे किसी का क्या बश—दुःख है कि दिनांक ८-६-१९६७ ई० को वे श्री प्रभु-चरणारवृन्द में सदा-सर्वदा के लिए विलीन हो गये।

श्री जयकृष्णदास जी का अपने सबसे छोटे भाई श्री कृष्णदासजी पर अत्यधिक स्नेह था। प्यार में आप उन्हें ‘बुआ’ कह कर पुकारते थे। जिस समय आपने अपने प्राण-प्रिय प्यारे ‘बुआ’ के गोलोकवास का समाचार सुना, उसी क्षण से आप करीब ५-६ दिनों तक लगातार अपनी सुध-बुध ही खो बैठे, यहाँ तक कि सूतक में रहने पर भी नित्य की भाँति आप मन्दिर में स्नान कर श्री ठाकुरजी की सेवा करने के लिए जिद करने लगे। याने उन्हें विश्वास ही नहीं होता था कि ‘बुआ’ अब इस संसार में नहीं रहा। बड़ी ही कठिनता से समझा-बुझा कर उन्हें मन्दिर में स्नान करने से रोका गया।

५-६ दिनों बाद जब श्री जयकृष्णदास जी कुछ स्वस्थ हुए तो उन्हें यह कटु सत्य स्वीकार करना ही पड़ा कि “अब इस संसार में हमारा प्यारा ‘बुआ’ नहीं रहा।” परन्तु इस मर्मान्तक पीड़ा से श्री जयकृष्णदास जी को इतना अधिक सदमा पहुँचा कि वे जीवन के अन्तिम दिनों में अपना घर-बार छोड़ कर अपने प्यारे ‘बुआ’ द्वारा लगाए गए ‘सन्दहा’ ग्रामस्थ (आशापुर चौमुहानी से २ मील दूर गाजीपुर सड़क पर स्थित) “चौखम्बा उपवन” में चले गए एवं वहाँ मौनव्रत के अटल व्रती बन बैठे।

अपने प्रिय छोटे भाई ‘बुआ’ के विछोहजन्य दारुण पीड़ा के कारण वहाँ उनका स्वास्थ्य अनेक उपचार करने के बाद भी बराबर गिरता ही गया और अन्तमें दिनांक १३-८-१९६७ ई० को शहर के अपने निवासस्थान में आप भी श्री प्रभु-चरणारवृन्द में सदा-सर्वदा के लिए विलीन हो गये।

उपर्युक्त ऐसे दोनों भाई (जो जीवन-पर्यन्त तन-मन-धन से संस्कृत साहित्य की रक्षा एवं सेवा में लगे रहे) की पुण्य-स्मृति में इस “जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला” की स्थापना की जा रही है। हर्ष का विषय है कि ये दोनों भाई जिस धर्म के मानने वाले थे, उसी धर्म का प्रसिद्ध ग्रन्थ-रत्न “रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी” हिन्दी व्याख्या सहित इस ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्परूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ-रत्न एवं ग्रन्थमाला पर प्राप्त शुभाशंसा एवं आशीर्वचन के लिए हम श्रेष्ठ पूज्य श्री दीक्षित जी महाराज एवं शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय के पीठाधीश्वरों (श्री वल्लभकुल के पीठों के पूज्य महाराजश्री) के विशेष रूप से अनुग्रहीत हैं। इससे हमें ‘भारतीय संस्कृति’ के अनमोल ग्रन्थों के प्रकाशन में बल एवं उत्साह प्राप्त होगा।

प्रो० श्री राधेश्याम जी रस्तोगी को भी बहुत-बहुत धन्यवाद है जिनकी प्रेरणा से यह ग्रन्थ लिखा गया और आज सर्वाङ्गपूर्ण होकर प्रस्तुत है।

हिन्दी व्याख्याकार श्री पंडित जगन्नाथ (मुनमुन जी) चनुवेंदी को भी बहुत-बहुत धन्यवाद है जिन्होंने इस ग्रन्थ की इतनी सरल, सुबोध हिन्दी में सुविस्तृत व्याख्या की है।

काशी के महामहिमोपाध्याय, पंडितराज श्री राजेश्वरशास्त्री जी द्राविड एवं काशी के जिलाधीश श्री महेशप्रसाद जी के भी हम अतिशय आभारी हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ पर दो शब्द लिखकर इस संस्करण का महत्त्व बढ़ाया है।

“सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥”

काशी,
श्री आगम उत्सव
मिति अगहन वदी ७,
वि० सं० २०२८

विनीत
प्रकाशक

भूमिका

नमो भगवते तस्मै कृष्णायद्भुतकर्मणे।
रूपनामविभेदेन जगत्क्रीडति यो यतः॥

निबन्धशा० प्र० श्लो० १।

श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्रों में वर्णन किया गया है कि सर्वलोकों एवं प्रकृति से परे केवलानुभवानंदमात्र अक्षर, गोलोक, व्यापिकुण्ड, धाम, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध आनन्दरूप है। जिसके मध्यपाति वृन्दावन नाम वन कामदुग्ध वृक्षों द्वारा मनोरम निकुञ्जों से युक्त सर्व ऋतुओं में सुखकारी, जहाँ श्री गोवर्द्धन नामक गिरि सुन्दर झरना-गुफायुक्त सर्व ऋतुओं में सुखकारी रत्नधातु-मय शोभावान् मयूर-पिक-शुकादि पक्षिगणों से संकुल, जहाँ निर्मल जल वाली श्री कालिन्दी नदियों में श्रेष्ठ जिसके दोनों तट रत्नों से बद्ध हुए, हंस-पद्मादि संकुल, जहाँ नाना रासरसोन्मत्त गोपियों के समूहों के मध्य में स्थित किशोराकृति अच्युत भगवान् रसात्मा पूर्ण पुरुषोत्तम नित्य-लीला करते हैं। इन्हीं भगवान् की जब जगत् के उद्धार करने की इच्छा होती है, तब किसी शापादि के बहाने से, अथवा भक्तों का उत्कटभाव जानकर उनको भावानुसार वरदान देकर इस लोक में भी अपने धर्मरूप परिकर सहित अग्निवत् प्रकट हो स्वयं अंशपूर्ण आप्तकाम होते हुए भी नामरूपभेद से क्रीड़ा करते हैं। यद्यपि भगवान् ने मनुष्य का रूप धारण किया है, तथापि मनुष्य नहीं हैं। किन्तु भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी तथा आप्तकाम हैं। इस लिए किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। परन्तु भक्तवत्सल होने के कारण भक्तों के उद्धार के लिये आप सतत प्रयत्नशील हैं। भगवान् की लीलाओं को मनुष्यलीला की तरह अवलोकन करना योग्य नहीं, भगवान् निर्दोष, पूर्ण गुणवान् हैं, इनकी समस्त लीला भी निर्दोष, पूर्ण गुणयुक्त है। इस विचारदृष्टि से प्रत्येक स्त्री-पुरुष का कर्तव्य है कि वे भगवान् की लीलाओं में लौकिक दृष्टि से विषमबुद्धि न करके बड़े-बड़े आचार्य महान् विद्वानों द्वारा किये विमर्श-विचार पर ध्यान देकर यथार्थता ग्रहण करें। सारस्वतकल्प में जब ब्रह्मा बारह दिन का था, तब निजधामरूपा यह चौरासी कोश की व्रजभूमि भी आई थी। उसी समय से गोलोक की तरह यहाँ भी सब लीलायें नित्य हो रही हैं।

नित्य लीलावर्णन—

ऋग्वेदोक्त विष्णुसूक्त द्वितीयाष्टक चौबीसवें वर्ग में कहा है कि—‘तावां वास्तून्युष्मसि गमध्वं यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः, अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि।’

अर्थ—वे कृष्णराम, अथवा गोपी-माधव के जो मथुरा, गोकुल, वृन्दावनादि लीलास्थान हैं, उनकी प्राप्ति करने की इच्छा मैं करता हूँ। वे किस प्रकार के स्थान हैं? जहाँ बड़ी-बड़ी सींगोंवाली शुभ्र गायें बसती हैं। इस भूमि में लोकवेदप्रसिद्ध भगवान् श्रीकृष्ण गोपिकाओं को कामवृष्टि करनेवाले का मथुरा-गोकुलादि परमपद स्थान वैकुण्ठ, उससे भी अधिक परमपद प्रकृति-कालादि से अतीत वैकुण्ठादि की अपेक्षा से भी अतिप्रिय बहुत प्रकाश कर रहा है। अर्थात् कृष्ण-राम अथवा गोपी-माधव का स्थान एवं उसके संबंधी, मथुरा, गोकुल-वृन्दावनादि लीलास्थलों की प्रसादरूप से पाने की अभिलाषा करता हूँ यह वाक्यार्थ हुआ। इसी प्रकार का मंत्र तैत्तिरीय संहिता (१-३-६)

२ श्री० रा० भू०

में भी है। 'ते ते धामान्युदमसि गमय्यै गावो यत्र भूरिशृङ्गा अयासः अत्राह तदुहनायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरेः' इसका अर्थ प्रायः पहले मंत्र की तरह है। विशेष इसमें भूरेः पद विष्णोः, पद का विशेषण कहा है। अतः इसका अर्थ रासोत्सवमें भूरेः, अनेक रूप धारण करने वाले विष्णो व्यापक भगवान् का परमपद प्रकाश कर रहा है।

यहां वर्तमान क्रिया नित्यता सूचन कर रही है। इसके अनन्तर—'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो ब्रतानि पस्पशे, इन्द्रस्य युज्यः सखा, तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, दिवोव चक्षु रात-तम्'। तैत्ति.सं. (१-३-६)। पूर्व मंत्र में श्रीगोकुल की नित्यता का निरूपण किया, अतः उस गोकुल में भगवान् के लिये यशोदा स्तनपान, पूतना पयःपान, छुटुवन चलना आदि कर्मों को देखो। जिन कर्मों के हेतु कात्यायनी अर्चनादि व्रत, भगवान् का स्पर्श करते हुये अर्थात् व्रत के फल से व्रत करनेवाली गोपिकाओं में प्रकट हो सर्वलीला करते हुए। यहां 'स्पश बाधनस्पर्शनयोः' इस धातु का प्रयोग किया है अतः दो अर्थ होते हैं। दूसरा अर्थ—उक्त भगवत्कर्म लोकमर्यादा व्रत, पातिव्रत्यादिकों का बाध करते हुये अथवा भगवद्व्रत आत्माराम तथा पूर्णकामत्व आदि जो नियम रूप है, उसका बाध किया। इस अर्थ में 'अब्रतानि पृष्टवान्।' ऐसा भी अर्थ होता है। अतः गोपियों के साथ रमणरूप कर्मों को देखो, यह उपदेश है।

उक्त श्रुतियों द्वारा भगवल्लीला, स्थान, कर्मों का नित्यत्व प्रतिपादन किया है। आगे 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' इन्द्र का योग्य, अनुकूल सखा है। इन्द्र के द्रोह करने पर भी उसका मद, दोष दूर किया, किन्तु अधिकार नहीं छोटा। तदनन्तर इन्द्राभिषेक गोविन्द नाम आदि समान धर्मों द्वारा सखा हुए। अथवा कर्मों द्वारा इन्द्रव्रत यागादि को बाधित किया, उन्हें देखो। अथवा—'इन्द्रस्य युज्यः सखा गोपिकाएँ बिजली रूप हैं, भगवान् नीलमेघ-श्याम हैं, इसलिये गोपिकाओं के योगार्ह समान शीलव्यसनवान् सखा हैं। आगे उस विष्णु के परमपद को भक्त सदा देखते हैं। यदि कहो कि वन, कालिन्दी, गिरि-गह्वर आदि उद्भूतरूप महान् परमपद को एक भक्त ही कैसे देखते हैं, अन्य साधारण जन क्यों नहीं देखते? इसके उत्तर में 'दिवोव चक्षुराततम्' यह कहा है। जिस प्रकार स्वर्ग में सर्वत्र व्याप्तसुख सुखकारक पदार्थ का दर्शन स्वर्ग में रहनेवालों के चक्षुओं को होता है, जिस प्रकार पृथिवीस्थित योगीजन स्वर्गस्थ पदार्थों को देखते हैं। उसी प्रकार भक्तजन भगवल्लीलापाति भूमिस्थ, भगवान् एवं उनके स्थानों को देखते हैं। साधारण जन को दृश्य नहीं है। जिस प्रकार इन्द्रियरूप से एक होता हुआ भी श्रोत्र को रूप ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं होता चक्षुओं को ही होता है। यद्यपि कामलादि (पीलिया) दोष से दूषित भी चक्षु वस्तु ग्रहण करता है, तथापि जैसे पीलिया के रोग से दूषित चक्षु शंख को तो देखता है किन्तु उसके श्वेत रूप को नहीं देख सकता। जिस प्रकार योगियों को ही दूर अथवा व्यवहित पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार मधुरा, ब्रजमण्डल का स्वरूप एवं वहां नित्यलीला परिकरसहित विराजमान आनन्दमात्र कर, पाद, मुखोदरादि भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप तदनुग्रहपात्र अविद्यादि दोषरहित भक्तजन ही जान सकते हैं।

'तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते, विष्णोर्यत् परमं पदम्'। (ऋग्वेद १-२२-२१)। इस मंत्र का सारांश यह है कि बुद्धिमान्, अच्छी रीति से भगवान् की सेवा करनेवाला शब्द तथा अर्थ में प्रमादरहित, जाग्रत रहनेवाला जीव भगवान् के परम पद को अच्छी तरह दीप्त अथवा प्रकाशित करता है। इसीसे श्रीमद्भागवत में 'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः, त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहो परमं पदाम्बुजम्' (१-८। ३६१)। जो मनुष्य आपके चरित्र को बारंबार श्रवण, मनन, उपदेश एवं स्मरण करते हैं तथा

भीतर में आनन्द पाते हैं, संसार-प्रवाह को शान्त करनेवाले आपके चरणारविन्द का थोड़े समय में ही दर्शन करते हैं। अर्थात् भगवान् के परमपद का भक्त स्तोत्र आदि द्वारा प्रकाशन करते हैं। उक्त वाक्य से सिद्ध होता है कि वन, पशु, पक्षी गोपादि युक्त भगवान् का परमपद तथा इसके सम्बन्ध वाली भगवान् की सर्वलीलायें नित्य हैं। इस विचार को विद्वत्मण्डल में श्री गो० विठ्ठलनाथ जी ने बहुत विस्तारपूर्वक लिखा है। यह चौरासी कोश भूमि श्रुति-पुराणादिकों के वाक्यानुसार सृष्टि और प्रलय की व्यवस्था से बाहर है। स्कन्दपुराण में ब्रज शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

‘ब्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् ब्रज उच्यते।
गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं ब्रज उच्यते॥
सदानन्दं परं ज्योतिर्मुक्तानां पदमव्ययम्।
तस्मिन् नन्दात्मजः कृष्णः सदानन्दाङ्गविग्रहः॥
आत्मारामश्चाप्तकामः प्रेमाक्तैरनुभूयते।
आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ॥
आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः।
कामास्तु वाञ्छितास्तस्य गावो गोपाश्च गोपिकाः।
नित्यं सर्वे विहारया आप्तकामस्ततस्त्वयम्॥

उक्त श्लोकों में ब्रज को व्यापक कहा है और गुणातीत परंब्रह्मव्यापक ब्रज है तथा सदानन्द परंज्योति मुक्तों का अविनाशी स्थान है। इसमें सदानन्दाङ्गविग्रह नन्दात्मज कृष्ण आत्माराम आप्तकाम का प्रेमवालों को अनुभव होता है। सदानन्द कृष्ण की आत्मा राधिका है, उसके साथ रमण करने से गूढ़ जाननेवाले प्राज्ञ लोग इसको आत्माराम कहते हैं। इसके वाञ्छित काम गौएँ तथा गोप-गोपिकाएँ हैं। ये सब नित्य हैं तथा इनके साथ विहारादि नित्य हैं, अतः यह आप्तकाम है। इत्यादि कथन से भी पूर्वोक्त ही प्रमाणित होता है। ब्रज शब्द के और भी अर्थ हैं। 'ब्रजन्ति श्रीकृष्णप्राप्त्यर्थं जना यस्मिन्'। अर्थात् श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये जिसमें जन जाते हैं वह ब्रज है। गायों के खिरक आदि में भी ब्रज शब्द का प्रयोग होता है। विष्णुरहस्य में मधुरा हृदय, नासिका मधुवन, स्तनद्वय ताल और कुमुदवन, भाल वृन्दावन, बाहु बहुलावन तथा महावन, पादपद्म कोकिला तथा भांडीरवन, स्कन्ध खिदर तथा भद्रवन को कहा है। अन्यत्र शरीर ही ब्रज-भूमि, इन्द्रियां गो, निर्लिप्त आत्मा गोपाल, जीव गोप और जीव की वृत्तियां ही गोपवधूटी के रूप में कही गयी हैं। वे इन्द्रियरूप गौएँ सर्वदा अमृतमय दूध, आत्मारूप गोपाल को अर्पण करती रहती हैं। कहीं पर देवकी ब्रह्मपुत्री, वेद वसुदेव, वेदार्थ श्रीकृष्ण भगवान्, ऋचाएँ गोपी और गायें, नन्दनवन श्रीगोकुल, काम-क्रोधादि इन्द्रिय विकार दैत्य, मन की अनेक वृत्तियां अनेक असुर कहे हैं। कृष्णोपनिषद् में ब्रज के वन भक्ति और इनमें नाना भांति से की गई अलौकिक लीलाएँ ही वेदों की शाखा-प्रशाखा हैं। इस प्रकार सर्व भगवत्स्वरूपात्मक है। मत्स्यपुराण में—'ब्रजमंडलभूगोलं शेषनागफणं वरम्। कुमुदाख्यं महाश्रेष्ठं सर्वेषां मध्यसंस्थितम्॥ तस्योपरि स्थितं लोकं सर्वस्थानमहाफलम्। कृष्णलीलाविहारार्थमुच्चस्थानं विराजितम्॥ चतुरशीतिक्रोशेन परिपूर्णं विराजितम्।' इत्यादि। 'वृक्षे वृक्षे वेणुधारी पत्रे पत्रे चतुर्भुजः' यहाँ एक-एक वृक्ष में वेणुधारी भगवान् और पत्र-पत्र में चतुर्भुज विराजमान हैं। इस प्रकार चौरासी कोश की भूमि भगवत्कीड़ा-स्थली है। इसमें परमकाष्ठापन्नवस्तु 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरेक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥ 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।' 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' इत्यादि प्रमाणों से प्रमाणित इस भूमि में साकारानन्दस्वरूप सदा क्रीड़ा करता है।

शंका-आप इस पृथिवी तथा पृथिवी में स्थित श्रीगोकुल आदि स्थलों को नित्य बताते हैं। किन्तु जब पृथिवी को दैत्य अवान्तर प्रलय में रसातल को ले जाते हैं और डूब जाती है, एवं महाप्रलय में पृथिवी का नाश हो जाता है, तब गिरि-कानन यमुना पुलिन, पशु, पक्षी, मनुज, गोकुल आदि का भी नाश हो जाता होगा। फिर भूमि की नित्यता कैसे रही? इसका उत्तर छान्दोग्य श्रुति ८।१।१। 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरपुण्डरीकं वेदम्' इस ब्रह्मपुर में जो यह दहर पुण्डरीक वेदम् है। इत्यादि प्रश्न के अनन्तर 'नास्य जरयैतज्जीयते न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः'। यह ब्रह्मपुर बुढ़ापे से अनन्त वर्षों में भी जीर्ण नहीं होता, मारने से मरता नहीं, यह ब्रह्मपुर सत्य है। इस श्रुति में ब्रह्मपुर शब्द का अर्थ-ब्रह्म-भगवान् का पुर-लीलास्थान श्रीगोकुल-मथुरादि कहा गया है। पुर शब्द का अर्थ शरीर नहीं है, शरीर अर्थ मानने पर 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्'—इस वाक्य से विरोध होता है। अतएव भक्तों के सर्वकामोप-भोगवस्तु ब्रह्मपुर में सम्यक् प्रकार से निहित है। इस श्रुति-प्रमाण से तथा व्यासजी ने 'दहर उत्तरेभ्यः'। इस अधिकरण में दहरशब्द का वाच्यार्थ भगवान् हैं, ऐसा निर्णय किया है। इसलिये भगवत्स्थान भी भगवद्धर्मवान् होते हैं, तभी तो इनमें भगवान् के विराजने की योग्यता होती है। ये स्थान कालादिकों के अधीन अथवा इनके आश्रय नहीं होते। इसीसे भगवान् ने कहा है कि 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थं तान् विमर्ष्यहम्'। जिन्होंने मेरे लिये लोक-धर्म छोड़ दिये मैं उनको धारण पोषण करता हूँ। अतः भगवान् लीलास्थ पदार्थस्वरूप से अलौकिक हैं, किन्तु लौकिकस्वरूप दीखते हैं, 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' इस न्याय से। अतः सिद्ध हुआ कि भगवान् की लीलाभूमि श्री गोकुल आदि का प्रलयादिकाल में भी नाश नहीं होता। यह भूमि एवं यहां के रहनेवाले भगवान् के अतिप्रियता के भाजन होते हैं। अपनी जन्मभूमि चाहे कहीं भी क्यों न हो, किन्तु उसके प्रति प्रेम होना स्वाभाविक है। भगवान् की भी यह जन्मभूमि, इनको प्रिय होने के कारण यहाँ सदा निवास आप करते हैं।

उद्धव जैसे ज्ञानी भक्त ने भी 'व्रजसीमन्तिनियों की चरणरेणु मेरे ऊपर पड़ने से मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा' इस कामना से लता-वल्लोरूप होने की अभिलाषा को और लतारूप होकर इस भूमि में विराजमान हैं। बृहद्ब्रह्मपुराण उत्तरस्थान खिल्य में भृगुवादि ऋषियों से ब्रह्माजी ने कहा—मैंने नन्दगोप की व्रजस्त्रियों की चरणरेणु प्राप्त्यर्थ साठ हजार वर्ष तप किया, तब भी मुझे उनकी चरणरेणु प्राप्त नहीं हुई, इसको सुनकर भृगु ने ब्रह्माजी से कहा—आप सरीखे तो वैष्णवों की रज ग्रहण करते हैं, अतः लोक में नारदादिक वैष्णव बहुत से हैं, उनको छोड़कर गोपियों की पदरज को ग्रहण करने की चाहना आप क्यों करते हैं? इसमें मुझे संदेह होता है। आप इसे निवृत्त करें। भृगु की इस बातको सुनकर ब्रह्माजी ने कहा 'न स्त्रियो व्रजमुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किल। नाहं शिवः शेषश्च श्रीश्च ताभिः समाः क्वचित्।' वेटा! व्रज सुन्दरियों प्राकृत स्त्री नहीं हैं। किन्तु ये श्रुतियाँ हैं, इनके समान मैं ब्रह्मा, शिव, शेष और लक्ष्मी कभी भी नहीं हो सकते, प्राकृत प्रलय होने पर जब व्यक्त अव्यक्त में प्राप्त हो जाता है, उस वक्त चिन्मात्र काल माया से परे अक्षरशेष रह जाता है। तब ब्रह्मानन्दमय लोकव्यापि वैकुण्ठ जिसका नाम है, वह निर्गुण अनाद्यनन्त केवल अक्षर में रहता है। यह अक्षरब्रह्म परम वेदों का उत्तम स्थान है, इस लोक का वासी जो परात्पर वहाँ स्थित है, उसकी वेदों ने बहुत काल तक स्तुति की तब प्रसन्न हो परोक्ष वाणी द्वारा आप बोले—हे प्राज्ञो! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ। जो तुम्हारे मन में हो वह वरदान माँगो। उस समय श्रुतियाँ बोली, हे अच्युत! आपके, नारायणादि रूप तो हमने जान लिये वे सब सगुण ब्रह्म हैं। इनमें हमारी वस्तुबुद्धि (निर्गुणत्व बुद्धि) नहीं है। जिसको हम ब्रह्म कहती हैं और जो रूप निर्गुण पर, वाणी-मन के गोचर

सगुण से अतीत है, उसे हम नहीं जानतीं जिसे पुरावेत्ता आनन्द मात्र कहते हैं। यदि आप हमको वरदान देते हैं तो उस स्वरूप का दर्शन कराइये।

इस प्रकार श्रुतियों की दर्शनेच्छा को जानकर भगवान् ने प्रकृति से परे केवल अनुभवानन्द मात्र अक्षरमध्यपाति, अपने लोक का जिसमें वृन्दावन नाम वन कामदुघ वृक्षों द्वारा मनोरम निकुञ्जों से युक्त, सर्व ऋतुओं में सुखकारी जहाँ श्रीगोवर्द्धन नाम गिरि, जिसमें सुन्दर झरना, गुफा, रत्नधातुमय लोभावान् मोर, कोकिल, तोता आदि पक्षियों से संकुल जहाँ निर्मल जलवाली कालिन्दी नदियों में श्रेष्ठ रत्नों से दोनों तट बद्ध हुए, हंस-पद्मादि से संकुल जहाँ नाना प्रकार के रासरसोन्मत्त गोपियों के समूह, इनके मध्य में स्थित किशोराकृति अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण हैं, दर्शन कराया।

इस प्रकार दर्शन कराके आप बोले—देख लिया मेरा लोक। इससे श्रेष्ठ अन्य नहीं है। कहो अब क्या करूँ? तब श्रुतियाँ बोलीं—'आपके कोटिकंदर्प लावण्य स्वरूप का दर्शन करके हमारे मन में कामिनीभाव उत्पन्न हो गया और गोपियों की तरह रमण करने की इच्छा प्राप्त हुई है। यह सुनकर आपने कहा, यद्यपि तुम्हारा यह मनोरथ दुर्लभ एवं दुर्घट है, तथापि मेरे द्वारा अनुमोदित सत्य होने के योग्य है। अतः 'आगामिनि विरिञ्चो तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते। कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ, पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले। वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्वो रास-मण्डले।' जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकम्। मयि संप्राप्य सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथा।' अर्थात् इस समय ग्यारहवां व्यानकल्प है, आगामी बारहवें सारस्वतकल्प में भारतवर्ष में मेरा क्षेत्र माथुर-मण्डल वृन्दावन में तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा—अर्थात् मेरा वहाँ प्राकट्य होगा, और तुम रासमण्डल में मेरी प्यारी होगी। इस प्रकार आज्ञा पाकर श्रुतियाँ कल्पपर्यन्त भगवच्चिन्तन करती रहीं, अनन्तर उक्त समय में व्रज में गोपियाँ हुईं। उक्त प्रकरण में श्रुतियों ने सर्ववेदान्त प्रत्यय गुणातीत वाङ्मनोगोचरातीत आनन्दैक रूप आपके स्वरूप देखने की प्रार्थना की, और भगवान् ने प्रकृति से परे अपना लोक और उसमें स्थित स्वस्वरूप एवं वहाँ क्रियमाण लीला का दर्शन कराया। इससे स्पष्ट होता है कि वृन्दावनाद्युक्त सामग्रीविशिष्ट सदा भगवान् का रूप है, केवल नहीं। क्योंकि यह वस्तु ही ऐसी है, इसमें शंका को अवकाश ही नहीं है। इसीसे गोपालतापनीय श्रुति में 'तस्मान्न भिन्ना एतास्तु आभिभिन्नो न वै प्रभुः। भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं सर्वगवासिनाम्' तैत्तिरीय श्रुति में 'यदक्षरे परमे प्रजाः' प्रभु से भिन्न गोपियाँ नहीं और प्रभु गोपियों से भिन्न नहीं, यह सब वैकुण्ठ पृथिवी में उतारा गया है। ब्रह्मधर्म ब्रह्म से भिन्न भी है, और अभिन्न भी है। व्यासजी ने भी 'प्रकाशाधयवद्धा तेजस्वात्' इस सूत्र में विचार किया है कि जिस प्रकार प्रकाशाश्रय सूर्यादिक प्रकाश से भिन्न नहीं हैं, अर्थात् भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं, उसी प्रकार ब्रह्मधर्मों को भी भिन्न-भिन्न मानकर स्वगतभेद वृक्ष-फलादिवत् स्वीकार किया है। अतः वृन्दावन आदि एवं यहाँ के सर्व वृक्ष, लता, फलादि लीलासंबन्धी सर्ववस्तु भगवद्धर्म रूप होने से नित्य हैं।

मथुरा-द्वारकादि एवं वहाँ के रहनेवाले तथा लीलास्थलों की भी नित्यता समान न्याय से सूचन की है। यही लीला ऋग्वेद में 'जज्ञान एव व्यवाधतस्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभिर्षीस्यं रणम्। अवृ-श्रवद्रिमवसः स्यदसृजदस्तभ्नाक्षां स्वपस्यया पृथुम्' (ऋग्वेद १०।११३-४) अर्थ (जज्ञान एव) श्रीगोकुल में प्रकट होते ही, (स्पृधः) पूतना तृणावर्त आदि शत्रुओं को भगवान् ने, (व्यवाधत) विविध प्रकारों से विशेष करके मारा, (प्रापश्यद्वीरः) पश्चात् वीर विक्रान्त भगवान् ने मथुरा-द्वारका आदि में स्वयं अपने पौरुष (पराक्रम) के अनुरूप (रणं) दैत्यों के साथ संग्राम का, (प्राप-श्यत्) अनुभव किया। अर्थात् संग्राम करते हुए अथवा (वीर) अकेला ही सर्ववीरों का

विनाश करने में समर्थ होते हुए भी, (पौंस्य) पुरुष संबंधि कौरव-पांडवों के, (रण) संग्राम को, (प्रापश्यत्) तटस्थता से देखता हुआ । इस प्रकार पृथिवी में रहने वाले दैत्यों का भगवान् ने नाश किया । अब देवेन्द्र मदननाश का वर्णन श्रुति करती है । भगवान् ने व्रजवासियों की रक्षा करने के लिये (अद्रि) गोवर्द्धन पर्वत को, (अवृश्चत्-उत्पाटितवान्) उखाड़ा, (सः) भगवान्, (स्पृष्टुं) इन्द्र द्वारा की गई जलवृष्टि का, (अवासृजत्) निवारण करते हुए । (एतया स्वपस्यया) गोकुल में रहने के लिये कर्म की इच्छा—लीला करने की इच्छा से, (पृथुं) विस्तीर्ण—विस्तार वाले (नाकं) स्वर्ग को, (अस्तभ्नात्) प्रतिवद्ध किया, अर्थात् इन्द्रादि देवताओं का मद दूर किया ।

उक्त श्रुति द्वारा भी लीला की नित्यता प्रतिपादन की है । अब युक्तिवाद से भी गो० श्री विट्ठलनाथ जी लीला का नित्यत्व प्रतिपादन करते हैं । जिसका नाश हो वह अनित्य है, लीला का नाश होता ही नहीं है । इसलिये नित्य है । जो उत्पन्न होता है, उसका नाश होता है । भगवान् की लीला उत्पन्न नहीं होती—नित्य है । इसका क्रम-क्रम से आविर्भाव होता है । जिस प्रकार लौकिक ज्ञान से भगवान् का ज्ञान पृथक् नित्य है । उसी प्रकार लौकिक क्रिया से भगवान् की क्रिया लीला पृथक् नित्य है । इसी प्रकार 'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः । दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमिच्छन्सु विग्रहम् ॥ ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूतास्तु गोकुले । हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवान्वात् ॥ क्रोधेनैव तथा दैत्याः समेत्य मधुसूदनम् । अगच्छन्निधनं तेन हता मुक्तिमवाप्नुयुः ॥ कामः क्रोधी नृणां लोके निरयस्यैव कारणम् । हरिं समेत्य तावैव मुक्त्यै गोपीसुरद्विषाम् ॥ कामाद्र्यादा द्वेषाद्वा ये भजन्ति जनार्दनम् । ते प्राप्नुवन्ति वैकुण्ठे किं पुनर्भक्तियोगतः ॥' यही प्रसंग पद्मपुराण तथा आदिवाराहपुराण में 'कृष्णस्य रमणार्थं हि सहस्राणि च षोडश । गोप्यो रूपाणि चक्रुश्च तत्राक्रोडन्त केशवम् ॥' महाकौर्म-पुराण में, 'अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे । भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम् ।' अर्थात् दण्डकारण्यवासी १६ हजार अग्निकुमार (ऋषि) जिनको वेद-वेदांग-मंत्रादि का पूर्ण ज्ञान था, किन्तु भगवदिच्छा से श्रीराम के स्वरूप का दर्शन कर विमोहित हो गये और श्रीराम के वरदान द्वारा व्रज में नन्दराय जी के भवन में कुमारिकाएँ होकर गौड़ देश से आये थे । मूल में पुरुष थे, किन्तु भावना थी स्त्री होने की, श्रीकृष्णावतार में इनका आधिदैविक रूप पुरुष रूप से प्रकट हुआ और आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक कन्यारूप गौड़ देश में प्रकट हुआ था, श्रीनन्दराय जी इनको अपने घर ले आये थे । इनमें स्त्रीभाव था, इसलिये भगवान् को जपना पति बनाने की अभिलाषा थी । उक्त इच्छापूर्ति में किसी प्रतिवन्ध को जानकर इसके दूर करने लिये हेमन्त के प्रथम महीने में कात्यायनी और द्वितीय में भद्रकाली का पूजन-व्रत किया था, अनन्तर कुमारिकाओं के वस्त्र हरण किये, उस समय भगवान् के साथ जो वयस्य बालक थे वे गोपों के नहीं थे किन्तु कुमारिकाओं के आधिदैविक रूप थे, पूतना के प्राण द्वारा भगवान् में आये थे ।

जहां तक आधिदैविकादि रूप एक न हों वहाँ तक क्रिया रसजनक होती नहीं है । अतः आधिदैविक बालकों का प्रवेश दृष्टि द्वारा कुमारिकाओं में किया, फिर आवरण दूर कर प्रसन्न हो भगवान् ने वरदान दिया, 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' (भा. १०।१९।२७) यहां पर 'इमाः' इस इदम् शब्द का प्रयोग है, अतः समस्त रमणसम्बन्धी रात्रियों का प्रत्यक्ष दर्शन कराया, वरदान प्रातःकाल दिया था । उस वक्त पूर्व की लौकिकी रात्रि नहीं थी । लौकिक रात्रियों को कहते तो यहां 'ताः क्षपाः' वे रात्रियाँ, ऐसा प्रयोग होता, किन्तु यहां इदम् शब्द का प्रयोग सूचित करता है कि नित्य रात्रियों का ही दर्शन कराया गया था । एवं इन्हीं रात्रियों में भगवान् ने इनका भी मनोरथ पूर्ण किया । ऋषियों की कथा के सम्बन्ध में एक बात और भी विचारणीय है । सोलह हजार ऋषि स्वयं पुरुष थे, पुरुष शरीर में स्त्रीभाव की उत्पत्ति लौकिक दृष्टि से भी सम्भावित नहीं होती । क्योंकि पुरुष

देह तथा स्त्रीभाव परस्पर विरुद्ध हैं । भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने विचार किया कि ये समग्र ऋषि अति शुद्ध पुण्यशाली हैं, इनके ऊपर इतने प्रसन्न हुये कि जो कभी किसी को दिया न जाय उस अपने स्वरूपानन्द के दान देने की इच्छा उत्पन्न हो गई । इस स्वरूपानन्द का अनुभव केवल पुरुष-रूप अथवा केवल स्त्रीरूप में नहीं होता, क्योंकि इस प्रकार का कोई उदाहरण नहीं मिलता । भागवत में ऋषिपत्नियों को स्वरूपानन्द का दान नहीं दिया, और कुमारिकाओं को दिया ।

भगवान् अचिन्त्य अनन्त शक्तिमान् हैं, इनकी प्रसादरूपा शक्तियाँ अनेक हैं, इन प्रसाद-रूप शक्तियों में एक अत्यन्त अन्तरङ्ग शक्ति है । इसके साथ यदि जीवात्मा का संबंध हो जाता है, तो जीवात्मा भगवान् के स्वरूपानन्द का अनुभव अवश्य करती है । यह शक्ति स्त्रीत्व धर्म वाली होती है, भगवान् ने ऋषियों में उक्त शक्ति को स्थापित किया, इससे इनको स्वरूपानन्द का अनुभव हुआ । श्रीराम की इच्छा से स्वरूपानन्द के अनुभव योग्य देह इनको कृष्णावतार में मिली थी और इन्होंने स्त्रीरूप कात्यायनी का पूजन किया, इसी में स्त्रीत्व गुण है, यही भगवान् की प्रसाद-रूपा शक्ति है, इसके द्वारा प्रसन्न होकर स्वरूपानन्द का अनुभव कराया था । जिस प्रकार दिव्य दृष्टि द्वारा दिव्य पदार्थों का दर्शन होता है, भगवदीय दृष्टि द्वारा भगवान् का दर्शन होता है उसी प्रकार भगवदीय स्त्रीत्वद्वारा जीवात्मा भगवान् के योग्य होता है । कुमारिकाओं ने स्त्रीभाव स्वीकारा था, अतः इनमें सहज काम था । वह काम भगवान् के स्पर्श बिना दूर नहीं होता । भगवान् का स्पर्श काम को शान्त कर नवीन इच्छा उत्पन्न नहीं करता, इसलिये उन्होंने उनके भावानुसार उनके साथ लीला कर कामभाव को नष्ट कर उन्हें निर्गुण बनाया । इसी प्रकार अन्यत्र कथा है कि पहले श्रुतिरूपा अथवा वाणीरूपा गोपिकाओं को ब्रह्माजी ने शाप दिया था । इसलिये उनमें शापजन्य कामदोष था, श्रुतियों द्वारा जगत् का उद्धार होता है, अतः श्रुतियाँ कामरहित होनी चाहिए, किन्तु, भगवान् के मुख्य अधिकारी ब्रह्माजी ने शाप दिया है, इसको भगवान् के बिना दूसरा कौन दूर कर सकता है । पुराणोक्त कथाओं से मालूम होता है कि जब-जब ब्रह्माजी, शिवजी अथवा इतर ऋषि, मुनि शाप अथवा वरदान देते हैं, तब-तब भगवान् ही सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा होने के कारण आप शापित व्यक्तियों का उद्धार करते हैं ।

अहल्या शिला हुई, श्रीराम ने पादस्पर्श कर उद्धार किया; वाणासुर की भुजा भगवान् ने काटकर श्री महादेव की वाणी सफल की; वृकासुर आदि के संकट से छुड़ाया; नारदजी की वाणी सत्य करने को यमलार्जुन का उद्धार भगवान् ने ही किया था—इत्यादि, इत्यादि । इसी तरह ब्रह्माजी का दिया काम-शाप, उसकी पीड़ा भगवान् को ही निवृत्त कर गोपियों का उद्धार करना है । क्योंकि भगवान् ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वोद्धार-प्रयत्नवान् हैं, अन्य देव नहीं । भागवत में इनके चरित्र से मालूम होता है कि शापजन्य काम की व्याप्ति इनके सर्वाङ्ग में हो गई थी, यद्यपि काम रजोगुण से उत्पन्न होता है, तथापि इतना प्रकुपित हो गया कि स्वयं तामसी होकर गोपियों की भी तामसावस्था कर दी, इसलिये वे तामस कहलाई । सनकादि द्वारा जय-विजय के शापप्रसङ्ग में (भाग० ३-१६-३० । श्रीसुबोधिनी) 'मयि संरम्भयोगेन' इस श्लोक में श्री महाप्रभु बल्लभाचार्य कहते हैं कि—

तर्हि ब्रह्मशापस्य का गतिस्तत्राह । मयीति । ब्रह्मशापस्य प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्, प्रायश्चित्ता-नंतरं हि पुरुषः शुद्धः, शुद्धैव हि विहितं कर्तव्यम्, भगवद्भक्तानां च प्रायश्चित्तं भगवत्स्मरणमेव । तच्च स्मरणं लौकिकं भवति, शुद्धस्यैव हि वैदिकेऽधिकारात्, लौकिकत्वात् प्रायश्चित्तत्वं च । नित्यता तु स्मरणस्य । प्रथमप्रवृत्तानां यावद्भगवदीया भवन्ति । पश्चात् पापमेव नोत्पद्यते । भगवदिच्छया तु तदुत्पत्तिः, तदिच्छाया बलिष्ठत्वात्, स्मरणं न सम्भवति । लौकिके तु बाधाभावात्, भगवत्सा-

युज्यादि, साधकत्वाभावेऽपि प्रायश्चित्तत्वमस्ति, दोषनिर्घातकत्वस्य स्मरणसहजधर्मत्वात् । कामादयो हि केवललौकिकाः, लौकिकपोषहेतवः, क्रोधोऽत्र शापहेतुर्जाति इति क्रोधेनैव स्मरणं भविष्यति । अन्यथा विस्मरणमेव स्यात् । एवं गोपिकानां कामोऽपि । ब्रह्मणा हि कामेन वाक् शप्ता, अत एव वाचा न प्रजापतेर्होमः । 'वाक् च मनश्चार्त्तीयताम्' इत्युपाख्याने तथा निरूपणात् । सैव वाक् गोपिकाः । भयेन शुक्राचार्येण शप्ताः कालनेमिप्रभृतयः, तेहि बृहस्पतिमुररीकृतवन्तः, स्वपीरोहित्यगमनभयात् क्षिप्ता इति भयेनैव स्मरणं कंसस्य, अन्ये च देवा यथायथं तत्तत्संबन्धिनो बृहस्पतिदुर्वासःप्रभृतिभिः शप्ता इति संबंधस्नेहादेव स्मरणं यादवादीनाम् । एते चत्वारोऽपि शापात्तथोत्पन्नाः, तथा स्मरणेन तत्तच्छापं हित्वा स्वभगवदीयेनैव रूपेण भगवत्पदं प्राप्ताः । तथाऽत्रापि 'अस्तु धम्' इति वाक्यात् पदप्राप्तिः, भगवति च क्रोधसंरम्भयोगेन ब्रह्मावज्ञालक्षणं दोषं निर्हृत्य, मे निकासं समीपम्, अतिनेकटयं वा द्वारापेक्षया चरणे, अल्पीयसा कालेन पुनः प्रत्येक्यतमिति क्रोधसम्बन्धस्य लोके अपुरुषार्थत्वात्, पुरुषार्थत्वाय योगपदम् ॥ ३१ ॥

इसका सारांश—तो ब्रह्मशाप की क्या गति है ? इस प्रश्न का उत्तर—ब्रह्मशाप का प्रायश्चित्त करना चाहिये, प्रायश्चित्त करने के अनन्तर पुरुष शुद्ध होता है, शुद्ध द्वारा ही विहित करना चाहिये । भगवान् के भक्तों का प्रायश्चित्त भगवत्स्मरण ही है । वह स्मरण लौकिक होता है । शुद्ध का ही वैदिक में अधिकार होने के कारण, बिना शुद्ध हुए वैदिक कर नहीं सकता । स्मरण को लौकिक होने से प्रायश्चित्तता है । यदि कहो कि स्मरण प्रायश्चित्तरूप है, तो इसके द्वारा पाप दूर होने के अनन्तर फिर स्मरण की आवश्यकता नहीं रहती, और 'स्मर्तव्यः सततं विष्णुः' इत्यादि वाक्य में स्मरण की नित्यता बतलाई है, उसमें बाध आवेगा । तब इसके उत्तर में कहते हैं कि—जबतक भगवदीय होते हैं, जबतक प्रथम कक्षा में प्रवृत्त होनेवालों के स्मरण की नित्यता है । भगवदीय होने के बाद में तो पाप ही नहीं उत्पन्न होते । हां यदि भगवान् की इच्छा हो तो पाप उत्पन्न हो सकते हैं । उस समय भगवदिच्छा बलिष्ठ होने से स्मरण भी, जिससे पाप दूर होते हैं, कर्मव्यासङ्ग के कारण सम्भव नहीं होता है । तब तो उक्त आपत्ति लौकिक में भी होगी ? नहीं, लौकिक के प्रतिकूल भगवदिच्छा न होने से वैदिक की तरह आपत्ति (बाध) लौकिक में नहीं होती । लौकिक स्मरण को भगवत्सायुज्यादिसाधकत्व का अभाव होने पर भी प्रायश्चित्तता है । क्योंकि दोषनाशकरत्व (करना) स्मरण का सहज धर्म है । कामादिक केवल लौकिक हैं और लौकिक पोषण में हेतु हैं ।

जय-विजय को शाप होने में क्रोध हेतु हुआ है, इसलिये क्रोध द्वारा ही स्मरण होगा नहीं तो विस्मरण ही होगा । इसी प्रकार गोपिकाओं को काम भगवान् के स्मरण में हेतु है । क्योंकि कामुक ब्रह्मा ने वाणी को शाप दिया, इसीसे उच्चारण (बोल) कर प्रजापति को होमाहुति नहीं दी जाती । 'वाक् च मनश्चार्त्तीयताम्' इस उपाख्यान में इसका निरूपण किया है । वे ही शापित श्रुति रूप वाणी गोपिकायें हैं । भय से शुक्राचार्य ने कालनेमि प्रभृतियों को शाप दिया है । शुक्राचार्य तप करने चले गये तब उनका रूप धारणकर बृहस्पति आया, कालनेमि प्रभृति बृहस्पति को पुरोहित बनाते थे । अतः मेरा पीरोहित्य न चला जाय इस भय से उनको शाप दे पृथ्वी पर भेज दिया । कालनेमि ही कंस हुआ, इसलिये भय से कंस ने स्मरण किया । तत्तत्संबन्धि अन्य देवताओं को बृहस्पति एवं दुर्वासा आदि के द्वारा शाप मिला, शापनिरूपण पञ्चैन्द्र प्रकरण में कहा है । अतः यादव-पाण्डवों ने सम्बन्ध स्नेह से ही स्मरण किया । ये चारों वाणी गोपिकाएं, जय-विजय, शिशुपाल, दन्तवक्रा । कालनेमि, कंस, देवता, यादव, पाण्डव । शापद्वारा भूतल पर उत्पन्न हो काम, क्रोध, भय, स्नेह से भग-

वान् का स्मरण कर शाप से छुटकारा पाकर अपने भगवदीय रूप से ही भगवत्पद को प्राप्त हुए । उक्त वाक्यों से स्पष्ट हुआ कि निर्गुण भगवान् की प्राप्ति जब तक तामस, राजस, सात्त्विक तीनों गुणों का उल्लंघन कर जीव निर्गुण नहीं होता तब तक नहीं होती । ब्रह्मा जैसे समर्थ देवता का दिया शाप भगवत्कृति द्वारा ही दूर हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता । अतः भगवान् रासकीड़ा में स्पर्श द्वारा तामस गुण से गोपिकाओं को मुक्त करते हैं । पहले कह चुके हैं कि काम, क्रोध, भयादि द्वारा किया गया भगवत्स्मरण लौकिक होने से प्रायश्चित्तरूप होता है । अतः पापों को दूर करता है । काम, क्रोधादि तो रहते ही हैं । इनके दूर करने के लिये तो भगवान् के अनुग्रह की आवश्यकता रहती ही है ।

व्रजभक्तों को तामस गुण से मुक्त कर भगवान् मथुरा पधारे तब गोकुल से सबका तामस साथ लेकर पधारे और समस्त गोकुलस्थ भक्त राजसी हो गये, इस प्रकार यादवादि तथा गोकुलस्थ राजसी होकर आगे सात्त्विक हो गये । अनन्तर अन्त में तीनों भक्त निर्गुण हो गये । इनकी मुक्ति का वर्णन एकादश स्कंध में किया है । 'इतोऽपि चेद्धरिर्गच्छेन्नीत्वा सर्वस्य तामसम् । राजसास्ते भविष्यन्ति गोकुलस्था न संशयः ॥ 'उभये च ततस्त्वग्रे सात्त्विका निर्गुणास्ततः । त्रयोऽपि सम्भविष्यन्ति मुक्ती तेषां निरूपणम् ।' (भागवतार्थ निबन्ध दश० स्कन्ध, राजस प्रमाण प्रकरण १२६-१२७) । भगवान् के मथुरा पधारने के बाद व्रज गोपिकाओं में रजोगुण था, इसका सूचन (भा० १०।४।७।४०) 'कच्चिद् गदाग्रजः सौम्य' इत्यादि श्लोकों में गोपिकाओं के वाक्यों से होता है । इसीलिये भगवान् ने रजोगुण दूर करने के लिये उद्धवजी को भेजकर ज्ञानोपदेश किया । 'भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना ववचित् ।' (भा० १०।४।७।२६) । भगवान् कहते हैं कि तुमको मेरा किसी समय कभी वियोग नहीं है । आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ये पाँच भूत जिस प्रकार प्राणिमात्र स्थावर जङ्गम में रहते हैं, उसी प्रकार मैं मन, प्राण, पञ्चभूत, इन्द्रिय तथा गुण में रहता हूँ । इत्यादि श्लोकों द्वारा उद्धवजी को भेजकर रजोगुण दूर कराके सात्त्विक—फिर निर्गुण कराने का उपाय श्लोक 'यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्त्ते प्रियो दृशाम्' १०।४।७।३४ इसको सुबोधिनी में आचार्यश्री कहते हैं कि 'मनसितु भगवति समागमे मनो भगवद्धर्मान् गृह्णाति' मन में तो भगवान् का समागम होने पर मन भगवद्धर्मों को ग्रहण करता है । 'गुणास्त्वनुभावरूपाः क्रिया नापेक्षन्ते' । भगवद्धर्म क्रिया की अपेक्षा न करके तीनों गुणों को दूर कर देते हैं । इस प्रकार उद्धवजी द्वारा भगवान् के ज्ञानोपदेश से गोपियां रजोगुण दूरकर सात्त्विकी हुईं, और फिर कुरुक्षेत्र प्रसङ्ग में भगवान् का दर्शन किया । उस समय आपने ज्ञानोपदेश दिया तब सात्त्विक गुण दूर होकर निर्गुण हो गईं । अतएव आचार्यश्री कहते हैं कि 'एवं निष्कामतया गोप्यो मुख्य भक्ता जाताः', 'कामनिवारणार्थं च ज्ञानोपदेश इति निरूपितम्' इस प्रकार निष्कामता से गोपियां मुख्य भक्त हुईं, काम निवारण करने के लिये ज्ञान का उपदेश है, यह निरूपण किया । उक्त जय-विजय प्रसङ्ग में सुबोधिनी से यह स्पष्ट होता है कि जिस समय कोई जीव समर्थ व्यक्ति के द्वारा शापित होता है, और उस शाप का दूर होना किसी अन्य द्वारा अनिवार्य हो, तथा जिस हेतु काम-क्रोधादि से दिया हो और उस शाप से दुःखित व्यक्ति उसी के द्वारा (काम-क्रोधादि द्वारा) भगवत्स्मरण करता हो, तब सर्वसमर्थ भगवान् इस पर अनुग्रह करते हैं । सारांश काम-क्रोधादि, किसी कारणवश शापित व्यक्तियों के ऊपर ही अनुग्रह में हेतु है, मुख्य नहीं ।

मुख्यतया तो निर्गुण निरूपाधि प्रेम भक्ति ही है । दशमस्कन्ध में भगवान् ने इस प्रकार के जीवों का उद्धार (जो लोकवेद दृष्टि से कठिन मालूम पड़ता है) करके सर्वोत्कृष्ट अनुग्रह मार्ग का प्रदर्शन कराया है । इसलिये समग्र भागवत में यह स्कन्ध महत्त्वपूर्ण माना गया है । 'यस्य नाहंकृतो

भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हृत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निवध्यते' गीता । योगेश्वर का स्पर्श पवित्र, निर्दोष एवं श्रेयःसाधक होता है । क्योंकि वे निष्काम होते हैं, एवं स्पर्श केवल परोप-कार बुद्धि से ही करते हैं । भगवान् तो योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं, फिर इनका स्पर्श पवित्र, निर्दोष श्रेयःसाधक हो तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है ? इसीसे श्रीमहाप्रभु बल्लभाचार्यजी (सुबो० १०। २६ ४२, कारिका ३०) 'तिरोभावस्ततश्चापि नायं लौकिककामुकः' गोपियों को मान हुआ, और भगवान् का तिरोभाव हो गया क्योंकि यह लौकिक कामुक नहीं है । आगे (का० १-४) । 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते । तासां कामस्य सम्पूत्तिनिष्कामेनेति तास्तथा ॥ १ ॥ कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटः । कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः ॥ २ ॥ अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च । अत एवच्छ्रुतो लोको निष्कामः सर्वथा भवेत् ॥ ३ ॥ भगव-च्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते । अतः कामस्य नोद्वेगः ततः शुक्वचः स्फुटम्' ॥ ४ ॥ यहाँ पर क्रिया सब जो कामशास्त्र में सिद्ध हैं, नहीं हैं । किन्तु कामशास्त्रसिद्ध स्त्रीप्रेक्षणादि से उत्पन्न अङ्गादि विकार हेतु काम नहीं है । क्योंकि गोपियों की अभिलाषपूर्ति निष्काम भगवान् ने की है । अतः गोपियाँ भी निष्काम हैं । यदि काम से कामपूरित होता तो संसारोत्पत्ति ही उत्पन्न करे, अर्थात् इस प्रकार की कामलीला सुननेवाले को संसारोत्पत्ति हो—हृद्भोग कामनिवृत्ति नहीं हो । अतः जिस स्वरूप में काम का लेश नहीं उस स्वरूप द्वारा निष्काम ही अभिलाष पूर्ण होती है इसमें सन्देह नहीं । अतः गोपियाँ निष्काम अभिलाषी होने से निष्काम हैं । इसलिये कोई मर्यादा भङ्ग नहीं हुई और न मोक्षफल में ही हानि हुई । इस लीला के सुनने पर लोग सर्वथा निष्काम होते हैं । क्योंकि भगवान् सर्वचरित्र निष्काम हैं, इसलिये यहाँ कामोद्वेग नहीं है, यह श्रीशुकदेवजी के वाक्य से स्फुट है । योगेश्वर भगवान् को कामवासना नहीं होती, अतः इनका स्पर्श निर्दोष है । भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं । इनका स्पर्श अपना ही है 'न हि स्वस्य स्पर्शः स्वस्य क्वापि निषिद्धः' अपना स्पर्श अपने को कहीं भी निषिद्ध नहीं होता ।

एक विचार और भी है कि, जैसे लौकिक में हीन जाति के साथ हीन कर्म करना मर्यादा-भंग करने वाला एवं निषिद्ध है । उसी प्रकार भगवान् हीन कर्म कभी नहीं करते, इनकी समग्र लीला निर्दोषपूर्ण गुण युक्त, समान शील के साथ होती है और वे भक्तवत्सलता का प्रदर्शन करती हैं । इन व्रजभक्तों में भी लक्ष्यांश विद्यमान हैं । आचार्यों ने दशम स्कन्ध के प्रारम्भ में मङ्गला-चरण किया है । 'नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्, लक्ष्मी सहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कला-निधिम्' इसका अर्थ गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी ने स्वकृत टिप्पणी में लिखा है । श्री आचार्य दशमस्कन्ध का विवरण करने की इच्छा करते, स्कन्धार्थरूप भी भगवान् हैं, इसको जताने के लिए स्कन्धार्थरूप भगवान् को नमन करते हैं । 'निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः' इस वाक्य के स्कन्धार्थरूप विवरण में कहा है ।

जिस प्रकार नारायण दास्योपयोगी शय्यादि सर्वार्थ रूप से प्रभु के शेषभाव को प्राप्त होने से शेषरूप से प्रसिद्ध, वेदात्मकता से प्रमाणरूप शेष में लक्ष्मी द्वारा सेवित क्षीरसमुद्र में शयन करते हैं । उसी प्रकार सर्वात्म से दासता को प्राप्त हुये, शेषरूप हमारे हृदय में पुष्टि रस के पाने की इच्छा करनेवालों को पीने-योग्य, अत्यन्त अगाध जो लीला क्षीरसमुद्र उसमें शयन करने से लक्ष्मी सहस्रों द्वारा तथा उनकी लीलाओं द्वारा सेवा किये गये चौंसठ कलानिधान उनके रसपोषण में अति चतुर अन्यत्र गतिरहित, उनकी आत्मा जो भगवान् रसात्मा पूर्ण पुरुषोत्तम, उनको नमन करता हूँ । कला निधान शब्द से पूर्ण पुरुषोत्तम तथा नारायण रूप से विलक्षणता बतलाई है । वहाँ एक लक्ष्मी है, वहाँ अपरिमित लक्ष्मियाँ कही गई हैं । वहाँ क्षीरसमुद्र में शेषशय्या पर शयन कहा है,

यहाँ हृदयात्मक शेषशय्या लीलाक्षीराब्धि में शयन कहा है । इसका आशय यह समझना चाहिये कि सर्वात्मभाव वाले भक्तहृदय में निरन्तर भावना द्वारा रसात्मक पुष्टिमार्गीय लीलासमुद्र भगवान् ने स्वयं ही प्रकट किया, जिस प्रकार बृन्दावन प्रवेश वेशुफूजन आदि किया । उस समुद्र में पुष्टिमार्गीय भक्तों द्वारा अपने स्वरूप से अपनी लीलारूप जो कटाक्षादि हैं, उनके द्वारा सेवित हैं । इत्यादि कथन से नायिकार्ये भी प्रभुलीला-मध्यपातिनी हैं । इसलिये उनको पुष्प कहना अयुक्त है यह शंका भी दूर कर दी । जिस प्रकार पुरि में शयन पुरुष का है । उसी प्रकार यहाँ तत्तल्लीलानुरूप स्थिति को शयन पद से कहा है, न कि निद्रा को । यदि यहाँ शयन पद का अर्थ निद्रा मानते हो तो विविध नायिकाओं द्वारा की गई लीलाओं का अनुपयोग होने से सेवनोक्ति विरुद्ध हो जाती है । इसलिये यहाँ निद्रा अब नहीं है ।

जिस प्रकार नारायण से कमल और फिर कमल से सारी सृष्टि हुई । उसी प्रकार स्थायि भावात्मक पुरुषोत्तम अपने में कमलवत् विचित्र भावों को उत्पन्न करके ब्रह्मा की तरह, किसी प्रचुर भाव का उत्पादन करते हुए जिसके द्वारा भगवल्लीलाओं को प्रकट करने वाला अखिल रसा-त्मक जगत् प्रकट हुआ, इस प्रकार शयन पद नारायण में प्रसिद्ध है । अतः आचार्यों ने भी नारायण धर्म की समानता निरूपण की है, यदि अनुशयन शब्द 'अनुशयते अनेन' भावार्थक मान लिया जाय तब करण्युत्पत्ति से व्रज-भक्तों के साथ अपना निगूढ भाव करना निरोध है । स्वकीयों में स्ववि-पयक भाव का उत्पादन जिस लीला द्वारा होता है वह लीला निरोध शब्दवाच्य तथा निर्दोष है । भाग० द० १०।१८७।१८ स्कंध समाप्ति में 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुव-रपरिपत्स्वैर्दोभिरस्यन्नधर्मम् । स्थिरचरुवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन, व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्' अर्थ—मनुष्यों में जिसका निवास है, देवकी से जिसका जन्मवाद है, श्रेष्ठ यादवों की सभा में अपने सेवकरूप बाहु द्वारा धर्म का नाश करने स्थावर जङ्गम प्राणियों के पाप नाश करने वाले, सुन्दर स्मित युक्त श्रीमुख द्वारा व्रज तथा नगर की स्त्रियों को कामदेव बढ़ाते जय को प्राप्त होते हैं । इस श्लोक में 'जयति' 'वर्तमान' 'क्रिया' तथा 'अस्यन्, वर्धयन्' दो वर्तमान कृदन्त प्रयोग भगवान् की लीलाओं की नित्यता सूचन करते हैं । गर्गाचार्य नामकरण संस्कार के समय में कहते हैं कि 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः' तुम्हारे पुत्र के गुण तथा कर्मों के अनुरूप अनन्त नाम और रूप हैं । उन सबको मैं जानता हूँ, अन्य जन नहीं जानते । इस श्लोक में भी 'सन्ति' क्रिया वर्तमान काल की नाम रूप की नित्यता बतलाती है । अतः श्रीआचार्यचरण निव. भा. १ में कहते हैं कि 'एवं सर्वान् समुद्धृत्य क्रीडत्यस्माकमीश्वरः'—'पूर्व सिद्ध लीलाओं का लोक में भवतों को तत्तद्रस के अनुभव के लिये किसी अंश का आविर्भाव, और किसी अंश का आच्छादन होने से क्रम से अनुभव होता है । जैसे पृथिवी में ही तत्तद्देश में तत्त-त्कालमें तत्तद्गन्ध रूप से आविर्भाव होता है, जलादि में नहीं । वैसे तत्तत्काल में देश में तत्तद्रस के भोगने के लिये तत्तद्रस का आविर्भाव होता है । अभी भी किसी-किसी देश में स्मरण करने पर भक्तों को लीलानुभव होता है । यदि लीलाविशिष्ट स्वरूप नित्य न हो तो अनुभव भी न होना चाहिये । अतः सिद्ध हुआ कि भगवन्नाम, लीला, स्थान और वहाँ रहनेवाले, उनके साथ की गई लीला सब नित्य हैं ।

'रसो वै सः' इति सर्वरसः, इत्यादि श्रुति प्रमाण से भगवान् विभावानुभाव संचारिभाव विशिष्ट संयोग-विप्रलम्भ आदि तत्तद्भेदविशिष्ट सर्वरूपत्व हैं । यह निर्विवाद कहा है । इसका स्पष्टीकरण—जैसे किसी भक्त से भगवान् ने कहा, मैं तुम्हारे घर आऊँगा । उस समय भगवान् के आगमन में, परम आत्ति लक्षण रस पोषणार्थ 'मैं आऊँगा' इस वाक्य के कथनानन्तर ही मेरे घर प्रिय निश्चय आवेंगे,

और उनके आने पर मेरे सर्वभनोरथों की पूर्ति होगी। इस निश्चय के द्वारा उस समय भक्त में अनेक अमन्द आनन्दरूप अतिविलक्षण रसभावविशेष उत्पन्न होते हैं। जब तक भगवान् 'मैं आऊँगा' नहीं कहते तब तक रसभावविशेष उत्पन्न नहीं होते। यह सर्वानुभव सिद्ध है। भगवान् के कहने के बाद ही रस भावोत्पन्न होते हैं। इसीलिये भगवान् भी मैं 'आऊँगा' कहते हैं। भगवान् को भी भक्त-भाव देखकर उससे उत्पन्न हुआ तत्समयोचित भावविशेष परमानन्द रूप अनुभव विषय होता है। अर्थात् 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुति प्रमाण से स्वरूपात्मक ही इस रस का सदा अनुभव करता है 'मैं आऊँगा' इस प्रकार वाणी द्वारा आश्वासित भक्त घर गमन में पहले अवधि करके, उस समय को बिताकर, अथवा उसी समय प्रियतम के आने पर जो रसात्मक भावविशेष है, उनसे स्वयं भगवान् रसात्मक होता हुआ, उक्त श्रुतिरीति से आत्मरूप रस का ही अनुभव करता है। शास्त्र में उक्त रीति से ही रसोत्पत्ति कही हुई है। अतः यहाँ भी उसी सरणी का आदर किया है।

संयोग-वियोगादि रूप रस अनेक भावरूप और भगवद्रूप हैं। इसलिये जहाँ जो रस जैसा, जिस प्रकार का स्वशास्त्रसिद्ध है, वहाँ रस उसी प्रकार का वह रस भगवान् ही है। यह फलार्थ हुआ। भगवान् तो एक ही हैं। वहाँ की सर्वसामग्री भगवद्रूपा ही है। अतः भविष्य अनुभव को भी स्वरूप के अन्तःपाति होने से नित्यत्व में विरोध नहीं आता, भगवान् की इच्छा से भविष्य अनुभव भी होता है। अब उक्त कथन से और भी स्पष्ट हो गया कि भगवत्स्थान और उनमें रहने वाले नित्य लीला अन्तःपाति भक्त लीला सामग्री एवं भगवत्कृत लीला, नाम सब नित्य हैं। शंका—'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः' इस वाक्यानुसार अनेक जन्मों द्वारा सञ्चित किया सुकृत समूह जिन्होंने, एवं अत्यन्त भगवदनुग्रह पात्र महत्तमों की चरणरज से अभिषिक्त पुरुष को यदि नित्य लीला मध्यपाति भक्तों का भाव उत्पन्न हो जाय और उनके भावानुसार फलाभिलाष से भजन करने पर भगवल्लीला मध्यपातित्व है अथवा नहीं? पूर्वपक्ष, नहीं है। क्योंकि इस समय के भी भक्त यदि उक्त लीला रसानुभव कामना से भगवद्भजन करेंगे तो उनके साथ भी भगवान् लीला करेंगे, ऐसा आप कहेंगे, तो इनके साथ क्रियमाण लीला को जन्यत्व होने से नित्यता नहीं कह सकते। इसलिये भक्त के अब भगवान् कहीं प्रकट होकर इसको लीलान्तःपातिभक्तों की तरह सुख देकर भी उसका अपने ही में प्रवेश करायेंगे अर्थात् मुक्ति देंगे, नित्य लीला में प्रवेश नहीं करायेंगे। गीतमीयों के मत से इस शंका का उत्तर—गीतमीयों के मत में ईश्वर सर्वज्ञ है। अतः ईश्वर को सर्वविषयक ज्ञान अवश्य कहना चाहिये। विषयों को जन्यता होने पर भी जैसे सर्वविषयक ईश्वर ज्ञान को जन्यता नहीं है। क्योंकि धर्मिग्राहक प्रमाण से नित्यता ही है। उसी प्रकार पूर्वोक्त प्रमाणों से उक्त प्रकार भक्तविषयिणी लीला को भी नित्यता सिद्ध होती है। यदि कहो कि आधुनिक भक्त को नित्य लीला विषय होने में प्रमाण क्या है? इसके उत्तर में प्रमाण तो पहले ही बृहद्वायमपुराण की कथा में कहा है 'पृथिव्यां भारते क्षेत्रे' इत्यादि से। यह स्थान केवल अक्षर मध्यपाति नित्य लीला स्थान है, स्थानान्तर की-सी प्रतीति होती है। इसलिये यद्यपि यहाँ की लीला भिन्न है ऐसा भ्रम होता है तथापि 'तावां वास्तूनि' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति में 'अत्राहतदुरंगायस्य' यह कहा है। एवं 'नास्य जरयैतज्जीर्यति' इत्यादि श्रुति द्वारा वेश्मजरादि का निराकरण करके सत्यत्व का निरूपण किया गया है। एवं बृहद्वायमपुराण के वाक्य में 'व्यापिवैकुण्ठसंज्ञितः' वैकुण्ठ का व्यापि विशेषण दिया है। अतः पृथिवी में दृश्यमान को उससे अभिन्न, अथवा इसमें व्यापि वैकुण्ठ की व्यापकता मानकर उसका यहाँ भी सत्त्व होने से श्रुति सम्बन्धिनी भी लीला उस लोक की तरह यहाँ भी नित्य ही है।

पूर्व में कहा नैयायिक प्रतिपन्न ईश्वर ज्ञान की तरह विषय को अनित्य होने पर भी लीला

की नित्यता निर्विरोध सिद्ध होती है। इसके आगे 'स्त्रियो वा पुरुषो वापि भर्तृभावेन केशवम्। हृदि-कृत्वा गतिं याति श्रुतीनां नात्र संशयः' इस वाक्यानुसार भगवान् अनुग्रह कर जिसका अङ्गीकार करते हैं उस आधुनिक भक्त का भी लीला में प्रवेश कराते हैं। यदि सर्वात्मभाव से भक्त भजन करता है तो भगवान् उसका अङ्गीकार करते ही हैं। नहीं तो 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' यह मर्यादाभंग हो जाय। यदि कहो कि तुमने नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार समाधान किया है। अन्य इसे कैसे मानेंगे? अतः दूसरे प्रकार से समाधान करते हैं कि जिस प्रकार पूर्वोक्त भक्तसम्बन्धिनी वर्तमान लीला का यथाक्रम से आविर्भाव होता है। उसी प्रकार आधुनिक भक्तसम्बन्धिनी वर्तमान लीला का भी आविर्भाव होता है। भगवदिच्छा को ही कारण सर्वत्र सबको अङ्गीकार करना चाहिये, यह सर्वोपरि समाधान है। अथवा जैसे स्वाश्रयमोक्षवादियों के मत में शबर कुल द्वारा संवदित राजकुमार की तरह, अथवा विस्मृत कण्ठमणि के स्मरण की तरह पूर्व सिद्ध ही स्वरूप के ज्ञान होने पर प्रतिबन्ध निवृत्ति मात्र से प्राप्ति में उपचार कहा है। उसी प्रकार प्रकृत विषय में भी साधनों द्वारा प्रतिबन्ध निवृत्त होने पर लीलानुभव, आधुनिक भक्तों को भी तात्कालिक स्वसम्बन्धित्व उपचार है। इसमें उनकी ही युक्ति द्वारा उनकी जड़ता का परिहार किया है। अस्तु, विषय गम्भीर है, श्री गो. विठ्ठलनाथ जी ने विद्वन्मंडन में बहुत विस्तारपूर्वक कहा है। विशेष जिज्ञासु वहाँ देखें यहाँ तो विस्तार भय से सूक्ष्मातिसूक्ष्म कुछ दिग्दर्शन कराया है। अधिकारी विद्वज्जन को इतना ही पर्याप्त होगा।

इस प्रकार भगवान् की लीला मधुरा-व्रजमण्डल में सदा नित्य होती है। इनका अनुभव अवतार दशा में स्वयं भगवान् अपने स्वरूप बल से कराते हैं और अप्रत्यक्ष दशा में अखण्ड-मण्डलाचार्यवर्य चक्रचूड़ामणि श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणों ने भूतल पर सम्मनुष्याकृति स्वरूप से पधारकर कितने ही जीवों को अनुभव कराया था तथा शुद्धाद्वैत निर्गुण मार्गपुष्टि का प्रसार कर देवीजीवों का तीन बार पृथिवी प्रदक्षिणा के मिष से अङ्गीकार किया था। यद्यपि भक्तों को अद्यावधि विराजमान का अनुभव होता है, तथापि सर्वसाधारण की अपेक्षा इस समय अप्रत्यक्षता में इनके ग्रंथ सुबोधिनी आदि के द्वारा सर्वपुष्टिमार्ग के सिद्धान्त का बोध एवं तदनुसार चलने से फलादि प्राप्त होता है। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में (वेदान्त में) चार प्रस्थान वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवत् स्वीकार किये गये हैं, जिनमें से पहले में जो सन्देह हो, उसकी निवृत्ति पिछले-पिछले में की गई है। अतः श्रीमद्भगवत् तीनों प्रस्थानों का संदेह दूर करता है। इसलिये इसका गौरव अन्य प्रस्थानों की अपेक्षा अधिक है। पुराण भी वेदतुल्य पंचम वेद है। पुराण वेद-वत् पूर्वसिद्धं सर्वोपयोगि तत्। सर्वोपकरणानीव धर्मस्य नरगेहयोः' (निब० सर्व० श्लो० ४७) अर्थात् पुराण वेद की तरह है, इसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भक्ति, ये पांचो नित्य हैं। स्वयं भी नित्य है। वेद तो त्रिवर्णोपयोगी ही है, किन्तु पुराण चारो वर्णों के उपयोगी है। जिस प्रकार घर में वस्तु आदि के बिना स्थिति नहीं होती उसी प्रकार पुराण के बिना वैदिक अर्थ का ज्ञान नहीं होता 'श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्' श्रुति स्मृति दोनों नेत्र हैं और पुराण

१. यदि कहो कि सर्वत्र साधन सिद्ध है, उसके द्वारा उद्धार हो जायगा फिर भगवान् क्यों अवतार लेते हैं? इसके उत्तर में इतना ही पर्याप्त होगा कि भगवान् अद्भुतकर्मा हैं, यदि आप अवतीर्ण न होते तो कलि में साधन सब भस्म कर दिये बिना साधक जीवों का उद्धार न होता, अतः निःसाधन भक्तों को अपने काम-क्रोधादि असाधनों को भी साधन बनाकर जीवों का उद्धार करने को अवतार लिया था।

हृदय है। इतना ही नहीं मत्स्यपुराण में तो 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। नित्यं शब्दमयं ब्रह्म शतकोटिप्रविस्तरम्'। 'अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः, पुराणमेकमेवासीत् तस्मिन्कल्पान्तरेऽनघ'।

सर्वशास्त्रों से प्रथम ब्रह्मा ने पुराण का स्मरण किया था। पुराण नित्य शब्दमय ब्रह्म सी करोड़ विस्तृत है। इसके अनन्तर ब्रह्मा के मुखों से वेद निकले। इत्यादि वाक्यों से पुराण का महत्व भी अत्यधिक है। पुराण के बिना बाहरी पदार्थों का ज्ञान एवं सृष्टि और उसमें जितने पदार्थ हैं, उन का भी यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उक्त प्रमाण से पहले एक ही पुराण था। 'अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवती सुतः' इस वाक्य से पुराणों को व्यास कृति नहीं मानना चाहिये। किन्तु इसका तात्पर्य यही है कि श्रीव्यास जी ने वेदों का व्यास (विस्तार) एवं पुराणों का संकलन (एकत्रित) करके विभाजन किया है और वेदों की सहस्र शाखाओं की तरह अष्टादशादि संख्या हो गई है। जिस प्रकार वेद शाखाओं के काठकादि नाम प्रसिद्ध हुए, उसी प्रकार ब्रह्मादि नाम हुए। श्रीव्यास जी ने विभाजन सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकार का किया और तीन प्रकार के कल्पों के अनुसार तत्तत्कल्पानुसारि पुराण में सात्त्विकादि देवताओं के माहात्म्य का वर्णन तथा पुराण के विशेष लक्षण कहे गये हैं। श्रीमद्भागवत सब पुराणों में श्रेष्ठ है। 'तथा पुराणत्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजः' (भा० १-२ अ० १३-१७)। श्रीभागवत का लक्षण स्कंदपुराण में इस प्रकार कहा है "ग्रन्थोष्ठादशसाहस्रो द्वादशस्कंधसंयुतः। हयग्रीव ॥ ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा—गायत्र्या च समारम्भ स्तद् वै भागवतं विदुः" अठारह हजार ग्रंथ वाराहस्कंधयुक्त जिसमें हयग्रीव ब्रह्मविद्या और बृत्रवध तथा गायत्री से प्रारम्भ जिसका वह भागवत है। पञ्चपुराण उत्तरखंड में 'इदं भगवता प्रोक्तं चतुःश्लोक्या स्वयं मुने। नारदाय स चैवाह मह्यं स मुनये ह्यहम्॥ शुकाय ब्रह्मराताय स तु राज्ञेऽभिमन्यवे' भगवान् ने चार श्लोक ब्रह्मा से और ब्रह्मा ने नारद से, नारद ने व्यास से, व्यास ने शुक से, उसने परीक्षित से कहा।

इसी प्रकार वाराहपुराण में भी जब परीक्षित को शाप दिया उस प्रसङ्ग में कहा है। गायत्री वेदमाता है। श्रीमद्भागवत वेदतुल्य है। अतः 'जन्माद्यस्य' इस प्रथम श्लोक में वेदमाता गायत्री का अर्थ बीजरूप में कथन किया गया है। वस्तुतः गायत्री बीज और वेद वृक्ष, श्रीमद्भागवत फल है। 'निगमकल्पतरोर्मलितं फलम्' इस श्लोक में निरूपण किया है। भागवत वाङ्मयी भगवान् की प्रत्यक्ष मूर्ति है। 'तिनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः', पञ्चपु० भा० मा० अ० ३ श्लो० ६२। भगवत्कला व्यासजी का भी अनेक पुराण इतिहास द्वारा मन प्रसन्न न होने पर समाधि में श्रीभागवत के द्वारा ही संतुष्ट हुआ था। अतः वेदव्यास की समाधिभाषा श्रीमद्भागवत का दर्शन साहित्य में सर्वोपरि उच्चतम स्थान है। भगवान् प्रकट होकर स्वरूप लीला करते हैं, और जब रूप लीला का तिरोधान हो जाता है, तब नाम लीला द्वारा क्रीडा करते हैं। श्रीभागवत साक्षात् स्वरूपात्मिका है। इसमें सर्वगूढ़ तत्त्व का निरूपण किया है। यह बुद्धि परिकल्पित काव्यों की तरह असत्य नहीं है, इसके स्वरूप का ज्ञान भगवदंश जब व्यासजी को ही नहीं ज्ञात हुआ तब अन्य जीवों की क्या सामर्थ्य है। यह श्रीव्यासजी ने भागवत में स्वयं कहा है, अनन्तर भगवान् की इच्छा से व्यवधायक दूर होने पर भागवत का दर्शन करके इसका संकलन किया 'सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्'। 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोत्रेति' समस्त वेद इतिहासादि का सार निकाल लिया, तथा इसमें निष्कपट धर्म का प्रतिपादन है। इत्यादि वाक्यों से अन्य पुराणों की अपेक्षा भी श्रीभागवत का स्थान परम उच्चतम है। क्योंकि इसमें मुख्यतया जिस प्रकार वेदों में, उसी प्रकार 'भगवान्

ब्रह्मा कात्स्न्येन, धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां'। इत्यादि वाक्यों से 'तमुस्तोतारः पूर्वम्'। इत्यादि श्रुति द्वारा ब्रह्म मात्र का प्रकाशन है। जो चार श्लोकों द्वारा भगवान् ने ब्रह्मा से कहा, वही ब्रह्मा ने तीन अध्याय से नारद के लिये कहा, वहां पर 'त्वमेतद्विपुलीकुरु' तुम इसे विस्तृत करो यह आज्ञा की है। विपुल करने का अर्थ यह है कि, एक ही अर्थ का तत्त्वधिकारियों के हृदय में प्रवेश के लिये अनेक प्रकार से कहना। जिस प्रकार तुसिहोत्तरतापनी में, ओंकार की व्याख्या की। अथवा 'पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्' संपूर्ण पञ्चरात्र के वक्ता स्वयं नारायण हैं। यह वाक्य भारत मोक्ष धर्म में कहा है।

पञ्चरात्र के वक्ता भगवान् के होने पर भी 'तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः। तन्त्रं-सात्त्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः' इस वाक्य से नारद को कहा है। अतः परंपरान्तर में भी वही अर्थ होता है। इस प्रकार यहां भी जानना चाहिये। आगम की अपेक्षा लोगों का पुराण में विश्वास होता है। इसलिये श्रीभागवत को पुराणों में कहा है। इसमें भक्ति के साधन बतलाये गये हैं। जिस पुराण में भगवान् की दश लीलाओं का वर्णन होता है, उसे पुराण कहते हैं। इसलिये भागवत में सर्गादिरूपा दशलीलाओं का भी वर्णन है। यदि लीलाओं का निरूपण न होता, तो सुननेवाले का तत्त्वलीला में भाव न होने से, तत्त्वकर्मों का क्षय नहीं होता, तो फिर मोक्ष भी नहीं होता। अतः दशलीला पुराण लक्षणरूप भागवत में होने से पुराणों में इसका प्रवेश है। यदि कहो कि इसको पुराण क्यों कहा पूर्व सिद्ध वेद ही कहते। इसके उत्तर में एक अन्य भी प्रयोजन श्रीभागवत प्रकट करने का है। बुद्धावतार में भगवान् ने वेदों का निराकरण किया, अतः वेद पुराणार्थ रूप से रहेगा तो दैत्यावेशरहित सत्पुरुषों का इसके द्वारा सर्वकार्य सिद्ध हो जायगा, एतदर्थ भागवतपुराण कहा। वेदोक्त कर्म, द्रव्य, देश, काल, कर्ता, कर्म और मन्त्र, ये छह साधन शुद्ध होने पर सफल होता है। किन्तु कलियुग में छहों साधन किसी प्रकार से भी शुद्ध नहीं हैं, लोग भी अत्यन्त मलिन हैं, इसलिये वेद, स्मृति, पुराणों में प्रतिपादित सर्व-अर्थ बाधित हो गये हैं, श्रीभागवत के अभ्यास से लोगों की मुक्ति होती है। 'ईश्वरः सद्यो हृद्यवरुद्धयतेऽत्र कृतिभिः, शुश्रू-षुभिस्तत्क्षणत्' 'अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे। भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥ तस्मात् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्' इत्यादि वाक्यों से यदि वृत्त्यर्थ उपयोग न किया जाय तो श्रीभागवत का सुनना, कीर्तन करना तथा स्मरण करना, इन तीनों के अभ्यास से जीव का मोक्ष हो जाता है। वेदार्थ की अपेक्षा भी श्रीमद्भागवत में कहे गये अर्थ बलिष्ठ हैं। क्योंकि वेदादिकों में कहे अर्थ उक्त कालादि सापेक्ष हैं। भागवतार्थ तो नित्य, इसमें सबका अधिकार एवं सुलभ होने से कालादि साधन अपेक्षारहित सबसे अधिक फल देनेवाला है। 'तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र, सर्वदा। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम्' इत्यादि शुकवाक्यों से सर्वदेश सर्वकाल में इसकी कर्तव्यता बतलाई है।

'देवोसुरो मनुष्यो वा' इस सप्तमस्कंध के वाक्य से सर्वाधिकारिता, एवं 'त्वं तु सर्वं परिश्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु। मर्यादेश्य मनः सम्यक् समदग् विचरस्व गाम्' इत्यादि उद्धव के प्रति एकादश-स्कंध सप्तमाध्याय में भगवान् ने कहा, एवं एकादश वीसवें अध्याय में 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः भ्रयो भवेदिह ॥ यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्य-तश्च यत्। योगेन दानधर्मेण भ्रयोभिरितरैरपि ॥ सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गाप-वर्गमद्वाम कणञ्चिद्यदि वाञ्छति' इत्यादि वाक्यों से सुलभ एवं यथेच्छ फल देनेवाला कहा है। यद्यपि ब्राह्म पाद्य आदि वैष्णव पुराणों में जगत्कर्तृत्वलक्षण ब्रह्म भगवान् का प्रतिपादन कर

स्वतन्त्रता से भगवान् का यश कहा है। तथापि बातकोटि विस्तीर्ण पुराण के सात्त्विक भाग का अन्य वैष्णव पुराणों में भी समसन रूप ही है। उसका अर्थ अनुभवपूर्वक नहीं है, समाधि का अभाव है। अतएव वैष्णव पुराणों में भी श्रीमद्भागवत समाधि भाषा होने से श्रेष्ठ है, इसीसे इसका माहात्म्य पुराणान्तरों में भी गीता माहात्म्यवत् दृष्टिगोचर होता है। इसमें अन्य पुराणों का नहीं कहा है।

श्रीभागवत को परिपक्व वेदफलरूपता 'निगमकल्पतरोः', इस वाक्य में कही गई है। अन्य पुराणों को नहीं कही गई, इस प्रकार प्रमाण प्रमेय साधन फल द्वारा श्रीभागवत की सर्वापेक्षया उत्कृष्टता निरूपण की गई है। अतः श्रीमदाचार्यों ने 'साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्। पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदम्भतः' (तत्त्व० अ० २४१) भगवत्सेवा अथवा मुख्यसाधन सर्वदा श्रीभागवत कीर्तन को कहा है। इसीसे सब फल की प्राप्ति होती है। कोई-कोई लोग कहते हैं कि भागवत बोपदेवकृत है। यह कहना सर्वथा असत्य है। यदि भागवत बोपदेवकृत होती तो इस पर बोपदेव स्वयं विचार क्यों करते? उन्होंने तो भागवत के श्लोकों के आधार पर ही 'मुक्ताफल' नाम का ग्रन्थ बनाया, जिसके ऊपर यदुवंशी देवगिरि के वंश में हुए रामराजा के मंत्री हेमाद्रि ने, 'कैवल्यदीपिका' नाम की टीका लिखी है।

बोपदेवकृत 'हरिलीला' नाम के ग्रंथ में भागवत के स्कंधप्रकरण अध्याय का सार लिखा है। जिसके ऊपर 'अद्वैतसिद्धि' लिखनेवाले मधुसूदन सरस्वती ने टीका लिखी है। इन दोनों ग्रंथों में बोपदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण, गोपीजन, रासलीला, इन विषयों का संक्षेप में वर्णन किया है। मुक्ताफल में श्रीमद्भागवत के श्लोकों द्वारा भगवान् का स्वरूप अच्छी प्रकार समझाया है। भक्ति के विहिता, अविहिता दो प्रकार बतलाकर, इनके अवान्तर प्रकार भी कहे हैं। अविहिता भक्ति के चार प्रकार (१) कामजा, (२) द्वेषजा, (३) भयजा, (४) स्नेहजा कहे हैं। मुक्ताफल के ग्यारहवें अध्याय में विष्णुभक्त के लक्षण आदि बतलाये हैं एवं हास्य, शृङ्गार, करुण, रौद्र भयानक, बीभत्स, शान्त, अद्भुत, वीर, उक्त नव रस द्वारा भक्ति रस का ही नव प्रकार से अनुभव होता है। आगे शृङ्गार रस के दो प्रकार कहे हैं, संभोग तथा विप्रलम्भ। इसके उदाहरण में भी भागवत के श्लोक 'वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत और भ्रमरगीत दिये हैं। इनके द्वारा गोपीजनों का स्वरूप समझाकर भक्ति रस का अनुभव किस प्रकार हो सकता है इसका स्पष्ट निरूपण किया है। और यह भी कहा है कि भागवत में शृङ्गार रस के वर्णन का तात्पर्य भक्ति में है। यह बं-पदेव का अभिप्राय है, इससे स्पष्ट होता है कि बोपदेव एक महान् विद्वान् थे, उन्होंने श्रीमद्भागवत का अभ्यास सूक्ष्म दृष्टि से करके ग्रन्थ निर्माण किये थे, न कि भागवत। भागवत में (१) परमत-भाषा, (२) प्राकृत, 'लौकिक' भाषा, (३) समाधि भाषा, इस प्रकार तीन भाषाएँ हैं। जिनका वर्णन सुबोधिनी में तत्तत्स्थल में किया गया है। श्रीआचार्यों ने समाधिभाषा प्रमाण में गणना की है। अन्य दो भाषा इसकी पोषक सहायक हैं। भक्तिमार्ग में प्रमेयस्वरूप श्रीमद्भागवत में बारह स्कंध हैं, दशम स्कंध में ब्रह्मा के मोहवाला, पद्मपुराण के अन्तर्गत तीन अध्याय प्रक्षिप्त हैं। 'इसलिये 'द्वात्रिंशत् त्रिंशत् च समग्र बारह स्कंधों में तीन सौ बत्तीस अध्याय हैं। आनन्दरूप भगवान् की सर्गादि दश प्रकार की लीलाओं का वर्णन श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध से लेकर बारहवें तक है। प्रथम स्कंध में अधिकार वर्णन एवं द्वितीय में साधन का वर्णन है। इस प्रकार श्रीभागवतका अर्थ भगवान् है 'इतीदं द्वादशस्कंधं पुराणं हरिरेव सः। (निब० भा०) 'पुराणं हरिः स्वरूपं शब्दतोऽर्थात् 'द्वादशांगो वै पुरुषः' इस श्रुति के अनुसार बारह स्कंध परब्रह्म के बारह अंग हैं, आगे इनका निरूपण होगा।

श्रीमद्भागवत के बारहस्कंधों में सर्गादि लीलाओं का विवरण

स्कंध १ में	अधिकार	स्कंध ७ में	अतिलीला
स्कंध २ में	साधन	स्कंध ८ में	मन्वन्तरलीला
स्कंध ३ में	सर्गलीला	स्कंध ९ में	ईशानुकथा
स्कंध ४ में	विसर्गलीला	स्कंध १० में	निरोधलीला
स्कंध ५ में	स्थानलीला	स्कंध ११ में	मुक्तिलीला
स्कंध ६ में	पोषणलीला	स्कंध १२ में	आश्रयलीला

श्रीमद्भागवत भगवत्स्वरूप है 'द्वादशाङ्गो वै पुरुषः', श्रीगोवर्द्धननाथ का ही स्वरूप श्रीमद्भागवत है। इसका सविस्तर विवरण—

अंगनाम	स्कन्ध	लीला
दो चरण	(द०) १ (वा०) (२)	अधिकार-ज्ञान
दो भुजा	(द०) ३ (वा०) (४)	सर्ग-विसर्ग
दो जंघा	(द०) ५ (वा०) (६)	स्थान-पोषण
दक्षिण हस्त	(७)	ऊति
दो स्तन	(द०) ८ (वा०) (९)	मन्वन्तर-ईशानुकथा
हृदय	(१०)	निरोध
शिर	(११)	मुक्ति
वामहस्त	(१२)	आश्रय

इस प्रकार अर्थपूर्वक द्वादशाङ्ग पुरुष को जानने से प्रभु साक्षात् हृदय में पधारते हैं। कोई-कोई विचारशील पुरुष पूर्व कहे स्वरूप में कुछ परिवर्तन बतलाते हैं। वह कहते हैं कि दशमस्कंध भगवान् का मुख है, ग्यारहवां श्रीमस्तक है।

अंग	स्कंध	लीला
मुख	(१०)	निरोध
श्रीमस्तक	(११)	मुक्ति
वामहस्त	(१२)	आश्रय

शेष पहिले की तरह

कोई उपासक क्रम से ही उपासना सफल होती है, इसलिये भिन्न क्रम कहते हैं—

अङ्ग	स्कन्ध	अङ्ग	स्कन्ध
दो पाद	१-२	दो जंघा	३-४
कमर	५	मलद्वार स्थान	६
		नरकतुल्य गुह्य	
उदर	७	हृदय	८
दो हाथ	९	मुख	१०
ललाट	११	मूर्धा	१२

यहाँ श्री आचार्य कहते हैं कि उपासनावालों को यह भी युक्त है, इससे ज्ञात होता है कि भक्तों को तो जो पूर्व में दो प्रकार कहे हैं वे ही उपयोगी हैं।

३ श्री० रा० भू०

विस्तृत विवरण

प्रथमस्कंध में तीन प्रकार के अधिकारियों का वर्णन है हीन, मध्यम, और उत्तम, का ।

स्कन्ध १	अधिकारी	श्रोता-वक्ता
हीनाधिकारी	मध्यमाधिकारी	उत्तमाधिकारी
अ. १-२-३	अ. ४-५-६	अ. ७-से १९

ऊपर कहे अनुसार प्रकरण १ में हीनाधिकारी श्रोता में जिज्ञासा, मात्सर्यरहित एवं श्रवण करने में आदर, ये तीन लक्षण हों, वक्ता में भागवतशास्त्र परंपरा से सुना हो, चतुरता और गुरुज्ञान, ये तीन लक्षण हों, अर्थात् श्रोता-वक्ता में तीन-तीन अवश्य होने चाहिये, इस हेतु से तीन अध्याय से हीनाधिकारी श्रोता-वक्ता कहे गये हैं । श्रोता-वक्ता में उक्त प्रकार के लक्षण हों तभी सुनना-सुनाना हो सकता है ।

मध्यमाधिकारी प्रकरण दूसरा

स्कन्ध १	अधिकारी	श्रोता वक्ता
अ० ४	अ० ५	अ० ६

मध्यमाधिकारी श्रोता-वक्ता के भी तीन लक्षण भगवत्कृपा, वैष्णव के लक्षण, भगवान् में संपूर्ण प्रीति (स्नेह भक्ति) होनी चाहिये, यदि वक्ता श्रोता दोनों में उक्त लक्षण न हों तो भागवत सुनने-सुनाने का फल प्राप्त नहीं होता ।

प्रकरण तीन में उत्तमाधिकारी श्रोता-वक्ता का वर्णन तेरहवें अध्याय से किया है । इनको दृढ वैराग्य अर्थात् भगवान् विना अन्य सर्व पदार्थ में राग का त्याग कर प्रभु में ही एक तान हो जाना । यह वैराग्य भक्तिमार्गीय है । यही यथार्थ दृढ वैराग्य है । इस वैराग्य से ही भगवान् में तत्परता होने से भगवान् श्रीपुरुषोत्तम द्वादश अङ्गवाले होने से तेरहवां अङ्गी पुरुषोत्तम मिलकर तेरह अध्याय द्वारा उत्तमाधिकारी का वर्णन किया गया है, अतः उक्त लक्षण जिसमें हों वह उत्तमाधिकारी श्रोता-वक्ता है । इस प्रकार प्रथम स्कंध प्रकरणार्थ कहा ।

द्वितीय स्कंध

यह स्कंध १० अध्याय का है, इसमें साधन का निरूपण है । इसमें प्रकरण तीन हैं, साधन तीन प्रकार के होते हैं, (१) तत्त्व ध्यान, (२) हृत्प्रसाद (३) और मनन, पहिला तत्त्व ध्यान प्रकरण है, जिसकी अ० १ में स्थूल ध्यान, अ० २ में सूक्ष्म ध्यान, (स्वरूपध्यान) द्वितीय साधन, हृत्प्रसाद प्रकरण में, अ० ३ में श्रोता का हृत्प्रसाद, अ० ४ में वक्ता का हृत्प्रसाद । तृतीय साधन मनन प्रकरण ३ में उत्पत्ति का वर्णन अ० ५-६-७ में है । 'अनित्येजननम्' इस कारिका के अनुसार अनित्य में जनन, परिच्छिन्न में समागम, एवं नित्य अपरिच्छिन्न में प्राकट्य होता है, यह आवेशी अथवा अवतार का होता है । अध्याय ८-९-१० में उपपत्ति है, जिसमें आशंका, उत्तर-फल का निरूपण है । इस प्रकार द्वितीय स्कंध हुआ ।

तृतीय स्कंध निरूपण में सर्गलीला

यह स्कन्ध लौकिक-अलौकिक, सर्ग ३३ अध्याय से वर्णित है जिसमें बन्ध सृष्टि अ० १-से १९ तक और मुक्त सृष्टि अ० २० से ३३ तक कही गयी है । इस प्रकार लौकिक अलौकिक, दोनों प्रकार का सर्ग ३३ प्रकार का है । अतः ३३ अध्याय हैं । अलौकिक सर्ग 'अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्ते एकत्रिंशद्दिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशदिति' (बृह० ३-९-२) उक्त बृहदार-ण्यक अनुसार आठ वसु, एकादश रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति, ३३ प्रकार का है, लौकिक सर्ग में अट्ठाईस तत्त्व, चतुर्विध भूतबीज, और काल, इस प्रकार तीस तत्त्व हैं,

श्रीशुकदेव मतानुसारी गुणाति सृष्टि अ० ६, सगुणसृष्टि अ० ३, कालसृष्टि अ० २, तत्त्वसृष्टि-जीव-सृष्टि अ० १, उक्त पांच प्रकार की है । इसके बंधमोक्षभेद से दश प्रकरण होते हैं । कालसृष्टि के दो अध्याय में स्थूल तथा सूक्ष्म काल दो प्रकार का कहा है । उसमें तत्त्व एवं अमुक्त जीव काल के आधीन होते हैं । अतः तत्त्वप्रकरण का काल में ही समावेश है । मुक्तजीवसृष्टि अ० १ में अनन्तर मुक्ति जीवसृष्टि का उपोद्घात सात अध्याय में कहा है, इस प्रकार १९ अध्याय में बन्धसृष्टि का वर्णन है । (मुक्तसृष्टि) प्रकरण ६ में तत्त्वमुक्ति का वर्णन अ० २० से २४ तक कहा है । प्रकरण ७ कालमुक्ति अ० २५ में प्रकरण ८ गुणातीतमुक्ति अ० २६-२७-२८ में । प्रकरण ९ सगुणमुक्ति अ० २९ में । प्रकरण १० जीवमुक्ति अ० ३०-३१ में । अनन्तर २ अध्याय में स्त्रीमुक्ति का वर्णन है । इस प्रकार १४ अध्याय का मुक्तिलीला प्रकरण है । इस प्रकार बन्धसृष्टि में १९ और मुक्तसृष्टि में १४ अध्याय मिलकर ३३ अध्याय से सर्ग का वर्णन है । तृतीयस्कंध का प्रकरण विभाग मैत्रेयमतानुसारी पृथक् है जिसमें चार प्रकरण का वर्णन है ।

(१) अधिकार प्रकरण, (२) सृष्टि प्रकरण, (३) उपपत्ति प्रकरण, (४) फल प्रकरण । अधिकार तथा सृष्टि प्रकरण दोनों में १२ अध्याय हैं । उपपत्ति प्र० अ० १ में मोक्ष । अ० १४ से २० तक बन्ध का निरूपण है । चौथे फलप्रकरण में भक्ति, सांख्य और योग का वर्णन है । भक्ति में पुंमुक्ति का अ० २१ से २४ तक वर्णन है और मुख्य भक्ति-सफलाभक्ति का अ० २५ में वर्णन है । सांख्य का अ० २६-२७ में । योग का अ० २८-२९ में । वैराग्य सर्वनिर्धार और मुक्ति का वर्णन अ० ३० से ३३ तक है । सूक्ष्म विचार से दश विभाग हो सकते हैं । इस प्रकार शुकदेव जी के स्थूल अभिप्राय से पांच प्रकरण तथा सूक्ष्म विचार से दश प्रकरण मिलकर पंद्रह प्रकरण होते हैं । मैत्रेय के स्थूल अभिप्राय से चार प्रकरण तथा सूक्ष्म विचार से दश मिलकर १४ प्रकरण होते हैं, इस प्रकार तृतीय स्कंध का प्रकरण विभाग है ।

चतुर्थ स्कन्ध : विसर्गलीला

बृहदारण्यक में १२ आदित्य, ११ रुद्र, ८ वसु, देवताओं का इकतीस प्रकार का अलौकिक विसर्ग कहा है, अतः चतुर्थ स्कन्ध में ३१ अध्याय हैं । भगवान् के माहात्म्य का बोध कराने वाले को विसर्ग कहते हैं । अर्थात् भगवान् का पौरुष । जब भगवान् पुरुषार्थ का दान करते हैं, तभी माहात्म्य ज्ञान अच्छी प्रकार से होता है । पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चार प्रकार का है । इसी बात को सूचन करने के लिये चतुर्थ स्कन्ध में चार प्रकरण हैं । धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष, धर्म प्रकरण अ० १ से ७ तक । अर्थ प्रकरण अ० ८ से १२ तक । काम प्रकरण अध्याय १३ से ३३ तक । मोक्ष प्रकरण अ० २४ से ३१ तक है । काम प्रकरण में अवान्तर पशु का आविर्भाव प्रकरण, सर्वकाम प्रकरण, स्वकाम प्रकरण, तीन प्रकरण हैं । मोक्ष प्रकरण में भी अवान्तर 'ब्रह्मभाव प्र०' २४ से २८ तक । सायुज्य प्र० २९ से ३१ तक तीन अध्याय का है । इस प्रकार चतुर्थ का प्रकरण विभाग है ।

पञ्चम स्कन्ध : स्थानलीला

'स्थितिर्वैकुण्ठविजयः' विजय—स्वाधीन करना, सर्वपदार्थों को मर्यादापूर्वक स्थापन करना, इसको स्थान कहते हैं । प्राकृत पदार्थों के ऊपर चौबीस प्रकार से जय करना है । क्योंकि प्राकृत पदार्थ २४ हैं, अध्याय १ से २४ प्राकृत पदार्थ का, इनका जय । आत्मजय दो प्रकार का, जीव तथा ब्रह्म । अ० २५-२६ । इस प्रकार २४ प्राकृत तथा दो अप्राकृत मिलकर २६ संख्या । अतः स्थान निरूपण में २६ अध्याय हैं । यह रुद्रार्थ हुआ । अब योगिकार्थ द्वितीय पक्ष में

स्थान शब्द का अर्थ 'स्थीयतेऽस्मिन्' इति स्थानम् । इस पक्ष में देश भूभुवः स्वः त्रिलोकात्मक है । अतः अध्याय ३ में देश का निरूपण है । मास १२, ऋतु ५, लोक ३, आदित्य १ । स्वरूपस्थिति जीवात्मा, परमात्मा दो । उक्त पक्ष में इन तीनों में एक ही समय भगवान् स्थित हो सकते हैं । स्थूल विचार से दो प्रकरण हैं । स्वरूपस्थिति तथा देशस्थिति, प्रकरण १ भगवत्स्वरूपस्थिति का वर्णन अ० १ से ६ पर्यन्त है । प्रकरण २, योग से स्वरूपस्थिति का वर्णन अ० ७ से १४ तक किया है । प्रकरण ३ ज्ञान द्वारा स्वरूपस्थिति का वर्णन अ० १५ में किया है । इस प्रकार स्वरूपस्थिति के १५ अध्याय हुए । देशस्थिति में देश (भूभुवः स्वः अर्थात् भू, अन्तरिक्ष, स्वर्ग) तीन प्रकार का होने से अवान्तर तीन प्रकरण हैं । प्रकरण ४ पञ्चभूतों में प्रधान होने से भूमि का वर्णन अध्याय ५ में अर्थात् १६-१७-१८-१९-२० में किया है । प्रकरण ५ इसमें तीन गुण प्रधान होने के कारण भुवर्लोक का तीन अ० २१-२२-२३ में किया है । प्रकरण ६ स्वर्गलोक में भी तीन गुण प्रधान हैं, अतः इसका भी तीन अध्याय २४-२५-२६ में निरूपण है । इस प्रकार देशस्थिति में ११ अध्याय हुए । स्वरूपस्थिति तीन प्रकार की है । तथा देशस्थिति तीन प्रकार की मिलकर ६ प्रकार होने से ६ प्रकरण स्थानलीला के पञ्चम स्कन्ध में कहे गये हैं ।

षष्ठ स्कन्ध : पुष्टिलीला

'पोषणं तदनुग्रहः' इस वाक्य से पोषण भगवदनुग्रह अथवा भगवत्कृपा को कहते हैं । 'कालादिबाधकः अनुग्रहापरनामा वीर्यविशेषरूपो भगवद्धर्मः' काल, कर्म, स्वभावादि का बाध करने वाला, अनुग्रह जिसका दूसरा नाम, ऐसा वीर्य विशेषरूप भगवद्धर्म का नाम पुष्टि शब्द से कहा जाता है । यह अनुग्रह जहाँ भगवन्नाम लिया जाता हो तथा भगवान् का ध्यान जहाँ किया जाय तथा जहाँ भगवान् का अर्चन होता हो, वहाँ दीखता है । यद्यपि अनुग्रह स्वतन्त्र है तथापि उक्त तीनों प्रकार निमित्तमात्र हैं । इसलिए इन्हीं की अनुग्रह के व्यापार में गणना हो सकती है । इसी से षष्ठ स्कन्ध में तीन प्रकरण (१) नाम, (२) ध्यान, (३) अर्चन हैं । नाम श्रवण से तथा कीर्तन, स्मरण द्वारा लिया जाता है । अतः इसके अ० ३ हैं । ध्यान में रूप की मुख्यता होती है । रूप चौदह गुण वाला होता है । अतः ध्यान प्रकरण का १४ अध्याय में वर्णन है । चौदह धर्म नीचे लिखे प्रमाण से हैं ।

'रूपेण मोक्षदः प्रोक्तः रसेनानन्ददायकः । गन्धेन भक्तिदः प्रोक्तः स्पर्शेनाखिलतापनुत् ॥ मनोहर-स्तु नादेन योगेनात्मप्रवेशदः' । हीनभावादुःखदश्च केवलः सकलार्थदः ॥ मितोयोगप्रदः प्रोक्तो मित्रोमृशुप्रदः स्मृतः । यथास्थितो ज्ञानदश्च स्नेहाद्वये भवेद् ध्रुवम् ॥' अर्थात् भगवान् १ रूप द्वारा मोक्षदायक, २ रस द्वारा आनन्ददायक, १ गन्ध द्वारा भक्तिदायक और ४ स्पर्श द्वारा सर्वताप दूर करने वाला है । (५) नाद (शब्द) द्वारा मन को हरने वाला, (६) योग द्वारा आत्मा में प्रवेश कराने वाला, (७) द्वेषभावना से काल में मोक्षप्रद, (८) तथा स्वामी मानने से सर्वसुखप्रद, ९ हीनपने से भावना करने पर दुःख देने वाला, (१०) केवल भावना करने से सर्वपुरुषार्थ का दान । (११) ज्ञान विषय किया योगप्रद, (१२) एवं द्वैत भावना से देखनेवाले को मृत्यु देनेवाले, (१३) यथास्थित भावना करनेवाले को ज्ञानप्रद, (१४) स्नेह से निश्चय वश में हो जाते हैं । ध्यान प्रकरण में रूप चौदह गुणवाला होने से १४ अध्याय में वर्णन है । तीसरा अर्चन प्रकरण, अर्चन बाह्य, और आभ्यन्तर दो प्रकार का है । इसका वर्णन अ० २ से किया है । इस प्रकार १९ अध्याय से पुष्टिलीला का निरूपण है । यह प्रकरणार्थ

१. कालमोक्षप्रदो द्विष्टः स्वामी सर्वसुखप्रदः ।

कहा । स्कन्धार्थविचार से पुष्टि कर्म, काल और स्वभाव का बाध करती है । इन तीनों को दूरकर अपना प्रभुत्व करती है । कर्म पांच प्रकार का है । (१) अधिष्ठान, (शरीर) (२) कर्ता (जीव), (३) करण, इन्द्रिय बाह्य-आभ्यन्तर, (४) चेष्टा (प्राणादिवायु की), (५) देव (काल-कर्म-भगवदिच्छा अन्तर्यामी, मुख्य प्राण के सहायभूत इन्द्रियों के अधिष्ठाना देवता आदि) इस प्रकार कर्म वर्णन में पांच अध्याय हैं । कालाद्वादशमासात्मक होने से (इसके १२ महीना होने से) १२ अध्याय हैं । स्वभाव देव और आसुर दो प्रकार है, इसका दो अध्याय से निरूपण है । इस प्रकार भगवदनुग्रह उक्त कालादि सर्व का बाधक होने से स्कन्धार्थ विचार से १९ अध्याय कहे गये हैं । दोनों अर्थों से १९ अध्याय द्वारा षष्ठ स्कन्ध पोषणलीला का वर्णन कहा गया ।

सप्तम स्कन्ध : ऊतिलीला

ऊति को कर्मवासना कहते हैं । यह शरीर तथा कर्मेन्द्रिय सम्बन्धी सद्धर्म, वासना उत्पन्न करता है, ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण का सद्धर्म, वासनाजनक नहीं है । षष्ठ स्कन्ध में पुष्टिलीला का निरूपण किया गया है । इसमें भगवान् ने किसी के ऊपर सामान्य, किसी के ऊपर विशेष अनुग्रह, पात्रापात्र का विचार किये बिना ही स्वेच्छानुसार किया है । क्योंकि अनुग्रह स्वतन्त्र है । भगवान् की इच्छाशक्ति के अधीन है । उक्त पक्षपात करने से भगवान् को विषमता दोष प्राप्त होता है, उसे दूर करने के लिये आपकी की हुई मर्यादा द्वारा फल देने के लिये सप्तम स्कन्ध है । जैसी जिसकी वासना, वैसी वासना का उसको अनुकूल फल मिले, यह भगवान् ने शास्त्र में मर्यादा बाँधी है । इसके पालन का वर्णन सप्तम स्कन्ध में है । कर्म के आध्यात्मिक आदि तीन भेद हैं । कर्म अविद्या द्वारा होता है । अविद्या के पांच पर्व हैं । देहाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तःकरण-ध्यास, इन्द्रियाध्यास तथा स्वरूप का अज्ञान, उक्त पांच प्रकार होने से, आध्यात्मिक आदि तीनों भेदों को पांच से गुणाकर, १५ अध्याय होते हैं । वासना भी कर्मजन्य होती है । और वह (१) सद्धासना, (२) असद्धासना, (३) और मिश्रभावना तीन प्रकार की है । उक्त वासना कर्मजन्य होने से पहिले कहे क्रमानुसार पांच प्रकार तथा आध्यात्मिकादि भेद द्वारा पाँचों के गुणन से पन्द्रह अध्याय हो जाते हैं । अथवा अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा, देव, ये पांच प्रकार गुणकर पन्द्रह अध्याय होते हैं ।

अष्टम स्कन्ध : मन्वन्तरलीला (सद्धर्म)

सद्धर्म तीन प्रकार से होता है । शरीर से, वाणी से और मन से । शरीर से किया धर्म दश प्रकार का है । वाणी से भी किया धर्म दश प्रकार का है । इसमें इन्द्रियों की भी गणना है । मानस चार प्रकार का है । इसमें अन्तःकरण की भी गणना है । क्योंकि अन्तःकरण में इष्ट का चिन्तन करता है । इष्ट को अवाप-उद्वाप से विचार करता है । अर्थात् इष्ट में अनुकूल का स्वीकार कर प्रतिकूल का त्याग कर, इष्ट को शुद्ध स्वरूप में विचारता है । इष्ट की आशा रखता है । इष्ट को कल्ला, इस प्रकार निश्चय करता है । इस प्रकार अन्तःकरण में चार प्रकार की व्यवस्था के कारण मानसधर्म चार प्रकार का है । सर्वइन्द्रियों द्वारा सद्धर्म करना कहा है, अतः वीर्य तथा अपान के रोकने से नीचे की दोनों इन्द्रियों को धर्महेतुता है । शेष सहायक हैं । आश्रय, आदान, तृप्ति, प्रजनन, जाड्य, ताप, निर्बन्ध, दूरीकरण तथा शब्दादि, दान से सद्धर्म शरीर में दश प्रकार से होता है । इस प्रकार सद्धर्म के चौबीस भेद द्वितीय स्कन्ध सुबोधिनी में कहे गये हैं । 'मन्वन्तराणि सद्धर्मः' इस वाक्यानुसार मन्वन्तर धर्मप्रवर्तक है । अतः सत्पुरुषों का धर्म निरूपण करके सद्धर्म दिखाने को अष्टम स्कन्ध में, पूर्व सप्तम स्कन्ध में निरूपित वासनाओं को नष्ट करने को सद्धर्म का निरूपण है । प्राकृतगण चौबीस प्रकार का है ।

उसमें उत्पन्न हुई वासनाओं के नाश करने में सर्वथा सामर्थ्य खोतन करने के लिये सद्धर्म निरूपण में चौबीस अध्याय अष्टम स्कंध में कहे हैं। इसमें चार प्रकरण हैं। आपत्ति में हरिस्मरण, सम्पत्ति में सर्वदान और स्वयं कहे हुए धर्म का निर्वाह, उक्त तीन प्रकरण मुख्य हैं। तीन प्रकार के धर्म का वक्ता भगवान् के मत्स्यावतार के चरित्र का निरूपण करनेवाला चौथा प्रकरण है। (१) हरिस्मरण प्रकरण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधक है, अतः चार पुरुषार्थ साधक हरिस्मरण प्रकरण में अध्याय ४ हैं। (२) दानकर्ता तथा दान लेनेवाला पात्र, दोनों सत्त्व, रज, तमोगुण वाले होने से एवं परस्पर मिले हुए तीनों गुणों के नव भेद होते हैं, दसवां निगुण मिलकर दस प्रकार का दानदाता तथा दस प्रकार का दानगृहीता होता है। अतः सर्वदान प्रकरण में १० अध्याय हैं। (३) स्वोक्त निर्वाह प्रकरण में दान साधन रूप है, उक्त सगुणदान नव प्रकार का है। इसलिये नव अध्याय से कहा है। एक निगुण है, धर्मवक्ता भगवान् मत्स्यावतार एक प्रकार का है, इसलिये इनका चरित्र एक अध्याय में वर्णन है। इस प्रकार सद्धर्म का चौबीस अध्याय में निरूपण किया है।

नवम स्कंध : ईशानुकथा (भक्ति लीला)

अष्टमस्कंध में सद्धर्म द्वारा वासना नष्ट होने पर जीव की भगवान् में शुद्ध वासना होती है। यह शुद्ध वासना स्वतः ही होती है। इसके अनन्तर ईशानुकथा (भक्ति) नवम स्कंध में कही गयी है। 'अवतारानुचरितं हरेरस्यानुवर्तिनाम्' इस वाक्यानुसार हरि तथा हरि के अनुवर्ति (भक्त) चरित्र का वर्णन है। हरि शब्द का अर्थ दुःखनिवारक सुखप्रापक होता है। दुःख निवारण, अनुवर्तियों के गुणभेद से नवप्रकार का है। ईश का चरित्र भी कर्म, ज्ञान, भक्ति, इन तीन भेदों से तीन प्रकार का है। अविद्या रूप दुःख को दूर करनेवाला तदनुवर्ती ज्ञानी एक प्रकार का अध्याय १ में कहा है, इस प्रकार दुःख दूर करने में अध्याय १३ हैं। सुखप्रापण प्रकरण में अनुवर्ति दस प्रकार के सर्वइन्द्रियों का सुख भोगते हैं। एक प्रकार के भगवान्, सब मिलकर ११ एकादश अध्याय दूसरे प्रकरण में होते हैं। इस प्रकार चौबीस अध्याय हुए। (निष्कर्ष) ईशानुकथा दो प्रकार की है। एक ईश की, दूसरी इनके अनुसरण करनेवालों की। भगवान् प्रकट होकर सब प्राणियों के दुःख दूर करते हैं। उसी प्रकार भगवदीय भी प्राणियों के दुःख दूर करते हैं। यह 'अनु' शब्द सूचित करता है। अतः भगवदीय की कथा 'अनुकथा' कही जाती है। हरि शब्द दुःख दूर करना तथा सुख देना, सूचन करता है (सुबो०) यह स्कंध विचार कहा। अब प्रकरण विभाग नवम स्कंध में इस प्रकार है। मूल में प्रकरण दो हैं। प्र० १ सूर्यवंश, प्र० २ चन्द्रवंश, सूर्यवंश में द्वादशात्मा भगवान् प्रकट हुए। इनके वंशबीजभूत सूर्य के भी द्वादशात्मक होने से सूर्यवंश का निरूपण १२ अध्याय से कहा है। 'चन्द्रवंश भी समान है, जघन्य नहीं है इसका बोध करने के लिये १२ अध्याय से ही चंद्रवंश का निरूपण है। स्कंध के प्रथमाध्याय में चंद्रवंश का बीजाङ्गभूत पुरुरवस राजा का वर्णन होने से यह अध्याय मुख्य चंद्रवंश का अंग है। इसलिये चंद्रवंश के भी १२ अध्याय हैं। अथवा पूर्वोक्त प्रकार से सूर्यवंश १३ अध्याय में, चंद्रवंश ११ अध्याय में कहा है। इस प्रकार २४ अध्याय में नवम स्कंध है।

दशम स्कंध : निरोधलीला

प्रथम निरोध—श्री वल्लभाचार्य ने निरोध शब्द का अर्थ एक प्रलय ही नहीं किन्तु 'प्रपञ्च में श्रीकृष्ण की क्रीडा, प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक भक्तों की श्रीकृष्ण में एवं श्रीकृष्ण की भक्तों में आसक्ति' और भक्तों का प्रपञ्च-प्रलय, इस प्रकार तीन अर्थ माने हैं। तीनों अर्थों की परस्पर सङ्गति भी है। श्रीभागवत में निरोध का अर्थ 'निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः' अर्थात् श्रीपुरुषो-

त्तम का शक्तियों के साथ 'अनुशयन' निरोध कहलाता है। आत्मनः पद का अर्थ निर्गुण परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् है। 'कृषिर्भूवाचकः शब्दः' इस श्रुति में कृष् का अर्थ सत्ता अर्थात् नित्यसत्ता, 'ण' का अर्थ है नित्य सुख, अर्थात् जिसमें दुःख मिला नहीं, एवं निरुपाधिक परिणाम विरसतारहित सुख। सत्ता और सुखकी एकता भेदरहित स्थिति, पटतन्तुवत् सुख सत्ता तादात्म्य, जिस प्रकार तन्तुओं में पठ दीखता है, तन्तु-पट न्यारे-न्यारे दृष्टिगोचर ग्रहण करने में नहीं आते, उसी प्रकार सुख में सत्ता स्फुरद्रूप सर्वतोमुखी दीखती है और सत्ता में सुख स्फुरद्रूप एवं समास्तृत दीखता हो, एक के ग्रहण करने से दोनों का ग्रहण हो, इस प्रकार की एकता का नाम कृष्ण है। इस प्रकार की सत्ता तथा इस प्रकार के सुख की एकता आत्मा में ही अनुभव होती है अन्यत्र नहीं। इसीलिये आत्मा का नाम कृष्ण है। क्योंकि आत्मा कोई दूसरी वस्तु नहीं है। वह तो केवल सत्ता और सुख की भेदरहित स्थिति है, सत्ता तथा सुख आत्मा के धर्म नहीं हैं, किन्तु आत्मा का स्वरूपधर्म है। इस लिये श्रीकृष्ण आत्मा है। जीवात्मा भी भगवान् का अग्निविस्फुलिंगन्याय से अंश होने के कारण आत्मा कहा जाता है। वास्तव में आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही है। उक्त श्रीकृष्ण परमात्मा का अपनी शक्तियों के साथ अनुशय ही निरोध है। अनु-अनुरूप-अनुकूल, शयन-स्थिति अर्थात् परमात्मा श्रीकृष्ण की लीलाओं के अनुरूप-अनुकूल स्थिति का नाम 'अनुशयन' है। यहां शीघ्र घात का अर्थ स्थिति है। निद्रा नहीं। 'विष्णुः सर्वगुहाशयः' इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है। क्योंकि निद्रा अविद्या की घृति है, और उक्त वाक्य में गुहाशय शब्द से सर्वसाक्षी अर्थ अभिप्रेत है। यदि शीघ्र का अर्थ निद्रा मान लिया जाय तो सर्वसाक्षी अर्थ न हो सकेगा, अतः शयन शब्द का अर्थ स्थिति है। स्थिति का प्रयोजन सर्वोद्धारार्थ लीला है। स्थिति भी एक लीला है, यह अनेक प्रकार की लीलाओं की विधात्री है, सर्व लीलाओं की मूल स्थिति लीला ही निरोध पद का अर्थ है। वह भगवान् का धर्म है—गुण है—स्वभाव है। श्रीकृष्ण का स्वभाव टेव है कि वे सर्वोद्धार के लिये लीला करने को दुनियां में हममें-तुममें रहने लगते हैं। तथा तुम-हम जैसा वर्तव्य वर्तने लगते हैं, तुम्हें हमें सर्वजगत् को प्रकृति सम्बन्ध से छुटाकर अपने स्वरूप सुख का, अपनी सेवा का और अपनी लीलाओं के द्वारा अनुलित अनन्तानन्त आनन्द प्रदान करते रहते हैं। भगवान् के उक्त स्वभाव का नाम निरोध है। उक्त स्वभाव (टेव) पूरा करने को ही इस दुनियां में पधारते हैं। यदि कहो कि वैकुण्ठ घाम में स्वरूपानन्द का दान करते ही हैं, वहीं स्वभाव की पूर्ति हो जाती है, यहां पधारने की क्या आवश्यकता है—इसका उत्तर ठीक है भजनानन्द का दान तो करते रहते ही हैं, किन्तु सर्वोद्धारार्थ लीला के अनुरूप स्थिति आप वहां नहीं कर सकते, क्योंकि वहां तो सब उद्धार किये हुए ही होते हैं—वहां किसका उद्धार किया जाय ? अतः उद्धारार्थ तो प्रपञ्च में आना ही पड़ता है। यहां पधार कर हम जैसी आकृति-रूप-स्वभाव बनाकर अपने अद्भुत दिव्य अगम्य अलौकिक प्रभाव से, अनिर्वचनीय माधुर्य-सौन्दर्य आदि से कृतार्थ-परिपूर्ण कर देने पर ही आपको चैन-आनन्द आता है। इसीलिये श्री वल्लभाचार्य ने सु० बो० कारिका 'निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः। शक्तिभिर्द्विविधाभ्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम्' अर्थात् समस्त चराचर प्रपञ्च के सर्वदुःखहरण उद्धार के लिये प्रपञ्च में प्रादुर्भूत निर्गुण परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण भगवान् की, अपनी अचिन्त्य दिव्य अप्राकृत शक्तियों के साथ प्रपञ्च में क्रीडा का नाम ही अनुशयन है। और यही निरोध का लक्षण है।

द्वितीय निरोध—

प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक भक्तों की श्रीकृष्ण में एवं श्रीकृष्ण की भक्तों में आसक्ति, नितरां रोधोनिरोधः, इस योगिकार्य व्युत्पत्ति से उक्त अर्थ का बोध होता है। नितरां सर्वथा रोधः मन

का एक जाना । पहले प्रपञ्च में जो मन आसक्त था, उसे भूलकर वह एक श्रीकृष्ण ही के स्वरूप में, इनकी लीलाओं में, गुणों में आसक्त हो जाना द्वितीय निरोध है । जबतक मन का निरोध नहीं, तबतक केवल हठ से इन्द्रियों का रोधकर बैठने का नाम निरोध नहीं, उसकी तो श्रीभगवद्गीता में निन्दा की है । 'कर्मन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' अर्थात् जो साधक हस्त-पादादि पञ्च कर्मन्द्रियों को रोककर-मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता रहता है, वह विमूढ है, उसका आचरण मिथ्याचार, यथायं नहीं है । अतः निरोध शब्द में नि, उपसर्ग उक्तार्थ का सूचक है । श्रीभरताचार्य ने व्यसनदशा को प्राप्त हुई आसक्ति को ही निरोध कहा है । 'या तु व्यसनसंप्राप्तिनिरोधः स तु कथ्यते' इस प्रकार की प्रपञ्च विस्मृति-पूर्वक व्यसनदशा को प्राप्त भक्तों की भगवान् श्रीकृष्ण में आसक्ति का ही वर्णन तो दशम स्कंध में है । 'इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा । कुर्वन्त्यो रममाणाश्च नाऽविन्दन् भववेदनाम् ॥ शय्यासनाटनालापस्तनान्क्रीडाशनादिषु । न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णदेवताः' इत्यादि श्लोकों द्वारा आसक्ति का वर्णन स्फुट है । उक्त योग मर्यादा से निरोध शब्द का अर्थ यह भी होता है कि 'अपने भक्तों में प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण की आसक्ति' जैसे भक्त भगवान् के वश में हो जाते हैं 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्' एक क्षण भगवान् के बिना सौ युग की तरह हो जाता है । वैसे ही 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाऽहं तेभ्यो मनागपि' भगवान् को भी भक्तों के बिना चैन नहीं पड़ता, इसी अर्थ को उक्त दशम स्कंध के मञ्जलाचरण द्वारा पुष्ट किया गया है । 'नमामि हृदये शेषे' इसमें भक्तों का हृदय शेषनाग है, उसमें अनुभव होती हुई लीलाएँ ही क्षीर-समुद्र हैं, उस समुद्र में श्रीभगवान् स्थित हैं, अर्थात् अन्यत्र गतिरहित हैं । सहस्र-सहस्र लक्ष्मियों के विलासों से आप सेवित हैं । मैं उनको प्रणाम करता हूँ । इस प्रकार परस्पर आसक्ति वाला द्वितीय निरोध है ।

तृतीय निरोध—

'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते' जिस परमात्मा से इस प्रपञ्च का जन्म-प्रलय होता है, वह परब्रह्म आश्रयपदवाच्य है । उक्त वाक्य में निरोध शब्द का अर्थ प्रलय भी कहा है । नवम स्कंध का अर्थ ईशानुकथा, भगवद्भक्तों की कथा है । और दशम स्कंध का अर्थ निरोध, प्रपञ्च का प्रलय है । दोनों स्कन्धों की अर्थसंज्ञति विचारने पर सिद्ध हुआ कि भक्त सम्बन्धी प्रपञ्च का प्रलय । इसी से द्वितीय स्कन्ध सुबोधिनी में 'भवतानां प्रपञ्चाभावो निरोधः' भक्तों के प्रपञ्च का अभाव—प्रलय निरोध शब्द का अर्थ कहा है । अन्यत्र भी 'प्रपञ्चस्य प्रलय-स्तिरोधानम्' प्रपञ्च का प्रलय अर्थात् तिरोधान । यह श्रीकृष्ण की नित्य लीला में प्राप्ति होने के लिये परमापेक्षित है । नित्य अप्राकृत अलौकिक सच्चिदानन्दमय देह के बिना नित्य लीला में प्रविष्ट होना असम्भव है । अतः प्राकृत गुणमय विनाशशाली देहरूपी प्रपञ्च का प्रलय-तिरोधान होना अत्यावश्यक है । इस प्रकार निरोध शब्द के तीन अर्थ हुये । 'प्रपञ्च में श्रीकृष्ण की क्रीडा' प्रथम । 'प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक भक्तों की आसक्ति श्रीकृष्ण में, और श्रीकृष्ण की भक्तों में आसक्ति, दूसरा । 'प्राकृत गुणमय विनाशशाली प्रपञ्च का तिरोधान—प्रलय होकर निगुण अप्राकृत गुण-परिपूर्ण श्रीकृष्ण की नित्य लीला में प्रवेश होने के लिये, नित्य अप्राकृत अलौकिक सच्चिदानन्दमय विग्रह देह की प्राप्ति, इन तीनों का परस्पर कार्यकारणभाव है । प्रथम निरोधकरण निरोध है । द्वितीय निरोध व्यापार निरोध है । तृतीय निरोध कार्य-फल निरोध है । करण को कारण कहते हैं । कारण-कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उपस्थित हो एवं कार्य की उत्पत्ति में अवश्य अपेक्षित हो, और कार्योत्पादक व्यापार कर रहा हो । जैसे घड़ा की उत्पत्ति के पहले चाक होता है, बिना

चाक के घड़ा बनता नहीं है । चाक यदि घूमता हुआ न हो तब भी घड़ा नहीं बनेगा । व्यापार—जो कारण से उत्पन्न होकर कार्य की उत्पत्ति में खास सहायक हो, उसे कहते हैं । जैसे चाक का घूमना (घूमना चाक से उत्पन्न होकर चाक से बननेवाले घड़े की उत्पत्ति में प्रधान सहायक है । कार्य-फल, जो वस्तु कारण से तथा उसके व्यापार से तैयार हो । जिस प्रकार कोई कर्ता अपने करण औजार आदि को लेकर उसमें व्यापार उत्पन्न करके कार्य तैयार करता है, ठीक उसी तरह परम कपालु निगुण परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण भगवान् अपनी विचित्रातिविचित्र मधुराति-मधुर परम विमोहन विशिष्ट लीलाओं से व्यापारस्थानापन्न प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक भक्तों की आसक्ति अपने में और अपनी आसक्ति उसी प्रकार की भक्तों में उत्पन्न करते हुये अपनी नित्य लीला में प्रवेशोपयोगी देह देकर भक्तों के प्राकृत प्रपञ्च का प्रलय तिरोधान करते हैं । उक्त तीन प्रकार की निरोधलीला का वर्णन दशम स्कंध में है जिसके प्राप्त होने पर जीव कृतकृत्य हो जाता है । श्रीधरस्वामी ने निरोध का अर्थ आश्रय कहा है । वोपदेव का तात्पर्य दुष्ट राजाओं का नाश है । श्री वल्लभाचार्य ने दोनों मतों का विचार सुबोधिनी एवं भागवतार्थ में किया है और दशम स्कंध का तात्पर्य निरोध में ही है, सिद्ध किया है ।

दशमस्कंध में कुल ९० अध्याय हैं, जिसमें १२।१३।१४ तीन अध्याय प्रक्षिप्त पञ्चपुराण में कही हुई लीला के हैं । इनको बाद कर ८७ अध्याय हुये, इन सबके दो विभाग, पूर्वार्ध-उत्तरार्ध, किये गये हैं । पूर्वार्ध में १ से ४६ अध्याय हैं । उत्तरार्ध में ४७ से ८७ । अर्थात् ४१ अध्याय हैं । श्रीवल्लभाचार्य ने विषयानुसार अध्यायों के प्रकरण किये हैं जिनका कोष्ठक आगे दिया है ।

प्रकरण संख्या	अध्याय	प्रकरण का नाम	अध्याय संख्या
(१)	१—४	जन्म	४
(२)	५—११	तामस प्रमाण	२८
	१२—१८	„ प्रमेय	
	१९—२५	„ साधन	
	२६—३२	„ फल	
(३)	३३—३९	राजस प्रमाण	२८
	४०—४६	„ प्रमेय	
	४७—५३	„ साधन	
	५४—६०	„ फल	
(४)	६१—६७	सात्त्विक प्रमेय	२१
	६८—७४	„ साधन	
	७५—८१	„ फल	
(५) गुण	८२—८७	धर्म	६

इस प्रकार दशम स्कंध में पांच प्रकरण हैं, इनका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है ।

चार अध्याय का जन्म प्रकरण है । भगवान् चतुर्मूर्ति हैं । निबन्ध में 'चतुर्मूर्तिर्हरि-जतिः, तेनाध्यायचतुष्टयम्' । प्रथमे वासुदेवोऽभूत् वसुदेवहृदिस्थितः ॥ मृत्युवारणसामर्थ्यमन्यथा न भवेत् क्वचित् ॥ संकर्षणो द्वितीये तु स्फुटो दैत्यवधाय हि तथा तृतीये प्रद्युम्नश्चतुर्थस्तु उच्यते । न निबद्धो यतः कैश्चिदतः सर्वे विमोचिताः' अध्याय १, वासुदेव । अ० २, संकर्षण । अ० ३,

प्रद्युम्न । अ० ४, अनिरुद्ध । उक्त चारो व्यूहों का क्रमशः प्राकट्य चार अध्याय में कहने के कारण जन्मप्रकरण में चार अध्याय हैं । सामान्य नियम यह है कि भक्त को दुःखी देखकर भगवान् प्रकट होते हैं । भक्त का दुःख भगवान् के प्रकट होने में कारण है । अतः प्रथम अध्याय में भगवान् के प्राकट्य का हेतु वर्णन किया है । भक्त-दुःख निवारणार्थं उद्यम दूसरे अध्याय में, रूपान्तर स्वीकार, मनुष्यवत्-प्राकृत आकृति के स्वीकार का वर्णन तीसरे अध्याय में, नटभाव चतुर्थाध्याय में कहा है । इस प्रकार ४ अध्याय से जन्म प्रकरण कहा है ।

दूसरा तामस प्रकरण । तामस प्रकरण में तामस भक्तों का अपने में तदनुकूल लीलाओं से निरोध करना है । भक्त—तामस, राजस और सात्त्विक, तीन प्रकार के हैं । उनमें प्रथम तामस भक्तों को प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल, द्वारा निरोध २८ अध्याय से करेंगे । अनन्तर राजसभक्तों का प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल द्वारा निरोध २८ अध्याय से करेंगे । आगे सात्त्विक भक्तों का प्रमेय, साधन फल द्वारा निरोध २१ अध्याय से करेंगे । सात्त्विक भक्तों को प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती अतः इसमें तीन ही हैं ।

तामस प्रकरण में अवान्तर ४ प्रकरण हैं । प्रथम तामस प्रमाण अ० ७ में है । नन्दादिकों ने सात अध्याय में प्रमाण की अपेक्षा की है । अतः इसे प्रमाण प्रकरण कहते हैं । इन सात अध्याय में ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य ये छः भगवद्गुणों का वर्णन छः अध्याय में है । सातवें में उक्त धर्म सहित धर्मों का वर्णन, जिनके द्वारा निरोध सिद्ध हुआ है । इसका विशेष स्पष्ट विचार किया जाय तो मालूम होता है कि प्रथम में ५ वें अध्याय में भगवान् ने अपना ऐश्वर्य दिखाया है । दूसरे अ० ६ में पूतना मारकर वीर्यधर्म दिखाया है । तीसरे अ० ७ में शकट, भंगकर यश को दिखाया है । 'आधार में उत्कर्षताकर सबको आनन्द देने वाला चारो तरफ फैल जाय, वह यश कहलाता है । अथवा अच्छी रीति से वर्णन योग्य गुण तथा क्रिया समूह, जिसमें हो उसे यश कहते हैं । चौथे अध्याय ८ में श्रीवर्णन स्पष्ट है । नाम लीला और रिंगण लीला दोनों लीला सब आपत्ति को दूर करनेवाली हैं । इसलिये आपत्तिनिवारण श्री कार्य है । गर्ग मुनि जिस समय नामकरण करते आये थे, उस समय उन्होंने कहा 'अनेन सर्वं दुर्गाणि यूयमञ्जस्तस्मिन्' । १०।८।१६ इस श्रीकृष्ण द्वारा तुम सब बिना श्रम सर्वदुःखों को तर जाओगे । आपत्ति निवारण श्रीकार्य है । पांचवें अध्याय ९ में ज्ञान का दामोदर लीला द्वारा 'नचान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्' बोध होता है । छठे अ० १० में वैराग्य कार्य यमुलाजुन को मुक्ति देना है । भगवान् के अतिरिक्त दूसरे में आसक्ति न होना वैराग्य है । सातवें अ० ११ में धर्मसहित धर्मों का कार्य स्पष्ट अनेक बाललीलायें दीखती हैं । उक्त सात अध्याय प्रमाणप्रकरण द्वारा नन्दादि पुरुषों को निरोध सिद्ध हुआ । यह निरोध स्नेहरूप होकर सबसे अधिक हो जाता है । प्रमाण द्वारा प्रमेय सिद्ध होता है । प्रमेय यहां भगवान् हैं । जब भगवान् की अमानुषी लीला दृष्टिगोचर होती है, तब सकल दुःख निवारक माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सर्वतोऽधिक इनका भगवान् में स्नेह हो जाता है । यह स्नेह निरोधरूप होकर सबसे अधिक है ।

तामस प्रमेय प्रकरण अ० ७ का है (इसका क्रम पहिले कहे तीन अध्याय प्रक्षिप्त छोड़कर है । इसमें प्रमेय माहात्म्य द्वारा ही यशोदा आदि को आसक्ति रूप धर्म होगा, अतः इसे प्रमेय प्रकरण कहते हैं । इस प्रकरण में भी प्रमाण प्रकरण की तरह क्रम है । छः अध्याय में ऐश्वर्यादि धर्मों का तथा सातवें में धर्मों का वर्णन है, 'तं गोरच्छुरितकुन्तलवद्धवर्हन्वप्रसूत-रुचिरेक्षणचारुहासम् । वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिर्गोप्योदितदक्षितदशोरऽभ्यगमन् समेताः ॥ पोत्वा मुकुन्दमुखसारधमक्षिभृङ्गैस्तापजह्विरहजं व्रजयोषितोऽङ्गि । तत्सत्कृति समधिगम्य विशेषगोष्ठं

सत्रीवहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम्' द० ४२-४३ । इस प्रकार प्रथम अ० १२ में ऐश्वर्य कहा है । इस प्रकरण के दूसरे अ० १३ में कालीयदमन लीला का वर्णन, वीर्यबोधक है । तीसरे अध्याय १४ में यश का वर्णन है । भगवान् हृद में जबसे नागदमन के लिये पधारे, तबसे उनका दर्शन नहीं हुआ, इससे प्रत्येक निरोध भक्त के हृदय में आति हुई, और भगवन्मुखदर्शन की लालसा तीव्र हो गई । प्राण में प्राण नहीं रहा । उसी समय 'कृष्णं हृदात् विनिष्क्रान्तम्' १०।१७।१३ दिव्य माला-वस्त्र-मणि आदि धारण करने वाले प्रभु से मिलकर सबके प्राणों में प्राण आ गये । इस उक्त अश्रीकृष्ण दर्शन यश का वर्णन तीसरे अध्याय में है । चौथे अध्याय १५ में प्रलम्बासुर का वध करके काल दुःख दूर किया, दुःखनिवारण श्री का लक्षण है । पांचवें अध्याय १६ में दावाग्निपान से अपना माहात्म्य दिखाकर स्वरूप ज्ञान कराया, अतः ज्ञान धर्म का निरूपण है । छठे अध्याय १७ में वर्षा तथा शरद ऋतु काल का मुख्य वर्णन किया गया है । किन्तु उसमें तटस्थतापूर्वक रहना वैराग्य लक्षण कहा है । सातवें अध्याय १८ में साक्षात् धर्मों का स्वरूप 'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति' इत्यादि श्रुतिप्रतिपाद्य ब्रह्मत्व वेणुगीत में स्पष्ट कहा है । इस प्रकार सात अध्याय का प्रमेय प्रकरण जिसमें स्त्रियों को अपने २ अधिकारानुसार आसक्ति रूप निरोध सिद्ध हुआ ।

तामस साधन प्रकरण अध्याय ७

अब व्यसन की सिद्धि वर्णन करते हुए साधन द्वारा कुमारिका आदि को निरोधसिद्धि कहने के लिये साधन प्रकरण अ० ७ में कहा है । इस प्रकरण में 'तद्विना स्यादुमशक्तिर्व्यसनम्' भगवान् के बिना रह नहीं सकना, व्यसन का निरूपण है । देहसम्बन्धी सर्वधर्म-त्यागपूर्वक भगवान् की प्राप्ति के लिये लौकिक-वैदिक करना व्यसन है । किसी दूसरे की प्राप्ति के लिये नहीं । अर्थात् व्यसनो का लौकिक वैदिक भी भगवान् के अधीन हो जाता है । इस प्रकरण में पूर्व की तरह सात अध्याय हैं । प्रथमाध्याय १९ में कुमारिकाओं को व्रत वरदान ईश्वरधर्म है । अतः ऐश्वर्य का निरूपण स्पष्ट है । दूसरे अध्याय २० में यज्ञपत्तियों के प्रसङ्ग में बोधनादि, भगवन्माहात्म्य निरूपण द्वारा वीर्य कार्य है । अर्थात् यज्ञपत्तियों को समझाना वीर्यलीला के अधीन है । तीसरे अध्याय २१ में वैष्णवयाग करने से यशनिरूपण स्पष्ट है । चौथे अध्याय २२ में व्रजवासियों की इन्द्र द्वारा की गई महती आपत्ति दूर करके श्रीगोवर्द्धन पर्वतधारण करना श्रीकार्य है । पांचवें अध्याय २३ में भगवान् के अद्भुतकर्मों को देखकर व्रजवासियों को शंका उत्पन्न हो गई 'नन्द ते तनयेऽस्मासु' तब 'गर्गो मे यदुवाच ह' १०।२३।१५ इत्यादि वाक्यों द्वारा श्री नन्दराय जी ने 'तान्यहं वेद नो जनाः' एकान्त में गर्ग जी ने श्रीकृष्ण के जो गुण मुझसे कहे हैं, उन्हें मैं जानता हूँ, अन्य नहीं । उक्त वाक्यों में भगवान् ने ज्ञान कार्य दिखाया है । छठे अध्याय २४ में इन्द्र का मद छुड़ाना वैराग्य कार्य स्पष्ट है । सातवें अध्याय २५ में गोकुलवासियों को वैकुण्ठ की प्राप्ति कराकर, उसमें से उद्धृति-निकालकर भजनानन्द का दान करना यह धर्मों का कार्य है । इस प्रकार साधन प्रकरण में व्यसनोपयोगी कायिकव्यापाररूपी साधन करके कुमारिकाओं को व्यसनरूप निरोध सिद्ध हुआ । तथा पुष्टिमार्गीय पांच विद्या के पर्व भी इस प्रकरण में बतलाये हैं वह आगे लिखते हैं (१) मनुष्य को देहइन्द्रिय आदि समग्र पदार्थ का विनियोग भगवान् में ही करना चाहिये, अपने स्वार्थ के लिये नहीं इस प्रकार निर्णयरूप एक पर्व है । (२) देह निर्वाह के लिये तथा प्राणादि धर्म सिद्ध करने के लिये मनुष्य स्वतः समर्थ हो तब भी प्रभु की ही प्रार्थना करनी चाहिये, न कि दूसरे की । प्रभु लोक में अलौकिक नहीं करते हैं, भगवद्भाव में अनुग्रह ही नियामक है, शास्त्रीय साधन नहीं, इस प्रकार निर्णयरूप दूसरा पर्व । (३) इतर भजन परंपरा से भी आ रहा हो तब भी उसे न करना चाहिये, परंपरागत इतर धर्म को भगवान् की इच्छा

होने पर छोड़ दे इस प्रकार निर्णयरूप तीसरा पर्व । (४) समग्र अवस्थाओं में हरि ही सेव्य है । भगवान् अक्लिष्टकर्मा अपने जनों की रक्षा करते हैं । इस प्रकार निर्णयरूप चौथा पर्व । (५) माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक परम स्नेह, भक्तों में आधिक्याज्ञान यह पांचवां पर्व । उक्त पंचक सिद्ध होने पर पूर्ण निरोध सिद्ध हो जाता है । जिस प्रकार पांच प्रकार की विद्या है, सांख्य आदि पहले कहे, उसी प्रकार कर्म भी पांच प्रकार का है । (१) गोपीजनों ने जो कात्यायनी व्रत पूजन आदि किया, वह भगवान् की प्राप्ति के लिये परंपरा से सेवारूप ही किया, यह प्रथम कर्म । (२) गोप जिस समय क्षुधापीड़ित हुए, उस समय भूख की शान्ति के लिये, भगवान् से प्रार्थना की, यह प्रार्थनारूप कर्म द्वितीय कर्म । (३) नंदराय जी आदि ने परंपरा से प्राप्त इन्द्रयाग को छोड़ दिया, श्रीगोवर्द्धन याग किया, यह तीसरा कर्म । (४) इन्द्रकृत वृष्टि से व्रजजन अत्यन्त घबड़ाकर भगवान् की ही शरण में गये, शरण जाना चौथा कर्म । (५) नंदराय जी के वाक्यों द्वारा गोपों का संदेह दूर हुआ, इन्होंने माहात्म्य ज्ञानपूर्वक स्नेहयुक्त कर्म किया, यह पांचवां कर्म । इस प्रकार तामस साधन प्रकरण का विवरण हुआ ।

तामस फल प्रकरण अध्याय ७

दशम स्कंध में जन्म प्रकरण के अनन्तर सात्त्विक प्रकरण को छोड़कर पहले तामस प्रकरण क्यों आया ? तथा इसको तामस क्यों कहा ? उक्त संदेह निवृत्ति करने के लिये गो० श्रीविठ्ठल-नाथ जी ने टिप्पणी में लिखा है कि भक्तिमार्ग में मुख्य सिद्धान्त पुरुषोत्तम स्वरूप ही फल है और नहीं । पुरुषोत्तम के सम्बन्ध से अन्यत्र फल कहने में आता है । सात्त्विकी लोगों की रुचि ज्ञानादि निहित मार्गों में होती है । राजसी लोगों का चित्त सदा विक्षिप्त रहता है । इसलिये लौकिक-अलौकिक कर्मों में लगे रहने से स्वरूप विस्मृति संभव हो सकती है । अतः इन दोनों को अच्छी तरह निरोध नहीं हो सकता । तामसी लोग मुग्ध (मूढ़) होते हैं । इनका जिस विषय में आग्रह हो जाता है उसको कभी नहीं छोड़ते । दृढाग्रही होते हैं । यह बात लोक में प्रत्यक्ष है । यह पहले कह चुके हैं कि भगवान् भक्त का स्वभाव परिवर्तन नहीं करते, भक्तानुकरण करते हैं । व्रजवासियों का भगवान् के स्वरूप में इस प्रकार का स्नेह हो गया था कि, भगवान् के स्वरूप से अन्य किसी पदार्थ को नहीं चाहते थे । इन्ना ही नहीं, किन्तु भगवान् का ही किया धर्मोपदेश भी नहीं माना । इसी प्रकार आगे दिये हुए ज्ञान को भी नहीं माना । अतः सर्वात्मा से निरोध तामस भक्तों को सिद्ध (फलित) हुआ । इनके धर्म की समानता से पुष्टि मार्ग की मर्यादा से विपरीत गति है, इस भाव को ज्ञापन करने के लिये, व्रजभक्तों के धर्म समान पुष्टिमार्ग हैं, इसको, तथा पुष्टिमार्ग मर्यादा मार्ग से विपरीत है, इन दोनों तात्पर्यों को ज्ञापन करने के लिये इस प्रकरण को तामसत्व कहा है । वास्तव में तो निर्गुण ही है । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्येत्यारभ्य, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह' इति । 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थं दर्शिनः' इति । भागवत स्क० ११ । 'भगवान् कहते हैं कि 'ज्ञान-वैराग्य मेरे भक्तों का कल्याण नहीं कर सकते, एवं मेरे भक्त स्वर्ग, अपवर्ग और नरक में तुल्यार्थ देखनेवाले, अर्थात् एक-सा ही देखते हैं । इस प्रकार जब भक्त जन ज्ञानसाध्य मोक्ष की गणना नरक के बराबर करते हैं, तब फिर ज्ञानमार्ग भक्तिमार्ग से भ्रूत हो तो ठीक ही है ।

व्रजभक्तों का एक भगवान् में ही विषुद्ध भाव था, इसलिये इनको सबसे अधिकता वास्तव-सिद्ध है । यही लौकिकता तामस में मुख्य है । यद्यपि व्रजभक्त जानते हैं कि, भगवान् व्यापक हैं आत्मा हैं, हमारे हृदय में विराजते हैं । तथापि लोक में बाहर प्रकट स्वरूप को ही मुख्य मानते हैं । अन्तरात्मादि स्वरूप को नहीं मानते । व्रजभक्तों की कर्म-ज्ञान-विहित भक्ति आदि में वास्तविक

नहीं थी । न भीतर विराजमान स्वरूप में, किन्तु एक आग्रह भगवान् के बाहर प्रकट हुए स्वरूप में ही था और वह लोक में तामसी लोगों की तरह सुद्ध था, इसलिये इनको तामस भक्त कहा है । मर्यादामार्ग से भक्तिमार्ग विलक्षण है । मर्यादा में पुरुष, और यहां स्त्रियों की मुख्यता है । मर्यादा में मुक्ति का प्रतिबन्धक काम है, वही भक्तिमार्ग में भगवत्प्राप्ति करानेवाला है । उक्त विज्ञापन करने के लिये, अलौकिक काम ही है, अन्तः फल जिसका, इस प्रकार की लीला तामस प्रकरण में वर्णन की गई है । इसमें असंभावना नहीं करनी चाहिये, इस प्रकार की कृति का आगे स्फुट निरूपण करेंगे । मर्यादा में विहित भक्ति द्वारा भगवान् का आविर्भाव होता है । भक्तिमार्ग में कामवश से ही दीनता होने पर प्रभु प्रकट होते हैं । प्रकट हुए प्रभु में कामशास्त्र के अनुसार, विधि के अनुसार नहीं 'एका भ्रुकुटिमावश्य' इत्यादि कथन से स्नेह होता है जिसका फल ब्रह्मादि देवताओं को भी साधनों द्वारा दुर्लभ (अप्राप्य) नहीं मिलने वाला, भजनानंद, उसको भगवान् निःसाधन व्रजभक्तों की अधीनता स्वीकार कर देते हुए । इस कारण से व्रजभक्त सबसे श्रेष्ठ हैं । अथवा मूल में गज (हाथी) का दृष्टान्त दिया है । जिस प्रकार हाथी कामवश हथिनियों के पास स्वयं आता है, उसी प्रकार भगवान् स्वयं कामवश होकर भक्तों के समीप आते हैं । और फिर कही गई रीति के अनुसार कामोत्पन्न होने पर प्रिय में स्नेह होता है । यह रीति मर्यादा आदि मार्गों में संभव नहीं होती, इसलिये तामस प्रकरण प्रथम कहा है ।

पहले भी तामस का कारण कह चुके हैं । पूर्व प्रकरण में साधन कहा, साधन करने पर भक्ति का उद्भूत (विशेष वृद्धि) होता है । उसके अनन्तर भक्ति के प्राबल्य से षड्गुण संपन्न पूर्ण भगवान् फलरूप की होती है । इसलिये इसको फल प्रकरण कहते हैं । इसमें भी अध्याय सात हैं । किन्तु ऐश्वर्यादिकों का क्रम जिस प्रकार पिछले तीन प्रकरणों में कहा है, वह यहाँ नहीं है । पुष्टिफल में क्रम का अतिक्रम रूप नहीं है, प्रत्युत भूषण रूप है । बीच में ही सुखविशेष भी होता है । फल प्रकरण में भगवान् को रमणरूप फल देना है । वह रमण, रूप, नाम भेद से दो प्रकार का है । रूपद्वारा रमण पांच अध्याय से कहा है, क्योंकि आत्मा, मन, इन्द्रिय, प्राण, शरीर, पञ्चात्मकरूप है । नाम द्वारा रमण दो अध्याय से कहा है । क्योंकि शब्द प्रवृत्ति, निवृत्ति भेद से दो प्रकार का है । इस प्रकरण के प्रथमाध्याय २९ में ऐश्वर्य निरूपण है । ऐश्वर्य नाम स्वतंत्रता, अर्थात् कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं, सामर्थ्य का नाम ऐश्वर्य है । इस प्रथम अध्याय में नाद द्वारा व्रजभक्तों का आह्वान कर (बुलाकर) वाक्य द्वारा लौटकर घर जाने की प्रेरणा 'कर्तुं सामर्थ्य' रूप ऐश्वर्यबोधक है । भगवद्वाक्य सुनकर व्रजभक्त घर लौटकर नहीं गये, यह अकर्तुं सामर्थ्य है । फिर रमणानन्तर व्रजभक्तों को गर्व हुआ, तब भगवान् अन्तर्धान हो गये, यह 'अन्यथा कर्तुं' सामर्थ्य है । अथवा कर्तुं नाद द्वारा आह्वान करने का सामर्थ्य है । 'अकर्तुं' लौटकर घर जाने की आज्ञा करके भी उनको गृह गमन न करने का सामर्थ्य है । अन्यथा कर्तुं, अपने प्रबल वाक्यों को दुर्बल कर जीव के दुर्बल वाक्यों को प्रबल करना है । अथवा भगवान् के वाक्य न मानना, यह दोष रमण में हेतुभूत बनाकर, उसे गुणरूप बना दिया, यह कर्तुं सामर्थ्य । असंभावित गर्व कर्तुं, संभावित सर्वभावप्रपत्ति, यह अकर्तुं । इसी प्रकार बाहर प्राकट्य को तथा वाह्यरमण को अन्तर्भूत करने को कर्तुं आदि सामर्थ्य कहा है । इस प्रकार प्रथमाध्याय में विविध प्रकार के ऐश्वर्य का वर्णन किया है । द्वितीयाध्याय २७ में परोक्षोऽपि रति चक्रे' निबन्ध । भगवान् परोक्ष भी होते रमण करते हुए, अर्थात् आत्माराम होते हुए भी रमण करते हुए यह रमण वीर्य सूचक है । तीसरे अध्याय २८ में गोपी गीत में भगवान् की स्तुति द्वारा यश का वर्णन है । चौथे अध्याय २९ में 'तासामाविर्भूच्छीरः' भगवान् का प्राकट्य विरह-दुःख दूर करनेवाला होने से

श्रीकार्यसूचक है। अब बीच में ज्ञान-वैराग्य का निरूपण न करके धर्मों का निरूपण किया है। पाँचवें अध्याय ३० में पहले प्रादुर्भावरूप श्री का निरूपण किया, अनन्तर रमण की आवश्यकता होने से रमण में ज्ञान-वैराग्य बाधक है। अतः श्रीनिरूपण के पीछे ज्ञान-वैराग्य को न कहकर धर्मों का निरूपण किया है।

भगवान् विना अन्य सब का त्याग पुष्टिमार्गीय वैराग्य है। यह वैराग्य भगवत्स्वरूप रूप फल जब मिल जाता है, तब उसके अनन्तर होता है। क्योंकि स्वरूपफल पाने के पीछे ही भगवान् सर्वोत्तम हैं, यह ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान के अनन्तर ही वैराग्य—और इसके द्वारा अन्य सब का त्यागकर एक भगवान् को ही चाहता है। इसलिये यहाँ प्रथम धर्मों फल कहा है। पुष्टिमार्गीय ज्ञान धर्मों के पीछे कहा है। पुष्टिमार्गीय ज्ञान भी गुणगान रूप है। यह भगवान् की प्रादुर्भाव दशा में सम्भव नहीं हो सकता, किन्तु यह ज्ञान संयोग के बीच में हुई विप्रयोग अवस्था में होता है। इसलिये प्रथम धर्मों का निरूपण करके अनन्तर ज्ञान का निरूपण किया है। छठे अध्याय ३१ में वैराग्य, अन्याश्रय निवृत्ति द्वारा निरूपण किया है। लोकन्याय से अन्यत्र अन्याश्रय करे तो अनिष्ट हो, नन्दजी ने अम्बिका व्रत करके अन्याश्रय किया, अतः सर्प ने पकड़े, अनन्तर प्रभु शरण जाने पर मुक्त हुये। मर्यादा रमण में शंखचूड़ का सम्बन्ध हुआ, इसलिये भगवान् उदासीन रहे। यह वैराग्य है। सातवाँ अध्याय ३२ में ज्ञान का निरूपण स्पष्ट है। पहले कह चुके हैं कि पुष्टिमार्गीय ज्ञान विरहदशा में होता है। भगवान् वन में गाय चराने पधारते हैं। उस वक्त 'कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्' व्रजभक्त कृष्ण-लीलाओं का गान करते, दुःख से दिनों को व्यतीत करते हुए। यह गुणगान ज्ञान का कारण है, इसलिये इसे ज्ञानाध्याय कहा है। इस प्रकार सात अध्याय से तामस फल प्रकरण का विचार किया। अट्ठाईस अध्याय से प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल, निरूपण द्वारा गोकुलस्थ तामस भक्तों को फल पर्यन्त निरोध सिद्ध हुआ।

राजस प्रकरण अध्याय २८

राजस भक्तों का निरोध करने के लिये राजस प्रकरण का आरम्भ है। इसका क्रम भी पूर्ववत् है। प्रमाण प्र० अ० ७ का, ३३ से ३६ तक है। प्रमेय प्र० अ० ४० से ४६ तक है। साधन प्र० अ० ४७ से ५३ तक है। फल प्रकरण अ० ५४ से ६० तक है। कुल अध्याय २८ हुये। प्रथम प्रमाण सात अध्याय में, जिसमें छः अध्याय ऐश्वर्यादि धर्म निरूपण के, और सातवाँ धर्मों का है। प्रमाण की अपेक्षा द्वारा भगवत्चरित्र, तथा भगवान् में प्रीति एवं स्थिर बुद्धि हुई, इसलिये इसका नाम प्रमाण प्रकरण हुआ। प्रमाणबोध में नारद जी प्रथम हैं। इन्होंने कंस को प्रमाण कर बतलाया कि भगवान् देवकीपुत्र हैं। दूसरे अक्रूर जी हैं। इन्होंने नन्द एवं वसुदेव दोनों के पुत्र भगवान् हैं यह प्रमाणीभूत किया। तीसरे नन्दजी हैं। इन्होंने व्रज में भगवत्त्व प्रसिद्ध किया। श्रीगोपिकाओं ने अपने-अपने यूथ में भगवत्त्व प्रसिद्ध किया। ब्यूहरूप हरि ने अक्रूर को पुरुषोत्तमत्व का भान कराया। कुब्जा ने मथुरा की स्त्रियों को भगवत्त्व जापित किया। इस प्रकार प्रत्येक अध्याय में एक-एक प्रमाता है। अतः प्रमाण प्रकरण ७ अध्याय में है। प्रथम अ० ३३ में भगवान् की स्वतन्त्रता स्पष्ट ऐश्वर्यबोधक है। दूसरे अध्याय ३४ में दुष्ट दैत्यमारण से वीर्य स्पष्ट है। ज्ञान में बाधक किसी था, और लीला में बाधक व्योमासुर था। अतः दोनों की मारकर वीर्य कार्य स्पष्ट दिखाया है। तीसरे अ० ३५ में अक्रूर जी व्रज में पधारे। यद्यपि अक्रूरजी सात्त्विक हैं, तथापि कंस के संगदोषसे राजस तामस हो गये। आगे भगवद्विषयक मनोरथ करने

पर राजस तामस दोष दूर हो जायगा। तब भगवान् के पास जाने की योग्यता होगी। दोष दूर होने पर सात्त्विकता हो जाती है। तदनन्तर भगवन्माहात्म्य का विज्ञान, अर्थात् भगवत्स्वरूप का बोध, भगवत्कर्म करने की इच्छा भक्त को होती है। यह सब अक्रूर जी को हुआ, इसने व्रज में यश की वृद्धि की, अतः यशलीला है। चौथे अध्याय ३६ में भक्तों के हृदय में विरह प्रकट करके भगवान् का अन्तःकरण में प्रादुर्भावरूपी श्री कार्य है। अर्थात् अक्रूर जी भगवान् को बुलाने के लिये आये, कंस मारने को भगवान् के मथुरा पधारने के प्रसङ्ग में व्रजभक्तों के हृदय में वियोग हुआ, वह भगवान् ने वाणी द्वारा शान्त किया, उस समय ऋषिरूपा उपनिषद्वा गोपी-जनों ने भगवान् के वचनों में विश्वास करके धैर्यवसम्भन किया। आपने उनके प्राणों की रक्षा की। आपत्ति निवारण करना श्री कार्य है। पाँचवें अ० ३७ में ज्ञान कार्य अक्रूर-स्तुति है, भगवान् ने अक्रूरजी को स्वमाहात्म्यज्ञान कराया, और ब्रह्म हृद संस्कार द्वारा स्नेह भक्ति प्रदान की, जिसके प्रभाव से काकापने के अभिमान को त्यागकर दीनतापूर्वक स्तुति की। यह सब ज्ञान कार्य है। छठे अ० ३८ में अक्रूरजी से भगवान् ने कहा, हम यहाँ पर ही रहेंगे, आप अपने घर जाइये। यह घर भोजना उपेक्षारूप होने से वैराग्य कार्य स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त निबन्ध में अन्य प्रसङ्गों द्वारा भी वैराग्य कार्य कहा है। आगे अध्याय ३९ के प्रारम्भ में कुब्जा वाक्य है, वह वैराग्यबोधक है। और अ० ३८ के प्रारम्भ में अक्रूरजी प्रति वाक्य वैराग्यजनक है। अतः इन दो वाक्यों के बीच में आया सर्वप्रसंग भक्तों को भगवत्त्वज्ञान उत्पन्न करानेवाला एवं इसके द्वारा वैराग्यजनक है। प्रसङ्ग, दण्ड तथा कृपा करनेवाले हैं, जिस प्रकार रजक (घोड़ी) को दण्ड दिया, उसने सीताजी के समय घृष्टता की थी, श्रीराम द्वारा सीताजी को वन छोड़ने में निमित्त हुआ था। इस कारण रजक को दण्ड दे शिक्षा की। कर्म मार्ग में सबको कर्मानुसार फल मिलता है। यह शिक्षा वैराग्यकार्य है। इसी प्रकार वायक (दर्जी), मालाकार (माली) ऊपर प्रसाद (कृपा) करी उस समय दोनों की सुन्दर परीक्षा की, यह परीक्षा वैराग्य कार्य है। दर्जी नटप्रिय वेष बनानेवाला है। इसलिये प्रिय है। इस प्रकार रजक, वायक, मालाकार तीनों प्रसङ्ग वैराग्यकार्य हैं। सातवें अध्याय ३९ में धनुषभंग धर्मों का कार्य है। अतः यह अध्याय धर्मों का है। इस प्रकार कुब्जा को रूपदान कर द्विविध निग्रह किया। अर्थात् यादवों की आसक्ति कराकर, तथा दुष्टों का वधकर प्रमाण द्वारा वसुदेव पुत्रत्व, ब्रह्मत्व, आदि यादवों को प्रमाणित कर बताया।

राजस प्रमेय प्रकरण अध्याय २८

प्रमाण द्वारा प्रमिति होती है। प्रमेयरूप भगवान् के बल का बोध कराने वाला प्रमेय प्रकरण अध्याय ७ में है। इस प्रकरण में भी पूर्ववत् ६ अध्याय ऐश्वर्यादि धर्मबोधक हैं, और सातवाँ धर्मों का है। प्रथम अ० ४० में कुवलयापीड वध ऐश्वर्यबोधक है। दूसरे अध्याय ४१ में चाणूरादिवध, और कंस वध वीर्यसूचक है। तीसरे अ० ४२ में उग्रसेन को राज्यतिलक यश कार्य है। चौथे अ० ४३ में गोकुल में रहनेवालों के आपत्तिनिवारण के लिये उद्योगरूप श्री-कार्य है। पाँचवें अ० ४४ में 'भवतीनां वियोगो मे' यह वाक्य ज्ञानसूचक है। छठे अ० ४५ में कुब्जा, अक्रूर आदि भक्तों के घर पधार कर कृपा वृष्टि की, तथा उनकी आसक्ति अपने में कराई, अन्यासक्ति छुड़ाना वैराग्य कार्य है। सातवें अ० ४६ में धृतराष्ट्र को अक्रूर जी ने पाण्डवों की रक्षा करने को कहा, किन्तु शिक्षा न मानकर युद्ध किया, पृथिवी का भार दूर हुआ, सुभारद्वरण धर्मों का कार्य है। उक्त प्रमेय प्रकरण में सात भक्त, एवं सात शत्रु निरूपण किये गये हैं। सात भक्त (१) वसुदेवजी, (२) समग्र यादव, (३) गुरु, जिनको पुत्र दान किया, (४) यशोदानन्द,

(५) कुब्जा सहित गोपिका, (६) अक्रूर, (७) पाण्डव । ये सात अध्यायमूचक हैं । भगवान् का प्राकट्य सबका मोक्ष करने को हुआ है । अतः द्वेपियों को भी मोक्ष प्रदानकर प्रमेय बल दिखाया है । 'आसक्तिरेकता तत्त्वम्' इस लक्षण से किसी भी प्रकार भगवान् में एकतानता होनी चाहिये, अतः जिस प्रकार स्नेह से, उसी प्रकार भय से भी आसक्ति होती है । यद्यपि भय स्नेह का विरोधी है । तथापि पेशस्कृत कीटन्याय से कंसादिकों को आसक्ति हो गई, अतः यहां निरूपण करने में बाध नहीं होता । 'आसक्तः स्याद् भयादपि' इस वाक्यानुसार सात दश गज, मल्लचार्य, मुष्टिक, फूट, बाल, तोषालक और कंस । इन सात द्वेपियों का वर्णन है । कंस के आठ भाइयों का मारना कंस वध के प्रसङ्ग में ही अन्तर्गत है । अतः सात ही हैं । इस प्रकार राजस प्रकरण की समाप्ति पूर्वार्ध समाप्ति है ।

अथ दशमस्कन्ध उत्तरार्ध राजस साधन प्रकरण

अब दुःख निवारकता होने से भगवान् में एकतानता हो जाना ही साधन है । इसके द्वारा निरोध सिद्ध होता है । इसलिये इस प्रकरण को साधन प्रकरण कहते हैं । यहां सात अध्यायों द्वारा पहले की तरह क्रम है । ६ अध्याय ऐश्वर्यादि धर्मों के, तथा एक धर्मों का है । प्रथम अ० ४७ में जरासंध को भगाना आदि ऐश्वर्य कार्य है । अनन्तर द्वारका निर्माण ऐश्वर्य कार्य है । दूसरे अ० ४८ में मुचुकुन्द द्वारा यवन को मरम कराकर, एवं मुचुकुन्द को साधन मात्र का उपदेश करके उसका उद्धार किया, यह वीर्य कार्य है । तृतीय अ० ४९ में रुक्मिणीजी की 'श्रुत्वा गुणान्, इत्यादि स्तुति द्वारा यश का वर्णन है । चौथे अध्याय ५० में रुक्मिणीहरणकर अन्य सम्बन्ध रूप आपत्ति दूर करना श्रीकार्य स्पष्ट है । पांचवें अ० ५१ में रुक्मिणी को विरूप करने के अनन्तर श्री बलदेवजी द्वारा रुक्मिणीजी को दिये ज्ञानोपदेश वाक्य ज्ञानकार्य रूप हैं । छठे अ० ५२ में द्वारका में प्रद्युम्नजी के दर्शनानन्तर, वहां से भी शंवर द्वारा समुद्र में डालने पर काम का रूप होने से सारे लोक के व्यसन हेतु पुत्र को भी सूल गये, इनके लाने का कोई उद्यम नहीं किया, यह वैराग्य कार्य है । अथवा प्रद्युम्न दर्शनानन्तर, उसमें मन लगाया, संसार से विराग हो गया, यह वैराग्य है । सातवें अ० ५३ में जाम्बवान् के साथ युद्ध करना, वहां से मणि लाना, कार्य धर्मों का है । इस प्रकार तत्तल्लीला द्वारा एकतानता साधन दिखानेवाला साधन प्रकरण कहा ।

कुछ विशेष कथन

व्यसन (दुःख) में पड़े हुए जीवों को लौकिक दुःख से मुक्त करके भगवद्ब्यसनी करना, यहां यह आशय है । अर्थात् लौकिक व्यसन दूर होकर भगवद्ब्यसनी हो गये । दुःख निवारक भगवान् में एकतानता साधन है । दुःख देने वाले जरासंध यवन आदि हैं । मथुरा के बराबर विश्वकर्मा द्वारा द्वारकापुरी का निर्माण करा के वहां सबको योगबल से पहुँचाकर दुःख निवृत्त किया । यद्यपि जब सबको द्वारका पहुँचा दिया, मथुरा में कोई रहा नहीं, फिर यवन द्वारा दुःख की सम्भावना ही नहीं होती, अतः यवन के मारने की आवश्यकता नहीं थी । तथापि, आध्यात्मिक दुःख विद्यमान थे 'अद्यापि मथुरायां हि तिष्ठन्त्याध्यात्मिकाः सदा, दैविकाश्चापि तिष्ठन्ति' अभी तक आध्यात्मिक, आधिदैविक, स्थानसदा विद्यमान हैं, 'भगवत्सन्निहित नित्य मथुरा में यवनों द्वारा दूषित स्थानों का रहना ठीक नहीं, अतः इनके रक्षार्थ यवन को मारा' । भगवान् के दर्शन होने पर भी मुचुकुन्द का मोक्ष क्यों नहीं हुआ ? इसका उत्तर—मुचुकुन्द की कथा वीर्य अध्याय में है । इसको निद्राव्यसन से मुक्त किया । यह साधन प्रकरण है, फल प्रकरण नहीं है । इसलिये इसको भी साधन बताया, फल नहीं दिया, अतः भगवान् का दर्शन होने पर भी भगवद्विच्छा से इस समय मुक्त नहीं हुआ । इसके सुख के लिए उद्धार नहीं किया । प्रमेयबल से

मुक्त करते तो साधनकक्षा वाले जीवों की स्वस्थता नहीं होती, दूसरे प्रारब्ध कर्म शेष था, प्रभु मर्यादामार्गीय जीवके प्रारब्धकर्म का नाश नहीं करते, इसलिये मुचुकुन्द का मोक्ष नहीं हुआ, जन्मान्तर में हुआ ।

अथ राजस फल प्रकरण अ० ७

तत्तदधिकारी को तत्तत्फल का दान देने से इस प्रकरण का नाम फलप्रकरण है । इस प्रकरण में पहिले की तरह ऐश्वर्यादि छै धर्म, तथा धर्मों का निरूपण है, इसके भी सात अध्याय हैं । प्रथम (अ० ५४) में शतधन्वा का वध ऐश्वर्यकार्य है । दूसरे (अ० ५५) में विश्वकर्मा द्वारा नगर निर्माण, मिश्रविन्दा हरण, वीर्यकार्य है । तीसरे (अ० ५६) में भीमासुर वध के अनन्तर भूमि द्वारा स्तुति की गई, उसे अभयदान दिया, यह यशकार्य है (चौथे अ० ५७) में भगवान् ने रुक्मिणीजी से हँसी के वाक्य कहे, जब रुक्मिणी मूर्च्छित हुई, अनन्तर भगवान् ने समझाया, तब प्रिय मेरा त्याग करेगा यह भय-आपत्ति दूर हुई, भयापत्ति दूर करना श्रीकार्य है । प्रिय त्याग से प्राणगमनरूपी आपत्ति भी हो जाती है । उसको भी दूर किया । पाँचवें (अध्याय ५८) में भगवान् की पत्नियों विविध सेवा रमणादि द्वारा आपका मन वश में न कर सकीं, यह ज्ञान-कार्य है । छठे (अ० ५९) में अनिरुद्ध को बांधलेने पर भी छुड़ाने का उपाय न करना वैराग्य-कार्य है । सातवें (अ० ६०) में बाण की भुजा काटना धर्मों कार्य, एवं माहेश्वर, वैष्णव दोनों ज्वरों के युद्धानन्तर शंकर को वरदान देना धर्मों कार्य है । इस प्रकार राजसफल प्रकरण २८ अध्याय का पूर्ण हुआ ।

अथ सात्त्विक प्रकरण अ० २१

सात्त्विक भक्तों के निरोधार्थ सात्त्विक प्रकरण है । इसमें प्रकरण नहीं है । कारण कि, सात्त्विक भक्तों को प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती, भगवान् नंदकुमार वसुदेवपुत्र ईश्वर हैं, यह इनमें स्वाभाविक प्रमाणज्ञान होता है 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' इनके सत्त्व स्वभाव ही से है । अतः प्रमाण की अपने आप ही स्फूर्ति होती है । इन भक्तों को निरोध प्रमेय, साधन, फल, इन तीनों द्वारा ही सिद्ध हुआ है । इसलिये इसके २१ अध्याय हैं । प्रथम प्रमेय प्रकरण है । क्रम पूर्ववत् ही है । प्रथम (अ० ६१) में नृगमोक्ष, ऐश्वर्य कार्य है । दूसरे (अ० ६२) में यमुनाकर्षण वीर्यकार्य आवेशी बलराम द्वारा है । तीसरे (अ० ६३) में भगवान् के सदृश रूप धारण करने वाले पौंड्रक (मिथ्या वामुदेव) को मुक्तिदान यश-कार्य है । चौथा (अ० ६४) में बलदेव क्रीड़ा श्रीकार्य है । रमण द्वारा भक्तों की तथा द्विविद नाम के बंदर को मारकर ऋषियों की आपत्ति दूर करके श्री कार्य सूचन किया । पांचवें (अ० ६५) में गुरु को स्वरूप ज्ञान कराना ज्ञानकार्य है । छठे (अ० ६६) में भगवान् गृहस्थाश्रमधर्म करते हुए भी निर्लेप हैं, यह दर्शन नारद को कराना वैराग्यसूचक है । सातवें (अ० ६७) में प्रातः काल उठना, स्नान, दान, राजसभा प्रवेश आदि धर्मों कार्य हैं । इस सात्त्विक प्रकरण का प्रथम प्रमेयप्रकरण सात अध्यायों में कहा गया ।

अथ सात्त्विक साधन प्रकरण अ० ७

यह साधन मर्यादाबोधक है । अतः इसको साधनप्रकरण कहते हैं । क्रम पूर्ववत् है । प्रथम (अ० ६८) में समग्र सेना सहित हस्तिनापुर गमन, और वहां जाने पर युधिष्ठिरादि द्वारा पूजा करना आदि ऐश्वर्यकार्य है । दूसरे (अ० ६९) में युधिष्ठिरादि विजय में भीम द्वारा जरासंध वध वीर्य कार्य है । तीसरे (अ० ७०) में जरासन्ध के जेल में पड़े हुए राजाओं द्वारा स्तुति करना यशलीला है । चौथे (अ० ७१) में शिशुपाल का वध कर उसकी जय विजय पार्षद समय में शापरूप आपत्ति दूरकर भक्ति का दान करना श्रीकार्य है । पांचवें (अ० ७२) में दुर्योधन को

जल स्थल का भ्रम हुआ, भीम आदि हुंसे—हास्य देखकर अब भूभार हरण होगा। इस बात की जानकारी भी भगवान का मोन धारण जानकार्य है। छठे (अ० ७३) में शाल्व युद्ध में सारथी प्रद्युम्न को युद्ध से हटाकर लाया, तब प्रद्युम्न ने कहा, युद्ध में मरना श्रेष्ठ है, किन्तु भागकर शरीररक्षा वीर के यश को दूर कर देती है। इस प्रकार शरीररक्षा की निन्दा वैराग्यकार्य है। सातवें (अ० ७४) में शाल्ववध आदि घर्षों का कार्य है। इस प्रकार ७ अध्यायों से सात्त्विक साधन प्रकरण कहा गया है।

अथ सात्त्विक फल प्रकरण अ० ७

इसमें सात अध्याय हैं। क्रम पूर्ववत् ही है। प्रथम (अ० ७५) में दन्तवक्त्र वध आदि ऐश्वर्य-कार्य है। बलदेव जी द्वारा सुतजी का वध, फिर सुतजी का स्थापन, ब्रह्मशाप से मुक्त होना, यह सब अन्यथा कर्तुं सामर्थ्य ऐश्वर्यसूचक है। दूसरे (अ० ७६) में बलवल्बध आदि आवेशकार्य वीर्यसूचक है। तीसरे (अ० ७७) में दरिद्र सुदामाजी का लक्ष्मीसहित सत्कार करना यशलीला है। चौथे (अ० ७८) में एक मुष्टि चावल की खुद्दी मात्र में सर्वसम्पत्ति का दान, एवं मुक्तिदान श्रीकार्य है। पाँचवें (अ० ७९) में कुरुक्षेत्र यात्राप्रसंग में भक्तों को एकान्त में ज्ञानोपदेश वाक्य ज्ञानकार्य है। छठे (अ० ८०) में पुष्टि मार्गीय द्रौपदी जी ने भगवान के साथ किस प्रकार विवाह हुए ऐसे पटरानियों से प्रश्न किये, तब पटरानियों ने विवाह वर्णन किये, और उसमें भगवान की दास्यता का निरूपण करके संसारसे वैराग्य दिखाया, यह भगवान् द्वारा ही वैराग्य कार्य है। सातवें (अ० ८१) में द्वैपायनादि ऋषि भगवान के दर्शनार्थ आये, तब उनके प्रति भगवान ने जो कहा, वह घर्षी कार्य है। इस प्रकार सात अध्याय सात्त्विक फल प्रकरण के कहे। कुल २१ अ० हुए।

अथ गुणनिरूपण प्रकरण अ० ६

गुणप्रकरण में अ० ६ हैं—जिस भगवान ने उक्त लीलाओं द्वारा भक्तों को निरोध सिद्ध किया, वह श्रीकृष्ण परात्पर है। इसका निरूपण करने के लिए गुणप्रकरण है। गुण ६ हैं, इसलिये अध्याय भी ६ हैं। प्रथम (अ० ८२) में वसुदेवस्तुति उपदेश देवकी के पुत्रों को लाना आदि ऐश्वर्य-कार्य है। दूसरे (अ० ८३) में दो प्रकार का वीर्य निरूपण किया है। (१) बुद्धिवीर्य (२) क्रियावीर्य। अर्जुन ने सुभद्रादि हरण किया, उसमें आपने प्रतिबन्ध नहीं किया, एवं क्रुद्ध बलदेवजी को शान्त कर निन्दा भी न होने दी। यह भगवान का विचार 'बुद्धिवीर्य' है। श्रुतदेव तथा जनक को एक समय में ही दो स्वरूप धारण कर दोनों को मुक्ति दान किया। मुक्ति दान करना 'क्रियावीर्य' है। तीसरे (अ० ८४) में श्रुतिगीता द्वारा भगवान का यश कहा है। चौथे (अ० ८५) में शंकर की आपत्ति दूर करना श्रीकार्य है। पाँचवें (अ० ८६) में भृगु ने परीक्षा करने के समय लात मारी, उस समय क्षमा करना ज्ञान-कार्य है। छठे (अ० ८७) में स्त्रियों के साथ जलक्रीडा में मन का तिरोधान किया, मन के तिरोधान से समग्र पटरानी अत्यन्त विह्वल हो गईं, और सर्व क्रिया उनकी कृष्णमय हुई। स्कन्धार्थ निरोध है। अतः उपसंहार में भी निरोध का वर्णन है। लोक शिक्षा के लिये भगवान का गृहस्थाश्रम धर्म स्वीकार करना, वैराग्य है। इस प्रकार ६ अध्याय का गुणप्रकरण पूर्ण होकर दशम स्कन्ध समग्र का विभाग ८७ अध्याय से समाप्त हुआ।

अथ एकादश स्कन्ध मुक्तिलीला अ० ३१

जब भक्त को भक्ति सिद्ध हो जाती है, तब स्वरूप प्राप्तिरूप मुक्ति होती है। इसका

वर्णन एकादश स्कन्ध में किया है। इसमें दो प्रकरण हैं—'जीवमुक्ति प्रकरण' 'ब्रह्ममुक्ति प्रकरण'। जीवमुक्ति दो प्रकार की होती है (१) ब्रह्मभाव (२) सायुज्य। इस प्रकार दो भेद हैं। 'ब्रह्म-भाव' अध्याय ५ से कहा है। क्योंकि विद्या द्वारा ब्रह्मभाव होता है। अर्थात् ब्रह्मभाव की प्राप्ति में विद्या कारण होने से, विद्या के पाँच पर्व पाँच अध्याय में कहे गये हैं। प्रथम अ० में वैराग्य निरूपण, ब्राह्मण का शाप वैराग्य उत्पन्न करने वाला है। दूसरे अ० में सांख्य का निरूपण है। कवि ने 'भयं द्वितीयाभिविवेशतः स्पात्' ११-२-३ इत्यादि वाक्य द्वारा भेद बुद्धि दूर करने वाले भगवद्धर्म का बोधन किया है। इसमें तत्त्व-अतत्त्व-विवेकरूप सांख्य का निरूपण है। तीसरे अध्याय में योग का निरूपण है। प्रबुद्ध वाक्य में गुरु की शरण द्वारा भगवद्धर्म का शिक्षण किया गया है। 'सर्वतो मनसोऽसङ्गम्' ११-३-२३ चारों ओर से मन को निःसङ्ग करना आदि उपदेश चित्तवृत्ति निरोध रूप योग का प्रतिपादक है। चौथे अध्याय में तप का निरूपण है। नारायण का तपनिरूपण करने से, अवतारों का चरित्र वर्णन करके भी, चित्त का पाप शोषण रूप तप का निरूपण किया है। पाँचवें अध्याय में भगवान् का भजन न करने वाले की निन्दा करके पश्चात् भगवद्भजन करना, कहकर भक्ति का ही निरूपण किया है। इस प्रकार 'वैराग्यं सांख्ययोगी च तपो भक्तिश्च केशवे। पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेत्' पञ्चपर्व विद्या द्वारा, अविद्यानिवृत्ति-पूर्वक ब्रह्मभावरूप मुक्ति सिद्ध होती है।

जीवमुक्ति प्रसङ्ग में दूसरा सायुज्य प्रकरण अ. ६ से २९ तक है। सायुज्य का भक्ति कारण है। भक्ति की सिद्धि में तत्त्व का अतिक्रम कारण है। तत्त्वसंख्या २४ है। इन चौबीस तत्त्वों का अतिक्रम (उल्लंघन, नाश) का क्रमबोध कराने के लिए २४ अध्याय में सायुज्यप्रकरण है। इसके प्रथम (अ. ६) में मूलप्रकृति का नाश कहा है। ब्रह्मा के प्रति तथा यादवों के प्रति भगवद्वाक्य में यदुकुल संहार का बोध एवं मनुष्यनाट्य त्याग का बोध होने से मूलप्रकृति का नाश प्रतीत हुआ। द्वितीयाध्याय में 'यदिदं मनसा वाचा, पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थः' इत्यादि से भगवान ने उद्धवजी के प्रति भेदमात्र को भ्रमरूप कहा। आगे सातवें अध्याय में श्लोक 'तस्माद्युक्तेन्द्रिय-ग्रामः' आत्मा में सर्वजगत देखने को कहकर भेद का निराकरण किया, भेद का मूल महत्तत्त्व है। अतः इसका नाश ७ वें अध्याय में कहा है। तत्त्व के अतिक्रम में क्रम विवक्षित नहीं है। इस लिये जिस जिस अध्याय में जिस जिस तत्त्व का नाश प्रतीत होता हो, उस उस अध्याय में तत्त्व-तत्त्व का अतिक्रम अध्यायार्थ जानना चाहिये। इस प्रकार ६-से २९ अध्याय का सायुज्य प्रकरण है।

'ब्रह्ममुक्ति प्रकरण' दो अध्यायों ३०-३१ में है। इसमें भगवान् ने अहंता-ममतारूप मनुष्यनाट्य का त्याग किया, यह मोचन रूप होने से मुक्तिरूप है। अहंता-ममता नाशक होने से दो अध्याय ब्रह्ममुक्ति प्रकरण के हैं। इस प्रकार इकतीस अध्याय से एकादश स्कन्ध प्रकरण विभाग है। इसमें २९ प्रकार के जीवों की मुक्ति २९ अध्यायों से और पीछे के २ अध्यायों से ब्रह्म का मुक्तिनिरूपण किया है।

अथ द्वादश स्कन्ध : आश्रयलीला अ० १३

भगवान् की नवलीला पूर्ण हुई, इनके द्वारा शुद्ध निरावरण मुक्त जीव का आश्रय श्रीकृष्ण है। इसका वर्णन १३ अध्यायों से द्वादशस्कन्ध में किया है। आश्रय पाँच प्रकार का है। (१) कृष्णाश्रय (२) जगदाश्रय (३) वेदाश्रय (४) भक्ति मार्गाश्रय (५) भागवताश्रय। इस

द्वादशस्कंध में पांच प्रकरण हैं। द्वितीय स्कंध में कहा है कि 'दशमस्य विशुद्धयर्थम्' (२-१०-२) सर्गादि नवलीला का निरूपण करने से दशम आश्रय का स्पष्ट निरूपण हो जाता है। दूसरा 'आभासश्च निरोधश्च' (२-१०-७) इस श्लोक में जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय कर्तृत्वरूप है। तीसरा 'त्रितयं तत्र यो वेद' जो आध्यात्मिकादि तीनों को जानता है, वह आश्रय है। चौथा 'स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः' (२-१०-९) इसमें दो आश्रयपद कहे हैं, अतः दो लक्षण प्राप्त होते हैं। स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम का आश्रय अक्षर ब्रह्म है अर्थात् अपना आश्रय आप ही है। अन्य की अपेक्षा नहीं है। नवलक्षण का आश्रयरूप अक्षर ब्रह्म का रूप चौथा आश्रय है। पांचवाँ अक्षर का भी आश्रय श्रीकृष्ण है। इस प्रकार नवलक्षणलक्ष्यत्व अक्षर में है। और दशलीलायुतत्व धर्म श्रीपुरुषोत्तम में है। अक्षररूप होना भी लीला है। आश्रयपद से कहा अक्षर ब्रह्म उसको भी लीला पता है। नहीं तो २-१०।९ श्लो० में स्वाश्रय पद से ही चरितार्थता हो जाती, पुनः दूसरा आश्रयपद लक्षण में अनर्थक हो जाता, अतः दो बार आश्रयपद से अक्षर तथा पुरुषोत्तम दोनों का निरूपण किया है। 'नवलक्षणलक्ष्ये हि कृष्णः' यहां अक्षरको पुरुषोत्तम से अभिन्न कहा है। इस प्रकार आश्रय पांच प्रकार का है। अध्याय ३ में कृष्णाश्रय प्रकरण है। इसमें अन्यनिषेध मुख से आश्रय का निरूपण होने से लोकनाश, धर्मानाश, निरूपण मुख द्वारा तथा स्वतन्त्रता निरूपण द्वारा तीन अध्याय कहे हैं।

प्रकरण २ इसमें विधिमुख से निरूपण किया गया है। भगवान् जगत् के सृष्ट्यादि कर्ता हैं, जगत् रूपनाम भेद से दो प्रकार का है। अतः जगदाश्रय का दो अध्याय ४-५ में वर्णन है। छठे अध्याय में पूर्वार्ध ज्ञान का अङ्ग है—इसलिये देहलीदीपक न्याय से जगदाश्रय—तथा वेदाश्रय—दोनों प्रकरण का अङ्ग होने से दोनों तरफ इसका अन्वय होता है। इसका कारण दूसरे प्रकरण में २॥ अध्याय है। प्रकरण ३ आगे वेदशाखाओं का निरूपण होने से 'वेदाश्रय' का वर्णन है। वेद प्रवृत्ति, निवृत्ति भेद से दो प्रकार का है। पहिले कहा छठे अध्यायका उत्तरार्ध लेकर डेढ़ अध्याय से वेदाश्रय निरूपण है। पहिले तीन अध्यायों में कृष्णाश्रय, ढाई अध्याय में जगदाश्रय, डेढ़ अध्याय में वेदाश्रय, कुल ७ अध्याय द्वारा नव लक्षण लक्ष्यत्व-एवं जगत् की उत्पत्ति आदि कर्तृत्व, उभय लक्षण वाला आश्रय निरूपण किया। प्रकरण ४ तीन अध्याय ८।९।१० से भक्तिमार्ग कथन द्वारा 'भक्तिमार्गाश्रय' का निरूपण किया गया है। यह कर्ममार्गीय, उपासना-मार्गीय, भक्तिमार्गीय तीन भेद से तीन प्रकार का है।

प्रकरण ५ आगे तीन अध्याय ११-१२।१३ में भागवत मार्ग का निरूपण होने से 'भागवताश्रय' भौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, तीन भेदसे तीन प्रकार का कहा है। इस प्रकार छठे अध्याय में, आध्यात्मिकादि तीनों को जानने वाला अक्षर पुरुषोत्तम रूप आश्रय का निरूपण है। तेरह अध्याय आश्रयलीला के पूर्ण हुए। यह भगवान् की सर्गादि लीला का वर्णन कहा है। भक्तिमार्गीय सर्गादि लीला का वर्णन भाग० द्वि० स्क० अ० २ श्लो० १२ 'अदीनलीला' श्लोकका विवरण अ० ७ श्लो० २५ सुबोधिनी में किया है। (१) अदीनत्व, सर्ग है। अभिलषित वस्तु न मिलने से दीन होता है किन्तु प्रभु स्वयं सर्ववस्तु रूप से प्रकट हो तब अभिलषित वस्तु प्राप्त होने से दीनता (कंगालपना) दूर हो जाती है। इसलिये प्रभु में अदीनलीला है। सृष्टि (सर्ग) दो प्रकार की है, स्वार्था, तथा परार्था, परार्थ सृष्टि में भी जीवों की दीनता सृष्टि में ही चली जाती है। (२) लीलात्व, विसर्गलीला स्पष्ट है। हसितत्व-स्थान लीला है। इसमें भगवान् नाट्य की तरह-प्रहसन रूप से तत्तन्मर्यादा में सबकी स्थिति करा कर हँसते हैं। अपने हँसने के

लिये ही मर्यादा में स्थापन करते हैं। परमार्थ भगवत्स्वरूप में, अर्थात् भगवान् में जब एकत्रित हो जाते हैं, तब मर्यादा स्थापन हो नहीं सकता (४), ईक्षणत्व, पुष्टि लीला है। जिसका भगवान् ईक्षण करते हैं, वे ही पुष्टि (कृपा पात्र, होते हैं (५) भूत्व, ऊति है। जैसी अन्तःकरण में वासना होती है, वैसी ही भुक्कुटि का चलना होता है (६) भङ्गत्व-सद्धर्म है। यही अपने स्थान से सबको भङ्ग करता है, (७) उल्लसत्व-ईशानुकथा है (८) वंश भगवान् का उल्लास है। अथवा यथाक्रम में ऊति उल्लास है। जैसे प्रह्लाद और धर्म प्रमेय प्रमाण उल्लास है, तब वहां सद्धर्म भ्रूण होता है। भङ्ग, वंश होता है, वहां आत्मा भंग होती है। (९) संसृचितत्व, निरोध है। भूरित्व, मुक्ति है। एक भगवान् ही मुक्त है, और भी मुक्त होते हैं। (१०) अनुग्रहत्व आश्रय है। जो अनुग्रहीत नहीं है, वह अपने में किसी को सर्वथा स्थापन नहीं करता है। साधन स्वरूप में श्री मद्भागवत पूर्वस्कन्ध उत्तरस्कन्ध का कारण अथवा साधन है। बारहों स्कंधों में पृथक् पृथक् प्रसङ्ग ही है, इनका परस्पर अङ्गों की तरह सम्बन्ध है, वास्तव में तो बारहों स्कंधों का कार्य कारण संबंध है। अधिकारी देवी जीवों के साधन प्रथम स्कंध में है। साधन युक्तों की श्रवण द्वितीयस्कंध में, इसमें प्रथम सर्ग लीला तृतीयस्कंध में जिससे भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होता है। सृष्टि हुए जीवों को धर्मादि पुरुषार्थ साधन चतुर्थ में। जिनको पुरुषार्थ सिद्ध हो गया हो, उनका तत्तन्मर्यादा में स्थापन करना पंचम स्कंध में। अनन्तर स्थापित जीवों में से कुछ जीवों पर अनुग्रह करना षष्ठस्कंध में। पुष्टि में प्राप्त कुछ जीवों पर अनुग्रह, एवं कुछ जीवों पर अनुग्रह न करना, इस विषमता-दोष दूर करने को वासना का वर्णन है, जैसी जिसकी वासना, वैसा उसको फल देऊंगा, इस प्रकार की मर्यादा का रक्षण किया सप्तमस्कंध में। फिर वासना से बंधन न हो, इसलिये सद्धर्म अष्टमस्कंध में। फिर सद्धर्म के पालन द्वारा निवृत्त होने पर भक्ति का वर्णन नवमस्कंध में। अनन्तर भक्तों को प्रेम, आसक्ति, और व्यसन पर्यन्त निरोध का वर्णन दशमस्कंध में। आसक्त भक्तों की स्वरूप में व्यवस्थिति एकादशस्कंध में। इस प्रकार सुव्यवस्थित भक्तों को भगवदाश्रय का वर्णन द्वादशस्कंध में है। यह भक्तिमार्गीय स्कंधव्यवस्था कही है। इस प्रकार श्री भागवत द्वारा भगवदाश्रयरूप महाफल की प्राप्ति होती है। श्रीमदाचार्य कहते हैं कि "एतद्वारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः। अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्ति प्रयच्छति। धारणं पाठस्तस्य भगवद्रूपत्वात्, तेन रूपेण भगवान् एव धृतः, हृदि स्थितः भगवान् यत्कार्यं करिष्यति तदनेनापि करिष्यति, अर्थतश्चेत् परितः ज्ञातः, तदा इदमित्यन्तया ज्ञानं भक्त्यङ्गमिति ज्ञातः सन् भक्ति प्रयच्छति। इस भागवत के स्वरूप को धारण करने से साक्षात् भगवान् हृदय में पधारते हैं। भागवत का धारण पाठ से होता है। इसका भगवद्रूप होने से, इस रूप से भगवान् पधारकर हृदय में विराजते हैं। हृदय में स्थित भगवान् जो कार्य करते हैं वही कार्य श्री भागवत करता है। यह परम फल है। यदि ठीक-ठीक भागवत का अर्थ जान ले तो भगवत्स्वरूप का यथार्थ ज्ञान भक्ति का अङ्गभूत होने से भक्तिफल का दान करता है।

श्री बल्लभाचार्य ने सर्व श्रुतियों का समन्वय किया है, 'यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयति' इत्यादि वाक्यानुसार पतिव्रता स्त्री अपना गूढभाव अपने पति के ही आगे कहती है, आप वाक्पति हैं। बल्लभाख्यान में भी श्री गोपालदास जी ने कहा है कि 'सारस्वती तजी आवि' अर्थात् अन्य किसी के द्वारा श्रुत्यादि के भाव का वर्णन यथार्थ नहीं कहा गया था, इसलिये सारस्वती के मन में जो मानसी व्यथा थी, वह वाक्पति द्वारा ही दूर की गई, इसी प्रकार 'श्रीभागवतगूढार्थ-प्रकाशनपरायणः' आपने श्री भागवत का भी गूढार्थ प्रकाश किया, जो कि अन्य किसी ने नहीं

किया। श्री महाप्रभु जी भागवतार्थ में आज्ञा करते हैं कि 'शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे। एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते ॥' सुबो० 'अर्थत्रयं तु वक्ष्यामि निबन्धेऽस्ति चतुष्टयम्।' शास्त्र, स्कन्ध, प्रकरण, अध्याय, वाक्य, पद, और अक्षर, ये सात अर्थों का एक समन्वय, जिस प्रकार भगवान् पद्गुणैश्वर्ययुक्त हैं, उसी प्रकार भागवतार्थ भी स्कन्धादि अर्थ युक्त है। मनुष्य इस प्रकार जानने से ज्ञान का अवान्तर फल जो संसार से मुक्त होना, उसे प्राप्त करता है। इन सात अर्थों में से पहिले चार अर्थ भागवतार्थ प्रकरण में कहे गये हैं। शेष तीन श्री सुबोधिनी में कहे हैं, इस प्रकार भागवत के गूढार्थ समझाने के लिये भागवतार्थ प्रकरण, तथा श्री सुबोधिनी ये दो ग्रंथ श्री महाप्रभुजी रचित वैष्णवों को भागवतार्थ जानने के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। श्रुति में 'द्वादशाङ्गो वै पुरुषः' द्वादशाङ्ग पुरुषोत्तम कहा है। इसी प्रकार भाग० निबन्ध 'इतीदं द्वादशस्कंधं पुराणं हरिरेव सः' 'पुराणं हरेः स्वरूपं शब्दतोऽर्थतश्च' अर्थात् भागवत के द्वादशस्कंध पुरुषोत्तम के बारह अङ्ग हैं। अतः श्री भागवत श्रीकृष्ण स्वरूप शब्द से तथा अर्थ से है।

श्रीभागवत श्री जी का स्वरूप है, इस भावना का विस्तृत विवरण।

श्रीनाथ जी के विग्रह में मुनि, पक्षी, भेष, सर्प, नृसिंह, नाग, मयूर, गौ, पर्वत, शङ्ख, सखा, इत्यादि चिह्न हैं। श्रीमस्तक पर शुक चिह्न है, वह श्रीशुकदेवजी की वाणी भागवतार्थ, स्कन्धार्थ, अध्यायार्थ, प्रकरणार्थ, वाक्यार्थ, पदार्थ, अक्षरार्थ अर्थात् प्रकृति प्रत्ययार्थ श्रीजी हैं। अतः शुकचिह्न है। तथा गोयुग्म चिह्न गोरूपा पृथिवी, वृषभ रूप धर्म से संवाद प्रथम स्कन्ध का स्मारक है। वहां नाग का चिह्न, प्रथम स्कन्ध की कथा का सूचक है। ब्राह्मण बालक शृङ्गी ऋषि द्वारा शाप होने से तक्षक के भय से राजा परीक्षित श्रवण भक्ति के अधिकारी हुए। कालसर्प से भयभीत होकर श्री जी के नामश्रवण से ही कालभय निवृत्त होता है। द्वितीय स्कन्ध के वक्ता शुकदेव जी सद्गुरु के उपदेश द्वारा संसारभय निवृत्त होता है। एवं इनके समान सर्व जीवों के सुहृद श्रीकृष्ण में प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न कराने वाले गुरु सर्व शिरोमणि होते हैं, इस भाव को प्रकट करने के लिये श्री मस्तक पर शुकचिह्न है। वह शुकदेव जी का स्वरूप है। तृतीय स्कन्धार्थ दक्षिण स्कन्ध के ऊपर पीठक में एक 'मुनि' विराजते हैं। वे कपिलदेव मुनि सांख्याचार्य, देवहूति जिनकी माता है, कैवल्यमुक्ति के दाता हैं, प्रकृति का त्यागकर पुरुष पुष्करपलाशवत् निर्लेप हो भक्ति सहित सांख्य ज्ञान द्वारा सिद्धि को प्राप्त होता है। उक्त तृतीय स्कन्ध का स्मारक मुनि का चिह्न है। चतुर्थ स्कन्ध वामभाग श्रीजी के ऊर्ध्व हस्तपीठिका में दो 'मुनि' के आकार हैं। वे नरनारायण रूप श्रीजी ने ही धारण किये हैं। नीचे गौ का चिह्न है, वह पृथिवी रूप गाय को कामधेनु सद्गुरु कर सबके मनोरथ पूर्ण करने के लिये आदि राज पुत्र का अवतार श्री जी ने ही धारण किया है। इस चतुर्थ स्कन्ध की कथा का स्मारक है। पञ्चम स्कन्ध में पृथ्वी विभाग, ज्योतिष विभाग का श्रीशुकदेव जी ने वर्णन किया है। नीचे चरणारविन्द में 'पर्वत' का चिह्न है। वह आदि ब्रह्म कल्प में जो श्वेतवाराह कल्प है, उसमें जी पृथिवी है, उसके स्तनमण्डल के आकारसदृश है, वह पृथिवी समग्र भगवच्चरणतल के स्पर्श से पवित्र है। और चरण स्थित चिह्नों से चिह्नित है। ब्रह्मादि देवता भी इसमें जन्म लेकर भगवद्भक्ति द्वारा कृतार्थ होते हैं। भगवच्चरण स्वरूप गिरिच्छत्र की छाया में हम सब भक्तजन रहते हैं। जिस प्रकार श्री गोवर्धन पर्वत भगवच्चरण चिह्न से चिह्नित हैं, उसी प्रकार हमारा देह है, इस अभिलाषा को ब्रह्मादिक करते हैं कि पर्वत के सदृश हमारा भार दृढ रहे। भगवच्चरण

तल स्पर्श करने वाली पृथिवी से ही भगवान् के भक्तों के शरीर बने हैं। अतः श्रीजी के चरण के नीचे पर्वत का चिह्न है। भगवच्चरण के प्रभाव से ही सब समुद्र पृथ्वी मर्यादा में वर्तमान हैं। समुद्र में ही शङ्ख होता है। वह समुद्र का सूचक है। पञ्चम स्कन्ध में कालचक्र का भी वर्णन है, वह कालचक्र मेषराशि से प्रारम्भ होता है, अतः मेष राशि का चिह्न है। नृसिंह, सिंह राशि का गो वृष राशि का आकार है। भारतवर्ष में सेव्य नर नारायण हैं। इत्यादि समग्र पृथिवी-मण्डल की वस्तु श्रीजी की आज्ञा में रहती है। अब वामहस्त ऊर्ध्व है, वह ज्योतिष चक्र भूभुवः स्वः आदि सप्तलोकों को धारण करने वाला है। इसके सम्बन्ध से तत्तल्लोकनिवासी इन्द्रादिक अनेक प्रकार के सुख प्रजापति के आनन्द पर्यन्त भोगते हैं। इस श्रीहस्त के सर्वलोक ऊपर के आधेय हैं। और वाम अंगुली का अग्रभाग आधार है। इस मर्यादा लीला का स्वरूप पञ्चम स्कन्ध में है। इसी भाव को सूचन करने वाला ऊर्ध्व वाम श्री हस्त है। एक गाय चरणारविन्द के पास है। चरणारविन्द पृथ्वी स्वरूप है। इसी पृथ्वी अदिति के दो स्वरूप हैं। भूमण्डल, तथा द्योमण्डल, गोस्वरूप हैं। द्योमण्डल कामधेनु गो स्वरूप है। 'इयं वाव अदितिः, असौ वाव अदितः इति श्रुतेः, पृथिवी वाव गोः, इति श्रुतेश्च' अर्थात् दोनों गोस्वरूप हैं।

षष्ठ स्कंध का भाव सर्वलोक निवासी जीव जब मर्यादाधर्म के यथावत् परिपालन में असमर्थ हो जाते हैं, तब कालकर्म स्वभाव द्वारा पीड़ित होकर अत्यन्त दीन हो जाते हैं। उस वक्त जीवमात्र के ऊपर वात्सल्य के कारण भगवान् अनुग्रह करते हैं, जिस प्रकार गाय अपने बछड़ा के ऊपर अत्यन्त प्रेम करती है, यद्यपि वह बछड़ा गाय का अपराध भी करता है, तथापि वात्सल्य को नहीं छोड़ती। यह अनुग्रह का स्वरूप गाय में है। पुष्टि-पोषण, अनुग्रह कृपा, इनका एक ही अर्थ है। अतः निज जनरूपी वत्स के ऊपर मेरा गाय के सदृश वात्सल्य-अनुग्रह है। इस भाव का सूचन द्वितीय गौ का चिह्न करता है। इस प्रकार दो गाय के चिह्न पुष्टि को जिसका षष्ठ स्कन्ध में वर्णन है, सूचित करते हैं। आपके वाम भाग में नृसिंह जी का चिह्न है। वह भी भक्तोद्धारक आप ही ने धारण किया है। सप्तम स्कन्ध में ऊति लीला है नृसिंह रूप धारण करके ऊति लीला दृढ दिखाई है। अर्थात् जीव में दो प्रकार की वासना रहती है। एक शुभ वासना, दूसरी अशुभ। जो पुरुष भक्तिमार्ग में चलने वाले भक्त की अवज्ञा, एवं स्वाभिमान द्वारा शास्त्रोक्त आज्ञा की उपेक्षा, अर्थात् पालन नहीं करता है, और भगवान् से द्वेष करता है, भगव-दीय का तिरस्कार करता है, उन जीवों की असद्वासना, और जो अभिमान को छोड़ कर जीवमात्र पर दया प्रेम करता है एवं भक्त की आज्ञा, तथा शास्त्रोक्त भगवान् की आज्ञा का पालन करता है, सर्वत्र भगवद्बुद्धि करता है, सद्वासना होती है। इन दोनों वासनाओं के कर्ता भगवान् हैं। सद्वासना वाले प्रह्लाद सदृश, असद्वासना वाले हिरण्यकशिपु सदृश होते हैं परन्तु भगवान् अपने भक्तों को यक्षबलिन्याय से उचित अनुग्रह कर कृतार्थ करते हैं। इसी प्रकार श्रीजी भी करते हैं। यक्ष जिस प्रकार की योग्यता वाला होता है, उसे उसी प्रकार की बलि दी जाती है, यह यक्ष बलिन्याय है। इस सप्तम स्कंध के स्मरण कराने को श्रीजी के वाम-भाग में नृसिंह जी का आकार है। अष्टम स्कंध में मुख्य लीला अमृतमंथन की है। बलि राजा का सर्वसमर्पण आपने अङ्गीकार किया, सर्वोपकार की बुद्धि तथा सर्वस्व निवेदन की बुद्धि जब भगवान् ही कृपा करते हैं, तब होती है। अमृत निकालने के लिये भगवान् ने देवताओं को सलाह दी, देवता असुर सब मंथन करने को तैयार हुए। मंदराचल को मंथनदण्ड बनाया, आप कूर्म रूप धारण कर आधार हुए, किन्तु रज्जु बिना मंथन हो नहीं सकता, अतः वासुकि नाग को रस्सी बनाया, वह नाग का चिह्न श्रीनाथ जी के वाम भाग में है।

इससे यह सूचित हुआ कि वासुकि नाग की तरह भक्त जीव को परिश्रम करके भगवान का कार्य करना चाहिये। इस प्रकार परोपकार करने की बुद्धि तब होती है, जब यह जीव १४ मन्वन्तर में १४ प्रकार के सद्धर्म हैं उनका परिपालन कर त्रिमूर्ति रूप भगवान की प्रसन्नता से कृतार्थ होता है। समुद्र मंथन करने में वासुकि प्रमुख है। श्रीनाथ जी मुष्टि बांध कर द्वार पर खड़े वामन जी की लीला का स्मरण करा रहे हैं। मेरे भक्त ने सर्वस्व समर्पण कर दिया है। 'अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनि वेदनम्। यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥' यह श्रीमदाचार्य चरण का उपदेश है। जिस प्रकार बलि राजा ने वामन जी को आत्मसर्वस्व, आत्मनिवेदन किया, और भगवान भी कृतघ्नतादोष निवृत्त करने के लिये द्वारपाल बन कर सदा के लिये खड़ा हो गये। उसी प्रकार पुष्टिमार्गीय आत्मस्वरूप अपना सर्वनिवेदन करने वाले भक्तों के अर्थ, में द्वार पर खड़ा हूँ इस अष्टमस्कंध के भाव को बतलाने के लिये श्रीजी निकुञ्ज द्वार पर खड़े हैं। नवम स्कंधार्थ ईशानुकथा (भक्ति) है।

भक्ति में स्त्री पुरुष दोनों को ही अधिकार है। बिना प्रयोजन (कारण) प्रेम करना उत्तम भक्ति का स्वरूप है। जो वैष्णव धर्म का यथावत् प्रतिपालन करता है, उसका भगवान में प्रेम होता है। इस प्रकार के भक्तों के लिये भगवान अवतार लेते हैं सूर्यवंश में दशरथजी के यहाँ श्रीरामचन्द्र का अवतार और चन्द्रवंश में वसुदेव जी के यहाँ श्री कृष्णचन्द्र जी का अवतार हुआ। इस जगत में निरुपाधि प्रेम भक्ति का स्वरूप मोरपक्षी के जोड़ा में है। वह भाव नवम स्कंध में वर्णित है। उसके स्मरण करने के लिये मयूर के जोड़ा का आकार श्री जी के वाम भाग पीठिका में है। मयूर का निष्कारण प्रेम मेघ के साथ होता है।

दशम स्कंध में पाँच प्रकरण हैं। प्रथम ४ अध्याय का, द्वितीय अष्टादश का, तृतीय अष्टादश का, चतुर्थ इक्कीस का, पंचम ६ अध्याय का है। वहाँ प्रथम प्रकरण में प्राकट्य चतुर्व्यूहविशिष्ट स्वरूप पुरुषोत्तम का संपूर्ण शक्तियों के साथ प्रवंच में लीला करने के लिये हुआ है। श्रीनाथ जी अपने लीलापरिकर सखाओं के साथ कठि में हस्त धरकर और वाम बाहु ऊर्ध्व करके नृत्य लीला का भाव दिखा रहे हैं। तामस, राजस, सात्त्विक भक्त जीवों में गुण हैं। अतः श्रीजी की पीठिका में सर्पनाग तामस हैं, पशु-पक्षी, मेघ, गाय, मयूर, शुक राजस हैं। मुनि तीन सात्त्विक हैं। राजस सात्त्विक नृसिंह जी हैं। अत्यन्त तामस नागकालीय और सुदर्शन हैं, इनका आपने उद्धार किया है। यह तामस प्रकरण की लीला सूचक तथा गायों में अरिष्टासुर और मेघलीला कर व्योमासुर का उद्धार किया, यह राजस प्रकरण स्मारक चिह्न है। सात्त्विक प्रकरण में सर्वमुनियों के लिये ब्रह्मवाद का उपदेश कुरुक्षेत्र ग्रहण प्रसङ्ग में किया।

इस लीला के स्मारक तीन महर्षियों के चिह्न हैं। नृसिंह जी कोस्तुभमणि के अवतार हैं, कोस्तुभमणि भक्तद्वेषियों का संसार में पतन कराती है। इसीसे सात्त्विक राजा युधिष्ठिर के द्वेषी कौरवादि का मोक्ष न होकर स्वर्गादि की प्राप्ति हुई, तथा रुक्मी आदि भी रामकृष्ण के द्वेष से स्वर्ग में गये मुक्त न हुए। यह सब लीला आधिदैविक स्वरूप कोस्तुभमणि की है। आधि-दैविक स्वरूप गुप्त रहता है। आधिभौतिक आधिदैविक का स्मरण कराता है। वामहस्त ऊँचा करके गायन की रक्षा की, पशुपक्षियों को निरोध सिद्ध किया, पर्वत का आकार चिह्न, श्रीगोवर्धन पर्वतधारण लीला का स्मारक है भगवान् षडैश्वर्यान् हैं। ऐश्वर्य गुण द्वारा जगत का ईशान करते हैं। जगत् जड़ तथा चेतन है, उसके अन्तर्यामी नृसिंह जी नियामक हैं। देव ऋषि मनुष्यों को उत्तमगति देने वाले हैं। सबके बल हैं। सप्तवर्ष की वय में गोवर्धन धारण

किया, यह वीर्य है। सर्व देव-मुनि-वेद स्मृतिपुराण आपका यश बखान कर उच्चतम होते हैं। यह यश श्रीकण्ठ में वनमाला श्रीलक्ष्मी जी ने पहना कर अपना पति बनाया, वह वनमाला श्री लक्ष्मीजी का स्मरण करा रही है। यह श्री गुण अपना श्रीहस्त ऊँचा कर यह बतला रहे हैं कि ज्ञान वही है, जिससे सर्वोच्च गति हो एवं सर्व अपराधों को भस्म कर दे, यह श्री हस्त उच्च ज्ञान का चिह्न है। मुनि जीव आपके ऊपर हैं। आप उनके नीचे निरहंकार होकर द्वार पर खड़े हैं। यह ज्ञान हुआ। अपना स्थान गोलोक, लक्ष्मी पत्नी, सुन्दर सुन्दर महल, उसमें अने भोग्य-वस्तु तथा अनेक दासी दासादिका परित्याग करके श्रीधुन्दावन के निकुञ्ज में गुञ्जा धातु आदि से विभूषित दिगंबर विराजते हैं, यह वैराग्य हुआ। भक्तों ने आपका अपने में निरोध किया, एवं आपने भक्तों का अपने में निरोध कर प्रपंचासक्ति छुड़ाकर संसार से मुक्त किया। भक्तों ने आपको संसारी एवं प्रपंचासक्त की तरह कर दिया। इस प्रकार दशमस्कंधका भाव सूचित करते हैं।

एकादश स्कंध में मुक्ति लीला का वर्णन है। अष्टाविंश (२८) तत्त्वात्मक विश्व में जीव प्रकृति माया के सम्बन्ध से अपनी देह में अहंता ममता कर रहा है। इसके दूर होने पर ही ज्ञान-भक्ति द्वारा मोक्ष होता है। इसके स्मारक दो सर्प के आकार हैं। सर्प के ऊपर जब केंचुली (केंचुआ) हो जाती है, तब सर्प अन्धा हो जाता है, और उसी केंचुली के भीतर घुसा रहता है। केंचुली का त्याग करने पर ही स्वतन्त्र एवं अन्धापन से दूर होकर देखता है। इसी प्रकार जीव इन्द्रियों के भोगों में जब आसक्त हो जाता है, तब अन्धा हो जाता है। जिस समय विषय रूप केंचुली को त्याग देता है, उसी समय उसे कुछ दीखता है। एक इन्द्रिय से अनेक इन्द्रियों का कार्य करता हुआ भी इन्द्रियों के आधीन होने से उसकी गति नहीं होती। इस प्रकार की स्थिति जब विश्वमाया निवृत्ति हो जाती है, तब होती है। भगवान् भी अहंता-ममता वालों का सा नाट्य दिखा रहे हैं। अतः व्यामोहकता का त्यागकर अप्राकृत अखण्ड सच्चिदानन्द एक रस श्रीजी का स्वरूप जानना चाहिये। 'चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं वाचो ह वाचं मनसो मनः' 'विश्वतश्चक्षुस्त विध्वतोमुखो विश्वतोबाहुस्त विश्वतस्पात्' 'अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आप विरुद्ध धर्माश्रय हैं। आपके स्वरूप में द्विहस्त द्विपाद इत्यादि द्वादशांगो वै पुरुषः, द्वादशांग पुरुष रूप द्वादश स्कन्धात्मक शब्द रूप (नाम रूप) से क्रीडा करते हैं।

द्वादश स्कन्ध में आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, तीन प्रकार का आश्रय है। तीनों में परस्पर सापेक्षता है। एक के बिना दूसरे की स्थिति नहीं होती। अधिभूत प्रपञ्च, आध्यात्मिक पुरुष जीव, आधिदैविक अन्तर्यामी अक्षर है। अब इनमें अवलम्ब का विचार किया जाय तो दो अवलम्ब, और एक आश्रयदाता हो, और इन तीनों के स्वरूप का ज्ञाता अलग हो तब ही बन सकता है। जिस प्रकार दश पुरुष थे, उनमें से एक गणना करने वाला अपने को भूल कर गणना करता है, तब नव ही गणना में होते हैं, दश पूरे नहीं होते। इसी प्रकार दशों ने गिनती की, तब भी नव ही गिने गये, दस नहीं गिने गये। तब ग्यारहवें ने आकर दश संख्या गिन कर पूरी कर दी। अर्थात् समुदाय के भीतर रहने वाला अपने स्वरूप से बाहर नहीं रहता, इसीलिये अपने स्वरूप को नहीं जानता, समुदाय से जो बाहर है, वह उसके स्वरूप को जानता है। इसी प्रकार आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, परस्पर अपने स्वरूप को नहीं जानते, इनसे जो विलक्षण श्रीपूर्ण पुरुषोत्तम, वह इन तीनों के स्वरूप को जानते हैं, एवं अपने स्वरूप को भी जानते हैं। अतः द्वादश स्कन्ध का अर्थ आश्रय है। इसका लक्षण द्वितीय स्कन्ध अ० १ श्लोक ९ में 'त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः' कहा है। अधिभूतादि त्रितय में एक भी अलग होता है

तो फिर प्राप्त नहीं होता, अर्थात् एक भी, दोनों जब होंगे तभी प्राप्त हो सकेगा, अतः 'सापेक्ष-मसमर्थ भवति' सापेक्ष असमर्थ होता है। इसलिये परस्पर भी एक को एक नहीं जान सकता। अन्तर्यामी भी अपने व्यापार में लगा रहता है। इनके बीच में प्रविष्ट भी त्रितय को नहीं जानता। अतः भगवान् परब्रह्म परमात्मा ही आश्रय हैं। यह द्वादश स्कन्ध में कहा है। इसी का स्मरण कराने को श्रीजी सबसे अलग कन्दरा के द्वार पर ठाड़े हैं। तीन ऋषियों के आप आश्रय हैं, एवं सर्वाश्रय हैं। इस प्रकार समस्त श्रीमद्भागवतायं शास्त्रायं, श्रीजी के स्वरूप में दर्शन कर शुद्धाद्वैत सम्प्रदायाचार्य श्री वल्लभ प्रभु ने स्ववंश तथा सेवक भक्तों के सेवार्थ श्रीजी का स्वरूप सेव्यप्रधान बतलाया है।

श्री वल्लभाचार्य अहर्निश श्रीमद्भागवत की आवृत्ति श्रीमुख से करते थे एवं सबको उपदेश करते थे। 'तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम। वदद्भिरेव मतं मधेयमित्येव मे मतिः।' यह अष्टाक्षर भी द्वादश स्कन्ध का स्मारक है। प्रथम स्कन्ध से नवम पर्यन्त कृष्ण सदानन्द के अर्थ का वर्णन स्वरूप दशम स्कन्ध, एकादश 'मम' का और द्वादश आश्रय 'शरण' का अर्थ है। इसको जानकर जो निरन्तर उक्त मन्त्र का अभ्यास करता है, वह समस्त श्रीभागवत का ही अभ्यास करता है। प्रथम से पंचम स्कन्ध तक 'कृषिभूवाचकः शब्दः' इसका अर्थ हुआ। षष्ठ से नवम तक 'णश्च निर्वृतिवाचकः' इसका और 'तयोरेकं परं ब्रह्म' यह श्रीकृष्ण शब्दार्थ दशम स्कन्धार्थ है। इसी प्रकार जीव के आश्रय श्रीपूर्णपुरुषोत्तम शरण शब्दार्थ द्वादश स्कन्धार्थ है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज' इस प्रकार उक्त भावना श्रीमद्भागवत की है। फल प्रकरण में भगवान् ने तामसी भक्तों को स्वरूपानन्द का दान करके सम्पूर्ण निरोध सिद्ध किया है। यह पहले कह चुके हैं कि भगवान् स्वयं रसस्व हैं। अन्य भक्तों को आनन्द प्रदान करते हैं, जिस जीव पर भगवान् की कृपा होती है, उसको स्वयं भजनानन्द का दान (स्वरूपानन्द का दान) करते हैं। भजनानन्द विषयानन्द तथा ब्रह्मानन्द से भिन्न है एवं उत्कृष्ट है श्रेष्ठ है। इसलिये पुष्टिमार्ग में इसको परमफल माना गया है। किन्तु इसकी प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह बिना नहीं हो सकती 'नायमात्मा' अनुग्रह दीनता बिना नहीं होता। रसों में श्रेष्ठ होने से भगवान् शृङ्गार रसात्मक हैं। रसात्मक स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर जीव आनन्द भोगता है। भगवान् पूर्ण ज्ञानक धन परमानन्द स्वरूप की समस्त कामादि लीला मुख्य है, अनुकरण मात्र नहीं है। इसमें प्रिया विप्रयोग जनित क्लेशादि होने से भी पूर्णत्व भङ्ग नहीं होता। क्योंकि प्रभु विरुद्धधर्माश्रय हैं। यदि कहो कि भगवान् तो आप्तकाम हैं, फिर उनको कामादि लीला करने का प्रयोजन भी तो नहीं मालूम पड़ता, इसलिये मुख्य न मानकर अनुकरण मात्र क्यों नहीं मान लेते? इसका उत्तर—आपका कहना ठीक है, परन्तु भगवान् का स्वरूप एक श्रुति ही द्वारा जाना जाता है। श्रुति में 'सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः' ब्रह्म सर्वकामरूप, सर्वरस रूप, सर्वरस भोक्तृ रूप है। तैत्तिरीय श्रुति में भी 'रसो वै सः' ब्रह्म को रसरूप कहा है। रस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे रसना से ग्रहण होने वाले गुण में द्रव (पतले) द्रव्य में, सारभूत अर्थ में आस्वाद्य-आनन्दजनक वस्तु में, रस शब्द प्रसिद्ध है। किन्तु यहां पर तो रस शब्द का अर्थ 'रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेश आकाश आनन्दो न स्यात्' 'एष ह्येव आनन्द याति' अर्थात् परमात्मा रसस्वरूप है, रसात्मक स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर जीव आनन्द भोगता है। जो हृदयाकाश में रसरूप आनन्द न हो तो कौन सा जीव प्राणधारण कर सकता है अर्थात् आनन्द बिना प्राणधारण ही नहीं हो सकता। वस्तुतः रसरूप भगवान् ही जीवों को आनन्द देते हैं, उक्त प्रमाण से स्पष्ट हुआ कि हृदय में रहने वाला जीवों को आनन्द देने वाला, जो आनन्द वही

रस है। उपनिषद में आनन्द की गणना प्रत्येक के आनन्द से शतगुणी की है। यह गणना तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से अतिमहत्त्व की है।

मनुष्य के आनन्द से प्रारम्भ करके अनन्तर मनुष्य गन्धर्व, देवगन्धर्व, पितृगण, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति पर्यन्त आनन्द की गणना करने के बाद ब्रह्म के आनन्द का निर्देश किया है। अर्थात् मनुष्यादि समस्त के आनन्द से ब्रह्मानन्द को अधिक कहा है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' उक्त श्रुति प्रतिपादित ब्रह्मवित्, (ब्रह्म को जानने वाला) परं-रसस्वरूप आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त होता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' इसके अनन्तर, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय का वर्णन करके 'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा' कहा है। आनन्दरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर 'सोऽनुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' वह ब्रह्म के साथ अभिलषित समग्र भोगों को भोगता है। उक्त श्रुतियों से यहां रस शब्द का अर्थ आनन्द प्राण धारण प्रयोजक हृदयाकाश में स्थित आनन्दजनक है। अतः सिद्ध हुआ कि, हृदय में स्थित, जीवों का, आनन्द को उत्पन्न करने वाला जो आनन्द, वह रस है। यद्यपि आनन्द उत्पत्ति रूप कार्य का शरीर के प्रत्येक अवयव में अनुभव होने से सर्वशरीरव्यापी है। तथापि 'समानसीन आत्मा जनानाम्' इस श्रुत्यन्तर से मन में ही आनन्द की विशेष स्थिति निश्चित की गयी है। इस प्रकार 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस भरतमुनि सूत्र प्रमाण से रसशास्त्र प्रणाली (रीति) द्वारा जायमान जो मन का विकार प्रमोदात्मा वह रसात्मक भगवान् का ही कार्य रूप है। 'एष ह्येव आनन्दयाति' इस श्रुतिप्रमाण से आनन्द रूप ही प्रमोदात्मा, भगवान् का अंश सूत है। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इसी आनन्द की मात्रा से अन्य समस्त प्राणि उपजीवन करते हैं। इसी से प्रकृष्यमाण उसमें लोगों को रसत्वप्रतीति होती है। इस प्रकार का प्रयोग ब्रह्मादिकों में पुरुष प्रयोग की तरह भाक्त (गोण) है।

यदि कहो कि आनन्द मात्र का स्वरूप ही इस प्रकार का है, प्रणाली में ही प्रकार विशेषता क्या है? इसके उत्तर में—रस स्वरूप ही ऐसा है। इसलिये प्रणाली में ही विशेष है। तो इसमें क्या प्रमाण है। इसका उत्तर—जिस प्रकार लौकिक रस रीत्यनुसार प्रकट होता है, उसी प्रकार लौकिक दृष्टान्त द्वारा अलौकिक में भी अनुमान कर सकते हैं। 'अलौकिको रसः प्रणालीविशेषाभिव्यञ्जकः, रसत्वात् लौकिकविप्रयोगादिरसवत्, कारणधर्माणामेव कार्योऽभिव्यक्तेः, संदेहनिरासाच्च।' अलौकिक रस प्रणालीविशेष से अभिव्यञ्जित होता है, रस होने के कारण लौकिक विप्रयोगादि रस की तरह। कारण धर्मों की ही कार्य में अभिव्यक्ति होने से, और संदेह निरास होने से। ब्रह्मता होने से अनित्य भी नहीं हो सकता। अतः मन का विकार भी नहीं है, अनेक रूपता दोष भी नहीं है। क्योंकि अनेकरूपता प्रणाली से होती है। इसलिये वास्तविक रूप का बाध नहीं होता।

'अनंतरूपम्' इस श्रुतिप्रमाण से अनंतरूप भी वास्तविक है। पूर्व कहने से सिद्ध हुआ कि परब्रह्म ही रसशास्त्र में कहीं प्रणाली (रीति) के अनुसार हृदय में आविर्भूत सद्रस है। शास्त्र में प्रगल्भा के लक्षण में 'रतिप्रीतिरानन्दात्संमोहः' रतिप्रीति में आनन्द से संमोह होता है। इसका उदाहरण 'नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः, (न) क्षापामि यदि किञ्चिदपि (न) स्मरामि' है। आनन्द तामसप्रधान होता है। अतः वहां चिदंशान्यभूत (तिरस्कृत) हुआ रहता है। यदि चिदंशान्यभूत न हो तो अनुभव ही असम्भव हो जाय। अतः 'कृषिभूवाचकः',

इस श्रुति में सदानन्द कृष्ण कहा है। यद्यपि महानन्द में सत्ता का भी वैसा भान नहीं होता, तथापि सत्ता को सर्वत्र होने से अनुमान तो होता ही है।

यदि कहो कि भू शब्द का अर्थ सत्तावाचक होने से सत्तानन्द होता है, न कि सदानन्द। इसका उत्तर-सत्ता को आत्मरूप होने से धर्मता नहीं है। यह व्याकरणमत से सिद्ध है अतः परब्रह्म को सदानन्द होने से प्रणाली द्वारा आविर्भूत होने पर भी सदानन्दत्व ही है। यदि कहो कि पूर्वोक्त 'समानसीन' श्रुति द्वारा अतिगुप्त ब्रह्म को रसत्व कहा है तो बाहर आविर्भूत भगवान् को गुप्त न होने से रसत्व का अभाव होगा। इस शंका के उत्तर में हमको यही कहना है कि अब तक जितना वर्णन किया है उसमें भगवान् के बाहर प्रकट का नहीं, किन्तु हृदय में प्रकट का उपपादन किया है। यह प्रसङ्ग 'बर्हापीडम्' इस श्लोक के स्वतन्त्र वर्णन में कहा है। भगवान् जिस काल में बाहर दीखते हैं उस काल में भी आसक्तिभ्रमन्याय से मनमें रहनेवाले ही दीखते हैं, अतः गुप्त ही होने से रसत्व का बाध नहीं होता। जब कोई विप्रयोग से व्यग्र विदेश में जाने वाले अपने इष्ट जन का निरन्तर ध्यान करता है, तब ध्यान महिमा से बाहर अपने इष्ट को प्रत्यक्ष कर देखता है। इसको आसक्तिभ्रमन्याय कहते हैं। तो फिर वृत्तिविशेष रूप हुए। भगवान् नहीं रहे। इसका उत्तर-लोक में वृत्ति द्वारा ग्राह्य पदार्थ देशकाल से परिच्छिन्न होते हैं अतः उस देश में इष्ट का अभाव होने पर भी विरहादि में संस्कार प्रबल होने के कारण वृत्ति के निर्गमन से व्याप्ति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह नहीं, क्योंकि देशकाल से परिच्छिन्नता नहीं है। किन्तु अनन्य भक्ति द्वारा लभ्य होने से जिस प्रकार की भक्ति उसी प्रकार का वहाँ आविर्भाव होता है। वह भक्ति मन का धर्म है। इसलिये भक्ति द्वारा प्रकट होने से बाहर आविर्भूत को मानसी न होने के कारण वृत्ति विशेष रूप नहीं है, भगवान् नहीं हैं।

मायावादियों के मतमें वृत्ति से अवच्छिन्न (आवृत) और विषय से अवच्छिन्न दोनों चैतन्यों का एक गतिभाव होने से बाहर स्थित को वृत्त्यवच्छिन्न होने पर भी वृत्तित्व के अभाव की तरह कहा जाता है। शुद्धाद्वैतसिद्धान्त में तो पहले कथनानुसार ही है। शंका-ठीक है आपके कथनानुसार गुप्त ब्रह्म को रसत्व है तब भी प्रकृत के अनुरोध से शृङ्गारात्मकता ही कहनी चाहिये। शृङ्गारात्मकता में परस्पर एक की दूसरे की अपेक्षा होने से स्त्री पुरुष दोनों की आलम्बनाधीन स्थिति होती है। इसलिये यहाँ भी अङ्गीकार करना चाहिये। इसका उत्तर, इस प्रकार मत कहो, यहाँ आलम्बन का भी सत्त्व है। 'कामिनां दर्शयन् दैन्यं' इस श्लोक के सत्ताईस अध्याय की टिप्पणी में रसात्मक, और रसवान् भगवान् ही हैं, यह कहा है। "पूर्वमात्मारामत्वोक्त्या तादृशीः पिसन् यन्नायिकाऽधीनस्त्वमेवं भजते, तेन रसात्मको रसवाञ्छ भगवानेव, अन्ये तु कामिनो रसाभासिनो मलपूर्णं वस्तुनि आसक्त्या बीभत्सरसपूर्णं भ्रान्ताः सन्तस्तादृशेष्वेव दैन्यमात्रफलं लभन्त इति ज्ञाप्यते।" पहले आत्माराम कहे, आत्माराम होते हुए भी जो नायिका की अधीनता इस प्रकार स्वीकार करते हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि रसात्मक रसवान् भगवान् ही हैं। अन्य सब कामी रसाभासी मलपूर्ण वस्तु में आसक्ति द्वारा बीभत्सरसपूर्ण, भ्रान्त होते हुये, इस प्रकार की नायिकाओं में दैन्यमात्र फलको प्राप्त होते हैं। अतः यहाँ भी रसात्मक रसवान् भगवान् ही हैं। लौकिक की तरह परस्पर साक्षात्ता नहीं है। आलम्बन भी भगवान् ही हैं। इसमें विरोध नहीं, क्योंकि श्रुति में कहा। श्रुति सर्वसम्मत मूर्द्धन्य होती है। जिस प्रकार अन्य लोगों को काम द्वारा कामवत्त्व है, काम को तो स्वतः ही कामवत्त्व है। उसी प्रकार औरों को रसद्वारा रसवत्त्व है। रसको तो स्वतः ही रसत्व है। इस लिये विरोध नहीं। अतः बाहर आविर्भूत भगवान् को रसत्व होने में कोई बाध नहीं होता।

रसों में शृङ्गार रस को भरत सूत्रादि में मुख्य कहा है। वह शृङ्गार रस रत्याख्य स्थायि भाव स्वरूप है। 'व्यक्तः स तैर्विभावार्थः स्थायिभावो रसः स्मृतः' (स्थाकाव्यप्रकाश) अतः भगवान् का रसरूपत्व, रसवत्त्व अवश्य कहना चाहिये। रसरूपत्व निरूपण-व्रजसुन्दरियों का भाव (रस के अनुकूल विकार रूप) आलम्बन विभाव, उस भाव के अनुसार ही सब करना भगवान् का रसरूपत्व है। रसरूपत्व, आलम्बनत्व, का वर्णन 'बर्हापीडम्' 'अक्षयवताम्' 'चूतप्रवाल' इत्यादि श्लोकों के विवरण में श्री आचार्य ने विशेष किया है। यहाँ तो दिङ्मात्र दिखाया गया है। भगवान् भी व्रजभक्तों में वैसे ही भाववान् होते हैं। अतः, आलम्बनत्व भी है। क्योंकि भगवान् में भाव स्वरूप से पृथक् नहीं है। नहीं तो, भावों की रसरूपता के अभाव में पूर्व श्रुति से कहा रसभोक्तापन, तथा रसरूपपन, भङ्ग हो जायगा। यह भगवद्रूप रस इस प्रकार का ही है। अतः जैसा श्रुति में कहा है, वैसा मानना चाहिये। जितनी इस रस की मर्यादा है, उतनी सभी भगवान् में है, यह मानना चाहिये। नहीं मानने पर रसत्व ही नहीं होगा। इसमें संयोग विप्रयोग दो भेद हैं। विप्रयोग में संयोग की अपेक्षा भी अधिकता है। इसको प्रकट करने के लिये प्रिया-विप्रयोग, और उससे हुए वलेशादिकों का सहन है। वास्तव में तो यह आनन्दरूप ही है। जब कि लौकिकों द्वारा रसत्व साधने के लिये भावोंको रसरूपताके अभाव में प्राप्त होता है, तब परमात्मा के विषय में शङ्कापङ्ककलङ्क क्यों करते हो। कामलीला को अनुकरण मानने पर, न तो भगवान् में ही रस प्राप्त होता है, और न व्रजभक्तों में रस की उत्पत्ति होती है। अतः अन्योन्य रस का आविर्भाव न होने से रसत्व ही वहाँ नहीं है, यह रसशास्त्र की मर्यादा है, अनुकरण नहीं। इसलिये गजहृष्टान्त सर्वत्र दिया है। 'आत्तगजेन्द्रलीलः' 'यथा मदच्युद्विरदः करेणुभिः' 'श्रान्तो गजीभिरभराडिव भिन्नसेतुः'। इत्यादि। जिस प्रकार गजेन्द्रलीला में अनुकरणता नहीं है, उसी प्रकार यहाँ भी नहीं है। अतः भगवान् शृङ्गाररस रूप हैं। संयोग, वियोग रूप शृङ्गार रस के समग्र कार्य, भगवान् का संगम आदि और उसके सर्व कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसमें ब्रह्मता की क्षति नहीं होती। क्योंकि वह वस्तु ही इस प्रकार की है। ब्रह्म विरुद्ध सर्वधर्मों का आधार है इस हेतु से, तथा श्रुतिभक्तों के अनुभव सिद्ध होने के हेतु से, ब्रह्मगत धर्मों में विरोध ही नहीं है। प्रत्युत ब्रह्मत्वसाधन करने वाले ही हैं।

यदि हठाग्रह से ब्रह्म में आत्मारामत्वादि ही गुण हैं, अन्य शृङ्गाररस प्रयुक्त प्रिया विप्रयोगादि धर्म नहीं हैं, यह मानते हो तो, इसके उत्तर में हम यह कहते हैं कि आपका कहना ठीक है। परन्तु वह ब्रह्मधर्ममर्यादा है। यहाँ तो भक्तों के ऊपर अत्यन्त अनुग्रह द्वारा, और उनकी भक्ति के अतिशय से, अपनी स्वरूप मर्यादा का अतिक्रमण करके भक्ताधीन होते हुए, जिस प्रकार भक्तों का अभीष्ट सिद्ध होता है, उसी प्रकार की लीला करने को, उक्त सर्वभावों को स्वयं ही प्राप्त होते हैं यह भगवान् का पुष्टिरूप है, मर्यादा रूप नहीं है। जैसा कि भगवान् ने दुर्वासा के प्रति कहा है—'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पति यथा' यहाँ दो सत्पद कहने से अपने को भक्तों के अधीन कहा। भक्तों की शरणागति मायारहित बतलाई है। अतः वश होने पर अपनी सत्ता भी नहीं रहती। तब भी भगवान् की अनोखता भङ्ग नहीं होती, किन्तु यह महदेश्वर्यरूपता है, दूसरा कोई स्वरूप मर्यादा का त्याग नहीं कर सकता। इसी से 'भिन्नसेतुः' यह विशेषण कहा है। अतः श्रुति भी भगवान् की अचिन्त्य महिमा कहती है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इस विषय में जितनी शङ्कार्थ की जायेंगी, उतना ही अधिक ब्रह्मत्व सिद्ध होगा।

नाट्यशास्त्र में भी शृंगार रसका देवता विष्णु—(वेवेष्टीति विष्णु) कहा है। इसमें भी भगवान् श्रीकृष्ण रसात्मक स्वरूप का समर्थन होता है। रासलीला का प्रसङ्ग कुछ प्रकारभेद से हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, भविष्योत्तरपुराण, गगनमंदिता काव्य नाटक आदि साहित्य में भी कहा है।

काव्यशास्त्र नाट्यशास्त्र के ग्रंथों में तीन भेद कहे हैं। रासक, नाट्यरासक, हल्लीसक, इन तीनों के पृथक् पृथक् लक्षण भी कहे गये हैं। भोज तथा शारदातनय, काव्यशास्त्र के लेखकों ने रासक, तथा नाट्यरासक नृत्य के दो भेद बताये हैं। इन्होंने रासक का लक्षण 'षोडश द्वादशाष्टी वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः' अर्थात् जिसमें सोलह, बारह अथवा आठ नायिकाएँ पिंडी, शृंगला, भेषक, एवं लता, चार प्रकार से नृत्य करती हैं, उसे रासक कहते हैं। नाट्यरासक में, एक प्रकार का नृत्य होता है। इसमें स्त्रियाँ योग्य अभिनय एवं नृत्य द्वारा राजा की कृतियों का अनुकरण करती हैं। शारदातनय के भावप्रकाशन में नाट्यरासक के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं।

अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्र की टीका में प्राचीन लेखकों के अभिप्राय से श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ जो नृत्य किया है, उसी प्रकार के नृत्य को रास कहते हैं, यह कहा है। भरताचार्य ने नाट्यशास्त्र के चतुर्थविधाय में नृत्तका महत्त्व वर्णन करके 'लास्य', तथा 'तांडव', दो प्रकार बतलाये हैं। इसी स्थल में अभिनवगुप्त अपनी टीका में रासक, हल्लीसक आदिका निर्देश करता है। और 'तदुक्तं चिरंतनैः' कहकर प्राचीन लेखकों का अभिप्राय निम्नलिखित आठ श्लोकों में कहता है। 'मण्डलेन तु यन्नुत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम्। एकस्तत्र तु नेता स्याद्गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥ "अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्। आचतुष्पष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्।' इसके अनन्तर अभिनवगुप्त कहता है कि, 'एते प्रबन्धा नृत्तात्मका न नाट्यात्मकनाटकादिविलक्षणाः।' अर्थात् मण्डलाकार से जो नृत्त होता है, कृष्ण गोपी जनों की तरह जिसमें एक नेता हो, उसको 'हल्लीसक' कहते हैं और जिसमें अनेक चौसठ युगलतक नर्तन किया जाय, अनेक प्रकार के ताल, लय, युक्त नृत्य करती हैं, उसको 'रासक' कहते हैं। रासक मसृण, तथा उद्धत दो प्रकार का है। ये सब नृत्यात्मक प्रबन्ध, नाट्यात्मक नाटकादिकों से विलक्षण (भिन्न) नहीं हैं।

भोज भी अपने 'शृंगारप्रकाश' ग्रंथ में पूर्व लक्षणसदृश लक्षण कहता है। 'यन्मण्डलेन नृत्तं स्त्रीणां हल्लीसकं तु तत्प्राहुः। तत्रैको नेता स्याद्गोपस्त्रीणामिव मुरारिः ॥' साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कहता है कि रासक, तथा नाट्यरासक, ये दोनों छोटे नाटक हैं। इनमें अङ्क, सन्धि, नट, रस, वृत्ति, नायिका तथा नायक, होते हैं जिसमें नृत्य का स्थान गौण है। हल्लीसक में एक अङ्क सात से दसतक नायिका, कैशिकी वृत्ति, दो सन्धि, तथा केलिरैवत सदृश संगीत होता है। शारदातनय भी उक्त प्रकार का अभिप्राय दिखाते हैं।

'नाट्यदर्पण' में प्रथम चार रूपकों का वर्णन किया है। अनन्तर दूसरे तरह रूपकों का नाम दिया है। इसमें हल्लीसक, रासक, नाट्यरासक, का भी नाम दिया है। हेमचन्द्र काव्यानुशासन में काव्य की चर्चा करते हुए प्रेक्ष्य, तथा श्राव्य, ये दो काव्य के भाग कहते हैं। प्रेक्ष्य के भी पाठ्य तथा गेय दो विभाग कहे हैं। गेय के अनेक प्रकार कहे हैं। जिसमें हल्लीसक तथा रास की गणना की है। इनके लक्षण अभिनव गुप्त ने जिस प्रकार पूर्व में श्लोक के द्वारा बतलाये हैं, उसी प्रकार हेमचन्द्र भी करते हैं। इस प्रकार रासक तथा हल्लीसक दो प्रकार का नृत्य है। कालानुक्रम से दो प्रकार के नाटक भी हुये। प्राचीन समय में कृष्ण की क्रीड़ा हल्लीसक कही

जाती थी। समयानुसार इन दोनों का भेद न कहकर दोनों में रसप्रधान होने के कारण रास-गोष्ठी ही प्रचलित हो गई, और श्रीकृष्ण की लीला को रासलीला ही कहने लग गये।

भरताचार्य नाट्यशास्त्र में हल्लीसक, तथा रास का नाम निर्देश नहीं करते। इसीलिये अभिनव गुप्त ने प्राचीन श्लोकों को लिखकर न्यूनता पूरी की है।

इसवी चौथे शतक में हुये भास कवि के बालचरित्र, नाटक में हल्लीसक का स्पष्ट निरूपण है। इसके अनन्तर हरिवंश में श्री कृष्णक्रीड़ा का वर्णन दीखता है। इसके बाद तो पहले कह आये स्थल-स्थल में रासलीला का वर्णन किया गया दृष्टिगोचर होता है। आगे रास के दो प्रकार लीलारास तथा लकुटारास, अथवा दांडियारास का प्रदर्शन उत्तरकालीन अपभ्रंश साहित्यों में किया है। रास की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) नृत्य द्वारा ही हो सकती है। इसलिये रसात्मक प्रभु रासलीला में नृत्य करते हैं।

संगीतरत्नाकर नाम के ग्रन्थ में नाट्यशब्द का अर्थ ग्रन्थकार ने कहा है 'नाट्यशब्दो रसे मुख्यो रसाभिव्यक्तिकारणम्। चतुर्थाभिनयोपेतं लक्षणावृत्तितो बुधैः। नर्तनं नाट्यमित्युक्तम्।' ७।१७।१८ अर्थात् नाट्य शब्दका मुख्य अर्थ रस होता है, गौण अर्थ नर्तन होता है। कारण कि चार प्रकारके अभिनयवाला नर्तन, रस को प्रकट करने वाला होता है। नाट्य शब्द का योगिक अर्थ भी रस होता है। 'नटितुम् अभिनेतुं योग्यम्' जो अभिनय करनेके योग्य वह नाट्य है। इस व्युत्पत्ति से नाट्यशब्द रस अर्थ में योगरूढ है। इससे स्पष्ट होता है कि, नर्तन द्वारा प्रकट हुआ दृष्टिगोचर रस नाट्यशब्द का मुख्य अर्थ है। नाट्य शब्द का 'नटस्य भावः अथवा नटस्य कर्म' नट का भाव अथवा नट का कर्म, नाट्य, यह दूसरे प्रकार से अर्थ किया जाय तो इसका अर्थ नर्तन होता है। यद्यपि दोनों अर्थों में योगिकता सदृश है। परन्तु भाव बिना नर्तन का कार्य योग्य नहीं होता, अतः नर्तन में प्रयोजक भाव ही मुख्य है। अभिनय चार प्रकार का है। आङ्गिक, वाचिक, आहार्य, और सात्त्विक। अङ्गों द्वारा जो अभिनय होता है उसको आङ्गिक कहते हैं, वाणी में रचा हुआ काव्य नाटक आदि वाचिक। हार केयूर कटक आदि आभूषण से आहार्य, तथा सात्त्विक भाव से किया अभिनय सात्त्विक है। इसी कारण से हमारे रसेश प्रभु अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिये नृत्यादि करते हैं तथा अपना स्वरूपात्मकरस, अभिनय आदि से जहाँ स्थापित करते हैं, वहाँ से कभी विचलित नहीं होते प्रत्युत बीजरूप होकर आगे फलदान करते हैं। परब्रह्म ही जिस समय रसशास्त्र की रीति से हृदय में प्रकट होता है, उस समय इसको रस कहते हैं। इसमें चिदंश गौण है अतः 'कृषिर्भूवाचकः' उक्त रीति से जिस समय भगवान् बाहर प्रकट होते हैं उस समय में भी स्वयं रसात्मक ही होते हैं।

यद्यपि श्रीमद्भागवत मूल में ही राजा परीक्षित के प्रश्न करने पर श्रीशुकजी ने ठीक ढंग से उत्तर दिया है तथापि लोग श्री शुकदेव के द्वारा सुन्दर लोकशास्त्र रीत्यनुसार किये समाधान को न देखकर अद्यावधि भगवल्लीला में अनेक प्रकार की शंकाओं की उनके चित्त में तरङ्ग उठती रहती हैं, और रासलीला के नाम से घबड़ा कर अपने कलुषित हृदय का परिचय कराते हैं। इस विषय में पहले मूल में जो उत्तर है, उसको प्रथम विचारना चाहिये, यहाँ विस्तार भय से नहीं लिखा है, मूलव्याख्यान के समय उसको लिखेंगे। परब्रह्म लौकिक कामरहित पूर्णकाम, आत्मकाम, निर्दोष है, सूर्यान्तर्यामी है। अतः भगवान् तथा भक्तों का स्वरूप पहले कह आये हैं बीच-बीच में शंका समाधान भी किया है। उसको भी बुद्धिपूर्वक समझना चाहिये। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' भक्तों के ऊपर अनुग्रह

करने के लिये भगवान् मनुष्य शरीर धारण कर इस प्रकार की लीला करते हैं। श्री शुकदेव जी ने १०-३०-४० इस लीला का फल श्रोता-वक्ता को हृदय काम का निवारण कहा है। भगवान् की सब लीला निष्काम है, रास लीला भी निष्काम है। भगवान् का प्राकट्य सर्वोद्धार करने के लिये होता है। उसमें जो निःसाधन इस प्रकार के जीव हैं उनका भी उद्धार तत्तद्भावानुसार करते हैं। नहीं तो सर्वोद्धार में न्यूनता रह जाय। गोपीजनों प्रसन्न लोगों को भगवान् की लीलाओं में लौकिकसदृशता-भ्रमनिवारण के हेतु से तथा अनुग्रहमार्ग प्रवृत्त करने के हेतु से, अति महत्त्व का है। गोपीजनों का शास्त्रीय साधन में अनधिकार होने के कारण, उनके पास भगवत्प्राप्ति का कोई साधन नहीं था। इसलिये निःसाधन गोपीजनों पर अनुग्रह करके वेगुनाद द्वारा उन्हें अपने पास बुलाया। और वे भी संसार के सब पदार्थों का त्याग कर सर्वात्म भाव से भगवान् की शरण में आई। भगवान् ने अपना दिव्य अलौकिक स्वरूपानन्द-भजनानन्द का दान दिया। यह असाधारण कार्य भगवान् के बिना दूसरा कोई कर नहीं सकता।

श्रीमहाप्रभुजी सुबोधिनी (१०।२६।४२) में कहते हैं कि रासलीला में रसशास्त्र में कही संपूर्ण क्रियाएँ हुई। किन्तु इनमें लौकिक काम नहीं। अर्थात् रासलीला में लौकिक क्रियासदृश क्रिया हुई। किन्तु लौकिक काम नहीं। गोपीजनों का काम भगवान् ने अलौकिक काम द्वारा पूर्ण किया, इसलिये गोपीजन भी भगवान् के सदृश लौकिक कामरहित निष्काम हो गई। यदि गोपियों में लौकिक काम होता, तो भगवान् के अलौकिक काम द्वारा उसकी पूर्ति सम्भव कैसे हो सकती। स्वयं गोपीजन लौकिक कामरहित थीं, तभी तो लौकिकपत्यादि में उनका राग नहीं था। यदि प्राकृत काम गोपीजनों में होता—और भगवान् के लौकिक काम से इसकी पूर्ति होती, तो जैसे संसार में पुत्रादि होते हैं उसी प्रकार गोपीजनों के भी होते। किन्तु रासलीला में संसारोत्पत्ति नहीं हुई। भगवान् के स्वरूप में काम नहीं होता, इस प्रकार के निष्काम स्वरूप से निष्काम अभिलाषा-अलौकिक काम पूर्ण होता है। इस प्रकार लीला में अलौकिक भाव होने से मर्यादा मार्ग तथा भक्तिमार्ग की मर्यादा भंग नहीं होती। मोक्षरूप फल प्राप्त होता है। इस लीला के श्रवण से साधारण जन भी निष्काम हो जाता है। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव होता है कि अपने में स्थित अन्य वस्तु को भी अपने सदृश बना लेती है। भगवान् लौकिक कामरहित हैं, अलौकिक कामयुक्त हैं। अतः भगवान् की इस प्रकार की लीला को सुनकर तल्लीन होने पर लौकिक कामरहित, अलौकिक कामयुक्त हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी (१०।२६।१६में) स्पष्ट कहते हैं कि शिशुपाल भगवान् से द्वेष करता था, तब भी भगवान् की सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई। फिर भगवान् की प्यारी गोपीजन मुक्ति को प्राप्त हों, तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है? भगवान् विकाररहित, ज्ञान से अप्राप्य निर्गुण हैं। इनका प्राकट्य सर्व मनुष्यों के कल्याणार्थ है। जो भगवान् में सदैव काम शोध भय स्नेह एकता अथवा भक्ति करता है, वह भगवद्रूप हो जाता है। सारांश किसी प्रकार से श्रीकृष्ण में मन एकाग्र करने से भगवत्प्राप्ति होती है।

भगवान् स्वयं (भा० १०।१९।२६ में) कहते हैं कि 'भजिताः क्वथिता घानाः' जिस प्रकार भुजे अथवा उबाले हुये घान बीजयोग्य नहीं रहते, उसी प्रकार जिन्होंने मेरे में बुद्धि लगा दी है, उनका कामजन्य काम को उत्पन्न नहीं कर सकता, अर्थात् उक्त प्रकार के घान से जैसे दूसरे घात उत्पन्न नहीं हो सकते उसी प्रकार संसारोत्पत्ति नहीं हो सकती, उसका तो नाश ही हो जाती है। वेदस्तुति में (१०।८४।२३) सुबोधिनी में स्पष्ट कहा है कि, जीवों को भगवान् का भजन किसी

भी प्रकार से अवश्य करना चाहिये। योग द्वारा चिन्तवन करने वाले मुनि जिस भगवत्स्वरूप को प्राप्त करते हैं, उसी स्वरूप को भगवान् के शत्रु शत्रुभाव से प्राप्त करते हैं।

भगवान् के शेषनाग शरीर सदृश विशाल भुजाओं में आसक्त हुई अतिबहिर्मुख गोपियां तथा अन्तर्मुख सर्व की आदरणीय श्रुतियां भगवान् को प्राप्त हुई। अतः स्त्री तथा पुरुष भगवान् के दोनों बराबरी के हैं। भगवान् सब को तुल्य दृष्टि से अपना मानते हैं। क्योंकि किसी न किसी प्रकार से सभी भगवच्चरण का ध्यान करते हैं, इसीसे उक्त श्लोक का सारांश श्री महाप्रभुजी लिखते हैं कि, 'सर्व एव हरेर्भक्तास्तुल्या यान् मन्यते हरिः। अतः कृष्णो यथात्मीयान् मन्यते भजनं तथा ॥' जिनको भगवान् मानते हैं, वे सब ही हरि के भक्त तुल्य हैं, अतः जिस प्रकार कृष्ण आत्मीय माने, उसी प्रकार आत्मीयों को भजन कर्त्तव्य है। उक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भगवान् से किसी प्रकार सम्बन्ध जोड़ने से अन्त में भगवत्प्राप्ति होती है।

गोपीजनों की तरह तो अत्यन्त भगवान् का कृप'बल हो, तब सर्व विषय त्यागकर सर्वात्मभाव से भगवच्चरण आने पर दिव्य अलौकिक भजनानन्द-स्वरूपानन्द का अनुभव भाग्य-शाली को प्राप्त होता है। जिन गोपियों की भगवान् में जार बुद्धि थी, उनकी भगवान् में सायुज्य हुई। सर्वात्मभाव वाली गोपियों की तरह परमानन्द की प्राप्ति नहीं हुई। अर्थात् उनको रासलीला का आनन्द प्राप्त नहीं हुआ। इसीलिये इनकी अपेक्षा सर्वात्मभाव वाली गोपियों की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। सर्वात्मभाव बिना रासलीला में अधिकार नहीं होता। अतः रासलीला सर्वथा दोष-रहित है।

दर्शनशास्त्र में रास के महत्त्व का विचार किया जाय तो तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली में परमात्मा के सुन्दर स्वरूप का वर्णन किया है। इसके महत्त्व का वर्णन जितना श्रीवल्लभाचार्य ने किया है, उतना अन्य आचार्यों ने नहीं किया। परब्रह्म के रसात्मक स्वरूप का सिद्धांत शुद्धाद्वैत वेदान्त में ही दृष्टिगोचर होता है। अतः तत्त्वज्ञान की दृष्टि से श्री वल्लभाचार्य का स्थान सर्वोपरि अनुपम है। अन्य भी कठ मुण्डक छान्दोग्य बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में ब्रह्मस्वरूप का समन्वय श्रीवल्लभाचार्य ने भली भाँति से किया है। इसमें से ही रसात्मक आनन्दमय ब्रह्म के रास की भावना प्रादुर्भूत हुई। रास में रस मुख्य है, और ब्रह्म का स्वरूप रसात्मक है। यद्यपि रास शब्द उपनिषद में स्पष्ट नहीं कहा, तथापि इसकी भावना तो स्पष्ट मालूम होती है। श्रीमद्भागवत में तो प्रकट ही लीला का वर्णन है। अतः इसी भावना पर श्रीवल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग का मुख्य सिद्धांत अवलम्बित है। आपने कहा भी है, 'कोण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत्' अर्थात् गोपीजन मार्गगुरु हैं, इन्होंने जो साधन किया है, वही पुष्टिमार्गीय साधन है। गोपीजन अन्यपूर्वा—श्रुतिरूपा, निर्गुण तथा सात्त्विकादि भेद से दश प्रकार के हैं और अनन्यपूर्वा—ऋषिरूपा, कुमारिका गोपीजन, निर्गुण तथा सात्त्विकादि भेद से नव प्रकार की हैं, क्योंकि अनन्यपूर्वा गोपीजनों में तामस तामसी यूथ नहीं हैं। अतः नव प्रकार के हैं। शृङ्गार रसरूप भगवान् के अत्यन्त गूढ रसात्मक काम है। इससे ही कामशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र प्रवृत्त हुआ है।

श्री महाप्रभुजी के अभिप्राय से कामशास्त्र, एवं नाट्यशास्त्र केवल भगवान् के लिये ही है, अन्य संसारी के लिये नहीं है। यद्यपि गूढ काम द्वारा उत्पन्न काम का तीनों लोकों में देवता आदि अनुभव करते हैं, तथापि इनका काम रसात्मक नहीं है। क्योंकि कुछ थोड़े अंश में अल्प सुख का (आनन्द का) अनुभव होता है। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' नाल्पे सुखं भवति

आनन्द की अल्पमात्रा से समस्त प्राणी जीते हैं। अल्प में सुख नहीं होता है। यह उपनिषद में कहा है। भगवान् जिस रस का अनुभव करते हैं, वह तीनों लोकों में नहीं होता, इसलिये इसका वर्णन नहीं हो सकता, अतः इसको गुप्त कहते हैं। रसरूप भगवान् जिस रस का अनुभव करते हैं, वह स्वरूपात्मक, स्वरूप से भिन्न नहीं है। इस गूढ़ रसात्मक काम का ज्ञान होने के लिये वात्स्यायन ऋषि ने कामशास्त्र बनाया तथा भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र रचा है 'न हि ऋषीणां तात्पर्यं लौकिके भवितुमर्हति' ऋषियों का तात्पर्य लौकिक में नहीं होता। भगवान् ने अपने गूढ़ अलौकिक रसात्मक काम को प्रकट करने के लिये नृत्य किया, और गोपीजन से कराया। सब अङ्गों में गुप्त रहने वाला अलौकिक रसात्मक काम प्रकट हो जावे, इसके लिये कामशास्त्रानुसार समग्र वन्धों का उपयोग किया।

काम नाम का उत्तम उत्कृष्ट सुख भगवान् कृष्ण ही भोगते हैं, अन्य कोई नहीं। इस लोक में आधिदैविक रूप प्रकट हुआ है। यह आधिदैविक रूप कामरहित लौकिक वासनात्मक लिङ्ग शरीर रहित है। कामसुख उत्तम है, क्योंकि यह क्षर तथा अक्षर से उत्तम है, अर्थात् पुरुषोत्तम का स्वरूप ही है, अतः उत्तम है। क्योंकि यह मोक्षसुख से भी उत्तम है। काम भगवान् का स्वरूप ही होने से इसको भगवान् के बिना अन्य कोई भोग सकता नहीं है। भगवान् ने ब्रजभूमि में रासलीला जीवों का आधिदैविक स्वरूप प्रकट करके की है। बिना आधिदैविक स्वरूप के भगवान् का भजन हो नहीं सकता। यद्यपि साक्षात् भगवान् का भजन वैकुण्ठव्यापी होता है, तथापि कृपा करके इस लोक में भी जीव आधिदैविक रूप प्राप्त कर भगवान् का भजन कर सके, इसके लिये यह लीला की है। इतना ही नहीं, कोई भी मनुष्य इस लीला का श्रवण करेगा तो आधिदैविक रूप प्राप्त कर भगवान् के साक्षात् भजन के योग्य हो सकता है तैत्तिरीय उपनिषद् २।७ में कहा है कि 'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत' यह पहिले असत् तथा अनन्तर इससे सत् हुआ 'तदात्मानं स्वयमकुर्वत्' भगवान् ने स्वयं अपनी आत्मा का सर्जन किया है, अतः यह सृष्टि ब्रह्म का स्वरूप है।

श्री महाप्रभु जी पुष्टि प्रवाह मर्यादा ग्रंथ में 'पुष्टि कायेन निश्चयः' पुष्टि सृष्टि कायिक है। अतः अन्य सृष्टि सदृश नहीं है। यदि इस सृष्टि में मनोविकार, तथा लौकिक रस होता तो रसरूप भगवान् को स्वयं अपनी आत्मरूपसृष्टि को करना यहां लाना, तथा रस आनन्द रूप है, यह श्रुति का कहना, व्यर्थ ही हो जाता है। अतः भगवान् रसस्वरूप, तथा रस को प्रकट करने वाली सर्व सामग्री भगवान् से अभिन्न होने के कारण रसरूप ही है।

ब्रह्मसूत्र 'अनुकृत्यधिकरण' (१-३-२२-२३) में सर्वपदार्थ भगवान् का अनुकरण करते हैं, यह सिद्ध किया है। यदि कामशास्त्र, तथा नाट्यशास्त्र को लौकिक रस की प्रतिपादकता स्वीकार करते हैं, तब भी लौकिक रस का स्वरूप मूल भगवान् के रस को अनुसरण करके ही सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं।

पञ्चपुराण पाताल खण्ड रामाश्वमेध-प्रसङ्ग में शेष तथा वात्स्यायन का संवाद हुआ है। इससे मालूम होता है कि वात्स्यायनमुनि वैष्णव थे, इसी तरह भरतमुनि भी वैष्णव थे। हनुमान जी ने भी नाटक लिखा है। ये श्री रामभक्त थे अतः इन महापुरुषों ने ग्रन्थरचक इतना भी

परिश्रम किया है—वह त्रिवर्ग साधक नहीं, किन्तु चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्षसाधक ही हो सकता है। वात्स्यायन मुनि कामशास्त्र (२।२।३) में कहते हैं कि दशमण्डल वाले ऋग्वेद को चतुष्पष्टि कहते हैं। इस कामशास्त्र में ऋग्वेद के अर्थ का संबंध होने से, तथा पंचाल बाभ्रव्य आदि महर्षियों द्वारा कामशास्त्र की चर्चा करने से, ऋग्वेदियों ने चतुष्पष्टि नाम की संज्ञा कामशास्त्र की आदि दिखाने के लिये दी है। इस प्रकार सूत्र रच कर वात्स्यायन मुनि कहते हैं कि आलिङ्गन चुंबन आदि दश प्रकार ऋग्वेद के ही आधार से लिखे गये हैं। 'सर्वे वेदा यत्पादमामनन्ति' वेद सब भगवान् का वर्णन करता है। कामशास्त्र में भी वेद का ही अर्थ है। अर्थात् कामशास्त्र वेद की तरह लीला-सहित भगवान् का परोक्ष में प्रतिपादन करता है। यह स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र में नृत्य तथा सङ्गीत का उपयोग होता है। सङ्गीत आदि गांधर्व विद्या सामवेद का उपवेद है। इसलिये नाट्यशास्त्र भी भगवान् का वर्णन करता है—सिद्ध हुआ।

अब स्थूल दृष्टि—लौकिक से विचार किया जाय, तब भी ब्रज में भगवान् ने जितनी लीलाएँ कीं वे सब लगभग ग्यारह वर्ष बावन दिन तक की वय में हैं। क्या इतनी छोटी अवस्था में असंख्यात गोपिकाओं के साथ रासलीला करना संभव हो सकता है? लोकरीति से तो सर्वथा इतनी छोटी अवस्था में कामभावोत्पन्न होना भी असंभव होता है। भगवान् के विरुद्ध धर्माश्रय अलौकिक मान कर के ही बन सकता है तो फिर कामलीला में संदेह ही किस बात का, बताइये। इस प्रकार शब्द प्रमाण तथा युक्ति द्वारा श्री महाप्रभु जी भगवान् के रस स्वरूप का विचार करके, भगवान् से गोपीजनों के साथ की गई जो रासलीला, उसमें लौकिक काम की गंध नहीं है—भगवान् का चरित्र सर्वथा निष्काम तथा निर्दोष है, इसके श्रवण कीर्तन से प्राणी निष्पाप होकर परमपुरुषार्थ प्राप्त करता है, यह निर्णय किया है।

गोपियों का स्वरूप पहले कह चुके हैं। इनके चार विभाग हैं—१. सात्त्विक २. राजस ३. तामस ४. निर्गुण, गुणों के परस्पर मिश्रण से अनेक यूप हैं। दूसरे प्रकार से विभाग १ अन्यपूर्वा अथवा श्रुतिरूपा, २. अनन्यपूर्वा अथवा कुमारिका अथवा ऋषिरूपा, विभाग दृष्टि से रासलीला का विचार किया जाय तो अपने लिये इसका रहस्य अच्छी प्रकार से समझ में आ जाता है। गोपी जनों का सगुण निर्गुण विभाग अपूर्व है। कृष्णोपनिषद में भी विभाग कहा है। सामरहस्य उपनिषद में गोपीजनों के तीन विभाग कहे हैं १ वेदऋचा २ अग्निकुमार ३ संसिद्ध, जो श्रीराधिकाजी के संग प्रकट होता है। भागवत के प्राचीन टीकाकार श्रीधरस्वामी रासपंचाध्यायी के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हैं कि 'ब्रह्मादिजयसंखुददर्पकन्दर्पदर्पहा। जयति श्रीपति-गोपी रासमण्डलमण्डनः' अर्थात् 'लक्ष्मीपति गोपीजनों के रासमण्डल का भूषण, ब्रह्मादि को जीत-कर बढ़ा है दर्प जिसको, अर्थात् मत्त हुये कामदेव के मद का नाश करने वाला, भगवान् श्रीकृष्ण जय को प्राप्त होता है।' उक्त मङ्गलाचरण में श्रीधरस्वामी स्पष्ट कहते हैं कि भगवान् कामदेव के वश नहीं हुए। उसका पराजय करने को तथा मद दूर करने को भगवान् ने रासक्रीड़ा की। लीला में शृंगार रस की कथा का तात्पर्य विशेष करके निवृत्ति में ही है। काम विजयरूप रास-क्रीड़ा के श्रवण का फल कामविजय है। शृंगार रस में आसक्त हुए अतिबहिर्मुख मनुष्यों को भग-वन्मय करने के लिये भगवान् ने शृंगार रस की लीला की है। अन्य कितने ही टीकाकार श्रीधर-स्वामी का अभिप्राय स्वीकार करते हैं।

बोपदेव का आशय पहले कह चुके हैं। सनातन गोस्वामी भगवान् के अवतार का मुख्य प्रयोजन ब्रजसुन्दरियों का मनोरथ पूर्ण करके प्रेमरस विस्तार करना कहते हैं।

श्री वल्लभाचार्य की दृष्टिविन्दु पहले कह आये हैं। विजयध्वज, निर्दोष भक्ति द्वारा उत्पन्न हुआ ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति का साधन शास्त्रसिद्ध मानते हैं, इसी सिद्धान्त को समर्थन करने के लिये रासपंचध्यायी की कथा कहते हैं।

विश्वनाथचक्रवर्ती कहते हैं कि भगवान् ने आठवें वर्ष में रासक्रीड़ा की है, और रास से गोपी जनों को इतना अधिक सोभाग्य प्राप्त हुआ कि सर्व शिरोमणि लक्ष्मी जी से भी क्रीड़ा हो गई।

धनपतिसूर कहते हैं कि भगवान् ने नवम वर्ष में रासक्रीड़ा की है, और असंख्य गोपी-जनरूप सेना वाले कामदेव के साथ युद्ध में विजय प्राप्त की। यह राम का वर्णन सर्व भागवत का सार है। और परमहंसशिरोमणि श्रीशुकदेव जी परम प्रेम से रस का वर्णन किया है। इसलिये परमहंसों को इसका आदरपूर्वक श्रवण करना चाहिये।

श्रीमद्भागवत भक्ति रसप्रधान है, इसके प्रसंग में शृंगाररस का अनुवाद करके शुकदेवजी ने निवृत्तिमार्ग अपना सिद्धान्त गूढ़ रीति से कहा है। इस प्रकार अनेक टीकाकार रासलीला का अति पवित्र मनुष्यों को पावन करने वाली मानते हैं।

राजापरीक्षित के प्रश्न करने पर शुकदेव जी ने स्वयं मूल में वास्तविकता स्वीकार कर लोकदृष्टि से तथा तत्त्वज्ञान दृष्टि से समाधान किया है। उसे ध्यानपूर्वक देखेंगे तो भगवत्कृपा से रासलीला की पवित्रता स्वतः ही स्फुरित हो जायगी।

अभीतक रासलीला के वास्तविक स्वरूप का विचार किया, अब रूपक की दृष्टि से विचार करने पर श्रीमहाप्रभु जी ने भी तत्तत्प्रसङ्ग में इसका वर्णन किया है। उदाहरण जैसे भगवान् ने पूतना-वध किया, पूतना अविद्या है अतः पूतना मारकर गोकुलस्थ भक्तों की अविद्या दूर की है। इस प्रकार सर्वलीलाओं में सुबोधिनी में कहा है। श्रुतिस्मृति दोनों शब्द प्रमाण के अङ्ग भगवान् का ही प्रतिपादन करते हैं। श्रुतिरूपा तथा ऋषिरूपा ब्रजभक्त भगवान् की कृपा से भजनानन्द का अनुभव करते हैं। इसका रूपकदृष्टि से विचार किया जाय तो श्रुतियां तथा इनका अनुसरण करने वाली स्मृतियां भगवान् का वर्णन करके कृतकृत्य होती हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदेषु सर्वैरहमेव वेद्यः' श्रुतिस्मृति का प्रतिपाद्य विषय भगवान् है, ब्रह्मसूत्र-कार श्रुति स्मृति का समन्वय करते हैं, ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करने वाले आचार्य इसी बात का समर्थन करते हैं। श्रुतियां, अनन्यपूर्वा तथा अन्यपूर्वा कही जाती हैं। जो श्रुतियां साक्षात् परब्रह्म का वर्णन करती हैं वे अनन्यपूर्वा हैं और जो श्रुतियां आपाततः अन्य देवताओं का तथा साधनों का वर्णन करके अन्त में पूर्ण ब्रह्म का निरूपण करती हैं, वे अन्यपूर्वा हैं।

पतञ्जलि महर्षि योगसूत्र में कहते हैं कि 'तस्य वाचकः प्रणवः' समस्त वाङ्मय प्रणव-कार्य है 'और सब शब्दप्रमाण परब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है। श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि सब शब्दों का मुख्य अर्थ भगवान् है। अतः सर्व श्रुति स्मृति सदैव भगवान् का वर्णन करती हैं। भगवान् तथा श्रुति स्मृति में परस्पर वाच्यवाचक नित्य संबंध है। ठीक भगवान् की रासलीला का यही तात्पर्य है। गोपीजन श्रुति, स्मृति, हैं। ये सर्वदा भगवान् का बोध करती रहती हैं। अतः इनके साथ रासलीला नित्य होती है। कृष्णोपनिषद सामरहस्योपनिषद आदि गोपियों को ऋचाएँ कहा है। कोई कोई विचारशील कहते हैं, कि जीवात्मा तथा परमात्मा का संबंध दिखाने के लिए भागवत में रासलीला का वर्णन है।

जीव भगवान् को किस प्रकार किस भाव से प्राप्त कर सकता है, मोक्षसुख किस प्रकार से भोग सकता है, इसका ज्ञान कराने के लिये भगवान् के गोपीजन तथा रासलीला की कल्पना की गई है। रासलीला ब्रह्मानुभव का रहस्य बोधन करती है। गोपियां अन्तःकरण की वृत्तियां हैं, गोप-वृत्तियों के अभिमानी जीव हैं। अन्तःकरण की वृत्तियां असंख्य होने के कारण गोपियों की सोलह हजार इतनी बड़ी संख्या दी गई है। अन्तःकरण की वृत्तियां बहिर्मुख न होकर जब अन्तर्मुख होती हैं, तब जीव नित्य मोक्षसुख भोग करता है। इस प्रकार रासलीला का तात्पर्य अध्यात्मरूप प्रक्रिया में कहा है। कोई कोई गोपियों को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं। शक्तियां शक्तिमान के साथ नित्य संयुक्त रहती हैं, उसी प्रकार गोपीरूप भगवान् की शक्तियां भगवान् के साथ सदैव संयुक्त रहती हैं। इसी अनुभव का समर्थन रासलीला में किया गया है। अन्य विचार करने वाले कहते हैं कि, जीवात्मा परमात्मा का अनुभव अनेक प्रकार से कर सकता है। जिस प्रकार रासलीला में जीवात्मा परमात्मा के साथ अति गाढ प्रेमद्वारा भगवान् का आनन्द प्राप्त करता है। अर्थात् परमात्मा को अपना सुन्दर प्रेमपात्र बनाकर उसका आनन्द भोगता है। उसी प्रकार रासलीला के प्रकरण में जीव अपने को स्त्री मानकर भगवान् को पति मानता है, और तदनुसार भगवान् का अलौकिक आनन्द भोगता है।

परमात्मा के मिलने के लिये अनेक मार्ग हैं। उनमें से एक मार्ग रासलीला भी है। परमात्मा में जो निःसीम प्रेम करने वाली है, उसे राधा कहते हैं। कितने अर्वाचीन विचारक कहते हैं कि श्रीमद्भागवत का कृष्ण वैदिक विष्णु देवता का विकसित स्वरूप है। ऋग्वेद में विष्णु देवता का जो वर्णन है, वह सब कृष्ण में दीखता है। अर्थात् स्वरूप तथा भावना की दृष्टि से स्पष्ट है कि वैदिक विष्णु कृष्ण की मूलपीठिका है। कृष्ण विष्णु सूर्य का पूर्णवितार है। कृष्ण का नील वपु है, नीलाकाश ही सूर्य का शरीर है। कृष्ण चतुर्भुज है, चारो दिशा सूर्य की चारो बाहु हैं। कृष्ण का पीताम्बर वस्त्र है, सूर्य की सुवर्णसदृश किरणें वस्त्रतुल्य हैं। ऋग्वेद में विष्णु तथा इन्द्र दोनों मित्र हैं, 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' (ऋ० २२।९) ये दोनों यथासमय कृष्ण तथा अर्जुन रूप से प्रकट होते हैं। महाभारत में लिखा है कि, अर्जुन इन्द्र का पुत्र है। उपनिषदों में विष्णु तथा इन्द्र परमात्मा, जीवात्मा कहे गये हैं। मुण्डक ३।११ श्वेताश्वतर ४।६ ऋग्वेद (१।१६।२०) आगे विष्णु तथा इन्द्र नारायण तथा नर कहे गये हैं। नर जीवात्मा, नारायण, जीवात्मा का अन्तिम स्थान है। भारतवर्ष के कल्याणार्थ नर-नारायण दोनों हिमाचल में तपश्चर्या कर रहे हैं।

महाभारत में कृष्ण तथा अर्जुन दोनों मित्र हैं, युद्ध में कृष्ण अर्जुन के सारथी हैं, कृष्ण युद्ध में भाग लेते नहीं हैं। क्योंकि परमात्मा असंग है, इस स्वभाव को दिखा रहे हैं। कठोपनिषद (३।३।४) आत्मा रथ में बैठा है, अर्थात् जीव अर्जुन, कृष्ण परमात्मा जीवात्मा को दौड़ा रहा है। आगे कृष्ण को गोपाल रूप में बतलाया है। यह भावना भी ऋग्वेद में कही गयी है। विष्णु का उद्देश्य करके ऋग्वेद कहता है कि 'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो घर्माणि धारयन्' (१।२२।१८) सूर्य का दूसरा स्वरूप आदित्य है, उसको 'गोपाः' कहते हैं। वेद में सूर्य को पूषा भी कहते हैं। यह खोये हुये पशुओं को ढूँढ़ कर लाता है। अतः गोपाल का कार्य करता है। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (ऋ० १।११।५।१) सूर्य अखिल चराचर विश्व का आत्मा है। इसीसे विश्व का मध्यबिन्दु बनता है। विश्व इसके चारो तरफ फिरता है इसी भावना से श्रीकृष्ण की रासलीला के स्वरूप का बोध किया है।

रासलीला मनुष्य तथा विश्व का परमात्मा के साथ संबंध बताती है । इससे उत्तम संबंध बतलाने वाला अन्य प्रकार नहीं है । इस प्रकार रासलीला की भावना भव्य तथा सुंदर है, वैदिक विष्णु-कृष्ण, सूर्य है, गोपियां सूर्य की किरण हैं, सूर्य की किरण सूर्य में ही रहती हैं । सूर्य से बाहर निकलती हैं, और अनन्तर सूर्य में ही प्रवेश करती हैं । सूर्य गोल है, नित्य पर्यटन करता है, ये सब बातें रासलीला में आती हैं । तत्त्व जानने वाले रासलीला का अनेक प्रकार से विचार कर सकते हैं । अन्य प्रकार भी हो सकते हैं । रासलीला वास्तविक रूप से तथा अध्यात्म रूप से, जिस प्रकार से रुचे उसी प्रकार जानने पर सर्वथा पवित्र निर्दोष है, जगत् को पवित्र कर मोक्ष देने वाली है । किन्तु इसका स्वरूप जानने को कुछ योग्यता, भगवत्कृपा होनी चाहिये । तभी इसकी दिव्यता का अनुभव हो सकता है । कितने ही कृपा पात्र इसके श्रवण कीर्तन स्मरण द्वारा परम फल को प्राप्त हो चुके हैं । वह सर्वत्र स्थल स्थल में निरूपण किया गया है । भविष्य में भी ब्रजभक्तों की भावना में भावित भक्तजन निर्दोष इस दिव्य आनन्द का भोग प्राप्त करेंगे, वस इतना ही मेरा निवेदन है ।

दशभुजी गणेश, सरवनपुरा }
मथुरा, वि० सं० २०२८ }

भवदीय—

पं० जगन्नाथ (मुनमुनजी) चतुर्वेदी

रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी

महाप्रभुश्रीश्रीवल्लभाचार्यविरचिता
रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी
(श्रीमद्भागवतदशमस्कन्ध-रासपञ्चाध्यायी व्याख्या)

अथ प्रथमोऽध्यायः

(श्रीमद्भा० स्क० १०, अ० २६)

हिन्दोव्याख्याकर्तृमङ्गलाचरणम्—

नत्वा श्रीवल्लभाचार्या-स्तत्पुत्रांश्च तदीयकान् ।
तत्कृपावलमासाद्य जगन्नाथेन शर्मणा ॥ १ ॥
पञ्चाध्यायफलो भाषानुवादः क्रियते मया ।
तेन सर्वे स्वकीया हि विमृशन्तु सदा धिया ॥ २ ॥

पञ्चीसवें अध्याय में समस्त गोकुल में रहने वाले भक्तों को भगवान ने सत्यज्ञान रूप अनन्त ज्योति सनातन ब्रह्म जिसमें रहता है, तम प्रकृति परे जिसको गुणों से निवृत्त होकर सावधान मननशील पुरुष देखते हैं, उस व्यापिवैकुण्ठलोक का दर्शन कराया ।

यह व्यापिवैकुण्ठ अक्षर ब्रह्मरूप है, जब भगवान गोकुलवासियों के हृदय में प्रकट हुए तब अक्षर भी लोकरूप से गोकुलवासियों के हृदय में प्रकट हुआ, नहीं तो लोक को कृत्रिमता हो जाती । अतः यह लोक अबाधित ज्ञानरूप और अपारेच्छित्त है, अर्थात् किसी से आवृत नहीं है । व्यापिवैकुण्ठ को बृहत्त्व, बृंहणत्व तथा प्रामाणिकत्व सर्ववेदान्तसिद्ध है ।

‘गुणोपसंहार’ न्याय उत्तरमीमांसा साधनाध्याय के अनुसार व्यापिवैकुण्ठ में अप्राकृत सर्व गुण रहते हैं और अविकृत-विकाररहित एकरस स्वभाव से निर्गुण है । गुण स्वरूपात्मक हैं और इस लोक में सर्वभवन सामर्थ्य है ।

जिस समय इस धाम का दर्शन गोकुल में रहने वालों को हुआ, उस समय यह धाम सर्वत्र प्रकट हो गया और भगवान ने गोकुलस्थों को शब्दरूपी हृद में प्रविष्ट किया और उस हृद में वे सब मग्न-डूब गये । सर्वगोकुल का लय होने पर आगे की लीला नहीं हो सकती थी, इसलिये पुनः भगवान ने गोकुलवासियों के इस लोक में आने का प्रयत्न किया, इस बात को कहते हैं—

‘ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः’ (सु० कारिका : १०।२५।१६) गोकुल का तिरोभाव होने पर भी काष्ठ में अग्नि की तरह तदात्मक अंश लोक का तिरोभाव नहीं हुआ था, अर्थात् जिस प्रकार आधे जले हुए काष्ठ पर जल गिराने से पुनः काष्ठता हो जाती है, उसी प्रकार गोकुल का वेदात्मक ब्रह्म में संयोजन करके पुनः भगवान ने इस लोक की प्राप्ति कराई ।

शब्दब्रह्म जलरूप है, इसलिये अक्षररूप गोकुलवासियों को ब्रह्महृद में प्राप्त कर स्नान कराया, उस समय गोकुलवासियों में स्थित वैकुण्ठलोक तिरोहित हो गया और ब्रह्महृद में सर्वगोकुल मग्न हो गया ।

भगवान् ने सर्वगोकुल को ब्रह्महृद में मग्न करके शब्दात्मक उत्तम अधिकारी बनाया, कारण कि पुष्टिमार्ग में प्रवेश कराने का क्रम इस प्रकार है । प्रथम परब्रह्म और उससे शब्दब्रह्म का उत्थान हुआ, फिर शब्दब्रह्म से जगत् हुआ, अर्थात् शब्दब्रह्म से पराक्षर ब्रह्म को परब्रह्म शब्द से कहा है, इसलिये 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्' इस न्याय के अनुसार प्रथम गोकुल को ब्रह्म-भाव से अथवा वैकुण्ठ से पृथक् करके, 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि वाक्यों से ब्रह्महृद में मग्न हुए गोकुलवासियों का फिर प्राकृत देह आदि से सम्बन्ध होना मर्यादामार्गीय श्रुतियों से विरुद्ध होता है, इसलिए भगवान् ने ब्रह्महृद से भी पृथक् करके गोकुलस्थ भक्तों को पुष्टिलीलात्मक जगत्त्व सम्पादन किया ।

वेद तो मर्यादा का निरूपण करते हैं । जो ब्रह्मानन्द में निमग्न हुए हैं, उनको वहाँ से पृथक् करना वेदों को सम्मत नहीं है, इसलिये श्रीकृष्ण के आज्ञारूप पुष्टिश्रुतियों की सम्मति से गोकुलवासियों का पुष्टिलीला में स्वीकार है, मर्यादा मार्ग में नहीं है, इसलिये श्रुतियों ने भी गोकुलवासियों को अपने से पृथक् कर दिया ।

यदि मर्यादामार्ग-प्रमाण में ही गोकुलवासी भक्त रहे आते तो फिर पुष्टिलीला में प्रवेश नहीं होता और प्रथम में किया सर्व व्यर्थ हो जाता इसलिये भगवान् ने शब्दब्रह्म का लोक दिखाकर, जिस प्रकार अक्रूरजी ने वहाँ जाकर भगवान् के स्वरूप को जाना था, उसी प्रकार ब्रजवासी भक्तों को प्रमाण से अपने स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये प्रथम ब्रह्मानन्द में मग्न किया और फिर वहाँ से निकाल लिया ।

ब्रह्मानन्दान्महानन्दो भजने वर्तते स्फुटः । तारतम्यं च विज्ञातुं प्रदर्शयोद्धृतवांस्ततः ॥
अर्थात् ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भजनानन्द में महान् आनन्द की प्राप्ति होती है, इसी तारतम्य के बतलाने के लिए भगवान् ने वैकुण्ठलोक का दर्शन कराया और फिर वहाँ से निकाल लिया ।

इस प्रकार संक्षिप्त प्रसङ्ग पञ्चीसवें अध्याय का सङ्गति का ज्ञान कराने के लिये कहा है । अब फलप्रकरण का प्रारम्भ करते हुए महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य जी नीचे लिखी कारिकाओं में से प्रथम चरण को कहकर शेष ७ कारिकाओं से तामस फलप्रकरण का तात्पर्यार्थ, और २ कारिकाओं में छब्बीसवें अध्याय का तात्पर्य कहते हैं ।

(सुबो०) ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने ।

लीलाया युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते ॥ १ ॥

लौकिकस्त्रीषु संसिद्धस्तद्वारा पुरुषे भवेत् ।

स्वानन्दानुभवार्थं हि योग्यतापि निरूपिता ॥ २ ॥

ततो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधायते ।

तद्द्वारा पुरुषाणां च भविष्यति न चान्यथा ॥ ३ ॥

स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्तास्तासु ततः पुमान् ।

अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यर्हिनशम् ॥ ४ ॥

बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरस्तु (परं) महाफलम् ।

ततः शब्दात्मिका लीला निर्दुष्टा सा निरूप्यते ॥ ५ ॥

ततो रूपप्रपञ्चस्य पञ्चधा रमणं मतम् ।

आत्मना प्रथमा लीला मनसा तु ततः परा ॥ ६ ॥

वाक्प्राणैस्तु तृतीया स्यादिन्द्रियैस्तु ततः परा ।

शारीरी पञ्चमी वाच्या ततो रूपं प्रतिष्ठितम् ॥ ७ ॥

षड्विंशे तु हरिः पूर्वं जीवानानन्दयत् स्वयम् ।

ते चेत् समर्पितात्मानस्तत्रोपायश्च रूप्यते ॥ ८ ॥

आत्मा यावत् प्रपञ्चोऽभूत् तावद् वै रमते हरिः ।

सोऽन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्ते हरिश्च सः ॥ ९ ॥

पदपदार्थ—(ब्रह्मानन्दात्) भजनानन्द और ब्रह्मानन्द में तारतम्य-रसविशेष मिलने का ज्ञान कराने के लिये ब्रजभक्तों को प्रथम जिसका अनुभव कराया, उस ब्रह्म के आनन्द से, अधिक दान भजनानन्द देने की इच्छा से (समुद्धृत्य) समस्त गोकुलवासी भक्तों को सम्यक् प्रकार से निकालकर (भजनानन्दयोजने) अपना स्वरूपात्मक भजनानन्द का भक्तों के लिये दान देने में (या) जो (लीला) रासादिरूप क्रीडा (युज्यते) योग्य होती है (सा) वह लीला (तुर्ये) चतुर्थ तामस फलप्रकरण में (विनिरूप्यते) विशेषता से निरूपण की जाती है ॥ १ ॥

(लौकिकस्त्रीषु) भजनानन्द लौकिक स्त्रियों में (संसिद्धः) सम्यक् प्रकार से सिद्ध है (तद्द्वारा) स्त्रियों के द्वारा (पुरुषे) पुरुष में (भवेत्) हो (हि) जिससे (स्वानन्दानुभवार्थं) अपने आनन्द के अनुभव के लिये (योग्यतापि) योग्यता भी (निरूपिता) निरूपण की है ।

(ततः) इस कारण से (हि) निश्चय (स्त्रीषु) स्त्रियों में (भजनानन्दः) भजनानन्द (सम्यक्) अच्छी तरह (विधायते) विशेषता से धारण किया जाता है (तद्द्वारा) स्त्रियों के द्वारा (पुरुषाणां च) पुरुषों को भी (भविष्यति) प्राप्त होगा (अन्यथा) और प्रकार से (न च) नहीं होगा ॥ ३ ॥

(हि०) जिससे (स्त्रियः) स्त्रियाँ (एव) ही (तं) उस भजनानन्द को (पातुं) पान करने के लिए (शक्ताः) शक्त हैं (ततः) अनन्तर (तासु) स्त्रियों में (पुमान्) पुरुष पान करने के लिए शक्त हैं । (अतः) इसीलिये (हि) निश्चय (भगवान्) षडैश्वर्यवान् (कृष्णः) कृष्ण (स्त्रीषु) स्त्रियों में (हि) इसी कारण से (अर्हिनशम्) दिनरात्रि (रेमे) रमण करते हुए ॥ ४ ॥

(बाह्याभ्यन्तरभेदेन) भगवान् ने बाहर और भीतर भेद से रमण किया है (आन्तरस्तु) भीतर रमण तो (महाफलम्) पर-अथवा महाफल है (ततः) अनन्तर (शब्दात्मिका) शब्द-रूप (लीला) क्रीडा (सा) वह (निर्दुष्टा) दोषरहित (निरूप्यते) निरूपण की जाती है ॥ ५ ॥

(ततः) अनन्तर (रूपप्रपञ्चस्य) रूप प्रपञ्च का (पञ्चधा) पांच प्रकार से (रमणं) रमण (मतम्) माना है । (आत्मना) आत्मा से (प्रथमा) प्रथम (लीला) रमण है (ततस्तु) इसके अनन्तर तो (परा) द्वितीय लीला (मनसा) मन द्वारा है (तृतीया तु)

तीसरी लीला तो (वाक्प्राणैः) वाणी और प्राणों से है (ततः) अनन्तर (परा तु) चौथी तो (इन्द्रियैः) इन्द्रियों के द्वारा (स्यात्) हो (पञ्चमी) पांचवीं लीला (शारीरी)

शरीर से (वाच्या) कही है (ततः) अनन्तर (रूपं) रूप (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित हो गया ॥ ७ ॥

(पङ्क्तिषु तु) छवीसवें अध्याय में तो (हरिः) भगवान् (पूर्वं) पहिले (स्वयं) आप (जीवान्) जीवों को (आनन्दयत्) आनन्द कराते हुए (ते) वे जीव (चेत्) जो (समर्पितात्मानः) आत्मसमर्पण करने वाले हों तो (तत्र) उसमें (उपायश्च) उपाय (रूप्यते) निरूपण किया जाता है ॥ ८ ॥

(यावत्) जब तक (आत्मा) जीव (प्रपन्नः) भगवच्छरण प्राप्त (अभूत्) होता है (तावत्) तब तक (वै) निश्चय (हरिः) भगवान् (रमते) रमण करता है (सः) वह हरि (अन्तःकरणसम्बन्धी) अन्तःकरण का सम्बन्धी है (च) और (सः) वह अन्तःकरण सम्बन्धी (हरिः) भगवान् (तिरोधत्ते) तिरोधान को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

भाषार्थ—ब्रह्मानन्द से बाहर निकाल कर भजनानन्द में युक्त करने के लिये जो लीला उपयुक्त है वह चतुर्थ तामस फलप्रकरण में विशेषता से निरूपण करते हैं ॥ १ ॥

प्रभुचरण श्री विट्ठल नाथ जी कहते हैं कि यदि कोई शंका करे कि भगवान् सर्वसमर्थ हैं इसलिये ब्रह्मानन्द की तरह घर में रहती हुई स्वामिनियों को भगवान् ने भजनानन्द का दान क्यों नहीं दिया ? स्वामिनियों का लोक-वेद त्याग कराकर आगे कही रीति के अनुसार भजनानन्द क्यों दिया ? इस शंका का समाधान कहते हैं—

यदि भगवान् ब्रह्मानन्द की तरह घर में ही स्थित स्वामिनियों को भजनानन्द दे देते, तो भजनानन्द भी ब्रह्मानन्द के मध्यपाती हो जाता, तो फिर ब्रह्मानन्द से गोकुलवासियों का निकालना भी व्यर्थ हो जाता । अर्थात् भजनानन्द का स्वरूप इस प्रकार का है, इसमें इस प्रकार का आनन्द है, इस प्रकार का ज्ञान स्वामिनियों को न होने से भजनानन्द दिया भी—नहीं दिया जैसा हो जाता, अतः भजनानन्द दान के अनुरूप रासलीला द्वारा भगवान् ने अपना आनन्द देने के लिये यह सब प्रकार किया है ।

प्रकाशव्याख्याकार श्री पुरुषोत्तम जी प्रकाश में इसका आशय इस प्रकार कहते हैं कि यह फलप्रकरण है, इसमें सर्व का ही फल कहना चाहिये, रसात्मक फल प्रमेयप्रकरण में भी दिखाया है, फिर यह तो फल प्रकरण है, इसमें तो कुछ प्रमेय प्रकरण से भी विशेषता कहनी चाहिये ।

विशेषता तो क्रमस्वारस्य से, ब्रह्मानन्द से भजनानन्द में अधिक है, सिद्ध होगी, नहीं तो शुकदेव जी पूर्वप्रकरण की समाप्ति में वैकुण्ठ में ले जाना और वहाँ से गोकुलवासियों को लौटाना नहीं कहते, केवल वैकुण्ठ में नयन मात्र ही कहते, अतः ब्रह्मानन्द से भजनानन्द विशेष ही है, इस प्रकार निश्चय करना चाहिये ।

विशेष भी दोनों का फल पृथक्-पृथक् अधिकरण में कहा गया है, इसलिये दोनों में मुख्य तथा अवान्तर भाव भी नहीं हो सकता है ।

समान अधिकरण को आक्षिप्त करके प्रथम गोपियों में पश्चात् गोपों में भजनानन्द का दान कहा है, इस आशय से गोपियों के द्वारा पुरुषों को भी प्राप्त होगा, इसको आगे कहेंगे ।

ब्रह्मानन्द सब में सामान्य है, इसलिये गोपियों में भी होने से कोई बाध नहीं है । यदि शंका करो कि गोपियों को ब्रह्मानन्द की आकांक्षा नहीं है फिर गोपियों में ब्रह्मानन्द को क्यों कहते हो ? इसका उत्तर यह है कि भक्ति का स्वभाव ही इस प्रकार का है कि जिससे ब्रह्मानन्द भी सिद्ध हो जाता है—'हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुक्ते' इसमें

यह वाक्य प्रमाण है और 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों में यजमान मात्र को स्वर्ग की कामना होती है—'समूहः सपशुः सुवर्गं लोकमेति' इस श्रुति में यजमान के परिकर को भी स्वर्ग-फल होता है, यह कहा है । उसी प्रकार यहाँ यद्यपि गोपियों की इच्छा ब्रह्मानन्द की नहीं है, तथापि ब्रह्मानन्द गोपियों में विद्यमान है ।

भगवान् के कार्यस्वरूप का विचार करते हैं तो गोपों में भजनानन्द और गोपियों में ब्रह्मानन्द का होना ठीक ही है, कारण कि भगवान् भक्त के इच्छानुसार ही फलदान करते हैं, इस प्रकार का कोई नियम नहीं है, यह बात विप्रयोग तथा ज्ञानोपदेश आदि से निश्चय होती है, व्रजभक्त क्या विप्रयोग चाहते थे, अथवा ज्ञान का उपदेश चाहते थे, गोपियाँ इन दोनों बातों को नहीं चाहती थीं, फिर भी भगवान् ने अपनी इच्छा से दोनों कार्य किये ।

भगवान् का कार्य एक है, उक्त न्याय से गोपों को भगवान् की सूक्ष्म गति देखने की इच्छा हुई, तब भगवान् का कार्य गोपियों में ब्रह्मानन्द के अनुभव को प्रमाणित करता है, वास्तव में तो जो प्रकार ब्रह्मानन्द से निकालने का कह आये हैं उसका यहाँ बोध किया है, इसलिये पृथक्-पृथक् अधिकरण होने पर भी दोष नहीं है, इस बात को आगे पंचम अध्याय में कहेंगे । 'यथाभक्तः' इस श्लोक के आभास में 'ब्रह्मभावाभावात्' ब्रह्मभाव का अभाव होने से दोष नहीं है, भ्रमरगीत आदि की कथा का विरोध नहीं है, कारण कि इस समय का फल निरोधशेष अङ्ग है, और ब्रह्मानन्द से निकालने में निरोध को फल शेष-अङ्ग है, इसलिये किसी शंका को अवकाश नहीं है ।

सुबोधिनीकार श्री वल्लभाचार्य जी 'भजनानन्दयोजने' इसमें यह लिखते हैं कि 'मुख्या गो-व्रज-योषितः' भजनानन्द का दान करने में मुख्य गाय तथा व्रज की स्त्रियाँ हैं, इसलिये १ श्रुतिरूपा, २ ऋषिरूपा, दोनों प्रकार की गोपिकाओं को भजनानन्द का दान करना यहाँ प्रकरणार्थ है, गोपों को नहीं है, कारण कि कारिका में 'समुद्धृत्य' इसमें क्त्वा को ल्यप् प्रत्यय हुआ है वह समान कर्त्ता में है, समान कर्म में नहीं हुआ है, इसलिये ब्रह्मानन्द का योजन-अनुभव तो समस्त गोकुल को हुआ है, किन्तु भजनानन्द में योजन गोपियों का ही है, अतः कोई कहे कि संगति कैसे होगी तो इस शंका को अवसर ही नहीं है । महाप्रभु जी उक्त कारिका का अन्वय इस प्रकार करते हैं—

'ब्रह्मानन्दात् सर्वान् उद्धृत्य गोपीनां भजनानन्दयोजने भगवता कर्त्तव्ये सति या लीला युज्यते सा तुर्यं निरूप्यते' अर्थात् ब्रह्मानन्द से तो सर्व गोकुल को निकाला किन्तु गोपियों को भजनानन्द के योजन में भगवान् के द्वारा कर्त्तव्य में जो लीला उपयुक्त होती है वह फलप्रकरण में कहते हैं, देवयात्रा प्रसङ्ग तो अन्यभावनिवृत्त करने वाला है ।

प्रभुचरण कहते हैं कि यदि शंका करो कि स्त्रियों के लिये ही भजनानन्द का दान किया है, उसमें भी प्रथम अन्य विवाहिता गोपों की स्त्रियों को, यद्यपि कुमारिका अन्य विवाहिता नहीं हैं, और न इनका भगवान् के साथ विवाह ही हुआ है, तथापि कुमारिकाओं को भी भजनानन्द का दान करना न्यायसंगत ही है, कारण कि वरदान देने के अनन्तर भी 'लब्धकामाः कुमारिकाः' प्राप्तकाम कुमारिका हुईं, यह कहा है । तो फिर स्त्रियों को ही भजनानन्द का दान क्यों किया इसमें कारण क्या है ? इस प्रकार की शंका में कारण कहते हैं—

'लौकिकस्त्रीषु संसिद्धः' रसात्मक भजनानन्द रसशास्त्र की रीति से परकीया में अच्छे प्रकार से प्राप्त होता है, इसलिये गोपस्त्रियों को भजनानन्द का दान दिया ।

कुमारिकाओं में भी भगवान् के साथ विवाह न होने के कारण अविवाहिता होने से 'परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका मताः' इस लक्षण से परकीयात्व ही है ।

‘तद्द्वारा पुरुषे भवेत्’ इस कथा के श्रवण करने से भावोदय वाले पुरुष में भी भजनानन्द रस प्राप्त हो जाता है, और प्रकार से प्राप्त नहीं होता।

‘स्वानन्दानुभवार्थं हि योग्यतापि निरूपिता’ पुरुषोत्तमसंबंधी आनन्द का अनुभव प्राप्त करने के लिये स्वामिनियों में लक्ष्मी के तुल्य योग्यता का भी निरूपण किया है।

यहाँ गोस्वामि श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं कि भजनानन्द स्वरूपात्मक है, कारण कि ‘रसो वै सः’ इत्यादि श्रुतियाँ भगवान का रसरूप कहती हैं, रस जैसा रसशास्त्र में कहा है, वैसा ही है, रसशास्त्र में जिस स्त्री के साथ अपना विवाह न हुआ हो उसमें मुख्य रस कहा है, अतः लोक-सम्बन्धिनी लोकिकी, अर्थात् भगवान से अतिरिक्त जिस स्त्री का लोक में विवाह लक्षण-सम्बन्ध हुआ हो वह लोकिकी परकीया कहलाती है, उसमें रस सम्यक् सिद्ध होता है। इसके अनन्तर इस कथा के श्रवण करने से परकीयात्व भाव पुरुष में होने पर उसको भी भजनानन्द रस का अनुभव हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं होता, इसलिये भगवान ने स्त्रियों को ही भजनानन्द का दान दिया।

कारिका में ‘संसिद्ध’ पद कहा है, इसका आशय यह है कि प्रथम भूलोक में इस रस की स्वरूपसिद्धि गोपियों में ही सम्भव होती है, अतः भगवान ने रस की सिद्धि के लिये भी गोपियों को रस का दान करके रस का स्वरूप सिद्ध किया है।

भगवान का रमण लक्ष्मी के तुल्य होने पर होता है, इस प्रकार की मर्यादा है। लक्ष्मी ब्रह्मानन्दरूपा है, प्रथम अध्याय में गोपियों में ब्रह्मभाव कहा है, इसलिये गोपियों में लक्ष्मीरूप होने से मर्यादा भी संपन्न हो गई है, इस कारण से भी गोपियों के साथ भगवान ने रमण किया है, अतः कारिका में ‘स्वानन्दानुभवार्थं’ अपना अनुभव कराने के लिए यह कहा है।

यद्यपि स्वामिनियों में ब्रह्मभाव होने से कुछ विशेष नहीं हुआ, तथापि ‘अधिकं तत्राणु-प्रविष्टं न तु तद्धानः’ उसमें अधिक प्रविष्ट होने पर भी कोई हानि नहीं होती, इस न्याय से ‘योग्यतापि’ योग्यता भी अपि शब्द से ज्ञापन की है।

‘स्वानन्दानुभवार्थं’ स्वासाम्, आनन्दानुभवः स्वानन्दानुभवः। इस प्रकार समास करने पर ‘स्व’ पद स्वामिनीवाचक है, इसका अनुभव पद के साथ सम्बन्ध जानना चाहिये, आनन्दपद भजनानन्द पर है, अर्थात् स्वामिनियों को परमानन्द का अनुभव कराने के लिये योग्यता, ब्रह्मभावरूप भगवान ने की है, यह अर्थ हुआ।

ब्रह्मभावरूप योग्यता तो गोपों में भी है इसलिये प्रथम किये अर्थ में अरुचि के कारण पक्षान्तर कहते हैं।

‘अथवा, बलदेव जी में अपने घर्मों का निरूपण करके भगवान् ने ‘गोप्योन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः’ इस वाक्य में कहा है कि गोपियों की तरह रस प्राप्ति की इच्छा लक्ष्मी भी करती है, किन्तु गोपियों की तरह यह रस लक्ष्मी जी को भी दुर्लभ है, इस परमानन्द रस को प्राप्त करने वाली गोपियाँ घन्य हैं, इसलिये व्रज की स्त्रियों में ही स्वानन्दानुभव योग्यता निरूपण की है। न तो अन्य पुरुषों में और न अन्य स्त्रियों में ही योग्यता है, कारण कि गोपियाँ ही इस रस को पाने की अधिकारिणी हैं, इसलिये भगवान ने गोपियों को ही परमानन्द रस का दान दिया है।

प्रथम कहे पक्ष में गोपियों की योग्यता तो कही, किन्तु योग्यता का बीज नहीं कहा, अतः बीज कहने के लिये पक्षान्तर कहते हैं।

‘हेमन्ते प्रथमे मासि’ इस श्लोक की सुबोधिनी में भगवान की प्रसादरूपा शक्ति स्त्री का प्रवेश जिसमें हो जाता है, उसमें प्रभु से सम्बन्ध करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है। वह योग्यता

गोपियों में संपन्न है इस बात को प्रथम कह आये हैं। अतः भगवान की प्रसादरूपा शक्ति स्त्री का पुरुष में भी प्रवेश हो जायेगा तो उसका भी गोपियों की तरह भाव हो जायेगा, इसी आशय से कहते हैं ‘तद्द्वारा पुरुषे भवेत्’।

प्रसादशक्ति के प्रवेश द्वारा अथवा व्रजभक्तों के अनुग्रह से पुरुषों को भी परमानन्द रस की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार योग्यता अनुग्रह से ही एकलभ्य है, यह दृढ़ किया है। कारण कि नित्य लीला में स्थित भक्तों सहित प्रभु का दर्शन करने पर, प्रभु के अनुग्रह से श्रुतियों को भी भाव उत्पन्न हो गया था।

‘यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः’ इत्यादि वाक्य श्रुतियों ने कहे थे। गोपों में इस प्रकार का भाव नहीं है, इसलिये योग्यता न होने के कारण भगवान ने गोपों को भजनानन्द का दान नहीं दिया है। व्रज की स्त्रियों में संसिद्ध तथा योग्यता है, इसलिये भजनानन्द भगवान ने गोपियों को दिया है।

यहाँ महाप्रभु श्री वल्लभ जी कहते हैं कि दोनों कारिकाओं में पुरुष पद कहा है, पुरुष पद से ‘स्त्रियो वा पुरुषो वापि भर्तृभावेन केशवम्’ इस वाक्य में कहे हुए जानने चाहिये, किन्तु केवल गोप नहीं, कोई भी स्त्री-पुरुष पति-भाव से केशव को भजेगा तो भजनानन्द प्राप्त होगा। प्रथम कारिका में यह सिद्ध किया है कि व्रजभक्तों के अनुग्रह द्वारा पुरुषों को भी परमानन्द फल की प्राप्ति होगी, किन्तु जिसमें प्रसादरूपा शक्ति का प्रवेश होगा, अथवा, व्रजभक्तों का अनुग्रह होगा, उसमें भी स्त्रीत्व-स्त्रीभाव के बिना परमानन्द रस की प्राप्ति नहीं होती है, इसी आशय को आगे की कारिका में कहते हैं ‘स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्ताः’। व्रजसीमन्तिनी स्त्रियाँ ही रसात्मक गोकुल, वृन्दावन आदि में प्रकट पुरुष रूप भगवान के रस-पान का सर्वेन्द्रियों से आस्वादन करने के लिये शक्य-समर्थ हैं, अर्थात् रसशास्त्रोक्त वय-गुणविशेष आदि से गोपियाँ ही उस रस का आस्वादन करने में संपन्न हैं। फिर स्त्रियों के पान करने के अनन्तर पुरुष भगवान का प्रथम जिस गोपी ने रसपान किया था, उसमें उसी रस के पान करने के लिए आप शक्य-समर्थ हैं। कारण कि रस अधिक होने पर पुंभाव हो जाता है, यह बात रसशास्त्र-सिद्ध है। प्रकाशकार पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि यदि शंका करो कि ब्रह्मानन्द नित्य है—

‘न स पुनरावर्तते’ ‘अनावृत्तिः शब्दात्’ इत्यादि श्रुति तथा न्याय से इस प्रकार सिद्ध किया है कि ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भजनानन्द में आधिक्य है, अतः इस लीला को नित्यता अवश्य होनी चाहिये।

लीलायें तथा लीलाओं का अनुभव करने वाली गोपियाँ बहुत-सी हैं, और भिन्न-भिन्न काल में लीलायें हुई हैं, इसलिये नित्यता तो बाधित होती है।

इस शंका के उत्तर में लीलाओं को स्वरूप से एवं प्रवाह से नित्यत्व अधिकारी निरूपण मुख से श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं। कारण कि पूर्वोक्त स्त्रियाँ ही रसयोग्य एवं रसपान करने में समर्थ हैं, इसलिये भगवान कभी भी रमण में व्यवधान नहीं करते हैं, अर्थात् निरन्तर रमण करते हैं, अतः रमणरूप से लीलाओं के स्वरूप को नित्यता है तथा बाहर-भीतररूप से प्रवाह को नित्यता है।

इसका विशेष स्पष्ट अर्थ यह है कि बाह्य रमण में रसात्मा भगवान धर्मसहित हैं और आन्तर रमण में तो नाट्य की तरह केवल हैं, धर्मरहित हैं। अतः इस प्रकार का रमण संपादन करने वाले व्रजभक्त नित्य हैं एवं परिच्छिन्न हैं।

भगवान का आविर्भाव कालचक्र की तरह जाता-आता रहता है, इसलिये प्रवाहरूप होने से भी स्वरूप नित्य निराबाध है, बाधित नहीं है।

भगवान नित्य रमण करते हैं 'अतो हि भगवान्' कारण कि रसात्मक भगवान के स्वरूप के अनुभव में विविध रसभावपोषक व्रजभूषण भक्त ही अनुरूप हैं, अन्य कोई नहीं है, इसलिये भगवान कृष्ण षडैश्वर्यवान सदानन्द (स्त्रीपु) रसशास्त्र के अनुसार वय-गुणविशेषादि-संपन्न व्रजसीमन्तिनियों में रात्रि-दिन बाह्य तथा आन्तरभेद से व्यवधानरहित-निरन्तर रमण करते हैं।

उसमें भी बाह्य रमण की अपेक्षा आन्तर-भीतर रमण तो परफल अथवा महाफल है, कारण कि भीतर रमण में प्रियतम के विप्रयोग समय में सखीवृन्द के साथ परस्पर गुण-गान करने में जिनका कभी अनुभव नहीं किया तथा अनिर्वचनीय-वाणी से न कहे जा सकें इस प्रकार के अनेक भावों का समूहात्मक गुणगानरूप महाफल मिलता है।

इसका परिज्ञान तो उक्त अवस्था को प्राप्त हुए रसिक भक्त ही जान सकते हैं, और इस प्रकार के परस्पर गुणानुवाद में लीलासहित प्रियतम का प्राकट्य होता है तथा प्राकट्य से भीतर भावविशेष उत्पन्न होते हैं जो भाव सङ्गम-संयोग में भी नहीं होते हैं, इसलिए आन्तर-भीतर रमण को परम महाफल कहा है।

अब निष्कर्ष कहते हैं—

स्त्रियाँ ही भजनानन्द का पान करने के लिये समर्थ हैं, स्त्रियों के पान करने के अनन्तर पुरुष स्त्रियों का रसपान कर सकते हैं, आन्तर रमण महाफल है, इसका विचार करते हैं, 'नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुति के अनुसार प्रपञ्च, नाम और रूपभेद से दो प्रकार का है, अर्थात् नाम रूप और रूप-रूप। इसी प्रकार लीला प्रपञ्च भी दो प्रकार का है, (१)—गुणगान-लक्षण नामात्मक भगवान के स्वरूप की परमानन्दरूप भावात्मक रमण वाली लीला, प्रिय में दोषारोपण आदि दोषरहित है, इसका सप्तमाध्याय में आगे निरूपण करेंगे।

आन्तर-भीतर रमण निर्दोष है इसलिये पर है, इसी को आगे कारिका से कहते हैं— 'ततः शब्दात्मिका लीला निर्दुष्टा सा निरूप्यते' बाह्य रमण पाँच अध्याय में करने के अनन्तर युगल गीत के अध्याय में कही गुणगान लक्षण लीला निर्दुष्टा-निर्दोष है।

रूपलीला में मान आदि के द्वारा भगवान में दोषारोपण भक्त करते हैं, अतः सदोष है, नामलीला में तो प्रभु में दोषारोपण दोष नहीं है, इसलिये निर्दोष है, वह शब्दात्मिका लीला निरूपण की गई है, शब्द द्वारा आत्मा, स्वरूप जिसका उसकी लीला, इस प्रकार समास सुबोध-नीकार ने किया है, टिप्पणी के अनुसार अर्थस्वारस्य 'शब्द की लीला' है, इस प्रकार सप्तम अध्याय की व्यवस्था कही है, शब्दात्मिका लीला भी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति भेद से दो प्रकार की है, षष्ठाध्याय में प्रवृत्तिरूपा है और सप्तमाध्याय में निवृत्तिरूपा है।

प्रथम पाँच अध्याय की लीला जिस प्रकार पूर्व कथनानुसार दोषरहित है, उसी प्रकार षष्ठाध्याय में भी वेदात्मक शेषरूप बलदेव जी के साथ की गई लीला में शङ्खचूड़ की उक्ति दोष सहित है तथा शङ्खचूड़ के वध की उक्ति से यहां वह भी निर्दोष मालूम पड़ती है। अतः दो अध्यायों में निरूपण है।

भगवान कृष्ण रात्रि-दिन स्त्रियों के साथ रमण करते रहते हैं, इस विषय में प्रकाशकार पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि जिस प्रकार यहां शङ्खचूड़ के वध के कारण दोषनिवृत्ति है, उसी प्रकार पञ्चाध्यायी की लीला में 'नार्हतु सः' इत्यादि वाक्यों द्वारा भक्तों के अन्तःकरण में

स्थित दोषों की निवृत्ति हो गई है, इसलिये दोनों लीलायें दोषरहित हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रथम पञ्चाध्यायी की लीला में भगवान के प्रयत्न से गोपियाँ दोषरहित हुईं और शब्दात्मिका लीला में अपने आप ही दोष निवृत्त हो गये, इसलिये उत्तर लीला को परत्व कहा है।

ब्रह्मानन्द से अधिक परमानन्द तो दोनों लीलाओं में ही प्राप्त हुआ है, कारण कि अनुग्रह-विशेष नियत होने से फल प्राप्त हुआ है, इस प्रकार फलप्रकरण का तात्पर्य है, यह सर्व 'लीलाया युज्यते सम्यक्' इसमें सम्यक् पद से प्रथम ज्ञापन किया है, निष्कर्ष इस प्रकार है कि बाह्य रमण के अनन्तर दोषरहित शब्दात्मिका लीला ६-७ दो अध्यायों में कही है। इस प्रकार प्रकरण का अर्थ कहकर इसके अवान्तर प्रकरण के अध्यायों का विभाजन करते हैं।

(२) रूप पञ्चात्मक है, इसीलिए रूप का दान भी पाँच प्रकार से दिया है, अतः रूप-प्रपञ्च का निरूपण पाँच अध्याय से किया है। इसको आगे कहते हैं, 'ततो रूपप्रपञ्चस्य' इत्यादि। भगवान ने पञ्चात्मकरूप के जिस अंश से जो रमण-आनन्द स्थापन लीला की है उस लीला को क्रम से डेढ़ कारिका से कहते हैं।

'आत्मा से प्रथमाध्याय में लीला की है, द्वितीयाध्याय में मन द्वारा की है, वाणी तथा प्राण द्वारा तृतीय अध्याय में की है, इन्द्रियों द्वारा चतुर्थ अध्याय में लीला की है और शरीर से भगवान ने पाँचवें अध्याय में लीला की है।

इस प्रकार पाँच अध्यायों में एक-एक में एक-एक अंश से लीला अध्याय का अर्थ है। इस प्रकार टिप्पणी में प्रथम पक्ष कहा है। दूसरे पक्ष में उक्त पाँचो लीलायें प्रत्येक अध्याय में भगवान ने की हैं, इस प्रकार कहा है—

यद्यपि पुरुषोत्तम का स्वरूप 'स यथा सैन्धवघनः' इस श्रुति के अनुसार सैन्धवघन-नमक की तरह आनन्दैकघनरूप है, अतः एक रस कर-चरणादि अवयव आनन्दमय हैं और साकार-रूप से प्रतीयमान पुरुषोत्तम को ही आत्मरूपता है, प्रतीयमान पुरुषोत्तम देह में जीव की तरह आत्मा की स्थिति नहीं है, तथापि 'पश्यन् चक्षुर्वदत्वाक्' अर्थात् देखता हुआ चक्षु, बोलती हुई वाणी, इस श्रुति के अनुसार तत्तद् इन्द्रियों के कार्य करते हुए भगवान ही इन्द्रिय रूप हैं, उसी प्रकार भगवान का आत्मकार्य करते हुए आत्मशब्द से व्यवहार होता है।

इसी से श्री विट्ठलनाथ जी ने टिप्पणी में कारिका निरूपण की है—

'यथेन्द्रियादिरूपत्वं शुद्धस्य ब्रह्मणस्तथा।

आत्मत्वादि स्वरूपत्वं मन्तव्यं श्रुतिवाक्यतः।

इस कारिका में आत्मरूपता ब्रह्म की निरूपण की है।

आत्मकार्य तो पुरञ्जन के उपाख्यान में स्पष्ट है, वहां पर केवल आत्मा को लिङ्ग-शरीर से सम्बन्ध करना तथा स्थूल देह में वास करना वर्णन किया है। इसलिये प्रथम से सर्व-वस्तु का संपादन करना आत्मकार्य है।

इसी प्रकार यहां भी आत्मकार्य भगवान का 'रन्तुं मनश्चक्रे' इत्यादि वाक्यों द्वारा नूतन मन आदि सर्वसामग्री संपादन करने का निरूपण किया है। इसलिये प्रथमाध्याय में भगवान के आत्मकार्य का वर्णन किया है।

स्वतन्त्र लेख में जो बात आत्मा की लीला के विषय में कह आये हैं उसी को विशेष श्रुति प्रमाण देकर पुष्ट किया है, और कहा है कि जिस प्रकार इन्द्रियादि संघात में आत्मा को मुख्यता है, उसी प्रकार प्रकृत विषय में स्वामिनीभाव को प्रधानता है, अतः प्रथम अध्याय में स्वामिनीभाव कहा है।

यदि कहो कि भाव मन का विकार होता है, तो उसको ब्रह्मरूपता कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर इस प्रकार है कि प्रभु रसरूप हैं, यह श्रुति कहती है, रस स्थायिभावात्मक है, 'स मानसीन आत्मा जनानाम्' इस श्रुति के अनुसार भगवान् भावरूप मन में प्रकट होते हैं, इसलिये विकारत्व नहीं है, भाव को ब्रह्मरूपत्व है।

वेणुगीत में यह कह आये हैं कि जितना कार्य है, वह सब आत्मा के अधीन है, उसी प्रकार यहाँ भी भाव के अधीन है। यदि कहो कि भगवान् में सजातीय विजातीय स्वगत द्वैत का अभाव है फिर 'आत्मना' इत्यादि डेढ़ कारिका की सङ्गति कैसे हो सकती है ?

इसका उत्तर 'चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः, प्राणश्चैव प्राणो भवति' इत्यादि श्रुतियों में जिस प्रकार तत्तत्कार्य करने के लिये इन्द्रियादि रूप भगवान् का वैदिक लोग मानते हैं, उसी प्रकार 'यस्यात्मा शरीरम्' 'य आत्मानमन्तरोयमयतीति' इस श्रुति वाक्य से भगवान् आत्मा आदि के भोक्ता हैं, इसलिये आत्मस्वरूप भी हैं। सारांश यह है कि तत्तत्कार्य करने के कारण तत्तद्रूप स्वयं ही भगवान् हैं, इसलिए द्वैतापत्ति नहीं है।

'आत्मना प्रथमा लीला' इस प्रकार कारिका में ठीक ही कहा है। आगे मन आदि की प्राधान्यता से तत्तल्लीला कही हैं, गोपिकाओं में मनः प्रभृति सर्व अपने नहीं हैं, भगवान् के हैं, इस प्रकार यह विप्रयोगदशा का ज्ञापन किया है, यह सब आन्तर फल सिद्ध होने के लिये भगवान् ने किया है, इस लीला के करने में बीज प्रथम 'आत्मनालीला' आत्मा से लीला है, कारण कि आत्मा आधारभूत लिङ्ग शरीर से उपजीवन करता है।

दूसरी लीला मन से की है, 'प्राणवन्धनं हि मनः' इस श्रुति के अनुसार मन प्राण के अधीन है, इसलिये प्राण द्वारा मन को उपजीव्यत्व है, वाणी प्राण का विकार है, इसलिए प्राण के अन्तर्गत होने से तीसरी लीला वाणी प्राण द्वारा की है।

इसके अनन्तर इन्द्रियाँ प्राणव्रत वाली हैं, इसलिये इन्द्रियों को प्राण द्वारा उपजीवकत्व है, अतः चतुर्थ अध्याय में चौथी लीला इन्द्रियों द्वारा की है।

फिर शरीर सबका उपजीवक है, इसलिये शारीरी लीला पाँचवीं है। इस प्रकार यह श्रौत वासनारूप है, उक्त कहने से अध्यायसङ्गति भी कह दी है, अतः पृथक् नहीं कही। उक्त पक्ष में भक्तस्वरूप के न्यग्भाव से रसात्मक भगवान् की लीला होती है, रसवान् की नहीं होती है।

भगवान् तो रसावान् भी हैं, अतः रसवानरूप से भी लीला वाच्य—कहने योग्य ही है, नहीं तो मूल वाक्य असङ्गत हो जाये, इस सबका अभिसंधान करके आत्मा आदि को कारणत्व भी विरुद्ध न हो, इसलिये टिप्पणी में दूसरा पक्ष कहा है, 'अथवा आत्मना प्रथमा' इत्यादि से प्रत्येक अध्याय में पाँचो प्रकार से लीला कही है, उसी को स्पष्ट कहते हैं कि प्रियाओं को फलदान देने के लिये भगवान् इस प्रकार का रूप प्रकट करके स्थित हुए।

(१) 'भगवानपि' यहाँ भगवत्पद से आत्मा द्वारा लीला कही।

(२) 'मनश्चक्रे, कृष्णगृहीतमानसाः' इत्यादि श्लोक में परस्पर गोपियाँ तथा भगवान् के चित्त की लगन कहने से मन से लीला कही।

(३) अनन्तर 'स्वागतं वो' इसमें वाणी से लीला की, भगवान् के वचन श्रवण कर गोपियों के प्राणों की स्थिति में तो प्राणरूप से भगवान् ही वाणी द्वारा प्रविष्ट हुए, इसलिये प्राणों की लीला कही।

इसीलिये 'प्रतिभाषमाणम्' यहाँ भाषमाण पद कहने से ही चरितार्थता हो जाती फिर प्रति शब्द जो कहा है, इससे अपने प्रवेश के कारण प्रतिकूल भाषण अर्थ है, 'वाक् प्राणः' यहाँ

एक पद कहा है और अग्रिमाध्याय की लीला में 'वाक् प्राण' इस प्रकार ऐक्यता से ही लीला का विवरण किया है। इसलिये यहाँ दोनों का भेद वर्णन करना युक्त है, इसी आशय से तृतीयाध्याय का विचार टिप्पणी में कहते हैं कि, 'बलं हि प्राणानां धर्मः' 'अन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलम्' अन्न से प्राण और प्राणों से बल होता है, अतः बल प्राणों का धर्म है और वह अलौकिक है। इसीलिए प्राण भगवान् को वशीकरण लक्षण बलयुक्त कहा है, अतः स्वामिनी वाणीरूप तथा प्राणरूप होने के कारण वाणी तथा प्राणों द्वारा लीला है।

(४) इसके अनन्तर इन्द्रिय और (५) शरीर की लीला स्पष्ट है।

भगवान् का तिरोधान भी कायिक है, इस हेतु से स्वरूप की अभिव्यक्ति शारीरी लीला है, इस प्रकार प्रथमाध्याय में पाँच प्रकार की लीला कही है।

(१) द्वितीयाध्याय में, तिरोधान दशा में व्रजभक्तों की आत्मा भगवान् में ही प्रविष्ट है, इसीलिए भगवान् ने ही आत्मत्व से व्रजभक्तों में स्थित होकर कार्य किया है, इस प्रकार आत्मा द्वारा लीला है।

(२-३-४) इसी प्रकार मन आदि से लेकर इन्द्रियपर्यन्त भगवान् ने ही तत्तद्रूप से मन आदि रूप से कार्य किया है, इस प्रकार जानना चाहिये।

(५) 'नात्मागाराणि सस्मरुः' इस वाक्य से देह की स्मृतिरहित गोपियों का पुनः पुलिन में आगमन अपने आप सम्भव नहीं हो सकता है, अतः वह शारीरी लीला है।

तृतीयाध्याय में (१) व्रज के उत्कर्ष का हेतु, दर्शन के बिना वधहेतु, रक्षा करना, अलौकिकत्व प्रतिपादन में ब्रह्म की प्रार्थना से प्राकट्य, यह सर्वस्वरूप मात्र का ही कार्य बतलाया है, इसलिए आत्मा द्वारा की गई लीला का चार श्लोक में प्रतिपादन है।

(२) इसके आगे भगवान् के निकट आगमन, दो प्रकार का रमण तथा मुख्य रसदान की प्रार्थना करना, ये सब उद्दीप्तभावपूर्वक हैं, भाव मन में रहते हैं, इसलिए मन की लीला चार श्लोक में कही है।

(३) इसके अनन्तर एक श्लोक से गोपियों की प्राण-स्थिति में हेतु कथास्वरूप का निरूपण है, यहाँ वाक्प्राणरूपता स्पष्ट ही है।

(४) इसके आगे 'प्रहसित ईक्षण' आदि इन्द्रियकार्य है, इस लिए इन्द्रिय द्वारा लीला है। इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दो प्रकार की हैं, इसलिए इन्द्रिय द्वारा लीला दो श्लोक में कही है।

(५) अनन्तर दिन के अन्त में भगवान् अपने मुख का प्रदर्शन स्वयं आकर कराते हैं, अतः शारीरी लीला है।

इसके आगे भगवान् को शारीरत्व स्पष्ट है, अधराभूतदान करना, रतान्तःपाति है, इसलिए शरीर से ही होता है, वन में घूमना शरीर को स्पष्ट बतलाता है, दर्शन के अन्तराय से दुःख देने में हेतु स्वरूप ही है, इसलिए यह भी शारीरी लीला ही है। आगे त्याग भी देहिक ही है तथा आगे मुख तथा उरःस्थल भी देह-मध्य-पाती होने से शारीरी लीला ही है।

इसके आगे स्वरूप प्रकट होने की प्रार्थना तथा आगे शरणाश्रुति भी देह है यह भी शारीरी लीला स्पष्ट है।

स्वामिनिषों को भगवान् का बाहर प्राकट्य ही अभीष्ट है, प्रकट ईश्वर को ही ईश्वर-वाद समझती हैं, नहीं तो शून्यवाद समझती हैं, इस बात को ज्ञापन करने के लिए ऐश्वर्य समान

संख्या श्लोकों द्वारा अर्थात् अणिमादि भेद से ऐश्वर्य आठ प्रकार का है, अतः आठ श्लोकों से देहिकी लीला का निरूपण किया है।

चतुर्थ अध्याय में प्रिय का प्राकट्य होने से गोपियों को प्रथम दशा विस्मृत हो गई, इस बात को ज्ञापन करने के लिए कहे हुए क्रम का अतिक्रम कहते हैं।

(१) दैन्यभाव तथा बाहर प्रकटरूप से साधन तथा फलरूप से—आत्मा द्वारा लीला है।

(२) फिर आगे सर्वव्रजसीमन्तिनियों का उत्थान भगवान् के मन से ही हुआ है, इसलिए मन से लीला है।

(३) फिर इन्द्रियों से स्पष्ट ही है।

(४) इसके आगे अग्रिम लीला के योग्य स्थल में जाना, और वहां आसन पर बैठना आदि शारीरी लीला है।

(५) फिर वहां वाणीरूप है, भगवान् ने कहा कि 'मैं तुम्हारे पास में ही था, तिरोहित नहीं हुआ' इस प्रकार कहने से वाणी तथा प्राणरूप लीला है।

पञ्चम अध्याय में (१) प्रतिबन्ध निवृत्त करके भगवान् ने अङ्गों से गोपियों का पोषण किया है और गोपियों का पहिले की तरह भाव संपन्न कर दिया है। इसलिए आत्मा से लीला है।

(२) क्रीडा करने से मन के रस का उद्गम होता है, इसलिये क्रीडा का आरम्भ होना मन से लीला है। क्रीडा के समय भगवान् तथा गोपियों की शोभा भी मानसी लीला है।

(३) इसके आगे भगवान् के साथ गान वाक्प्राणों द्वारा लीला है।

(४) अनन्तर भगवान् का स्कन्ध-कंधा ग्रहण, आघ्राण रस का आस्वादन आदि हस्त-कमलधारण पर्यन्त इन्द्रियों द्वारा लीला है।

(५) इसके आगे शारीरी लीला है।

इस प्रकार पांच अध्याय में आलम्बनरूप प्रत्येक में पांच लीला कहकर भगवान् की लीला के भी क्रम का समर्थन किया है, कारण कि एक समय में ही पांचो लीला करने से रूप प्रतिष्ठित भगवान् करते तो दूसरे अध्यायों में की हुई लीला व्यर्थ हो जाती।

कहीं पर क्रमभङ्ग जो कहा है, वहां पर तो आलम्बनीयरूप से बीज का अभाव है, इस शंका को हृदय में करके पक्षान्तर कहते हैं कि 'अथवा'

'शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः। रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रमः' ॥

इस प्रकार यह श्लोकरूप वात्स्यायन सूत्र है। इसके अनुसार जिस समय दोनों नायक-नायिकाओं में उद्भट भाव उत्पन्न हो जाता है, उस समय सर्वत्र सर्वलीला होती है, किसी क्रम, शास्त्र की मर्यादा नहीं रहती है, इसलिये यहां भी सर्वत्र सर्वलीला कही है, पूर्वोक्त क्रम विवक्षित नहीं है, इस प्रकार यह रसशास्त्र की मर्यादा है। रसिकों को स्वयं ही भावनीय है।

यहां पर यह जानना चाहिए कि भगवान् रसरूप हैं, उनका आलम्बन स्वाभाविक है, इस लिये भक्तों में जो सर्वात्मभाव है वह रसात्मक है, अतः भक्त आलम्बन हैं।

यद्यपि क्रम की विवक्षा नहीं है, तथापि 'अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः' इस प्रकरण की श्रुति अनुसार भेद की सत्ता होने से सकृत् एक समय में लीला जब होगी तो फिर उसकी निवृत्ति भी नहीं होगी, निवृत्ति न होने पर लय होना असंभव हो जायेगा, अतः असकृत् बार-बार लीला करना ही विवक्षित है।

भगवान् का धर्म स्वाभाविक होने से इतर अध्यायों की लीला भी व्यर्थ नहीं है। इस प्रकार भगवान् ने प्रथम पांच प्रकार से आत्मा में, फिर पांच प्रकार से मन आदि में, इस प्रकार पांचों में

पांच प्रकार के धर्म सहित आलम्बन की स्थिति में भक्तस्वरूप का सम्यक् प्रकार से लय हो जाता है, अतः सुबोधिनी में विरोध की गन्ध नहीं है तथा शास्त्रीय हेतु कहने से प्रथम कहा क्रमत्याग दोष भी नहीं है।

'ततो रूपं प्रतिष्ठितम्' इस प्रकार भगवान् ने जो आत्मा आदि पांच प्रकार के स्वरूप की लीला की है, उससे हरिप्रियाओं में अपना रूप प्रतिष्ठित किया है, अर्थात् पूर्ण स्वरूपानन्द का दान दिया है।

इस प्रकार प्रथम प्रकरणीय अध्याय विभाग को कहकर, निर्वाहक अथवा कार्यकारणभाव अवान्तर दोनों प्रकरणों की सङ्गति का बोध किया, अब पञ्चीसवें अध्याय तथा छब्बीसवें अध्याय की भी सङ्गति साधन फलरूप ही विशेषरूप से है, इसको कहने के लिये अध्यायार्थ कहते हैं।

श्री विट्ठलनाथ जी आज्ञा करते हैं कि प्रथम अध्याय में प्रभु ने स्वामिनीभावरूप आत्मा से लीला की है, अतः भक्तों के भी आत्मा में ही स्वानन्द-पूर्ण किया है, कारण कि जीव के आत्मलिङ्गरूप मन में भावरूप से प्राकट्य होता है, इसलिये लिङ्ग के भीतर स्थित जीव को समीपता है, अतः आत्मा में ही भगवान् ने अपना आनन्द पूर्ण किया है, इसी बात को कहते हैं कि 'पङ्क्तिषु' छब्बीसवें अध्याय में 'हरिः' सर्वदुःखहर्ता भगवान् (पूर्व) प्रथम (स्वयं) आप (जीवान्) जीवों को (आनन्दयत्) आत्मानन्द देते हुए; यह भाव आनन्दरूप है, इसलिये प्रभु ने इस प्रकार का रसभाव पूर्ण किया कि जिससे गोपियाँ प्रभु के वचनों से भी निरपेक्ष हो गईं।

फिर भगवान् ने क्रम से इतना विशेष भाव इस प्रकार का किया कि उस भाव से भगवान् के स्वरूप से भी निरपेक्ष हो गईं, अर्थात् भगवान् के स्वरूप की भी अपेक्षा नहीं रही। इसीसे गोपियों को मान हुआ है।

भगवान् का भाव नित्य है, इसलिये यह भाव स्थायिभाव की तरह स्वामिनियों में नित्य—सदा है, यह जानना चाहिये। कारण कि इस रस में नायिका का प्राधान्य ही रहता है, इसी से आगे 'ईषत् कुपिताः' यह कहेंगे।

द्वितीय-तृतीय आदि लीला में करणभूत मन, वाणी, प्राण आदि में भी भगवान् ने रसपूर्ण जिस प्रकार आत्मा में किया, उसी प्रकार भगवान् ने अपने मन आदि का आनन्द देकर गोपियों के मन आदि को पूर्ण किया है।

प्रकाशकार कहते हैं कि यहां का सर्वप्रकार भगवान् का गजजलपानन्याय से अपने स्वरूप के अनुभव के लिये है, इसलिये आत्मारामत्व का ही निर्वाहक है, इसी गूढाशय को श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं कि 'यमेवैष वृणुते' इस श्रुति के अनुसार भगवान् ने जो कुछ इतना सब किया व्रजभवतों में वह स्वतः—अपने आप ही भगवान् ने किया है, साधनबल से नहीं किया है। इस बात को 'स्वयं' पद सूचित करता है।

यदि शंका करो कि तो फिर भगवान् का गोपियों को नारद द्वारा बुलाना तथा घर गमन का बोध आदि करना अयुक्त हो जायेगा।

इस शंका के उत्तर में युक्ति कहते हैं कि भगवान् जिस समय लीला करते हैं, उस समय शास्त्र मर्यादा दिखाते हैं, इसी आशय से आगे डेढ़ श्लोक कहते हैं कि 'ते चेत्समर्पितात्मानः' इत्यादि। वे भक्त यदि सर्वात्मभाव वाले होते हैं, तब ही इस रस की प्राप्ति होती है, और प्रकार से रस की प्राप्ति नहीं होती है।

उक्त प्रकार कहने से गोपियों में ही भगवान् ने इस प्रकार से रमण किया है, ओरों के साथ क्यों नहीं किया, इस शंका का भी उत्तर दे दिया है। अर्थात् अन्य भक्तों में सर्वात्मभाव न होने से उनके साथ भगवान् ने रमण नहीं किया है।

सर्वात्मभाव भी भगवत्कृत ही होता है, अन्यथा नहीं होता है, कारण कि भगवान् के अनुग्रहविशेष से ही एक लभ्य होता है।

'स एवाधस्तात्' इत्यादि श्रुति में प्रतिपादन किया असाधारण कारणभूत स्थायीभूत सर्वात्मभाव है।

जिस प्रकार जीवों को चिदात्मकत्व है, उसी प्रकार स्थायित्व है। यदि कहो कि यह तो लौकिक में भी होता है। तब इस शंका के दूर करने के लिये श्रुति में लभ्य पद कहा है, अतः यह लौकिक नहीं है, भगवद्भक्त है, इसी बात को ज्ञापन करने के लिये सर्वात्मभाव के उपायरूप रमण की इच्छा, चन्द्रोदय, गान और निषेधवचन कहे हैं। अतः यहां आत्मसमर्पण में उपाय कहा है।

अन्तर्गृह्यता गोपियों की कथा से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सर्वात्मभावरहित जीवों को उक्त रस की प्राप्ति नहीं है। यहां यह बात 'च' से कही है।

प्रकाशकार कहते हैं कि भगवद्विषयक रसाख्य स्थायित्व भी सर्वात्मभाव का लक्षण नहीं है, तभी तो अन्तर्गृह्यताओं को परमानन्द रस प्राप्त नहीं हुआ है। सर्वात्मभाव लौकिक और अलौकिक से विलक्षण है, इस बात के ज्ञापन करने के लिये श्रीविठ्ठलनाथ जी कहते हैं कि मान तथा तिरोधान द्वारा अन्य भी सर्वात्मभाव-संबन्धिनी मर्यादा ज्ञापन की जाती है कि 'आत्मा यावत् प्रपन्नोऽभूत्'।

इसमें 'भवति' क्रिया का प्रयोग करना चाहिये था, फिर जो 'अभूत्' भूतकाल का प्रयोग किया है, इसलिये यहां लट् के अर्थ में लुङ् का प्रयोग छान्दस है। इसका अर्थ इस प्रकार होता है कि जब तक आत्मा भगवान् के प्रपन्न-शरण होता है, तब तक ही 'हरि—सर्वदुःखहर्ता' भगवान् बाहर प्रकट होकर रमण करते हैं।

इस रस की मर्यादा को आगे स्वयं ही अन्त के दो श्लोकों में कहेंगे। भगवान् अन्तःकरण के अभाव में बाहर से तिरोधान करते हैं, इसमें हेतु कहते हैं कि 'अन्तःकरण-सम्बन्धी' जिस प्रकार पति, पुत्र आदि शरीरसम्बन्धी हैं, उसी प्रकार हरि भगवान् अन्तःकरण-सम्बन्धी हैं, और एक सर्वभाव प्रपत्ति से ही लभ्य हैं, सर्वभाव से प्रपत्ति अन्तःकरण का धर्म है, इसलिये कारण के अभाव में कार्य का न होना युक्त ही है। अर्थात् अन्तःप्रपत्ति के अभाव में बाहर से तिरोधान युक्त ही है, इसलिये भगवान् तिरोहित हो जाते हैं।

भगवान् का तिरोधान भी मान से उत्पन्न दुःख को दूर करने के लिये ही है, इसलिये यहां 'हरि' पद कहा है, वह हरि दुःख दूर करनेवाला है।

एवं गजेन्द्रमुपवर्णित-निविशेषं ब्रह्मादयो विविध-लिङ्गभिदाभिमानाः।

नैते यदोपसृपुर्निखिलात्मकत्वात् तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत् ॥

यह वाक्य गजेन्द्र के प्रसङ्ग में है, गजेन्द्र ने निविशेष ब्रह्म की स्तुति संकटकालीन दशा में की किन्तु ब्रह्मा आदि विविध चिह्नों के अभिमानी देवता गजेन्द्र की रक्षा करने नहीं आये, उस समय स्वयं भगवान् ने प्रकट होकर गजेन्द्र की रक्षा की।

उसी प्रकार अन्वेषण आदि साधनों द्वारा भगवान् प्रकट नहीं हुए, उस समय ब्रजभक्तों में अति दैन्य प्रकट हुआ और दैन्य से प्रसन्न हो स्वयं प्रकट होकर भगवान् ने गोपियों का दुःख निवारण आदि सर्वकार्य किया है।

उक्त प्रकार का विलक्षण व्याख्यान करके इस फल की प्राप्ति में दुर्लभता दिखायी है। इस प्रकार तिरोधान करके भी भगवान् अनुग्रहीत भक्तों का त्याग नहीं करते हैं इस बात का बोध करने के लिये प्रकारान्तर से कहते हैं। अथवा, अन्तःप्रपत्ति नहीं हो और सर्वभाव से प्रपत्ति उत्पन्न करने के लिये भगवान् अन्तःकरण-सम्बन्धी हों, अर्थात् अन्तःकरण में स्थित होकर बाहर से तिरोहित हो जायें, भीतर से नहीं हों, इस प्रकार दूसरी मर्यादा है।

अब तीसरी मर्यादा कहते हैं, मान का यह सहज धर्म है कि नायक का तिरस्कार करना, नहीं बोलना और न देखना इत्यादि। प्रकृत में यह सर्वकार्य स्वयं ही प्रभु ने किया है, केवल इसी समय यह प्रकार है, किन्तु सर्व के लिये सर्वदा तो इस प्रकार की व्यवस्था है कि 'सोऽन्तःकरणसम्बन्धी' पूर्वोक्त रसभावात्मक प्रभु ही मानात्मक होते यदि अन्तःकरण-सम्बन्धी हों तो बाहर से तिरोधान को प्राप्त हो जाते हैं।

अथवा यदि शंका करो कि कायिक चेष्टा द्वारा भगवान् ने मान को दूर क्यों नहीं किया, भीतर प्रविष्ट होकर क्यों किया? तब इस शंका में हेतु कहते हैं कि 'सोऽन्तःकरणसम्बन्धी' ज्ञान आदि भीतर अन्तःकरण आत्मा में ही होता है और भगवान् अन्तःकरण आत्मसम्बन्धी हैं, शरीर-सम्बन्धी नहीं हैं, इसलिये बाहर से तिरोधान किया है।

प्रथम अध्याय में 'आत्मना' कहकर ब्रजभक्तों की आत्मा में भगवान् ने आनन्दपूरित किया है, आत्मा भीतर है, अतः भीतर प्रविष्ट होकर उसके धर्मों को दूर किया है, इसलिये यहां कहा है।

जिस समय भगवान् कायिक आनन्द का दान करेंगे, उस समय बाहर भी शरीर के धर्मों को दूर करके अपना आनन्द प्रदान करेंगे।

गीतगोविन्द आदि में उसी प्रकार का गान किया है। उक्त पक्ष में भी हरि शब्द का अर्थ पूर्ववत् जानना चाहिये ॥ ९ ॥

(इस प्रकार पूर्वोक्त नव कारिकाओं की भाषा, व्याख्या, टिप्पणी आदि पूर्ण हुई।)

अब मूलभागवत तामसफलप्रकरण प्रथम अध्याय २६ वें का प्रारम्भ करते हैं।

भगवान् ने स्वानन्द-स्थापन के योग्य रात्रियों को देखकर रति के लिये रात्रियों में इच्छा करते हुए कारण कि उत्पन्न हुई इच्छा को ही काम कहते हैं, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं—

(श्रीमद्भा०) श्रीशुक उवाच—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥ १ ॥

पदपदार्थ—(भगवान्) समग्र ऐश्वर्य १, वीर्य २, यश ३, श्री ४, ज्ञान ५, वैराग्य ६, ये छे गुण युक्त (अपि) भी (योगमायाम्) योगमाया को (उप) समीप में (आश्रितः) आश्रयकर स्थित (शरदोत्फुल्लमल्लिकाः) शरद् ऋतु द्वारा खिली हुई मल्लिकायुक्त (ताः) प्रथम वरदान में दी हुई (रात्रीः) रात्रियों को (वीक्ष्य) विशेष देखकर (रन्तुं) रमण करने के लिये (मनः) मन को (चक्रे) रचा ॥ १ ॥

भावार्थ—भगवान् भी योगमाया के समीप में आश्रय कर शरद् ऋतु में खिली हुई मल्लिका युक्त जिन रात्रियों में स्त्रियों के लिये रमण करने को वरदान दिया था उन रात्रियों को विशेष देखकर रमण करने के लिये मन उत्पन्न किया ॥ १ ॥

(सुबो०) प्रथमं भजनानन्दं निरूपयितुं स्त्रीषु स्वानन्दः स्थापनीय इति तासु रत्यर्थमिच्छां कृतवानित्याह भगवानपीति ।

प्रथम कारिकाओं में पांच प्रकार का रमण कहा है, उसमें प्रथम आत्मा से भगवान् ने रमण किया, इस प्रकार कहा है, आत्मरमण में भजनानन्द का निरूपण करने के लिये, अपने प्रसाद युक्त स्त्रियों में अपना आनन्द-आत्मानन्द भगवान् को स्थापन करना है, प्राकृत लोक में तो भोग आदि से आनन्द का लेश उत्पन्न होता है और वह भी चिरस्थायी नहीं होता है, किन्तु यहां तो स्वरूपात्मक आनन्द-रमण द्वारा ब्रज सुन्दरियों में स्थापित किया जाता है, इसलिये यह स्वरूपात्मक होने के कारण नित्य-अप्राकृत ही है ।

(सुबो०) 'मयेमा रंस्यथ क्षपा' इति या रात्रयो वरत्वेन दत्ताः, स्त्रीणां रमणार्थाः, ता रात्रीर्भगवान् परिगृह्य, सर्वास्वेव रात्रिषु ता आधिदैविकी-रारोप्य, पूर्णत्वात्तासां पूर्णिमारूपाः कृत्वा, ऋतुमपि शरदमेव कृत्वा, तस्यापि कार्यं पुष्पाण्येव कृत्वा, रसोद्दीपकत्वेन सर्वां सामग्रीं विधाय, पश्चाद्रमणार्थं स्वानन्द-प्रकाशकं कामपितामहं मन उत्पादितवान् । तत्र सर्वासु संकल्पः स्वस्मिन्नपि बोधनीयः । तत्र वेणुरपि सहायतां प्राप्स्यति । ततः कामवर्णनम् । अतः प्रथमं तादृशं मनः कृतवान् । यद्यपि एतत्प्रणालिकाव्यतिरेकेणापि स्वानन्दं तत्र स्थापयितुं शक्तः, तथापि मर्यादा तिष्ठत्विति भगवानपि मनश्चक्रे । नन्वेवं सति स्वानन्दः स्थानत्यागाद् अन्यथा भवेत्, ततः स्वरूपादपि प्रच्युतः—स्यादित्याशंक्याह-योगमायामुपाश्रित इति । योगमाया हि यथास्थितमेवान्यत्र स्थापयति, यथा सङ्कुर्वणम् । लीलार्थं सापि पूर्वं परिगृहीतेति नापूर्वं किञ्चित् । तथा प्रमाणे रक्षायां च बलभद्रोपयोगः, एवं कार्ये योगमायायाः । तत्राप्यन्तरङ्गा योगमाया, अन्यत्र स्थितं चानन्दमन्यत्र । अतः प्रमाणातिरिक्तमार्गो भक्तिमार्गश्चाग्रे वितर्तौ भविष्यतः । याश्च रात्रयो रमणार्थमेव निर्मिताः, ता एव परिगृहीताः, अन्यथा साधारणीपरिग्रहे सर्वत्रैवानन्दः स्यात् । शरदि ऋतावुत्फुल्ला मल्लिका यासु । ता दृष्ट्वा रमणार्थं मनः कृतवान् । योगमायां च समीप एवाश्रित्य स्थितः ॥ १ ॥

कुमारिकाओं के व्रतचर्या प्रसङ्ग में गोपियों को तुम इन रात्रियों में मेरे साथ रमण करोगी, इस प्रकार भगवान् ने वरदान दिया था । इसलिये स्त्रियों के साथ रमण करने के लिये वरदान सामयिक रात्रियों का भगवान् ने परिग्रह किया है ।

शंका—श्री विठ्ठलनाथ जी कहते हैं कि ये रात्रियाँ नित्य हैं, इसलिये उन रात्रियों का दिन में भी सत्त्व होने के कारण उन रात्रियों में लौकिकी इन रात्रियों का प्राकट्य करके भगवान् ने रमण किया है । अथवा लौकिकी रात्रियों में अलौकिकी रात्रियों का प्राकट्य करके भगवान् ने रमण किया है ।

इस शंका का उत्तर सुबोधिनी में इस प्रकार दिया है कि भगवान् ने सर्वरात्रियों में आधिदैविकी रात्रियों का आरोप किया है, अर्थात् उतनी ही सर्व लौकिकी रात्रियों में

अलौकिकी रात्रियों को स्थापित किया है । नहीं तो एवं शशाङ्कांशु विराजता इस लोक से लौकिकी रात्रियों का अतिदेश (लौकिकी रात्रियों को अलौकिकी रात्रियों में लाना) सङ्गत नहीं होता है ।

फिर दुहना, दूध गरम करना, दलिया सिद्ध करना आदि कार्य में, तथा दिन में गोचारण आदि करनेवाले गोपों को हमारी स्त्रियां हमारे पास में ही हैं यह मानना भी सङ्गत नहीं होता है, अतः लौकिकी रात्रियों में ही आधिदैविकी रात्रियों का आरोप किया है ।

ये रात्रियां रसशास्त्र में कहीं सर्वकलापूर्ण हैं, इसलिये रात्रियों को पूर्णिमारूप भगवान् ने किया है । कारण कि सकल कलापूर्ण भगवन्मन सम्बन्धी चन्द्रमा भी सदा पूर्ण है, उसका भी रात्रियों में प्राकट्य करना है, इसलिये भगवान् ने पूर्णिमारूप रात्रियों को किया है ।

लौकिकी शरद् ऋतु में सदोष जल आदि के दोष दूर करनेवाले कमल आदि गुण देखने में आते हैं, इस प्रकार यह शरद् में असाधारण धर्म है ।

यहां भी रस में अनुपयुक्त वस्तु को दूर करके भगवान् में भाव पोषण करनेवाली अलौकिकी शरद् है, इसलिये भगवान् शरद् ऋतु को भी करते हुए, अर्थात् भगवान् शरद् ऋतु और उसका कार्य सर्व पुष्प भी करते हुए ।

दोषयुक्तभाव वाले पुरुष स्त्रियों का भी यहां प्रवेश नहीं है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये भी वसन्त आदि, तथा वर्षाऋतु भगवान् ने यहां नहीं किया है, शरद् ऋतु को ही किया है, इस प्रकार यह हृदय का भाव है ।

यदि शंका करो कि आपने रात्रियों को नित्य कहा है, तो फिर रात्रियों के धर्म भी नित्य हुए, रात्रियां कालात्मक हैं, तो फिर ऋतु भी कालात्मक अवश्य होगी, फिर 'ऋतुकृत्वा' ऋतु करके इस प्रकार विवरण में सङ्गत कैसे हो सकता है ।

यदि कहो कि जिस प्रकार भगवान् ने मन किया, उसी प्रकार शरद् ऋतु भी की है, तो फिर मन की तरह यहां ऋतु करना सुना नहीं है ।

इस शंका का उत्तर इस प्रकार है कि यहां भगवान् ने रात्रियों को देखकर मन किया, इसमें वीक्षण को मन उत्पन्न करने में हेतु कहा है, अर्थात् सर्वविषयक अपरोक्ष-प्रत्यक्ष नित्यज्ञानवान् भगवान् ने नित्य रात्रियों का दर्शन किया, इसलिये दर्शन को भी नित्यता है, जब कि दर्शन को नित्यता है, तो फिर उसके कार्य को भी नित्यता होगी, इसलिये इस आपत्ति के समाधान करने के लिये भगवान् के वीक्षण में पूर्व से विशेष कहना चाहिये ।

'वीक्षणहेतवो विशेषाः परिगृह्य' वीक्षण हेतु विशेषों का ग्रहण करके, वह विशेष विषयरूप ही कहना युक्त है, विषय विशेषण का अंश ही है ।

प्रथम विषय को प्रकट करके भगवान् रसोद्दीपक सर्वसामग्री करते हुए, इसलिये ही आचार्यों ने 'कृत्वा' करके, पद कहा है ।

यद्यपि विशेषण को भी नित्य होने से पूर्व कहा दोष दूर नहीं होता है, तथापि भक्तों को भी दर्शनयोग्यता, सामग्री संपादन में भगवान् ने संपन्न की है, इस हेतु से दोष दूर होता है, यही अर्थ मूल में विवक्षित है, कारण कि यहां नायक भाव से ईक्षण ही विशेष है, इस प्रकार जानना चाहिये ।

अर्थात् मूल में 'रन्तुं मनश्चक्रे' रमण करने को मन किया, इस प्रकार कहने से नायक का भाव बोधन किया है । 'वीक्ष्य' इसमें 'वि' उपसर्ग से नायकभावपूर्वक ईक्षण ही आता है, अतः यहां विशेष है, वह विशेष भगवदीय होने से निरर्थक नहीं है, इसलिये अपना कार्य संपादन करने

के लिये रति विषयों में भी अपने उपयुक्त सामग्री को भी दर्शन गोचर कराता है, अतः 'वि' पद ही इसमें उक्त अर्थ का बोधक है।

यदि कहो कि वीक्षण तो इसी समय किया है, इसलिये नहीं है।

इसका उत्तर यह है कि वास्तव में तो तत्तत्क्षण-रात्रि सम्बन्धिनी लीला नित्य ही कही जाती है, अर्थात् लीलाओं के नित्य परिच्छिन्न अथवा क्षणों के नित्य परिच्छिन्न होने के कारण चक्र की तरह लीलाओं का जाना आना होता है, इसलिये नित्य कहना युक्त ही है।

यहां पर तो दिङ्मात्र दिखाया है, विशेष जिज्ञासु इस विषय को निबन्ध, विद्वन्मण्डन, आदि में सत्कार्यवाद का जहां पर स्थापन किया है, वहां पर विस्तार से देख लें।

इस प्रकार भगवान् ने रस का उद्दीपन करनेवाली सर्वसामग्री उत्पन्न करके पश्चात् रमण करने के लिये स्वानन्दप्रकाशक कामपितामह मन को उत्पन्न किया, अर्थात् रमण करने के लिये मन किया।

रमण कामसाध्य है, और काम संकल्पजन्य है, इसलिये यहां कामपितामह मन को कहा है।

भगवान् में विद्यमान व्रज की स्त्रियों के साथ रमण करने का संकल्प है, इसलिये उस संकल्प का सर्व व्रज की स्त्रियों को बोध करना है, इसमें वेणु भी सहायता करेगा।

यहां मन को करणता है, नाद व्यापार है, और वेणु सहकारिता से सहायक है, आगे 'वामदशां मनोहरम्' भगवान् का वेणु द्वारा गान मन का हरण करता है, वेणुगान द्वारा भगवान् ने अपने संकल्प का बोध किया है, उस समय व्रजभक्तों को भी संकल्प उत्पन्न हुआ है।

केवल गान का शब्द उतनी दूर तक नहीं जाता है, इसलिये वेणु को सहायक कहा है, वेणु द्वारा दूर तक गान पहुँच गया है।

इसके अनन्तर 'अनङ्गवर्धनम्' इस पद से गीत में स्थित काम का वर्णन है, इसलिये भगवान् ने प्रथम रमण करने के लिये कामपितामह मन किया है।

यद्यपि उक्त क्रम के बिना भी अपना आनन्द व्रजभक्तों में स्थापन करने का भगवान् में सामर्थ्य है, तथापि रस की मर्यादा रहे, भंग न हो, इस हेतु से 'भगवान् भी' पदैश्वर्य युक्त, कर्तुम् अकर्तुं अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवान् भी' मन करते हुए।

यदि कोई शंका करे कि व्रजभक्तों में भगवान् ने रमण द्वारा अपना आनन्द स्थापन किया है, तो फिर स्वानन्द-आत्मानन्द का अपने स्थान से त्याग होने पर, अर्थात् स्वरूप आनन्द का आधार है, जिस प्रकार देह हाथ पांव आदि का रहने का स्थान है, उसी प्रकार भगवान् का स्वरूप आनन्द के रहने का स्थान है, उसके त्याग से आनन्द जीव धर्म वाला हो जायगा, तो फिर स्वरूप से भी प्रच्युत हो जायगा, सारांश यह है कि अन्यत्र जाने पर आनन्द पुरुषोत्तम का नहीं रहेगा। (यहां स्वशब्द से धर्मरूप आनन्द का निषेध किया है, धर्मी पुरुषोत्तम का आनन्द कहा है)।

उक्त शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'योगमायामुपाश्रितः' योगमाया यथास्थित-ज्यों की त्यों ही अन्यत्र स्थापन करती है, जिस प्रकार सङ्कर्षण को यथास्थित नन्दालय में रोहिणी जी के उदर में स्थापन किया, उसी प्रकार भगवान् ने गोपियों में अपना आनन्द स्थापन किया है।

लीला के लिये योगमाया का भी प्रथम परिग्रह किया है। अतः अपूर्व कोई वस्तु नहीं है, यथा प्रमाणे बलभद्रोपयोगः'।

यहां प्रमाण शब्द में निमित्त सप्तमी है, इसलिये इसका अर्थ, जिस प्रकार प्रमाण सम्बन्धी कार्य में विरोध दूर करने के लिए बलभद्र जी का उपयोग है, भगवान् ने वत्सासुर का वध किया, इसका वध वेद विरुद्ध है, इसलिये वेदरूप बलदेव जी के लिये भगवान् ने सम्मति लेने के लिये दिखाया था, तथा रक्षा में भी बलदेव जी का उपयोग है, अर्थात् प्रतिबन्ध रहित रस की रक्षा के लिये भी बलभद्र का उपयोग है। उसी प्रकार भजनानन्द दान लक्षण कार्य में योगमाया का उपयोग है। उसमें भी यह स्वरूपानन्द की प्राप्ति में विरोध को दूर करनेवाली अन्तरङ्गा योगमाया है 'अन्यत्र स्थितं प्रमाणमन्यत्रापि योजयति' अर्थात् वेदात्मा संकर्षण देवकी जी में जो स्थित हैं उनको रोहिणी जी में योजन-स्थित करती है। योगमाया योजन-जिस प्रकार युक्त होता है, उसी प्रकार स्थापन करती हुई। तथा स्वयं प्रकट हो मथुरा में स्थित आनन्दरूप प्रभु को गोकुल में, तथा यहां भी प्रथम गोपों के घरों में स्थित ऋचाओं को भगवान् में योजन करती है, और भगवान् में स्थित आनन्द को व्रजभक्तों में योजन करती है।

यहां पर किसी का कहना है कि आनन्द सुखरूप होने से अमूर्त-आकार रहित है, अतः उसका अन्यत्र गमन असंभव है, प्रियसङ्ग से स्वामिनियों में सुखविशेष उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार कहना उचित है, योगमायाश्रयण से कहना ठीक नहीं है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'आनन्दाद्वचेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' 'आनन्द-मयोऽभ्यासात्, इत्यादि धर्मिग्राहक प्रमाणभूत श्रुति न्याय द्वारा आनन्दमयत्व भगवान् के स्वरूप में विना इच्छा के भी आपको मानना ही पड़ेगा।

इसी प्रकार चिद्रूप को धर्मरूप, भगवद्बद का अर्थ ज्ञानरूपत्व की तरह 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्' इस न्याय से धर्मरूपता स्वीकार करनी ही पड़ेगी, एवं 'तदेजति' इस श्रुति में भगवान् का गतिरूपत्व भी स्वीकार करना चाहिये।

भगवान् विरुद्ध धर्माश्रय हैं, इसी से व्यापक होने पर भी गतिलीला दामोदर लीला की तरह युक्त होती है। अर्थात् धर्मरूपता, गतिरूपता और विरुद्ध धर्माश्रयत्व, ये भगवान् में प्रामाणिक हैं। इसलिये आनन्द को भी मूर्तत्व-आकारत्व संघटित होता है।

धर्म धर्मी विचार में अन्यत्र गति भी घटित होती है।

भगवान् का सामर्थ्य भी धर्मरूप है, इसलिये योगमाया के श्रयण में भी दोष नहीं है।

यदि कहो कि यहां भगवान् की पुष्टि लीला है और समाधान मर्यादा से करते हो, यह बात ठीक नहीं है।

इस प्रकार उक्त अरुचि के कारण पुष्टि रीति से समाधान करते हैं कि, वास्तव में तो भगवान् स्वरूप मर्यादा का भी अतिक्रमण करके भक्तों के लिये लीला करते हैं, इसलिये कोई अयुक्ति नहीं है, अमूर्त होने पर भी गति में युक्ति है।

भगवान् स्वरूप मर्यादा का अतिक्रमण करते हैं, इसमें प्रमाण निरूपण करते हैं कि 'रसं स्वीयायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इस श्रुति में सर्वात्मभाव लक्षण स्थायीभाव रस है, इस प्रकार यह रस पद का अर्थ कहा है, उस रस को प्राप्त करके आनन्दवान् होता है, अर्थात् इस प्रकार के भक्त को प्रभु स्वरूपानन्द का दान करते हैं।

इस प्रकार प्रतिपादन से सिद्ध होता है कि भगवान् का दिया ही रस प्राप्त होता है अन्यथा नहीं प्राप्त होता है, उक्त श्रुति में 'एव' कार सर्वत्र ही लगता है, जिस प्रकार रस को ही सर्वात्मभाव को ही प्राप्त करके आनन्दी ही होता है, लौकिक दुःखी नहीं प्राप्त होता है, यह अर्थ है।

महाप्रभु कहते हैं कि रस पद का अर्थ टिप्पणी में 'सर्वात्मभाव' लक्षण स्थायीभाव कहा है, इसका यह भाव है कि छान्दोग्य में 'भूमा कस्मिन् प्रतिष्ठितः' भूमा कस्मिन् स्थित है, इस प्रकार प्रश्न करने पर 'स्वे महिम्नि' अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है; उत्तर दिया है। अर्थात् स्वरूपभूत सर्वात्मभाव लक्षण महिमा में प्रतिष्ठित है। योगमाया सर्वात्मभाव का उद्बोधन करती है—सर्वात्मभाव को जागृत करती है, तब भक्त आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाता है।

आनन्द स्वरूपभूत है, अतः स्थानत्याग शंका नहीं है। श्रुति में 'स्वे', 'महिम्नि' दो पद कहे हैं, इसलिये आनन्द को स्वरूपत्व, तथा धर्मत्व कहा है, अतः स्वरूपत्व को लेकर, भूम प्रतिष्ठा धर्मत्व को लेकर आनन्द की भक्तों में स्थिति विरोधरहित है, अतः आनन्द स्वरूपभूत है, उसकी अन्यत्र स्थिति कैसे हो सकती है, इस शंका को अवसर ही नहीं है।

यहाँ पर आगे प्रमाणमार्ग से अतिरिक्त मार्ग—भक्तिमार्ग विस्तृत होगा। कारण कि योगमाया अन्यत्र स्थित प्रमाण को अन्यत्र योजन करती है।

प्रमाण शास्त्र अन्य भजन रहित विवाहित पति के भजन का विधान कर रहा है, उसकी अवहेलना करके विवाहित पति का त्यागपूर्वक भगवान् की सेवा का ही विधान भक्तिमार्ग करता है।

इस प्रकार का यह अर्थ तो स्वामिनियों के इस प्रकार के भजन से तथा भजन के फल से ज्ञात होता है।

'यामा भजन' इस वाक्य में भगवान् ने कहा है कि मैं ब्रह्मा आदि देवताओं की आयु प्राप्त करके भी तुम्हारी कृतिका बदला नहीं कर सकता हूँ, भगवान् के इस प्रकार के कहने से तथा फलरूप भजन से अभी इस भक्ति का ज्ञान हुआ है, इसको मार्गत्व भी है, नहीं तो उन्मार्गत्व हो जाये, 'अस्त्वेव मेतत्' इत्यादि श्लोक में व्रजसीमन्तिनियों ने मार्गत्व प्रतिपादन किया है, ईश्वर-वाक्य समग्र प्रमाणों से अधिक बलवान् हैं, किन्तु स्वामिनियों के वाक्यों द्वारा दुर्बल हो गये, इसलिये प्रमाण से अतिरिक्त मार्ग—भक्तिमार्ग पुष्टिमार्ग है, इस प्रकार जातना चाहिये।

अथवा प्रभु की प्राप्ति के लिये गुरु की शरण जाते हैं, और गुरु जो आज्ञा करे वही भक्तों का प्रमाणमार्ग है।

प्रकृत स्वामिनियों की प्राप्ति के लिये योगमायाश्रयण आदि प्रभु करते हैं, और करेंगे। इसलिये प्रमाण से अतिरिक्त मार्ग है, कारण कि योगमाया अन्यत्र प्रतिष्ठित आनन्द को अन्यत्र योजन करती है, अतः इस भाव से भजनरूप अतितीव्र स्नेह होता है, फिर स्नेह द्वारा विरहभाव और विरहभाव से सर्वत्यागपूर्वक, तथा अपनी देह आदि की विस्मृतिपूर्वक भगवान् का अन्वेषण—खोज करना भक्तिमार्ग है। यह द्वितीय, तृतीय अध्याय आदि में स्पष्ट है, इसलिये पुष्टि भक्तिमार्ग में स्वामिनी ही गुरु हैं, इस प्रकार यहाँ यह ज्ञापित होता है। यदि कहो कि स्वामिनियों को सौभाग्यमद हुआ, तब अन्वेषण किया था, इसलिये अन्वेषण आदि लक्षण मार्ग के गुरुओं में दोष हुआ।

इस शंका का समाधान करते हैं कि स्वामिनियों को विप्रयोग भाव होने में सौभाग्यमद आदि हेतु हैं।

यदि गोपियों में सौभाग्यमद न होता तो फिर विप्रयोग भी नहीं होता, और विप्रयोग न होता तो रस पुष्ट नहीं होता। सौभाग्यमद आदि भी भगवान् के धर्म हैं, इसलिये विप्रयोग में भगवान् के धर्म का प्रवेश ही हेतु है। नहीं तो भगवान् की पादरज में प्रपन्न स्वामिनियों को

मदमान ही नहीं होते, अतः यहाँ मूल में प्रपत्ति मदमान के कहने से ही समाधान हो जाता है।

यदि शंका करो कि 'एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशा' इस वाक्य से भगवान् का लौकिकी रात्रियों में भी रमण का बोध होता है, फिर भगवान् ने अलौकिकी रात्रियों का परिग्रह करके गौरव विशेष क्यों किया। इस प्रकार शंका करके लौकिकी रात्रियों का भी स्वरूप बतलाते हैं, 'याश्च रात्रयः'।

जो रात्रियाँ भगवान् ने रमण के लिये निर्माण कीं, अर्थात् सर्ग के आदि में ही रमणाशं रची थीं, वे कुछ रात्रियाँ भगवान् में ही इतने कालपर्यन्त स्थित रहीं, भगवान् ने उन रात्रियों को लीला करने के समय में लौकिक रात्रियों में स्थापन करके लीला की है, यह बात निर्मित पद सूचन करता है। लौकिक चन्द्रमा का भी प्रकाश था, इसलिये गीतगोविन्द आदि में कहे प्रकार के अनुसार लौकिक रीति से भी रमण किया है, इसलिये इन रात्रियों को लौकिकी कहा है।

अलौकिक रात्रियों में विवक्षित भगवान् का मन चन्द्र के प्रकाश में नायक को मान कहा है, फिर नायिका द्वारा प्रणिपात कहा है, फिर उक्त मान का नायिका में अन्तर्धान, फिर नायिका में दैन्य कहा है, दैन्य से भगवान् का आविर्भाव हुआ है, और गोपियाँ भगवान् के अधीन हो गईं, फिर प्रश्नोत्तर में भगवान् ने परोक्ष भजन कहा है, फिर पूर्व अनुभव होने पर भी प्रत्यक्ष का बाध हुआ है। इस प्रकार भजन का अनुभव और भगवद्वाक्य का विश्वास कहा, अनन्तर भगवद्विचारित आनुपूर्वी क्रम से स्वरजातिका उन्नयन आदि करके, अलौकिक रीति से ही भगवान् ने अलौकिक रस दान दिया है, इसलिये यहाँ लौकिक से विलक्षणत्व स्पष्ट है, तथा स्वरूप से ही अलौकिकत्व है। यह विवेक है, अतः भगवान् ने रमण करने के लिये निर्मित रात्रियों का ही परिग्रह किया है।

'अन्यथा साधारणीपरिग्रहे' यदि भगवान् साधारणी रात्रियों का जिनमें बाल लीला आदि की थी, उनका स्वीकार करते तो सर्वत्र गाय गोप आदि में भी आनन्द प्रकट हो जाता, अर्थात् साधारण रात्रियों में रासलीला होनेपर सर्वदेश में सर्वको आनन्द का अनुभव होता, कारण कि रात्रियाँ सर्वत्र एक-सी हैं।

जिस प्रकार साधारण काल में सूर्य चन्द्रमा के सम्बन्ध से सर्वत्र प्रकाश आनन्द आदि होता है, उसी प्रकार यहाँ भी साधारणी रात्रियों में लीला संबंध होने पर सर्वत्र आनन्द हो जाता।

भगवान् ने रमण करने के लिये मन मल्लिका पुष्पों से प्रफुल्लित शरद् ऋतु की रात्रियों को देखकर किया है।

यदि कहो कि भगवान् सर्वज्ञ हैं, इसलिये रमणकाल में भी लौकिक रात्रियों में विद्यमान अलौकिक रात्रियों का दर्शन भी होता ही है, फिर इस समय देखने में क्या विशेषता है।

इसका उत्तर कहते हैं 'शरदि ऋतौ' शरद् ऋतु में विशिष्ट दर्शन ही विशेष है।

यदि कहो कि विशेषण-शरद् ऋतु भी तो नित्य ही है, फिर विशेष नहीं है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि आपका कहना युक्त है, किन्तु जिस प्रकार की लीला का वर्णन किया जाता है, उस प्रकार की ही लीला नित्य होने से, इसी समय ही विशेषण वैशिष्ट्य है। अतः कहने पर भी दोष नहीं है। यह सब प्रकार विद्वन्मण्डन में कहा है।

ईश्वर के लिये अन्याश्रयण लौकिकी रीति है, इसलिये लौकिकी रीति कहने से यहाँ लौकिक रीति से भी भगवान् का रमण सूचित होता है।

रमण समय में मध्यस्थ रूप से योगमाया का विशेष करके उपयोग है। अतः इस हेतु से योगमाया का आश्रयण कहा है।

किसी अर्थ के साधन करने में जब अपनी अशक्यता होती है, तब दूसरे का आश्रय किया जाता है, सर्वसमर्थ भगवान को भी अपना आनन्द गोपियों को देने के समय ईश्वरत्व आदि धर्मों का अज्ञान संपादन करने के लिये रस के परवश होकर नहीं करने का सामर्थ्य, सूचित करते तथा गोपों को इस लीला विषयक अज्ञान संपादन करने के लिये, तथा गोपियों के आगमन काल में गोपों ने भगवान के पास जाने का निषेध किया, इससे निषेध का अज्ञान आदि कार्य की सिद्धि के लिये योगमाया का आश्रयण अलौकिक रीति से रमण करने में भी जानना चाहिये। इसीसे 'मोहितास्तस्य मायया', 'मन्यमानाः स्वपाद्वन्स्थान्' भगवान की माया से मोहित गोपों ने अपने पास ही गोपियों को माना, यह प्रकार आगे कहेंगे।

रस के उपयोगी जो जो कार्य हैं, उनमें तत्तत्समय में भगवान के तत्तत्कार्य के संपादन करने का सामर्थ्य, योगमाया में है। सामर्थ्य धर्मरूप है, अतः योगमाया के श्रयण में भगवान को किसी प्रकार का दोष नहीं है। इसीलिये भगवान ने अपने निकट ही मूर्तिमती योगमाया को बैठाया है, इस बात का ज्ञापन 'उप' उपसर्ग कर रहा है।

आचार्यों ने भी सुबोधिनी में कहा है कि 'योगमायां च समीप एवाश्रित्य स्थितः' योगमाया भगवान के समीप ही आश्रय करके स्थित हो गई ॥ १ ॥

(सुबो०) नूतने तस्मिन् मनसि देवता नास्तोति, अनधिष्ठितं च कार्यं न साधयिष्यतीति तदधिष्ठातृदैवं चन्द्रं च ससृज इत्याह-तदोदुराज इति।

प्रथम श्लोक में कहा है कि भगवान ने समीप में मूर्तिमती योगमाया का स्थापन किया। योगमाया को समीप में बैठा लेने से ज्ञात होता है कि ईश्वरत्व मर्यादा का उल्लंघन करके भगवान् इस समय प्रवृत्त हैं, यदि ईश्वरमर्यादा का अतिक्रमण भगवान नहीं करते हैं तो रस मर्यादा का उन्मूलन होता है, अतः रसमर्यादा का पालन करने के लिये ईश्वरमर्यादा का उल्लंघन किया है। कारण कि भगवान सर्वविकाररहित हैं, किन्तु जबतक सर्वविकाररहित रहे तबतक इस प्रकार का भगवान का मन नहीं हुआ था, जिस समय भगवान को रमण करने की इच्छा हुई, उसी समय नूतन मन शीघ्र प्रकट हो गया।

लौकिकी रीति के अनुसार मन का देवता भी होता है, इस नूतन मन में देवता नहीं है, यद्यपि भगवान् का मन आधिदैविक है, इसलिये इसमें देवता की अपेक्षा नहीं है, तथापि इस नूतन मन में देवता की भी अपेक्षा है, कारण कि लोक में देवता अधिष्ठित ही मन कार्यक्षम होता है, अनधिष्ठित कार्यसाधन नहीं करता है, देवता नियामक होता है, देवता के न होने से जैसे सामर्थ्य की अपेक्षा होती है, वैसा सामर्थ्य नहीं होता है, तो फिर अल्प सामर्थ्य से रस पहिले की तरह हो जायगा, सदा रसकी एक परवशता नहीं होगी, इसीसे 'आत्त गजेन्द्र लीलः' आगे कहेंगे। गजेन्द्र लीला में हथिनी के वश हो जाता है, यह बात प्रसिद्ध है।

परवश हो जाना युक्त भी है। विभावादि के बिना रस पुष्ट नहीं होता है।

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस प्रकार वात्स्यायन सूत्र में कहा है।

यदि कहो कि उक्त प्रकार से रस को जागृत करने से रस को जन्यता होगी, और जन्यता के कारण फिर रस को भगवद्रूपता नहीं रहेगी।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि वास्तव में तो 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियों से प्रभु रसरूप हैं, इसलिये रस जिस प्रकार रसशास्त्र से सिद्ध है, उसी प्रकार रस का निरूपण किया जाता है, अर्थात् श्रुति द्वारा रसको भगवद्रूपता निश्चित की है।

जिस प्रकार यज्ञात्मक भगवान् अस्मद् चेष्टाक्रिया द्वारा प्रकट होता है, उसी प्रकार रसात्मक भगवान् रसप्रणाली द्वारा लोक में व्यंजित होता है। अतः कोई आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार के रस को भी नित्यता है। इसका विद्वन्मंडन में भलीभांति से प्रतिपादन किया है, भगवान ने नूतन मन और मन का अधिष्ठाता देवता चन्द्रमा भी रचा है, इसको आगे श्लोक में शुकदेव जी कहते हैं।

तदोदुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।

स चर्षणीनामुदगाच्छुचो हरन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥२॥

पदपदार्थ—(यदैव) जिस समय भगवान ने रमण के लिये मन किया (तदैव) उसी समय ही (उदुराजः) नक्षत्रों का राजा (उदगात्) उदित हुआ (प्राच्याः) पूरब (ककुभः) दिशा के (मुखं) मुख को (शन्तमैः) शीतलसुखद (करैः) किरणों द्वारा (अरुणेन) लाल रंग से (विलिम्पन्) रंगता (सः) वह चन्द्र (चर्षणीनाम्) परिभ्रमण शक्तियों के (शुचः) दुःख को (हरन्) दूर करता (दीर्घदर्शनः) अधिक समय में देखा है (प्रियः) पति (प्रियाया इव) प्रिया की तरह—अर्थात् जिस प्रकार बहुत समय में विदेश से आया पति अपनी प्यारी स्त्री का मुख रंजित करता है, उसी प्रकार चन्द्रमा करता हुआ उदित हुआ ॥ २ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार अधिक समय के पश्चात् घर आया प्रिय-पति अपनी प्यारी स्त्री का हस्त से मुख रंजित करता है, उसी प्रकार पूरब दिशा का मुख शीतल सुखद अरुण किरणों द्वारा रंगता तथा चर्षणियों का दुःख दूर करता नक्षत्रराज चन्द्रमा उदय हुआ ॥ २ ॥

(सुबो०) यदैव मनः कृतवान्, तदैव तस्याधिदैवतमुदुराज उदगात्, उदितो जातः। यद्यप्येकदा रात्रयो दृष्टाः, तथापि क्रमेणैव तासां स्थितिः।

भगवन्मनश्चन्द्रस्याधिदैविकत्वात् पूर्ण एव सः, निष्कलङ्कश्च। मनस्येवाविर्भूते तस्याविर्भावः, क्रीडायामुपरतायामुपरतिः, मध्याकाशपर्यन्तमेव गमनम्, नास्तमयः कदाचिदपि। सोऽपि चन्द्रः, स्त्रीणां मनांसि उडुस्थानानीति तेषामपि रक्षकः। इदं प्रथमतया जात इति पूर्वस्यामेव दिशि तस्योदय उच्यते। 'सा दिग्देवाना' मिति। तस्या दिश इन्द्रो देवता अधिपतिश्च। इदानीं भगवानेवेन्द्र इति तस्य रेतोरूपः तस्यामुद्रतः। अतः प्राच्याः ककुभः मुखं मध्यभागं स्वकरैः स्वकिरणैः विलिम्पन् उदगात्। तस्या मुखे न रागः स्थितः, प्रतिस्पर्धिन्यां सूर्यसम्बन्धेन रागसंभवात्, अतः अस्या अपि मुखं कुङ्कुमसदृशैः करैरारक्तं क्रियते। यदि चन्द्रः स्वदिशो मुखं न रञ्जयेत्, तदा भगवन्मनोऽपि स्त्रीणां हृदयं न रञ्जयेत्। कराः शन्तमाः, शीतलत्वात् तापहारकाः। किञ्च, अरुणेन गुणेन कृत्वा अत्यन्तं कल्याणरूपाः। अरुणो हि रागप्रधानः। पुरुषोऽपि यद्यनुरागेण स्पृशति, तदा सुखं

भवति । ननु अस्य चन्द्रस्य यदि अधिष्ठातृत्वमात्रम्, तदा मनस्येव उदयो भवेत्, यद्यन्धकारनिवृत्तिः प्रयोजनम्, तदा भगवतैव अन्धकारो निवर्तते, यदि वा उद्दीपकत्वम्, तदापि भगवतैव तत्संभवः, अतोऽस्यासाधारणं कार्यं वक्तव्यमिति चेत्, अत आह स चर्षणीनां शुचो हरन्निति । चर्षण्यः सर्वत्र परिभ्रमण-शक्तयः । ताः सर्वत्र परिभ्रान्ता अपि न कापि परमानन्दसम्बन्धिन्यो जाताः । यदिवा कश्चिन्मुच्येत, तथापि ता न प्रवेशं लभन्ते । ततः पूर्वमेव ता निवृत्ता भवन्ति । अतस्तासां शोकस्तिष्ठत्येव । चर्षणीसहितानां जीवानां वा । तासां शोकः इदानीमेव निवृत्तः । शक्तिसहितानामेव परमानन्दानुभवस्य वक्तव्यत्वात् । प्रायेण तदानीन्तना जीवाः तादृशशक्तियुक्ताः । तस्मिन्नुदिते परमानन्दानुभवोऽवश्यं भावीति । तथा सति प्रयोजनत्रयम्, दिग्देवताया मुखसंमार्जनं, चर्षणीनां शोकदूरीकरणं, अन्धकारनिवृत्त्यादिश्च । कण्ठोक्तं द्वयमपि तदेकसाध्यमिति वक्तुं दृष्टान्तमाह—प्रियः प्रियाया इति । दीर्घकाले दर्शनं यस्य । महता कालेनागतो भर्ता प्रियः प्रियायाः पतिव्रतायाः शोकं दूरीकृत्य मुखसंमार्जनं च करोति । न चैतत्कार्यमन्यथा सिध्यति ॥ २ ॥

मूल में चन्द्रमा का उदय भगवान ने किया कहा है, सृष्टि करना विरुद्ध मालूम होता है । इसका उत्तर सुबोधिनी में कहते हैं कि 'यदैव मनः कृतवान् तदैव तस्याधिदैवतमुडु' राज उदगात्' जिस समय भगवान ने मन किया, उसी समय मन का अधिदैवत उडुराज का उत्पादन किया, इस प्रकार मूल का अर्थ विवक्षित है, नहीं तो 'तदैव' उमी समय शब्द नहीं कहते । चन्द्रमा भी उदित हुआ, इस प्रकार कहते । और आगे के श्लोक में चन्द्रदर्शन कहा है, इसलिये अन्यथा उपपत्ति से चन्द्रोदय की प्राप्ति हो जाती है, फिर यह श्लोक व्यर्थ हो जाता है । भगवान की चिकीर्षित लीला लोकवेद में प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये अपूर्व है—पहिले नहीं हुई है । अतः भगवान ने लीला सामग्री भी अपूर्व ही सम्पादन की है, इस बात को ज्ञापन करने के लिए 'तदा' पद कहकर चन्द्रोदय का वर्णन किया है, इस प्रकार ज्ञात होता है, इसी से 'भगवन्मनश्चन्द्रस्य' यहाँ से लेकर 'कदाचिदपि' यहाँ तक ग्रन्थ युक्त होता है, नहीं तो मूल में तो पूर्णत्वादिधर्म भी नहीं कहे, तो फिर आचार्य भी नहीं कहते । अतएव पूर्व श्लोक में 'चक्रे' इस पद से भगवान ने मन किया है, इस प्रकार कहा है ।

क्रीडा में मन ही मुख्य होता है, मन के नूतन करने से ही सर्व सामग्री के नूतन होने का ज्ञान हो जायगा, इस अभिप्राय से तादृश चन्द्रमा प्रभु ने रचा है । इसी हेतु से श्री शुकदेवजी ने आगे चन्द्रोदय कहा है ।

यदि कहो कि एक समय में देखी बहुत-सी रात्रियों में एक चन्द्रमा की स्थिति किस प्रकार युक्त हो सकती है ।

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि एक समय में भगवान ने बहुत-सी रात्रियाँ देखी हैं, तथापि क्रम से ही रात्रियों की स्थिति है, नहीं तो 'रजन्येषा' यह रजनी है, इस प्रकार प्रभु नहीं कहते ।

यदि कहो कि इस रात्रि को नित्यता है, इस प्रकार कहने से एक ही रात्रि से काम चल जाता, क्रीडा हो सकती थी, फिर भगवान ने बहुत-सी रात्रियों का परिग्रहण क्यों किया है ।

इसका उत्तर यह है कि नायिका विशेषों में प्रतिपदादि तिथियाँ बन्धादि विशेषों द्वारा रस उत्पन्न करने में नियत हैं, अर्थात् तत्तद् नायिकाओं में प्रतिपदा आदि तिथियों में ही बन्धादि द्वारा रस की उत्पत्ति नियत है । इस प्रकार वात्स्यायन सूत्र से सिद्ध होता है, इसलिये रस की उत्पत्ति करने के लिये बहुत रात्रियों का परिग्रहण किया है ।

भगवन्मन चन्द्रमा आधिदैविक है, इसलिये वह चन्द्रमा पूर्ण ही, और निष्कलङ्क है, अतः षड्धर्म वाले आधिभौतिक चन्द्र से विलक्षण है ।

यहाँ पर स्वतन्त्र लेख के अनुसार निष्कर्ष यह समझना चाहिये कि इस लीला में सर्व-सामग्री रसात्मिका है, और वह रसलीला मात्र में उपयोगी है, कारण कि रसात्मक भगवान के स्वरूप से प्रकट हुई है । साधारण जगत के कारणरूप से नहीं हुई है, इस बात का बोधन करने के लिए मन से लेकर चन्द्र पर्यन्त समस्त रसोद्दीपक पदार्थों का इसी समय अपूर्व प्रादुर्भाव हुआ है ।

चन्द्रमा भी पूर्ण हुआ है, भगवान का भी मन प्रथम सर्वविषयक था, इसलिये अपूर्ण ही था, किन्तु इस समय पूर्ण ही हो गया है; कारण कि इस समय भगवान का मन केवल स्वामिनी-विषयक है, अतः अंश से भी अन्यत्र नहीं है । इसीसे 'नाहं तेभ्यो मनागपि' इत्यादि वाक्य हैं ।

चन्द्रमा भी भगवान का रेत—वीर्य रूप है, इसलिये मन को शक्ति देने वाला, और मन का अधिष्ठान रूप केवल इस लीला मात्र में उपयोग के लिये प्रकट हुआ है, कभी भी अन्य विषयक नहीं होता है ।

लौकिक चन्द्रमा आधिभौतिक विराटरूप भगवान का मनरूप भी सर्वविषयक है, इसलिये भगवन्मनचन्द्र सदृश नहीं है, विलक्षण है, विलक्षणता यह है कि जिस प्रकार लौकिक चंद्र को व्यभिचार के कारण दक्ष ने शाप दिया, सर्वलोक में अपकीर्ति के कारण कलङ्कयुक्त है, उसी प्रकार भगवन्मनचन्द्र रसिकजनों से निरूपण करने योग्य रसासक्ति विरह से उत्पन्न, अपकीर्ति-रहित के कारण कलङ्करहित है । मन का आविर्भाव होने पर इस चन्द्रमा का भी आविर्भाव होता है ।

जिस प्रकार लौकिक चन्द्र का काल के अधीन आविर्भाव है, और अपने काल में ही उदय होता है, उसी प्रकार अलौकिक चन्द्र का काल के अधीन उदय नहीं है, जिस समय भगवान का मन होता है, उसी समय चन्द्र का भी उदय होता है, कि बहुना लीला सामग्री मात्र की ही यही व्यवस्था है । इसलिये नित्य है, और कालत्रय की संज्ञा रहित है ।

भगवान के स्वरूप में ही रहने के कारण स्वरूप की तरह सर्वसामग्री नित्य है, जिस प्रकार का स्वरूप भक्तों में होता है, उसी प्रकार की लीला और सामग्री सर्व उनमें जाननी चाहिये । इस प्रकार की स्थिति में विलक्षणता है । इस प्रकार उत्पत्ति स्थिति को विलक्षण कहकर लीला के उपराम से भी विलक्षण कहते हैं ।

यदि कहो कि ब्रजभक्तों को महाफल मिला है, फिर भगवान की आज्ञा से 'वासुदेवानु-मोदिताः' इस वाक्य से यद्यपि गोपियों की घर जाने की इच्छा नहीं थी, तथापि भगवान की आज्ञा से घर आते समय क्रीडा का उपराम दिन में हुआ है, फिर काल की अधीनता क्यों नहीं है, यह तो अधीनता ही हुई, तो फिर नित्यता भी कैसे हुई ।

इसका उत्तर 'क्रीडायामुपरतायामुपरतिः' है, भगवान की लीला का उपराम होने पर दिन में गुणगान द्वारा आन्तर रमण करने के लिये, अर्थात् लीला उप-समीप में जब अन्तःप्रविष्ट हो जाती है, तब चन्द्रमा भी लीला सम्बन्धी है, इसलिये चंद्र का भी अन्तःप्रवेश हो जाता है, उपरति हो जाती है।

इससे यह सूचन किया है कि भगवान जब बाहर पधारते हैं तब लीला और लीला सम्बन्धी सर्व पदार्थ भी बाहर प्रकट होते हैं, इसमें आविर्भाव और तिरोभाव ही लीला आदि के नित्यत्व में निर्वाहक हैं।

विद्वन्मण्डन में प्रभुचरण ने कहा कि बाहर क्रीडा की उपरति-विराम होने में शृंगार के उत्तर दल रस का दान देने की भगवान की इच्छा ही कारण है, इस प्रकार जानना चाहिये। इस प्रकार उपरति का कारण विलक्षण होने से भी विलक्षणता कही है।

इस चन्द्र का मध्य आकाश पर्यन्त ही गमन है 'नास्तमयः कदाचिदपि' यह चन्द्र कभी अस्त नहीं होता है, यद्यपि बाहर अदृश्य होने पर अस्त मालूम पड़ता है, तथापि जिनको दृश्य है, उनको तो भगवान की इच्छा से दृश्य ही है, वहिर्दृष्टि में अथवा वहिर्दृष्टि होने से श्रोतों को तो सर्वदा ही अदृश्य है, इसलिए लौकिक चंद्र की तरह—जिस प्रकार लौकिक चन्द्र दीखता है और अस्त होता है, उस प्रकार यह अलौकिक चन्द्र का अदृश्य रूप अस्तमय न होने से अभी भी अस्तमय नहीं है, इसलिये यहां यह भी सूचन किया है कि भगवान का मन और मन से उत्पन्न भाव वीर्य-रूप चन्द्र विषयक है, इसलिये व्रजेन्द्रदिशा में स्थित स्वामिनियों में ही इस चन्द्र का उदय है। फिर क्रम से व्रजभक्तों को भगवान के निकट आने पर चन्द्र का भी आगमन हुआ है, और भगवान के साथ मिलकर रहने वाले व्रजभक्तों के मध्याकाश में ही इसकी स्थिति है। उसमें भी रस को स्थिर करने के लिए ऊपर देश में ही इसकी स्थिति है।

अनन्तर आन्तर रमण करने के लिये व्रजभक्तों में भगवान का प्रवेश होने पर चन्द्रमा का भी प्रवेश है, अन्य दिशा में इसकी गति नहीं है।

जिस प्रकार लीला मात्र उपयोगिनी श्रीमद्भक्त्यमुना जी की लीला स्थल में ही स्थिति है, उसी प्रकार चन्द्रमा की भी स्थिति है।

यहां पर आकाश तो रसात्मक लीला का आश्रयभूत है, स्वामिनियों का हृदय आकाश है, उसमें चन्द्र मन और नक्षत्र की स्थिति है। वह स्वामिनियों का हृदयाकाश लीला जब बाहर प्रकट होती है, तब बाहर होता है और लीला अन्तःस्थित होने पर भीतर हो जाता है, अतः इसी में मन नक्षत्राधिपति भगवन्मनचन्द्र का आविर्भाव होता है।

मूल में उडुराज कहा है, रात्रियां अलौकिक हैं, और चन्द्र भी अलौकिक है, इसलिए प्राकृत नक्षत्रों की रक्षा तो संभव हो नहीं सकती है, तथा अलौकिक रात्रि को प्रकाश करने वाले नक्षत्रों की भी प्रसिद्धि नहीं है, फिर जो यहां 'उडु' पद का उपादान किया है, इसका आशय यह है कि इन अलौकिक रात्रियों में प्रकाश करने वाले स्वामिनियों के मन ही यहां 'उडु' नक्षत्र अभिमत हैं। इसी बात को आगे कहते हैं (सोपिचन्द्रः) इत्यादि। चन्द्रमा नक्षत्रों का सजातीय है, नक्षत्राणामहं शशी' इस वाक्य से सिद्ध है। स्त्रियों के मन 'उडु' नक्षत्र स्थानीय हैं, मन भगवान सम्बन्धी है, अर्थात् भगवान के मन का अंश है। भगवान ने अपना मन प्रवृत्ति निवृत्ति तोषादि कार्य के लिए आविर्भावित किया है, इसलिये जिस प्रकार नक्षत्र रात्रियों में ही प्रकाशमान होते हैं, उसी प्रकार व्रजभक्तों के मन अलौकिक इन रात्रियों में ही प्रकाशमान हैं, इसलिए 'तेषामपि-

रक्षकः' यह चन्द्र भगवान के मन का देवता है, इसलिये व्रजभक्तों के मन की रक्षा करने वाला है।

यह मन प्रथम ही हुआ है, इसलिये पूरव दिशा में चन्द्रोदय कहा है। अर्थात् चन्द्रमा इस लीला के लिये उत्पन्न हुआ है, (सचर्पणी स्थान नन्दग्राम से पूरव दिशा में लीलास्थल वृन्दावन है) इसलिये पूरव दिशा में ही उसका उदय हुआ है, कारण कि 'सा दिग्देवानाम्' पूरव दिशा देवताओं की है, और पूरव दिशा में लीला के उपयोगी पदार्थ स्थित हैं।

रमण का निश्चय वृन्दावन में होने के कारण व्रजभक्तों के मन इसी दिशा में स्थित हैं, इसलिये व्रजभक्तों के मन रूप नक्षत्रों का राजा भी पूरव दिशा में उदित हुआ है।

अब मिश्रित मिला अर्थ कहते हैं कि पूरव दिशा का देवता तथा अधिपति इन्द्र है, इस समय भगवान ही इन्द्र हैं, इस कारण से भगवान का रेत रूप-वीर्य रूप चन्द्र पूरव दिशा में उदित हुआ है, अर्थात् पूरव दिशा के अधिपति इन्द्र को जीतकर श्री गोवर्द्धनोद्धरण स्वयं इन्द्र द्वारा अभिषिक्त हो इन्द्र हुए हैं।

इन्द्र देवताओं का ही होता है, मनुष्यों का नहीं होता है, 'यथेन्द्रो देवानाम्' इस श्रुतिवाक्य से, व्रजवासी देवता हुए हैं, अतः 'सा दिग्देवानाम्' अतः पूरव दिशा व्रजवासी जगत्पूज्य, अलौकिक अखिल फलसाधक भगवान के पक्षपतियों की है, इसलिये उस दिशा के इन्द्र भगवान ही देवता पूज्य अधिपति भोक्ता हैं। कारण कि इस समय यथाधिकार कार्य करने से 'रन्तु मनश्चक्रे' इस वाक्य से भोक्ता हैं, इसलिये भगवान ने रमण सम्बन्धिनी दिशा में भी अपना रेत रूप अलौकिक गूढभाव का उत्पन्न करनेवाला चन्द्र प्रकट किया है, उस रमण दिशा सम्बन्धिनी स्वामिनियों में भी अलौकिक गूढभाव वाला भगवान का मन उत्पन्न करेगा, इस प्रकार जानना चाहिये।

इस प्रकार कहने से जहाँ व्रजभक्त हैं, वह दिशा भी यदि भगवान के मन से सम्बद्ध है, तो फिर व्रजभक्तों में भगवान का मन संबद्ध हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है, सूचन किया है।

सर्वस्वामिनी श्री गोवर्धन समीपवर्ती श्री यमुना जी के उत्तर भाग वृन्दावन की पूरव दिशा में ही स्थिति है, अतः वहाँ पर ही इस समय भगवान का मन है। मन का पोषक होने के कारण चन्द्र भी पूरव में उदय हुआ है।

जिस समय गोपियां यहाँ आकर अलौकिक अखिल सामग्री विशिष्ट नित्य लीला में स्थित होंगी, उसी समय चन्द्रमा भी मध्याकाश में गोपियों के ऊपर ही स्थित होकर अपना कार्य-साधन करेगा।

यदि कहो कि आकाश का क्या स्वरूप है, तो इसके उत्तर में आकाश भगवान का स्वरूप ही है 'ब्रह्मैव सगुणं बभौ' इस वाक्य में भगवत्स्वरूप बतलाया है। प्रभु का हृदय ही आधिदैविक रूप से बाहर निकलता है, अतः अपने अधिष्ठान के ऊपर ही रहता है, अधिष्ठान जिस समय जहाँ पर होता है, उस समय उसके ऊपर ही रहता है। श्येन-बाज की तरह। अर्थात् अधिष्ठान के चलने पर चलता है, ठहरने पर ठहरता है।

इस समय गोपियों के गण आये हैं, इसलिये भगवान का हृदय अपने स्थान पर मध्याकाश में आया है, अतः चन्द्रमा भी मध्याकाश में स्थित है। आगे भगवान का मन कहीं नहीं जायगा, तब चन्द्रमा भी स्थिर हो जायगा। क्रीडा जब भगवान की अन्तःस्थित होकर होगी, तब चन्द्रमा की भी अन्तःस्थिति होगी।

यह चन्द्र लीलामात्र सम्बन्धी है, इसलिये इसका अन्यत्र गमन नहीं है, इसी भाव्य से अस्तमय भी नहीं होता है, इस प्रकार चन्द्र भगवान का रेत रूप पूरव दिशा में उद्गत हुआ है अतः पूरव दिशा का मुख—मध्यभाग श्री वृन्दावन को अपनी किरणों से रञ्जित करता उदय हुआ है। आगे कहा है—‘तत्कोमल गोभि रञ्जितम्’।

ये ही चन्द्र नाना प्रकार से सर्वत्र सर्व संपादन करेगा, इस प्रकार पञ्चम अध्याय की टिप्पणी में कहेंगे।

रात्रि में पूरव दिशा के मध्यभाग में राग नहीं होता है किन्तु प्रतिस्पधिनी पश्चिम दिशा में सूर्य के सम्बन्ध से राग संभव होता है।

टिप्पणी में कहा है कि सायंकाल संध्या में सर्व द्विज सूर्योपासन करते हैं, इसलिये यही दिशा मुख्य है, इस हेतु से मर्यादामार्गीय का लक्ष होता है, इसी प्रकार सूर्य भी मर्यादामार्गीय है, इसलिये पश्चिम दिशा में सूर्य द्वारा राग सम्भव होता है।

चन्द्रोदय वाली पूरव दिशा पुष्टिमार्गीया है, इसलिये पूरव दिशा की प्रतिस्पधिनी-पश्चिम दिशा को कहा है। इस प्रकार कहने से यह भी सूचित किया है कि मर्यादा मार्ग में ताप ही है, और पुष्टि मार्ग में प्रवेश होने पर ताप की निवृत्ति है।

यद्यपि प्रातःकाल पूरव दिशा में भी ताप है, तथापि इस समय पूरव दिशा को ताप निवृत्ति करनेवाली कहा है, उसका कारण यह है कि इस समय प्रभु पूरव दिशा के इन्द्र देवता हैं, वहाँ लीला करते हैं, वृन्दावन में भी गये हैं, इसलिये पुष्टि सम्बन्ध से पूरव दिशा का उत्कर्ष है।

प्रभु पुष्टि मार्ग का उत्कर्ष ही करते हैं। पुष्टि मार्ग से अन्यत्र किसी का भी उत्कर्ष सहन नहीं करते हैं, यह सब बात हृदय में करके कहा है कि ‘तस्यामुखे न राग इत्युक्तं’ ‘प्रति-स्पधिनीत्वमप्युक्तम्’।

सायंकाल में भगवान वृन्दावन से पश्चिम दिशा में आते हैं, वहाँ शयन आरती के समय वेणुनाद आदि से राग का सम्भव होता है। यह भाव महाप्रभु ‘एतत्सर्वं हृदि कृत्वा’ इस टिप्पणी के ‘सर्व’ शब्द से सूचन करते हैं।

इस प्रकार पूरव दिशा का मुख चन्द्रमा ने कुंकुमसदृश अपनी किरणों द्वारा समग्र रक्त-लाल कर दिया है।

यदि चन्द्रमा अपनी दिशा का मुख रञ्जित नहीं करता तो भगवान का मन भी स्त्रियों के हृदय को रञ्जित नहीं करता, इस प्रकार के चन्द्र का उदय यहाँ ही है, और इसकी यही दिशा है, यह भाव है।

जिस प्रकार चन्द्रमा दिशापति है, उसी प्रकार भगवान का मन स्वामिनियों के मन का पति है। अपने देव में स्वकीयाओं का रञ्जन करने वाला धर्म नहीं हो तो भगवान के मन भी रञ्जनरूप धर्म नहीं हो। (कराः) यह यहाँ हस्त वाचक है, चन्द्रमा में किरण हस्तरूप हैं, शीतल होने से तापहारक हैं अरुणगुण से अत्यन्त कल्याणरूप हैं, कारण कि अरुण—लाल रंग रसप्रधान है। पुरुष भी यदि अनुराग से स्पर्श करता है, तो उस समय सुख प्राप्त होता है।

यदि कहो कि चन्द्रमा का प्रयोजन क्या है, यदि अधिष्ठान मात्र ही प्रयोजन है तो इसका मन में ही उदय होना चाहिये, यदि अधकार निवृत्ति प्रयोजन है तो भगवान के द्वारा ही अधकार निवृत्त हो जायेगा। अथवा यदि उद्दीपन करना प्रयोजन है तो भी भगवान के द्वारा संभव हो सकता है, अतः चन्द्रमा के उदय होने का असाधारण कार्य बतलाना चाहिये।

इस शंका के उत्तर को कहते हैं कि ‘स चर्षणीनां शुचो हरन्ति’ चन्द्रमा चर्षणियों का दुःख दूर करता उदित हुआ है। महाप्रभु कहते हैं कि चर्षणी—सर्वत्र घूमने वाली शक्तियाँ हैं, सर्वत्र भक्तों में परिभ्रमणयुक्त प्रसादनिरूपक शक्तियों के अंशभूत शक्तियाँ हैं। अर्थात् समुदित—इकट्ठी स्त्रीत्व लक्षणाशक्ति कात्यायनी है, उसके अंशभूत चर्षणी शक्तियाँ तत्तद् व्रजभवतों में स्थित हैं, और ये शक्तियाँ भगवान के मन से हुई हैं। टिप्पणी में कहा है कि ‘चुष्’ प्रजन-नैष्ययोः’ यह घातुपाठ में कहा है, इस लिये यह घातु आविर्भावन, ईश घात्वर्थ में और गमन में शक्त है, अथवा ईशका भाव ऐश्वर्य में है।

प्रकृत में तो सर्वात्मभाव से ही एकलभ्य रस की अधिकारी मात्र सृष्टि में ही जो शक्तियाँ अधिकृत हैं, वे सब भगवान का आविर्भाव जानकर तादृशी—उसी प्रकार की शक्तियों को प्रकट करके फलसिद्धि की प्रतीक्षा करतीं, जहाँ तक फल नहीं मिलता है, वहाँ तक अन्य भावों से स्वामिनियों की रक्षा करने वाली शक्तियाँ चर्षणी हैं।

यद्यपि शाब्दिकों ने ऐश्वर्य शब्द को गत्यर्थक कहा है, तथापि ‘गत्योः’ इस प्रकार न कहकर ‘ऐश्वर्योः’ इस प्रकार कहा है, इससे प्रथम कहा अर्थ भी जानना चाहिये। इसी बात को जापन करने के लिये यहाँ उक्त अर्थ कहा है, गमन अर्थ करने में तो जहाँ शक्तियों को प्रकट किया है, वहाँ जाकर उस फल की सिद्धि के लिये अनुकूल प्रयत्नवान् होती हैं, इसलिये चर्षणी हैं। चर्षणी शक्तियाँ सर्वत्र—यथायोग्य कुब्जा आदि भक्तों में घूमती हुई भी कहीं भी परमानन्द सम्बन्धिनी नहीं हुई, जब कोई मुक्त भी होता है तो भी वे प्रवेश नहीं करती हैं, मुक्ति के पूर्व ही वहाँ से लौट आती हैं। कारण कि परमानन्द का दान इसके अधिकारियों को ही होता है, मुक्ति आदि में परमानन्द का दान नहीं होता है, अतः मुक्ति संबंध को जानकर लौट आती हैं।

चर्षणी शक्तियाँ स्वामिनियों में अधिकार का निश्चय करके इनकी आशा से स्थित हैं। अब इस समय भगवद् भोग योग्य अपनी स्वामिनियों में भी परमानन्द के दान में विलम्ब देखकर तथा स्वामिनियों की आर्ति देखकर परम स्नेह के वश से चर्षणी शक्तियों को शोक उत्पन्न हो गया था, उस समय चन्द्रमा प्रिय संगम विना उत्पन्न स्वामिनियों के दुःख को दूर करता हुआ, केवल स्वामिनियों का ही दुःख दूर करता नहीं, किन्तु चर्षणी सहित स्वामिनियों का दुःख दूर करता उद्गत हुआ है। कारण कि स्वामिनियों के दुःख से ही चर्षणी शक्तियों को भी शोक हुआ था, अतः स्वामिनियों के दुःखनिवारण से ही चर्षणी शक्तियों का भी शोक निवृत्त हो गया है।

उक्त हेतु से मुख्य शोक स्वामिनियों को था, चर्षणी शक्तियों को तो स्वामिनियों के स्नेह से शोक हुआ था, इसलिये गीण होने के कारण चर्षणी शक्तियों को सहभाव कहा है, अर्थात् स्वामिनियों की शोकनिवृत्ति के साथ चर्षणी शक्तियों का शोक निवृत्त हो गया।

इस चन्द्र का स्वभाव है, इसलिये उदय होने से संगम का भी निश्चय हो गया, इसलिये शोकनिवृत्ति हो गई। पूर्वोक्त ही श्री आचार्यों ने कहा है कि ‘चर्षणीसहितानां जीवानां वा’।

योगिक अर्थ द्वितीय पक्ष में है, इस पक्ष में योगमाया के अंशभूत स्वामिनियों में सर्वात्म-भाव उत्पन्न करने वाली शक्तियों को चर्षणी कहते हैं।

योगमाया भगवान् को जिस प्रकार की लीला जहाँ पर चिकीर्षित है, वहाँ पर उसी प्रकार की लीला के अनुरूप भाव को सम्पादन करती है।

दोनों पक्षों में चर्षणी शक्तियों का स्वरूपभेद टिप्पणी के अनुसार प्रथम कहा ही है, लीला करने के समय में भी तत्तद् लीला के अनुरूप भाव उत्पन्न करने के लिये शक्तियों की भक्तों

में स्थिति है। इसी हेतु से सुबोधिनी में (शक्तिसहितानाम्) इस प्रकार कहा है, इसीसे भगवद्विचारित क्रम से स्वरजातिका ऊँचा ले जाना कहा है।

प्रथम पक्ष में तो चर्षणी शक्तियों के सम्बन्धियों के लिये ही परमानन्द का अनुभव है, अतः वे चर्षणी शक्तियाँ स्वयं परमानन्द का अनुभव चाहने वाली व्रजभक्तों से अन्य भक्तों में इतने काल तक घुमती चर्षणी शब्द से कही जाती हैं, और मुक्तों में परमानन्द का अभाव जानकर मुक्ति वालों से स्वयं ही निवृत्त होती हैं, कारण कि भगवान ने इनको इस प्रकार की ही रचा है। इसलिये मुक्तों में इनका प्रवेश नहीं है। इसी बात को ज्ञापन करने के लिये सुबोधिनी में 'न लभन्ते' यह कहा है। इसी से आगे 'स्वतएव निवृत्ता भवन्ति' कहा है, 'ननु निवृत्तिता' मुक्तों ने निवृत्त की, नहीं कहा है।

चन्द्रोदय होने पर चर्षणियों का शोक निवृत्त हुआ, इस पक्ष में पुनः चन्द्रमा के परामर्श का प्रयोजन नहीं है, इसलिये एक वाक्य को दो बार कहना असंभव है, अतः पूर्व में प्रसिद्ध न होने के कारण चन्द्र की प्रसिद्धि करने वाला तत् शब्द भी नहीं कह सकते हो, इस प्रकार ग्रहण होने से आगे पक्ष कहा है कि 'चर्षणीसहितानां जीवानां वा' चर्षणी सहित जीवों को शोक था, वह चन्द्रमा ने उदय होकर दूर कर दिया है। इनका शोक इसी समय निवृत्त हुआ है, कारण कि शक्तिसहित जीवों को ही परमानन्द का अनुभव वक्तव्य है।

योजनाकार लालू भट्ट जी कहते हैं कि मर्यादामार्ग में मुक्ति होने से पूर्व ही चर्षणी शक्तियों का निवर्तन है, कारण कि मुक्त पुरुष का परिभ्रमण नहीं होता है, इसलिये शक्तियों का वहाँ उपयोग नहीं है।

प्रकृत में तो रास क्रीडा नृत्यादि में भ्रमण के कारण चर्षणी शक्तियों के परिभ्रमण का उपयोग है, इसलिये शक्तियों की निवृत्ति नहीं होती है, तथा परिभ्रमण शक्तियों के सहित व्रजवधुओं को रास में परमानन्द का अनुभव होगा, अतः इस ज्ञान से उनका शोक दूर हो गया है, इसी से श्री आचार्यों ने सुबोधिनी में कहा है कि, 'शक्तिसहितानामेव परमानन्दानुभवस्य वक्तव्यत्वात्' प्रायः करके अवतार सामयिक जीव अनेक लीला करने की इच्छा के अनुरूप हैं, और अनेक भाव संपादन वाली योगमाया के अंशभूत शक्तियों से युक्त हैं, यहाँ प्रायः शब्द से यह सूचन किया है कि जो जीव उदासीन हैं, उनमें वे शक्तियाँ नहीं हैं।

शोकनिवृत्ति में हेतु कहते हैं कि चर्षणी सहित जीवों ने जान लिया कि चन्द्रोदय हो गया, अब परमानन्द का अनुभव अवश्य इसी समय होगा। इस प्रकार चन्द्रमा के उदय में तीन प्रयोजन हैं—

(१) दिग्देवता का मुख संमार्जन, (२) चर्षणियों का शोक दूर करना, (३) अन्धकारनिवृत्ति आदि हैं।

तीनों प्रयोजनों में से मुखसंमार्जन यद्यपि चन्द्र से साध्य है, तथापि अति प्रयोजन न होने से उदय में हेतुता नहीं है, प्रासङ्गिक है, इसलिये शेष दो प्रयोजन में एक चन्द्रमा से साध्य है, इस बात को कहने के लिये दृष्टान्त कहते हैं कि, 'प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः'। बहुत समय में आया प्रिय पति पतिव्रता स्त्री का शोक दूर करके मुखसंमार्जन करता है। यह कार्य और से सिद्ध नहीं हो सकता है, इसी प्रकार उक्त कार्य चन्द्र बिना सिद्ध नहीं होते हैं, अतः चन्द्रोदय हुआ है।

महाप्रभु कहते हैं कि चन्द्रमा मन का अधिष्ठाता है, और चर्षणी मन की शक्तियाँ हैं, अतः चन्द्रमा चर्षणी शक्तियों का भर्ता है, दिशाओं का देवता पति तो स्पष्ट ही है।

इस विषय में स्वतन्त्र लेख इस प्रकार विचार करता है कि, 'चर्षण्यः' 'अत्र परिभ्रमण-शक्तयः' चर्षणी यहाँ परिभ्रमण शक्तियाँ हैं, इस विषय में श्री आचार्य कृपा से यह ज्ञात होता है कि पूर्व श्लोक में लीला सम्बन्धी रात्रियों का दर्शन करके भगवान का मन लीलामात्र विषय में घुमने लग गया, इसलिए घुमते हुए मन को अपने विषय में करने वाली, और अपने निकट लाने वाली सामर्थ्य रूप शक्तियाँ चर्षणी शब्द से कही गईं परिभ्रमण रूप व्रजभक्तों में प्रविष्ट हैं।

यद्यपि भगवान के मन के सामर्थ्य से ही भगवान का निकट आगमन संभव है, तथापि यहाँ ईश्वरमर्यादा से प्रभु कुछ भी नहीं करते हैं, किन्तु 'योगमायामुपाश्रितः' इस वाक्य से रस-मर्यादा से ही सर्वकार्य करते हैं, केवल मनोमात्र सामर्थ्य से ही नहीं करते हैं, किन्तु उद्दीपन विभाव चन्द्रोदय, गान आदि के द्वारा आगमन होता है, प्रभु के सम्बन्ध में निश्चय नहीं होता है, और अपना कार्य सिद्ध नहीं होता है, तो शोक ही होता है। वह शोक भगवान के मन का नियामक और भावपोषक प्रकट अलौकिक चन्द्र का दर्शन करने से, अब प्रभु का मन सर्वथा बुलाना आदि कार्य करेगा, इस निश्चय से गान के पूर्व ही निवृत्त हो गया, अतएव चन्द्रदर्शन तथा शोकनिवृत्ति के पहिले सर्वस्वामिनियों के मध्य में कोई भी परमानन्दसम्बन्धिनी-भगवत्सम्बन्धिनी नहीं हुई, इस समय शक्तियाँ स्वामिनियों में हैं, इसलिये स्वामिनियों को भगवान के सङ्ग से परमानन्द का सम्बन्ध हुआ और इनका भी कार्य सिद्ध हो गया, भगवान के निकट आ गईं।

चर्षणियों को भी परमानन्द का अनुभव हुआ, इसलिये सुबोधिनी में कहा है कि 'चर्षणीनां शुचो हरन् स उद्गात्' चर्षणियों का शोक-दुःखहरण करता चन्द्र उदित हुआ। 'चर्षणीसहितानां जीवानां वा' इस द्वितीय व्याख्यान का विवरण टिप्पणी में कहा है।

केवल भगवान के पास में लाने का कार्य संपन्न होने पर भी फिर 'चर्षणीसहितानां जीवानां वा' यहाँ चर्षणीयुक्त जीव कहे हैं। इसमें युक्ति कहते हैं कि, परमानन्द रासलीला वाच्य है, रासलीला में भ्रमण प्रतीत होता है, भ्रमण में, व्रजभक्तों का सामर्थ्य नहीं है, किन्तु प्रभु के मन की सर्वत्र प्रविष्ट शक्तियों से ही भ्रमण हो सकता है।

यह लीला नित्य है, इसलिये सर्वदा ही उक्त शक्तियाँ व्रजभक्तों के साथ में हैं, इस आशय से आचार्यों ने चर्षणीसहित जीव कहे हैं ॥ २ ॥

(सुबो०) एवं मनस उत्पत्तिमुक्त्वा तद्देवतायाश्च ततः सङ्कल्पोत्पत्त्यर्थं तस्य शब्दयोनित्वं निरूपयन् तद्दर्शनेन वेणुनाद उत्पन्न इत्याह—दृष्ट्वेति ।

इस प्रकार मन की उत्पत्ति और मन के देवता की उत्पत्ति कहकर अनन्तर स्वामिनियों में संकल्प की उत्पत्ति के लिये भगवान के मन का शब्दयोनित्व निरूपण करते, चन्द्रदर्शन से वेणुनाद उत्पन्न हुआ, इसको तीसरे श्लोक में कहते हैं।

भावोद्रेक होने पर स्वतः ही गान उत्पन्न हो जाता है, यह बात प्रत्यक्ष लोक में अनुभव-सिद्ध है, भगवान भी भाव के परवश होकर गान करने लगे, इससे गान को स्वातन्त्र्य कहा है। टिप्पणी में श्री विठ्ठलनाथ जी कहते हैं कि श्रुति में कहा है कि 'वाचः पूर्वरूपं हि मनः' वाणी का पूर्वरूप मन है, अर्थात् प्रथम मन में विचार करके पश्चात् वाणी का उच्चार होता है, अतः भगवान का मन समान अधिकरण वाणी की योनि है।

प्रकृत में चन्द्रदर्शन, गान का हेतु कहा है, इसलिये गान समान अधिकरण मन का अधिष्ठाता चन्द्र है।

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुंकुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥३॥

पदपदार्थ—(कुमुद्वन्तम्) कौ, पृथिव्याम्-पृथ्वी में मुत्-आनन्द 'कुमुत्-कुमुद्वन्ते-आनन्द' विद्यमान है, कार्यत्वेन यस्य स कुमुद्वान्, तम् कुमुद्वन्तम्' पृथिवी में सर्वत्र आनन्द देनेवाला (अखण्डमण्डलम्) जिसका मण्डल खंडित नहीं-अर्थात् पूर्ण मण्डल वाला (रमाननाभम्) लक्ष्मी-सदृश मुख की कान्ति वाला (नवकुंकुमारुणम्) नवीन केसर सदृश लालवर्ण वाला, चन्द्र और (तत्) उस चन्द्र की (कोमलगोभिः) मृदु किरणों से (रञ्जितं) रंगा गया (वनं) वन को (दृष्ट्वा) देखकर (वामदृशां) सुन्दर दृष्टिवाली स्त्रियों का (मनोहरं) मनहरण करनेवाला (कलं) अव्यक्त-मधुर स्पष्ट नहीं (जगौ) गान किया ॥ ३ ॥

भाषार्थ—पृथिवी में सर्वत्र आनन्द करनेवाला, अखंडित मंडल वाला, लक्ष्मी के मुख सदृश कान्तिवाला, नवीन कुंकुम की तरह अरुण-लाल वर्णवाला चन्द्र और चन्द्र की कोमल किरणों से सर्वत्र रंगे वन को देखकर भगवान ने सुन्दर दृष्टिवाली स्त्रियों का मन हरण करनेवाला अव्यक्त मधुर गान किया ॥ ३ ॥

(सुबो०) कुमुदांश्चन्द्रः, पृथिव्यां सर्वत्रैव मुदं कृतवानिति । तथाकरणे सामर्थ्यं अखण्डमण्डलमिति । न खण्डं मंडलं यस्य । एतस्य रसोत्पादने विभाव-कत्वमप्यस्तीति ज्ञापयितुं रमाननाभमित्युक्तम् । लक्ष्म्या अयं भ्राता भवतीति, रमाया आननवत् आभा यस्य, तथोक्तः । किञ्च, नवकुंकुमवदरुणवर्णमपि । तेन विवाह-समये यथा लक्ष्मीमुखं तथायं वर्तते । अतो नूतनकामजनकः किञ्च, वनमपि रसपोषकम् । तस्य कोमलगोभिरल्पकिरणैः अभितो रञ्जितमारक्तयुक्तम् । (किरणानां रसदोषधृत्वम् । वन एव पाल्यमानत्वं च ज्ञापयितुं गोपदम् । रमाननाभ-त्वेन पूर्वं निरूपणाद्यथा तन्नूतनकटाक्षा भावोदयहेतवः, तथैतेऽपीति ज्ञापनाय च गोपदमिन्द्रियस्यापि वाचकमिति तथा । अधुना भावोत्पत्तिरेव । तत्पोषस्तु स्वामिन्यागमनादिनाग्रे भावीति ज्ञापयितुं कोमलपदम् । यत्र तेन वनमपि रज्यते, तत्र यदर्थमागतः तद्रागं कथं न कुर्यात् ।) ततः संकल्पद्वारा कामजनने सर्वं कार्यं भविष्यतीति कलं यथा भवति तथा जगौ, गानं कृतवान् । तच्च गानं वामदृशां सुन्दरदृष्टीनां स्त्रीणां मनोहरमिति । 'तस्माद् गायन्तं स्त्रियः कामयन्ते' इति श्रुतेः । अर्थाद् गीतेन सर्वाः समाहूता इति । यदि व्यक्तमधुरं गीतं कुर्यात्, तदा गीतमेव शृण्वन्त्यः तत्रैव स्थिता भवेयुः । यासां पुनर्दृष्टिर्नोत्तमा, तास्तु नाकारि-ता एव ॥ ३ ॥

चन्द्र आनन्दवान् है, इससे उदित होकर पृथिवी में 'कामुचिद् भूमिषु निजानन्दं वर्धय' इस विद्वन्मंडन के कथनानुसार स्वामिनीरूप भूमि में सर्वत्र ही आनन्द कर दिया है । सर्वत्र आनन्द करने का सामर्थ्य 'अखण्डमंडलम्' पूर्ण मंडल है, अर्थात् सर्वविषयक पूर्णभाव है, कहीं से खण्डित नहीं है । मण्डल होने के कारण सर्वत्र आनन्द कर दिया है ।

इस चन्द्र को रस उत्पन्न करने में विभावकत्व भी है, मन का अधिष्ठाता है, इसलिये अनुभावकत्व और लक्ष्मीसदृश मुख की आभा से विभावकत्व है, इसी बात को ज्ञापन करने के लिये (रमाननाभं) यह कहा है ।

लक्ष्मी का यह चन्द्र भ्राता है, इस मन्वन्तर में चन्द्र अत्रि का पुत्र है, अतः लक्ष्मी का भ्राता नहीं है, पहिले मन्वन्तर में लक्ष्मी का भ्राता भी है, किन्तु पुराणान्तर में खण्डरूप से—अर्धचन्द्राकार से शिवमस्तक का भूषण कहा है । यहाँ पर 'अखण्ड' मण्डलं 'रमाननाभं' कहने से और पहिले नूतन प्रतिपादन करने के कारण लक्ष्मी का भ्राता सम्भव नहीं होता है, इसीलिये टिप्पणी में इसका आशय कहते हैं कि भगवान को जिस समय रमण करने की इच्छा हुई, उस समय रस के पूर्ण करने के लिये ब्रह्मानन्दलक्ष्म्यात्मक नायिकारूप का भगवान ने आविर्भाव किया, कारण कि ब्रह्मानन्दरूप लक्ष्मी भगवान का रमणस्थान है ।

इसी प्रकार चन्द्र को भी प्रकट किया है, अतः यह चन्द्र लक्ष्मी का भ्राता है । कारण कि लक्ष्मीमुख सदृश आकारवाला चन्द्र है और लक्ष्मी के मुख की तरह इसकी आभा है, इसलिये उक्त भाव से यहाँ लक्ष्मीभ्रातृत्व स्थान है, लोकसिद्ध अभिप्राय से नहीं है, इसलिये कोई अयुक्तता नहीं है । लक्षणा भी नहीं है, इसी प्रकार आगे विवाहलीला भी है, यहाँ पहिले विशेषण से आलम्बन की सदृशता कही है, अब आगे के विशेषण में उद्दीपन विभावकत्व कहते हैं 'नवकुंकुमारुणम्' नवीन कुंकुम सदृश अरुण वर्ण है, नव पद का तात्पर्य यह है कि विवाहसमय में जिस प्रकार लक्ष्मी का मुख कुंकुम से लाल हुआ, उसी प्रकार चन्द्र भी है, इसलिये नूतन काम उत्पन्न करनेवाला है ।

वन भी रसपोषक है, चन्द्र की अल्प किरणों से समस्त वन रञ्जित—रक्त हो रहा है ।

स्वतन्त्र में श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं कि चन्द्रकिरणें रसदोहन करनेवाली हैं और वन में ही पालन होता है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये 'गोभिः' इसमें गोपद है, प्रथम चन्द्र का मुख लक्ष्मी सदृश कहा है, इसलिये लक्ष्मी के मुख में जिस प्रकार नूतन कटाक्षभाव के उदय में हेतु है, उसी प्रकार चन्द्र किरण भी भाव प्रकट करती हैं ।

गोपद इन्द्रियों का भी वाचक है, इसलिये पूर्वोक्त अर्थ कहा है । इस समय भाव की ही उत्पत्ति है, पोषण तो स्वामिनियों के आगमन आदि से आगे होगा, इस बात को ज्ञापन करने के लिये यहाँ 'कोमल' पद कहा है । चन्द्रमा ने जब वन को भी रञ्जित कर दिया है, तो फिर चर्षणियों के लिये तो रञ्जित करने को आया ही है, इसलिये चर्षणियों को तो रञ्जित करेगा ही ।

अब भगवान को राग के अनन्तर संकल्प द्वारा काम उत्पन्न करना है, जिससे सब कार्य होगा, अतः भगवान ने कल—अव्यक्त मधुर गान किया है और गान से सुन्दर दृष्टिवाली स्त्रियों का मन हरण कर लिया है ।

'तस्माद्गायन्तं स्त्रियः कामयन्ते' यह श्रुति उक्तार्थ में प्रमाण है, अर्थात् गानद्वारा सब व्रजभक्त स्त्रियों को अपने पास बुलाया ।

यहाँ आह्वान पद का अर्थ स्वविषयक संकल्प उत्पन्न करनेवाला है, अर्थात् अपना संकल्प गोपियों में उत्पन्न करना है ।

यदि कहो कि भगवान ने कलगान क्यों किया, व्यक्तगान क्यों नहीं किया ?

तब इसका उत्तर आगे देते हैं कि यदि भगवान् व्यक्त मधुर गीत करते तो गीत को ही श्रवण करती गोपियां व्रज में ही रह जातीं, लीलास्थल पर नहीं आतीं, इसलिये भगवान् ने अव्यक्त गान किया है।

यद्यपि स्वरूप दर्शन की इच्छा श्रवण करने से निवृत्त नहीं होती है, तथापि गीत का अर्थ स्वरूप ही है, वह गीत अर्थसंयुक्त ही है। इसलिये व्यक्त गीत करने पर अर्थ भी व्यक्त हो जाता। फिर आगे के श्लोक में 'तदनङ्गवर्धनम्' कहने से स्वरूप रस अनुभव की इच्छा ही उत्पन्न होती। और रस का अनुभव होने पर फिर भगवान् के समीप गोपियां नहीं आ सकतीं, इसलिये भगवान् ने कलगान किया है।

जिन भक्तों की दृष्टि उत्तम नहीं थी, उनको भगवान् ने नहीं बुलाया, कारण कि यहाँ पुष्टिमार्गीय भजन पर दृष्टि को ही उत्तमत्व है। नहीं तो चार आदि पदों को छोड़कर वामपद नहीं कहते ॥ ३ ॥ इस प्रकार तीसरे श्लोक की भाषा हुई।

(सुबो०) ततः सर्वाः स्त्रियः समागता इत्याह—निशम्येति।

इस प्रकार भगवान् ने कलगान करके अपना संकल्प स्वामिनियों को बोधित किया, फिर सब स्त्रियां भगवान् के समीप आईं, इस बात को आगे के श्लोक में कहते हैं—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजगुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो ज्वलोलकुण्डलाः॥४॥

पदपदार्थ—(अनङ्गवर्धनं) काम बढ़ानेवाला (तत्) कलं अव्यक्त—स्पष्ट नहीं (गीतं) गान को (निशम्य) श्रवण कर (कृष्णगृहीतमानसाः) कृष्ण ने ग्रहण किये मन जिनके (अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः) परस्पर अलक्षित—नहीं जाना है उद्यम जिनका (ज्वलोल कुण्डलाः) शीघ्रगमन से हिल रहे हैं कुण्डल जिनके (व्रजस्त्रियः) व्रज की स्त्रियां (यत्र) जिस स्थान पर (सः) वह कलगान करनेवाला (कान्तः) पति है, (आजगुः) आ गई ॥ ४ ॥

भाषार्थ—अनङ्ग—काम बढ़ानेवाले गीत का श्रवण करके, कृष्ण ने जिनका मन ग्रहण कर लिया, परस्पर भगवान् के समीप आगमन में अलक्षित उद्यम जिनका और शीघ्र चलने से कुण्डल हिल रहे जिनके इस प्रकार की गोपियां जहाँ कान्त है वहाँ आईं ॥ ४ ॥

(सुबो०) यद्यपि भगवता कुमारिका एवाहताः तथापि, आह्वानं सदृशमिति, निरोधोऽपि कर्तव्य इति सर्वा एव समागताः। किञ्च, यद्भगवता गीतं तदनङ्गमेव वर्धयति, अङ्गं तु नाशयत्येव। अतो नूतन उत्पन्नः कामः ता 'आनीतवान्' किञ्च, व्रजस्य स्त्रियः पूर्वमपि भगवदीयाः, अतः कृष्णेनैव गृहीतं मनो यासाम्। अतः शीघ्रमेव यत्र कान्तस्तत्रागताः। अनेन आकारिता एव प्रथममागता इत्युक्तम्। तासां मुख्यः कान्त इति। अत एवान्योन्यमलक्षित उद्यमो यासाम्। ता हि प्रत्येकमेव भगवन्तं पतित्वेन स्वीकृतवत्यः। स पूर्वमुपात्तो वा कान्तः। तासां शरीरविचारेऽपि दृष्टिर्न जातेति वक्तुं जवेन लोले कुण्डले यासामिति कर्णपीडाननुसन्धानं प्रदर्शितम्। ताः स्त्रियो गौडदेशस्थाः।

तत एव कुमारिकाः समागता इति। पूर्व मथुरादेशस्थितानामपि अनागरीणां कुण्डले एव। ताटङ्कयोरेव वा कुण्डलत्वम् ॥ ४ ॥

यद्यपि उपक्रम में भगवान् ने कुमारिकाओं के वरदान सम्बन्धिनी रात्रियों का दर्शन करके रमण करने की इच्छा की थी, कारण कि स्वविषयक संकल्प उत्पन्न रूप आह्वान—(जिसके द्वारा बुलाया जाय वह आह्वान है) भगवान् को इष्टतम है। इसलिये कुमारिका ही बुलाई थीं, तथापि आह्वान और गान का श्रवण दोनों प्रकार की गोपियों को ही बराबर है, कारण कि निरोध दोनों को ही करना है और स्वरूपानन्द का दान भी दोनों को ही करना है, अनङ्गवर्धन भी दोनों को ही हुआ है, इसलिये सभी गोपियां आई हैं, 'तदनङ्गवर्धनम्' प्राकृत अङ्गरहित स्वरूपात्मक काम का वर्धन किया है, इस वाक्य से भगवदीय अनङ्ग जहाँ पर है, वहाँ पर गीत काम का वर्धन करता है।

भगवदीय अनङ्ग व्रज की स्त्रियों में स्थित है, इसलिये अनङ्ग बढ़ाया है, इसीसे कुमारिका और उनसे अतिरिक्त अन्य भी आई हैं, इसलिये यहाँ मूल में वर्धकत्व कहा है, जनसंख्या नहीं कहा है।

आचार्यों ने भी यही कहा है कि 'आह्वानं सदृशम्'।

अब व्रजस्त्रियों के आगमन में अन्य हेतु भी कहते हैं कि 'अनङ्ग-वर्धनम्' भगवान् ने जो गान किया है, वह प्राकृत अङ्गरहित स्वरूपात्मक काम को ही बढ़ाता है और अनङ्ग-प्राकृत विभावाद्यङ्गयुक्त काम का तो नाश ही करता है।

योजनाकार कहते हैं कि द्वितीयस्कन्ध सुबोधिनी में प्रपञ्च का अभाव, भक्तों का निरोध कहा है। और दशम सुबोधिनी में 'एवं सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्न तद्विशेषः। तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्ण समुद्यमः ॥ लौकिकेषु तु भवेत्तु यत्रैव हरिवेशनम्। निवर्तते तदेवात्र बहोर्दालमयं यथा ॥' यहाँ पर प्रपञ्च का लय निरोध कहा है। इसलिये पहिले देह आदि प्रपञ्च का लय फलात्मक निरोध है।

यहाँ देहादि का लय करने वाला वेणुनाद है। वह वेणुनाद अङ्ग का तो नाश करता है, अतः सिद्ध हुआ कि अलौकिक देह आदि प्रपञ्च सम्पादन करना वेणुनाद कार्य है, इसलिये नूतन काम उत्पन्न होकर व्रजस्त्रियों को भगवान् के समीप लाया है।

पहिले की अपेक्षा इस समय उत्कट होने से नूतन काम उत्पन्न हुआ, कहा है।

यदि कहो कि देशान्तर का व्यवहार देशान्तर में सम्भव नहीं हो सकता है, फिर स्वामिनियों को काम कैसे भगवान् के समीप लाया।

इसके उत्तर में कहते हैं कि व्रज की स्त्रियां प्रथम से ही भगवदीय थीं। इसलिये कृष्ण ने इनके मन ग्रहण कर लिये हैं, इसी कारण जहाँ पर कान्त-मुखों का अन्त जिसमें है, अर्थात् पूर्ण सुखरूप पति हैं, वहाँ पर आयीं।

कान्त शब्द यह भी सूचन करता है कि जिनको भगवान् ने बुलाया था, वे ही भगवान् के समीप आई हैं। कारण कि उनका ही मुख्य कान्त है। अर्थात् कुमारिकाएँ आई हैं।

फिर अन्यपूर्वा-गोपोंकी स्त्रियां किस प्रकार से आईं। इनके आगमन का हेतु बतलाते हैं कि कृष्ण ने मन जिस प्रकार कुमारिकाओं का था, उसी प्रकार श्रुति रूपाओं का भी था,

भगवान् ने दोनों के ही मन ग्रहण किये थे, अतः विषय सादृश्यकृत दोनों ने ही गान ध्वन किया है ।

प्रथम निषेध और अनङ्गवर्धक आदि हेतु बतलाये हैं, इसलिये एक का एक ने भगवान् के समीप आनेका उद्यम नहीं देखा है ।

व्रजभक्त प्रत्येक भगवान् को अपना ही पति मानती थीं, अपने पति के पास जाते समय कोई भी कुछ कहता नहीं है, अतः किसीने किसीसे कहा नहीं था ।

व्रजभक्तों ने अपने शरीर का भी विचार नहीं किया है, इस बात को आगे कहते हैं कि जल्दी-जल्दी चलनेसे कुण्डल हिल रहे हैं, हिलने से जो कानोंमें पीडा हो रही है, उसका अनुसंधान गोपियों को नहीं है ।

कुमारिकायें गोडदेश में रहने वाली थीं, वहां से व्रजमें आई थीं । पहिले मथुरा देशमें रहने वाली ग्रामीण स्त्रियां कुण्डल पहिनती थीं, अथवा ताटङ्क-कर्णभूषण को ही कुण्डल कहते हैं 'कुण्डलं कर्णभूषणम्' इस कोश के अनुसार कुण्डल पदको सामान्य में शक्ति है ॥ ४ ॥

(सुबो०) प्रसङ्गादन्यासामप्यागमनमाह-दुहन्त्य इति ।

यहां दो पक्ष संभव होते हैं, प्रथम पक्ष तो यह है कि भगवान् ने केवल कुमारिकाओं को ही बुलाया, यह मुख्य पक्ष है । दूसरा पक्ष बिना भेदभाव के सब गोपियों को बुलाया ।

पहिले पक्ष में आभास में कहते हैं कि प्रसङ्ग से अन्य गोपियों का भी आगमन कहते हैं, दूसरे पक्ष में 'तासां वा क्रियापराणां वा' अनेक प्रकार की क्रिया-कार्य घर में करने वाली गोपियां भगवान् के समीप आईं इस प्रकार आगे श्लोक में कहते हैं—

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित् दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।

पयोऽधिश्चित्य संयावमनुद्वास्यपरा ययुः ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—(काश्चित्) कितनी ही (समुत्सुकाः) अत्यन्त उत्कण्ठित गोपियां (दुहन्त्यः) दोहन करतीं (दोहं) दूहने को (हित्वा) छोड़कर (अभिययुः) भगवान् के संमुख गईं (अपरा) और गोपियां (पयः) दूधको (अधिश्चित्य) गरम करने को चूल्हे पर रखकर (संयावम्) दूध में गेहूं के कण-दलिया को (अनुद्वास्य) चूल्हे पर से बिना उतारे (ययुः) गईं ।

भाषार्थ—कितनी ही गोपियां गायें दुह रही थीं, दुहना छोड़कर अत्यन्त उत्कण्ठित भगवान् के संमुख आईं, और कितनी ही चूल्हे पर दूध गरम कर रही थीं, उसको छोड़कर आ गईं कितनी ही गेहूं का दलिया—थूली चूल्हे पर से बिना उतारे ही आईं ॥ ५ ॥

(सुबो०) तासां वा क्रियापराणाम् । तत्र काश्चन षोडशहस्रव्यतिरिक्तानि नवविधाः समागताः, दशविधा वा । गुणानां त्रैविध्यान्नवविधत्वम् । तत्र गोपिणाश्चैकविधाः । जातिकुललोकधर्मपराः तिस्रस्तिस्र उदीरिताः । तत्र गोपजातीयाः दुग्धपराः । तत्र दुग्धस्योत्पत्तिस्थितिप्रलयान् कुर्वन्ति तास्तिस्रः प्रथममुदीरिताः । एवंविधा अपि गणश इति वक्तुं सर्वत्र बहुवचनम् । काश्चित् दुहन्त्य एव दोहं दोहनलक्षणं कर्म मध्ये त्यक्त्वा भगवदाभिमुख्येन ययुः ।

गौर्वत्सश्च बद्धौ, दोहनपात्रं च अर्घदुग्धम्, यः समयः सर्वथा त्यक्तुमशक्यः, तस्मिन् समये समागताः । तथा समागमने हेतुः समुत्सुकाः इति । सम्यगुत्सुकाः, को वेद क्षणान्तरे भगवान् क गमिष्यतीति । अन्याः पुनः पयः अधिश्चित्य तथैव ययुः । भोजनार्थं पयसि पच्यमानाः गोधूमकणाः संयावशब्देनोच्यन्ते । तेषां दाहे सर्वनाश इति । पक्वदशैव संयावशब्देनोच्यते । अतस्तदप्यनुद्वास्य काश्चन अभिययुः । अपरा इति सर्वत्र गुणैर्भिन्नस्वभावत्वम् । एवं तिस्रो राजस्यः ॥ ५ ॥

भगवान् के समीप में सोलह हजार कुमारिकाओं से पृथक् नव प्रकार की अथवा दश प्रकार की गोपियां आईं, सत्त्व रज तम तीन गुण हैं, प्रत्येक तीनों गुणों में—अर्थात् एक में एक का मिश्रण करने पर नव प्रकार होते हैं और एक प्रकार निर्गुण है, इस प्रकार दश प्रकार हुए ।

यहां गुण शब्द सर्वत्र भावपरक है, प्राकृत गुणपरक नहीं है । और यहां रससम्बन्धी सत्त्विकादि भाव हैं, भावकी विलक्षणता बतलाने के लिये गुण कहे हैं ।

इस प्रकार भगवान् के समीप में नव प्रकार की अथवा दस प्रकार की गोपस्त्रियां आईं, जातिधर्म, कुलधर्म, लोकधर्म करनेवाली गोपियों के तीन-तीन भेद यहां कहे हैं, इस प्रकार नव होते हैं ।

इसमें गोपजाति धर्मवाली गोपियों का दुग्ध से सम्बन्ध है, इसलिये ये दूध की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करती हैं, ये तीन प्रकारकी इस पांचवें श्लोक में कही राजसी हैं, इनमें दूध की उत्पत्ति—दोहन करनेवाली राजस राजसी हैं, स्थिति करने वाली—दूध गरम करने वाली सात्त्विक राजसी हैं ।

संयाव आदि से दूध का प्रलय करने वाली तामस राजसी हैं । इस प्रकार तीन प्रकार की गोपस्त्रियों के यूथ हैं, इस बात को सूचन करने के लिये मूल में 'दुहन्त्यः' आदि में बहुवचन का प्रयोग किया है ।

कितनी ही गोपियां दूध दुहतीं, दोहन लक्षण कर्म को मध्य में ही छोड़कर भगवान् के समीप में गईं, गाय में बछड़ा बांध दिये, दोहनी में आधा दूध दुहा गया, यह समय सर्वथा छोड़ने का नहीं है, किन्तु इस समय में भी राजस राजसी गोपस्त्रियां छोड़कर भगवान् के समीप में चली गईं ।

गोपस्त्रियां ऐसे समय में क्यों गईं ? इसका हेतु कहते हैं कि (समुत्सुकाः) सम्यक् उत्सुक-गोपस्त्रियों को भगवान् का दर्शन करने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठा उत्पन्न हो गई, कि न जाने क्षण के अन्तर में भगवान् कहां चले जायेंगे, इस कारण सब कार्य छोड़कर भगवान् के समीप गईं ।

अन्य कितनी ही सात्त्विक राजसी गोपस्त्रियां दूध चूल्हे पर आँटाने को रखकर, उसे चूल्हे पर ही छोड़कर चली गईं ।

भोजन के लिये दूधमें पक्व किये गेहूं के कण-दलिया को संयाव कहते हैं, अतः संयाव को चूल्हे पर से उतारे बिना ही तामस राजसी गोपस्त्रियां भगवान् के समीप गईं ।

श्लोक में 'अपरा' शब्द सर्वत्र गुणों द्वारा भिन्न स्वभाव सूचक है, इस प्रकार इस श्लोक में गोप जाति धर्म वाली और सात्त्विक, राजस, तामस भाव वाली राजसी गोपस्त्रियों का भगवत्समीप में आगमन कहा है ॥ ५ ॥

(सुबो०) सात्त्विकीराह—परिवेषयन्त्य इति ।

अब आगे छठे श्लोक में सात्त्विक गोपियों के तीन भाव कहते हैं—

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशूनथ ।

शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदशनन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥ ६ ॥

पदपदार्थ—(अन्याः, परिवेषयन्त्यः) अन्य गोपस्त्रियां परोस रही (तत्) उस परोसने को (हित्वा) छोड़कर (अन्याः शिशून्) अन्य गोपस्त्रियां बालकों को (पाययन्त्यः) दूध पान कराती (अथ अन्याः) अन्य गोपस्त्रियां (पतीन्) अपने पतियों को (शुश्रूषन्त्यः) सेवा करतीं, (काश्चित्) कितनी ही गोपस्त्रियां (अशनन्त्यः) भोजन करतीं (भोजनम्) भोजन को (अपास्य) छोड़कर भगवान के समीप में गई ॥ ६ ॥

भावार्थ—कितनी ही अन्य गोपियां परोसती थीं, वे परोसना छोड़कर भगवान के समीप गई, अन्य गोपस्त्रियां बालकों को दूध पिलाती थीं, वे दूध पिलाना छोड़कर गई, अन्य गोपियां पतियों की सेवा करती थीं, वे पति-सेवा छोड़कर गई, अन्य गोपियां भोजन करती थीं, वे भोजन करना छोड़कर गई, (अशनन्त्यः) इसका सम्बन्ध आगे श्लोक के त्रिक से है ॥ ६ ॥

(सुबो०) भर्तुरपत्यस्यापि सेवा स्त्रीधर्मः । तत्र भर्तुर्भोजने शयने च सेवा स्वधर्मः । अतिबालकानां पुत्राणां स्तनदानं च । परिवेषणं च सृष्टिरिव, रेतस उत्पादकत्वात् । स्तनदानं पालनम् । शिशूमन्यत् । सर्वत्र तत्तद्धित्वेति ज्ञेयम् । अन्या इत्यपि । तामसीराह अशनन्त्योऽपास्य भोजनमित्यादि ॥ ६ ॥

पति-पुत्र की सेवा करना स्त्री का धर्म है, उसमें भोजन, शयन में पतिसेवा स्वधर्म है, अत्यन्त बालकों के लिये स्तनदान भी स्त्रीधर्म है, और परोसना उत्पत्ति सट्टा है, कारण कि वीर्य उत्पन्न करता है ।

स्तनदान पालन है, लेष अन्य संहार है, परोसना आदि छोड़कर सर्वत्र जानना चाहिये, और अन्याः यह भी सर्वत्र कहना चाहिये ।

तामसी गोपस्त्रियों के तीन भाव कहते हैं (अशनन्त्योऽपास्य भोजनम्) यहां परोसनेवाली स्त्रियां सात्त्विकियों में राजस सात्त्विकी हैं, कारण कि परोसना भोजन में हेतु है, भोजन से वीर्य उत्पन्न होता है । इस प्रकार परोसना उत्पत्तिसाधक है, इसलिए परोसनेवाली स्त्रियां राजस सात्त्विकी हैं ।

छोटे बच्चों को स्तनपान करानेवाली सात्त्विक सात्त्विकी हैं, कारण कि स्तनदान पालन है । पतियों की सेवा करनेवाली स्त्रियां तामस सात्त्विकी हैं, कारण कि पति शुश्रूषण भोग-प्रधान है, इसलिये पारमाधिक बुद्धिनाशक है, नाश तमोगुण का कार्य है ॥ ६ ॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।

व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ॥ ७ ॥

पदपदार्थ—(अन्याः) अन्य गोपस्त्रियां (लिम्पन्त्यः) अनुलेपन करतीं (अन्याः) अन्य गोपस्त्रियां (प्रमृजन्त्यः) शुद्ध करतीं गृहादि को अथवा भूषणों को (काश्च) कितनी ही गोपियां

(लोचने) नेत्रों में (अञ्जन्त्यः) काजल लगातीं (व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः) विपरीत—उलटे अर्थात् हाथों के पावों में इत्यादि वस्त्रभूषण वाली (काश्चित्) कितनी ही (कृष्णान्तिकं) कृष्ण समीप में (ययुः) गई ॥ ७ ॥

भावार्थ—अन्य स्त्रियां शरीर में चन्दन आदि का अनुलेपन करती थीं, अथवा गृह आदि को लीपती थीं उसको छोड़कर भगवान के समीप में गई, अन्य गोपस्त्रियां शरीर में उद्वर्तन-उबटन आदि अथवा आभरणों को अथवा पात्रों को प्रमार्जन करती थीं, उसको छोड़कर गई, अन्य कई स्त्रियां नेत्रों में अञ्जन-काजल लगा रही थीं, उसको छोड़कर गई, वस्त्र-आभूषणों को विपरीत—जो नीचे के अङ्ग में पहिनने योग्य थे, उनको ऊपर के अङ्ग में और जो ऊपर के अङ्ग में पहिनने योग्य थे, उनको नीचे के अङ्ग में पहिनकर कितनी ही स्त्रियां कृष्ण समीप गईं ॥ ७ ॥

(सुबो०) लिम्पन्त्यः शरीरानुलेपनं कुर्वन्त्यः, प्रमृजन्त्य उद्वर्तनादिकं कुर्वन्त्यः, गृहं वा लिम्पन्त्यः, प्रमृजन्त्यः आभरणानि, भाण्डानि वा प्रमृजन्त्यः । अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः । शरीरसेवातः गोसेवा मुख्या, ततः पतिसेवेति । 'अञ्जन्त्यः काश्च लोचने' इति गुणातीताः । अतः 'काश्च लोचने' इति दुर्लभाधिकारः सूचितः । ज्ञानमार्गशोधिका इति निर्गुणत्वम् । तासामागमने दैहिकविचारोऽपि न जातः, किम्पुनस्तद्धर्मणामिति वक्तुं वस्त्राभरणयोर्व्यत्यासमाह व्यत्यस्तेति । व्यत्यस्तानि विपरीतानि वस्त्राभरणानि च यासाम् । एवमुद्यमः सर्वासामेव साधारणो निरूपितः । 'व्यत्यासो मार्गगता' विति केचित् । तन्मध्येऽपि काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः, काश्चित् । या पुनः शब्दपरा जाताः, ता उद्युक्ता अपि नागताः, याः पुनः शब्दापेक्षां त्यक्तवत्यः, ताः सर्वतो निरपेक्षाः विपरीतावश्यक-देहधर्माः भगवदन्तिकमागताः ॥ ७ ॥

अन्य कितनी ही गोपस्त्रियां शरीर में चन्दन आदि से अनुलेपन करती थीं, अथवा गृह को लीप रही थीं और कितनी ही स्त्रियां उद्वर्तन—उबटना आदि शब्द से स्नानादि करती थीं, अथवा आभरण—गहने, अथवा पात्रों को मांज धोकर शुद्ध करती थीं, वे सब उन सब कार्यों को छोड़कर भगवान के समीप गईं, इन तामसी गोपस्त्रियों में भी पहिले की तरह उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयभाव का क्रम है ।

अर्थात् प्रथम श्लोक ७ के चतुर्थ चरण में (अशनन्त्योऽपास्य भोजनम्) यह उत्पत्ति और शरीर में चन्दनादि अनुलेपन स्थिति, तथा प्रमार्जन करना प्रलय है, प्रमार्जन करने से मलिनता नष्ट होती है, नाश करना प्रलय है । इसलिये प्रलयकर्तृत्व कहा है ।

इस प्रकार राजस, तामस, सात्त्विक तीन प्रकार के गोपियों के भाव-भेद कहे हैं ।

यदि कहो कि गोपस्त्रियों में राजस, तामस, सात्त्विक भाव किस प्रकार से हैं । तो इसके उत्तर में कहते हैं कि शरीरसेवा से गोसेवा मुख्य है, गोसेवा से पतिसेवा मुख्य है, शरीरसेवा तामस धर्म है, इसको लोकधर्मवाली गोपियों में पहिले 'अशनन्त्य' इत्यादि त्रिक में कहा है, गोसेवा शरीरसेवा से उत्तम है, इसलिये राजसधर्म है, उसको 'दुहन्त्यमोऽभिययुः' इत्यादि त्रिक में कहा है और गोसेवा से पतिसेवा उत्तम है, उसको 'परिवेषयन्त्य' इत्यादि त्रिक में कहा है, पतिसेवा सात्त्विकी है ।

'अञ्जन्यः काश्च लोचने' नेत्रों में काजल लगानेवाली गोपस्त्रियां गुणातीत हैं, कारण कि दुहने आदि की अपेक्षा अञ्जन को अन्तरङ्गता है, अन्य आभूषण पहिनने पर भी नेत्रों में काजल लगाये बिना सुन्दरता फीकी हो जाती है, इसलिये अञ्जन लगाना शृंगार में मुख्य है। इसका त्याग अशक्य है, फिर इसका त्याग करके भगवान के समीप गई हैं, इसलिये इन गोपस्त्रियों का दुर्लभ अधिकार सुबोधिनी में सूचन किया है।

ये शास्त्ररीति से जाननेवाले ज्ञानमार्ग का शोधन करनेवाली हैं, इसलिये निर्गुण हैं।

गोपस्त्रियों को भगवान के समीप आने में दैहिक विचार भी नहीं रहा, फिर शरीरधर्म-त्रपा-लज्जा आदि का विचार तो कैसे होता? इसी बात को कहने के लिये वस्त्र-आभरणों का विपरीत पहिनना कहते हैं कि 'व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः' विपरीत वस्त्र आभूषण पहिन कर स्त्रियां गई थीं।

इस प्रकार भगवान के समीप जाने के सर्वगोपियों के उद्यम का साधारण निरूपण किया है।

गोपियों के विपरीत पहिने वस्त्र आदि का योगमाया यथावत् सम्पादन करेगी। इसमें किसी का यह कहना है कि शीघ्र जाने से मार्ग में वस्त्रादि का व्यत्यास हो गया है।

इस प्रकार भगवान के समीप जानेवाली गोपियों के मध्य से भी कितनी ही गोपियां कृष्णसमीप गईं और कितनी ही गोपियां नहीं गईं। कारण कि जो गोपियां पति आदि के निवारण शब्दों को सुनकर विचार करने लग गईं, उन्होंने उद्योग भी किया, किन्तु भगवान के समीप नहीं जा सकीं। और जिन गोपियों ने निवारण शब्दों की उपेक्षा कर दी, अर्थात् अपेक्षा त्याग कर दी, वे स्त्रियां सब से निरपेक्ष विपरीत आवश्यक देह धर्मवाली भगवान के समीप आ गईं।

कुछ आईं कुछ नहीं आईं, इस अर्थ का पोषण टिप्पणी में किया है कि 'अन्यथा' यदि पूर्वोक्त कोई आईं कोई नहीं आईं, इस प्रकार नहीं मानते हैं तो पूर्व वाक्य में 'काश्चित्' कह दिया था, वस्त्र आदि का विपरीत पहिनना वेगकृत सर्वसाधारण है, पुनः 'काश्चित्' पद जो कहा है, वह असंबद्ध हो जायगा—उसका सम्बन्ध नहीं लगेगा, इसलिये 'काश्चित्' पद को सम्बद्ध-सम्बन्धित करने के लिये पूर्वोक्त अर्थ का सम्भव होता है ॥ ७ ॥

(सुबो०) सर्वासामनागमने हेतुमाह—ता वार्यमाणा इति।

समस्त गोपियां भगवान के पास नहीं आईं, इसमें हेतु आठवें श्लोक में कहते हैं—

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिः पुत्रबन्धुभिः।

गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥ ८ ॥

पदपदार्थ—(ताः) वे गोपियां (पतिभिः) पतियों से (पितृभिः) माता-पिताओं से (पुत्रबन्धुभिः) पुत्रबन्धुओं से (वार्यमाणाः) रोकी गईं, (गोविन्दापहृतात्मानः) गोविन्द ने हरण किया मन जिनका (मोहिताः) मोहित हुईं (न) नहीं (न्यवर्तन्त) लौटीं ॥ ८ ॥

भाषार्थ—गोपियों को पतियों ने और माता-पिताओं ने तथा पुत्र सम्बन्धियों ने रोका, किन्तु गोविन्द ने उनका मन हर लिया था, इसलिये मोहित हुईं नहीं लौटीं, पति आदि की आज्ञा न मानकर भगवान के समीप ही पहुंच गईं ॥ ८ ॥

(सुबो०) 'रक्षेत्कन्यां पिता विद्वां पतिः पुत्रस्तु वार्धके। अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियाः' इति चत्वारो रक्षकाः। अतो यथायथं पति-भिर्वार्यमाणा जाताः, काश्चन पितृभिः, तथैव पुत्रैर्बन्धुभिश्च। ते हि निरुद्धा अपि फलरसानभिज्ञाः, साधनप्रवणाः। स्वद्वारैव स्त्रीणां भजने भजनं मन्यते, न तु स्वातन्त्र्येण। तथापि गोविन्देनापहृतः आत्मा अन्तःकरणं यासाम्। निवारणं हि श्रौतम्। प्रवर्तकश्च भगवान्। अन्तःकरणाखण्डाश्च पुरुषाः। न हि नौका प्रवाहवेगाद् गच्छन्ती तिष्ठ तिष्ठेत्युक्ता तिष्ठति। भयं स्वधर्मो वा तासां नास्तीत्याह मोहिता इति। यदि ताः कृष्णान्तिकं न गच्छेयुः, तदा मूर्च्छिता इव प्राणां-स्त्यजेयुः। 'सर्वात्मभावज्ञापनायैवाधुना ब्रजस्थानामेतदागमन-ज्ञानं कारितवानिति ज्ञेयम्' अन्यथाऽग्रे 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानि'ति वाक्याद्यथा वनस्थित्य-ज्ञानं संपादितवान्, एवं पूर्वमेवागमनाज्ञानमेव कथं न संपादयेत्। 'प्रक्षालनाद्धि पङ्क्त्ये'ति न्यायेन तज्ज्ञानं संपाद्य तत्सम्भावितदोषाभाव-सम्पादनात्तद-सम्पादनस्यैव वरीयस्त्वादिति ॥ ८ ॥

'रक्षेत्कन्यां पिता विद्वां पतिपुत्रस्तु वार्धके।

अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियाः'।

यह याज्ञवल्क्य स्मृति का वाक्य मूल श्लोक की एकवाक्यता के लिये सुबोधिनी में लिखा है, इसका अर्थ यह है कि जबतक विवाह नहीं हो तबतक कन्या की पिता रक्षा करे, (विद्वां) विवाह होने के अनन्तर पति और बड़ी अवस्था में पुत्र रक्षा करे, पुत्रादिक के अभाव में जाति वाले रक्षा करें, किसी भी अवस्था में स्त्रियों को स्वातन्त्र्य नहीं है—अर्थात् स्त्रियां स्वतन्त्र नहीं रहती हैं।

इस प्रकार स्त्रियों के चार रक्षक हैं, यहां भी क्रम से कितनी ही गोपस्त्रियों को पति, माता, पिता, पुत्र और बन्धुओं ने रोका था।

यद्यपि गोपियों के पति आदि का भी भगवान में निरोध हो गया था, किन्तु ये फलरस में अनभिज्ञ एवं साधन में लग रहे थे, ये लोग अपने द्वारा ही स्त्रियों का भगवद्भजन मानते थे, स्वतन्त्रता से भजन नहीं मानते थे, तथापि गोविन्द ने गोपियों के अन्तःकरण हरण कर लिये थे, इसलिये भगवान के पास गईं।

पत्यादि के निवारण वाक्य श्रौत हैं, और अन्तःकरण के प्रवर्तक भगवान हैं, अन्तःकरण पर आखण्ड—अर्थात् उसके वश में पुरुष जीव हैं।

'काममयः पुरुषः' इस श्रुति में कहा है 'पुरि शेते' शरीर में रहनेवाला पुरुष जीव अन्तःकरण के वश में है। अन्तःकरण को तो भगवान अपने पास आने में प्रवृत्त कर रहे हैं, अतः गोपियां भगवान के समीप में ही आईं हैं। पत्यादि के श्रौत वाक्यों की उपेक्षा कर दी है—अर्थात् गोपियां प्रमाणमार्गीय नहीं हैं, पुष्टिमार्गीय हैं, इसलिये प्रमाण वाक्यों पर ध्यान नहीं दिया है।

प्रवाह के वेगमें जाती हुई नौका से यदि कोई कहता है कि ठहर जा, ठहर जा, तो क्या वह नौका ठहर जाती है, अर्थात् ठहरती नहीं है। इसी प्रकार प्रवाह स्थानीय भगवान अन्तःकरण-

मन आदि को अपनी तरफ प्रेरित कर रहे हैं, फिर नीकास्थानीय गोपियां पति आदि के कहने से कैसे ठहर सकती थीं।

इस प्रकार कहने से यह भी सिद्ध होता है कि शब्द पर गोपियों का अन्तःकरण भगवान ने अपने पास आने के लिये प्रवर्तित-प्रेरित नहीं किया है। इसलिये विचार करती घरों में ही रह गईं।

निषेध तो पति आदि ने सभी गोपियों को किया था, किन्तु इनके मध्य में जिनका मन गोविन्द ने हरण कर लिया था, वे ही गोपियां नहीं लौटीं, और भगवान के पास चली गईं।

भगवान के पास जानेवाली गोपस्त्रियों में भय और मर्यादामार्गीय स्वधर्म नहीं है, इस बात को सूचन करने के लिये यहां (मोहिताः) मोहित हो गईं कहा है।

यदि गोपस्त्रियां कृष्णसमीप नहीं जातीं तो मूर्च्छित की तरह प्राणों का त्याग कर देतीं, कारण कि अन्तःकरण भगवान के पास था, फिर प्राण कैसे रह सकते थे, जब प्राणत्याग का समय होता है, तब भय और स्वधर्म का विचार नहीं होना स्वाभाविक शास्त्रोक्त ही है। बुद्धिरूप अन्तःकरण सम्बन्ध के अनन्तर ही प्राण इन्द्रिय सम्बन्ध का पुरञ्जन प्रसङ्ग में निह्वाण किया है।

यहां भी 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' इस न्याय से उक्त आशय है, इसलिये 'मोहिताः' कहा है। 'मुह वैचित्ये' धातु से इसका अर्थ चित्तरहित होता है। मूर्च्छा में भी इसी प्रकार का मोह होता है, इसलिये दृष्टान्त कहा है। मूर्च्छा में बुद्धि केवल सूक्ष्मता से स्थित रहती है, इसलिये प्राणत्याग नहीं होता है।

गोपियों के तो अन्तःकरण सर्वथा भगवान् के पास चले गये, इसलिये यदि वे भगवान के पास नहीं जातीं तो उनके प्राणों का त्याग हो जाता।

स्वतन्त्र में कहा है कि यदि शंका करो कि जिस प्रकार भगवान ने रासके अनन्तर गोपों के लिये गोपियां भगवान के पास नहीं गईं, इस प्रकार का अज्ञान संपादन कराया था, उसी प्रकार यहां भी भगवान के पास जाने का अज्ञान संपादन क्यों नहीं किया।

इसके उत्तर में गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ जी कहते हैं कि यदि भगवान गोपों के लिये वन में भगवान के पास जाने के समय भी अज्ञान संपादन करते तो फिर सर्वात्मभाव के स्वरूप का बोध गोपों को नहीं होता, अतः सर्वात्मभाव का बोध कराने के लिये ही इस समय गोपों को गमन ज्ञान कराया है। नहीं तो 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्' गोपों ने गोपियों को अपने पास ही मानते हुए, इस वाक्य से प्रथम ज्ञान पश्चात् अज्ञान संपादन किया, कीच में पद सान कर फिर घोना इस न्याय से प्रथम ही अज्ञान संपादन करते तो सर्वात्मभाव का ज्ञान नहीं होने से गोपों को दोषबुद्धि उत्पन्न हो जाती, अतः दोषबुद्धि नहीं होने के लिये रास के अनन्तर अज्ञान संपादन किया है ॥ ८ ॥

(ध्रुवो०) एवं दशविधानां भगवत्समीपगतिमुक्त्वा, यासां-कालः प्रतिबन्धकः। पूर्वमेव भक्तियुक्ताः, ता भजनानन्दमननुभूयैव प्रतिबद्धा एव, भगवत्सायुज्यं प्राप्तवत्य इत्याह—अन्तर्गृहगता इति त्रिभिः।

इस प्रकार सर्वात्मभाव युक्त नव प्रकार के सगुणभाव वाली, और दशवें निर्गुणभाववाली गुणातीत गोपस्त्रियों का भगवान के पास आगमन कहा, अब जिन गोपस्त्रियों की भगवान में जार बुद्धि थी, उनको काल ने प्रतिबन्ध किया। तृतीय स्कन्ध में कहा है कि 'जो भगवदीय नहीं हैं'

कालमात्रा हैं, प्रतिबन्ध करनेवाले गोपियों के पति काल की मात्रा-अंश हैं, इसलिये काल ने प्रतिबन्ध किया, कहा है।

यदि कहो कि गोपियां भक्त थीं, फिर काल ने प्रतिबन्ध क्यों किया। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहां यह भाव है, जब द्वेष करनेवाले शिशुपाल को मोक्ष दिया, तब यहां भी गोपियों को साक्षात् सम्बन्ध कराने के लिये प्रतिबन्ध अवश्य करना चाहिये।

भगवान भक्तों को अपनी प्राप्ति में आप प्रतिबन्धन नहीं करते हैं, अतः अधिकारी काल द्वारा प्रतिबन्ध कराया है, इसमें कोई अनुचित नहीं है।

उक्त गोपियों को केवल साधन दशा में ही भक्ति थी, किन्तु फल दशा में जारत्व बुद्धि हो गई, इसलिये भजनानन्द का अनुभव नहीं हुआ, किन्तु काल द्वारा प्रतिबद्ध हो गई, फिर इनको भगवान का सायुज्य मोक्ष प्राप्त हुआ, इस बात को आगे तीन श्लोकों में कहते हैं—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।

कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥ ९ ॥

दुःसहप्रेषविरहतीव्रतापधुताशुभाः।

ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥ १० ॥

तमेव परमात्मनं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।

जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—(काश्चित्) कितनी ही गोपस्त्रियां (अन्तर्गृहगताः) भीतर घर में स्थित (अलब्धविनिर्गमाः) निकलने को मार्ग नहीं मिला जिनको (गोप्यः) इस प्रकार की गोपियां (तद्भावनायुक्ताः) भगवान में जारभाव युक्त (मीलितलोचनाः) नेत्र बन्द किये (कृष्णं) कृष्ण का (दध्युः) ध्यान करती हुई।

(दुःसहप्रेषविरहतीव्रतापधुताशुभाः) सहन न होने वाले प्रिय के विरह से उत्पन्न तीव्र ताप द्वारा पाप भस्म हो गये जिनके (ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या) ध्यान में प्राप्त अच्युत समागम के सुख से (क्षीणमङ्गलाः) पुण्य क्षीण—नष्ट हो गये जिनके (तमेव) उसी (परमात्मानं) परमात्मा को (जारबुद्ध्यापि) जारबुद्धि से भी (सङ्गताः) संगत हुई (सद्यः) शीघ्र (प्रक्षीणबन्धनाः) बन्धन नष्ट हो गये जिनके इस प्रकार की गोपियां (गुणमयं) गुणमय (देहं) शरीर को (जहुः) त्याग कर दीं ॥ १०-११ ॥

भाषार्थ—कितनी ही गोपस्त्रियों को घर के भीतर उनके पति आदि ने रोक लिया था, इस लिये उनको बाहर निकलने के लिये मार्ग नहीं मिला, वे सब नेत्रों को भींचकर भगवद्भावयुक्त हो कृष्ण का ध्यान करने लग गईं ॥ ९ ॥

उस समय सहन नहीं होने वाले प्रिय कृष्ण के विरह से उत्पन्न तीव्रताप द्वारा इनके अशुभ-पापकर्म नष्ट हो गये, और फिर ध्यान में प्राप्त अच्युत के समागम के सुखद्वारा इनके पुण्यकर्म क्षीण हो गये ॥ १० ॥

फिर उसी परमात्मा में जारबुद्धि से भी सङ्गत होती गोपियों ने शीघ्र पाप—पुण्यरूप अपने बन्धन नष्ट होने पर गुणमय शरीर का त्याग कर दिया ॥ ११ ॥

(सुबो०) दैवगत्या काश्चिद्गृहमध्ये स्थिताः, गोपभार्याः चातुर्यानिभिज्ञाः, अप्रौढाः पतिसहिताः, पतिभिरेव संरक्षिताः, अलब्धविनिर्गमा जाताः । ततः प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं कृष्णमेव ध्यातव्यः, परं तद्भावनायुक्ताः, भगवान् जारः स्वयमभिसारिका इति । अन्यथा प्रतिबन्धो न स्यात् । तादृशयोऽपि मीलितलोचनाः सत्यो भगवन्तं दध्युः ध्यातव्यः, ततो मुक्ता जाताः । ननु तत्र ज्ञानाभावात् विहितभक्त्यभावात् भगवतोऽपि सान्निध्याभावात् कथं मुक्ता इत्याशङ्क्य, कर्मक्षयात् मुक्ता इति वक्तुं कर्मक्षयप्रकारमाह दुःसहेति । दुःसहो यः प्रेष्ठविरहः स एव महानग्निः, तस्य यस्तीव्रस्तापः, तेन धुतानि निधूतानि ज्वालितानि भस्मसात्कृतानि अशुभानि यासाम् । फलभोगे कर्म क्षीयत इत्य-विवादम् । कोटिब्रह्मकल्पेषु कुम्भीपाकादिनरकेषु यावद् दुःखं भवेत् तावत्, दुःखं भगवद्विरहे क्षणमात्रेण जातम् । ततः सर्वः पापफलभोगः समाप्तः । पुण्यक्षय-प्रकारमाह ध्यानप्राप्तेति । सर्वपापक्षये भगवान् ध्याने प्राप्तः । अच्युतः परमात्मा । न तु समागतोऽपि जारत्वेन, या निवृत्तिः, तथा क्षीणं मङ्गलं पुण्यं यासाम् । कोटिब्रह्मकल्पेषु स्वर्गादिलोकेषु यावत्सुखमनुभूयते, तावत् भगवदाश्लेषे क्षणमात्रेणैवानुभूतम् । अतः पुण्यक्षयोऽपि जातः । ततो मुक्ता जाता इत्याह तमेव परमात्मानमिति । सुखभोगार्थमेव भगवान् पूर्वमाश्लिष्टः, भोगे जातेऽपि वियोज-कपापाभावात् न वियुक्तः, अतः संगता एव स्थिताः शरीरं तु प्रारब्धकर्म-निर्वाणमपतत् । यद्याश्लिष्टो भगवान् न भवेत्, तदा तत्र प्रविष्टाः तद्गतं धर्माधर्मफलं बुभुजुः, भगवति प्रविष्टत्वात् मुक्ता एव जाताः । तदाह तमेव परमात्मानमिति । पूर्वं सम्बन्धसमये यद्यपि जारबुद्ध्यापि संगता एव, ततः कर्मबन्धस्य प्रक्षीणत्वात् गुणमयं देहं जहुः । तदा अज्ञानमन्यथाज्ञानं वा त्रिक्षणा-वस्थायीति न तयोः प्रतिबन्धकत्वम्, वियोजकाभावात् शरीरान्तरोत्पादका-भावाच्च । अविद्या परं तिष्ठति, सा भगवच्छक्तिः, भगवत्संगतं न व्यामोहय-तीति सापि निवृत्ता । ततः मुक्ता जाता इत्यर्थः ॥ ११ ॥

दैवगति से कितनी ही गोपस्त्रियां घर भीतर ही स्थित रह गई, ये सब गोपों की भार्या चतुरता नहीं जानती थीं, और अवस्था भी छोटी थी, प्रौढ अवस्था नहीं थी, इसके पास पति विद्यमान थे, इनकी पति ही रक्षा करते थे, इसलिये इन गोपियों को बाहर निकलने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ, उस समय प्रतिबन्ध दूर करने के लिये श्रीकृष्ण का ही ध्यान किया, परन्तु भगवान् जार हैं, इस प्रकार ध्यान में भावना की, और हम अभिसारिका हैं, (जो नायिका मन्मथ के वश में हो अपने पति को अथवा उपपति को रमण देश में बुलाती है, अथवा स्वयं जाती है, उसको अभिसारिका कहते हैं) ।

यदि गोपियों की भगवान् में जारबुद्धि नहीं होती तो इनको प्रतिबन्ध भी नहीं होता, गोपियों ने जारबुद्धि करने पर भी अपनी आँखें मीचकर नेत्र बन्द करके भगवान् कृष्ण का ध्यान किया, इसलिये मुक्त हो गई, इसी बात को ध्वज कर राजा शुकदेव जी से प्रश्न करता है कि गोपियों में ज्ञान नहीं था, और शास्त्रविहित मर्यादा भक्ति भी नहीं थी, और न भगवान् ही बाहर प्रकट समीप में थे, फिर अन्तर्गृहगता गोपियों का मोक्ष किस प्रकार हुआ ।

इसका उत्तर शुकदेव देते हैं कि गोपियों का सर्व पाप और पुण्य कर्म क्षय हो गया, इसलिये मुक्ति हो गई ।

कैसे हो गया ? तब शुकदेवजी पापपुण्यकर्मक्षय प्रकार कहते हैं, 'दुःसहप्रेष्ठविरह' इत्यादि श्लोक से, सहन कर नहीं सकती हैं, इस प्रकार का जो प्रियका विरहरूप महान् अग्नि, उस अग्नि के तीव्र ताप से गोपियों के सर्व अशुभ—पाप भस्म हो गये, कारण कि फल भोगने पर कर्म का नाश हो जाता है, यह सिद्धान्त निर्विवाद है ।

ब्रह्मा के करोड़ों कल्पपर्यन्त कुम्भीपाकादि नरकों में जितना दुःख अनुभव होता है, उतना दुःख अन्तर्गृहगता गोपियों को भगवान् के विरह से एक क्षण में हुआ, इससे सर्वपाप फल समाप्त हो गया ।

फिर सर्वपाप फल समाप्त होने के अनन्तर गोपियों के ध्यान में परमात्मा अच्युत भगवान् पधारे, यद्यपि गोपियों ने जारबुद्धि से भगवान् को जार मानकर ही ध्यान किया था, तथापि गोपियों के ध्यान में जिस समय भगवान् का आविर्भाव हुआ, उस समय आप जारभाव से नहीं पधारे, किन्तु अच्युतत्व भाव से पधारे हैं ।

यदि भगवान् जारत्व से गोपियों के ध्यान में आते तो कर्म शेष रहता, अर्थात् सर्व कर्मों का नाश नहीं होता, शेष कर्म रहता ।

जिस समय भगवान् ध्यान में पधारे उस समय भगवान् के समागम से गोपियों को सुख हुआ, इससे समग्र पुण्य नष्ट हो गये ।

ब्रह्मा के करोड़ों कल्पपर्यन्त स्वर्गादि लोकों में जितना सुख अनुभव होता है, उतना सुख गोपियों को ध्यान में भगवान् के संगम से क्षणमात्र में अनुभूत हो गया, अतः पुण्य क्षय भी हो गया, पाप और पुण्य क्षय के पश्चात् गोपियाँ मुक्त हो गई, इसी बात को आगे कहते हैं कि 'तमेव परमात्मानम्' इत्यादि ।

सुख भोगने के लिये ही गोपियों ने प्रथम भगवान् का समागम किया था, अर्थात् संयोग-रस का अनुभव किया था, अनुभव करने के पश्चात् गोपियों में कोई इस प्रकार का कर्मादि शेष नहीं रहा कि जिसके द्वारा भगवान् से गोपियों का वियोग हो जाये, अतः गोपियों का भगवान् से वियोग नहीं हुआ, और ये गोपियाँ सदा के लिये भगवान् में संगत होती स्थित हो गई । अर्थात् सदा के लिये भगवान् के स्वरूप में स्थित होकर आनन्द का अनुभव करती रहीं और इनका शरीर तो प्रारब्ध कर्मों का नाश होने पर गिर गया ।

यदि गोपियों का जिनके साथ समागम हुआ, वे यदि भगवान् नहीं होते तो शरीरान्तर में प्रविष्ट होकर गोपियाँ दूसरे शरीर के धर्म-अधर्म का फल भोगतीं, परन्तु भगवान् में प्रविष्ट हुई, इसलिये मुक्त ही हो गई, इसी बात को आगे कहते हैं कि 'तमेव परमात्मानम्' ।

गोपियों का प्रवेशाश्रय परमात्मा है, पहिले सम्बन्धसमय में यद्यपि जारबुद्धि से ही संगम हुआ था, पश्चात् अच्युत भगवान् कृष्ण के समागम से ही इनके कर्मबन्धन क्षीण हो गये, अतः गुणमय देह त्याग दिये ।

यदि कहो कि भगवान् में प्रविष्ट होने पर भी जिस प्रकार जीव अज्ञान आदि वासनायुक्त सुषुप्ति में प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार गोपियाँ भी अज्ञान आदि वासनायुक्त ही प्रविष्ट हुईं, इसलिये मुक्ति में प्रतिबन्ध क्यों नहीं हुआ, अर्थात् मुक्ति में तो प्रतिबन्ध ही हुआ, फिर मुक्ति कैसे हुई।

इसका उत्तर कहते हैं कि 'तदा अज्ञानं अन्यथा ज्ञानं वा' इत्यादि, यहां अज्ञान पद से पहिला पर्व कहा है, और अन्यथाज्ञान पद से पर्वान्तर कहा है, आगे अविद्यापद से शक्ति कही है, इस प्रकार भेद है।

गोपियों में भगवान् का संगम होने पर अज्ञान अथवा अन्यथा ज्ञान तीन क्षण रहा, प्रथम क्षण में भगवान् का सङ्ग, द्वितीय क्षण में सङ्गस्थिति, तृतीय क्षण में दोनों का नाश, इस प्रकार तीन क्षण रहा, अर्थात् जिस समय गोपियों का भगवान् के साथ समागम हुआ, उस समय गोपियों को भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं था, कारण कि भगवान् में जारबुद्धि थी, अतः गोपियों में क्रम से अज्ञान, अन्यथा-विपरीत ज्ञान था, भगवान् के साथ समागम होने पर अज्ञान और अन्यथा ज्ञान तीन क्षण रहा, अतः अज्ञान, अन्यथा ज्ञान मुक्ति प्रतिबन्धक नहीं हुए।

यदि भगवान् के स्वरूप से गोपियों का वियोग हो जाये तो भी भगवान् के स्वरूप में अज्ञान स्थिर रहे, और उसका नाश नहीं हो।

इसी तरह भगवान् से भिन्न किसी अन्य शरीर में गोपियों का प्रवेश हुआ होता तो भी गोपियों में जारबुद्धि रूप अन्यथाज्ञान भी स्थिर रहता।

प्रकाशकार श्री पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि ज्ञान बहुत काल तक रहता है, इस पक्ष में भी पहिले जन्म का अर्थ विस्मृत हो गया, 'प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम। न ह्येष व्यवधात्काल एष सर्वं निराकृतिः॥' इस प्रथम स्कन्ध के वाक्य से काल स्मृतिनाशक है, इसलिये उस समय गोपियों को प्रतिबन्ध करने वाले काल में भगवत्स्वरूप विषयक अज्ञान और जारत्व से अन्यथाज्ञान त्रिषणवस्थाधि-विनाश अवस्था में हैं, इसलिये स्वरूप से मुक्ति प्रतिबन्धक नहीं है।

यदि कहो कि फिर भी वासनान्तर का तो सत्त्व रहा ही है, इसलिये वासना की स्थिति कैसे नहीं है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि (वियोजकाभावात्) मुक्ति के विरुद्ध संसार की वासना और कर्मों के क्षीण हो जाने से वासना के स्थापक का अभाव है, इसलिये वासनान्तर भी नहीं है। अर्थात् गोपियों में भगवान् से वियुक्त करनेवाला कोई भी तत्त्व नहीं था, इसी प्रकार शरीरान्तर उत्पन्न करनेवाली कोई वस्तु नहीं थी, जो गोपियों की मुक्ति में प्रतिबन्ध कर सके, भगवान् से वियुक्त होने पर ही स्वरूप का अज्ञान स्थिर हो सकता है, और शरीरान्तर प्राप्त होने पर ही पर्वान्तर अन्यथाज्ञान रूप हो सकता है, इस दोनों का अभाव है, इसलिये तीन क्षण ही रहे, और गुणातीत भगवान् में सदा के लिये सङ्गत-मुक्त हुई गोपियों ने जिस समय गुणमय शरीर का त्याग किया उस समय पश्चात् भगवान् ने इनके देहादि संघात में अकूर जी की तरह अन्य जीव का स्थापन कर दिया।

यदि भगवान् गोपियों के शरीर संघात में अन्य जीव स्थापन नहीं करते तो ब्रज में अमङ्गल रोना-पीटना बहुत से घरों में एक साथ ही हो जाता, आगे व्यवहार भी सिद्ध नहीं होता, इसलिये अन्य जीव का स्थापन कर दिये।

जिस समय गोपियों का भगवान् से समागम हुआ, उस समय गोपियों में अविद्या थी, अविद्या भगवान् की शक्ति है, भगवान् के साथ जिसका समागम होता है, उसको व्यामोह नहीं

करती है, इस लिये अविद्या ने भी गोपियों को मोह नहीं किया, अर्थात् अविद्या भी निवृत्त हो गई।

इस प्रकार गोपस्त्रियों के पाप-पुण्य का क्षय हो गया, इसलिये मुक्त हो गई ॥ ११ ॥

(सुबो०) अत्र राजा श्रुतिविरोधमाशङ्कते—कृष्णमिति।

अन्तर्गृह्यता गोपियां जारबुद्धि से भी मुक्त हो गई, इस श्रुतिविरोध को श्रवण करके राजा आगे श्लोक में शंका करता है—

राजोवाच—

कृष्णं विदुः परं कान्तं नतु ब्रह्मतया मुने।

गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥ १२ ॥

पदपदार्थ—(राजा) परीक्षित (उवाच) बोला (हे मुने) हे मननशील गोपियां (परं) श्रेष्ठ (कान्तं) पति (कृष्णं) कृष्णको (विदुः) जानती थीं (ब्रह्मतया) ब्रह्मरूप से (तु) तो (न) नहीं (विदुः) जानती थीं, (गुणधियां) गुणबुद्धिवाली (तासां) गोपियों का (गुणप्रवाहो-परमः) संसार का उपरम-नाश (कथम्) कैसे हुआ ॥ १२ ॥

भाषार्थ—राजा परीक्षित कहता है कि हे मुने अन्तर्गृह्यता गोपियां केवल श्रेष्ठकान्त कृष्ण को जानती थीं, ब्रह्मरूप नहीं जानती थीं, फिर गुणबुद्धिवाली अन्तर्गृह्यताओं का गुणप्रवाह—संसारका नाश कैसे हो गया ॥ १२ ॥

(सुबो०) 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये'ति श्रुतौ ज्ञानमेव साधनत्वेनोक्तम्। तत्रैव पुनः 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुर्नान्येन केनचित्। स एव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम्'। उभयोश्च निर्णयः, 'ज्ञानयोगश्च मन्त्रि-ष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः। द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः' इति। 'भक्त्या मामभिजानातीत्यपि भगवतोक्तम्। ततो मर्यादायां ज्ञानेनैव मुक्तिः, पुष्टौ भक्त्या ज्ञानेन वा। एतासां तु न द्वयम्। भक्तिरपि सगुणा, ज्ञानमपि सगुणम्, उभयं च तामसम्। अतः कथं मुक्तिरिति। तदाह ताः कृष्णं कान्तं परं विदुः। कान्तः पतिर्जारीवा, न तु ब्रह्मतया विदुः। मुने इति सम्बोधनमत्र निर्णयपरिज्ञानार्थम्। विरोधस्तु स्पष्टः। तासां भगवति स्वस्मिन् च गुणबुद्धिरेव। गुणबुद्धिश्च गुणप्रवाहस्य मूलम्, अन्यथा गुणबुद्धिनिवारकाणि सर्वाण्येव शास्त्राणि व्यर्थानि भवेयुः। वैदिकपक्षस्त्वसंभावित एव। अतो गुणधियां गुणबुद्धियुक्तानां गुणप्रवाहोपरमः कथम् ॥ १२ ॥

उस परमात्मा को ही जान करके पुरुष मृत्यु का अतिक्रमण करता है, उसके ज्ञान बिना अन्य मार्ग मोक्षप्राप्ति के लिये विद्यमान नहीं है। इस श्रुति में मोक्षसाधक केवल ज्ञान ही कहा है। और मोक्षसाधन के विचार में ही फिर कहा है कि विष्णु-व्यापक भगवान् भक्ति से ही प्रसन्न होता है, अन्य किसी साधन से प्रसन्न नहीं होता है, विष्णु ही मुक्तिदाता है, उस मुक्ति में भी भक्ति कारण है। इस प्रकार उक्त वाक्यों से ज्ञान, भक्ति दोनों ही मोक्ष में साधन हैं। इन दोनों का

निर्णय इस प्रकार है कि ज्ञान, योग और निर्गुण भक्ति मुक्त में करने से दोनों का फल एक ही भगवान है। इस प्रकार एकादश स्कन्ध में कहा है। भक्ति से ही मुक्त को जानता है, इस प्रकार गीता में कहा है।

उक्त वाक्यों से स्पष्ट निर्णय होता है कि मर्यादामार्ग में ज्ञान से ही मुक्ति होती है, और पुष्टिमार्ग में भक्ति से अथवा ज्ञान से मुक्ति होती है।

अन्तर्गृह्यता गोपियों में तो ज्ञान, भक्ति दोनों ही नहीं हैं, भक्ति भी जारबुद्धि के कारण सगुणा-उपाधिसहित है और ज्ञान भी मोह के कारण सगुण-उपाधिसहित है। जारत्व उपाधि है। भर्तृत्व आदि धर्मरक्षकत्व आदि नहीं हैं, अतः भक्ति और ज्ञान दोनों तामस हैं। फिर इनकी मुक्ति कैसे हुई। इसी बात को राजा परीक्षित कहते हैं कि—

‘ताः कृष्ण’ इत्यादि।

अन्तर्गृह्यता गोपियां श्रेष्ठ कान्त-पति अथवा जार कृष्ण को जानती थीं ब्रह्म नहीं जानती थीं ‘हे मुने’ सम्बोधन निर्णय परिज्ञानार्थ है, अर्थात् आप मुनि हो इसलिए सबका निर्णय जानते हो, अतः निर्णयार्थ कहिये ?

श्रुतिविरोध तो पहिले कहा स्पष्ट ही है। अन्तर्गृह्यता गोपियों की भगवान में तथा अपने में गुणबुद्धि ही है।

गुणबुद्धि—गुणप्रवाह, संसार का मूल है, यदि गुणबुद्धि को गुणप्रवाह का संसार का कारण नहीं मानते हैं तो गुणबुद्धि निवारक सर्वशास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं। और यदि गोपियों ने भगवान कृष्ण को ब्रह्म नहीं जाना तो क्या हुआ, बहुत से लोग कृष्ण को ब्रह्म नहीं जानते हैं, तो भी जिनको वेदान्तश्रवण आदि से ब्रह्मज्ञान हो जाता है, उनकी मुक्ति हो जाती है।

इसी प्रकार गोपियों की भी मुक्ति हो गई होगी ? इस प्रकार शंका हो तो इसके उत्तर में कहते हैं कि ‘वैदिकपक्षस्त्वसम्भावित एव’ यहाँ पर वैदिक पक्ष की तो सम्भावना भी नहीं है। अर्थात् ‘ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति’ ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है, इत्यादि उपनिषद्विहित वैदिक पक्ष की तो यहाँ सम्भावना भी नहीं है। कारण कि गोपियों ने वेदान्त श्रवण मननादि नहीं किये हैं।

अथवा यदि शंका करो कि ब्रह्म सर्वरूप है, इसलिये जारबुद्धि में भी अज्ञान, अन्यथा ज्ञान का जब अभाव है तो ब्रह्मज्ञान सिद्ध ही है।

इसी से ‘सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा’ भगवान सब का आत्मज आत्मा है, इत्यादि वाक्य है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि गोपियों में आत्म, अनात्म विवेकवाला सांख्योक्त ज्ञान भी नहीं है। इसलिये ‘एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः’ यहाँ से लेकर ‘स य एवंविद्’ यहाँ तक तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्मज्ञान कहा है, अतः सर्वात्म से ब्रह्मवित् की तो गोपियों में सम्भावना भी करना शक्य नहीं है, इस आशय से राजा ने सांख्य पक्ष पूछा था, इसलिये यहाँ मूल में कहा है कि ‘वैदिकपक्षस्त्वसम्भावित एव’ अर्थात् ब्रह्मविद् होने पर परप्राप्ति पक्ष यहाँ सम्भावित नहीं है। अतः गुणबुद्धियुक्त गोपियों के गुणप्रवाह का उपराम कैसे हो गया। इस प्रकार राजा ने श्रुति विरोध के कारण प्रश्न किया है ॥ १२ ॥

(सुबो०) तत्रोत्तरमाह—उक्तमिति चतुर्भिः।

उक्त शंका का श्रीशुकदेव मुनि चार श्लोकों से उत्तर देते हैं।

(श्रीमद्भा०) श्रीशुक उवाच—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैवः सिद्धिं यथा गतः।

द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥ १३ ॥

नृणां निःश्रेयसार्थाय भक्तिर्भगवतो नृप।

अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥ १४ ॥

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा।

नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥ १५ ॥

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।

योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥ १६ ॥

पदपदार्थ—(पुरस्तात्) पहिले (एतत्) यह सप्तमस्कन्ध में (ते) तुम्हारे लिये (उक्तं) कहा है (यथा) जिस प्रकार से (चैवः) शिशुपाल (हृषीकेशं) इन्द्रियों के पति भगवान के प्रति (द्विषन्नपि) द्वेष करता हुआ भी (सिद्धिं) मोक्ष को (गतः) प्राप्त हुआ है। (अधोक्षजप्रियाः) अधोक्षज की प्रिय गोपियाँ (किमुत) मोक्ष को प्राप्त हों तो इसमें क्या आश्चर्य है ॥ १३ ॥

(हे नृप) हे राजा (अव्ययस्य) अव्यय (अप्रमेयस्य) अप्रमेय (निर्गुणस्य) निर्गुण (गुणात्मनः) गुणों के आत्मा (भगवतः) भगवान की (व्यक्तिः) प्राकट्य (नृणां) मनुष्यों के (निःश्रेयसार्थाय) कल्याण के लिये है ॥ १४ ॥

(हरौ) हरि में (कामं) काम को (क्रोधं) क्रोध को (भयं) भय को (स्नेहं) स्नेह को (ऐक्यं) एकता को (वा) अथवा (सौहृदमेव) सुहृदता को ही (नित्यं) सदा (विदधतः) विशेष धारण करनेवाले (ते) वे (हि) निश्चय (तन्मयतां) भगवन्मयता को भगवान के स्वरूप को (यान्ति) प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

(भवता) आप द्वारा (भगवति) भगवान (अजे) अजन्मा (योगेश्वरेश्वरे) योगेश्वरों के ईश्वर (कृष्णे) कृष्ण-सदानन्दमें (एवं) इस प्रकार का (विस्मयः) आश्चर्य (न) नहीं (कार्यः) करना चाहिये (यतः) जिस श्रीकृष्ण द्वारा (एतत्) दृश्यमान जगत् (विमुच्यते) मुक्त हो रहा है ॥ १६ ॥

भाषार्थ—शुकदेव जी कहते हैं कि हे राजा मैंने तुमसे पहिले सप्तम स्कन्ध में कहा था कि शिशुपाल इन्द्रियों के ईश भगवान श्रीकृष्ण से द्वेष करता हुआ भी जिस प्रकार से सिद्धि-सा-युज्य मोक्ष को प्राप्त हुआ था, तो फिर अधोक्षज भगवान की प्रिय गोपियाँ सिद्धि—मोक्ष को प्राप्त हों तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ॥ १३ ॥

हे नृप ! अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणात्मा भगवान का प्राकट्य मनुष्यों के कल्याण के लिये है ॥ १४ ॥

जो कोई हरि भगवान में काम, क्रोध, भय, स्नेह और ऐक्य अथवा सौहृद नित्य विशेष धारण करनेवाले हैं, वे भगवन्मयता-भगवान के स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं ॥ १५ ॥

जिस भगवान के द्वारा यह परिदृश्यमान जगत् मुक्त हो रहा है, उस अज भगवान योगेश्वरों के ईश्वर कृष्ण में तुमको इस प्रकार का विस्मय नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

(सुबो०) एतत्सप्तमस्कन्ध एवोक्तं शिशुपालमुक्तौ । यथा शास्त्रद्वयं भक्ति-ज्ञानप्रतिपादकं साधनम्, तथा भगवत्स्वरूपमपि । भगवान् हि मुक्तिदानार्थ-मेवावतीर्णः । सच्चिदानन्दरूपेण प्रकटः । अतो यः कश्चन येन केनाप्युपायेन भगवति सम्बन्धं प्राप्नोति, स एव मुच्यते । ज्ञानभक्त्योस्तु आविर्भावार्थमुप-योगः । आविर्भावश्चेदन्यथासिद्धः, तदा न ज्ञानभक्त्योरुपयोगः । अत्र तु भग-वान् स्वत एवाविर्भूतः, मुक्तिदानार्थं सर्वसाधारण्येन, ईश्वरेच्छाया अनियम्यत्वात् । अत आविर्भावः स्वेच्छया, भक्त्या, ज्ञानेन वा । भगवदवतारातिरिक्तकाले द्वय-मेव हेतुः । अवतारदशायां तु न तयोः प्रयोजकत्वम् । वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभमिति न कूपनदीनामनुपयोगः शङ्कनीयः । तदाह । पुरस्तात् सप्तमस्कन्धे यथा चैद्यः शिशुपालः सिद्धिं भगवत्सायुज्यं गतः । द्विषन्नपि द्वेषं कुर्वन्नपि । यद्यपि द्वेषकृतो दोषः प्रतिबन्धको भवति, तथापि स्मरणेन तदघं हत्वा तत्र सायुज्यं प्राप्तः । किञ्च, नापि तस्य दोषोऽस्ति कश्चन । द्वेषादयोपि भगवतैवोत्पादिताः तदाह—हृषीकेशमिति । इन्द्रियप्रेरकोऽयं यथासुखं भावानुत्पादयति । यत्र द्वेष-स्यापि मोक्षसाधकत्वम्, तत्र अधोक्षजप्रियाः किमु वक्तव्या मुक्तिं गच्छन्तीति ॥ १३ ॥

श्री शुकदेव जी कहते हैं कि यह मैंने सप्तम स्कन्ध शिशुपाल के मोक्ष प्रसङ्ग में ही कह दिया था कि जिस प्रकार भक्ति तथा ज्ञान के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र-उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड मोक्ष में साधन हैं । उसी प्रकार भगवान का स्वरूप भी मोक्ष में साधन है ।

भगवान मोक्षदान करने के लिये ही अवतार लेते हैं, अर्थात् सच्चिदानन्द रूप से प्रकट होते हैं । इसलिये जो कोई भी किसी भी उपाय से भगवान से सम्बन्ध प्राप्त करता है, वही मुक्त हो जाता है ।

ज्ञान तथा भक्ति का तो भगवान का आविर्भाव करने के लिये उपयोग है, और यदि भगवान का प्राकट्य किसी अन्य प्रकार से होता हो तो फिर ज्ञान और भक्ति के उपयोग की आवश्यकता नहीं रहती है ।

व्रज में तो भगवान स्वयं अपनी इच्छा से ही प्रकट हुये हैं, और सर्वसाधारण को मुक्ति दान देने के लिये प्रकट हुये हैं । कारण कि ईश्वर की इच्छा का नियमन कोई भी नहीं कर सकता है । अतः भगवान का आविर्भाव स्वेच्छा से—भगवान की इच्छा से, अथवा भक्ति से अथवा ज्ञान से होता है ।

पुष्टिमार्ग में भगवान अपनी इच्छा से प्रकट होते हैं, और अन्य दोनों मार्गों में मर्यादा-साधन से प्रकट होते हैं ।

जिस समय भगवान का अवतारकाल नहीं होता है, उस समय भक्ति ज्ञान दोनों ही साधन भगवान के प्राकट्य में उपयोगी होते हैं, किन्तु भगवान की अवतारदशा में तो ज्ञान, और भक्ति का उपयोग नहीं होता है, इस प्रकार कहने से यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञान और भक्ति सर्वथा अवतारदशा में अनुपयोगी हैं, जिस प्रकार वर्षाकाल में जल सर्वत्र सुलभ होता है, तो फिर कूआ और नदियों का जल अनुपयोगी होता है क्या ? अर्थात् नहीं ।

उसी प्रकार भगवान की अवतारदशा में भी ज्ञान, भक्ति को अनुपयोगी नहीं मानना चाहिये । इसी बात को शुकदेव जी कहते हैं कि (उक्तं पुरस्तात्) पहिले ही सप्तम स्कन्ध में कहा है कि शिशुपाल द्वेष करने पर भी भगवान की सायुज्य मुक्ति को प्राप्त हुआ है ।

यद्यपि साधारण जीव से भी द्वेष करने पर पाप लगता है, उसमें भी भगवान कृष्ण से शिशुपाल ने द्वेष किया था, अतः द्वेषकृत दोषमुक्ति में प्रतिबन्धक होना चाहिये था, तथापि द्वेष भी यदि भगवत्सम्बन्धी होता है तो द्वेष द्वारा भी भगवान का स्मरण द्वेषकृत दोष को दूर करके सायुज्य मोक्ष देता है, अतः वैरपाप भी शिशुपाल की मोक्ष में प्रतिबन्धक नहीं हुआ है ।

दूसरा एक यह भी कारण है कि शिशुपाल का द्वेष करने में कोई दोष भी नहीं है, कारण कि द्वेष आदि भी भगवान ने ही उत्पन्न किये हैं, इसी बात को आगे कहते हैं कि (हृषीकेशम्) हृषीक इन्द्रियों के ईश, भगवान इन्द्रिय प्रेरक हैं, और अपने को जिस प्रकार सुख होता है, उसी प्रकार के भावों को उत्पन्न करता है । जहां पर द्वेष को भी मोक्ष साधकत्व है, वहां फिर अधो-क्षज भगवान की प्रिय गोपियों को जारबुद्धि से मोक्ष प्राप्त हुई तो इसमें क्या कहने की बात है ॥ १३ ॥

(सुबो०) अत्र मुख्यामुपपत्तिमाह—नृणां निःश्रेयसार्थयेति । प्राणिमात्र-स्य मोक्षदानार्थमेव भगवान् अभिव्यक्तः, अत इयमभिव्यक्तिः, निःश्रेयसार्थैव । अन्यथा न भवेत् । असाधारणप्रयोजनाभावात् । भूभारहरणादिकं च अन्य-थापि भवति । अतो निःश्रेयसार्थमेव भगवतोऽभिव्यक्तिः प्राकट्यम् । नृपेति सम्बोधनं कदाचिद्राजा कथञ्चिद्गच्छति तद्वदिति ज्ञापयितुम् । प्रकारान्तरेण तादृशस्य नाभिव्यक्तिः सम्भवतीति वक्तुं भगवन्तं विशिनष्टि । आदौ भगवान् सर्वैश्वर्यसंपन्नः अपराधीनः कालकर्मस्वभावानां नियामकः सर्वनिरपेक्षः किमर्थमा-गच्छेत् । किञ्च, स्वार्थं गमनाभावेऽपि परार्थं वा स्यात्, तदपि नास्तीत्याह—अव्य-यस्येत्यादिचतुर्भिः पदैः । अन्येषां कृतिसाध्यं ज्ञानसाध्यं वा यद्भवति तदुपयुज्यते । भगवांस्तु अव्ययत्वात् अविकृतत्वात् न कृतिसाध्यः, अप्रमेयत्वात् ज्ञानसाध्योऽपि न । देहादिभजनद्वारा भजनीयो भविष्यतीत्यपि न, यतो निर्गुणः, निर्गता गुणा यस्मात् । गुणेषु विद्यमानेष्वेवान्यस्य प्रतिपत्तिस्तत्र भवति, यथा क्षुधि सत्या-मन्नदानम्, कामे सति रत्युपयोगः, इन्द्रियेषु सत्सु तद्विषयाणाम् । अतो भगवतः

सेवकपूरणीयांशः कोऽपि नास्तीति भजनीयोऽपि न भवति। किञ्च, लीलार्थं यद्य-
पेक्षेतापि, न तथापि सर्वं तस्यैव, यतः सर्वगुणानां स एवात्मा। अतः साधन-
प्रकारेण नान्यस्याप्युपयोगः। अतः स्वपरप्रयोजनाभावात् यदि साधननिरपेक्षा
मुक्तिं न प्रयच्छेत्, तदा व्यक्तिः प्रयोजनरहितैव स्यात् ॥ १४ ॥

प्रथम कह चुके हैं कि जिस प्रकार उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड मोक्ष में साधन हैं, उसी
प्रकार भगवान का स्वरूप भी मुक्तिदान करता है। इसमें मुख्य समाधान कहते हैं कि

‘नृणां निःश्रेयसार्थाय’ मनुष्यों के कल्याण के लिये भगवान का प्राकट्य होता है।

यदि कहो कि मोक्षदान तो वासुदेव व्यूह का कार्य है, फिर आप भगवान का प्राकट्य
मोक्षदान करने के लिये क्यों कहते हैं।

इसका समाधान यह है कि भगवान वासुदेव तो साधन वाले जीवों को मोक्षदान करते
हैं, और इस समय जो प्राकट्य हुआ है वह निःसाधन प्राणिमात्र को मोक्ष देने के ही लिये
हुआ है, इसलिये यह प्राकट्य निःश्रेयस-मोक्षार्थ ही है।

यदि प्राकट्य में उक्त कारण नहीं मानते हो तो फिर भगवान का प्राकट्य होना संभव
नहीं होता है, कारण कि भगवान के आविर्भाव में असाधारण अन्य प्रयोजन नहीं दीखता है।
भूभारहरण आदि कार्य तो ‘यदायदा हि’ इस वाक्य से अंशावतार से भी हो सकता है।

संकर्षण का कार्य भूभारहरण है, प्रद्युम्न का कार्य वंशपरम्परा चलाना है, अनिरुद्ध का
कार्य धर्मरक्षा करना है, और वासुदेव का मोक्षदान कार्य है। अतः उक्त कार्य तो व्यूह द्वारा
हो सकते थे, अतः पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान की अभिव्यक्ति का प्रयोजन तो केवल निःसाधन प्राणि-
मात्र के कल्याण के लिये ही हुआ है।

शुकदेव जी ने यहां ‘नृप’ संबोधन दिया है, इसका आशय यह है कि जिस प्रकार राजा
अन्य भृत्यादि द्वारा सर्व कार्य करता है, स्वयं तो किसी समय ही क्रीडाविशेष करने के लिये
जाता है, उसी तरह भगवान भी भूभारहरण आदि कार्य व्यूह द्वारा कराते हैं, किन्तु निःश्रेयस
शब्दवाच्य-उद्धार रूप कार्य तो स्वयं ही करते हैं। अन्य किसी प्रकार से पूर्ण पुरुषोत्तम स्वतन्त्र
भगवान का प्राकट्य संभव नहीं हो सकता है। इसी बात को कहने के लिये भगवान के विशेष-
ण कहते हैं कि प्रथम श्रीकृष्ण भगवान हैं, अर्थात् सदानन्द सर्व ऐश्वर्य संपन्न हैं, किसी के
अधीन नहीं हैं, और काल कर्म स्वभाव के नियामक हैं, सर्वनिरपेक्ष हैं, किसी की अपेक्षा नहीं
हैं, फिर इस प्रकार के भगवान श्रीकृष्ण व्यापि वैकुण्ठ से भूतल पर किसलिये पधारे हैं।

यदि कहो कि अपने कार्य के लिये नहीं पधारे हैं, दूसरों के साधन सिद्ध करने के लिये
पधारे हैं।

तो परार्थ भी भगवान का पधारना सम्भव नहीं हो सकता है, इसी बात को आगे ‘अव्यय-
यस्य’ इत्यादि चार पदों द्वारा कहते हैं।

अन्य लोगों का किया-कृति विषय अथवा ज्ञानविषय पदार्थ भगवान में उपयुक्त होता है,
किन्तु भगवान तो अव्यय हैं, विकाररहित हैं, कारण कि विकारों को ही कृतिविषयता है,
अतः भगवान कृति-क्रिया का विषय नहीं हैं, अर्थात् क्रिया से सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

‘अप्रमेयस्य’ भगवान प्रमाण के विषय भी नहीं हैं, अतः अप्रमेय होने से ज्ञान के विषय
भी नहीं हैं।

यदि कहो कि यह भगवान का प्राकट्य ‘योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः’ इत्यादि से एकादश स्कंध
में भगवान ने कर्म, ज्ञान और भक्ति तीन साधन कहे हैं, इन साधनों के करने वालों को फल
देने के लिये ही है, तो भी यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि वहां तो कर्म, ज्ञान और
भक्ति के निर्वन्ध से भगवान का प्राकट्य होता है, और यहां तो स्वतः—अपने आप ही बिना किसी
साधन निर्वन्ध के भगवान पधारे हैं। भूभारहरणादि कार्य तो पहिले कहे अनुसार अंश द्वारा
भी होना संभव है, अतः इस समय भगवान का प्राकट्य केवल साधनरहित जीवों के निःश्रेयस-
उद्धार के लिये ही हुआ है।

इसका निरूपण ‘नायमात्मा’ इस श्रुति में साधनान्तरनिषेधपूर्वक वरणक लभ्यत्व से
किया है।

इस समय प्रकट भगवान ज्ञानकृति से साध्य नहीं हैं। यदि कहो कि ‘भवत्यैव’ इस श्रुति
से भक्तिसाध्यता तो है। इसका उत्तर भी यही है कि इस समय भक्तिसाध्यता भी नहीं है,
कारण कि देहादि भजन द्वारा भजनीय—सेवा करने योग्य भी नहीं हैं। भगवान निर्गुण हैं, गुण
जिसमें से निकले हैं, उसको निर्गुण कहते हैं, भगवान में से गुण निकल गये हैं, गुण विद्यमान
होने पर ही अन्य की प्राप्ति भगवान में हो सकती है।

जिस प्रकार भूख होने पर ही अन्नदान का उपयोग होता है, इन्द्रियां होने पर ही इन्द्रियों
के विषयों का उपयोग होता है, किन्तु भगवान में तो गुण ही नहीं हैं, इसलिये भगवान में ऐसा
कोई भी अंश नहीं है, जिसको सेवक पूरा कर सके, अतः भगवान भजनीय भी नहीं हैं। जब
कि किसी प्रकार से सेवक की सेवा का उपयोग ही नहीं है, तो फिर उसकी की हुई सेवा
आदि द्वारा भगवान का प्रसाद तो दुर्लभ ही होगा।

इस प्रकार साधन प्रकार से भगवान साध्य नहीं हैं, इसलिये अन्य का भगवान में उप-
योग नहीं है, अतः इस समय का प्राकट्य भवत्यर्थ भी नहीं है, किन्तु निःसाधन जीवों को फल
देने के लिये ही है।

यद्यपि लीला करने के लिए भगवान किसी वस्तु की अपेक्षा भी रखते हों, तथापि सर्व
भगवान ही हैं, कारण कि ‘गुणात्मनः’ सर्वगुणों के भगवान आत्मा हैं, इसलिये साधन प्रकार
से भगवान में किसी अन्य पदार्थ का उपयोग नहीं हो सकता है, अतः स्व-अपना तथा पर-दूसरे
का भगवान के प्राकट्य में प्रयोजन नहीं है।

यदि भगवान साधन निरपेक्ष मुक्ति का दान नहीं करते हैं तो आप का प्राकट्य प्रयोजन-
रहित ही हो जायेगा, इसलिये भगवान का प्राकट्य निःसाधन जीवों के उद्धार करने के लिये
ही है ॥ १४ ॥

(सुबो०) एवं सति येन केनाप्युपायेन य एव सम्बध्यते, तस्यैव मुक्ति-
र्भवतीत्याह—काममिति ।

यदि कहो कि भगवान का अवतार निःसाधन सर्व प्राणियों के उद्धार के लिये हुआ है तो
फिर उसी समय सर्व प्राणियों को मोक्ष क्यों नहीं हो गया।

इस शंका का निवारण करने के लिये कहते हैं कि मोक्ष में प्रथम कहे कर्म, ज्ञान आदि
साधनों से अतिरिक्त व्यापारों का सम्बन्ध भगवान में निरन्तर रूप से अपेक्षित है, इसलिये जिस

किसी भी उपाय से मनुष्य का भगवान से सम्बन्ध हो जाता है, उसकी भी मुक्ति हो जाती है, इसी बात को आगे कहते हैं—'कामं क्रोधं भयं स्नेहमेकं सौहृदमेव वा । नित्यं हरो विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ॥'

(सुबो०) कामादयः षट् साधनानि भगवत्सम्बन्धे । तत्र कामः स्त्रीणा-
मेव, क्रोधः शत्रूणामेव, भयं वध्यानामेव, स्नेहः सम्बन्धिनामेव, ऐक्यं ज्ञानिना-
मेव, सौहृदं भक्तानामेव । सख्यं तेष्वेव सिध्यतीति । पूर्वसिद्धज्ञानभक्त्योः
नात्रोपयोगः । तेषां मर्यादया स्वतन्त्राविर्भावस्य नियतत्वात् । एकस्य तूभयत्वे
संयोगपृथक्त्व—न्यायेन निर्णयः । वेत्यनादरे । अन्यो वा कश्चनोपायो भवेत्, परं
सर्वदा कर्तव्यः, अन्यथा 'अन्ते या मतिः सा गति' रिति अन्यशेषतामापद्येत ।
कर्मवशाच्च नान्ते भगवतः स्मरणम्, अन्यस्येव, प्रपञ्चविरोधित्वाद्भगवतः ।
अतो नित्यं ये विदधते, ते तन्मयतामेव प्राप्नुवन्ति । ननु कामादिषु क्रियमा-
णेषु दुःखान्तराभिभवे कथं नित्यं करणं सम्भवति, तत्राह—हराविति । स हि
सर्वदुःखहर्ता, नित्यं तद्भावनायां जगदेव तदात्मकं स्फुरति । दृष्टिः कामेनानु-
रक्तेति किम्पुनः स्वात्मा । अतस्तदात्मका एव भवन्ति । सर्वत्र भगवदा-
वेशात् ।

जीवेऽन्तःकरणे चैव प्राणेष्विन्द्रियदेहयोः ।

विषयेषु गृहेऽर्थे च पुत्रादिषु हरिर्यतः ॥ १ ॥

तादृशीं भावनां कुर्यात् कामक्रोधादिभिर्यथा ।

पूर्वप्रपञ्चविलयो यथा ज्ञाने तथा यतः ॥ २ ॥

किञ्च, आदावेव गोप्यो मुक्ताः, किमाश्चर्यम्, बहव एवाग्रे मुक्ता भवि-
ष्यन्तीति तदाह—न चैवमिति । एवं असंभावनारूपो विस्मयो न कार्यः । असं-
भावितबुद्धीनामन्यथा स्फुरणनियमात् । यतो भगवान् । यत्किञ्चिन्मोक्षो
ज्ञानादिकमुपयुज्यते, एतत्सर्वं भगवत्येवास्ति । यदि ज्ञानव्यतिरेकेण मोक्षो न
भवेदिति ज्ञास्यति, तदा सिद्धत्वात् ज्ञानस्य, तदपि दास्यति । किञ्च, अन्यः
सन्देहं कुर्यादपि, भगवतो माहात्म्यं न दृष्टमिति, भवता तु न कार्यः गर्भ एव
माहात्म्यदर्शनात् । किञ्च निर्दुष्टे सर्वं सम्भवति । तत्र दोषाणां मूलं जन्म,
तदभावे दोषाभाव इति । तेन अजत्वात् निर्दुष्टः । अन्ये सर्वे हि जायन्ते, न
तैस्तेषां मुक्तिः सम्भवति, तुल्यत्वात् । किञ्च यो हि साधनपरः स मुच्यते ।
तत्र साधनं मनः सर्वतो निवृत्तं, तथायोगेन भवति, तस्य योगस्य च नियामकी
भगवानेव । यद्यन्यस्यापि मोक्षो भवेत्, भगवदिच्छयैव भवेत् । योगादिसाध-

नानां तन्नियम्यत्वात् । किञ्च सदानन्दो भगवान् फलात्मा । यः कश्चिन्मुच्यते,
स एतमेव प्राप्स्यति । अतः साधनैरप्ययमेव प्राप्यः । सोऽत्र स्वयमेव सम्ब-
ध्यत इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । किञ्च एतत्परिदृश्यमानं सर्वमेव जगत् यतो
विमुक्तिं यास्यति । भावनया गोकुले स्थित आह—ज्ञानदृष्ट्या वा । साक्षा-
त्परम्परया वा सवनिवमोचयिष्यतीति । तदग्रे वक्ष्यति 'स्वमूर्त्येति' श्लोक
द्वयेन ॥ १५-१६ ॥

काम आदि ६ साधन भगवान से सम्बन्ध कराते हैं, उसमें भी काम १. स्त्रियों को ही
भगवान से सम्बन्ध कराने में साधन है, 'गोप्यः कामात्' यह वाक्य है ।

२. क्रोध शत्रुओं को ही सम्बन्ध कराता है, ३. भय बंधे हुएों को ही सम्बन्ध कराता है,
४. स्नेह सम्बन्धियों को ही, और ५. ऐक्य ज्ञानियों को ही तथा ६. सौहृद अविहित—(जो शास्त्र में
नहीं कही) भक्ति वाले भक्तों को ही भगवत्संबन्ध कराने में साधन है 'कारण कि सख्यभाव भक्तों
में ही होता है, सख्य में परस्पर दोनों की भावना से हृदय में स्थिति रहती है, नहीं तो जिस
प्रकार एक हाथ से ताली नहीं बजती है, उसी प्रकार सख्यता भी सिद्ध नहीं होती है । 'मयि ते
तेषु चाप्यहम्' इस वाक्य के अनुसार सख्यता भगवान की भक्तों में ही होती है, इसलिये सख्यता
भक्तों में ही सिद्ध होती है ।

अतः पूर्वोक्त काम आदि साधनों से फल सिद्ध हो जाता है, फिर पहिले कहे ज्ञान, भक्ति
का उपयोग फल साधकता से नहीं है ।

यदि कहो कि 'फल मत उपपत्तेः' इस न्याय से भगवान ही प्रकट होकर सर्व फलसाधन
करते हैं, और भगवान के आविर्भाव में ज्ञान, भक्ति और भगवान की इच्छा, ये तीनों
कारण हैं, फिर जो साधन भगवान का प्राकट्य कराते हैं, उन साधनों के नहीं होने से भगवान का
आविर्भाव भी नहीं होगा, तो फिर मुक्ति किस प्रकार से होगी ।

इस शंका का उत्तर यह है कि काम आदि की मर्यादा से ही भगवान का स्वतन्त्र आवि-
र्भाव होता है, अर्थात् काम, क्रोध आदि की इतनी उत्कट तीव्र भावना हो जाती है कि जिस
भावना से भगवान का प्रत्यक्ष हो जाता है । अतः ज्ञान भक्ति से निरपेक्ष, लौकिक मर्यादा से
स्वतन्त्र भगवान का आविर्भाव, ज्ञान, भक्ति द्वारा सम्पादित आविर्भाव से भिन्न है । कारण कि
मन के साथ ही चक्षु आदि इन्द्रियों का प्रवेश होने पर भावना में साक्षात्कार होता है, काम क्रोध
आदि से इस प्रकार की भावना करने पर भगवान का आविर्भाव नियत है, इसमें आविर्भाव के
लिये ज्ञान, भक्ति का उपयोग नहीं है ।

ज्ञानी के लिये ज्ञान द्वारा, और भक्त को भक्ति द्वारा भिन्न ही आविर्भाव है, और वह
ज्ञान भक्ति से ही होता है ।

यदि इस बात को नहीं मानते तो स्तुति करने के समय में भीष्मपितामह की भावना से
हृदय में प्रकट भगवान थे, फिर जब तक मैं अपने प्राण त्याग करूँ तब तक पुरस्थिति की
प्रार्थना करने पर भगवान सामने स्थित रहे, इससे ज्ञात होता है कि सर्वेन्द्रियों के विषय की
सिद्धि अवतीर्ण भगवान में ही है, नहीं तो भीष्मपितामह पुरस्थिति की प्रार्थना नहीं करते ।

अतः भक्ति और ज्ञान में भगवान का भिन्न ही आविर्भाव है, और काम-क्रोध आदि
की भावना मात्र में भिन्न आविर्भाव है । इसमें किसी प्रकार की शंका को अवकाश नहीं है ।

यदि कहो कि यह सब कहना आपका ठीक है, किन्तु जबकि भगवान अपनी इच्छा से अवतार लेते हैं, तब स्वेच्छावतार दशा में मर्यादा मार्गीय भी थे, फिर उनको सिद्धि किस प्रकार से हुई।

इस शंका का उत्तर टिप्पणी में कहते हैं कि अवतार समय में मर्यादा भक्तों के लिये भगवान पृथक् अवतार लेते हैं, अथवा उसी अवतार से मर्यादा भक्तों के लिये भी फल साधन करते हैं।

इस विषय का निर्णय सुबोधिनी में पूर्वमीमांसामूत्र का प्रमाण देकर कहते हैं कि 'एकस्य भूयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' 'एकस्य, अङ्गस्य तु उभयत्वे नित्यकाम्यत्वोभयत्वे, संयोगयोः प्रयोजकधर्मसम्बन्धयोः, पृथक्त्वं द्वित्वं प्रयोजकम्' अर्थात् किसी द्रव्य का पृथक्-पृथक् दो पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने पर, वही द्रव्य एक समय में दोनों पदार्थों के उपयोग में आ सकता है, जहाँ इस प्रकार एक द्रव्य का दो पदार्थों के साथ सम्बन्ध हो तो ऐसी दशा में उसी एकद्रव्य से उसका फल साधन हो जाता है। फिर दूसरे द्रव्य की अपेक्षा नहीं रहती है, अतः यहाँ भी भगवान के एक ही स्वरूप से साधन वाले और निःसाधन वाले दोनों भक्तों को फलदान देने के लिये भगवान के आविर्भाव को उभयरूपता है।

यदि शंका करो कि एक जगह विनियोग हुए द्रव्य-स्वरूप का दूसरी जगह विनियोग करना न्यायसिद्ध नहीं है।

इस शंका को निवारण करने के लिये निर्णायक न्याय कहते हैं कि 'संयोगपृथक्त्वम्' इसका उदाहरण यह है कि जिस प्रकार हवन करने में ही नियुक्त की गई पर्णमयी जुहू अर्थात् पत्ता से निर्मित जुहू के एक समय में दो कार्य साथ हैं, प्रथम हवन करना और दूसरा पर्णमयीत्व गुण योग से पापश्लोक श्रवण का अभाव साधन करना भी है, अर्थात् एक ही जुहू से हवन होता है, और अकीर्ति का निन्दा का नाश भी होता है, इसके लिये दूसरी जुहू की अपेक्षा रहती नहीं है, कारण कि 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पाप' श्लोकं शृणोति' इस श्रुति से हवन के लिये ही निर्मित पर्णमयी जुहू को ही निन्दावाश रूप फल भी कहा है। इसी प्रकार प्रकृत में भी भूमि आदि का क्लेश दूर करने के लिये भगवान का आविर्भाव भी तत्तद्भूत का योग होने पर तत्तत्फल साधन करता है, पृथक् अवतार लेने की अपेक्षा नहीं है, यहाँ यह भी जानना चाहिये कि पुष्टि मर्यादा भेद से दो प्रकार के भक्तों को फल साधन सर्व शक्तियों के प्राकट्य पूर्वक अवतीर्ण पूर्ण स्वरूप एक ही भगवान का अवतार एक समय में पुष्टि भक्तों का कार्य तथा मर्यादा भक्तों का कार्य सिद्ध कर सकता है।

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ जी टिप्पणी में कहते हैं कि जिस समय भगवान केवल मर्यादामार्गी स्थापन करने के लिए प्रकट होते हैं, उसी समय पुष्टिमार्गीय भक्तों का इष्ट फल पूरण नहीं करते हैं, इसी प्रकार जिस समय केवल पुष्टिमार्गीय भक्तों के लिये भगवान अवतार लेते हैं, उस समय मर्यादा मार्गीयभक्तों का इष्ट फल पूरण नहीं करते हैं।

इसीसे दण्डकारण्यवासी ऋषियों की इष्ट फल पूर्ति श्री कोसलेन्द्र श्री राम ने नहीं की थी, श्रीमद्गोकुलचन्द्र ने पुष्टिलीला में अनधिकार के कारण यज्ञपत्नियों की इष्ट फल पूर्ति नहीं की थी।

आगे मथुरा आदि में प्रद्युम्नादि रूप से भगवान ने लीला की है, इसलिये तत्तद् भक्त के अनुरूप फलदान दिया है।

श्री पुरुषोत्तम जी ने उक्त न्याय के ऊपर विशेष शास्त्रार्थ लिखा है, जिसका जाशय इस प्रकार है, किसी ने पूर्व पक्ष किया है कि आचार्यों ने यहाँ 'संयोग पृथक्त्व न्याय का जो उदाहरण

दिया है, वह संभव नहीं होता है। कारण कि फलश्रुति को अर्थवादवाक्यनिष्ठत्व है, और अर्थवाद प्रशंसापरत्व होनेसे विधेय की स्तुति करने वाला है, इससे फल विधि के मध्य इसका अभाव है। और विहित का फल जो नियत है, वही होता है, अन्य फल नहीं होता है, इसलिये स्तुति को असद्वस्तु में आरोप रूपत्व है, अतः उक्त उदाहरण संभव नहीं होता है। किन्तु 'खादिरे वक्ष्णाति' खैर के यूप में बांधता है, 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्' वीर्य कामना वाला खैर का यूप करे, 'दक्ष्णा जुहोति' दही से हवन करता है, 'दक्ष्नेन्द्रिय कामस्य जुहुयात्' दही से इन्द्रिय कामना वाला हवन करे' इत्यादि यहाँ उदाहरण देने चाहिये। इस प्रकार कोई कहते हैं।

इसके उत्तर में कहते हैं कि यदि ऊपर कहे अन्य लोगों के उदाहरण यहाँ मानते हैं तो वेद से विरोध ही प्राप्त हो जायेगा, कैसे, तब वेदविरोध का स्पष्टीकरण करते हैं कि वेद परम आप्त है, अथवा आप्त वाक्य है, वह वेद यदि असद् वस्तु को सत्यता से स्तुति के लिये निरूपण करे तो वेद मिथ्यावादी होने के कारण सभी अनाप्त ही हो जाये।

कारण कि एक जगह वेद मिथ्यावादी है, इस प्रकार जानने पर फिर दूसरी जगह सत्यवादी है, इस प्रकार का विश्वास नहीं होगा इसलिये विधिवाक्यों में कहे फल में भी पूर्वोक्त तुम्हारी कही कल्पना कर सकते हैं, अतः विधिवाक्यों के प्रामाण्य की रक्षा करने के लिये ही अर्थवाद आदि भी फल विधिरूप से स्वीकार करने चाहिये।

जिस प्रकार 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' 'तेजो वै शृतम्' यहाँ पर शृत विधि से अभिप्रेत नहीं है, तो भी अर्थवाद नहीं है, उसकी स्तुति करे, इस प्रकार स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार अन्यत्र भी फल अभिप्रेत न होने पर भी अर्थवाद नहीं कहे, यह भी स्वीकार करना चाहिये। कारण कि एकवाक्यत्व की अनुपपत्ति दोनों जगह ही तुल्य है।

यदि कहो कि प्राशस्त्य परता से ही एक वाक्यत्व अभिप्रेत है, फल समर्पकत्व से नहीं है तो इस प्रकार कहना ठीक नहीं है, कारण कि वाक्य में कहा फल समर्पकत्व से अतिरिक्त प्राशस्त्य यहाँ नहीं दीखता है, इससे अन्य की कल्पना नहीं कर सकते हो, किसी प्रकार कल्पना करने पर तो रात्रि सन्नाधिकरण न्याय से कल्पना किया बाध कह सकते हैं।

यदि कहो कि यहाँ काम शब्द का अभाव है, इसलिये विधि का भी यह फल अभिप्रेत नहीं है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि इस प्रकार भी कहना ठीक नहीं है, यदि उक्त कहा मानेंगे तो रात्रिसन्नाधिकरण में प्रतिष्ठा का भी विधिफल नहीं होगा, कारण कि 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रौ रूपयन्ति' यहाँ भी काम शब्द नहीं कहा है।

यदि कहो कि वहाँ अगति से काम शब्द स्वीकार करते हैं, और यहाँ तो हवन निष्पादकत्व से भी फलवत्त्व संभव है, अतः अर्थवाद में कहा फलग्रहण करने में कोई बीज नहीं है, इस प्रकार भी मत कहो, जिस किसी भी जुहू से हवन निष्पन्न संभव होने से फिर पर्णमयी जुहू का कुछ भी फल नहीं दीखता है, अतः विधिवाक्यों से अभिप्रेत ही फल को अर्थवाद कहते हैं, और स्तुति लक्षण उत्कर्ष करने वाले गुण का वर्णन भी करता है इस प्रकार सर्वसामञ्जस्य के लिये स्वीकार करना चाहिये, इसलिये यहाँ कोई अनुपपन्न-अयुक्त नहीं है। इस प्रकार श्री पुरुषोत्तमजी ने प्रकाश में कहा है, यद्यपि उक्त शास्त्रार्थ सर्वसाधारण के अनुपयोगी है, तथापि सभी साहित्य के अनुवाद में यथामति इसका भी कर दिया है।

प्रकृत विषय में भी विट्ठलनाथ जी के आशय को श्री पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि यद्यपि एक प्राकट्य से दोनों प्रकार के ही भक्तों के लिये फलदान न्यायसिद्ध है, तथापि श्रीमदाचार्यों

का यहां यह आशय नहीं है, किन्तु पहिले कही फक्किका के अनुसार ही है, फक्किका इस प्रकार है कि 'पूर्वसिद्धज्ञानभक्तयोः नात्रोपयोगः, तेषां मर्यादया स्वतन्त्राविर्भावस्य नियतत्वात्' अर्थात् पूर्वसिद्ध ज्ञान और भक्ति का यहां उपयोग नहीं है, कारण कि काम, क्रोध आदि की मर्यादा से भगवान का स्वतन्त्र आविर्भाव नियत है।

और पूर्वमीमांसा का न्याय जो यहां आचार्यों ने कहा है, वह तो इसलिये कहा है कि भगवान की इच्छा स्वतन्त्र है, कभी एक ही अवतार द्वारा पुष्टि मार्गीयभक्त, एवं मर्यादामार्गीय-भक्त, दोनों को फलदान दे सकते हैं, इसलिये कहा है, मूल के आशय से भी श्रीमदाचार्यों को उक्तपक्ष-एक ही स्वरूप दोनों प्रकार के भक्तों को फल देता है, यह अभिप्रेत नहीं है, मूल में 'वा' पद दिया है, इसका अर्थ अनादर है, अर्थात् कहे हुए कामादि छे ही साधन हैं, अन्य साधन नहीं हैं इस प्रकार न समझना चाहिये, किन्तु उक्त छे साधनों से अतिरिक्त अन्य कोई और भी साधन उपाय भगवान से सम्बन्ध करने में हो, तो उसे सर्वदा करना चाहिये। नहीं तो 'अन्ते या मतिः सा गतिः' इस न्याय से उपाय सर्वदा नहीं होता है तो उसकी भावना भी उपाधि रूप होने से सर्वदा नहीं होती है, अतः अन्त में देवतान्तर का स्मरण हो जाता है, और अन्यशेषता-जिसका स्मरण होता है, उसी देवता का पुरुष को सायुज्य हो जाता है।

भगवद्भावना से तदात्मकत्व की स्फूर्ति होती है, और तदात्मकत्व की स्फूर्ति से कर्मों का क्षय हो जाता है, कर्मक्षय के अनन्तर भगवदात्मकरूप तन्मयता होती है, यदि भावना सर्वदा नहीं होती है तो तन्मयता नहीं होती है।

अन्त समय पुत्र आदि का स्मरण होता है तो 'प्रजामनु प्रजायन्ते' इस श्रुति के अनुसार पुत्रादिमयत्व होकर पुत्रादि सम्बन्धी जन्म होता है।

यदि कहो कि जिस प्रकार काम आदि के अभाव में भी अदृश्य वश से ही कामादि का स्मरण होता है, उसी प्रकार भगवान का भी स्मरण हो जायेगा फिर सर्वदा भावना क्यों की जाये ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि कर्मवश से कामादि की तरह अन्त में भगवान का स्मरण नहीं होता है, कारण कि भगवान प्रपञ्चविरोधी हैं, जहां भगवान हैं, वहां प्रपञ्च-जगत् नहीं है, और जहाँ प्रपञ्च है वहाँ भगवान नहीं हैं, अतः जो लोग भगवान में नित्य निरन्तर भावना करते हैं, वे लोग कीटपेशस्कृत न्याय से तन्मयता को ही प्राप्त होते हैं।

यदि कहो कि जो मनुष्य भगवान में काम-क्रोधादि करे तो उसको अन्य दुःख भी सताते हैं, फिर नित्य निरन्तर भावना करना किस प्रकार संभव हो सकता है।

इस शंका का समाधान मूल में 'हरी' इस शब्द से किया है, अर्थात् हरि सर्वदुःखहर्ता हैं, भावना विषय के स्वभाव से ही दुःख भान नहीं होता है।

यहाँ पर इस प्रकार क्रम है कि प्रथम भगवद्भावना, फिर तदात्मकत्व का स्फुरण, इसके अनन्तर कर्मों का क्षय, (कर्मक्षय यहां अवाप्तर फल है।)

जिस मार्ग में काम आदि छे साधनों द्वारा भगवत्प्राप्ति है, वहाँ फिर गोपियों की भी दृष्टि कामभाव से भगवान में अनुरक्त थी, अर्थात् गोपस्त्रियों ने कामभावना नित्य निरन्तर की, इसलिये इनको सर्वजगत् भगवन्मय स्फुरित हुआ है, फिर गोपियों की आत्मा भगवन्मय हो जाये तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

जो नित्य निरन्तर भगवान में किसी भी भाव को करते हैं, वे भगवदात्मक ही भगवदावेश द्वारा हो जाते हैं, अर्थात् उनके सर्वत्र शरीर इन्द्रिय आदि में भगवान का आवेश स्फुरित हो

जाता है। इस प्रकार भगवान का आवेश अतिविगाढ भगवद्भावना होने पर देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और जीव में हो जाता है, फिर आवेश से जिस समय भगवद्भाव की स्फूर्ति हो जाती है, उस समय देह आदि के सम्बन्धियों में भी भगवद्भाव का भाव हो जाता है, इसी बात को श्री आचार्य दो कारिकाओं में आगे कहते हैं।

जीवेऽन्तःकरणे चैव प्राणेष्विन्द्रिय—देहयोः ।

विषयेषु गृहेऽर्थे च पुत्रादिषु हरिर्यतः ॥ १ ॥

तादृशीं भावनां कुर्यात् कामक्रोधादिभिर्यथा ।

पूर्वं प्रपञ्च-विलयो यथा ज्ञाने तथा यतः ॥ २ ॥

पदपदार्थ—(जीवे) जीव में (अन्तःकरणे) अन्तःकरण में और (प्राणेषु) प्राणों में (इन्द्रियदेहयोः) इन्द्रिय और देह में (विषयेषु) विषयों में (गृहे) घर में (अर्थे) अर्थ में (पुत्रादिषु) पुत्रादिकों में (यतः) जिससे (हरिः) हरि हैं। (तादृशीं) इस प्रकार की (भावनां) भावना को (कामक्रोधादिभिः) कामक्रोध आदि द्वारा (कुर्यात्) करे (यथा) जिसप्रकार से (पूर्वप्रपञ्चविलयः) पूर्व प्रपञ्च का नाश (यथा) जिस प्रकार (ज्ञाने) ज्ञान होने पर हो जाता है, (तथा) उसी प्रकार (यतः) भावना से पूर्व प्रपञ्च का विलय हो जाता है ॥ १-२ ॥

जिस समय मनुष्य की भावना भगवान में अति तीव्र हो जाती है, उस समय इसके जीव अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह, विषय, घर, अर्थ और पुत्रादि में हरि भगवान आविष्ट हो जाते हैं, काम क्रोधादि से इस प्रकार की भावना करनी चाहिये, जिस प्रकार ज्ञान होने पर पूर्व प्रपञ्च का लय हो जाता है, उसी प्रकार काम क्रोधादि की भावना से भी प्रपञ्च विलय होकर भगवत्तन्मयता हो जाती है ॥ १-२ ॥

अब श्री शुकदेव जी कहते हैं कि हे राजन् ! पहिले सारस्वत कल्प के पूर्व व्यानकल्प में ही गोपियां मुक्त हो गईं, इसमें क्या आश्चर्य है, आगे भी बहुत से मुक्त हो जायेंगे, इसी बात को 'न चैवं विस्मयः कार्यः' इस सोलहवें श्लोक में कहते हैं।

हे राजन् ! इस प्रकार तुमको भगवान में असंभारना रूप विस्मय नहीं करना चाहिये, (जो भगवान में संभव नहीं हो उसको असंभावना कहते हैं) कारण कि इस प्रकार की असंभावित बुद्धि वालों को अन्य ही स्फुरण होता है, इस प्रकार का नियम है। अतः प्रभु की लीला में तुमको थोड़ा भी संदेह नहीं करना चाहिये, कारण कि यह तो भगवान हैं, जो कुछ मोक्ष के साधन में ज्ञानादिक की अपेक्षा होती है, वह सब भगवान में ही पहिले से सिद्ध है।

यदि भगवान इस बात को जानेंगे कि ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होती है तो सिद्ध होने के कारण उस समय ज्ञान का भी प्रदान कर देंगे।

शुकदेव जी राजा से कहते हैं कि जिसने भगवान का माहात्म्य नहीं देखा है, वह अन्य कदाचित् सन्देह करे भी, किन्तु तुमने तो गर्भ में ही भगवान का माहात्म्य देख लिया है, अब तुमक* सन्देह नहीं करना चाहिये।

जो वस्तु निर्दुष्ट-दोषरहित होती है, उसमें सर्वसंभव होता है, कारण कि दोषों का मूल-कारण जन्म है, जन्म नहीं होता है तो दोष भी नहीं होते हैं, भगवान तो स्वयं अज-जन्म-रहित हैं इसलिये दोषरहित हैं, भगवान से अतिरिक्त अन्य सब जन्म लेते हैं इसलिये दोषसहित

होने से जन्म लेनेवालों के द्वारा जीवों की मुक्ति संभव नहीं होती है, कारण कि दोनों ही जन्म लेने वाले तुल्य दोषसहित हैं ।

और जो साधन करता है वह मुक्त होता है, सर्वं वस्तु से मन को निवृत्त करना साधन है, मन की निवृत्ति योग से होती है, योग का नियामक ईश्वर भगवान् ही है, यदि किसी अन्य का भी मोक्ष होता है तो भगवान् की इच्छा से ही होता है, कारण कि योग आदि जितने साधन हैं, उनका नियमन भगवान् ही करते हैं । सदानन्द कृष्ण भगवान् फलात्मा हैं, जो कोई मुक्त होता है वह कृष्ण को ही प्राप्त होता है, अतः साधनों द्वारा भी ये ही कृष्ण प्राप्य हैं । वह श्रीकृष्ण फलात्मा ब्रज में स्वयं ही प्रकट होकर सम्बन्धित हैं, अर्थात् उनका गोपियों को साक्षात् सम्बन्ध हो रहा है, अतः इसमें कोई बात अयुक्त नहीं है ।

यह परिदृश्यमान सब जगत् ही कृष्ण भगवान् के द्वारा विशेष मुक्ति को प्राप्त होगा ।

इस प्रकार श्रीणुकदेव जी भावना से गोकुल में स्थित हैं, अथवा ज्ञानदृष्टि से कह रहे हैं कि भगवान् साक्षात् अथवा परम्परा से सब को मुक्त करेगा, इस बात को आगे एकादशस्कंध के प्रथम अध्याय में 'स्वमूर्त्या' इत्यादि दो श्लोक से कहेंगे ॥ १५-१६ ॥

अब श्री विट्ठलनाथ जी अपने स्वतन्त्र लेख में श्लो० १२ से १६ तक का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

(यद्वा, अत्र राजा उपपत्तिं शङ्कते—कृष्णमिति । एताः कृष्णं कान्तं परं विदुः, न तु ब्रह्मतया, अतो गुणप्रवाहोपरमः कथं संगच्छत इति ।

अत्रायं भावः । ब्रह्मत्वेन विज्ञानं हि शास्त्रीयम्, तच्च सार्व्विकं भवितुमर्हति । 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान'मिति वाक्यात् । एतास्तु गुणातीतस्यानन्दमात्रकरपादमुखो-
दरादेः प्रकटस्यानन्तगुणपूर्णस्य सौन्दर्यादिगुणेषु परिनिष्ठितधियः । अतो निर्गुणत्वाद् गुण-
प्रवाहोपरमः कथं संगच्छते । उपरमस्याभावरूपत्वेन प्रतियोगिसापेक्षत्वाद्वा च प्रतियो-
गिन एवाभावादिति ।

मुन इति सम्बोधनं शुद्धसत्त्वाविर्भावे ज्ञानोदयस्यानुभवसिद्धत्वेन संवा-
दार्थम् ॥ १२ ॥

अत्रोत्तरमाह—उक्तमिति । पुरस्तात् सप्तमस्कंधे 'गोप्यः कामादि'त्यादिना । अत्रायं-
मर्थः । यथा भगवति गुणातीत एव परिनिष्ठितबुद्धित्वेऽपि द्वेषस्य तत्र प्रयोजकत्वात् चैद्या-
दीनां तामसत्त्वम्, तथैतासामपि निर्गुण एव परिनिष्ठितबुद्धित्वेऽपि जारत्वबुद्धेस्तत्र
प्रयोजकत्वात् सगुणत्वमेवेति लक्ष्यते । अयं च रसः सर्वभावप्रपत्त्येकलभ्यः । न हि जार-
त्वबुद्धौ सर्वभावप्रपत्तिः । कामपूरकत्वेनैव तत्संभवनियमात् । अत्र च सगुणत्वस्य प्रति-
बन्धकत्वाद्यथा चैद्यादीनां स्वाधिकारानुसारेण तादृशशरीरनाशे तत्पदप्राप्तिः स्वाधिकारा-
नुसारेण, तथैतासामपि स्वाधिकारानुसारेण तथात्वे सगुणत्वोपरमेण सर्वभावप्रपत्त्यैव
ततो निजपतिभजनमिति सर्वमवदातम् ।

अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति मर्यादा भव्येत । एतदेव मनसि कृत्वाह—उक्तं
पुरस्तादेतत्त इति । ननु तथापि तादृशप्रपत्तेरेव मूलत्वात्कथं सर्वभावप्रपत्तिसाध्यं फलं
भविष्यतीत्यत आह—द्विषन्नपीति । अयमर्थः—मोक्षसुखानभीप्सुस्तद्विरुद्धद्वेषकर्ता च चैद्यः ।
तस्मै यथा ज्ञानिनामपि दुर्लभां मुक्तिं दत्तवान्, एवं तादृक्प्रपत्तिमूलानामप्येतासां तादृशं
फलं दत्तवानिति ।

एतेन यथा द्वेषमुक्त्योस्तारतम्यम्, तथान्यशेषभजनैतद्रसयोरपीति सूचितम् ।

ननु गोकुलस्य भगवत्क्रीडोपयोगित्वेन सर्वथाङ्गीकृतस्य सर्वस्यैव निर्गुणत्वे कथमे-
तासां सगुणत्वमुच्यते । किञ्च, अग्रेऽपि यदि सर्वभावप्रपत्तिलभ्यमेव फलं दित्सितं
भगवतः, तदा पूर्वमेव स एव भावः किमिति नोत्पादित इति चेत् ।

अत्र वदामः । यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासामेव रासमण्डलमण्डनानां
शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपयगोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा,
पूर्वोक्तानां भावोऽपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणं भावमुत्पाद्य, एतन्निवर्तकोऽपि
स्वयमेव, नान्य इत्यपि ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधाय, अग्रे भाविस्वविरहजदुःखस्वसङ्गम-
जसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय मत्स्वाम्येव
सर्वमिदं कृतवानिति निर्गर्वः ।

अत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकारान्तर्यादामार्गीयानुपपत्तयोऽनवसरपराहता इति सर्वमन-
वद्यम् । अतएव श्रीशुकोऽपि 'जुहुर्गुणमयं देहमि'ति सगुणदेहत्यागमेवोक्तवान्, अग्रे गुणा-
तीततत्प्राप्त्यभिप्रायेण, गोप्यत्वात्स्पष्टं नोक्तवान् । अन्यथा गुणमयपदवैयर्थ्यं स्यात् ।

ननु पूर्वोक्तज्ञापनायैवेदं कृतवानिति कथं ज्ञेयम्, उपपत्त्यभावादित्याशङ्क्योपपत्ति-
माह—नृणामिति । अयमाशयः । लीलायां तत्स्थितभक्तेषु च सुतरां रासस्थासु, या साधार-
णत्वबुद्धिः, सा सदोषत्वारोपापरपर्याया । तासामगुणत्वात्तस्य दोषरूपत्वाद् भगवत्स्वरूपे
लीलायां च सगुणत्वप्रसञ्जकत्वाच्च । एवं सत्येतल्लीलाया मुक्तिप्रतिबन्धकत्वमेव स्यात्,
न तु तद्देतुत्वम् । तथा सत्यवतारप्रयोजनं निरुध्येतेत्यन्यथानुपपत्त्यैव तथोच्यत इति ।
ज्ञापनप्रयोजनमपीदमेवेति ज्ञेयम् । व्याख्यानं पूर्ववत् ।

नन्विददधि सगुणास्वेतासु कृताया लीलायाः पूर्वोक्तदोषप्रसञ्जकत्वं दुर्वारमित्या-
शङ्क्य पूर्वल्लीलाकृतितार्प्यमाह—काममिति ।

इदं हि साधारण्येनोच्यते । य एवं नित्यं विदधते, ते तन्मयतां यान्तीति, न त्वेत-
द्रोपभार्याविषयकमेव । अतएव क्रोधाद्युक्तिरपि । अन्यथाऽप्रस्तावेनात्र तन्निरूपणमयुक्तं
स्यात् । तथा च सगुणेनापि भावेन भजते भगवान् स्वानुरूपमेव फलं ददातीति ज्ञापनाय
पूर्वल्लीलेत्यर्थः ।

अन्यथा मुख्याधिकारिणामेव भगवत्प्राप्तिरिति ज्ञानेऽन्येषामप्रवृत्त्या मुक्त्युच्छेदः
स्यात् ।

एवं शास्त्रमप्रयोजनकं च स्यात् । मुख्याधिकारिणां स्वत एव प्रवृत्तेः । स्वरूप-
लीलयोस्तु न कदाचित्सगुणत्वम्, लीलाविषयाणां सगुणानामपि निर्गुणापादकत्वात् ।
नहि दोषनिवर्तकमौषधं रोगिसम्बद्धं सत् तद्वद्भवति । तथा सति तदनिवर्तकत्वापत्तेः ।
लीलाया विषयसाजात्यनियमे सगुणनिर्गुणभक्तयोरेकया वेणुवादनादिलीलाया निरोधो
नोपपद्येत । क्रोधादिवत्कामोपाधिकभावस्यापि जघन्यत्वज्ञापनायापि क्रोधादिनिरूपणं
ज्ञेयम् । तन्मयतां निर्गुणतामित्यर्थः ।

ननु साक्षाद्भगवत्सङ्गित्वेऽपि सगुणत्वस्थितिं वस्तुशक्तिः कथं सहते । वह्निसम्बन्ध इव
तूलस्थितिमित्येको विस्मयः । लौकिकरीत्या कामभाववतीष्वलौकिकस्य रमणं द्वितीयः ।
क्रोधादिभाववतां तत्फलमननुभूयैव भगवत्प्राप्तिश्चापरः । स्नेहवत् समानफलत्वं च । यशोदा-
नन्दने हि ता भाववत्यः, तस्य च वनस्थितस्यै दुष्टानप्राप्तिश्चान्यः । एतासां तदैव निर्गुण-
देहप्राप्तिर्विन्नेव तत्साधनमिति चेतरः । सर्वात्मभाववत्स्वेव करिष्यमाणलीलाया अनुभवः ।

अन्यस्यास्तु तद्रहितानामपीत्यनेकविस्मयाविष्टं राजानं ज्ञात्वा तन्निवारकं क्रमेण वदन् पूर्वश्लोकोक्तभाववतां भगवत्प्राप्तौ हेतुनप्याह—न चैवमिति । आद्यविस्मयाभावार्थमाह—भवतेति । अत्रायं भावः । पूर्वमनिवर्त्यब्रह्मान्तोऽपि गर्भेऽपि रक्षितवान् भवन्तम् । प्रयोजनमस्तीति । अधुना तु तदभावाद् बालवाक्यादपि न रक्षतीति भवतैवानुभूयते । न हि एतावता वस्तुशक्तौ काचिन्न्यूनता । इच्छाशक्त्यधीनत्वात्सर्वासां शक्तोनाम् । तस्याः सर्वतोऽधिकत्वात् । न हि मन्त्रप्रतिबन्धदशायामग्नेरदाहकत्वमिति तच्छक्त्यपगम एवेति वक्तुं युक्तम् । प्रकृतेऽपि यासां साक्षादित्यादिनोक्तयोजनार्थं भगवता तथा कृतमिति ज्ञात्वा भवता तु विस्मयो न कार्यः । अनुभावाननुभवेनान्यः कुर्यादपीति ।

द्वितीय-तृतीयादिकं परिहरति—भगवतीति । तत्रेश्वरो हि सर्वरसभोक्ता भवति । 'सर्वरस' इति श्रुतेः । कामरसो हि तादृशभाववतीषु विशिष्टोऽनुभूतो भवति । कामशक्ते तथैव निरूपणात् । तथा चैश्वर्यवत्ययं विस्मयो न कार्यः । तथा भगवद्वीर्यस्येतरसाधनासाध्यसाधकत्वेनात्युग्रत्वात् क्रोधादिदोषमन्यानिवर्त्यमपि स्ववीर्येण हरिर्निवारयितुं समर्थ इति तादृशे स विस्मयो न कार्यः ।

यशो ह्यसाधारणम्, असाधारणे कर्मणि सति भवति । यदि स्नेहवत्स्वेव मुक्तिं दद्यात्, न द्विदसु, तदान्यसाधारण्येनासाधारणं यशो न स्यात् भयद्वेषादिमत्स्वपि स्नेहादिमत्समानफलदाने ह्यसाधारणत्वेनासाधारणं यशः स्यात् । तथा च तादृशयशसः सहजत्वेन तदज्ञापकधर्मा अपि हरौ सहजा एवेति नायं विस्मयः कार्यः । श्रीलक्ष्मीः । सा चैतादृशस्नेहवती यद्वक्षसि स्थितिं प्राप्यापि चरणरजः कामयते, प्रत्यवतारं चावतरति । सदा तद्वत्त्वेन हरिः स्नेहरसाभिज्ञ इति तद्वत्सु स्वरूपदानं युक्तम् ।

ऐक्यं हि ज्ञानमार्गं । हरेश्च ज्ञानवत्त्वेन तेषु तथा युक्तम् । सौहार्दं हि सख्ये सति भवति । तच्च समानशीलव्यसनेष्वेव ।

'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ।

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि इत्यादिवाक्यैर्यथा भगवतो भक्तातिरिक्ते रागाभावो, भक्तेष्वेव च राग इति वैराग्यवत्त्वम्, तथा भक्तानामपि भगवतीति सौहार्दयोग्येषु सौहार्दं ददातीति पूर्वोक्तवैराग्यवत्त्वात् तेषु तथाकरणं युक्तमिति भावः ।

यशोदानन्दन इत्यादिनोक्तविस्मयाभावार्थमाह—अज इति । यदि भगवतो जीववत् कुत्रापि जन्म स्यात्, तदान्यत्र बहिःस्थितोऽत्रान्तर्हृदि कथमागतः, तत्र सन्नेवेति शङ्का स्यात् । तदभावात् । स्वेच्छया यथा मायाजवनिर्कां दूरीकृत्य यशोदागृहे प्रकटः, तथा वने, तथैवान्तर्हृद्यपीत्यजे नायं विस्मयः कार्यः ।

अग्रिमोक्ततदभावार्थमाह—योगेश्वरेति । योगिनो हि योगबलेन भोगार्थमनेकानि शरीराणि युगपत्क्षणमात्रेण सृजन्ति । तेषां च योग आगन्तुको धर्मः । भगवांश्च तादृग्धर्मसम्पादकः फलदाता चेति तेषामपीश्वर इति सहजानन्तशक्तिमानिति तास्वलौकिकदेहसम्पादनमात्रं न विस्मयहेतुर्भवितुमर्हति ।

अग्रिमतदभावायाह—कृष्ण इति । 'कृषिर्भूवाचक' इतिवाक्यात् सदानन्दस्वरूपी भगवान्, निर्दोषपूर्णगुण इति यावत् । तेन कृष्णातिरिक्तस्य वस्तुमात्रस्यैव सदोषत्वात् त्रापि स्वास्थ्यहेतुत्वं जानतः सदोषत्वमेवेति निश्चयः ।

इयं च लीलास्वरूपानन्दरूपा तादृश्येवेति सर्वात्मभावरहितेवेतदनुभवायोग्यत्वात् त्रायं विस्मयः कार्य इत्यर्थः ।

किञ्च, एतासां तु स्नेहः पूर्वोक्तः साधनत्वेनासीत्, 'गोकुलं त्वहथापृतं निशि शयान' मितिवाक्यात् सर्वसाधनविमुखं सदपि प्रतिक्षणं स्वरूपे लीयते, अग्रिमाग्रिमलीलारसानुभवार्थम्, भगवान् परं पुनः पुनः पृथक्कृत्य तामनुभावयनीत्यचिन्त्यानन्तशक्तिमति न किञ्चिदाश्चर्यमित्याशयेनाह—यत एतदिति । शुक्लत्वधुना लीलेतराननुसंधानाद्भावनाया तत्रैव स्थित इत्येतदित्युक्तवान्, वर्तमानप्रयोगं च कृतवान्, तामेव लीलामनुभवतीति सर्वमनवद्यम् ।

नन्वेतद्वैपरीत्यमपि सुवचनम् । तथाहि । एता अपि पूर्वोक्तमध्यपातिन्य एव । अत एव पूर्वश्लोके तासामनिवृत्तिमुक्त्वा तादृशी सा लोकेऽत्यसम्भावितेति सा कथमुपपद्यत इत्याशङ्कानिरासायाह—अन्तर्गृहेत्यादि ।

अत्रायं भावः । पूर्वं हि वचनेन निवर्तनम् । तथा सति निवृत्तिर्हि विपरोतस्वक्रियया भवति । सा चातिदूरे, यतस्तत्सजातीयाः काश्चिद्भर्त्रादिकृते क्रियया प्रतिबन्धे तत्प्रतिबन्धं देहमपि त्यक्त्वा भगवत्सङ्गता जाताः । तथा चैतादृश्यः पूर्वोक्ताः सर्वा इति युक्तवानिवृत्तिः ।

किञ्च, तद्भावनायुक्ता इति पदे तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वेन पूर्वं च पूर्वोक्तानामेव भावस्योक्तत्वादेतद्भावसजातीयभाववत्त्वं पूर्वोक्तमपीति गम्यते । तेनैतन्निष्ठाशेषधर्मवत्त्वं तत्रापि सिध्यति । एतासां मुक्तिर्दत्तेति तन्निवृत्तिं विना न सेति तथोक्तम् । तासां न तथेति न तथोक्तमिति चेत् ।

शङ्काढयमानिनो मौढ्यदाढ्यं तव । यस्मादालोचनलोचनराहित्येन बाहिर्मौल्यासत्सङ्गाख्यगिरिगर्ताघातपातविवशाशयः परोक्तमपि नानुसंधत्से । तथाहि । यच्छङ्कानिरासायैतत्कथावतारिता, तद्भावश्च त्वया वर्णितः, तत्र त्वां पृच्छामः, तदर्थमियं कथा कल्पिता, उत सिद्धैवानुदिता । अन्त्य एव संमतश्चेत्, तत्रापि त्वां पृच्छामः, एतासां प्रतिबन्धे को हेतुरिति । स्वप्रियास्वपि सगुणत्वं ख्यापयितुमेतासां प्रतिबन्धो हरिणैव कृत इति चेद्वीषि, हन्त एवं विचारकस्य तव शतधा हृदयं नास्फुटत् कुतस्तन्न जानीमः । यतो मर्यादाभक्तिमार्गीयसेवाविषयकश्रद्धाया अपि निर्गुणत्वम्, तत्र साक्षादङ्गसङ्गिनीषु सगुणत्वं ब्रवीषि ।

किञ्च, 'ता मन्मनःका मत्प्राणा मदर्थं त्यक्तदैहिका' इत्यादिना प्रभुणैव, 'एताः परं तनुभृत' इत्यादिनोद्धवेन, 'नोद्धवोऽणवपि मन्मन्यून' इत्यादिना भगवता स्तुतेनापि चरणरेणुप्रार्थनापूर्वकं स्तुता इति क तद्वन्धशङ्कापि ।

ननु कामोपाधिस्नेहवत्त्वेन तथोच्यत इति चेत् । न । तथा स्नेहे भगवतोऽपि विषयान्तरतुल्यत्वेन 'संत्यज्य सर्वविषया'निति कथनानुपपत्तेः । विषयार्थमेवागमनात् । न च भगवतो विषयत्वेऽपि तदतिरिक्तविषयाणां त्यागोऽनूद्यत इति वाच्यम् । 'तव पादमूलं प्राप्ता' इत्युक्तिविरोधात् । न हि कामिन्य एवं वदन्ति, किन्तु भक्ता एव ।

किञ्च, अतितोकेन पतनासुपयःपानानन्तरं रक्षाकरणे श्रीशुकेन हेतुरुक्त 'इति प्रणयबद्धाभिर्गोपोभि' रिति । न हि तादृशे कामोपाधिकः स संभवति । न वा तादृशीनामञ्जनादित्यागः संभवति, प्रत्युत तदादि सर्वं प्रसाध्यागमनम्, कुब्जावत् । तदनन्तरं यद्रमणम्, तत्तु 'रसो वै स' इति श्रुतेः स्वरूपस्य रसात्मकत्वादसरीत्या स्वरूपानन्ददानमेव । 'सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम् । तामसं मोहदैव्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रय' मिति भगवद्वाक्यात् भगवत्सम्बन्धिसुखस्यापि गुणातीतत्वमेव ॥ १६ ॥

विट्ठलनाथजी की टीका का अनुवाद—

'यद्वेत्यादिना' गोपियों ने जारबुद्धि से भी गुणमय देह त्यागकर भगवान का सायुज्य प्राप्त किया, इस विषय में राजापरीक्षित १२ वें श्लोक में शंका करता है कि गोपियां भगवान को केवल श्रेष्ठ कान्त मानती थीं, ब्रह्म नहीं मानती थीं, फिर गोपियों के गुण प्रवाह-संसार का नाश कैसे सम्भव हो सकता है।

राजा परीक्षित की शंका का यथार्थ भाव यह है कि भगवान का ब्रह्मत्व से विज्ञान होना शास्त्रीय है, और वह विज्ञान शास्त्रीय सात्त्विक होना चाहिये, कारण कि 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' भगवान ने गीता में आज्ञा की है कि सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु गोपियां तो गुणातीत आनन्दमात्र करपादमुखोदरादि प्रकट अन्तर्गुणपूर्ण भगवान के सौन्दर्य, माधुर्य, आदि गुणों में बुद्धि लगाने वाली हैं, अतः वस्तुतः निर्गुण हैं, अर्थात् जब गोपियों में गुण ही नहीं हैं, फिर गुण-प्रवाह-संसार का उपराम-नाश किस प्रकार सम्भव हो सकता है, कारण कि उपराम नाश अभाव रूप है, और अभाव को अपने प्रतियोगी भाव की अपेक्षा रहती है, यहां तो गोपियों में प्रतियोगी-गुणभाव का ही अभाव है, सारांश यह है कि गोपियां निर्गुण हैं, इसलिये गोपियों में जब गुण-प्रवाह उपस्थित ही नहीं है, फिर गुणप्रवाह का नाश सम्भव कैसे हो सकता है।

यहां मूल में 'हे मुने' इस सम्बोधन का तात्पर्य यह है कि शुद्ध सत्त्व का जिस समय आविर्भाव होता है, उस समय ज्ञानोदय होता है, यह बात आप को अनुभव सिद्ध होने से संवाद अर्थ में है, अर्थात् परस्पर बात करने में अविरोध अर्थ में है ॥ १२ ॥

अब १३ वें श्लोक में राजा परीक्षित की शंका का उत्तर शुकदेव जी देते हैं कि प्रथम ७ वें स्कन्ध की प्रथमाध्याय में 'गोप्यः कामात्' गोपियों को काम से भगवत्प्राप्ति हुई, इस वाक्य से प्रश्न का उत्तर दे चुके हैं, इसका यह अर्थ है कि जिस प्रकार शिशुपाल आदि की बुद्धि गुणातीत भगवान में ही स्थित थी, किन्तु इसमें द्वेष आदि कारण थे, इसलिये शिशुपाल आदि को नाम-सत्त्व कहा है। उसी प्रकार यद्यपि अन्तर्गृहगता गोपियों की बुद्धि निर्गुण भगवान में स्थित थी, तथापि इसमें जारत्व बुद्धि कारण है, इसलिये अन्तर्गृहगता गोपियां सगुण ही मालूम पड़ती हैं और यह भगवद् रस सर्वभाव प्रपत्ति से ही एक लभ्य है, जारत्व बुद्धि में सर्वभाव से प्रपत्ति नहीं है, कारण कि भगवान काम पूर्ण करते हैं, इस प्रकार के विचार से ही जार बुद्धि उत्पन्न होती है, इस नियम से जारत्व बुद्धि सगुण है, इसलिये सगुणत्व, सर्वभाव से प्रपत्ति में प्रतिबन्धक है, अतः जिस प्रकार शिशुपाल आदि को अपने-अपने अधिकारानुसार द्वेषयुक्त सगुण शरीर का नाश होने पर भगवत्पदप्राप्ति हुई, उसी प्रकार अन्तर्गृहगता गोपियों ने भी अपने अधिकारानुसार जारबुद्धि युक्त सगुण शरीर का नाश होने पर सर्वभाव प्रपत्ति द्वारा ही अपने पति कृष्ण भगवान का भजन किया है, अतः यहां कोई द्वेष नहीं है।

यदि भगवान इस प्रकार नहीं करते तो 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते, जो लोग जिस प्रकार मेरी शरण आते हैं, उनको मैं उसी प्रकार से भजता हूँ, यह गीता में कही मर्यादा भङ्ग हो जाती। उक्त सबका मन में विचार करके शुकदेव जी कहते हैं कि 'उक्तं पुरस्तादेतत्ते' इसका उत्तर तो मैंने तुमसे पहले ही कहा है। यदि कहो कि तो भी गोपियां प्रथम जारबुद्धि से भगवान की शरण में गई थीं, फिर सर्वभाव प्रपत्तिसाध्य फल इनको कैसे मिला। इसके उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं कि 'द्विषन्नपि' शिशुपाल मोक्ष सुख की अपेक्षा-इच्छा नहीं करता था, किन्तु उल्टा भगवान से मोक्षविरोधी द्वेष करता था, इस प्रकार के शिशुपाल के लिये जानियों की भी दुर्लभ भगवान ने मोक्ष प्रदान किया उसी प्रकार गोपियां यद्यपि जारबुद्धि से भगवान की शरण गईं तथापि सर्वभाव प्रपत्ति साध्य फल भगवान ने गोपियों को दिया है।

इस प्रकार कहने से यहाँ यह भी सूचित होता है कि जिस प्रकार द्वेष, और मुक्ति में तारतम्य है, उसी प्रकार जारत्वबुद्धि से किया भजन और भगवद्रस में तारतम्य है-अर्थात् अन्तर है।

यदि कहो कि गोकुल भगवान् की क्रीडा में उपयोगी है, इसलिये सर्व गोकुल ही निर्गुण है, और इसका भगवान् ने सर्व रीति से अङ्गीकार किया है, तो फिर अन्तर्गृहगता गोपियों को सगुण कैसे कहते हो। और यदि आगे अन्तर्गृहगता गोपियों को सर्व भाव प्रपत्ति से जो फल प्राप्त होता है, वह फल देने की इच्छा भगवान् की थी तो पहिले ही सर्व भाव गोपियों में उत्पन्न क्यों नहीं किया।

इस शंका का समाधान यह है कि यद्यपि सर्वगोकुल निर्गुण है, तथापि अन्तर्गृहगता गोपियों को सगुण क्यों कहा, इसका कारण कहते हैं कि जिन गोपियों का सम्बन्ध भगवान् के साथ में साक्षात्, अर्थात् देह त्याग किये बिना, इसी शरीर से हुआ है, उन सर्वरासमण्डल भूषणरूप गोपियों का शरीर भी गुणातीत ही है, इसी बात का ज्ञापन करने के लिये भगवान् ने ही कितने ही गोपियों के सगुण देह स्थापन कर दिये, और पूर्वोक्त निर्गुण गोपियों के भाव भी निर्गुण हैं, इस बात का भी ज्ञापन करने के लिये अन्तर्गृहगता गोपियों में सगुण भाव भी उत्पन्न कर दिये, तथा सगुण भाव को निवृत्त करनेवाले भी स्वयं भगवान् ही हैं, अन्य-ब्रह्मादि देवता नहीं। इस बात का भी ज्ञापन करने के लिये सगुण भाव की भगवान् ने निवृत्ति की है, तथा आगे होनेवाला भगवत्सम्बन्ध विरहदुःख, तथा भगवान् के संगम से सुख, यहां सुख दुःख दोनों कर्मजन्य नहीं हैं, इस बात का भी ज्ञापन करने के लिये गोपियों के शुभ, और अशुभ कर्मों का क्षय करके भगवान् ने अपनी प्राप्ति कराई है।

इस प्रकार उक्त सर्व हमारे स्वामी प्रभु ने ही किया है, इस प्रकार तात्पर्य है।

इनका पुष्टिमार्ग में अङ्गीकार है, इसलिये पुष्टिमार्गानुसार समाधान किया है, अतः मर्यादा मार्गानुसार की गई शंका को यहां अवकाश नहीं है। सर्व प्रसङ्ग निर्दोष है, इसलिये शुकदेवजी ने भी 'जहुगुणमयं देहम्' सगुणदेह का त्याग ही कहा है। आगे गुणातीत देह प्राप्त करके भगवान् के साथ रमण किया है, यह अभिप्राय गुप्त है, अतः स्पष्ट नहीं कहा है। यदि उक्त अभिप्राय नहीं मानते हैं तो 'गुणमय' पद व्यर्थ हो जाता है।

यदि शंका करो कि रास में स्थित सर्व गोपियां निर्गुण ही हैं, इस बात का ज्ञापन करने के लिये भगवान् ने सगुणत्व स्थापन किया है, और वह सगुणत्व सर्वदा के लिये स्थापन नहीं किया है, उसकी निवृत्ति करके भगवान् ने रमण किया है, तो फिर इस प्रकार कहने में क्या युक्ति है। कारण कि लीला में देह का होना आवश्यक है, फिर सगुण देह से ही भगवान् ने लीला क्यों नहीं की, निर्गुण देह संपादन पर्यन्त दौड़ना किसलिये किया।

इस प्रकार की शंका से सगुणदेहनिवृत्तिरूप युक्ति जो प्रथम कही गई है वह दूर हो जाती है, इसलिये सगुणदेहनिवृत्ति में युक्ति को अर्थापत्ति द्वारा साधन करते हैं (नृणां) इत्यादि चौदहवें श्लोक में युक्ति साधन करते हैं कि लीला श्रवण करने पर भगवान् का अनुभव होता है, फिर भगवान् के अनुभव से भगवान् का स्वरूप यथार्थ भासित होता ही है, चाहे सगुणत्व स्थित हो तो भी भासता ही है, इस आशय से आगे कहते हैं कि लीला में तथा लीलास्थ भक्तों में, उसमें भी रासलीलास्थ भक्तों में साधारण बुद्धि करना, जिस प्रकार जगत् में अन्य स्त्रियां हैं, उसी प्रकार गोपियां भी साधारण स्त्रियां हैं, सगुण भक्त हैं, इस प्रकार की बुद्धि करे तो गोपियों में दोषारोपण करना ही है, भगवान् ने गोपियों का देह निर्गुण संपादन नहीं किया है, रासलीला

तो सगुण गोपियों में भी होती है, इस प्रकार के ज्ञान से हम लीला का श्रवण करने पर सर्व-रासस्थ गोपियों में उक्त ज्ञानसंबन्ध से स्वरूप और लीला में सगुणत्व हो जाये, तो फिर लीलाओं का श्रवण भी तादृश दोषजनक हो जाता है, तो फिर मुक्ति में प्रतिबन्ध हो जायेगा।

अर्थात् रासस्थित सर्व गोपियां तो निर्गुण हैं, और सगुणत्व दोषरूप है, इसलिये भगव-स्वरूप और लीला में सगुण बुद्धि कर देता है, सगुणत्व बुद्धि होने पर रासलीला मुक्ति में प्रति-बन्धक ही हो जाती, किन्तु मुक्ति में हेतु नहीं होती। तो फिर भगवान् के अवतार का प्रयोजन में भी विरोध हो जाता, अतः अन्यथानुपपत्ति से भगवान् के अवतार में प्रथम कहे चार प्रयो-जन सार्थक करने के लिये ही, भगवान् ने उक्त प्रकार किया है।

भगवान् की लीला मोक्ष देने वाली है।

जिस प्रकार भगवान् की लीला और भक्तों को सगुण मानने से मोक्ष नहीं प्राप्त होती है। उसी प्रकार भगवान् की लीला और भक्तों को निर्गुण मानने से मोक्ष मिलती है। इस सिद्धान्त को समझाने के लिये प्रथम कहे चार हेतु प्रयोजन हैं ॥ १४ ॥

यदि कहो कि भगवान् ने गोपियों का सगुणभाव निवृत्त करके रासलीला की है, तो फिर अवतक जो भगवान् ने गोपियों के साथ लीला की उसमें तो गोपियों में सगुणभाव ही था, अतः दोषरूप है, इसलिये मुक्ति में प्रतिबन्ध तो होगा ही।

इस शंका का उत्तर देते हुए पूर्व लीला का तात्पर्य कहते हैं कि (कामं क्रोधं) इत्यादि। भगवान् में काम क्रोध भय स्नेह ऐक्य और सुहृद जो कोई भी सदा करता रहता है, वह भगवन्मय निर्गुण हो जाता है।

यह तो साधारण नियम कहा है, केवल गोपियों के लिये ही नहीं कहा है, अतः श्लोक में क्रोध भय आदि को भी कहा है।

इस श्लोक में कथन किया सिद्धान्त सर्वसाधारण है, यदि सर्व-साधारण नहीं मानते, और केवल गोपियों के लिये ही मानते हैं तो गोपियों के प्रसङ्ग में यहां क्रोध आदि का निरूपण निरवकाश होने से अयुक्त हो जाता है, इसलिये मानना पड़ेगा कि जो कोई भगवान् को सगुण-भाव से भी भजन करता है, उसको भगवान् अपने अनुरूप मुक्ति फल देते हैं, अर्थात् 'यस्त आश्रित आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।' इस प्रह्लाद जी के वाक्यानुसार सगुणभाव से भजन करनेवालों में भक्ति का यद्यपि अभाव है, इसलिये उनको लौकिक फल देना ही उचित है, तथापि भगवान् अपने स्वरूप का विचार करके मुक्ति ही देते हैं।

लेखकार 'स्वानुरूप' का अर्थ कहते हैं कि पूर्व लीला करके सगुण भाव को शिथिल कर देते हैं, अर्थात् ध्यान में प्राप्त अपने संगम द्वारा सगुणभाव को सर्वथा निवृत्त करके बक्ष्यमाण रसानुभवयोग्य देहसम्पत्तिरूप तन्मयता को देते हैं। इसी बात का ज्ञापन करने के लिये भगवान् ने पूर्व लीला की है।

यदि यह बात नहीं मानते तो फिर मुख्य अधिकारियों को ही भगवत्प्राप्ति होती, मध्यम और हीन को नहीं होती, फिर उत्तमाधिकार में अयोग्य पुरुष इस बात को जानकर भगवत्प्राप्ति के लिये प्रयत्न भी नहीं करता, तो फिर मुक्ति का उच्छेद-नाश हो जायेगा, तथा फिर मुक्तिप्रतिपादक शास्त्र का प्रयोजन भी नहीं रहेगा, अर्थात् मुक्तिप्रतिपादक सर्वशास्त्र व्यर्थ हो जायेगा, कारण कि मुख्य अधिकारियों की तो भगवत्प्राप्ति में शास्त्र बिना स्वतः ही प्रवृत्ति हो जाती है, शास्त्र तो साधारण मनुष्यों के लिये है, मुख्य अधिकारियों के लिये नहीं है।

यदि सामान्य मनुष्यों को मोक्ष नहीं मिले तो शास्त्र का प्रयोजन कुछ रहता नहीं है, भगवान् का स्वरूप और लीलाएँ तो कभी भी सगुण नहीं होते हैं, कारण कि लीला में उपयोगी सगुणविषयों को भी भगवान् निर्गुण बना देते हैं, इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार दोष दूर करनेवाली औषधि रोगी मनुष्य के रोग से संयुक्त होती हुई भी स्वयं रोगरूप नहीं होती है, किन्तु रोगनिवर्तक होती है, उसी प्रकार भगवान् की लीला भी सगुणभक्त आदि से संबन्धित होने पर भी स्वयं दोषरूप नहीं होती है, किन्तु जिस प्रकार औषधि रोगनिवृत्त कर देती है, उसी तरह सगुणभाव को निवृत्त करके निर्गुण बना देती है।

यदि भगवान् की लीला दोष सम्बन्ध से दूषित हो जाये तो औषधि से जिस प्रकार रोग-निवृत्त नहीं हो, उसी प्रकार सगुण भी दूर नहीं हो, किन्तु औषधि रोगरूप दूषित होती नहीं है, रोग दूर करती है, उसी तरह भगवान् की लीला भी सगुण नहीं होती है। सगुण को दूर करती है।

यदि भगवान् की लीला लौकिक विषय सदृश हो तो भगवान् की एक ही वेणुवादन आदि लीला से सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के भक्तों को निरोध नहीं हो सकता था।

जिस प्रकार क्रोध आदि से किया भगवान् का भजन हीन श्रेणी का है, उसी प्रकार कामोपाधिक—कामभाव से किया भगवान् का भजन भी जघन्य-हीन श्रेणी का है, इस बात का ज्ञापन करने के लिये भी 'कामं क्रोधं' इस श्लोक में क्रोध भय आदि भावों का निरूपण किया है, यह जानना चाहिये।

तन्मयता का अर्थ निर्गुणता है। अर्थात् कामादिभाव से निरन्तर जो भगवद्भावना करते हैं, वे निर्गुण हो जाते हैं ॥ १५ ॥

अब इस विषय में राजा परीक्षित विस्मय युक्त हो मन में कई प्रकार की शंकाएँ करने लग गया, उनका निरूपण आगे करते हैं।

(१) जिस प्रकार रूई अग्निसम्बन्ध सहन नहीं कर सकती, अग्नि का सम्बन्ध होने पर रूई का अस्तित्व नहीं रहता है, जल जाती है, उसी प्रकार सगुण भक्तों का निर्गुण भगवान् के साक्षात् अङ्गसङ्ग से अस्तित्व कैसे रहा। सच्चिदानन्द भगवान् अग्नि सदृश हैं, सगुणभक्त रूई सदृश हैं, अग्नि का रूई ने सहन कैसे किया, यह प्रथम विस्मय है।

(२) अलौकिक भगवान् का कामभावना वाली गोपियों के साथ लौकिक रीति से रमण करना, यह दूसरा विस्मय है।

(३) शिशुपाल आदि के लिये क्रोध का फल बिना भोगे ही भगवत्प्राप्ति हो जाना, यह तीसरा विस्मय है।

(४) भगवान् ने जो फल स्नेह करने वाले यादव आदि को दिया है, उनके बराबर वही फल क्रोधादिभाव करने वालों को दिया है, यह चौथा विस्मय है।

(५) गोपियों का भाव यशोदानन्दन में था, यशोदापुत्र उस समय वन में विराजते थे, फिर इनकी गोपियों के ध्यान में प्राप्ति कैसे हुई, यह पांचवां विस्मय है।

(६) गोपियों के द्वारा कुछ भी साधन किये बिना ही प्रभु इनके ध्यान में पधारे, और उसी समय गोपियों के निर्गुण देह भी हो गये, यह छठा विस्मय है।

(७) आगे भगवान् रासलीला करेंगे, रासलीला का अनुभव सर्वात्मभाव वाली गोपियों को ही होता है, अन्य को नहीं होता है, किन्तु सर्वात्मभावरहित इन गोपियों को भी रासलीला का अनुभव होना, यह सातवां विस्मय है।

इस प्रकार शुकदेव जी अनेक विस्मयाविष्ट राजा परीक्षित को जानकर इसके विस्मय का निवारण कम से करते हैं और गोपियों की भगवत्प्राप्ति में हेतु भी कहते हैं 'न चैवं विस्मयः कार्यः' इत्यादि से, प्रथम विस्मय दूर करने के लिये कहते हैं कि (भवता) यहां पर भवता पद का यह भाव है कि हे राजन् जिस समय तुम अपनी माता उत्तरा के उदर में थे, उस समय तुम्हारे मारने के लिये अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था, ब्रह्मास्त्र को कोई भी लोटा नहीं सकता है, वह मारे बिना नहीं रह सकता है, उस समय भगवान् ने विचार किया कि अपने सम्बन्धी पांडवों का वंश नष्ट हो जायेगा, मेरी उपस्थिति में मेरे सम्बन्धियों का वंश नष्ट हो जाना उचित नहीं है, गर्भ में वंशवद्धक महाभक्त परीक्षित स्थित है, इसके द्वारा अनेक सत्कार्य होंगे, इन सब बातों का विचार करके भगवान् ने गर्भ में ब्रह्मास्त्र से आपकी रक्षा की थी। उस समय कुछ प्रयोजन था, इसलिये रक्षा की थी, किन्तु इस समय तुम्हारा कुछ प्रयोजन नहीं रहा है, अतः एक मुनिवालक के वाक्य से भी रक्षा नहीं कर रहे हैं, इस बात का तुम स्वयं अनुभव कर रहे हो।

इस समय रक्षा नहीं करने से भगवान् की शक्ति में कुछ न्यूनता नहीं है, कारण कि संपूर्ण शक्तियां भगवान् की इच्छा शक्ति के अधीन हैं।

भगवान् की इच्छाशक्ति अन्य सर्वशक्तियों से अधिक है, जिस समय मन्त्र आदि से अग्नि की दाहक शक्ति प्रतिबद्ध हो जाती है, उस समय अग्नि जलाता नहीं है, किन्तु इस प्रकार की दशा में कह नहीं सकते हैं कि अग्नि की दाहक शक्ति नष्ट हो गई है।

प्रकृतविषय में भी 'यासां साक्षात्' श्रीमदाचार्यों ने कहा है कि जिन गोपियों का भगवान् ने साक्षात् सम्बन्ध है, उनके शरीर निगुण हैं, इसी बात का ज्ञापन करने के लिये भगवान् ने कुछ गोपियों में सगुण भाव स्थापन किया है। इस प्रकार यह प्रयोजन समझ कर तुमको विस्मय करना नहीं चाहिये। और कोई जिसको भगवान् का अनुभव नहीं हुआ हो वह यदि कदाचित् विस्मय करे तो भले ही करे, किन्तु तुमने तो अनुभव किया है।

अब दूसरे और तीसरे विस्मय का उत्तर शुकदेव जी देते हैं (भगवति) इस पद से। यदि कोई दूसरा हो तो भी विस्मय हो सकता है, किन्तु पदार्थवान् भगवान् में विस्मय नहीं करना चाहिये। 'सर्वरसः' इस श्रुति के अनुसार ईश्वर सर्वरस भोक्ता होता है और काम-रस तो कामभाव वाली स्त्रियों में ही विशेष अनुभूत होता है, कारण कि कामशास्त्र में इस प्रकार ही निरूपण किया है, इसलिये ऐश्वर्यवान् भगवान् में विस्मय नहीं करना चाहिये।

चतुर्थ का उत्तर—भगवान् का वीर्य अत्यन्त उग्र है, जो पदार्थ अन्य साधन साध्य नहीं हो सकता है, उस प्रकार के पदार्थ को सिद्ध करने वाला है, इसी से ही अन्य साधनों द्वारा निवृत्त नहीं होने वाले क्रोधादिदोषों को भी भगवान् अपने वीर्यद्वारा निवृत्त करने में समर्थ हैं। इस प्रकार के वीर्य वाले भगवान् में विस्मय नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

अब शुकदेव जी चतुर्थ विस्मय का उत्तर देते हैं कि भगवान् का यश असाधारण है, असाधारण यश महत् कर्म करने पर होता है।

यदि भगवान् केवल स्नेह करने वाले भक्तों को ही मुक्ति दें, और द्वेष करने वालों को नहीं दें, तो अन्यसाधारण की तरह यश होने से भगवान् का असाधारण यश नहीं होगा। और जो फल स्नेह करने वाले भक्तों को वही फल द्वेष करने वालों को देने से असाधारण कार्य कहा जाता है, असाधारण कार्य करने से यश भी असाधारण होता है, इस प्रकार का यश भगवान्

में स्वाभाविक है और स्वाभाविक यश का ज्ञापक धर्म भी भगवान् में सहज है, अतः आप को विस्मय नहीं करना चाहिये।

श्री-लक्ष्मी भगवान् में इतना स्नेह करती हैं कि वक्षस्थल में स्थिति प्राप्त करके भी चरण-रज की चाहना करती है, और जब-जब भगवान् का अवतार होता है, तभी-तभी अवतार लेती हैं, इस प्रकार भगवान् सदैव श्रीयुक्त हैं, अतः स्नेहरस जानने वाले हैं, स्नेह करने वाले भक्तों को आप स्वरूपदान करते हैं, यह युक्त ही है।

ऐक्य हो जाना ज्ञानमार्ग में है, भगवान् ज्ञान वाले हैं, इसलिये ज्ञानियों की भगवान् में एकता का होना युक्त ही है।

सख्य होने पर सुहृद होता है, सौहृद परस्पर समान शील व्यसन वालों का ही होता है, 'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा।'

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्वत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥'

भगवान् दुर्वासा ऋषि से कहते हैं कि हे ब्रह्मन् जिन भक्तों की मैं परागति हूं, इस प्रकार के साधु भक्तों के बिना मैं आत्मा की तथा नित्य समीप में रहने वाली लक्ष्मी की आशा नहीं करता हूं, साधु मेरे हृदय हैं, और मैं साधुओं का हृदय हूं, साधु मुझसे अन्य किसी को नहीं जानते हैं, और मैं साधुओं से अन्य कभी किसी को नहीं जानता हूं, इत्यादि भगवान् के वाक्यों से सिद्ध होता है कि भगवान् का भक्तों से अतिरिक्त अन्य किसी में राग नहीं है, भक्तों में ही राग है, इस प्रकार भगवान् में वैराग्य गुण है, भक्तों का भी भगवान् में ही राग है, अन्यत्र वैराग्य है, इसलिये सुहृद करने योग्य भक्तों में भगवान् सौहार्द देते हैं, भक्तों में भी पूर्व कहा वैराग्य गुण है, अतः भक्तों को भगवान् सुहृद बनाते हैं, यह युक्त ही है।

(५) गोपियों का भाव यशोदानन्दन में है, इत्यादि से राजा ने पांचवां विस्मय किया है, उसको दूर करने के लिये शुकदेव जी कहते हैं कि (अजे) भगवान् अजन्मा हैं, यदि भगवान् का जीव की तरह कहीं भी जन्म हो, तो एक स्थान में बाहिर स्थित भगवान् फिर अन्तर्गृहगता गोपियों के भीतर हृदय में ध्यान द्वारा कैसे पधारे, इस प्रकार की शंका हो जाये, किन्तु भगवान् का जीव की तरह जन्म नहीं होता है, अतः उक्त शंका को अवकाश नहीं है, जिस प्रकार भगवान् अपनी इच्छा से माया-परदा दूर कर श्रीयशोदा जी के घर प्रकट हुए, उसी प्रकार वन में भी प्रकट हो गये, और अन्तर्गृहगता गोपियों के भीतर-हृदय में भी प्रकट हो गये, अतः (अजे) जन्मरहित भगवान् में विस्मय नहीं करना चाहिये।

(६) अब शुकदेव जी छठा विस्मय दूर करने को कहते हैं (योगेश्वरेश्वरे) योगी लोग योगबल से भोग भोगने के लिये अनेक शरीर एक समय में क्षण मात्र में रच लेते हैं, योगियों में योग आगन्तुक-आया हुआ धर्म है, स्वाभाविक नहीं है, भगवान् तो योगियों को इस प्रकार का धर्म सम्पादन करने वाले हैं, और योग का फल देने वाले हैं, इसलिये योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं, और स्वभाव से ही अनन्त शक्तिमान हैं, अतः गोपियों के अलौकिक देहसम्पादन किये तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है, यह भी विस्मय आप को नहीं करना चाहिये।

(७) अब आगे सातवें विस्मय का निवारण करते हैं (कृष्णे) कृष् धातु सत्तावाचक है, 'ण' आनन्द वाचक है, अर्थात् कृष्ण शब्द का अर्थ सदानन्दस्वरूप भगवान् निर्दोष पूर्णगुण युक्त है, अतः कृष्ण से अतिरिक्त अन्य वस्तु में भी क्षान्ति मिलती है, इस प्रकार का जिसको ज्ञान है, वह भी दोषयुक्त ही है, यह निश्चय है।

कृष्ण से अतिरिक्त अन्य वस्तु में भी क्षान्ति मिलती है, इस प्रकार का जिसको ज्ञान है, वह भी दोषयुक्त ही है, यह निश्चय है।

रासलीला स्वरूपानन्दरूप है, अतः जिस भक्त में सर्वात्मभाव है उसको ही इस लीला का अनुभव होता है, जिसमें सर्वात्मभाव नहीं है उसमें रासलीला के अनुभव करने की योग्यता नहीं है, इसलिये यह विस्मय नहीं करना चाहिये। इस प्रकार अर्थ है।

गोपियों के स्नेह का वर्णन पहिले किया है, वह स्नेह साधन रूप था, परन्तु 'गोकुलं त्वल्लया पृतं निशि शयानम्' दिन काम में व्यतीत करना और रात्रि सोने में व्यतीत करना, इस वाक्य से यद्यपि सर्वगोकुल साधनरहित था, तथापि सर्वसाधनरहित होने पर भी प्रतिक्षण भगवान् के स्वरूप में लीन होता है, कारण कि आगे-आगे की लीलारस का अनुभव करने के लिये स्वरूप में लीन होता है। और भगवान् अपने स्वरूप में लय गोकुल को बारम्बार अपने स्वरूप से पूर्यक् करते हैं। तथा तत्तद् लीलाओं का अनुभव कराते हैं। इस प्रकार के अचिन्त्य अनन्त शक्तिमान भगवान् में कोई आश्चर्य नहीं है, इसी आशय से शुकदेव जी कहते हैं कि 'यत् एतद्विमुच्यते' जिस भगवान् के हेतु से यह गोकुल मुक्त होता है, इस समय शुकदेव जी को लीला का अनुसंधान हो रहा है, अन्य अनुसंधान नहीं है, भावना से गोकुल में स्थित हैं, इसलिये 'एतत्' यह, इस प्रकार अंगुली से निर्देश किया है, तथा 'मुच्यते' यह वर्तमान काल का प्रयोग किया है। शुकदेव जी रासलीला का अनुभव कर रहे हैं, इसीलिये जो व्याख्यान किया है, वह सर्व निर्दोष है, अतः योग्य है।

आपने कहा है कि रास में प्रविष्ट सर्वगोपियां निर्गुण हैं, और अन्तर्गृहगता गोपियां सगुण हैं, इस प्रकार के वचन से विरह भी सुष्ठु वचन है, अर्थात् इनको विरह होना भी ठीक ही है, अन्तर्गृहगता गोपियां भी प्रथम कहीं गोपियों में से ही हैं, इसीलिये पहिले श्लोक में भगवान् के समीप जाने का उद्यम सभी गोपियों ने किया है, और पति आदि ने सभी गोपियों को ही रोका, किन्तु कुछ गोपियां भगवान् के समीप में गईं नहीं लौटीं, और कुछ नहीं गईं, इस प्रकार कहा है, स्त्रियां इस प्रकार से अपने घर नहीं जायें, यह बात तो लोक में अत्यन्त संभावित नहीं होती है, इसलिये कुछ स्त्रियां घर नहीं गईं, यह बात कैसे घट सकती है।

इस शंका का निवारण शुकदेव जी ने 'अन्तर्गृहगता गोप्यः इत्यादि ९।१०।११' तीनों श्लोकों में किया है।

यहाँ यह भाव है कि प्रथम सातवें श्लोक में पति आदि ने वचन से निषेध किया, उस समय गोपियों को पीछे लौटना योग्य था, किन्तु पीछे लौटी नहीं, और कितने ही अन्तर्गृहगता गोपियों को जिस समय पति आदि ने क्रिया-हस्त आदि से प्रतिबन्ध किया, उस समय पति आदि द्वारा प्रतिबन्ध देह का त्याग कर गोपियां भगवान् में सङ्गत हो गईं, इसलिये पूर्वोक्त सर्व गोपियां अन्तर्गृहगता सदृश ही हैं, अतः आठवें श्लोक में गोपियां घर नहीं गईं, इस प्रकार जो कथन किया है, वह युक्त ही है।

नवम श्लोक में 'तद्भावनायुक्ताः' इस पद में 'तत्' शब्द कहा है, तत् शब्द पूर्व कहे को सूचन करता है, प्रथम आठवें श्लोक में पूर्वोक्त श्रुतिरूपा गोपियों के भाव का वर्णन किया है। नवम दशम और ग्यारवें श्लोक में अन्तर्गृहगता गोपियों का भाव कहा है, यह भाव प्रथम आठवें श्लोक में कहीं गोपियों में भी है, इस प्रकार जानना चाहिये। अतः नवम दशम और ग्यारह, तीन श्लोक में कहीं अन्तर्गृहगता गोपियों के सर्वधर्म आठवें श्लोक में कहीं गोपियों में भी सिद्ध होते हैं।

भगवान् ने अन्तर्गृहगता गोपियों को विदेह मुक्ति दी है, देहनिवृत्ति के बिना मुक्ति होती नहीं है, यह बात ग्यारवें श्लोक में शुकदेव जी ने कहा है, आठवें श्लोक में कहीं श्रुति-

रूपा गोपियों को देहनिवृत्तिपूर्वक मोक्ष नहीं मिला, इसलिये वहाँ पर यह प्रकार कहा नहीं है, इस प्रकार आठवें श्लोक में कहीं श्रुतिरूपा गोपियां और नवम दशम ग्यारवें श्लोक में कहीं गोपियां अन्तर्गृहगता सर्व एक ही प्रकार की है, श्रुतिरूपा उच्च श्रेणी की हैं अन्तर्गृहगता निम्न श्रेणी की हैं, यह बात नहीं है :

उक्त शंका का समाधान करते हैं कि, अरे शंका करने वाले अभिमानी तेरी दृढ मूर्खता, कारण कि तेरे पास विचाररूपी लोचन नहीं हैं, इसीलिये बहिर्मुखता, तथा असत्सङ्गरूप दो पर्वतों के बीच गड्ढे में गिरने से तेरा अन्तःकरण इतना दुष्ट हो गया है कि शुकदेव जी जैसे मुनि के कहने पर भी विचार नहीं करता है, गोपियां घर नहीं गईं, यह बात लोक में संभावित नहीं होती है, फिर कैसे सम्भव होती है, इस शंका का समाधान करने के लिये—दूर करने के लिये ही नव, दश ग्यारह इन तीन श्लोक में कथा का वर्णन है, तुमने जो इसका भाववर्णन किया है, इस कथा के अर्थ में तुमसे मैं यह पूछता हूँ, कि यह कथा कल्पित है, अथवा पूर्व सिद्ध का ही यहाँ अनुवाद किया है, यदि अन्त्य पक्ष-पूर्व सिद्ध ही का अनुवाद किया, तुम्हारे सम्मत है तो उसमें तुमसे पूछता हूँ कि सर्वगोपियों के प्रतिबन्ध करने में हेतु क्या है। आठवें श्लोक में कहीं अपनी प्रिय गोपियों में सगुणभाव प्रसिद्ध करने के लिये अन्तर्गृहगताओं को प्रतिबन्ध भगवान् ने स्वयं पति आदि के द्वारा किया है, यदि इस प्रकार कहते हो तो बड़े खेद की बात है कि इस प्रकार का विचार करने वाले तुम्हारे हृदय के सो टुकड़ा क्यों नहीं हुए, यह हम नहीं जानते हैं, कारण कि जहाँ मर्यादा मार्गीय सेवा विषयक श्रद्धा को भी निर्गुणत्व है वहाँ साक्षात् भगवान् के अङ्ग-सङ्ग करने वाली आठवें श्लोक में कहीं गोपियों में सगुणत्व कहते हो, अतः मुझे अत्यन्त खेद होता है।

'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थं त्यक्तदेहिकाः' गोपियों का मन मुझमें है, इनकी इन्द्रियां मुझमें हैं, इनमें मेरे लिये देहोपयोगी समस्त वस्तुओं का त्याग किया है, इत्यादि वाक्य से भगवान् ने गोपियों की स्वयं प्रशंसा की है, और ('एताः परं तनुभृतः, तोढवोऽपि मन्मनः') उद्धव जी ने कहा है, कि देहधारण सार्थक गोपियों के ही हैं, इसलिये गोपियों के चरणरज की प्रार्थनापूर्वक स्तुति उद्धव ने की है, इस प्रकार की गोपियों में सगुणभाव की गंध भी कैसे हो सकती है।

यदि कहो कि आठवें श्लोक में कहीं गोपियों का भगवान् में कामोपाधिक स्नेह है इसलिये उनकी देहनिवृत्तिपूर्वक मुक्ति नहीं हुई।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यदि गोपियों का कामोपाधियुक्त स्नेह होता तो फिर भगवान् भी जगत् के अन्य विषय पदार्थों की तरह हो जायें, और—'संत्यज्य सर्व विषयान्' सर्व विषयों का त्याग कर आपके चरण कमल में आई हैं, यह वाक्य गोपियों का घटित कैसे होगा। अतः गोपियों में कामोपाधिक स्नेह नहीं है, भगवद्रूप विषय के लिये ही गोपियां भगवान् के समीप में आई हैं।

यदि कहो कि भगवान् गोपियों के काम विषय हैं, इसलिये भगवान् से अतिरिक्त अन्य सर्वविषयों का त्याग 'संत्यज्य' इस श्लोक में कहा है।

इस शंका के उत्तर में यदि यह कहो कि 'तव पादमूलं प्राप्ताः' आप के चरण में प्राप्त हुई हैं, इस वाक्य से विरोध होता है, कारण कि कामिनी स्त्रियां, हम आपके चरण में प्राप्त हुई हैं, इस प्रकार नहीं कहती हैं। किन्तु भक्त स्त्रियां ही इस प्रकार कहती हैं।

भगवान् जिस समय अति छोटे बालक थे, उस समय पूतना का प्राणरूप पयःपान किया था, गोपियों ने भगवान् की रक्षा की थी, वहाँ उपसंहार में 'इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः' प्रणय-बद्ध गोपियों ने भगवान् की रक्षा की, यह हेतु शुकदेवजी ने कहा है, अर्थात् गोपियों ने भगवान् का रक्षण भक्तिजन्य स्नेह से किया है, कामोपाधिक स्नेह से नहीं किया है। कारण कि अति छोटे बालक भगवान् में कामोपाधिक स्नेह का हो जाना संभव नहीं हो सकता है। और कामिनी स्त्रियों का अञ्जन आदि त्याग करके नायक के पास आना भी संभव नहीं हो सकता है, कारण कि कामिनी स्त्रियाँ जिस समय नायक के पास जाती हैं, उस समय विशेष शृङ्गार करके सुशो-भित हो जाती हैं, कुब्जा की तरह गोपियाँ भगवान् के पास आईं, पश्चात् भगवान् ने रमण किया, वह तो 'रसो वै सः' इस श्रुत्यनुसार भगवान् का स्वरूप रसात्मक है 'इसलिये रसशास्त्र की रीति से स्वरूपानन्द का दान ही किया है। भगवान् ने जागृद्धि से रमण नहीं किया है।

'सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम् ।

तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मनुपाश्रयम् ॥—भागवत स्कंध ११
आत्मोत्पन्न जो सुख होता है, वह सात्त्विक है, और विषयोत्पन्न जो सुख होता है, वह तामस है, और मेरे आश्रय से जो सुख मिलता है वह निर्गुण है, इस भगवान् के वाक्यानुसार भगवत्सम्बन्धी सुख को भी निर्गुण-गुणातीतत्व ही है ॥ १६ ॥

इस प्रकार स्वतन्त्र का भाषानुवाद पूरा हुआ।

(सुबो०) एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतमाह—'ता दृष्टेति' ।

इस प्रकार प्रसङ्ग से राजा परीक्षित की शंकाओं का परिहार करके अब श्री शुकदेव जी प्रस्तुत विषय—चालू विषय का निरूपण करते हैं।

ता दृष्टान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः ।

अवददतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन् ॥ १७ ॥

पदपदार्थ—(ताः) 'दुहन्त्य' इत्यादि से जिनका प्रथम वर्णन किया है, उन (व्रजयो-षितः) व्रज की स्त्रियों को (अन्तिकम्) समीप में (आयाताः) आई हुई (दृष्ट्वा) देखकर (वदतां) बोलने वालों के मध्य में (श्रेष्ठः) उत्तम (भगवान्) पडैश्वर्यवान् श्रीकृष्ण (वाचः) वचनों की (पेशैः) सुन्दरता से (विमोहयन्) मोह कराते हुए (अवदन्) बोले ॥ १७ ॥

भाषार्थ—व्रज स्त्रियों को अपने समीप में आई हुई देखकर वक्ताओं में श्रेष्ठ भगवान् सुन्दर शब्दयुक्त वचनों से गोपियों को मोह कराते हुए बोले ॥ १७ ॥

(सुबो०) यास्तु समाहूताः समागताः, ता न निवार्यन्ते, याः पुनः सगु-णाः समागताः अन्यसम्बन्धिन्यः, ताः शब्दश्रवणात् समागता इति शब्देन निवारणीयाः । अन्यशेषतया भजनमयुक्तमिति । करिष्यमाणलीला तु सर्वभाव-प्रपत्तिसाध्या, अतो निवारणार्थं यत्नमाह । ता 'दुहन्त्य' इत्याद्याः अन्तिकमा-याता दृष्ट्वा, स्वार्थमेवागता इति निश्चित्य, भगवान् सर्वज्ञः सर्वसमर्थोपि, ता अपि व्रजयोषितः अथावृताः (निरावरणाः) स्वकीयाश्च । अतः सर्वानुपपत्तिरहिता अपि दृष्ट्वा अवदत् । धर्मप्रबोधनार्थं (वस्तुतः सर्वात्मभावलक्षणो धर्मः) वक्ष्य-

माणमुक्तवान् । ननु ताः पूर्वं निवार्यमाणाः समागताः, कथमेतद्वाक्येन निवृत्ता भविष्यन्ति, अतो व्यर्थो वाक्प्रयास इति चेत्, तत्राह 'वदतां श्रेष्ठ' इति । ये केचिद्व-दन्ति, तेषां मध्ये श्रेष्ठः । अतो हृदयगाम्यस्य वचनं भवति । अतो यावद्वचनेन निवृत्ता भवन्ति, तावन्न कृतौ योजनीयाः । किञ्च, अलौकिकमप्यस्य निवर्तने सामर्थ्यमस्ति, तदाह—'वाचः पेशैर्विमोहयन्ति'ति । वाचः पेशाः वाक्सौन्दर्ययुक्ताः शब्दाः, तैर्विशेषेण मोहयन् । अथवा ता दृढीकर्तुमेव सम्यक् मोहनार्थं निषेध-वाक्यानुक्तवान्, अन्यथा गच्छेयुरेव । अतः अर्थतो निवारयन् अपि पर्यवसानतो न निवारयति ॥ १७ ॥

जो गोपस्त्रियाँ, कुमारिकायें तथा अन्तर्गृहगतायें गुणमयशरीर त्याग कर निर्गुण शरीर से भगवान् के पास बुलाई हुई आई हैं, वे सर्व भगवान् के पास प्राप्त हो गईं ।

मुख्यता से तो कुमारिका ही बुलाई गई थी, जिनको कि वरदान दिया था, अन्तर्गृहगता यद्यपि भगवान् ने नहीं बुलाई थी, तथापि नाद श्रवणकर इनने आने के लिये उद्यम किया था, किन्तु प्रतिबन्ध होने से कदाचित् नहीं आई हों, इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि जो प्रथम कहीं वाणी से निषेध आदि वाली अन्तर्गृहगता, वे भी सर्व बुलाई थीं, इसमें युक्ति कहते हैं कि 'समागताः' सम्यक् प्रकार से आ गईं ।

कुमारिकाओं के बुलाने की बात तो पहिले स्पष्ट ही कह चुके हैं, अन्तर्गृहगताओं को भगवान् ने बुलाया था कि नहीं यह संदेह था, वह यहाँ स्पष्ट कह दिया है कि अन्तर्गृहगता भी सम्यक् प्रकार से भगवान् के पास में आ गई हैं ।

यदि भगवान् अन्तर्गृहगता गोपियों को नहीं बुलाते तो कालद्वारा प्रतिबन्ध होने से भगवान् के पास आती ही नहीं ।

अन्यपूर्वा—श्रुतिरूपा—गोपियों को तो काल ने प्रतिबन्ध नहीं किया, इसलिये भगवान् के समीप आने में कोई बाधा नहीं हुई है, और कुमारिकाओं के तो पति आदि ही नहीं हैं, जो प्रतिबन्ध करते, अतः जिन-जिन गोपियों को भगवान् ने बुलाया था, वे सर्व गोपियाँ भगवान् के समीप में आ गई हैं ।

अब भगवान् ने विचार किया कि जो बुलाई हुई कुमारिका तथा अन्तर्गृहगता आई हैं, उनके प्रतिनिषेध वाक्य कहना ठीक नहीं है, कारण कि घर का देह से सम्बन्ध है, देह नष्ट होने पर जब अन्तर्गृहगताओं का घर ही नहीं रहा, तब लौटकर घर जाना कैसे संभव हो सकता है, इसलिये तुम घर जाओ, इस प्रकार कहना बन नहीं सकता है । और अन्तर्गृहगता गोपियों के साथ प्रतिबन्ध लीला तो दोष निवारण करने के लिये ही की है, दोष का कारण तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी में कहा है कि कामयुक्त ब्रह्मा ने वाणीरूप गोपी को शाप दिया है, यह प्रसङ्ग विशेषरूप से इसकी भूमिका में कहा है, जिस प्रकार शुक ने भय से कंस आदि को शाप दिया था, इसलिये उसकी भगवान् में प्राप्ति भय से ही होगी उसी प्रकार गोपियों की काम से प्राप्ति हुई है, अतः काम-दोषनिवृत्त करने के लिये भगवान् ने प्रतिबन्ध लीला की है ।

पूर्वोक्त कुमारिका तथा अन्तर्गृहगता दोनों ही बुलाई हुई आई हैं, इसलिये इन दोनों से भगवान् ने घर जाने के लिये नहीं कहा है, नहीं तो बुलाना व्यर्थ हो जाता । किन्तु 'दुहन्त्य' इत्यादि श्लोक में कही गयी जो सगुण गोपियाँ आई हैं, उनसे निषेध वाक्य कहे हैं । ये गोपियाँ

जितने गुणों से भगवान् के साथ रमण करने की योग्यता होती है, उतने सर्वगुण संपन्न हैं, ये अन्य गोपों के साथ विवाहिता हैं, और रसशास्त्र प्रतिपादित विशेष रस के उपयोगी गुणवाली जो गोपियां भगवान् के पास आई हैं, उनको भी यद्यपि निषेध करना योग्य नहीं है, तथापि ये विशेष ठहर नहीं सकती हैं, तथा अपने आप नहीं आइ हैं, किन्तु वेणुनादश्रवण करके भगवान् के पास आई हैं, इसलिये इनका उतना ही अंश निवारण करना योग्य है, इस बात को विचार कर भगवान् ने इनका शब्द से ही निवारण किया है, हृदय से नहीं किया है, कारण कि भक्तिमार्ग का यह सिद्धान्त है कि किसी उपाधि, अथवा प्रयोजन से भगवान् का भजन करना योग्य नहीं है।

भगवान् का गीत अनङ्गवर्धक है, शब्द के श्रवण से भजन करने में तथा गीत के श्रवण से काम उत्पन्न होता है। यदि कामपूर्ति के लिये भजन होगा तो फिर काम के लिये भजन में कामशेषता हो जायेगी, कामशेषता भक्तिमार्ग में युक्त नहीं है।

भगवान् ने गोपियां बुलाई हैं, इसलिये भगवान् का समागम होता है, भगवान् में कामार्थ की शंका भी नहीं है, यदि ये गोपियां केवल वेणुनाद श्रवण करके आई होतीं, और भगवान् के लिये नहीं आई होतीं तो शब्द से भगवान् ने जिस समय घर जाने की आज्ञा दी उसी समय गोपियां लौटकर घर चली जातीं, किन्तु प्रसङ्ग से आगे ज्ञात होता है कि गोपियां भगवान् का शब्दिक निवारण नहीं मानकर अपने घर नहीं गईं, इससे ज्ञात होता है कि इन गोपियों का आगमन शब्दोपाधि रहित था।

आगे भगवान् जिस रासलीला को करेंगे, वह केवल सर्वभावप्रपत्तिसाध्य है, अर्थात् जो सर्वात्मभावपूर्वक भगवान् की शरण में जाता है, वही रासलीला में अधिकारी होता है, इस लिये सर्वभावप्रपत्ति में जितना अंश न्यून-कम था, उसको दूर कर सर्वात्मभाव की पूर्ति करने के लिये भगवान् ने सगुण गोपियों को लौटकर घर जाने के लिये वचन से प्रयत्न किया है। इसी बात को शुकदेवजी कहते हैं कि 'ताः दुहन्त्यः १०।२६।५' उक्त श्लोकों में कही गयी गोपियां जिस समय भगवान् के समीप आई उस समय भगवान् ने देखकर जाना कि ये गोपियां अपने-अपने स्वार्थ के लिये आई हैं, इस प्रकार भगवान् सर्वज्ञ सर्वसमर्थ भी निश्चय करके, इनको तो अपने पति आदि का भी भय नहीं है, और ये गोपियां भी व्रज में रहने वाली स्त्रियां हैं।

नगर की रहने वाली स्त्रियों का कदाचित् भीतर-बाहिर का भाव और हो सकता है, किन्तु व्रजस्त्रियां होने से इनमें कापट्य नहीं है, भीतर-बाहिर एक सा भाव है, और व्रज के सम्बन्ध में भीतर धर्म का आवरण नहीं है, इसलिये इनका सर्वांश से आगमन है, किसी भी अंश से हृदय का भाव अन्यत्र स्थापन करके नहीं आई हैं, इसलिये निरावरण है, और स्वकीय भगवदीय हैं।

इन गोपियों को घर लौटकर भेजने के लिये जितनी सामर्थ्य उपयुक्त होनी चाहिये थी, उतनी यहां पूर्ण भगवान् ने प्रकट की है, इसी बात का ज्ञापन करने के लिये 'भगवान्' आदि प्रभु के विशेषण कहे हैं, इससे स्वामिनीभाव महाबलवान् है, यह ध्वनित होता है, और भक्तिमार्ग का उत्कर्ष ही सिद्ध होता है। कारण कि भाव भगवद्रूप है, अतः पर्यवसान में भक्तिमार्ग का उत्कर्ष ही सिद्ध होता है, इस प्रकार हृदय आचार्य चरणों का है।

इस प्रकार इन गोपियों को सर्वयुक्तियुक्त देखकर आप बोले, अर्थात् अन्य शेषता से भजन करना योग्य नहीं है, यह भक्तिमार्गीय धर्म का प्रबोध-ज्ञान करने के लिये वक्ष्यमाण घर जाने के लिये निवारक वाक्य गोपियों से कहने लगे।

यदि कहो कि गोपियों को तो प्रथम ही पति पुत्रादिकों ने रोकी थीं, किन्तु रुकी नहीं। और भगवान् के पास आ गई हैं, तो फिर भगवान् के उपदेश से घर लौटकर कैसे जायेंगी, अतः भगवान् का वाणीद्वारा प्रयास करना व्यर्थ ही है ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'वदतां श्रेष्ठः' भगवान् बोलने वालों के मध्य में भी श्रेष्ठ हैं, इसलिये भगवान् के वाक्य हृदयगामी हैं।

जहाँ तक वचन से घर लौटकर चली जायें, वहाँ तक कृति-क्रिया नहीं करनी चाहिये, इसलिये भगवान् ने वचन से निषेध किया है।

भगवान् में गोपियों को घर लौटाने की अलौकिक सामर्थ्य भी है, इसको शुकदेव जी कहते हैं कि 'वाचः पेशीविमोहयन्' भगवान् सुन्दर वाणी वाले शब्दों से गोपियों को विशेष मोहित करते हुये बोले, विमोहन शब्द में विशेष मोहन कहा है, यदि विशेष मोह यहां नहीं कहते तो प्रथम मोहिताः' श्लो० आठ में कह आये हैं, फिर यहां कहने से पुनरुक्ति हो जाती। अतः पहिले से भी विशेष-अधिक मोह कराया है, इस प्रकार अर्थ है।

पहिले मोह भगवद्विषयक था, यहां पर मोह भगवद्विषयक अधिक कहा है गृहादिविषयक मोह को विशेष नहीं कहा है। अतः स्थूणा-खनन न्याय से भगवद्विषयक मोह को दृढ करते हैं कि (अथवा) गोपियों को अधिक दृढ करने के लिये ही तथा रसपोषण करने के लिये एवं सम्यक् प्रकार से मोहन करने के लिये भगवान् ने निषेध वाक्य कहे हैं।

यदि कहो कि भगवद्विषयक मोह जब हो गया था, तब विशेष मोहन करना असम्भव है। अर्थात् सम्भव नहीं होता है ?

इसका उत्तर यह है कि यदि भगवान् गोपियों को विशेष मोह नहीं करते तो गोपियां घर लौट जातीं।

यदि कहो कि गोपियों में सर्वत्याग और सर्वात्मभाव आदि धर्म स्थित हैं इन धर्मों के परामर्श से स्वतः ही भगवद्विषयक मोह इनमें दृढ है, तो फिर 'भगवान्' और 'वदतां श्रेष्ठः' ये दोनों विशेषण कहने का प्रयोजन दीखता नहीं है, इसलिये पूर्वोक्त विशेष मोह करना सिद्ध नहीं होता है ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि-आपका कहना ठीक है, यद्यपि आगे प्रभु जो वाक्य कहेंगे, उनका तात्पर्य गोपियों के घर लौटकर जाने में नहीं है, तथापि भगवान् का स्वरूप रस-रूप है, इसलिये भावात्मक है, अतः रसविरोधी वचन भगवान् के कहे युक्त नहीं हैं।

इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् के उपदेश-वाक्यों का तात्पर्य ऊपर के अर्थ से घर लौटकर जाने में है, किन्तु भीतर तात्पर्य से रासस्थली में रहने में है, घर भेजने में नहीं ॥ १७ ॥

(सुबो०) भगवद्वाक्यान्याह 'स्वागतमि'त्यादि दशभिः। दशविधानां निवारकाणि।

अब सगुण निगुण भेद से दश प्रकार की गोपियों के प्रति 'स्वागतं' इत्यादि दश श्लोकों में भगवान् के निवारक वाक्य शुकदेव जी कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।

व्रजस्यानामयं कश्चित् ब्रूतागमनकारणम् ॥ १८ ॥

पदपदार्थ—(हे महाभागाः) हे महाभागशालिनियो (वः) तुम्हारा सबका (स्वागतं) सुन्दर प्रकार से आगमन हुआ है, (वः) तुम्हारा, सबका (कि) क्या (प्रियं) प्रिय (करवाणि) मैं करूँ (व्रजस्य) व्रज का (अनामयं) आमय-रोग, उपद्रव नहीं, वह अनामय अर्थात् कुशल है (कश्चित्) प्रश्न में पूछता हूँ ! (आगमनकारणं) अपने आने के कारण को (ब्रूत) कहो ॥ १८ ॥

भाषार्थ—श्री भगवान् बोले कि हे महाभागशालिनियो आप भले पधारे, मैं तुम्हारा प्रिय क्या करूँ व्रज की तो कुशल है न ! अपने आने का कारण कहो ? ॥ १८ ॥

(सुबो०) तमोरजःसत्त्वभेदाः स्वान्तर्पर्यवसानतः ।

निरूप्यन्ते स्त्रियस्तासु वाक्यान्यपि यथायथम् ॥ १ ॥

प्रथमतस्तामसात्त्विकयो निवार्यन्ते, ततस्तामसराजस्यः, ततस्तामसतामस्यः, एवमग्रेऽपि विभाज्याः । प्रथमं समागतानां लौकिकन्यायेनाह 'स्वागतमिति' । कुशलप्रश्नोऽयम् । वो युष्माकमागमनं स्वागतं किमिति । स्तुतिमाह 'महाभागा' इति । भवतीनां महद्भाग्यम्, अतः स्वागमनमेव, तथापि पृच्छ्यत इति लोकोक्तिः । वस्तुतस्तु निष्प्रत्यूहं भगवत्सामीप्यमागता इति । समागतानामुपचारमाह 'प्रियं किं करवाणि व' इति किञ्चित्प्रार्थयितुमागता इति लक्ष्यन्ते, तथा सति तद्वक्तव्यम् । अर्थात् एतासां नाहं स्वभावतः प्रियः, किन्तु कामतः प्रिय इति ज्ञापितम् । तत्प्रयोजनं त्रिविधं भवति । इष्टरूपमनिष्टनिवृत्तरूपं देशकालव्यवहितं कामितं च । तत्रापि त्रैविध्यमस्तीति वाक्यत्रयं वा । यद्भवत्यो धावन्त्यः समागताः, तत्र किं व्रजे कश्चन उपद्रवो जातः, यद्ज्ञापयितुं तेषां समागमनम्, पूर्वपूर्वानङ्गीकारे उत्तरोत्तरवाक्यम् । यदि प्रियमपि न किञ्चित्कर्तव्यम्, व्रजे च न काप्यनुपपत्तिः, तदा आगमनकारणं ब्रूत ॥ १८ ॥

गोपियों के भावानुसार सगुण-निर्गुण भेद से दश प्रकार यहां कहे हैं, वास्तव में तो सर्व गोपियों निर्गुण हैं, किन्तु भगवान् की लीलारूप से प्रसक्त नहीं होने से सगुणभावरहित भी नहीं कह सकते हैं, अर्थात् सगुणभाववाली नहीं है यह भी नहीं कह सकते हैं, सगुण भाववाली भी हैं । तो फिर भगवान् के निषेध करने का उपयोग कहा होगा ।

इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार दही-मन्थन से प्रथम क्षुब्धता होती है, पशुवात नवनीत निकलता है, उसी प्रकार प्रथम क्षोभ उत्पन्न करने वाले वाक्यों से जिस समय गोपियों का मन क्षोभयुक्त हो गया, उस समय इनके हृदय का भाव नवनीत की तरह प्रकट हो गया, इसलिये हृदय का भाव प्रकट करने के लिये भगवान् के निवारक वाक्यों का उपयोग है ।

तथा प्रभु की सेवा पूर्ण करने के लिये, और उत्कट-तीव्र भाव उद्दीपन करने के लिये रस-पोषण आदि में निषेध-वाक्यों का उपयोग है ।

गोपियों में नायिकाभेद से भावभेद जानना चाहिये, ये भावभेद कहीं एक रूप हैं, कहीं कदाचित् मिले हुए हैं, और कहीं कदाचित् पूर्वभाव, उत्तरभाव द्वारा उपमदित हैं, और कोई भाव कहीं बहुत काल तक स्थिर हैं, कोई थोड़े काल तक हैं, कोई शीघ्र होने वाले हैं, इस प्रकार

का रूप सत्त्वादि भावों का है, इसका दृष्टान्त से बोध कराने के लिये उतने ही श्लोकों से गोपियों के प्रति भगवान् निवारक वाक्य कहते हैं, इसी आशय से कारिका में श्रीमहाप्रभु जी कहते हैं कि 'तमोरजःसत्त्वभेदाः' ।

भावानुसार स्त्रियों के तम, रज और सत्त्वभेद निरूपण कहते हैं, वाक्य भी स्त्रियों के भावानुसार ही हैं ।

यहां पर उपचार, सारूप्यनिबन्धना गौणीवृत्ति से है, जैसे भगवान् 'अप्राणो ह्यमनाः' इस श्रुति के अनुसार प्राणादिरहित भी 'आनीतवानं स्वधया तदेकं' 'प्राणस्त्रेव प्राणो भवति' 'वद-स्वागिति' प्राणवाले बोलने वाले श्रुति में कहे गये हैं, उसी प्रकार 'रसो वै सः' इस श्रुति में रस रूप कहे हैं, और मानसीन-मन में रहने वाले भावों का उक्त प्रकार से विभाग करके वहां-वहां अपना रूप अपने दासों में प्रकट करते हैं, यह भाव है ।

उक्त प्रकार से यद्यपि श्रुति प्रक्रिया से सर्व सिद्धे हैं, तथापि श्रीमद्भागवत पुराण की ही प्रक्रिया श्रेष्ठ है, इसी आशय से कहते हैं कि वास्तव में तो सत्त्वादिगुण लीलामध्यपाती हैं, अतः प्राकृत सत्त्वादिगुणों से भिन्न अप्राकृत सत्त्वादिगुण गोपियों में हैं, कारण कि जन्मप्रकरण में 'तमद्भुत' इस श्लोक में 'आत्मा कार्यं भूतानि' इस कारिका में भगवदात्मकगुण कहे हैं, वे ही गुणभेद स्मृति से प्राप्त नायिका का सदंश, अथवा अभेदश्रुतिप्रतिपन्न सदंश, चिदंश और आनन्दंश गोपियों में हैं ।

भगवान् प्रथम तामस सात्त्विकी गोपियों से निवारक वाक्य कहते हैं, फिर अनन्तर तामसी राजसी, फिर तामस तामसी गोपियों से निवारण वाक्य कहते हैं, इस प्रकार आगे के श्लोकों में भी गोपियों का भावभेद करना चाहिये ।

भगवान् प्रथम आये हुए गोपियों के प्रति लौकिकन्याय से कहते हैं कि (स्वागतं) भले पधारे । इस प्रकार कुशल-प्रश्न पूछते हैं, तुम सबका आगमन तो शोभन प्रकार से हुआ है, किन्तु आप सबके यहां आनेका प्रयोजन कहा है, उसको कहो ।

भगवान् गोपियों की प्रशंसा करते हैं कि 'हे महाभागा' तुम सबका बड़ा भाग है, इसलिये आगमन तो अच्छा ही है, तो भी लोक में इस प्रकार की रीति है, कि जो पास में आता है उससे कुशल-प्रश्न पूछा जाता है, अतः मैंने भी पूछा है, वास्तव में तो गोपियों का सत्कार करते भगवान् कहते हैं कि (प्रियं किं करवाणि वः) मैं तुम्हारा प्रिय क्या करूँ । मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आप सब कुछ प्रार्थना करने आई हों, यदि कुछ प्रार्थना करने ही आई हों तो अपना इष्ट कार्य कहना चाहिये ।

इसका आशय यह है कि गोपियों को मैं स्वभाव से प्रिय नहीं हूँ, किन्तु किसी काम, प्रयोजन के लिये प्रिय हूँ, यह बात भगवान् ने गोपियों का सत्कार करके सूचित की है, प्रियकार्य अनेक प्रकार के होते हैं, उनके मध्य में क्या करूँ इस प्रकार प्रश्न भगवान् करते हैं ।

अब प्रियकार्य के अनेक प्रकार पूछते हैं—
प्रयोजन तीन प्रकार का होता है, (१) इष्टप्राप्तिरूप, (२) अनिष्टनिवृत्तिरूप तथा (३) देशकाल से व्यवहित, कामित, कामित में इष्ट से देशादिव्यवहित होना ही विशेष है ।

इस श्लोक में 'स्वागतं वः' 'करवाणि वः' इस प्रकार दो बार 'वः' आया है, एक ही से अर्थ चरितार्थ हो जाता, फिर दो बार कहने का आशय यह है कि दूसरा 'वः' भिन्न विषय का बोध करता है, इसी आशय से पक्षान्तर कहते हैं कि 'तत्रापि' ।

उसमें भी त्रैविध्य है, अर्थात् इस श्लोक में प्रथम तामस सात्त्विकी गोपियों कहीं हैं, उनमें भी तीन प्रकार का भेद इस प्रकार है (१) तम थोड़ा सत्त्व अधिक (२) सत्त्व थोड़ा तम अधिक (३) तम और सत्त्व बराबर है।

इस प्रकार तीन प्रयोजन अथवा स्वामिनियों में सत्त्वादि तीन भेद के कारण इस श्लोक के तीन चरणों में एक एक भाव बोध करनेवाले तीन वाक्य हैं।

भगवान् ने कहा कि आप सब दोड़ती हुई आई हो, इससे मालूम होता है कि क्या घर में आप सबके पिता आदि को किसी प्रकार का उपद्रव तो नहीं हो गया, जिसके कहने के लिये तुम सब मेरे पास आई हो, इस प्रकार समीप में आई व्रजसुन्दरियों से भगवान् ने कहा है।

यदि व्रज में उपद्रव होता तो सूचित करने के लिये तुम्हारे पिता आदि पुरुषों का भी आगमन होता, किन्तु पुरुष नहीं आये, और आप सब आई हैं, इससे प्रतीत होता है कि व्रज में कोई महान् उपद्रव हो गया है। उस उपद्रव को कहना चाहिये, यह भाव है।

यहां प्रथम प्रथम वाक्यों का स्वीकार नहीं करने से उत्तरोत्तर वाक्यों का विकल्प भगवान् ने किया है।

यदि तुम्हारा कुछ प्रिय भी मुझको नहीं करना है, और व्रज में भी किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है, तो फिर आप अपने आने का कारण कहिये ॥ १८ ॥

(सुबो०) तत्राप्यनुत्तरे स्वयमेव पक्षान्तरं कल्पयति । यथा भवन्तः समागताः, तथा वयमपीत्याशङ्क्याह—‘रजनी’ति ।

इस प्रकार प्रथम तामस सात्त्विकी गोपियों से प्रथम श्लोक में कहकर भगवान् ने अपने पास आने का कारण पूछा, किन्तु गोपियों ने जब कुछ उत्तर नहीं दिया तब भगवान् स्वयं ही अन्य पक्ष कल्पना करके गोपियों की तरफ से कहते हैं कि यदि आप कहो कि जिस प्रकार आप वन में पधारे उसी प्रकार हम सब भी आये हैं। तब इसका उत्तर भगवान् आगे श्लोक में कहते हैं—

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता ।

प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥ १९ ॥

पदपदार्थ—(एषा) यह (रजनी) रात्रि (घोररूपा) भयजनक (घोरसत्त्वनिषेविता) भयानक जीवों से सेवित है, अतः (हैं मध्यमाः) हे युवावस्थावालियों (इह) वन में (स्त्रीभिः) स्त्रियों करके (न) नहीं (स्थेयं) ठहरना चाहिये (व्रजं) व्रज की (प्रतियात) लौट कर चली जाओ ॥ १९ ॥

भाषार्थ—हे मध्यमाओ यह रात्रि भयानक है, और घोर भयानक जीवों से सेवित है, अर्थात् भयानक जीव इस रात्रि में भ्रमण कर रहे हैं, इसलिये स्त्रियों को यहां ठहरना नहीं चाहिये, आप सब व्रज में लौटकर पधारो ॥ १९ ॥

(सुबो०) एषा रजनी, न तु दिनम् । दिवस एव ह्यरण्ये कार्यार्थं गम्यते, अयं तु चन्द्रः, न तु सूर्य इति भावः । नन्वस्तु रजनी, तथापि प्रकाशस्य विद्यमानत्वात् आगन्तव्यमेवेति चेत्, तत्राह—घोररूपेति । प्रकाशयुक्ताप्येषा वस्तुतो घोररूपा भयजनिका । प्रकाशयुक्तायामपि रात्रौ गच्छन् पुरुषो विभेतीति ।

किञ्च घोरसत्त्वनिषेविता । घोरारण्येव सत्त्वानि रात्रि निषेवन्ते, न त्वघोराणि । अतो रात्रौ अघोरो निर्गतो घोरैरुपहन्यते । अतः स्वभावधर्मसंसर्गिणां स्वरूपं ज्ञात्वा व्रजं प्रतियात । नन्वेवं सति तवैव स्थाने स्थास्यामः, परिचितो भवानिति चेत्, तत्राह—नेह स्थेयं स्त्रीभिरिति । वयं हि पुरुषाः, रात्रिश्चेयम् । अतोऽत्र स्त्रीभिर्न स्थातव्यम् । तथा सत्युभयोरपि विक्रिया स्यात् । किञ्च, भवत्यो यदि वृद्धा बाला वा भवेयुः, तदा स्थीयेतापि । भवत्यस्तु सुमध्यमाः रसात्मिकाः । अतो देहाध्यासे विद्यमाने सर्वथैव गन्तव्यम् । स्थितिपक्षे नञ्-प्रश्लेषो घोरपदयोर्ज्ञेयः, न प्रतियातेति च ॥ १९ ॥

अब तामस राजसी गोपियों से भगवान् कहते हैं कि, यह रात्रि है, दिन नहीं है । यहां आशय यह है कि ये रात्रियां अलौकिकी हैं, इसलिये इन रात्रियों का दिन में भी सत्त्व है, इसलिये हेमन्त ऋतु में प्रातःकाल ‘मयेमा रंस्यथ क्षपाः’ इन रात्रियों का दर्शन कराया था, किन्तु वह साधन प्रकरण था, इसलिये भगवान् ने दिन में दर्शन कराया था, अतः रमण नहीं किया, कारण कि लौकिक रात्रियों में अलौकिक रात्रियों का आरोप होने पर रमण होता है ।

अतः यहां लौकिक रात्रियों में अलौकिक रात्रियों का सत्त्व होने पर रमण होगा, इसलिये आप सबको यहां ही रहना चाहिये । घर नहीं जाना चाहिये, यह भगवान् का आशय स्थिति पक्ष में है, वास्तव में भगवान् ने यहां स्थितिपक्ष का ही पोषण किया है । इसलिये भगवान् ने कहा है कि गोपियों यह रजनी हैं, दिन नहीं है, अर्थात् यहां इस अधिकरणरूप लौकिकीरात्रि में अलौकिकीरात्रि का आरोप है । इसी से ‘घोरसत्त्वनिषेविता’ यह विशेषण दिया है ।

वस्त्रहरण प्रसङ्ग में तो अधिकरणभूत दिन था, इसलिये अलौकिक रात्रि के विद्यमान होने पर भी नहीं हुआ, किन्तु इस समय तो रात्रि में ही अलौकिक रात्रियां विद्यमान हैं, अतः रमण होगा, यह भगवान् के कहने का आशय है ।

यदि गोपियां कहें कि किसी कार्य के लिये हम सब वन में आई हैं । तो इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि दिन में ही लोग वन में कार्य करने के लिये जाते हैं, रात्रि में नहीं जाते हैं ।

यदि कहो कि रात्रि तो प्रत्यक्ष दीख रही है, फिर भगवान् ने ‘यह रात्रि’ है क्यों कहा । इसमें हेतु बतलाते हैं कि ‘अयं तु चन्द्रः’ ‘न तु सूर्यः’ भगवान् कहते हैं कि आप सब को ताप हुआ होगा जिससे तुम सब सूर्य जानकर चली आई हो, किन्तु यह देखो चन्द्र है सूर्य नहीं है ।

इस प्रकार भगवान् के कहने से गोपियों को जो ताप हो रहा है, उसका ज्ञान भगवान् को है, इस प्रकार सूचित किया है । अर्थात् तुम में मत्सम्बन्धी आति द्वारा ताप है वह सूर्य की तरह प्रतीत हो रहा है, उसकी मुझे खबर है । अतः भगवान् ने चन्द्रमा कह कर तापनिवृत्ति करने का भी गूढ़ रीति से गोपियों को बोध कराया है ।

यदि गोपियां कहें कि रात्रि भले ही हो, प्रकाश तो चन्द्र का विद्यमान है, फिर यहां रहने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है ।

तब इसका उत्तर भगवान् कहते हैं कि ‘घोररूपा’ यह रात्रि प्रकाशयुक्त होने पर भी वास्तव में घोररूपा है, अर्थात् भय उत्पन्न करने वाली है, कारण कि प्रकाश युक्त भी रात्रि में जाता हुआ पुरुष वन में डरता है । इस रात्रि में घोर जीव रहते हैं, सात्त्विक जीव नहीं रहते हैं । इसी

लिये भयंकर रात्रि में यदि अघोर-सात्त्विक जीव बाहर निकलते हैं तो घोर जीव सात्त्विक जीवों को मार डालते हैं। इसलिये स्वभाव से भय उत्पन्न करना रात्रि का धर्म है, इसमें रहनेवाले घोर प्राणी हैं, अतः उक्त तीनों का स्वरूप विचार करके आप सब लौट कर ब्रज में पधारो।

यदि कहो कि हमको इस प्रकार की रात्रि मान्य नहीं थी, तो यहां नहीं आती। अब यहां आ गई हैं और आप हमारे परिचित-पहचान के हो, इसलिये आपके स्थान में ही निवास कर लेंगे। तब इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि 'नेह स्थेयं स्त्रीभिः' मैं पुरुष हूं और रात्रि का समय है, इसलिये स्त्रियों को यहां नहीं रहना चाहिये, कारण कि एकान्त में स्त्री और पुरुष के रहने पर मन में विकार उत्पन्न हो जाता है। और आप सब यदि वृद्ध होते अथवा बालक होते तो कदाचित् हमारे स्थान में रह भी जाते, किन्तु आप सब तो 'सुमध्यामाः' सुमध्यमा-रसात्मिका हो इसलिये जहां तक देहाध्यास विद्यमान है, वहां तक आप सबको सर्वथा ही ब्रज लौटकर जाना चाहिये ॥ १९ ॥

यहां तक अर्थ ब्रज लौटकर जाने कहा, अब भगवान् का मुख्य आशय तो गोपियों को बन्धन से छोड़ने का है, इसलिये उक्त श्लोक का अर्थ स्थिति पक्ष में संक्षेप से कहते हैं, 'एषा रजनी' यह रात्रि है, इसलिये रमण के उपयोगी है, 'न तु दिनम्' दिन नहीं है, दिन होता तो रमणोपयोगी नहीं होता, और यह रात्रि 'अघोररूपा' भयजनक नहीं है, चन्द्रमा का सुन्दर प्रकाश हो रहा है, तथा 'अघोरसत्त्वनिषेविता' इस प्रकार के जीव इस रात्रि में नहीं हैं कि किसी को भय उत्पन्न करे और मार डालें, किन्तु परस्पर भी वैररहित सात्त्विकी हैं।

अतः 'ब्रजं प्रति न प्रतियात' ब्रज को मत जाओ। 'हे सुमध्यामाः' आप सब यदि वृद्धी अथवा बालक होती तो लौटकर ब्रज भले ही चली जाती किन्तु तुम तो सभी सुमध्यमा-युवती रसात्मिका हो, अतः इस प्रकार की 'स्त्रीभिः' स्त्रियों करके 'इह' यहां हमारे स्थान पर रहना चाहिये। इस प्रकार अर्थ स्थितिपक्ष में जानना चाहिये। इसी प्रकार अन्य आगे के श्लोकों में भी दो पक्ष हैं, इस प्रकार तामसराजसी गोपियों के प्रति भगवान् की उक्ति है ॥ १९ ॥

(सुबो०) अथ वयमभिसारिका एव त्वामुद्दिश्य समागताः, किमिति प्रेष्यन्ति इत्याशङ्क्याह—'मातर' इति।

यदि गोपियां कहें कि हम अभिसारिका ही हैं, आपके लिये ही यहां आई हैं, अतः ब्रज में जाने के लिये हमसे क्यों कहते हो। इसके उत्तर भगवान् कहते हैं—

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।

विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृद्वं बन्धुसाध्वसम् ॥२०॥

पदपदार्थ—(वः) तुम्हारे सबके (मातरः) माताएं (पितरः) पिताएं (पुत्राः) लड़काएं (भ्रातरः) भ्राताएं (च) और (पतयः) पतिएं (अपश्यन्तः) नहीं देखते (हि) निश्चय गोकुल से निकलकर (विचिन्वन्ति) खोज कर रहे हैं। (बन्धुसाध्वसम्) बन्धुओं को भय (मा) मत (कृद्वं) करो ॥ २० ॥

भाषार्थ—तुम्हारे माता पिता पुत्र भाई और पति तुम को घर में नहीं देखते खोजकर रहे हैं, इसलिये बन्धुओं को भय-त्रास मत करो लौट कर चली जाओ ॥ २० ॥

(सुबो०) भवतीनां मातरो नियामिकाः, तास्तु नागताः, अतो भवतीनां मन्वेष्टमपि करिष्यन्ति। अतस्तासां साध्वसं भयं मा कृद्वम्, मा कुर्वन्ति। न च वक्तव्यं ता अपि तथा स्त्रीत्वाद्वा नागमिष्यन्तीति, तत्राह—'पितरः'

इति। तेषां कुले कलङ्कशङ्कया ते समागमिष्यन्त्येव। तर्हि तैः सह गन्तव्यमिति चेत्, तत्राह विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्त इति। गोकुलान्निर्गतानां कृष्णस्थानागमने मध्ये बहवो मार्गाः स्फुटिताः सन्ति, तत्र भगवन्माया तिष्ठति, यथा न कोऽपि भगवत्समीपं गच्छति, अतो मार्गान्तरेणैव गताः अपश्यन्तः सन्तः विचिन्वन्त्येव। अनेन स्थितौ शङ्काभावोप्युक्तः। बन्धुभ्यः साध्वसमिति च। तस्मात् सर्वा नागता इति नागन्तव्यम्। कुले च कलङ्को भविष्यतीति च। न च तेऽपि स्त्रीस्वभावं जानन्तीति नागमिष्यन्तीति चेत्, भगवदर्थं वा समागता इति, तत्राह पुत्रा इति। पुत्राणां सर्वथा रक्षकत्वं महती लज्जेति तेषु दयया भयाभावार्थं गन्तव्यम्। ननु ते बालका इति चेत्, तत्राह भ्रातर इति। ते हि समर्था अन्वेषणे लज्जावन्तश्च, अतो लज्जया अदृष्ट्वा कदाचित् शरीरमपि त्यजेयुः। अतो भ्रातृस्नेहाद् गन्तव्यम्। ननु ते अपकीर्तिभयादन्वेषणे न गमिष्यन्ति, तरुणास्ते, तरुण्यो वयमिति चेत्, तत्राह वः पतय इति। तेषां भोगापेक्षायुक्ति, तेषामेव चायं रसः, अतः परस्वं नान्यस्मै देयम्। भोगस्य ततोऽपि सिद्धिः। सर्व एवापश्यन्तः गृहे अदृष्ट्वा अवश्यं विचिन्वन्ति। ततो बहुकालमदृष्ट्वा नाशशङ्कया च भयं प्राप्स्यन्ति। न च वक्तव्यं किमस्माकं तैः, तत्राह बन्धुसाध्वसमिति। ते हि बान्धवाः, तैः सहैव स्थातव्यम्। अतो बलवद्वाधकस्य विद्यमानत्वात् व्याघुट्य गन्तव्यमिति ॥ २० ॥

गोपियों से भगवान् कहते हैं कि तुम्हारी माताएं नियामक हैं, अर्थात् तुम्हारी माताएं तुम्हारी देख-भाल करनेवाली हैं, वे यहां तुम्हारे साथ नहीं आईं, इसलिये तुमको नहीं देखकर खोज करने भी जहां-तहां जायेंगे। अतः उनको भय मत करो। घर लौटकर चली जाओ।

यदि गोपियां कहें कि हमारी माताएं भी जिस प्रकार हम सब मुरली-नाद से मोहित होकर आपके पास आई हैं, उसी प्रकार मोहित वे भी हो गई हैं, और कदाचित् खोज करते-करते यहां पर आ जायेंगी तो भी कुछ बाधा नहीं है, अथवा हमारी माताएं भी हमारी तरह स्त्रियां हैं, अतः रात्रि के समय वन में नहीं आ सकेंगी, इसलिये कोई प्रतिबन्ध नहीं करेंगी।

तब इसका उत्तर देते भगवान् कहते हैं कि (पितरः) माताएं प्रतिबन्ध नहीं करेंगी तो तुम्हारे पिता तो प्रतिबन्ध करेंगे ही, कारण कि कुल में कलङ्क लग जायेगा, इस शंका से पिता तो खोज करने अवश्य ही आयेंगे।

इसका उत्तर देते गोपियां कहती हैं कि यदि पिता यहां आयेंगे तो फिर हम सब पिताओं के साथ ब्रज चली जायेंगी।

तब इसका उत्तर देते भगवान् कहते हैं कि (विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तः) तुमको देखे बिना तुम्हारे पिता खोज ही करेंगे, कारण कि गोकुल से वृन्दावन जाने के लिये बीच में बहुत से मार्ग फूटे हैं, और वृन्दावन के मार्ग में भगवान् की योगमाया बैठी हुई है, इसलिये कोई भी प्राणी भगवान् के पास नहीं जा सकता है, अतः तुम्हारे पिता अन्य मार्ग से जायेंगे, और तुमको न देखकर खोजते ही फिरेंगे। उनका तुम्हारा मिलाप नहीं होगा, अतः तुमने जो कहा कि हम

पिताम्रों के साथ चली जायेंगी कैसे संभव हो सकता है, इसलिये उनको भय होगा ही, तुम उनको भय मत करो, लौट कर घर चली जाओ।

(अब वास्तविक स्थिति पक्ष में योगमाया के कारण कोई भी भगवान् के पास में नहीं पहुँच सकता है, इस प्रकार कहने से भगवान् ने यह सूचना कर दी कि यहां रहने से अन्य पिता आदि के आने की शंका भी मत करो, यहां पर कोई भी नहीं आ सकता है।)

भगवान् गोपियों से कहते हैं कि जिस प्रकार यहां बहुत सी गोपियां नहीं आई हैं उसी प्रकार तुमको भी नहीं आना चाहिये था, यह कह कर भगवान् ने यह सूचना किया है कि 'काञ्चि-त्कृष्णान्ति कं ययुः' ७।२६, इस श्लोक में कहीं शब्द परागोपियों का भाव जिस प्रकार दृढ़ नहीं था उसी प्रकार तुम्हारा भी भाव दृढ़ नहीं है।

यदि गोपियां यह कहें कि हमारे पिता भी स्त्रियों का स्वभाव जानते हैं, इसलिए यहां नहीं आयेंगे अथवा हमारी लड़कियां भगवान् के पास गई हैं, इस बात को जानकर नहीं खोजेंगे।

तब इसका उत्तर देते भगवान् कहते हैं कि (पुत्राः) इस प्रकार की बात को सुनकर पुत्रों को बड़ी लज्जा आती है, इसलिये पुत्र अपनी-अपनी माताओं की सर्वथा रक्षा करते हैं, अतः पुत्रों के ऊपर दया करके, जिससे पुत्रों को भय नहीं हो, आप सबको व्रज में लौटकर जाना चाहिये।

यदि गोपियां कहें कि पुत्र तो हमारे बालक हैं, फिर खोज करने कैसे आयेंगे ? तब इसका उत्तर देते भगवान् कहते हैं कि (भ्रातरः) तुम्हारे भ्राता तो समर्थ हैं, अर्थात् खोज करने योग्य हैं, तथा लज्जा वाले हैं, तुमको बिना देखे ही लज्जा से कदाचित् शरीर भी त्याग कर दें, इसलिये भाइयों के स्नेह से तुमको लौटकर जाना चाहिये।

कदाचित् गोपियां कहें कि हमारे भ्राता लोक में अपकीर्ति होगी, इस भय से खोजने नहीं आयेंगे, कारण कि हमारे भाई तरुण हैं, और हम सब तरुणी स्त्रियां हैं, इस लोक में बुराई होगी लोग निन्दा करेंगे, इस भय से यहां नहीं आयेंगे।

इसका उत्तर देते भगवान् कहते हैं कि (वः पतयः) तुम्हारे पति तो अवश्य ही खोज करेंगे, तुम्हारे पतियों को तुम्हारे साथ भोग करने की अपेक्षा भी है, कारण कि संयोग रस का अधिकार तुम्हारे पतियों को ही है, अतः दूसरे का धन दूसरे को देना नहीं चाहिये, अर्थात् तुम नहीं अपने-अपने पतियों के धन हो, इसलिये पतियों का धन हम सरीखे अन्य पुरुषों को देना चाहिये। यदि तुम्हारी भोग करने की इच्छा हो तो गोकुल में अपने-अपने पतियों से ही पूरी करो वहीं होगी।

इस प्रकार माता, पिता, पुत्र आदि सब लोग तुमको घर में नहीं देखकर अवश्य खोज करेंगे, फिर बहुत काल तक ढूँढ़ने पर भी जब तुम नहीं मिलोगी तब या तो मर गई या कोई अपहरण भगाकर ले गया, इस प्रकार जानकर भयभीत होंगे, और रुदन करेंगे।

यदि गोपियां कहें कि हमारा अब पति-पुत्र आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है, भले ही उनका भय हो।

तब इसका उत्तर देते भगवान् कहते हैं कि यह आपका कहना उचित नहीं है (वन्धुसम्बन्धसम्) तुम्हारे माता पिता आदि बान्धव हैं, इसलिये तुमको माता पिता आदि के साथ ही रहना चाहिये, वन में रहने में पूर्व में कहे बलवान् बाधक विद्यमान है अतः आप सबको व्रज में जाना चाहिये, इस प्रकार तामस तामसी गोपियों से भगवान् ने कहा है ॥ २० ॥

(सुबो०) एवमुक्ते परितो विलोकयन्तीराह दृष्टं वनमिति ।

भगवान् ने जब इस प्रकार लौट कर घर जाने के लिये कहा, तब गोपियां चारों ओर वन को देखने लग गईं, उस समय भगवान् बोले ।

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम् ।

यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवमण्डितम् ॥ २१ ॥

पदपदार्थ—(यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवमण्डितम्) श्रीयमुना जी के जल सम्बन्धी पवन की जो लीला धीरे-धीरे चलना, उस चलने से हिल रहे वृक्षों के पत्तों से शोभित (राकेशकररञ्जितम्) पूर्णिमा का ईश जो पूर्णचन्द्र, उसकी किरणों से रंगा हुआ (कुसुमितं) पुष्पित—पुष्प जिसमें खिले हुए (वनं) इस प्रकार के वन को (दृष्टं) देख लिया ॥ २१ ॥

भापार्थ—श्रीयमुना जी के जल सम्बन्धी पवन की लीला से हिल रहे वृक्षों के पत्तों से शोभित तथा पूर्ण चन्द्र की किरणों से रंगा हुआ, पुष्प जिसमें खिले हुए इस प्रकार का वन तुम गोपियों ने देख लिया, अब पधारो ॥ २१ ॥

(सुबो०) एषा हि राजसराजसी, अग्रिमा राजसतामसी । यदि वन-दर्शनार्थमागतम्, तदा दृष्टमेव वनम्, अतः प्रतियातेति । अर्थात् सर्वदा दृष्टमेवैतद्वनम्, नात्र भयमिति ज्ञापितम् । गृहे च न गन्तव्यमिति । यदि गृहगमनापेक्षा, तदैव गन्तव्यमिति वचनात् । तच्च वनं कुसुमितमिति वर्णयति, यथा तासामन्या सक्तिर्भवति । इदानीं पुष्पाण्येव जातानि, न फलानीति वा । कुसुमिते वने रतिः कर्तव्येति भावः । सर्वत्र मोहः प्रेषणं चानुस्यूतम् । किञ्च, राकेशस्य चन्द्रमसः करैः रञ्जितम् । उद्दीपका एते । वनं तामसम्, पुष्पाणि राजसानि, चन्द्रकिरणाः सात्त्विका इति । अयं राकेश इति पूर्णचन्द्रः । अतः पूर्णत्वे स्थातव्यम् । पर्वादि-बुद्धौ तु गन्तव्यमिति । वायुमपि तत्रत्यं वर्णयति यमुनेति । यमुनासम्बन्धिनानिलेन लीलया ये एजन्तः कम्पमानास्तरुपल्लवास्तैर्मण्डितमिति । जलसम्बन्धात् लीलया चलनात् तरुणां सुगन्धानां सम्बन्धात् त्रिगुणो वायुरुक्तः । वर्णनायां रसोद्बोधके चोपयुज्यते ॥ २१ ॥

ऊपर के इस २१ वें श्लोक में कही गई गोपियां राजस राजसी हैं, इसलिये वन देखने की इच्छा होना युक्त ही है, इससे आगे २२ वें श्लोक में राजस तामसी हैं । और पीछे के श्लोक में राजस सात्त्विकी हैं ।

भगवान् गोपियों से कहते हैं कि यदि तुम्हारा आगमन वन देखने के लिये हुआ है तो वन देख लिया, अब अपने-अपने घर पधारो । स्थित पक्ष में कहते हैं कि यह वन सर्वदा ही देखा है, इस वन में किसी प्रकार का रात्रि में भी भय नहीं है, अतः घर लौटकर नहीं जाना चाहिये । वन में ही रहो । इस प्रकार भगवान् ने कहा है । कारण कि यह वन पुष्प युक्त है, भगवान् इस प्रकार वन का वर्णन करते हैं, जिस प्रकार गोपियों की भगवान् में आसक्ति हो ।

अथवा दूसरा अर्थ भगवान् कहते हैं कि गोपियो ! अभी तो पुष्प ही उत्पन्न हुये हैं, फल नहीं लगे, अर्थात् उद्दीपन सामग्री हुई है, मेरा दर्शन हुआ है । रमण के पूर्व जितनी सामग्री की अपेक्षा

थी, उतनी सर्वसिद्ध हो चुकी है, फल तो जब रमण होगा तब प्राप्त होगा, इसलिये रमणरूप फल प्राप्ति के लिये यहीं रहना चाहिये, पुष्पित वन होने पर ही रमण करना चाहिये, यह गूढ भाव है। यहां सर्वत्र भगवान् के भीतर का भाव गोपियों को मोह करा के वन स्थिति में ही है, और ऊपर से घर भेजने का है।

भगवान् कहते हैं कि गोपियो देखो, यह वन कैसा पूर्णचन्द्र की किरणों से रञ्जित-रंगा हुआ है, चन्द्रकिरण उद्दीपक हैं, और वन तामस है।

यहां राजस राजसी गोपियों में अवान्तर भेद सूचन किया है, इसीलिये चतुर्थ पाद में यमुना जी के सम्बन्ध से गुणातीतत्व भी है।

यद्यपि 'वनं तु सात्त्विको वासः' इस प्रकार एकादश स्कन्ध में भगवान् ने वन में सात्त्विकवास कहा है, तथापि सात्त्विकवास की मर्यादा में विषय सम्बन्ध का अभाव होना मुख्य है, कारण कि वनवास वैराग्यपोषक है किन्तु यहां पुष्टिलीला में तो रमण स्थान होने के कारण मोह करनेवाला है, इसलिये तामस है। इसी से अग्रिमाध्याय में जहां पर रति स्थान नहीं है, वहां पर ब्रजभक्त प्रविष्ट नहीं हुए।

'वृन्दावनं गुणातीतं मुनयश्चापि पक्षिणः' इस वेणुगीत की सुबोधिनी में वृन्दावन को गुणातीत कहा है, किन्तु इस समय केवल भोगोपयोगी होने के कारण तामसत्व ही है, और जो भक्त कृतार्थ होने के लिये प्रयत्नशील हैं, उनके प्रति गुणातीत है, कारण कि इस प्रकार के उन भक्तों को एक भगवत्परता साधक है और जो भक्त कृतार्थ हुए लीला सृष्टिवाले भगवान् के साथ रमण करने की इच्छा करनेवाले हैं उन भक्तों के प्रति रमणेच्छाभाव उत्पन्न करता है, अतः तामसत्व है, इस प्रकार वन के दोनों ही रूप हैं, इसलिये वन को तामसत्व कहा है।

पुष्प राजस हैं, चन्द्र किरणें सात्त्विक हैं।

भगवान् कहते हैं कि गोपियो ! यह देखो राकेष-पूर्ण चन्द्रमा है, इसलिये यहां सर्वभाव पूर्ण होगा, यहां ही रहना चाहिये और यदि तुम्हारी पर्वदि बुद्धि हो, तो लौट कर घर जाना चाहिये। अर्थात् पूर्णिमा पर्वदिन है, इस प्रकार बुद्धि हो तो घर जाओ।

यदि कहो कि मर्यादामार्ग में कहा है कि 'नामावास्यायां च पूर्णिमास्यां च स्त्रियमुपेयात्' 'यदुपेयान्निरिन्द्रियः स्यात्'।

अमावास्या और पूर्णिमा में पुरुष को स्त्री के पास नहीं जाना चाहिये, और यदि पुरुष उक्त तिथियों में स्त्री के साथ समागम करे तो इन्द्रियरहित हो जाये, यह श्रुति वाक्य है, और पर्वणिमावाश्रयतस्तत्र' पर्वदिन से प्रथम चार तिथियों में भी पुरुष स्त्री से समागम नहीं करे, यह स्मृति वाक्य है, इन वाक्यों में पुरुषाधिकार से ही प्रवृत्ति दीखती है, इसलिये पुरुष को ही दोष है स्त्री को नहीं है, फिर भगवान् ने 'पर्वदिबुद्धौ' 'पर्वदिबुद्धि हो तो घर जाओ' इस प्रकार गोपियों से क्यों कहा।

इस शंका का उत्तर इस प्रकार है कि यद्यपि शास्त्र प्रवृत्ति पुरुषाधिकार से ही है, तथापि ज्योतिष्ठोम आदि का फल जिस प्रकार स्त्री पुरुष दोनों को होता है, कारण कि दोनों साथ ही कर्म करते हैं, 'सहोभौ च चरतां धर्मम्' स्त्री पुरुष दोनों ही साथ धर्माचरण करें, इस प्रकार स्मृति भी कहती है तथा प्रायश्चित्तादि प्रतिपादक स्मृतियों के अनुरोध से निषिद्ध फल भी स्त्री पुरुष दोनों को ही समान होता है, इसलिये भगवान् ने गोपियों से कहा है कि तुम्हारी पर्वदि में बुद्धि हो तो घर लौट कर जाना चाहिये।

अब भगवान् वृन्दावन की वायु का वर्णन करते हैं। 'यमुनानिललीला' इत्यादि यमुना जल सम्बन्धी पवन के धीरे-धीरे चलने से हिल रहे वृक्षों के पत्तों से वन शोभित हो रहा है, अर्थात् वन की वायु यमुना जल के सम्बन्ध से शीतल, धीरे-धीरे गति से मन्द और सुगन्धयुक्त वृक्षों के सम्बन्ध से सुगन्धित, इस प्रकार तीन गुणवाली वायु कही है, इस प्रकार त्रिगुणवायु का वर्णन करने में और रस उद्बोधन करनेवाली गन्ध के लाने में वायु का उपयोग है, अथवा प्रमादिकों में रस उद्बोधन करने में वायु का उपयोग है, कारण कि श्रम आदि को वायु निवारण करती है।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार गुणयुक्त वन तुमने देख लिया, अब तुम अपने-अपने घर पधारो। स्थितिपक्ष में श्रीवृन्दावन इस प्रकार रमणोपयोगी रसोद्बोधक सर्वसामग्री युक्त है, अतः यहां रहोगी तो सर्व रस प्राप्त होगा, इस प्रकार भाव सूचन किया है ॥ २१ ॥

(सुबो०) एवं वनं वर्णयित्वा अन्यासक्तिमुत्पाद्य ततो गन्तव्यमित्याह तद्यातेति ।

इस प्रकार वन वर्णन से भगवान् अपने में अधिक आसक्ति उत्पन्न करके आगे के श्लोक में कहते हैं कि आप सब घर पधारो।

तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः ।

क्रदन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत ॥ २२ ॥

पदपदार्थ—(हे सतीः) हे पतिव्रताओ ! (यस्माद् वनं दृष्टं) जिससे तुमने वन देख लिया (तत् तस्मात्) इस कारण से (गोष्ठं) ब्रज को (यात) पधारो (चिरं) विलम्ब देर (मा) मत करो (पतीन्) अपने-अपने पतियों की (शुश्रूषध्वं) सेवा करो (वत्साः) गायों के बच्चे (च) और (बालाः) तुम्हारे बच्चे (क्रदन्ति) दूध पीने के लिये रुदन करते चिल्ला रहे हैं (तान्) उन बच्चों को (पाययत) पिवाओ (दुह्यत) गायों को दुहो ॥ २२ ॥

भाषार्थ—हे पतिव्रता स्त्रियो ! तुम जल्दी ब्रज को पधारो, और वहां जाकर अपने अपने पतियों की सेवा करो, तुम्हारे बालक और गायों के बालक दूध पीने के लिये रुदन करते चिल्ला रहे हैं, उनको स्तन-पान कराओ, गायों को दुहो ॥ २२ ॥

(सुबो०) तत्तस्माद्वनं दृष्टमिति कार्यस्य सिद्धत्वाद्यात एतादृशं वनमिति मा यातेत्यपि ध्वनिः। चिरं मा विलम्बो न कर्तव्यः, चिरं मा यातेति च। न हि कश्चिद्भगवन्तं विहाय गोष्ठं गच्छति। किञ्च, गोष्ठं यात। तत्र गवां शुश्रूषणमपि भवति। किञ्च, तत्र गतानां धर्मः सिध्यतीत्याह शुश्रूषध्वमिति। पतिसेवा स्त्रीणां धर्मः तत्रापि भवत्यः सतीः सत्यः। पतिविशेषणं वा। पूर्वजन्मनि ताः पतिव्रताः स्त्रियः स्थिताः पुरुषभावनया पुरुषा जाताः, भवन्तश्च पुरुषाः विपरीता जाता इति, अग्रेऽपि वैपरीत्यं भवीष्यतीति विचार्य गन्तव्यमिति भावः। धर्मस्तत्र, रसस्त्वन्नेवेति। पतीनीति बहुवचनात् धर्माभावश्च। या भवतीनां मध्ये पतिव्रताः ता वा गच्छन्तिवति। सर्वासामेवातथात्वेन गन्तव्यमेवेति न हि पति-

व्रताः समायान्ति, लौकिकधर्मपरायणाः । अतो भगवद्वाक्यं रसालत्वात् तद-
भावमेव सूचयति । किञ्च, वत्सास्तथैव वद्धाः, बालाश्च क्षुधिताः, ते क्रन्दति । अत-
स्तेषां रोदननिवृत्त्यर्थं तान् पाययत स्तनम्, दुह्यत च गाः । परार्थं च भवतीनां
जीवनम्, न स्वार्थम् । अतो दुःखितानां स्थानो सुखाकाङ्क्षिभिनं गन्तव्यमिति ॥ २२ ॥

भगवान् कहते हैं कि तुम वन देखने के लिये आई हो, वन देख लिया, तुम्हारा कार्य
सिद्ध हो गया, अब व्रज पधारो ।

स्थिति पक्ष में—इस प्रकार का सर्वगुणसम्पन्न वन देख लिया, अतः (मायात) मत जाओ।
यह ध्वनि है (चिरं मा) विलम्ब मत करो शीघ्र जाओ । स्थिति पक्ष में (चिरं मायात) बहुत
काल तक व्रज मत जाओ, यह भाव है ।

वास्तव में तो भगवान्-पदंश्चर्यवान् को छोड़कर कोई भी गोष्ठ में नहीं जाता है ।

भगवान् कहते हैं कि गोपियो ! आप सब व्रज में पधारो, वहाँ गायों की सेवा भी होती है
और व्रज में जानेवालों को धर्म भी सिद्ध होता है, इस बात को भगवान् कहते हैं कि (सुश्रूषणं) यह
पति सेवा करना स्त्रियों का धर्म है, उसमें भी आप सब सतियां हैं, पतिव्रता हैं, अथवा 'सती' यह
विशेषण 'पतीन्' इसका है, 'सतीन् पतीन्' इस प्रकार अन्वय करने से पतियों का उपहास करने
वाला वचन भगवान् ने कहा है, कारण कि लोक व्यवस्था इस प्रकार की है, उसको कहते हैं
'पूर्वजन्मनि' पहिले जन्म में तुम्हारे पति पतिव्रता स्त्री थे, पुरुष भावना करने से पुरुष हुए हैं, और
तुम सब पुरुष स्त्री हो गये हो ।

प्रकाशकार कहते हैं कि (भवन्तश्च पुरुषाः) इस सुबोधिनी में इस प्रकार प्रतिमान
होता है कि जिन गोपियों से भगवान् ने उक्त वाक्य कहा है वे गोपियां श्रुतिरूपाओं से भिन्न हैं ।
इस प्रकार जो स्त्री थीं वे पुरुष और जो पुरुष थे वे स्त्री हुईं, आगे भी तुम्हारे सब के घर न जाने
पर स्त्री भावना से तुम्हारे पति स्त्री हो जायेंगे, इस प्रकार तुम्हारे नहीं जाने से विपरीतता होगी
अतः इस बात का विचार करके आप सबको घर ही जाना चाहिये, यह भाव है ।

व्रज में जाने पर पति आदि की सेवारूप धर्म है और रस तो यहाँ ही है । अर्थात् पत्यादि सेवा
धर्म की इच्छा हो तो व्रज में जाइये, और रसप्राप्ति की इच्छा हो तो यहाँ ही रहो मत जाओ ।

'पतीन्' श्लोक में बहुवचन कहा है, इससे यह भी सूचित होता है कि अपने एक पति की
ही सेवा करने से धर्म सिद्ध होता है, बहुत से पतियों की सेवा करने से धर्म सिद्ध नहीं होता है
अतः वहाँ जाने में धर्म भी सिद्ध नहीं होता है, अतः जो तुम सब में एक अपने ही पति की सेवा
करनेवाली पतिव्रता स्त्रियां हों वे जाएं । और जो कदाचित् सब में कोई भी पतिव्रता नहीं हो
तो नहीं जाना चाहिये, कारण कि लौकिक धर्मपरायणपतिव्रता स्त्रियां अपने पतियों का त्याग
कर इस प्रकार वन में नहीं आती हैं । फिर जो पतियों का त्याग कर तुम सब आई हो,
इससे ज्ञात होता है कि तुम सब में पतिव्रता लौकिक धर्मवाली कोई भी नहीं हैं, भगवान्
वाक्य रसाल-रस से भरे हैं अतः गोपियों की आसक्ति अपने लौकिक पतियों में नहीं है, इस
बात को सूचन करते हैं ।

भगवान् कहते हैं कि गोपियो ! तुम्हारे घरों में गायें बिना दुही, और बछरा बिना दूध पिये
ही बँधे हैं, और तुम्हारे बालक भी भूखे हैं और रुदन कर रहे हैं, इसलिये उनका रोना निवृत्त
करने के लिये स्तनपान कराओ, और गायों को दुहो । तुम्हारा जीवन परार्थ है, स्वार्थ के

नहीं है, इसलिये सुख की इच्छा करनेवालों को दुःखियों के स्थान में नहीं जाना चाहिये । इस
प्रकार भगवान् ने राजस तामसी गोपियों से कहा है ॥ २२ ॥

(सुबो०) एवमुक्ते याः स्निग्धदृष्टयो जाताः, ताः प्रत्याह अथवेति ।

इस प्रकार भगवान् के कहने पर जो गोपियां राजस सात्विक भाववाली थीं उनकी स्निग्ध
दृष्टि देखकर भगवान् उनके प्रति बोले ।

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः ।

आगता ह्युपपन्नं तत् प्रीयन्ते मम जन्तवः ॥ २३ ॥

पदपदार्थ—(अथवा) पक्षान्तर भगवान् कहते हैं (मत्-मयि) मुझ में (अभिस्नेहात्)
सर्वभाव से स्नेह होने से (यन्त्रिताशयाः) वश में हुआ-लग गया अन्तःकरण जिनका इस
प्रकार की (भवत्यः) आप सब (आगताः) यहाँ आई हो (तत्) वह आपका आगमन
(उपपन्नं) युक्त है (हि) कारण कि (मम) मेरे सम्बन्धी (जन्तवः) सर्व प्राणी (प्रीयन्ते)
स्वयं ही मुझमें प्रेम करते हैं ॥ २३ ॥

भाषार्थ—भगवान् पक्षान्तर कहते हैं कि तुम्हारा सब काम मुझ में अत्यन्त स्नेह होने से
अन्तःकरण मेरे अधीन होकर मुझ में लग गया है, इसीसे तुम सब मेरे समीप आई हो, यह बात
योग्य ही है, कारण कि मेरे सम्बन्धी सर्व प्राणी मुझमें प्रेम करते हैं ॥ २३ ॥

(सुबो०) मया वृथैवैते पक्षाः कल्पिताः, वस्तु तस्तु मां द्रष्टुमेवागताः ।
स्नेहात् सिद्धान्तोऽयं पूर्वपक्षार्थमनुद्यते । निरुक्तो भावो गुणात्मको दोषा-
त्मको वा न फलं प्रयच्छति, लौकिको भवति, अतः अनुद्यते । मयि योऽयमभितः
स्नेहः सर्वभावेन तेन कृत्वा यन्त्रितः आशयो यासाम्, तादृश्यश्चेद्भवत्यः
इहागताः, तदुपपन्नमेव । तर्हि को विलम्ब इति चेत्, तत्राह प्रीयन्ते मम जन्तव
इति । मम सम्बन्धिनः सर्वे एव जन्तवः स्वयमेव प्रीता भवन्ति । न तु मया कि-
ञ्चित् कर्तव्यम् । स्नेह एव मयि, न तु कृतिरिति । ततः साधारणमिममर्थं ज्ञात्वा
प्रतियात । स्थितिपक्षे तु स्पष्ट एवार्थः । तद्यातमेति फलिष्यति । न हि स्नेहादा-
गतः प्रेर्यमाणोऽपि गच्छति । यन्त्रितो वशीकृतः । अन्तःकरणे अन्याधीने जाते न
किञ्चिदवशिष्यते । निष्कपटा च प्रीतिः कर्तव्येत्युभयत्र भावः ॥ २३ ॥

भगवान् कहते हैं कि मैं ने पहिले वृथा ही इतने पक्षों की कल्पना की, वास्तव में तो तुम
सब मेरा दर्शन करने के लिये आई हो । यद्यपि स्नेह से भगवान् का दर्शन करने जाना मुख्य सिद्धान्त
पक्ष है, तथापि इस सिद्धान्त को पूर्व पक्ष करने के लिये यहाँ अनुवाद किया है ।

सभी भाव मुख से कहा फल साधक नहीं होता है, कारण कि लौकिक भाव लोक में प्रकट
होता है, इसी बात को साधारण रीति से कहते हैं कि 'निरुक्तो भावो गुणात्मको दोषात्मको वा
न फलं प्रयच्छति' गुणरूप तथा दोषरूप भाव का वर्णन करे तो उसका फल मिलता नहीं है । दान
आदिरूप धर्म यदि मुख से कहा जाता है तो फल दान नहीं देता है, इसी बात को भगवान् ने उद्धव
जी से कहा है, 'कृतस्यापरिकीर्तनम्' किये हुए को कहे नहीं । और 'धर्मः क्षरति कीर्तनात्' धर्म
कीर्तन करने से नष्ट हो जाता है । अर्थात् उसका फलदान करना नष्ट हो जाता है ।

इसी तरह बुरे कर्म भी करके सबके सामने कह दे तो क्षीण हो जाते हैं, इस बात का विचार करके कि कहीं हमारे कहने से भगवान् के दर्शन का फल क्षीण-नष्ट हो न जाये, इस कारण से आप सब कहती नहीं हो।

यदि रस शब्द से कह दिया जाता है तो फिर रसत्व की हानि हो जाती है, इसलिये सभी भाव कहने से लौकिक हो जाता है, और फिर लौकिक हो जाने से फलसाधक नहीं होता है। अतः भगवान् ने जिस प्रकार गृह गमन की आज्ञा करके घर नहीं जाना दृढ़ किया है, उसी तरह स्थूणा खनन न्याय से दृढ़ करने के लिये लौकिकत्व का अनुवाद संपादन करते हैं।

पूर्वपक्ष में यह भाव स्वयं फल है, अतः फल इष्ट नहीं है, इसलिये गुणात्मक तथा दोषात्मक भाव कहने से फल नहीं साधन करता है, लौकिक हो जाता है। अतः तुम्हारे स्नेहपूर्वक आगमन को पूर्व पक्ष करने के लिये यहां अनुवाद किया है।

यदि कहो कि सिद्धान्त तो दूषणरहित है, फिर पूर्व पक्ष के लिये अनुवाद क्यों किया है। इसके उत्तर में 'निरुक्तोभावः' इत्यादि कहा है।

स्नेह से सर्वत्यागपूर्वक आगमन रूप जो भाव है, वह गुणरूप तथा दोषरूप भी हो सकता है। अर्थात् जिस समय भगवान् पडैश्वर्यवान् हैं, हमारे काम-इच्छा की पूर्ति करेंगे, इस प्रकार भाव भक्त का होता है, उस समय भाव गुणरूप होता है, और जिस समय भगवान् जार हैं, हमारी इच्छा पूरी करेंगे, इस प्रकार भक्त का भाव होता है, उस समय भाव दोषरूप होता है, कारण कि लौकिक हो जाता है।

ये दोनों प्रकार के भाव भगवदात्मक फल नहीं देते हैं, इन दोनों प्रकार के भावों को लक्ष्य में रखकर स्नेहपूर्वक सर्वत्यागपूर्वक भगवान् के पास में आगमन को पूर्व पक्ष करने के लिये अनुवाद किया है।

'निरुक्तोभावः' इस पंक्ति पर स्वतन्त्र लेख है, उसको कहते हैं, यहां भगवान् ने सर्वात्म-भाव को फलरूप बतलाया है।

यदि सर्वात्मभावको फलान्तर साधक मानेंगे तो साधन होने से फलरूप नहीं होगा, भगवान् फलरूप हैं, अलौकिक भाव यदि गुणात्मक, दोषात्मक हो जायेगा तो भगवद्रूपता नहीं होगी। यदि इस बात को नहीं मानते हैं तो जिस प्रकार लौकिक स्त्रियों का अपने पति आदि में भाव होता है, उसी प्रकार लौकिक की तरह भगवान् में भावना करने से पहिले कहे दोनों प्रकार के गुणरूप तथा दोषरूप भावों को लौकिकत्व ही है जिस प्रकार अन्तर्गृह्यता गोपियों को था। यह भाव सर्वात्मभाव से लभ्य भावात्मक फल साधन नहीं करता है। इसलिये भगवान् ने कहा है कि अभिमतस्नेह-सर्वात्मभाव भगवद्विषयकस्नेह, वह पुष्टिमार्ग के विचार से गुण रूप है, कारण कि स्वरूप मात्र साधक है। और मर्यादा मार्ग के विचार से दोषरूप है, कारण कि विहित धर्म से विरुद्ध है।

भगवान् कहते हैं गोपियो ! जिस भक्त में जिस प्रकार का भाव होता है, उस भाव के अनुसार उस भक्त को फल भी मिलता है। मुझसे फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए, जिसका अलौकिक भाव हो, लौकिक भाव नहीं हो उसको स्नेह ही निरन्तर करना चाहिये। स्नेह तो घर में रहकर भी हो सकता है, इसलिये तुमको घर जाना चाहिये, इस प्रकार गमन पक्ष में तात्पर्य है। स्नेह का स्वरूप तुमने जाना नहीं है, यदि स्नेह का स्वरूप जानती तो फिर फल मिलने की इच्छा नहीं करती, इसलिये मैंने सिद्धान्तरूप भगवद्भाव, और उसका स्वरूप बतलाने के लिये पूर्व पक्ष से अनुवाद किया है।

स्थिति पक्ष में तो सर्वात्मभाव के वश में होकर तुम सब आई हो, इसलिये तुम्हारा आगमन युक्त ही है, अयुक्त नहीं है, यदि तुम सर्वात्मभाव के वश में आई नहीं होती तो अन्तर्गृह्यता गोपियों की तरह प्रतिबन्ध हो जाता, अतः जो प्रतिबन्ध निवृत्त हो गया, उसको फिर घर जाकर नहीं लगाना चाहिये, यहां पर ही रहना चाहिये, यह भाव है।

गोपियो ! मेरे संबंधी-जिनका मुझसे सम्बन्ध हो गया है, वे सर्व प्राणी मुझमें प्रेम करते हैं, कारण कि मैं परमानंदरूप हूँ और अन्य पतिपुत्र आदि दुःख देनेवाले हूँ।

पतिपुत्रादि सम्बन्धी प्राणी मुझमें प्रेम नहीं करते हैं, तुम्हारी प्रीति करने की इच्छा हो तो यहां ही रहो। इस प्रकार स्थिति पक्ष में भगवान् का तात्पर्य स्वतन्त्र लेख में कहा।

यदि कहो कि इस प्रकार स्नेह भाव से आपका आगमन युक्त है तो 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिये विलम्ब क्यों करती हो।

तब इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि (प्रीयन्ते ममजन्तवः) मत्सम्बन्धी सर्व ही प्राणी स्वयं ही प्रीति युक्त होते हैं, उनके लिये मुझे कुछ करना नहीं पड़ता है तो फिर उक्त आपकी प्रतिज्ञा सिद्ध कैसे होगी।

इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि (स्नेह एव मयि न तु कृतिः) भगवान् कहते हैं कि मैं भाव स्वरूप हूँ, अतः मुझमें स्नेह ही हो सकता है कृति नहीं हो सकती है। अर्थात् जो मुझको निरूपधि-उपाधिरहित स्नेह से भजते हैं, उनमें भी निरूपधि प्रेम-स्नेह करता हूँ। अतः इनमें से ही मेरी प्रतिज्ञासिद्धि होती है, मुझ द्वारा कृति करना तो अशक्य ही है, कारण कि नमन आदि क्रिया जीवधर्म हैं, भगवान् का धर्म नहीं है। इसलिये यह नियम सर्वत्र सर्व साधारण भक्तों में है, केवल तुममें ही नहीं है। इस अर्थ—नियम को जानकर घर पधारो।

स्थिति पक्ष में तो अर्थ स्पष्ट ही है (तद्यात मां) मत जाओ, इस प्रकार अन्वय होगा। जो कोई स्नेह से आया हो, और उसको प्रेरणा भी की जाये, फिर भी वह लौटकर घर नहीं जाता है, कारण कि (यन्त्रितः) वश में हो गया है जब अन्तःकरण अन्याधीन हो जाता है, फिर कुछ शेष नहीं रहता है। अर्थात् गोपियों के अन्तःकरण भगवान् के अधीन हो गये हैं, अन्तःकरण के अधीन इन्द्रियादि सर्व हैं, इस प्रकार सर्व भगवान् के अधीन हो गया है शेष अंश कुछ भी नहीं रहा है।

अब भगवान् फलित अर्थ उपदेश के लिये कहते हैं कि निष्कपट प्रीति करनी चाहिये, यह दोनों पक्ष में है, यहां रहने में, और घर जाने में यह भाव है, अथवा परस्पर प्रीति करनेवाले दोनों को कपटरहित प्रीति करनी चाहिये, यह भाव है ॥ २३ ॥

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया ।

तद्वन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥ २४ ॥

पदपदार्थ—(हे कल्याण्यः) हे कल्याणियो ! (अमायया) निष्कपट-कपटरहित हो करके (भर्तुः) पति का (शुश्रूषणं) सेवा करना (च) और (तद्) पति के सम्बन्धी (बन्धूनां) पिता आदि का अर्थात् स्त्री के समुद्र आदि का (च) और (प्रजानां) पुत्र आदि का (अनुपोषणम्) अन्नादि के दान से तथा दूध पिलाने से पोषण करना (स्त्रीणां) स्त्रियों का। (परः) परम-उत्कृष्ट-मुख्य (धर्मः) धर्म है ॥ २४ ॥

भाषार्थ—हे कल्याणियो ! निष्कपटता से पतिसेवा करना, तथा पति के सम्बन्धियों का, तथा प्रजाओं का अनुपोषण करना स्त्रियों का श्रेष्ठ उत्तम धर्म है ॥ २४ ॥

(सुबो०) एवं राजसीः निरूप्य सात्त्विकीनिरूपयति । सत्त्वयुक्ताः निरूप्यन्ते । ततो रजोयुक्ताः । स्त्रीणां मुख्यो धर्मः भर्तृशुश्रूषणमित्याह भर्तुरिति । स्वभावतो जीवानां भगवानेव भर्ता, तत्रापि स्त्रीणां स्त्रीशरीरं प्राप्तानां व्यभिचाराभावाय भगवानेव सेव्यः लौकिके तु परिग्रहात् भर्तृत्वेनाभिमतः सेव्यः । स एव परो धर्मः । तत्राप्यमायया । कापट्ये तु न सेवायां फलम् । अन्ये सर्वे धर्मा अवराः । तद्वन्धूनां श्वशुरादीनाम् । कल्याण्य इति सम्बोधनात् भवतीनां सर्वेऽपि सन्तीति ज्ञापितम् । प्रजानां च पुत्रादीनामनुपोषणं अन्नादिदानेन स्तनादिदानेन च । पित्रादिभिः पोष्यमाणानां स्वतोऽपि पोषणं वा ॥ २४ ॥

इस प्रकार राजसी गोपियों का निरूपण करके अब आगे तीन श्लोकों में सात्त्विकी गोपियों का निरूपण करते हैं, प्रथम आगे के श्लोक में सात्त्विकी-सात्त्विक भाव वाली सात्त्विक सात्त्विकी गोपियों से भगवान् कहते हैं । इसके अनन्तर सात्त्विक राजसी और अन्त में सात्त्विक तामसी गोपियों से कहेंगे ।

स्त्रियों का मुख्य धर्म पति की सेवा करना है, श्लोक में (स्त्रीणां) इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग है, और 'भर्तुः' यह एकवचन है, अतः सर्वस्त्रियों के एक पति की सेवा का विधान यहां किया है, सर्व के एक पति भगवान् ही हैं, अतः भगवान् का भजन-सेवा ही यहां विहित की है । इस आशय से स्थिति पक्ष में भगवान् कहते हैं, 'भर्तुः' इत्यादि से । स्वभाव से सर्व जीवों का पति भगवान् ही हैं । यहां 'बन्धु' तथा 'प्रजा' शब्द से सखी और भाव परम्परा कही है, सर्वजीवों में भी जो स्त्रियां हैं, अर्थात् जिनको स्त्री शरीर प्राप्त हुआ है, उनको व्यभिचार दोष दूर करने के लिये भगवान् ही सेवा करने योग्य हैं, अतः भगवान् की ही सेवा करनी चाहिये ।

लौकिक में तो जिनके साथ विवाह हुआ है, और पति भाव से अभिमान है उसकी सेवा करनी चाहिये, ये ही स्त्रियों का मुख्य धर्म है ।

सेवा निष्कपट-कपट रहित करनी चाहिये, कपट से सेवा करने में फल नहीं मिलता है, पति-सेवा से अन्य सर्वधर्म अवरोधित हैं । नीचे हैं ।

'तद्वन्धूनां' और पति के सगे-सम्बन्धी जो ससुर आदि हैं उनकी भी सेवा करनी चाहिये । (हे कल्याणियो !) इस सम्बोधन से यह सूचन किया है कि तुम्हारे सभी ससुर आदि सम्बन्धी विद्यमान हैं, और तुमको पुत्रादि का अनुपोषण अन्न आदि देकर तथा स्तन-पान कराकर करना चाहिये, यद्यपि पिता आदि पुत्रादिकों का पोषण करते हैं, तथापि माताओं को भी करना चाहिये ॥ २४ ॥

(सुबो०) तथापि स पतिः समीचीनो न भवतीति चेत्, तत्राह दुःशील इति । यद्यपि आपने पति आदि की सेवा करना स्त्रियों का मुख्य धर्म कहा है, वह ठीक ही है, तथापि हमारे पति अच्छे स्वभाववाले नहीं हैं, इस प्रकार गोपियां कहें तो इसके उत्तर में भगवान् सात्त्विक राजसी गोपियों से कहते हैं ।

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ।

पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेऽपि भिरपातकी ॥ २५ ॥

पदपदार्थ—(दुःशीलः) दुष्ट स्वभाववाला (दुर्भगः) भाग्यहीन (वृद्धः) बुढ़ा (जडः) जिसको ज्ञान नहीं, मूर्ख (रोगी) रोग वाला (वा) अथवा (अधनः) निर्धन (अपि) भी (अपातकी) पातक रहित (पतिः) पति (लोकेऽपि) लोकों की इच्छा करनेवाली (स्त्रीभिः) स्त्रियों करके (न) नहीं (हातव्यः) छोड़ना चाहिये ॥ २५ ॥

भाषार्थ—अपना पति दुष्ट स्वभाववाला भाग्यहीन बुढ़ा जड़ रोगी निर्धन भी हो, किन्तु अपातकी हो तो इस लोक तथा परलोक की इच्छा करनेवाली स्त्रियों को ऐसे पति का त्याग नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

(सुबो०) दुष्टं शीलं यस्य । द्यूतादिदुर्व्यसनवान् । दुर्भगो दरिद्रः । वृद्धः इन्द्रियविकलः । जडो मूर्खः । रोगी महारोगग्रस्तः । अधनो वा । अधनोऽपि भाग्यवांश्चेत्, तदा संभावनया स्त्रीभिर्न त्यज्यते । एवं षडदोषयुक्तोऽपि स्त्रीभिरनन्यगतिकाभिः पतिर्न हातव्यः । स्पष्ट एव विरोधः । षड्गुणो भगवान्, षडदोषः स इति । पातकी तु हातव्य एव । 'भजेदपतितं पतिमिति' वाक्यात् । किञ्च, तत्रापि लोकेऽपि । येषमिह लोके परलोके च कीर्त्याद्यपेक्षा तैर्न हातव्य एव, अन्यथा अपकीर्तिर्भवेत् ॥ २५ ॥

भगवान् कहते हैं कि गोपियो ! पति दुष्टशील, जुआ आदि व्यसनयुक्त दुर्भग-दरिद्र, वृद्ध-इन्द्रियविकल, जड़-मूर्ख, रोगी-महारोगग्रस्त अथवा अधन-निर्धन-गरीब हो, किन्तु वही कभी कालान्तर में भाग्यवान् भी हो सकता है, इसी आशा से स्त्रियों को अपना पति नहीं त्यागना चाहिये ।

इस प्रकार दुःशील से लेकर अधनपर्यन्त छः दोषवाले पतियों का निरूपण किया है, इससे क्रम से यश, ऐश्वर्य, वीर्य, ज्ञान, वैराग्य और श्री, इनसे विरुद्ध धर्मवाले पतियों को कहा है । अर्थात् दुष्टशील यश से विरुद्ध है, जुआ आदि खेलनेवाले का लोक में अपयश होता है । इसी प्रकार दुर्भग ऐश्वर्य विरुद्ध है, वृद्ध-वीर्य विरुद्ध है, जड़ ज्ञान विरुद्ध है, रोगी नैरोग्य विरुद्ध है । अधन श्रीविरुद्ध है । इसी आशय से भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार छे दोषयुक्त भी अपना पति, जिन स्त्रियों को अन्य गति नहीं है, इसलिये अनन्य गतिवाली स्त्रियों को पति छोड़ना नहीं चाहिये ।

लौकिक पतियों में छे दोष हैं, और अलौकिक पति भगवान् में छे गुण हैं, इसलिये दोनों में विरोध स्पष्ट ही है, पातकी पति का तो त्याग ही करना चाहिये (भजेदपतितं पतिः) इस प्रकार भाग० ७।१।२८ में कहा है ।

स्थिति पक्ष में तो स्वतः छे दुष्ट धर्मवाला धर्मी पति दुष्ट है, यहां पातक का सम्बन्ध कहने से ज्ञात होता है कि कदाचित् उसका त्याग करने से नित्य सेवा के अयोग्य भी बतलाया है ।

उसमें भी जो लोक की इच्छा करनेवाली स्त्रियां हैं उनको तो अपने-अपने पतियों की सेवा करनी चाहिये, कारण कि जिनको इस लोक और परलोक में कीर्ति आदि की अपेक्षा रहती है, उनको अपना पति नहीं छोड़ना चाहिये । यदि वे अपने पतियों का त्याग करती हैं तो लोक में अपकीर्ति हो जायेगी । इस प्रकार भगवान् ने सात्त्विक राजसी गोपियों से कहा है ॥ २५ ॥

(सुबो०) ननु कामरसे निविष्टमनसां न धर्मो वाधकः, परस्मिन्नेव रसोत्पत्तिरिति तत्राह अस्वर्ग्यमिति ।

यदि सात्त्विक तामसी गोपियां भगवान् से कहें कि कामरस में जिनका मन लग रहा है उनको धर्म बाधक नहीं है कारण कि रस शास्त्र में कहा है कि दूसरे ही में रसोत्पत्ति होती है। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं।

अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।

जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियः ॥ २६ ॥

पदपदार्थ—(हे कुलीन स्त्रियो !) हे कुलीन स्त्रियो ! (हि) जिस कारण से (औपपत्यं) जार पति से सम्बन्ध करना—उसकी सेवा करना (अस्वर्ग्यं) स्वर्ग लोक नाश करनेवाला (अयशस्यं) अपकीर्ति करनेवाला (च) और (फल्गु) अल्प सुखवाला (कृच्छ्रं) कष्टसाध्य (भयावहम्) भय उत्पन्न करनेवाला (च) और सर्वत्र इस लोक तथा परलोक में (जुगुप्सितं) निन्दित है ॥ २६ ॥

भाषार्थ—हे अच्छे कुल वाली स्त्रियो ! उपपत्ति—जार पति की सेवा स्वर्गनाश करने वाली, लोक में अपकीर्ति करनेवाली अल्प सुखवाली कष्टसाध्य भय उत्पन्न करनेवाली और इस लोक तथा परलोक में निन्दित है ॥ २६ ॥

(सुबो०) हे कुलस्त्रियः, औपपत्यं जारसम्बन्धः तद्रसालमपि बहुदोष-ग्रस्तम् । तत्रत्यान् दोषानाह । अस्वर्ग्यं परलोकनाशकम् । पूर्वं धर्मेण सिद्धोऽपि स्वर्गः तस्मिन् अपगच्छति किञ्च, इह लोकेऽपि यशो दूरीकरोति । चकारात् नरकोऽपि । नापि तत्र रसभोगो महानित्याह फल्ग्विति । अल्पमेव तत्पुखं क्षण-मात्रसाध्यम्, स्वरूपतो महदपि कालतः परिच्छिन्नमपि । कृच्छ्रमिति । कष्ट-साध्यम्, नाल्पेन प्रयासेन सिध्यति । अतो बलवदनिष्टानुबन्धि । किञ्च, अनुभव-कालेऽपि न रसमुत्पादयति । यतो भयजनकम् । शृङ्गारविरोधी भयानकरसः । अत एव व्यभिचारशब्दवाच्यः । मुख्यतया भयानकरसमुत्पादयेत् विशेषतः प्रथमतः । किञ्च, सर्वत्रैव जुगुप्सितम् । सर्वदेशेषु सर्वकालेषु तत्कृत्वा यदि सत्क-र्मापि कुर्यात्, ततोऽपि जुगुप्सितो भवेत् । 'धर्मबुद्धिस्तत्र विचिकित्सैव भवति । अतो बहुदोषग्रस्तत्वात् उत्तमायानैतद्युक्तम् ॥ २६ ॥

हे कुलीन स्त्रियो ! जार सम्बन्ध यद्यपि रसाल है, तथापि बहुत दोषों से भरा हुआ है, अब जार सम्बन्ध के दोषों को कहते हैं, इसमें छः दोष हैं ।

(१) 'अस्वर्ग्यं' अपने पति से सम्बन्ध (सेवा करना) स्वर्गलोक की प्राप्ति करानेवाला है, और जार पति से सम्बन्ध करना परलोक का नाश करनेवाला है । पूर्व धर्म से सिद्ध भी स्वर्ग जार सम्बन्ध से नष्ट हो जाता है ।

(२) 'अयशस्यं च' इस लोक में भी जार सम्बन्ध यश नाश करता है, और अपने पति का सम्बन्ध यशकारक है । चकार का अर्थ यह है कि केवल यश का ही नाश नहीं करता है, किन्तु जार सम्बन्ध नरक को भी प्राप्त कराता है, तथा जार सम्बन्ध में रस भोग भी महान् नहीं है, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं कि (३) 'फल्गु' जार सम्बन्ध में सुख अल्प ही है ।

१. ब्रह्मचारिणः साध्वीं प्रति कामभोगबुद्धिर्जाता । तत्र भोगे साध्व्याः सुखञ्चेज्जातम् । शक्तिव्रतं गतम् नो चेत् धर्म एव स्थितः ।

कारण कि जार सम्बन्ध से सुखमात्र साध्य है, और स्वरूप से महान भी है, किन्तु काल परिच्छिन्न है । अर्थात् अमुक काल तक ही होता है ।

(४) 'कृच्छ्रं' जार सम्बन्ध कष्टसाध्य है, अर्थात् जार सम्बन्ध में स्त्री पुरुषों को बहुत परिश्रम करना पड़ता है, थोड़े परिश्रम से सिद्ध नहीं होता है और परिणाम में अनिष्ट भी हो जाता है । कभी-कभी दोनों का मरण भी हो जाता है ।

(५) 'भयावहम्' कामरस के अनुभव काल में भी रसोत्पन्न नहीं होता है, कारण कि अनुभव काल में स्त्री पुरुष दोनों को भय उत्पन्न करता है, भयानक रस शृङ्गार रस का विरोधी है, इसीलिये व्यभिचार शब्द वाच्य है, अर्थात् जारकर्म करनेवाले को व्यभिचारी कहते हैं । जारसम्बन्ध तो विशेषकर प्रथम ही से मुख्यतया भयानक रस उत्पन्न करता है ।

(६) 'जुगुप्सितं' जार कर्म सर्वत्र ही निन्दित है, मनुष्य सर्व देशों में तथा सर्व काल में जारकर्म करके यदि सत्कर्म भी करे, तो भी लोक में उसकी निन्दा ही होती है ।

कितने ही लोग कहते हैं कि एक ब्रह्मचारी की किसी सती-पतिव्रता स्त्री के साथ कामभोग भोगने की इच्छा हुई, भोग करने में यदि साध्वी स्त्री के लिये सुख हुआ तो उसका पातिव्रत धर्म गया, और यदि भोग में सुख नहीं हुआ तो उसकी धर्म में स्थिति है, इस प्रकार जारसम्बन्ध में भी धर्म है ।

किन्तु यहां पर धर्मबुद्धि संशयात्मक ही होती है, इसलिये मुख्य सिद्धान्त नहीं है । अतः जारसम्बन्ध अनेक दोषग्रस्त है, इसलिये उत्तम कुलवाली स्त्रियों को जार से सम्बन्ध करना योग्य नहीं है ।

इस प्रकार जार सम्बन्ध में दोष निरूपण करने से, तथा सहजपति भगवान् को निर्दोष निरूपण करने से स्थिति पक्ष स्पष्ट ही है ।

अथवा इस श्लोक में उत्तम कुल के सम्बन्ध से अभिमानवाली गोपियों से भगवान् ने पति आदि की सेवा करने के लिये लौटकर घर जाने के लिये कहा है । किन्तु यहां तो उत्तम कुल का अभिमान ही नहीं है, इसलिये स्थिति पक्ष स्पष्ट ही है, इस प्रकार भगवान् ने सात्त्विक तामसी गोपियों से कहा है ॥ २६ ॥

(सुबो०) एवं सगुणाः प्रबोध्य गुणातीताः प्रबोधयति श्रवणादिति ।

इस प्रकार सगुण भाववाली नौ प्रकार की गोपियों को उपदेश करके अब भगवान् गुणा-तीत गोपियों को प्रबोध करते हैं ।

श्रवणाद् दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।

न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥ २७ ॥

पदपदार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (श्रवणात्) श्रवण करने से (दर्शनात्) दर्शन करने से (ध्यानात्) ध्यान करने से (अनुकीर्तनात्) कीर्तन करने से (मयि) मुझमें (भावः) भाव होता है (तथा) उस प्रकार से (सन्निकर्षेण) समीप में रहने से (न) नहीं होता है । (ततः) इस हेतु से (गृहान्) अपने-अपने घर को (प्रतियात) लौटकर पधारो ॥ २७ ॥

भाषार्थ—भगवान् कहते हैं कि जिस प्रकार का श्रवण, दर्शन, ध्यान और कीर्तन करने से मुझमें भाव होता है, उस प्रकार का मेरे समीप रहने से नहीं होता है, अतः आप सब लौट कर अपने-अपने घर पधारो ॥ २७ ॥

(सुबो०) ननु लौकिकदृष्टावेते दोषाः, न तु भक्तिमार्गे परमार्थदृष्टौ वा, भवांस्तु पुरुषोत्तम इति चेत्, तत्राह श्रवणादिति । न हि भक्तिमार्गे सम्बन्ध एव कर्तव्य इति शास्त्रमस्ति । भक्तिर्हि नवविधा श्रवणादिरूपा । प्रेमरूपा च । स्वतन्त्रपक्षे तु सुतरामेव नापेक्षा । स्नेहस्तु भगवद्विषयकः अलौकिकः । स एव सर्वाधिको भवति । लौकिकस्तु कामशेषतां प्राप्तः हीन एव भवति । तस्यालौकिकस्य कारणानि त्रीणि । श्रवणं दर्शनं ध्यानमिति । आदौ श्रवणं, भगवद्वाचकानां पदवाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यावधारणम् । तथा सति विषयो व्यावर्तितो भवति, अन्यथा अन्यत्रापि स्नेहः स्यात् । तदनु दर्शनं, तदर्थस्यानुभवः । कृपया भगवत्साक्षात्कारो वा भगवत्कामार्थः नारदादेरिव । ततो ध्यानं, योगेन चिन्तनम् । एतैरेव मयि भावो भवति । स चोत्पन्नो भावः अनुकीर्तनात् स्थिरो भवति । यथायमुपायः शास्त्रीयः साधोयान्, न तथा निरन्तरसान्निध्येन जातो लौकिकः । स हि कामशेष इत्यवोचाम । अतो गृहान् प्रतियात । अतः परमार्थ-विचारेऽपि न स्थातव्यमिति । तथेत्यत्र प्रकार एव निषिद्धः, न स्वरूपतो महत्त्वं निषिद्धम् । गृहस्थितानां च विहितं भवतीति गृहगमनमाज्ञापितम् ॥ २७ ॥

यदि गोपियां कहती हैं कि ऊपर श्लोक में कहे गये दोष लौकिक दृष्टि से जार सम्बन्ध में हो सकते हैं, किन्तु भक्ति मार्ग में अथवा परमार्थ दृष्टि से नहीं हैं, कारण कि सर्व पुरुष जीव हैं, और आप तो पुरुषोत्तम हो ।

इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि 'श्रवणात्' श्रवण अथवा दर्शन से जैसा भाव मुझमें होता है, वैसा समीप में नहीं होता है ।

भक्तिमार्ग में भगवान् के साथ सम्बन्ध-समागम ही करना चाहिये, इस बात को शास्त्र कहता नहीं है, किन्तु भक्ति तो श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सङ्ग, और आत्मनिवेदन, इस प्रकार नौ प्रकार की है, और दशमी प्रेमरूपा है, दस प्रकार की भक्ति में सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है, सङ्ख्यादि में तथा वन्दनादि में इस प्रकार के सम्बन्ध की अपेक्षा है, अथवा श्रवण आदि शक्ति का संकोच है । किन्तु स्वतन्त्र भक्ति पक्ष में तो थोड़े भी सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है, कारण कि स्वतन्त्र भक्ति-स्नेहरूप भक्ति में फल की परिसमाप्ति है, अर्थात् स्नेहरूप भक्ति फलरूप है, साधनरूप नहीं है, इसी बात को कहते हैं कि 'स्नेहस्तु भगवद्विषयकः अलौकिकः' ।

स्नेह तो भगवद्विषयक अलौकिक है, स्वतन्त्र भक्तिमार्ग में तो भगवान् में ही स्नेह हो सकता है, इसलिये अलौकिक है ।

यही भगवद्विषयक अलौकिक स्नेह सबसे अधिक होता है, लौकिक स्नेह तो काम के अधीन होता है, इसलिये लौकिक स्नेह में सम्बन्ध की अपेक्षा रहने से हीन ही है ।

भगवद्विषयक अलौकिक स्नेह में श्रवण, दर्शन और ध्यान तीन कारण हैं, प्रथम कारण श्रवण है, इसका लक्षण इस प्रकार है कि भगवद्वाचक-भगवान् को कहनेवाले पद तथा वाक्यों की शक्ति का तात्पर्य भगवान् में है, इस प्रकार निर्णय करके सुनने का नाम श्रवण है ।

जिस समय पद वाक्यों की शक्ति का तात्पर्य भगवान् में है, इस प्रकार निश्चय हो जाता है, उस समय विषय-संसार निवृत्त हो जाता है, अर्थात् संसार की वस्तु मात्र से राग निवृत्त हो जाता है, अन्यथा-और प्रकार से संसार विषय निवृत्त विना अन्यत्र-स्त्री पुत्रादिकों में भी स्नेह हो जाये, अतः पहिला कारण स्नेह में श्रवण है ।

दूसरा कारण दर्शन है, दर्शन का लक्षण इस प्रकार है कि श्रवण किए हुए के अर्थ का अनुभव-मानसपरोक्षानुभव, अथवा निदिध्यासन का नाम दर्शन है ।

मानसपरोक्षानुभव, और निदिध्यासन को दर्शन शब्द से कहा नहीं है, इसलिये पक्षान्तर कहते हैं 'कृपया भगवत्साक्षात्कारो वा' कृपा द्वारा भगवत्साक्षात्कार को दर्शन कहते हैं, भगवद्विषयक काम उत्पन्न करने के लिए भगवद्दत्त साक्षात्कार दर्शन शब्द वाच्य है । इसी को दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जिस प्रकार भगवान् ने कृपा करके नारदजी को अपने स्वरूप का दर्शन कराया और अपने में स्नेह उत्पन्न कराया ।

'सकृद्वर्णितं रूप मे तत्कामाय तेऽनघ' इस प्रकार भागवत प्रथम स्कन्ध में कहा है । उसी प्रकार भगवद्विषयक काम-स्नेह उत्पन्न करने के लिए भगवान् कृपा करके अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं, उसको दर्शन कहते हैं ।

तीसरा कारण ध्यान है । ध्यान-योग द्वारा भगवान् का चिन्तन करने को कहते हैं । इस प्रकार उक्त तीन ही श्रवण, दर्शन, ध्यान द्वारा मुझमें भाव होता है, मेरे साथ सम्बन्ध से नहीं होता है ।

वह उत्पन्न हुआ भाव-स्नेह अनुकीर्तन से स्थिर होता है । भक्तिमार्ग में जैसा यह शास्त्रीय उपाय-साधन बतलाया है, वैसा निरन्तर भगवान् के समीप रहने से उत्पन्न लौकिक भाव-स्नेह बतलाया नहीं है ।

भगवान् कहते हैं गोपियो ! लौकिकभाव-स्नेह ठीक नहीं है, भगवान् के पास रहने से उत्पन्न लौकिक स्नेह कामोपाधि-काममूलक है । इस बात को मैं प्रथम कह चुका हूँ, अतः आप सब ही अपने-अपने घर पधारो । परमार्थ विचार से भी तुमको यहां रहना नहीं चाहिये ।

अब स्थिति पक्ष में तो मूल श्लोक में 'तथा' शब्द कहा है । तथा शब्द प्रकार वाचक है, इसलिये यहां लौकिक प्रकार ही निषिद्ध है, किन्तु स्वरूप से स्नेह का महत्त्व निषिद्ध नहीं है ।

भगवान् कहते हैं गोपियो ! जो भक्त घर में रहते हैं, वे भी पूर्वोक्त विहित श्रवणादि भक्ति कर सकते हैं, अतः भगवान् ने गोपियों को घर जाने की आज्ञा की है ।

प्रकाशकार कहते हैं कि प्रकारवाची 'तथा' शब्द इस प्रकार कहता है कि विहित प्रकार प्रकारान्तर से प्राप्त है, और सन्निकर्ष प्रकार पूर्व प्रकार से विलक्षण है, तो दोनों प्रकारों की तुलना करने पर कौन सा श्रेष्ठ है ।

इसके उत्तर में कहते हैं कि घर में रहने वाले भक्त तो विहित श्रवणादि भक्ति ही कर सकते हैं, किन्तु स्वतन्त्र भक्ति तो भगवान् के पास रहनेवाले भक्त ही कर सकते हैं । इसलिये स्वतन्त्र भक्ति का प्रकार उत्तम है ॥ २७ ॥

(सुबो०) एवं तासां गृहगमने बोधिते तत्परित्यागानन्तरं पुनर्ग्रहणं वान्ताशनमिव मन्यमानाः, भगवद्वाक्यं चानुल्लङ्घ्यमिति विचार्य, अतिविरोधे

उभयानुरोधशरीरपरित्यागः कर्तव्य इति निश्चित्य, तत्रापि भगवत्सम्बन्धा-
नन्दाभावादिति कर्तव्यता मूढा जाता इत्याह इति विप्रियमिति ।

इस प्रकार गोपियों को भगवान् ने घर जाने की आज्ञा की, उस समय गोपियां विचार करने लग गयीं कि घर का त्याग करके फिर घर का परिग्रह करना भोजन के अनन्तर वसन-उलटी करके पश्चात् उसी पदार्थ का भक्षण करने के तुल्य है ।

और भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करना भी उचित नहीं है, दोनों बात परस्पर अति विरुद्ध है, इसलिये दोनों विरुद्ध बातों का अनुरोधी अनुसरण करनेवाला शरीर है, अतः शरीर का त्याग करना ही उचित है, इस प्रकार गोपियों ने निश्चय किया किन्तु गोपियां पुनः विचार करती हैं कि शरीर त्याग करने पर भगवत्सम्बन्ध से जो आनन्द प्राप्त होता है वह नहीं होगा, अब ऐसी दशा में हमको क्या करना चाहिये, इस प्रकार गोपियां कर्तव्य में मूढ हो गईं, इसी बात को आगे श्रीशुकदेव जी कहते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।

विषण्णा भग्नसंकल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥ २८ ॥

पदपदार्थ—(गोप्यः) गोपियां (विप्रियं) विगतप्रिय-अप्रिय (गोविन्द-भाषितम्) गोविन्द के वाक्य को (आकर्ण्य) श्रवण करके (इति) भगवान् इस प्रकार घर जाने की आज्ञा देते हैं, यह निश्चय करके (विषण्णाः) खिन्न-दुःखी हुईं । (भग्नसंकल्पाः) भग्न हुए संकल्प जिनके इस प्रकार की गोपियां (दुरत्ययाम्) जिसका पार नहीं, अपार (चिन्ताम्) चिन्ता को (आपुः) प्राप्त हो गईं, अर्थात् अपार चिन्ता समुद्र में मग्न हो गईं ॥ २८ ॥

भाषार्थ—श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि गोपियां इस प्रकार का अप्रिय-कठोर गोविन्द का वाक्य श्रवण करके खिन्न हो गईं, और उनका संकल्प भग्न हो गया, उस समय अपार चिन्ता-ग्रस्त हो गईं ॥ २८ ॥

(सुबो०) विगतं प्रियं यस्मादिति, उभयथापि प्रियाभावः । किं परीक्षायां माह, आहोस्विदभिप्रेत एवायमर्थ इति । आसमन्तात् श्रुत्वा, वाक्यतात्पर्य निर्धार्य, सत्यं गमनमेव वदतीति निश्चित्य, अनभिप्रेतत्वेऽपि तत्प्रसवहेतुमलभ-मानाः, गोप्यो नैपुण्यरहिताः, गोविन्दस्य स्वामिनः देवभाषितत्वेन अनृतशङ्का-रहितमीश्वरवाक्याच्च निर्धाररहितमाकर्ण्य, विषण्णा जाताः, मनसि परमं विषादं प्राप्ताः । तत्र हेतुर्भग्नसंकल्पा इति । तदा परां चिन्तां प्रापुः कथमस्म-द्विचारितं भगवद्वाक्यं चैकमुखं भवतीति सा चिन्ता त्रैलोक्यं व्याप्य वेदं जन्मजन्मान्तराणि च निर्द्धारमलभमाना दुरत्यया पर्यवसानरहिता जाता ॥

विगत प्रिय जिससे, वहविप्रिय, गोपियां कहती हैं कि भगवान् ने इस प्रकार का भाषण किया है कि वाद तथा अर्थ दोनों प्रकार से अप्रिय है, अच्छा नहीं है । तो क्या भगवान् ने

अप्रियवाक्य हमारी परीक्षा लेने के लिये लौटकर घर जाने को कहा है, अथवा ठीक-ठीक हृदय के भाव से कहा है ।

इस प्रकार गोपियां सन्देह से पुनः भगवान् के वाक्यों का तात्पर्य निर्धार करके कहती हैं कि सत्य है, भगवान् गृहगमन की ही आज्ञा करते हैं, इस प्रकार गोपियों ने निश्चय किया ।

यदि भगवान् की इच्छा यही है कि गोपियां घर नहीं जायें, तो फिर गृहगमन की आज्ञा भगवान् क्यों कर रहे हैं, इसका कारण गोपियां जान नहीं सकीं, गोपियां भगवान् की इच्छा क्या है, इस बात को नहीं जान सकीं । कारण कि 'गोप्यः' गोपों की स्त्रियां निपुणतारहित हैं, इनमें चतुराई नहीं है, गोविन्द-अपने स्वामी का भाषण-देवभाषित होने के कारण असत्य भाषण की शङ्कारहित हैं, गोपियों को विश्वास है कि देव कभी असत्य भाषण नहीं करते हैं, और ईश्वरवाक्य का निर्धार भी नहीं हो सकता है, अतः इस प्रकार का गोविन्द भगवान् का भाषण श्रवण करके गोपियां खिन्न और दुःखी हो गईं, उनका मन परम विषादयुक्त हो गया ।

अब शुकदेव जी विषादयुक्त होने का कारण बतलाते हैं कि 'भग्नसंकल्पाः' गोपियों ने जो मन में संकल्प किया था वह भग्न हो गया, इससे दुःखी हो गईं, और पराचिन्ता को प्राप्त हो गईं, कि हमारे विचार और भगवान् के वाक्य दोनों की एकमुखता-एक तात्पर्यता किस प्रकार हो, इस प्रकार चिन्ता करने लग गयीं, गोपियों की चिन्ता तीनों लोकों में व्याप्त होकर तथा इस जन्म और जन्मान्तर में व्याप्त होकर किसी प्रकार का निर्धार निर्णय नहीं कर सकी, इसलिये 'दुरत्यया' अन्तरहित हो गईं ॥ २८ ॥

(सुबो०) ततः चिन्तया यज्जातं तदाह कृत्वेति ।

इसके अनन्तर चिन्ता से जो कुछ हुआ, उसको आगे श्लोक में कहते हैं ।

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन

शुष्यद्बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।

अस्रैरुपात्तमभिभिः कुचकुंकुमानि

तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥ २९ ॥

पदपदार्थ—(मुखानि) मुखों को (अवकृत्वा) नीचे करके (शुचः) शोकसम्बन्धी (श्वसनेन) श्वासवायु से (शुष्यद्-बिम्बाधराणि) सूख गये हैं बिम्ब फल सदृश अधर = ओष्ठ जिनके इस प्रकार की गोपियां (चरणेन) चरण से (भुवं) पृथिवी को (लिखन्त्यः) लिखतीं (उपात्तमभिभिः) कज्जल संयुक्त (अस्रैः) आंसुओं से (कुचकुंकुमानि) कुचों की केसर की (मृजन्त्यः) मार्जन करतीं (उरुदुःखभराः) बहुत दुःख के भारवाली गोपियां (तूष्णीम्) उपचाप-मौन होकर (तस्थुः स्म) खम्भ की तरह स्थित-खड़ी हो गईं ॥ २९ ॥

भाषार्थ—गोपियों ने चिन्ता से अपने मुख नीचे करके और शोक सम्बन्धी वायु से गोपियों के बिम्ब फल सदृश लाल-लाल ओष्ठ सूख गये, तथा चरण से पृथिवी को लिखने लग गईं, और कज्जल युक्त आंसुओं से कुचों पर लगी हुई केसर धुल गईं, तथा अत्यन्त दुःख के भार से मौन धारण करके खड़ी हो गईं ॥ २९ ॥

(सुबो०) चिन्तया प्रथमं मूर्च्छिता जाताः । ततः मुखान्यव अवाङ्मुखानि कृत्वा, कमपि स्वमुखं न प्रदर्शयिष्याम इति अवाङ्मुखानि कृतवत्यः । अवगताः ७ रा०

शुचः याभिस्ताः, शोकसम्बन्धिन्यो वा जाताः । शुचः श्वसनेन शोकसम्बन्धिना
श्वासवायुना शृण्वन्ति बिम्बवदधराणि येषाम् । तादृशानि मुखानि कृत्वा, चर-
णेन च भुवं लिखन्त्यः, तथैवावस्था भवतीति । भूमिविवरमिव प्रार्थयन्त्यः,
उपात्तमपिभिः अस्त्रैः कुचकुङ्कुमानि भृजन्त्यः, तूष्णीं तस्थुः । मुखस्य अवाक्-
त्वेन भक्तिरोभावः । श्वसनेन प्राणपीडा, शोकेनान्तःकरणस्य, बिम्बाधर-
शोषेण कामरसस्य, पदा भूमिलेखनेन शरीरस्य, अस्त्रैरिन्द्रियाणाम्, कुङ्कुमा-
भावेन कान्तेः, दुःखभरेण आनन्दस्य, तूष्णीं स्थित्या चैतन्यस्य तिरोभावो
निरूपितः । केवलं स्थाणुवत् स्थिताः ॥ २९ ॥

सर्वे गोपियां चिन्ता से प्रथम मूर्च्छित हो गई, जब कुछ स्वस्थ-सी हुई तब मुख नीचे कर
लिये, इस आशय से कि अब हम अपना मुख किसी को नहीं दिखायेंगी, अतः गोपियां नीचे मुख
करती हुई । और प्राप्त हुआ है शोक जिनके द्वारा, अथवा शोक सम्बन्धिनी हुई, शोक के श्वसन
से अर्थात् शोक सम्बन्धी श्वास वायु से सुख रहे हैं बिम्बफल सदृश लाल ओष्ठ जिनके इस प्रकार
की गोपियां नीचे मुख करके चरणों से भूमि को लिखने लग गई, विशेष चिन्ता में स्त्रियों की
इस प्रकार की अवस्था हो जाती है, मानो भूमि से प्रार्थना कर रही हैं कि तुम फट जाओ, और
हम सब बिल में प्रविष्ट हो जायें ।

इस प्रकार कज्जलयुक्त आंसुओं से कुचों पर लगी केसर का मार्जन करती बहुत दुःख के
भारयुक्त गोपियां मौन धारण कर-चुपचाप स्थित हो गई ।

मुख नीचा करने से गोपियों का तिरोभाव हो गया, श्वासवायु से प्राणों को पीड़ा हुई और
शोक से अन्तःकरण को पीड़ा हुई, बिम्ब सदृश अधर के शोषण से कामरस की पीड़ा और
चरण से पृथिवी लिखने से शरीर को पीड़ा हुई । आंसुओं से इन्द्रियों को पीड़ा, कुचों की केसर
धुलने से कान्ति-सौन्दर्य को पीड़ा, और दुःखभार से आनन्द को पीड़ा, तथा मौन धारण करने
की स्थिति से चैतन्य की पीड़ा का निरूपण किया है । इस प्रकार केवल स्थाणु-खम्भ की तरह
गोपियां खड़ी हो गई ॥ २९ ॥

(सुबो०) एवमपि स्थितौ तूष्णीं स्थितं भगवन्तमालक्ष्य किञ्चिद विज्ञा-
पयामासुरित्याह-प्रेष्ठमिति ।

गोपियों ने जब इस प्रकार की दशा में भी तूष्णीं-चुपचाप भगवान् को देखा, तब कुछ
विज्ञापन करती हुई, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं—

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थ-विनिवर्तित-सर्वकामाः ।

नेत्रे विमृज्य रुदितोपहृते स्म किञ्चित्
संरम्भ-गद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥ ३० ॥

पदपदार्थ—(प्रेष्ठं) अत्यन्त प्रिय (प्रियेतरमिव) प्रिय से इतर की तरह (प्रति-
भाषमाणं) हमारे प्रति कह रहा (कृष्णं) कृष्ण को, देखकर (तदर्थ-विनिवर्तितसर्वकामाः)

श्रीकृष्ण के लिये त्याग कर दिये सर्वकाम जिनने इस प्रकार की गोपियां (रुदितोपहृते) रुदन
करने से सूज गये, रक्त हो गये (नेत्रे) नेत्रों को (विमृज्य) धो-पोंछकर (किञ्चित्) कुछ
(संरम्भ-गद्गदगिरः) क्रोध से गद्गद वाणी वाली (अनुरक्ताः) कृष्णानुरागवाली गोपियां
(अब्रुवत) बोलती हुई ॥ ३० ॥

भाषार्थ—श्रीकृष्ण से सम्बन्ध करने के लिये सर्व कामों का त्याग करनेवाली, तथा कृष्ण
में अनुरागवाली गोपियां रुदन करने से सूज गये, और लाल हो गये नेत्रों को धो-पोंछकर प्रिय
से इतर की तरह विपरीत आज्ञा करनेवाले अत्यन्त प्रिय कृष्ण-सदानन्द के प्रति कुछ क्रोध से
गद्गदवाणी जिसमें वर्णों का स्फुट उच्चारण नहीं हो बोलने लगीं ॥ ३० ॥

(सुबो०) भाषणं पूर्वोक्तमेव । अथवा तस्यामत्यवस्थायां किमिति रोदनं
क्रियते, स्वस्था भवत, गृहे गच्छतेत्येव वदति, परं हसन्मुखः, तदा तासां
हृदये वाक्यामृतानि प्रविष्टानि सजातीयानि वाक्यान्मुत्पादितवन्ति, तदा भगव-
दुद्धोधिता एव ताः भगवद्वाक्यानि पूर्वपक्षयितुमारेभिर इत्याह-प्रेष्ठमिति ।
प्रेष्ठो भवत्येव । स्वसामग्र्या तथा सम्पादितत्वात्, परं वदत्यन्यथा, तथा
प्यप्रियमिव प्रतिभाषमाणमिति नोक्तम् । न हि कदाचिदपि भगवानप्रियवद्ब्रु-
वति, किन्तु प्रियो भवति, 'इतरोऽपि भवति, सर्वभवनसामर्थ्यात् । इतरत्वेन
प्रियत्वं बाध्यते । यथा जगज्जगदतिरिक्तरूपश्च । तदाह-प्रियेतरमिव प्रति-
भाषमाणमिति । यः प्रियोंऽशः, तं न तिरोधारयति । किन्तु वाक्यं न तेन
रूपेण वदति, किन्तु रूपान्तरेण, तदा तेन सह वादः कर्तुं शक्य इति । न हि
फलं क्वचित्साधनं भवति, मां वृणुतेति वा वदति, परं बलादपि प्रतिबन्ध-
निराकरणं कृत्वा स ग्राह्य एव । तदाह-कृष्णं सदानन्दमिति । ननु कोऽयं
निबन्धः, स एव काम्य इति, महौश्चेन्न मन्यते, तदा अल्पतरा अपि काम्या
इति, तत्राह-तदर्थविनिवर्तितसर्वकामा इति । तदर्थं भगवदर्थं विशेषेण निव-
र्तिताः सर्वे कामा याभिः । अयमेव काम्य इति निश्चित्य पूर्वमेव सर्वे कामा-
स्त्यक्ताः । 'काममयश्चायं पुरुषः' । यदि त्यक्तोऽपि गृह्येत, तदा भगवदुक्तमेव गृहं
कथं न गृह्येत । तस्मादयमेव कामः अवशिष्यते । स चेन्न भवेत्, स्वरूपहानिरे-
वेति निश्चित्य, फले मानमकृत्वा दृढीभूय, रुदितोपहृते नेत्रे विमृज्य, यथास्थानं
सर्वं प्रापयित्वा, किञ्चित्संरम्भेण, वादार्थमुद्यमः संरम्भः । भगवान् हि वाक्येन
निराकरोति, न तु स्वरूपतः । वाक्यं तु निराकार्यमिति तदर्थं संरम्भः ।
सर्वोप्यन्तं गत्वा परावर्तते, परं संरम्भेण गद्गदा गीर्यासाम् । वर्णानां न स्फुट-
निर्गमनम्, ईश्वरवाक्यनिराकरणे यतो वाणी बिभेति । तासां तु न भयम् ।

यतः अनुरक्ताः । रागो हि भयप्रतिपक्षः । यत्र रागः स्वल्पोऽपि, न तत्र भयम् ।
अतः अनुवृत्त उक्तवत्यः ॥ ३० ॥

प्रथम भगवान् ने जो भाषण किया था, वही भाषण यहां भी समझना चाहिये, अथवा 'शानच्' प्रत्यय प्रतिभाषण में है, और पहिले २८ वें श्लोक में 'क्त' प्रत्यय है, इसलिये यहां पूर्व अर्थ के तुल्य अर्थ नहीं होता है, अतः पक्षान्तर 'अथवा' कहकर कहा है ।

पूर्व भाषण से ही उक्त सर्व का तिरोधान कहा है, फिर भी यदि पहिले की तरह भाषण भगवान् करें तो आगे का कार्य सम्पादन नहीं हो सकता है, कारण कि विशेष का अभाव है, अतः पहिले भाषण से यहां विलक्षण भाषण कहना चाहिये, जिससे कि यहां गोपियों में जीवन्मुक्ति का सामर्थ्य हुआ है ।

पहिला भगवान् का भाषण उदासीनतापूर्वक था, अब पूर्व भाषण का विरोधी हास्य सहित भाषण के अभिप्राय से यदि वाक्य में विलक्षणता नहीं हो तो जीवन्मुक्ति का सामर्थ्य गोपियों में नहीं हो, अतः यहां भगवान् का वाक्य पूर्ववाक्य से 'तस्यामप्यवस्थायां' इत्यादि से गोपियों ने विलक्षण ही निरूपण किया है । इसी से मूल में 'प्रतिभाषमाणं' कहा है ।

अब 'अथवा' से पक्षान्तर कहते हैं कि 'तस्यामप्यवस्थायां' गोपियों की इस प्रकार की अवस्था देखकर भी भगवान् हँसते-हँसते कहते हैं कि तुम सब रुदन क्यों करती हो । स्वस्थ हो जाओ और घर जाओ ।

जिस समय भगवान् हँस रहे थे, उस समय गोपियों के हृदय में भगवान् के वाक्यामृत प्रविष्ट हो गये । और वे वाक्य सजातीय—जिस प्रकार भगवान् ने कहे थे, उस प्रकार के ही वाक्यों को पूर्वपक्ष करके समाधान करनेवाले एक विषयक वाक्य उत्पन्न करते हुए, उस समय भगवान् की प्रेरणा से ही गोपियों ने भगवद्वाक्यों को पूर्वपक्ष करने का प्रारम्भ कर दिया, इसी को कहते हैं कि 'प्रेष्ठ' ।

भगवान् प्रेष्ठ—प्रियतम ही हैं कारण कि श्रुतियों ने जिस समय भगवान् की स्तुति की है, उस समय भगवान् को श्रेष्ठ प्रियतम प्रतिपादन किया है, 'चिरं स्तुत्या ततस्तुष्टः परोक्षं प्राह तान् गिरा' इस प्रकार यह कथा बृहद्वामन पुराण में प्रसिद्ध है ।

अथवा गोपियां कहती हैं कि 'स्वसामग्री' नवीन चन्द्र फूल फल मन आदि सामग्री सम्पादन करने से भगवान् प्रियतम हैं । इस प्रकार से निश्चय तो होता है, किन्तु, इस समय भगवान् अन्यथा—अप्रियतम की तरह बोल रहे हैं ।

श्लोक में अप्रिय की तरह—प्रियविरुद्ध कृष्ण बोल रहे हैं, नहीं कहा है, कारण कि भगवान् कभी भी अप्रिय की तरह होते नहीं हैं, भगवान् तो सदा प्रिय ही होते हैं । और प्रिय से इतर—प्रिय से अन्य, मर्यादामार्गीय भी होते हैं, कारण कि भगवान् में सर्वभूत सामर्थ्य है ।

प्रिय से इतर होने में प्रियत्व का बाध नहीं होता है । जिस प्रकार भगवान् जगत् रूप और जगत् से अतिरिक्त रूप हैं, उसी प्रकार प्रियरूप और प्रिय ये इतर—अन्य रूप भी हैं । इसी बात को कहते हैं 'प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणम्' भगवान् प्रिय अंश का तिरोधान नहीं करते हैं, किन्तु वाक्य प्रिय रूप से—फलात्मक पूर्णानन्द स्वरूप से, बोलते नहीं हैं । नीति धर्मरक्षक अनिरुद्ध रूप से बोलते हैं, इसीलिये इनके साथ वाद करना चाहिये । नही होने अनुसार अत्यन्त प्रिय के साथ वाणी से वाद करना निषिद्ध है, उदासीन में तो दोष ही

है, इसलिये प्रियतम भगवान् फलात्मक के साथ तो वाद हो नहीं सकता है, परन्तु अनिरुद्धस्वरूप के साथ तो वाद हो सकता है, इस प्रकार यह गोपियों के पूर्वपक्ष करने में हेतु कहा है ।

यदि कहो कि यहां रूपान्तर—अनिरुद्धस्वरूप तो दीखता नहीं है, फिर रूपान्तर से भगवान् कहते हैं, इस प्रकार निश्चय नहीं होने से भगवान् के वाक्यों को पूर्व पक्ष कैसे होगा ।

इस प्रकार की आकांक्षा में कहते हैं कि, फलात्मा भगवान् कभी साधन नहीं होता है, अथवा मुझको तुम वरण करो, इस प्रकार भी नहीं कहता है ।

'प्रियं किं करवाणि वः' १०।२६ । इस श्लोक के उपक्रम में भगवान् ने अपने को साधनत्व कहा है, तथा शेष श्लोकों में प्रतिबन्धक वाक्य कहे हैं, इसलिये रूपान्तर का ज्ञान होता है, और पूर्वोक्त हास एवं मीन धारण करने से फलरूप का अवगम होता है, इसलिये कार्यबल से रूपान्तर का ज्ञान होने से पूर्वपक्ष करना युक्त ही है ।

भगवान् के मिलने में जो प्रतिबन्ध होता हो, उसको बल से ही दूर करके फलात्मा भगवान् भक्तों के लिये ग्रहण करने योग्य हैं, इसीलिये शुकदेवजी 'कृष्ण' सदानन्द फलात्मक नाम यहां कहते हैं ।

यदि कहो कि गोपियों का इतना आग्रह क्यों है कि भगवान् की ही कामना करती हैं और यदि महान्—कृष्ण गोपियों का इष्ट काम पूरा नहीं करता है तो फिर अल्पतर-छोटे अन्य से ही गोपियों को कामना पूरी करानी चाहिये ।

इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः' ।

तदर्थ—भगवान् के लिये विशेष करके गोपियों ने मुक्ति पर्यन्त सर्वकाम निवृत्त कर दिये हैं, अर्थात् भगवान् के अतिरिक्त अन्य सर्वकाम त्याग दिये हैं । एक भगवान् ही कामना करने के योग्य हैं । इस प्रकार का निश्चय करके गोपियों ने प्रथम से ही सर्वकाम त्याग दिये थे ।

यदि कहो कि जब सर्वकाम त्याग दिये तो फिर इस काम को क्यों नहीं छोड़ती हो, इसको भी छोड़ना चाहिये ।

इसके उत्तर में बृहदारण्यक शारीर ब्राह्मण की श्रुति कहते हैं, 'काममयश्चायं पुरुषः' यह पुरुष काममय है, इसलिये स्वरूप धर्म को भी छोड़ कर गोपियों ने भगवान् को ग्रहण किया है । यदि भगवान् हमारा अङ्गीकार नहीं करेंगे, और यदि त्याग किया भी घर आदि पदार्थ का पुनः ग्रहण होता हो तो भगवान् के आज्ञानुसार लौटकर घर क्यों नहीं जायेंगी । किन्तु भगवान् के लिये सर्व त्याग करना, भगवान् ने ही तो कहा है, और प्रथम त्याग किये हुए अर्थ का स्वीकार नहीं करना शुक मुनि आदि में प्रसिद्ध ही है । शुक मुनि आदि त्याग करके सर्वत्र परिभ्रमण ही करते हैं, गृह त्याग करके फिर घर नहीं गये ।

भगवान् इस समय गृह परिग्रह का उपदेश करते हैं, भगवान् ही तो अपने लिये घर त्याग का उपदेश करते हैं, और भगवान् ही घर अत्याग—घर स्वीकार करने की आज्ञा देते हैं, तो फिर घर जाने में कुछ विशेषता तो है नहीं, इसलिये सर्वत्यागपूर्वक भगवान् का ही ग्रहण क्यों नहीं करें, घर परिग्रह स्वीकार करने में ही ऐसी कौन-सी बात है, भगवान् के लिये तो सर्वकामों का त्याग करके आई हैं, अतः अब यह भगवद्विषयक काम ही अवशेष रहा है । यदि भगवद्विषयक काम भी सिद्ध न होगा तो अपने स्वरूप की हानि ही होगी ।

इस प्रकार गोपियां परस्पर निश्चय करके कहती हैं कि फलरूप भगवान् को हमारी पुनः अपेक्षा कहा है, अतः मानरहित गोपियां दृढ़ होकर रुदन से उपहत—सुजे लाल-लाल

नेत्रों को धो-पोछ कर, और अपने-अपने स्थान में सर्ववस्तुओं को प्राप्त करके 'किञ्चित् संरम्भ' कुछ क्रोध से बोलीं। बाद के लिये उद्यम को संरम्भ कहते हैं।

भगवान् ने वाक्य से निषेध किया है, स्वरूप से नहीं किया है, इसलिये भगवान् के कहे हुए वाक्यों का निराकरण करने के लिये गोपियों ने संरम्भ किया है, संरम्भ-क्रोध का प्रयोजन बतलाते हैं कि 'सर्वोऽपि'।

सभी लोग उपाय का अन्त करके पीछे लौटते हैं, अर्थात् अपने सामर्थ्य के अनुसार किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये उपाय करके पीछे लौटते हैं, अतः गोपियों ने भी अन्तिम उपाय करने के लिये प्रयत्न किया है, और विचार किया है कि भगवान् के निषेध वाक्यों का तात्पर्य-निर्धार-निर्णय करें, पश्चात् जो कुछ होगा, उसको करेंगी। अतः निषेध वाक्यों का निर्णय करने के लिये गोपियों ने संरम्भ किया है, संरम्भ से गोपियों की गद्गदवाणी हो गई, 'जिसमें वणों का स्पष्ट उच्चारण नहीं हो, उसको गद्गद वाणी कहते हैं', कारण कि ईश्वर वाक्यों का निराकरण करने में वाणी डरती है और गोपियों को तो किसी प्रकार का भय ही नहीं है, कारण कि भगवान् में गोपियों का अनुराग है, राग-स्नेह भयनाशक है, जहां पर थोड़ा भी राग होता है, वहां पर भय नहीं होता है, इसलिये गोपियां भगवान् के वाक्यों का निराकरण करती बोलीं ॥ ३० ॥

सुबोधिनी-कारिका—

वाक्यानां बाधवाक्यानि तावन्ति प्रार्थनाधिकाः ।
एकादशविधास्तेन तासां वाचो जयन्ति हि ॥

(वाक्यानां) भगवान् के वाक्यों के (बाधवाक्यानि) गोपियों के बाध करने वाले वाक्य (तावन्ति) भगवान् के वाक्यों के समान संख्यावाले दस हैं और (प्रार्थनाधिका) 'व्यक्तं भवान्' यह प्रार्थना-वाक्य अधिक है (तेन) इससे (एकादशविधाः) ग्यारह प्रकार के (तासां) गोपियों के (वाचः) वचन (जयन्ति) जय-उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। (हि) भगवान् रसात्मक है, इसलिये विवाद में गोपियों के वाक्यों का जय युक्त ही है, इस प्रकार 'हि' शब्द का अर्थ है।

श्लोकार्थ यह है कि—भगवान् के दस वाक्यों का खण्डन करनेवाले गोपियों के भी दस वाक्य और एक प्रार्थनावाक्य, इस प्रकार ग्यारह वाक्य रसात्मक भगवान् से वाद करने में जय प्राप्त करते हैं।

(सुबो०) यद्भगवता प्रथममुक्तं 'स्वागतं वो महाभागा' इति, यद्यपि भगवता वयं स्तुताः तथापि प्रेषणाभिप्रायेण, न तु स्वस्मिन्नागता इति। तथा सति नेयं स्तुतिः किन्त्वतिक्रूरं वचनम्, अनिष्टपर्यवसानात्। नन्वशक्ये किं कर्तव्यम्, तत्राह—मैवं विभो इति।

भगवान् ने प्रथम १८ वें श्लोक में गोपियों से कहा था कि 'स्वागतं वो महाभागा' इति महाभाग्यशालिनियो ! तुम्हारा स्वागत है।

यद्यपि इस प्रकार भगवान् ने हमारी स्तुति की है, तथापि हमको घर भेजने के अभिप्राय से की है कि प्रिय भाषण करने से गोपियां घर लौट कर चली जायेंगी।

हमारे पास आई हैं, इस अभिप्राय से हमारी स्तुति नहीं की है तो फिर इस प्रकार से यह हमारी स्तुति ही नहीं है, किन्तु अति क्रूर वचन है, कारण कि इस स्तुति का पर्यवसान—

परिणाम अनिष्ट है। यदि भगवान् कहे कि जो अशक्य बात है, उसको मैं किस प्रकार कर सकता हूँ, तब इसके उत्तर में गोपियां आगे श्लोक में कहती हैं।

श्रीगोप्य ऊचुः—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।

प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्

देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥ ३१ ॥

पदपदार्थ—(हे विभो) हे व्यापक प्रभो (भवान्) आप (एवं) इस प्रकार से (नृशंसं) क्रूर-घातक कठोर (गदितुं) बोलने के लिये (मा) नहीं (अर्हति) योग्य है, (सर्वविषयान्) सर्व विषयों को (संत्यज्य) सम्यक् प्रकार त्याग करके (तव) आपके (पादमूलम्) चरणमूल श्रीवृन्दावन को (प्राप्ताः) प्राप्त हुई हैं (हे दुरवग्रह) हे दुष्ट आप्रह करनेवाले (अस्मान्) हम सबको (मा) मत (त्यज) त्यागो (यथा) जिस प्रकार (देवः) देव (आदिपुरुषः) पुरुषोत्तम (मुमुक्षून्) मोक्ष की इच्छा करनेवालों को (भजते) भजता है, (तथा) उसी प्रकार (भजस्व) भजो ॥ ३१ ॥

भापार्थ—श्रीगोपियां कहती हैं कि हे व्यापक प्रभो इस प्रकार क्रूर घातक वचन आपको कहना योग्य नहीं है, हम सर्व विषयों का सम्यक् प्रकार से त्याग करके आपके चरणमूल श्रीवृन्दावन में प्राप्त हुई हैं, हे दुराग्रही ! हमारा त्याग मत करो किन्तु जिस प्रकार आदि देव पुरुषोत्तम मुमुक्षुओं को भजता है, उसी प्रकार आप हमको भजो ॥ ३१ ॥

(सुबो०) भवान् सर्वमेव कर्तुं समर्थः। समर्थश्चेदन्यथा वदेद्, नृशंसमेव भवति, दयायां विद्यमानायां न वदेदिति। यच्च भगवतोक्तं 'व्रजस्यानामय' मिति, तदस्माकं नोद्देश्यम्, यतः सर्वविषयानेव संत्यज्य तव पादमूलं प्राप्ताः। अनेन त्यक्तार्थपरिग्रहः अनुचितः। नापि जारत्वेन समागतमिति निरूपितम्। एकादशेन्द्रियाणामपि विषयास्त्यक्ताः सवासनाः। तत्र विनिगमकं तव पादमूलं प्राप्ता इति। अन्यथा पादमूलप्राप्तिरेव न स्यात्। यदुक्तं 'ब्रूतागमनकारण' मिति, तत्राहुः—भजस्वेति। अन्यत् कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः—हे दुरवग्रहेति। दुष्टोऽयमवग्रहः आप्रहः, यद्भजनं न कर्तव्यम्, अन्यत्कर्तव्यमिति। यथा जीवानाम्। ते हि सर्वं कर्तुं वाञ्छन्ति, न भगवद्भजनम्। यथायमाग्रहो जीवानां दुष्टः, तत्रान्नापि भवितुमर्हति। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति तु नास्ति। यदि तदभिप्रायेणैव तथा, तदा मा त्यजास्मान्। अस्माभिर्न त्यज्यत इति। एतच्च भजनं न विषयवत्, किन्तु प्रकारान्तरेणेति विशेषतो वक्तुमशक्ताः दृष्टान्तेनाहुः—देवो यथेति। देवो हि सर्वानेव भजते, अन्यथा शास्त्रं व्यर्थं स्यात्। तत्राप्यादिपुरुषो देवः। पूर्वकाण्डेऽपि भजनं सार्थकम्, सुतराम् उत्तरकाण्डे। आदिपुरुषस्तु

सेव्य एव भवति, देवश्च । न हि देवभजनं व्यभिचारजनकं भवति । पुरुषान्तर-
भजनऽपि प्रथमभर्ता । विवाहितः अभजनीयो भवति । अनङ्गीकारस्तूचितः,
नत्वभजनम् । एतेन स यथा स्वातिरिक्तभजनं न सहते, तन्निवृत्तिपूर्वकमेव
स्वभजनं संपाद्य स्वयं भजते, तथा त्वयापि कार्यम् । अतस्तत्र प्रेषणं तवाप्य-
नुचितमिति ज्ञाप्यते । किञ्च, यथा मुमुक्षून् भजते भगवान् । आत्मीयत्वेन
परिगृह्णाति, आत्मतया स्फुरति, स्वानन्दं तेभ्यः प्रयच्छति 'एष ह्येवानन्दयती'
ति श्रुतेः । 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्टृतं ही'ति न्यायेन भगवान्
तदर्थमात्मानं प्रकटीकरोतीति, मुमुक्षून् भजत इत्युक्तम् । अन्यथा मुमुक्षव एव
भगवन्तां भजन्ते, न तु भगवान्, अतः फलद्वारा भजनम् । यथा तेषां पुनः
पूर्वावस्थां न सम्पादयसि सततं स्वस्मिन्नेव स्थापयसि, तथा अस्मदर्थमाविर्भूय
स्वानन्देन वयं योजनीया इति एककर्तव्यमित्यर्थः । ('एतेन प्रार्थनया सकृद-
ङ्गीकृत्य तूष्णींभावपक्षो निरस्तः । अग्रे गृहगमनाज्ञापनगृहस्थितिसम्पादनादिकं
तु रसपोषायैव, न तु गृहार्थमिति ज्ञेयम्) ॥ ३१ ॥

गोपियां कहती हैं कि आप सब ही करने में समर्थ हो, यदि समर्थ होकर भी कोई किसी
से अन्यथा बोलता है, तो वह तुल्य घातक क्रूर ही होता है, यदि कहो कि भगवान् एक है और
भक्त गोपियां अनेक हैं, फिर एकाकी अनेक भक्तों का कार्य—अर्थ सम्पादन कैसे कर सकता है,
अशक्य है, और अशक्य कार्य स्थापन करने के लिये स्तुति भी कैसे हो सकती है ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'दयायाम' जिस पुरुष के दया नहीं होती है,
उसका वाक्य भी क्रूर होता है और जिसके भीतर दया रहती है वह अशक्त भी हो तो भी उसका
वाक्य क्रूर नहीं होता है । जिस भगवान् आपने प्रथम विषजलादि से रक्षा करके अपना सामर्थ्य
प्रकट दिखाया था, उस आपका इस प्रकार अशक्य कार्य कहना असामर्थ्यसूचक नहीं हो सकता
है, किन्तु दयारहितसूचक ही है ।

भगवान् ने पहिले कहा था कि 'व्रजस्यानामयं' व्रज में तो कुशल है, भगवान् का इस
प्रकार हमसे कहना सम्भव ही नहीं हो सकता है, कारण कि हम सर्व विषयों का सम्यक् प्रकार
से त्याग करके आपके चरणमूल-श्रीवृन्दावन में आई हैं ।

इस प्रकार गोपियों के कहने से सूचित होता है कि छोड़े हुए अर्थ का पुनः स्वीकार करना
अनुचित है ।

भगवान् ने कहा था कि 'प्रियं किं करवाणि वः' तुम्हारा प्रिय क्या करूं, यहां भगवान् ने
अपने से अन्य प्रिय करना कहा था, और अपने में हमारा सोपाधिक स्नेह सूचन कर जारत्व की
शंका की थी ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि हम आपको जार मानकर भी नहीं आई हैं, कारण
कि वासनासहित एकादश इन्द्रियों के विषय हमने त्याग किये हैं । अतः विषय मात्र का त्याग
करने से अब हमारा आपको कुछ भी प्रिय करना शेष नहीं रहा है । आप ही हमारे प्रिय हैं,
यही प्रिय करना विद्यमान है ।

१. चिह्नान्तर्गतः प्रभूणां स्वतन्त्रः ।

इस प्रकार गोपियों के कहने से, हमको काम भी प्रिय नहीं है, इस प्रकार कामत्व प्रिय
का निषेध सूचन किया है, हम तो आपके चरणमूल में आई हैं, यदि हम आप में जार बुद्धि से
आतीं, तथा सर्वत्याग करके नहीं आतीं तो आपके चरणमूल की प्राप्ति ही नहीं होती ।

भगवान् ने कहा था कि 'ब्रूतागमन कारणम्' अपने यहां आने का कारण कहो, इसका
उत्तर गोपियां देती हैं कि 'भजस्व' आप हमारा भजन-सेवन करो ।

यदि भगवान् गोपियों से कहते हैं कि मुझे भजन करने से अन्य कर्तव्य है, अर्थात् भजन
से अन्य कार्य करना है, तो इसमें गोपियां कहती हैं कि 'हे दुरवग्रह' हे दुराग्रही ! आपको
हमारा भजन नहीं करके जो जीवों की तरह अन्य कर्तव्य करना है, वह आपका दुरवग्रह-दुष्ट
आग्रह-हठ है ।

जीव अन्य सर्व कार्य करने की इच्छा करता है, किन्तु भगवद्भजन करने की इच्छा नहीं
करता है, जिस प्रकार जीवों का यह आग्रह-हठ दुष्ट है, उसी प्रकार यहां आपका आग्रह भी
दुष्ट होने के योग्य है, कारण कि गीता में आपने ही कहा है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' जो मेरा
जिस प्रकार भजन करते हैं, मैं उनका उसी प्रकार भजन करता हूं, यह प्रतिज्ञा आपकी भङ्ग हो
जायगी, अतः प्रथम प्रतिज्ञा करके पश्चात् नहीं करना दुराग्रह ही है ।

यदि भगवान् कहे कि प्रतिज्ञा में तो 'यथा तथा' शब्द प्रकार वाची हैं, एक-सा प्रकार
कहा है, जिस प्रकार तुम सब आई हो, उसी प्रकार मुझको भी आना चाहिये था, इसलिये प्रतिज्ञा
पूरी करने के लिये इस समय भजन नहीं करना ही उचित है ।

इसका उत्तर गोपियां देती हैं कि (यदि) जो इस अभिप्राय से हमारा भजन आप नहीं
करते हो तो हमारा यह कहना है कि आप हमारा त्याग मत करो, कारण कि हम आपका त्याग
नहीं करती हैं, आप भी मत करो ।

यदि भगवान् कहते हैं कि गोपियो, जब तुमने विषय मात्र का त्याग कर दिया है, तो फिर
भजन प्रकार का भी अभाव आ गया, फिर भजन किस प्रकार हो सकता है, और तुम भजन की
प्रार्थना करती हो, वह किसके लिये करती हो । इसका उत्तर गोपियां देती हैं 'एतच्च भजनं न
विषयवत्' ।

आप हमारा जो प्रार्थित भजन करोगे वह और हमारा किया भजन, दोनों ही में विषय
बुद्धि से भोगरूपता नहीं है, किन्तु सर्वात्मभाव प्रकार की है, इसका विशेष वर्णन हम नहीं कर
सकती हैं, इस सर्वात्मभाव भूमास्वरूप का निरूपण छान्दोग्य श्रुति में व्यवस्थापित है, इसलिये
विशेष वर्णन नहीं कर सकती हैं, यहां दृष्टान्त से बतलाती हैं 'देवो यथा' ।

स्वतन्त्र लेख में कहा है कि जिस प्रकार विषय भोग में कामिनी स्त्री का भोग करके उप-
पति-जारपति त्याग करता है, उसी प्रकार भगवान् भी कहते हैं कि मैं भी जारपति की तरह
भजन करूंगा, किन्तु भगवान् ने इस प्रकार कहा नहीं है, भगवान् ने तो जार प्रकार के भजन
का निषेध किया है, और भजन प्रकार की शिक्षा करने के लिये दृष्टान्त दिया है 'देवो यथा' ।

इसका अर्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार देव अपने भजन से अन्य का भजन सहन नहीं
करता है, और अन्य भजन निवृत्त कराके अपना भजन संपादन कर भजता है, उसी प्रकार हमारा
स्वीकार कर, अन्य पत्यादि का भजन निवृत्त करके अपना भजन सम्पन्न करो ।

अन्य-पत्यादि का भजन अपने आप निवृत्त नहीं होगा । कारण कि आप अन्य भजन में
प्रवृत्त करते हो, यह बात उचित नहीं है ।

यदि भगवान् कहें कि मैं भजन करूंगा तो तुम्हारा पातिव्रत्य भङ्ग हो जायगा ।

तब इस शंका का निरास यही है कि स्वामी के भजन करने में कोई प्रकार का दोष नहीं होता है। इस प्रकार यहां 'आदि पुरुष' और 'देव' पद दृष्टान्त से जानना चाहिये।

दूसरे स्वतन्त्र में गोपियां कहती हैं कि हम जिस भजन को करेंगी, और लोक में जिस भजन को प्रकट करेंगी, वह भजन विषय की तरह-विषय सम्बन्धी नहीं है, कारण कि हमारे क्रियमाण भजन में, तथा प्रार्थ्यमान भजन में विषय सम्बन्ध नहीं है, हम तो सर्व विषय त्याग करके आई हैं, और भगवान् भी इन्द्रिय विषय रहित हैं।

किन्तु प्रकारान्तर से-अर्थात् काम प्रकार से अतिरिक्त प्रकार से यह भजन केवल रसरीति से है। इस बात को विशेष रूप से कहने के लिये हम गोपियां अशक्त हैं, और कदाचित् विचार करके कहती हैं तो अपना आधिक्य निरूपण होने से अभिमान का सम्बन्ध सम्भव होता है, अभिमान सर्वात्मभाव में बाधक है।

और यदि गोपियां भगवान् से यह कहती हैं कि आप हमारे आधीन होकर भजन करो, तो इस प्रकार के कथन में नीरसता सम्भव होती है।

इसलिये परम अत्यन्त निपुण रसरीति जाननेवालों में भी उत्तम स्वामिनी, दृष्टान्त द्वारा अपने भजनस्वरूप का निरूपण करती हैं कि 'देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षुन्'।

देव जिस प्रकार उपासक के आधीन होकर उपासक का अभिलषित अर्थ साधन करता है, उस प्रकार हमारा भजन करो।

उस देव का महत्त्व बतलाती हैं कि जिस प्रकार आदि पुरुष-पुरुषोत्तम अपने चरणों में ज्ञानी को, और भक्तों को अपने स्वरूप में प्रवेश कराकर भजन-स्वानन्द प्रदान करते हैं, उसी प्रकार हमको भी परमानन्द प्रदान करना चाहिये, यह भाव है।

भजन में भी उक्त दोनों दृष्टान्त हैं, जिस प्रकार देव पूज्य लौकिक पति आदि से मुख्य है, देवभजन में व्यभिचार आदि दोष नहीं हैं, सर्वसेव्य है, उसी प्रकार हमारे लिये भी भगवान् जार की तरह नहीं हैं, जिस प्रकार देव अन्य स्त्रियों का सेव्य है, उसी प्रकार आप हमारा भजन करो, कामी पुरुष की तरह केवल काममात्र पूरा मत करो, किन्तु हमको अभिलषित स्वानन्ददान करो, जिस प्रकार आदि पुरुष-पुरुषोत्तम फलरूप है, फल का साधन नहीं है, और निष्काम मनोरथ का विषय है, उसी प्रकार हमको आप हो।

पुरुषोत्तम जिस प्रकार सर्वकाम रहित प्राणियों से ज्ञात होता है, और सेवित होता है, अपने स्वरूपानन्द को देता है, अन्यथा-जो सर्वकामरहित नहीं है, उसको ज्ञात नहीं होता है, और न स्वरूपानन्द का दान देता है, उसी प्रकार सर्वकामरहित हमको भी स्वरूपानन्द का दान देना चाहिये, यह भाव है।

इस प्रकार दोनों दृष्टान्तों के द्वारा गोपियों ने अपना भजन मर्यादा रीति से निर्दिष्ट बतलाया है।

लौकिक पतिव्रताओं को भी देवता के भजन में व्यभिचार दोष नहीं है, कारण कि जो स्त्रियां देवताओं की सेवा करती हैं, उन स्त्रियों का उनके पति त्याग नहीं करते हैं, और न उन स्त्रियों का नरक में पात ही होता है, किन्तु देवताओं की सेवा करनेवाली स्त्रियों का पति आदि द्वारा तथा अन्य लोगों द्वारा विशेष सम्मान ही होता है, फिर हमको किस प्रकार दोष लगेगा, यह भाव है।

आदि पुरुष भी हमारे आप ही हो, कारण कि प्रथम से ही आपने हमको स्वीकार कर लिया है, 'कल्पे सारस्वते प्राप्ते' सारस्वत कल्प आने पर मेरे माधुर मण्डल में तुम्हारा मनो-

रथ पूरा होगा, इस वाक्यानुसार हमारा पहिले से ही स्वीकार हो गया है, इसलिये कदाचित् हमारे दुःसंग दोष के कारण, अथवा वैदिक धर्म में निष्ठा के कारण आप हमारा अङ्गीकार नहीं करते हो, तो अनङ्गीकार लौकिक कुलटाओं की तरह उचित ही है, किन्तु लौकिक में जिस समय कुलटा पुरुष की सम्पत्ति ले लेती है, उस समय फिर उस पुरुष का भजन-सेवा नहीं करती है। इसी प्रकार हमने भी आपका भजन नहीं किया, कारण कि आपसे प्रथम ही स्वरूपानन्दरूप सम्पत्ति का दान प्राप्त हो गया था।

दूसरी बात यह है कि अभी तक आपकी प्राप्ति नहीं हुई थी, इसलिये अन्य पतियों का भजन बहिरङ्ग धर्म निष्ठा से किया था, अब आपकी प्राप्ति हो गई है, फिर उनका भजन विधान क्या करने योग्य है, अर्थात् नहीं।

अथवा गोपियां कहती हैं कि जार पति का स्वीकार करने पर स्त्री लोकरीति से भी भ्रष्ट हो जाती है, इसलिये हमने उन जार पतियों का परित्याग किया है, आदि पुरुष-पुरुषोत्तम का परित्याग नहीं किया है, जार पुरुष के सङ्ग करने में ही दोष है, अपने वास्तविक पति की सेवा दोषावह नहीं है, किन्तु दोषनिवर्तक ही है, यह भाव है।

यदि आप कहें कि मैं पुरुषोत्तम नहीं हूं इस प्रकार पुरुषोत्तमत्व भी अङ्गीकार नहीं करते हो, तो भी आप हमारे उक्त रीति से आदिपुरुष हो। आदिपुरुष जिस प्रकार इतर भजन सहन नहीं करता है, यदि स्त्री जाती है तो पश्चात् भी उसके ऊपर क्रोध करता है, फिर वहां भोजना तो कैसे बन सकता है, इसी प्रकार आपको भी स्वयं इतर के पास भोजना नहीं चाहिये। हम अन्यत्र भेजने के योग्य नहीं हैं, इस प्रकार गोपियों ने लोकरीति से भी अपने स्वामी भगवान् को बोध किया है, यह भाव है।

इस प्रकार यह सब बात लोकरीति से कही है, वास्तव में तो गोपियां कहती हैं कि हम आगे कहती हैं, उसका श्रवण करो, इसी आशय से दृष्टान्त कहती हैं, 'यथा मुमुक्षुन्'।

जिस प्रकार मोक्ष की इच्छा करनेवाले, घर में आसक्ति रहित हेय बुद्धि वाले निर्लेप विरक्त सर्वभोग वर्जित नाममात्र से साधन दशा में स्थित होते हैं, कारण कि भक्तिमार्गीय हैं, और वास्तव में संन्यासी ही होते हैं, उसी प्रकार हम भी हैं। इस प्रकार हमको जानकर आप जिस प्रकार मुमुक्षुओं को अपने करते हो, अर्थात् अपने सेवक करके स्थित करते हो।

'मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्' इस न्याय से फिर उनके हृदय में स्थित आप बाहर पधारते हो, तथा बाहर पधार कर उनके लिये श्रपना आनन्द प्रदान करते हो, पुनः पूर्व अवस्था सम्पादन नहीं करते हो, और दिये हुए आनन्द का उत्तरोत्तर पोषण करते हो, उसी प्रकार आपको हमारा भी विधान करना चाहिये। इस प्रकार दूसरे स्वतन्त्र लेख का आशय है।

अब आगे सुबोधिनी आदि अन्य साहित्य का आशय कहते हैं, 'देवोयथा' इसका आशय सुबोधिनी में महाप्रभुजी कहते हैं कि—

देव तो सर्व का ही भजन करता है, सर्व को ही फल देता है। यदि इस बात को नहीं मानते हैं तो देवता भजन प्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ हो जायगा। देवताओं का भजन फलदान द्वारा जाना जाता है, व्यासजी के मत में देवताओं का विग्रह माना है, कर्म में भी देवताओं को द्वार माना है।

शास्त्र त्याग मन्त्र लिङ्गादिरूप है।

यदि कहो कि अन्य देवताओं का भले ही उक्त प्रकार हो, किन्तु इससे भगवान् को कैसे मान सकते हैं ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि 'तत्रापि' 'यो देवानां नामधा एक एव' 'एकं स द्विप्रा बहुधा वदन्ति' देवताओं के नाम धारण करनेवाला वह एक ही है, एक को ही ब्राह्मण बहुत प्रकार से कहते हैं। इत्यादि श्रुतियों के अनुसार देवताओं में भी आदि पुरुष देव आप ही हो, इसी को आगे कहते हैं कि—

'पूर्वकाण्डेऽपि' वेद के दो काण्ड हैं—(१) प्रथम कर्मकाण्ड, (२) उत्तर ज्ञान तथा भक्तिकाण्ड। पूर्वकाण्ड में भी भगवान् का किया भजन सार्थक है, कर्मकाण्ड द्वारा भजन करने वालों को भगवान् फल दान करके भी भजन करते हैं, और उत्तरकाण्ड में तो भगवान् को आत्मा प्रतिपादन किया है, इसलिये प्रतिभजन करना आवश्यक ही है। अतः ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग में भगवान् फलदान करते ही हैं, इसलिये वेद के उत्तरकाण्ड में भजन करना और भी निरन्तर सार्थक है।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो ! तुमने जो कहा है, यह सब बात निरुपधि-उपाधिरहित भजन करने में होती है, किन्तु तुम्हारा भजन तो सोपाधि-उपाधि सहित है। इस बात को ज्ञेय 'प्रियं किं करवाणिवः' यहां प्रथम कहा है, अब इस प्रकृत भजन में क्या विशेषता है, उसको कहो। इस शंका के उत्तर में गोपियां सर्वत्यागपूर्वक भगवद्भजन में निरुपधि प्रपत्ति की व्यवस्था कहती हैं कि 'आदिपुरुषस्तु'।

आदि पुरुष तो सेवा करने योग्य ही होता है, आदिपुरुष से विषय की इच्छा नहीं की जाती है। इस प्रकार कहने से क्षुद्र काम देनेवाले देवताओं की सेवा करने का निषेध गोपियों ने सूचन किया है।

देव तो सेव्य ही होता है, 'अकामः सर्वकामो वा' इस भागवतद्वितीय स्कन्ध के वाक्यानुसार निष्काम हो अथवा सकाम हो, अथवा मोक्ष काम हो, तीव्र भक्तियोग से परपुरुष-पुरुषोत्तम का भजन करे।

'सोऽनुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार भक्त भगवान् के साथ रमण करता है, इस प्रकार कहा है, अतः भगवान् को देव कहते हैं। 'दिक्क्रीडा' इस धातु से निष्पन्न देव शब्द का अर्थ रमण आदि होता है। इससे निरुपधि प्रपत्ति-शरण में भी भजन-सेवा कारणरूप सिद्ध ही है, अतः 'ये यथा' इस प्रतिज्ञावाक्य में जिस प्रकार यथा तथा की वाचक पद हैं, उसी प्रकार प्रपत्ति-और भजनवाचक भी हैं। इसीलिये जिस प्रकार यथा तथा की प्रपत्ति-शरण होती है, उसी प्रकार का भगवान् भजन करते हैं। अर्थात् निरुपधि प्रपत्ति में सेवा कारणरूप भजन, और उपाधि सहित प्रपत्ति में जिस उपाधि-फल की कामना से प्रपत्ति की उसका फलदानरूप भजन में करता हूँ, इस प्रकार यह फलित अर्थ होता है। इसीलिये गोपियां प्रार्थना करती हैं। इस प्रार्थना में लोक न्याय से भी विरुद्धता नहीं होती है। इस बात को गोपियां कहती हैं कि 'न हि देवभजनं व्यभिचारजनकं भवति'।

देव भजन पुरुषान्तर होते हुए भी व्यभिचारजनक नहीं होता है, अर्थात् देवसेवा करने से स्त्री-पुरुष व्यभिचारी नहीं कहलाता है, कारण कि देव सेवा में विषय सम्बन्ध नहीं है। भगवान् तो देवदेव हैं, फिर भगवान् के भजन करने से व्यभिचार कैसे हो सकता है, नहीं होता है, कारण कि आप भगवान् सर्व के पति हैं, पुरुषान्तर के भजन पक्ष में भी आप आदि पुरुष हैं, इसलिये प्रथम भर्ता हो, विवाहित तो द्वितीय भर्ता आधुनिक हैं, अतः वे भजन करने योग्य हैं, अभजनीय हैं।

अथवा परपुरुष का भजन करने में भी विवाहित पति का भजन तो करना ही चाहिये, यहां परपुरुष स्थानीय गोप हैं, गोपों का भजन करने में भी विवाहित पति स्थानीय भगवान् का भजन तो करना ही चाहिये। इस प्रकार फलितार्थ मूल के आदि पुरुष पद से कहा है।

आदि पुरुष प्रथम भर्ता है, इसलिये लौकिक पति का स्वीकार नहीं करना उचित ही है। जिस समय अन्य पति में रागोत्पत्ति हो जाती है, उस समय विवाहित पति में राग नहीं होना उचित ही है। किसी दोष के कारण राग का अभाव हो जाय तो भी भजनाभाव नहीं है।

अथवा द्वितीय पति का अङ्गीकार नहीं करना उचित ही है, सर्व का स्वाभाविक पति भगवान् का भजन करना उचित ही है, उसका भजन छोड़ना योग्य नहीं है।

योजनाकार कहते हैं कि जार पति का स्वीकार करने पर वह जार पति, पति के समान ही हो जाता है, किन्तु जिस प्रकार प्रथम पति वेदविधि द्वारा होता है, उस प्रकार जार पति वेदविधि द्वारा नहीं होता है। जिस स्त्री ने जिस जार पति का स्वीकार किया है, वह स्त्री उस जार पति का त्याग करे तो उचित ही है, प्रथम पति में तो वेदविधिवश से स्वामित्व प्राप्त है, अतः वेदकृत सम्बन्ध होने से उसको दूर नहीं कर सकते हैं, प्रथम पति का भजन सदा करना चाहिये, इसी बात को श्रीमहाप्रभु जी कहते हैं कि 'नत्वभजनम्' विवाहित पति का भजन करना उचित है, भजन नहीं करना उचित नहीं है।

प्रकृत विषय में भगवान् विवाहित पति स्थानीय हैं, कारण कि आदि पुरुष हैं, इसलिये प्राणीमात्र के पति हैं और गोप देह सम्बन्धी हैं, नित्य पति नहीं हैं। अतः गोपों का स्वीकार नहीं करके नित्य पति भगवान् का भजन करना युक्त ही है।

गोपियों ने उक्त दृष्टान्त से सर्वत्यागपूर्वक भगवद्भजन करने में युक्ति भी कह दी है, इसी का बोध कराने के लिये आचार्यों ने 'नत्वभजनम्' कहा है, नहीं तो मूल में प्रभुकर्तृक भजन में दृष्टान्त कहते तो विरोध हो जाता, इस प्रकार जानना चाहिये।

'देवो यथादिपुरुषो भजते' यहां इस दृष्टान्त के देने से, जिस प्रकार प्रथम पति अपने से अन्य पति का भजन सहन नहीं करता है, तथा अन्य पुरुष का भजन दूर करके अपना (प्रथम पति का) भजन करा कर स्वयं भजन करता है, उसी प्रकार आप-भगवान् को करना चाहिये, अतः घर लौटकर जाने की आज्ञा आपकी अनुचित है, इस प्रकार गोपियों ने भाव सूचित किया है। जिस प्रकार से भगवान् मुमुक्षुओं को भजते हैं, और ये मुमुक्षु आत्मीय हैं-हमारे हैं, इस प्रकार स्वीकार करते हैं, उस समय भगवान् आत्मरूप से स्फुरित होते हैं, और अपना आनन्द प्रदान करते हैं, श्रुति कहती है कि 'एष ह्येवानन्दयाति' यही आनन्द देता है।

यदि कहो कि 'भज' धातु सेवा अर्थ में है, जब कि भगवान् आत्मीयता से परिग्रह करते हैं, तो फिर भजनत्व कैसे हो सकता है। और 'एष ह्येव' 'को ह्येवान्यात्' 'कः प्राण्यात्' 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि श्रुतियां जीवनरूप कार्य को लेकर कही गई हैं, फिर मुमुक्षु के विषय में कैसे होंगी ?

इस शंका के उत्तर में न्याय कहते हैं 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि' यह न्याय चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद में है। 'स्वाप्यय' सुषुप्ति, और सम्पत्ति-पुष्टिमार्गीय मोक्ष, इन दोनों अवस्थाओं में से एक अवस्था अपेक्ष है, अर्थात् इन दोनों अवस्थाओं में भगवान् प्रकट होते हैं।

इस न्याय में 'आविष्कृतम्' यह पद भावार्थक त्कान्त है, इसलिये इसका अर्थ इस प्रकार होता है कि सुषुप्ति की अपेक्षा करके उसमें साक्षीरूप भगवान् की सम्पत्ति-ब्रह्मसम्पत्ति मोक्ष है, अथवा ब्रह्म सम्पत्तिदान करने के लिये भगवान् का प्राकट्य होता है।

प्रकृत विषय में भी 'देवो यथा भजते' इस दृष्टान्त से मुमुक्षु के समान अभजन की प्राप्ति और 'आदि पुरुषोयथा' इसके कहने से 'तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' इस श्रुति में कहे प्रकार से जीवान्तर्यामी भाव से प्रविष्ट हुए भगवान् द्वारा भजन करने की प्राप्ति होती है, इस प्रकार उक्त न्याय से मुमुक्षुओं के लिये भगवान् आप प्रकट होते हैं, और मुमुक्षुओं को भजते हैं।

उक्त न्याय का विशेष विवरण भाष्य और उसके प्रकाश आदि में लिखा है विस्तारभय से सारांश लिखा है, विशेष जिज्ञासुओं को वहां देखना चाहिये।

यदि भगवान् मुमुक्षुओं का भजन नहीं करें तो मुमुक्षु भी भगवान् का भजन नहीं करें? अतः अपना भजन कराने के लिये भगवान् फल देकर भजन करते हैं।

गोपियां कहती हैं कि आप मुमुक्षुओं का फिर संसार में पात नहीं करते हो, निरन्तर अपने स्वरूप में ही स्थापन करते हो। उसी प्रकार हमारे लिये धर्मस्वरूप प्रकट करके अपने आनन्द का दान करो। अर्थात् इस प्रकार से हमारा भजन करो। वस आपका यही एक कर्तव्य है।

'मुमुक्षु' पद से यह भी सूचन किया है कि हमारी प्रार्थना से हमारा एक बार अङ्गीकार करके मोन धारण कर लो, इस प्रकार के भाव पक्ष का भी निरास किया है।

आगे रास लीला के अनन्तर घर जाने की आज्ञा, तथा घर में स्थिति कराना आदि कार्य तो रस पोषण करने के लिये ही हैं, घर में आसक्ति आदि के लिये नहीं हैं, इस प्रकार समझना चाहिये। भगवान् के प्रथमवचन श्रवण करने के अनन्तर गोपियों का चित्त व्यग्र हो गया था इसलिये आगे वाक्यों का उत्तर क्रम से नहीं दिया है ॥ ३१ ॥

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग

स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।

अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे

प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥ ३३ ॥

पदपदार्थ—(हे अङ्ग) (यत्) जो (पत्यपत्यसुहृदाम्) पति, पुत्र तथा सुहृदों की (अनुवृत्तिः) सेवा (स्त्रीणां) स्त्रियों का (स्वधर्मः) अपना धर्म है। (इति धर्मविदा) यह बात धर्म के जाननेवाले (त्वया) आपने (उक्तम्) कही है (एतत्) यह धर्म (उपदेशपदे) उपदेश के आश्रय (ईशे) ईश्वर-स्वामी (त्वयि) आप में (एव) ही (अस्तु) हो (भवान्) आप (तनुभृतां) देहधारियों के (श्रेष्ठः) प्रियतम (बन्धुः) सगे सम्बन्धी (आत्मा) आत्मा हो धारण करनेवाले हो (किल) यह प्रसिद्ध है ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—हे अङ्ग जो धर्म जाननेवाले आपने कहा है कि पति पुत्र सुहृदों की सेवा करना स्त्रियों का स्वधर्म है, यह हमारा धर्म उपदेश के आश्रयरूप आप ईश्वर में ही है। कारण कि यह प्रसिद्ध है कि आप देहधारियों के प्रियतम बन्धु आत्मा सर्वरूप हो ॥ ३२ ॥

(सुबो०) यदपि भगवतोक्तं 'स्त्रीणां स्वधर्मपरित्यागोऽनुचित' इति, 'एषा रजनी घोररूपा, नेह स्त्रीभिः स्थेय' मिति । तत्राप्योहुः—यत्पत्यपत्येति पतिरपत्यानि सुहृदश्च । एषा अनुवृत्तिः स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वया

उक्तम् । बहिर्मुखा हि धर्मशास्त्रज्ञाः, शरीरमेव धर्म स्वधर्ममाहुः । नत्वात्म-धर्मं भगवद्धर्मं वा । यतस्ते अनात्मविदः । तथा धर्मविदैव त्वया, नत्वस्मान् विचार्य, आत्मानं वा, त्वयोक्तम् । तस्याप्यस्माभिर्विषयनिर्धारः क्रियते, न तु दूष्यते । तदाहुः—अस्त्वेवमेतदिति । स्त्रीभिः स्वधर्मः कर्तव्य इति यदुक्तम्, तदेव मेवास्तु । न हि पत्यादयः धर्मस्वरूपम्, नाप्याधारः, किन्तु निमित्तम् । स च धर्मः अनुष्ठीयमानः प्रमीयमाणश्च भवति । अनुष्ठीयमाने पुत्रादयो, निमित्तम् । प्रमीयमाणे गुरुः । अतः सा अनुवृत्तिः प्रथमतो गुरावस्तु, अन्यथा स्वधर्मो जात एव न स्यात् । न च भगद्वाक्यमनुवादकम् । पूर्वमस्माकं धर्मज्ञात्वाभावात् । अन्यथा तदेव क्रियेत । नापि सेवाव्यतिरेकेणायं धर्मः स्फुरति । अन्यथा वचन-मात्रेणैव गतं स्यात् । अत उादिष्टस्य सिद्धयर्थं सेवां कारय । उपदेशस्य पद-माश्रयः कर्तव्यं भवति । अङ्गेति कोमलसम्बोधनात् नास्माभिः प्रतिकूलतया निरूप्यते । किञ्च, स्वधर्मो अनेकविधाः, स्वापेक्षयोत्कृष्टविषयाः, समानविषयाः, हीनविषयाश्च । तत्र पूर्वपूर्वधर्मप्राबल्यम् । यथा स्त्रीणां पतिपुत्रादीनां स्व-समानानां सेवा धर्मः । एवं स्वनियामकस्येश्वरस्यापि अनुवृत्तिर्मुख्यो धर्मः । अन्यथा तत्प्रेरणाभावे पतिसेवादौ न प्रवर्तते । अतः प्रकृतेऽपि भवानीश्वरः अन्तर्यामी । तादृशोऽपि भूत्वा पतिपुत्राद्यर्थं न प्रवर्तयसे, किन्तु स्वसेवार्थमेव प्रेरयसि, अतो वाक्योक्तधर्मसिद्धयर्थमपि भवान्नादौ सेव्यः । किञ्च, धर्मो धर्मि-मूलः, तदविरोधेन कर्तव्यः, फलार्थं च कर्तव्यः, अन्यथा चेद्, अनिष्टेऽपि पुरुषं प्रवर्तयन् अनासः स्यात् । अत एव धर्मशास्त्रप्रियत्वात् शरीरस्य तदनुरोध उक्तः । 'द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीय' इति न्यायाच्च । तत्कस्यचित् प्रियो देहः, कस्यचिदात्मा, कस्यचित् परमात्मा, कस्यचिन्निर्वाहकः । भवांस्तु सर्वरूपो भवति, यतः अत्यन्तम् प्रेष्ठः परमप्रेमास्पदमानन्दः । बन्धुर्देहनिर्वाहकश्च । किञ्च, न केवलमस्माकम्, किन्तु तनुभृतां सर्वेषामेव देहधारिणाम् । ('भवाय' नाशाय' त्यत्र त्वया दत्तमेव शरीरं त्वद्विचारितप्रयोजनार्थं जीवो गृहीत्वा तिष्ठतीति निरूपितम् । अतः स देहः भगवदीयः भगवतैव स्थापितः, तस्मै निवेद्य तदनुपयोगे जाते, पश्चादन्यस्मै देयः । चेतनो हि प्रेर्यः । अतः यावद्भगवदुपयोगं ज्ञास्यति, तावन्नान्यस्मै दास्यति बोधितोऽपि ।) यतस्तनुभृतां त्वमेव प्रेष्ठः । श्रेष्ठाय च देयं प्रियं वस्तु । अत्रार्थे किलेति प्रसिद्धिरेव प्रमाणम् । किञ्च, न केवलं देहदाता, किन्तु बन्धुरपि, येन प्रयत्नेन शरीरं विभर्ति स बन्धुः, आत्मा

धारकश्च । अतः अन्तरङ्गबहिरङ्गन्यायेन नित्यानित्यन्यायेन वा भ(ग)वत्से-
वैव मुख्या । यदा पुनस्त्वदनुपयोगः, तत्रापि चेत्तथा प्रेरणम्, तदान्यस्मै दास्यामी-
नान्यथेति । धर्मविचारो धर्मादप्यधिकः ।

एतच्च त्वदनङ्गीकृतं सर्वमेव विरुद्धं भवतीति प्राच्यन्ते अस्त्विति । सर्व-
रूपत्वान् त्वमेव सेव्य इति वा । अन्यत्र सर्वसेवा प्राप्ता, अंशतो बाधिता स्यात्,
विनिगमकाभात् । अनेन स धर्मोऽपि न भवति, यः कालादिना बाध्यते, अश-
क्यश्च भवति । न हि प्रमाणं विरुद्धं विधत्ते । अतः पत्यादिसेवाविधायकं च
शास्त्रं त्वत्सेवामेव विधत्ते । अतः अनुवादपक्षे स्वतन्त्रविधानपक्षे वा भगवत्सेवै-
वोचितेति भावः ॥ ३२ ॥

भगवान् ने श्लोक १९ तथा २४ में गोपियों से कहा है कि स्त्रियों को स्वधर्म-त्याग करना
उचित नहीं है, 'यह रात्रि घोररूप है, यहां स्त्रियों को रहना नहीं चाहिये । घर जाकर पति-पुत्र
आदि की सेवा करो ।'

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'यत्पत्यपत्य' इत्यादि पति-पुत्र तथा सुहृदों की
सेवा करना स्त्रियों का स्वधर्म है, इस प्रकार धर्म जाननेवाले आपने कहा है, इसमें हमारा यह
कहना है कि धर्मशास्त्र जाननेवाले बहिर्मुख हैं, कारण कि धर्मशास्त्र जाननेवाले शरीरधर्म को
ही स्वधर्म कहते हैं, आत्मधर्म, भगवद्धर्म को स्वधर्म नहीं कहते हैं, इसका कारण यह है कि धर्म-
शास्त्र जाननेवाले आत्मवेत्ता नहीं होते हैं, इसलिये शारीरधर्म को जान करके ही आपने भी
कहा है ।

हम शारीरधर्म तथा आत्मधर्म सम्बन्धिनी नहीं हैं, हम तो स्वरूप-सम्बन्धिनी हैं, इस
प्रकार आपने हमारे स्वरूप का विचार नहीं करके और पुरुषोत्तम-आपका प्राकट्य भजन सम्पा-
दन करने के लिये ही हुआ है, अतः आपने अपने स्वरूप का भी विचार नहीं करके शारीरधर्म
की दृष्टि से कहा है ।

नारदादि महर्षियों ने भगवद्धर्म, और याज्ञवल्क्य आदि ने आत्मधर्म अपने-अपने शास्त्रों
में कहा है ।

जिस समय देह विशिष्ट को कर्ता मानते हैं, उस समय ही शारीरधर्म को स्वधर्म कहते हैं,
अन्य समय नहीं कहते हैं, नहीं तो 'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' इत्यादि वाक्यों में
धर्म को परम नहीं कहते, इसलिये धर्म का बोधन जिस प्रकार वहां पर जघन्याधिकार विषय है,
उसी प्रकार यहां भी जघन्य-हीनाधिकार शारीरधर्म है ।

यदि कहो कि शारीरधर्म अध्ययन विधि की तरह प्रथमाधिकार का अनुसरण करने का
है, बहिर्मुखता से नहीं कहा है ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि आपने जो कहा है, उस विषय का भी हम
निर्णय करती हैं । किन्तु दूषण नहीं देती हैं, 'अस्त्वेवमेतत्' आपने कहा है कि स्त्रियों को आपन
धर्म पालन करना चाहिये, वह धर्म पालन उसी प्रकार हो, अर्थात् उस धर्मपालन करने की
व्यवस्था इस प्रकार है—

पति पुत्र आदि धर्मस्वरूप नहीं हैं, और धर्म के आधार-आश्रय भी नहीं हैं, किन्तु केवल
धर्म के ही निमित्त हैं, धर्म दो प्रकार का है—(१) एक अनुष्ठान करने योग्य (२) दूसरा

जानने योग्य, अनुष्ठान करने योग्य जो धर्म है, उसमें पति पुत्रादि निमित्त हैं, और जो प्रतीय-
माण-जानने योग्य धर्म है, उसमें गुरु-आचार्य निमित्त हैं, अतः स्त्रियों का धर्म कह कर भगवान्
ने जिस धर्म का उपदेश किया है, वह सेवाधर्म प्रथम गुरु में होना चाहिये, अन्यथा—यदि इस बात
को नहीं मानते हैं तो प्रथम गुरु की सेवा नहीं की जाय तो अपना धर्म क्या है, इस प्रकार ज्ञान
ही नहीं होगा ।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो ! मैं गुरु नहीं हूँ, किन्तु तुमने जो प्रथम पत्यादि की सेवा
की है, उसका अनुवाद कर रहा हूँ । पत्यादि-सेवा का गुरु की तरह उपदेश नहीं कर रहा हूँ ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि भगवान् का वाक्य अनुवाद करनेवाला गौण नहीं है,
कारण कि भगवान् ने जब से धर्मोपदेश किया है, इससे पहिले हमको धर्म का ज्ञान नहीं था,
उपदेश के अनन्तर ही हमको धर्म का ज्ञान हुआ है, अर्थात् गोपियां पहिले जो अपने पति आदि
की सेवा करती थीं वह अन्य स्त्रियों को देख कर करती थीं, शास्त्रीय धर्म जानकर नहीं करती थीं
कारण कि इनको शास्त्रविधि का ज्ञान नहीं था, इसलिये आपका कहा वाक्य प्रमाण है, अनुवाद
नहीं है ।

यदि भगवान् पहिले ही इस उपदेश को करते, तो हम यहां न आकर पति-पुत्रादि की
सेवा ही करतीं, अतः आपका कहा वाक्य अनुवाद नहीं है, प्रमाण ही है ।

यदि भगवान् कहते हैं कि गोपियो, अब तो तुमको धर्म का ज्ञान हो गया, घर को पधारो
और वहां पति-पुत्रादि की सेवा करो ।

इसका उत्तर गोपियां 'नापि' इत्यादि से देती हैं कि गुरु की सेवा बिना शास्त्र में कहा
हुआ भी धर्म स्फुरित नहीं होता है ।

यदि एकबार श्रवण मात्र से धर्म स्फुरित हो जाय तो गुरुसेवा विधान करनेवाला शास्त्र
व्यर्थ ही हो जाय, अतः गुरुसेवा धर्मस्फूर्ति के लिये अवश्य ही करनी चाहिये । अन्यथा—नहीं तो
यदि एकबार श्रवण करने से धर्मस्फूर्ति हो जाती होती तो हम आप गुरु की सेवा किये बिना ही
आपके वचन से ही घर लौटकर चली जातीं, अतः आपने जिस धर्म का उपदेश किया है, उस धर्म
को सिद्ध करने के लिये पहिले हमसे आप अपनी सेवा कराइये, कारण कि उपदेश का पद-आश्रय
उपदेष्टा ही होता है, आप उपदेश करें, आपकी सेवा से हमको धर्म स्फुरित होगा ।

हे शृङ्ग ! यह सम्बोधन कोमल है, इससे गोपियां यह सूचित करती हैं कि हमने आपके
प्रतिकूल कुछ भी नहीं कहा है, इस प्रकार गोपियों ने प्रथमाधिकार गुरुसेवा अङ्गीकार करके
धर्मव्यवस्था के विचार से विषय निर्धार किया है ।

अब आगे गोपियां वाक्य के तात्पर्य का विचार करके विषय निर्धार करती हैं 'किञ्च'
स्वधर्म अनेक प्रकार के हैं, कितने ही धर्म अपनी अपेक्षा उत्तम विषयवाले होते हैं, और कितने
ही धर्म समान विषयवाले होते हैं, और कितने ही धर्म अपनी अपेक्षा हीन विषयवाले होते हैं, इस
प्रकार उक्त धर्मों में प्रथम प्रकार का उत्तम, दूसरा मध्यम और तीसरा हीन होता है ।

जिस प्रकार स्त्रियों को पति, पुत्र आदि अपने समान धर्मवालों की सेवा करना धर्म है,
उसी प्रकार अपने नियामक—अन्तर्यामी ईश्वर की भी सेवा करना सर्वप्राणीमात्र का मुख्य
धर्म है ।

यदि इस बात को नहीं मानें तो ईश्वर की प्रेरणा बिना जीव पति पुत्रादि की सेवा में
प्रवृत्त कैसे हो सकता है, कारण कि समान धर्मवाले पति-पुत्रादि की सेवा से उत्तम धर्म ईश्वर सेवा
है । अतः प्रकृत में भी आप ईश्वर अन्तर्यामी हो, हमारे प्रेरक होते हुए भी हमको आप पति-

पुत्रादि की सेवा करने के लिये प्रेरणा नहीं करते हो, किन्तु आप अपनी सेवा करने के लिये ही प्रेरणा कर रहे हो।

इस प्रकार गोपियों के कहने से सूचित होता है कि आप हमारी सेवा से प्रसन्न होकर पश्चात् पति-पुत्रादि की सेवा के लिये प्रेरणा करेंगे, उस समय आपके कहे हुए धर्म की सिद्धि होगी। इस प्रकार हमने अनुभव प्रमाण से निश्चय किया है।

जिस प्रकार वेद में परोक्षवाद से कर्म दूर करने के लिये कर्मों का विधान किया है, उसी प्रकार यहां भी कर्मों का विधान है। कर्मों का जिस प्रकार आपकी सेवा में पर्यवसान है, उसी प्रकार इस धर्म का भी आपकी सेवा में पर्यवसान है, अतः आपने जो पति-पुत्रादि की सेवा करना स्त्रियों का धर्म कहा है, उस धर्म की सिद्धि के लिये भी हमको प्रथम आपकी सेवा करनी ही योग्य है, इस प्रकार गोपियों ने विधितात्पयं विचार से विषय निर्धार किया है।

अब इसके आगे गोपियां विध्यर्थक अनुष्ठान अधिकार का विचार करके विषय निर्धार करती हैं।

गोपियां भगवान् से कहती हैं कि आप धर्म के मूल हो, इसलिये आपकी सेवा करनी चाहिये, इसी को आगे कहती हैं 'किञ्च' धर्म और धर्मी देही धर्म करनेवाले के आधार पर रहता है, इसलिये धर्मी कर्मों के स्वरूप के साथ जिस प्रकार विरोध नहीं हो, उस प्रकार धर्म भोगना चाहिये, और फल के लिये धर्म करना चाहिये, अर्थात् धर्मानुसार कर्ता को फल मिले बिना चाहिये, अन्यथा—जो इस प्रकार नहीं माने और धर्मी के साथ विरोध करके, तथा फल मिले जाये, धर्म करे तो अनिष्ट—निष्फल धर्म में भी पुरुष की प्रवृत्ति करानेवाली वेदविधि अनाप्त हो जाये, अर्थात् वेदविधि में प्रमाणत्व नहीं रहे, फिर वेदविधि में किसी को विश्वास नहीं हो। अतएव धर्मी के साथ विरोध नहीं करने से धर्म शास्त्र में शरीर प्रिय होता है, और इसी से शरीर में आत्मत्व स्वीकार करके शरीर का अनुरोध कहा है। अर्थात् प्रिय धर्मी है, इस प्रकार सिद्ध हुआ, धर्म का धर्मी—देह मूल है, इसमें न्याय कहते हैं कि—

'द्रव्यं संस्कार विरोधे द्रव्यं बलीयः'।

द्रव्य संस्कार के विरोध में द्रव्य बलिष्ठ है, यहां संस्कार धर्म है, और द्रव्य धर्मी है, इन दोनों के विरोध में द्रव्य बलिष्ठ है, इस प्रकार पूर्वमीमांसा में कहा है।

भगवान् कहते हैं कि तो फिर गोपियो देह का ही अनुरोध करना चाहिये, मेरे लिये आप सब इतना क्लेश क्यों पा रही हो?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि प्रिय के अविरोधपूर्वक शरीर का अनुरोध करना चाहिये, उस प्रिय में फल सम्पादन करने के लिये देह, आत्मा, परमात्मा और निर्वाहक को कर्तव्यसिद्धि में कहे हैं। इसमें किसी को देह प्रिय है, तो किसी को आत्मा प्रिय है, और को परमात्मा प्रिय है, तो किसी को निर्वाहक—निर्वाह करनेवाला प्रिय होता है।

आप तो उक्त सर्व रूप हो, कारण कि अत्यन्त श्रेष्ठ—प्रियतम परम प्रेमास्पद आनन्द ही अर्थात् देहादि सर्व आप ही हो, परम प्रेमास्पद से देहरूप, आनन्द पद से आत्मरूप कहा है, कारण बीजरूप है, इसलिये सर्वात्मरूप हो यह भाव है।

आप ही बन्धु हो और देहनिर्वाहक हो, गोपियों ने बन्धु पद से परमात्मा कहा है, कारण कि अन्तर्यामी जीव का सखा है, चौथा निर्वाहक तो स्पष्ट ही है, इस प्रकार गोपियों ने उपनिषद् शब्द से भगवान् को धर्मी सिद्ध किया है, अतः शास्त्र में देह का अनुरोध अपने देह की ओर नहीं है, किन्तु प्रिय की उपाधि है, आप ही सर्व प्रकार से प्रिय हो, इसलिये आपका ही

कर्तव्य है, देह का नहीं, आप धर्म के मूल हैं, अतः अनुष्ठान अधिकार विचार से भी आप ही सेव्य हैं।

यदि आप कहो कि भले ही मैं सेव्य हूं, किन्तु देह तो सेव्यमात्र-पति-पुत्रादि की भी साधारण है, इसलिये मेरे ही में एक विनियोग करने के लिये तुम्हारा इतना आग्रह क्यों है?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'किञ्च'। इस प्रकार के स्वरूप का आप केवल हमको ही बोध नहीं करते हो, किन्तु सम्पूर्ण देह धारण करनेवाले मनुष्यों का बोध करते हो, अतः अपने एकमात्र सम्बन्धी की अपेक्षा जो सर्व का सम्बन्धी है, उसकी मुख्यता है, इसलिये आप ही सेव्य हैं।

भागवत पञ्चम स्कन्ध अ० १ श्लोक १३ में प्रियव्रत से ब्रह्माजी कहते हैं —

भवाय नाशाय च कर्मकतुं शोकाय मोहाय सदाऽभयाय।

सुखाय दुःखाय च देहयोगमव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते ॥

इस श्लोक में कहा है कि आपका दिया शरीर, आपके विचारित भव आदि प्रयोजन के लिये जीव ग्रहण करके स्थित होता है, अतः यह देह भगवदीय है, भगवान् ने ही दी है, भगवान् के लिये निवेदन करनी चाहिये, भगवान् के लिये निवेदन करने के अनन्तर जब भगवान् के उपयोग में नहीं आयेगी तब पश्चात् अन्य को देने योग्य है, पहिले ही देय नहीं है।

चेतन को ही भगवान् की प्रेरणा सम्भव होती है, अर्थात् चेतन तो प्रियवस्तु प्रेष्ठ के लिये ही देगा, अन्य को नहीं देगा, यह भाव है।

जिस प्रकार प्रियव्रत राजा को राज्य आदि अर्थ में अपने देह के उपयोग करने का ज्ञान नहीं था, तब ब्रह्माजी ने इस प्रकार का ज्ञान राजा को दिया था, उसी प्रकार आप हम अज्ञान से दूसरों के लिये अपनी देह दे रहे हैं, उससे रोककर अपनी सेवा कराने के लिये प्रेरणा करो।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो आप सब ठीक ही कह रही हो। मैं ही सर्वजीवों का प्रेरक हूँ, तो फिर इस समय प्रियव्रत की तरह तुमको घर भेज कर पति आदि की सेवा करने के लिये प्रेरणा करता हूँ, अतः घर जाकर पत्यादि की तुमको सेवा करनी चाहिये।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (अतः) इसलिये, जहां तक जीव इस शरीर का भगवान् में उपयोग जानेगा, वहां तक बोध करने पर भी अपना शरीर अन्य के लिये नहीं देगा, कारण कि आप सर्वदेहधारियों के प्रेष्ठ हो—प्रियतम हो, प्रियतम के लिये ही प्रियवस्तु देने योग्य होती है।

और प्रियव्रत को तो देहाभिमान नहीं था, इसलिये उसने ब्रह्मा के उपदेश से भी देहाभिमानरहित होकर ही राज्यादि कार्य किया था, इस बात को वहां पर ही कहा है 'अनवबुध्यमान इव महामना बुभुजे' हृदय में तत्त्व को जानकर, और बाहर से अज्ञान दिखाता, अथवा देहाभिमान की तरह महामना प्रियव्रत राज्य भोग भोगता हुआ।

गोपियां कहती हैं कि हमको देह प्रिय है, और आप प्रियतम हो, इसलिये प्रियवस्तु प्रियतम को देना योग्य ही है। इस प्रकार के अधिकार में यही करना चाहिये, इसमें प्रमाण कहती हैं 'अत्रार्थे किल' यहां इस अर्थ में 'किल' प्रसिद्ध ही प्रमाण है।

प्रेष्ठत्व का वर्णन करने के लिये अन्य पदों का व्याख्यान करते हैं, 'किञ्च'। गोपियां कहती हैं कि आप केवल देहदाता ही नहीं हो, किन्तु बन्धु भी हो। जिस पुरुष के कारण से—अर्थात् जिसके लिये जीव प्रयत्न करके अपने शरीर का पोषण करता है, वह बन्धु और आत्मा हमारे शरीर

को रखनेवाले भी आप ही हो। अतः अन्तरङ्ग-वहिरङ्गन्याय से, अथवा नित्य-अनित्यन्याय से आप भगवान् की सेवा करना ही मुख्य है।

शरीर का भरण-पोषण करनेवाले तथा धारण करनेवाले भगवान् अन्तरङ्ग और नित्य हैं, और शरीर के साथ सम्बन्ध करनेवाले समग्र पदार्थ वहिरङ्ग हैं, और अनित्य हैं, वहिरङ्ग की अपेक्षा अन्तरङ्ग कार्य प्रथम किया जाता है, इसी प्रकार अनित्य की अपेक्षा नित्य कार्य प्रथम होता है, यह सामान्य न्याय है, अतः अन्य सर्व कार्य वहिरङ्ग और अनित्य की अपेक्षा अन्तरङ्ग और नित्य भगवान् की सेवा करना मुख्य है, इसलिये पुनः जिस समय हमारे देह का उपयोग आप में नहीं होगा, उस समय यदि आपकी प्रेरणा होगी, कि तुम अपना देह अन्य पति आदि के लिये दे दो, तब हम अन्य पति आदि को अपना शरीर दे देंगे, अन्यथा नहीं देंगे।

धर्मी वस्तु का विचार धर्म वस्तु के गुण से भी अधिक है, कारण कि यदि आप अन्य लोगों के लिये सर्व धर्म आदि को स्वीकार नहीं करें तो सर्व धर्म ही विरुद्ध-विफल हो जाते हैं, आप जब धर्म को स्वीकार करते हो तभी धर्म सफल होता है, इसीलिये आपकी वस्तु शब्द से हम प्रार्थना करती हैं।

अथवा आप ही पति आदि सर्वसेवारूप हो, अर्थात् आपकी सेवा करने से सर्व की सेवा हो जाती है, अतः आपकी सेवा सर्वरूप है, इसलिये आप ही सेव्य हैं। कारण कि आपकी सेवा के बिना अन्यत्र पति आदि में की गई सेवा एक समय में सर्व की सेवा जो प्राप्त होती हो तो कितने ही अंश में सेवा का बाध हो जाय, कारण कि अमुक की सेवा करनी, अमुक की सेवा नहीं करनी, इसका निर्णय करनेवाला नियामक प्रमाण कोई नहीं है, और जिस धर्म का काल आदि से बाध होता है, और अशक्य होता है, वह धर्म ही नहीं होता है, प्रमाण कभी विरुद्ध धर्म का विधान नहीं करता है, अतः पति आदि की सेवा विधायक शास्त्र, तथा भगवत्सेवा विधान करनेवाला शास्त्र आपकी सेवा का ही विधान करता है।

पत्यादि की सेवाविधि में भी 'या पति हरि भावेन' इत्यादि वाक्य आपकी ही सेवा करना वतला रहे हैं, और राग से प्राप्त हुई अन्य की सेवा करने का तो अनुवाद करते हैं, इसलिये अनुवाद पक्ष में अथवा स्वतन्त्र पक्ष में आपकी सेवा करना ही उचित है, यह भाव है।

अनुवाद पक्ष तथा स्वतन्त्र पक्ष का स्पष्टीकरण इस प्रकार है, कि शास्त्र भगवान् की सेवा तथा पति आदि की सेवा, दोनों का विधान करता है। फिर भी पति आदि की सेवा प्राप्त हो अंश में बाधित होती है, और पति आदि की सेवा राग होने के कारण अपनी इच्छा से बाधित होती है, इसलिये इसका शास्त्र में अनुवाद किया है, अतः भगवान् की ही सेवा करनी चाहिए, इस प्रकार पति आदि की सेवा करने में अनुवाद पक्ष कहा है।

पति आदि की सेवा करने में स्वतन्त्र पक्ष—पति आदि की सेवा करने का शास्त्र में स्वतन्त्र विधान कहा है, यदि इस प्रकार मानते हैं तो धर्मज्ञान आदि के लिये आपकी गुरुत्त्व से सेवा प्राप्त होती है ॥ ३२ ॥

(सुबो०) एवं राजसीनां निरूप्य सात्त्विकीनां निरूपयति कुर्वन्ति हीति ।
इस प्रकार राजसी गोपियों ने भगवान् से जो कहा, उसका निरूपण करके सब सात्त्विकी गोपियां भगवान् से कहती हैं, उसको श्रीशुकदेवजी कहते हैं।

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।

तन्नः प्रसीद वरदेश्वर मास्म छिन्या

आशां धृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥ ३३ ॥

पदपदार्थ—(कुशलाः) चतुर पुरुष (स्व) अपने (आत्मन्) आत्मरूप (नित्यप्रिये) सदाप्रिय (त्वयि) आप में (रतिं) प्रीति को (कुर्वन्ति) करते हैं (हि) जिससे (आर्तिदैः) दुःख देनेवाले (पतिसुतादिभिः) पति पुत्र आदि से (किम्) हमको क्या प्रयोजन है (तत्) इससे (हे वरदेश्वर) हे वर देनेवालों के ईश्वर (नः) हमारे ऊपर (प्रसीद) प्रसन्न हो जाओ (चिरात्) बहुत काल से (त्वयि) आपमें (धृतां) धारण की (आशां) आशा को (हे अरविन्दनेत्र) हे कमल सदृश लोचनवाले (मा) मत (छिन्याः स्म) काटो ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—हे कमलनेत्र, चतुर पुरुष नित्य प्रिय अपने आत्मरूप आप में प्रीति करते हैं, दुःख देनेवाले पति-पुत्रादि में प्रीति करने से हमको क्या प्रयोजन है, अतः हे वर देनेवालों के ईश्वर ! आप हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ, और जो बहुत काल से हमने आपके विषय में आशा धारण की है उसको मत काटो, पूरण करो ॥ ३३ ॥

(सुबो०) यद्यप्युक्तं 'मातरः पितर' इति, 'मा कृद्वं बन्धुसाध्वस' मिति, तत्किमिदम्प्रथमतयास्माभिरेव क्रियते, आहोस्विदन्येऽपि कुर्वन्ति । तत्रापि किमधमाः मात्राद्यनुवृत्ति कुर्वन्ति, आहोस्विदुत्तमाः । उत्तमा अपि त्वत्सेवायामशक्ताः, आहोस्वित् शक्ता इति विचारणीयम् । अस्मिन्नर्थे निर्णायकं महतां चरित्रमाहुः । ये त्वात्मनि कुशलाः आत्महिताशिनः, न तु देहेन्द्रियाणां, ते त्वय्येव रतिं कुर्वन्ति । स्नेहेन हि क्रिया भवति । भगवत्कृतकृतमेव जीवगामि भवतीति । तदुपपादितम् 'तच्चात्मने प्रतिमुखस्ये' त्यत्र । प्रीत्या च सेवा भवति । यदि पुत्रादिसेवापि धर्मः स्यात्, तदा पुरुषार्थत्वेनात्मपर्यवसायिनी स्यात् । 'कुशला' इत्यनेन तेषां कौशलमेतत्, प्रवृत्त्यपेक्षया निवृत्तिरुत्तमा । इन्द्रियदमन-सामर्थ्याभाव एव अन्यगामि कर्तव्यम्, 'यतो यतो निवर्तते' त्यत्र निरूपितम् । निरुद्धानीन्द्रियाण्यात्मगामीनि भवन्ति । तत्राप्यात्मगामीनि तदैव भवन्ति, यदि त्वदर्थमुपयुक्तानि भवन्ति । अतः केवलनिग्रहकर्तृपेक्षया ये त्वयि रतिं कुर्वन्ति, ते कुशला इति हि शब्दार्थः । त्वय्येत्येकवचने च पूर्ववदेकत्र सर्वसंभवो निरूपितः । किञ्च, भवान् स्वात्मा स्वरूपभूतः, न त्वदध्यासन्यायेन तथा जातः । किञ्च, प्रियस्य हि सेवा कर्तव्या, स चेत्प्रियः कालपरिच्छेद्यो न भवति, स भवानेव, अन्यथा जारसेवापि धर्मः स्यात्, जन्मवत् दिनस्यापि परिच्छेदकत्वात् । किञ्च, पतिसुतादयश्च न धर्महेतवो भवितुमर्हन्ति । यतः आर्तिदाः । न हि धर्म-निमित्तानि कदाचित् दुःखदानि भवन्ति । अन्यथा संसारो न स्यात् । अतस्तैः किम् । तेषां भयमस्तु, अन्यद्वा, न तैः किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः । परमेकमेव प्रार्थनीयम्, यदभावे सर्वं शास्त्रं युक्तिश्च व्यर्था स्यात् । तदाहुः, तत्तस्मात् प्रसीद, त्वं

प्रसन्नो भव । त्वदप्रसादादेव लोका भ्रान्ताः दुःखहेतुष्वपि प्रवर्तन्ते । ननु किं साधनं प्रसादे भवतीनामिति चेत्, तत्राहुः वरदेश्वरेति । ये हि वरान् प्रयच्छन्ति, ते लोकानां क्लेशं ज्ञात्वा, यतो दयालवः, अन्यथा तपसि क्रियमाणे वरं न प्रयच्छेयुः । तेषामपि त्वमीश्वरोऽतिदयालुः । तद्द्वारापि सर्वेषां दुःखशमनं करोषि । अतो वयं क्लिष्टाः । क्लेश एव साधनम्, तपोवत् । निषिद्धप्रकारस्तु यद्यत्र कश्चन भविष्यति, स न कर्तव्यः । ननु यच्चैतावन्तं कालं पतिसेवा कृता, एवमेवाग्रेऽपि कर्तव्या, प्राप्तत्वात् । गौणमपि कर्म समारब्धं समापयेदिति, तस्मादविचार्यैव पतिसेवां कुरुतेति चेत्, तत्राहुः-मास्म छिन्द्या आशां धृतामिति । नास्माभिः पतिसेवा कृता, तदर्थं वा स्थितम्, त्वदाशया स्थितम्, मध्ये स्थिति-निर्वाहार्थमेव तदङ्गीकारः । इदानीं चेत् समागतानामभिलषितार्थो न सिध्येत्, तदा आशा भग्ना भविष्यति । तस्यां गतायां प्राणा एव गमिष्यन्तीति । अत एव केनचित् स्त्रीहृदयज्ञेन निरूपितम्, 'आशावन्धो हृदयं रुणद्धी'ति । एतस्य मूलमपि स्त्रीशास्त्रे भविष्यति । चिरात् त्वय्येव धृताम्, तस्यां छिन्नायां अवलम्बनाभावात् अधः पतिष्याम इति । स्मेत्ययमर्थः प्रसिद्धः । अरविन्दनेत्रेति सम्बोधनं दृष्ट्यैवाप्यायकत्वं निरूपयति । ('आशाहेतुरप्यनेनोक्तः, तापहारक-दृष्ट्या दर्शनात् । भावोद्धारिण्या एव तथात्वात् । इयदवधि जीवनमप्यत एवेति भावः ।) ॥ ३३ ॥

गोपियां कहती हैं कि आपने (श्लो० २० में) कहा था कि माता-पिता आदि तुम्हारी खोज करेंगे, उनको तुम भय उत्पन्न मत करो । इसके उत्तर में हमको यह कहना है कि घर का त्याग प्रथम हमने ही किया है, अथवा किसी और ने भी हमसे प्रथम किया है, अथवा करते हैं, सर्वे-सम्बन्धियों को आस नहीं करनेवाले पुरुषों में भी क्या अधम कोटि के मनुष्य माता-पिता आदि की सेवा करते हैं, अथवा उत्तम कोटि के मनुष्य माता-पिता आदि की सेवा करते हैं ।

उत्तम कोटि के मनुष्य आपकी सेवा करने में अशक्त हैं, इसलिये माता आदि की सेवा करते हैं, अथवा आपकी सेवा करने की सामर्थ्य होते हुए भी उत्तम पुरुष माता आदि की सेवा करते हैं, यह सब बात विचार करने योग्य है । हम इस विषय का निर्णय करनेवाले महत् पुरुषों का चरित्र आपसे कहती हैं, सुनिये ।

जो लोग आत्मविषय में कुशल होते हैं, अर्थात् आत्महित चाहनेवाले हैं, और देह-इन्द्रियों का हित नहीं चाहनेवाले हैं, वे सब लोग आप में ही प्रीति करते हैं ।

यहां पर 'आत्मकुशलः' आत्महित की इच्छा करनेवाले, कहने से स्वार्थ के लिये पूजा करने वाले पूजामागियों का निरूपण किया है ।

प्रीति करने में हेतु कहती हैं कि 'स्नेहेन' स्नेह से प्रीति करते हैं, आत्महित के लिये भगवान् द्विषयणी क्रिया अवश्य करनी चाहिये । क्रिया रति के विना सम्भव होती नहीं है, इसलिये प्रीति करते हैं ।

यदि कहो कि स्नेह और क्रिया दोनों समान विषय में होते हैं, अर्थात् जिसमें स्नेह होता है, उसीमें क्रिया होती है, इस प्रकार का नियम है, इसलिये भगवान् में ही स्नेह होता है, आत्मा में नहीं होता है ।

इस शंका का उत्तर देती हैं कि क्रिया और स्नेह दोनों समान विषय में स्वाभाविक होते हैं, कारण कि आत्मा ही निरूपधि स्नेह का विषय है, भगवान् में औपाधिक स्नेह है, मुख्य तो आत्मा में ही है ।

भगवान् में किया कर्म जीवगामी होता है, कारण कि भगवान् सर्व का आत्मा है, इसलिये आपमें ही प्रीति करते हैं, इसी को भागवत स्क० ७ अ० ९ श्लो० ११ में कहा है कि 'तच्चात्मने प्रतिमुखस्य' ।

जिस प्रकार मुख की शोभा प्रतिबिम्ब की शोभा होती है, उसी प्रकार भगवत्सेवा अपनी सेवा-पूजा होती है ।

यदि कहो कि भगवत्सेवा की तरह पुत्र आदि की सेवा भी प्रमाण बोधित है, अतः आत्म-हित के लिये पुत्रादि की सेवा भी होनी चाहिये ।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि सेवा प्रीति से होती है, पुत्रादि में तो सेवामात्र का बोध किया है, प्रीति का नहीं किया है । सेवा प्रीति के विना नहीं होती है ।

यदि कहो कि प्रीति तो आक्षेप से अपने आप ही लभ्य हो जायेगी ।

तब गोपियां इस शंका का भी उत्तर देती हैं कि पुत्रादि की सेवा में धर्म भी नहीं है । यदि पुत्र आदि की सेवा भी धर्म हो, तो सेवा पुरुषार्थ है, अतः आत्मपर्यवसायिनी-पुत्रादि सेवा आत्मगामी होनी चाहिये, किन्तु पुत्रादि की सेवा धर्म नहीं है, इसीसे पुत्रादि की सेवा में प्रेरणा नहीं है, पुत्रादि सेवाराग से प्राप्त है, इसलिये शास्त्र में राग से प्राप्त पुत्रादि सेवा का अनुवाद है ।

मूल श्लोक में 'कुशलाः' यह शब्द कहा है, इसका आशय इस प्रकार है कि देह आदि की सेवा प्रवृत्तिरूप है, देह आदि की सेवा की अपेक्षा भगवत्सेवा निवृत्तिरूप उत्तम है, इस प्रकार मानकर आचरण करना यही कुशलता है ।

इन्द्रिय-दमन करने का सामर्थ्य नहीं हो तो इन्द्रियों के पति आदि की सेवा करने में इन्द्रियों का विनियोग करना चाहिये । इसका प्रमाण भागवत एकादश स्कन्ध में कहा है कि—

'यतो यतो निवर्तत विमुच्येत ततस्ततः ।

एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहजरापहः ॥ ११-२११८

जहां-जहां से मनुष्य निवृत्त होता जाता है, वहां-वहां से बन्धनमुक्त होता जाता है, अर्थात् जिसमें बन्धन निवृत्त करने का सामर्थ्य नहीं है, वह इन्द्रियों को अन्यगामी करता है, और जिसमें बन्धन निवृत्त करने का सामर्थ्य है, वह निरुद्ध इन्द्रियों को आत्मगामी करता है ।

यद्यपि निवृत्ति को उत्तमता है, तथापि इन्द्रियों का निग्रह करने पर भी कुशलता का पर्यवसान नहीं होता है, इन्द्रियां तो आत्मगामी उसी समय होती हैं कि जिस समय आप-भगवान् में उपयुक्त होती हैं, अतः केवल इन्द्रियनिग्रह करनेवालों की अपेक्षा जो मनुष्य आप भगवान् में प्रीति करते हैं, वे कुशल-चतुर हैं । इस प्रकार 'हि' शब्द का अर्थ है ।

मूल श्लोक में 'त्वयि' आपमें, इस प्रकार एकवचन कहा है, इस एकवचन से सूचित होता है कि प्रथम श्लोक की तरह आप-एकाकी भगवान् में सर्वकार्य संभव हो सकता है ।

इस प्रकार वाङ्मुद्रा से औपाधिक प्रीतिपक्ष स्वीकार करके हीनाधिकार के विचार में भी हीनाधिकारियों का कौशल निरूपण करके विषय निर्धार किया है, कि जो कुशल नहीं हैं, उनके

लिये बन्धु साधवस-भय नहीं करना चाहिये, माता आदि की सेवा करनी चाहिये, किन्तु कुशल-चतुर पुरुषों को तो बन्धु आदि को भय उत्पन्न करना ही चाहिये, और माता आदि की सेवा भी नहीं करनी चाहिये।

अब सिद्धान्त की रीति से गोपियां कुशलता का स्वरूप बतलाती हैं, कि 'किञ्च' आप हमारे आत्मा—स्वरूपभूत हो।

अध्यासन्याय से—देह, इन्द्रिय आदि को आत्मा मान लेना, इस न्याय से आत्मा नहीं हो। 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' 'स उत्तमः पुरुषः' इत्यादि श्रुतियों से 'स एव सर्व परमार्थभूतः' इत्यादि स्मृतियों से आप हमारी आत्मा हो, इसलिये आपमें ही प्रीति करना ज्ञान कौशल है, अन्य प्रकार से कौशल नहीं है।

जिसको भगवान् हमारी आत्मा हैं, इस प्रकार ज्ञान नहीं है, वह प्रीति नहीं करता है। अब गोपियां सेव्य-सेवक विचार से भी कौशल का समर्थन करती हैं कि प्रिय की सेवा करनी चाहिये, यदि वह प्रिय काल परिच्छेद्य-कालमर्यादा से युक्त अनित्य नहीं हो तो सेवा करनी चाहिये।

काल परिच्छेद्य रहित नित्य आपके बिना अन्य कोई नहीं है, इसलिये इस प्रकार के आप ही सेवा करने योग्य हो।

'नाल्पे सुखमस्ति' 'भूमेव सुखम्' इत्यादि श्रुतियों में यही प्रतिपादन किया है। यदि कहो कि भूमा सुख प्राप्ति के प्रथम निषेधरहित सुखसाधन में भी जीवों की प्रवृत्ति दीखती है, फिर नित्य प्रिय की सेवा का निर्वन्ध-आग्रह क्यों करती हो।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'अन्यथा' यदि नित्यप्रिय की सेवा का निर्वन्ध शास्त्र अभिमत नहीं हो तो जारसेवा भी धर्म हो जाये। और यदि जारसेवा धर्म हो जाये तो शास्त्र में जारसेवा की आज्ञा भी होनी चाहिये, कारण कि जो शास्त्रविहित है वही धर्म है, जार की सेवा शास्त्र में विहित नहीं है।

यदि कहो कि पहिले जन्म में स्त्री का पुरुष के साथ विवाह होता है। उसके अनन्तर जब स्त्री मर जाती है तब प्रथम पुरुष पति जीवित रहता है, फिर पुनर्जन्म में उस स्त्री का पूर्व सम्बन्धित जीवित पति के साथ विवाह नहीं होकर दूसरे पुरुष के साथ विवाह होता है, उस अन्य पति से सम्बन्ध होने में दोष नहीं कहा है, कारण कि इस अन्य पति के सम्बन्ध में तो दूसरे जन्म का व्यवधान हो गया है इसलिये दोष नहीं है, यदि इस प्रकार कहो तो मत कहो जो इस प्रकार जन्म का व्यवधान मान लिया जाये तो, इसी के सदृश योग-क्षेम होने से जन्म की तरह दिन को भी परिच्छेदकता है, अतः यहां भी दोष नहीं होगा, जिस प्रकार पति काल-परिच्छिन्न है—कालमर्यादा में है, उसी प्रकार जार भी दिन की मर्यादा में है, कारण कि नित्य परिच्छिन्न में समागम को जन्म कहते हैं, वह जन्म जिस प्रकार जन्मान्तर में, उसी प्रकार प्रतिदिन में भी होता है। सुषुप्ति अवस्था में जीव प्रतिदिन भगवान् में लीन होता है, और फिर प्रतिदिन पुनरागमन होता है, 'सर्व एव आत्मानो व्युच्चरन्ति' इत्यादि श्रुतियों में कहा है। नित्य प्रलय होता है, इस विचार से भी देह का अवस्था भेद से भेद है, अतः लिङ्ग शरीर मुक्ति पर्यन्त एक होने से प्रयोजक नहीं है, इसलिये दिन को भी परिच्छेदकता होगी।

यदि कहो कि जार को पतित्व नहीं है, इसीसे जार की सेवा करने में धर्म नहीं है, इस प्रकार कहा है, और विवाहित पति की सेवा करने में धर्म कहा है।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं जीवच्छवं भजति कान्तमतिविमूढा। या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रसी स्त्री' इत्यादि वाक्यों से जिसको काल का भय है, वह पति ही नहीं है, पति तो वास्तव में वही है, जो स्वयं किसी से भय वाला नहीं हो, अकुतोभय हो, जो स्त्री आपके चरणारविन्द के मकरन्द का सेवन नहीं करती है, वह जीते ही मुरदा का भजन करती है, इत्यादि वाक्यों से जिसको काल आदि का भय है, वह पति नहीं है, अतः लौकिक पति, तथा जारपति दोनों ही कालपरिच्छिन्न हैं, अर्थात् काल भय से भयभीत होने के कारण तुल्य हैं।

यदि कालपरिच्छिन्न प्रिय की सेवा प्राप्त होती हो तो पतिसेवा की तरह जार की सेवा भी धर्मरूप हो जाये, किन्तु जारसेवा धर्मरूप नहीं है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि काल परिच्छिन्न प्रिय की सेवा नहीं करनी चाहिये।

शास्त्र में जो पतिसेवा का विधान किया है, वह हरि की सेवा का ही विधान किया है। यदि कहो कि जो शास्त्र हरिसेवा का ही विधान करता है तो फिर स्मृतियां लौकिक पति का भजनविधान क्यों करती हैं ?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि प्रभुदुराप हैं, बहुत कठिनाता से प्राप्त होते हैं, इसलिये व्यवहार नियम चलाने के लिये केवल स्मृति आदि में कथन किया है, उसमें भी जिसमें अधिक गुण हों वही पति होता है, इसी से स्मृतियों में कहा है कि वाग्दत्ता-वाणी से दी हुई भी कन्या, श्रोत्रिय वर प्राप्त होने पर, जिसको वाग्दान दिया है, उसको नहीं देकर श्रोत्रिय वर को ही देनेका विधान कहा है, अतः उसी श्रोत्रिय को दी जाती है, प्रथम वाग्दानवाले को नहीं दी जाती है।

स्मृतियों में भी विष्णु बुद्धि से पतिसेवा का विधान है, (कन्यादान समय 'विष्णुरुपिणे वराय' इस प्रकार संकल्प किया जाता है) इसलिये गौणपक्ष का आश्रय करके जिस प्रकार चावलों के अभाव में समा के चावल काम में लेते हैं, उसी प्रकार विष्णु के अंश की सत्ता से लौकिक पतिसेवा का विधान कहा है। और जार में तो विधिबोधित गुण का भी अभाव है, उलटा दोष अधिक है, इसलिये लौकिक पति की तरह जार गौण पति भी नहीं है, और जार की सेवा में गौण धर्म भी नहीं है।

इस प्रकार गोपियों ने धर्म का विचार करनेवाले ज्ञाताओं के चरित्र का, तथा आनन्द का विचार करनेवालों के चरित्र का निर्णय करके भगवान् के कहे वाक्यों का तात्पर्य निर्धार किया है।

अब इसके आगे प्रथम कहे को दृढ़ करने के लिये प्रत्यक्ष स्फुरित अर्थ में गोपियां दोष वर्णन करती हैं। 'किञ्च'।

पति-पुत्रादि धर्म के कारण नहीं हो सकते हैं, कारण कि दुःख देनेवाले हैं, जो धर्म के निमित्त हैं, वे कभी भी दुःख देनेवाले नहीं होते हैं।

यदि पति-पुत्रादि को धर्म के हेतु मानते हैं तो फिर संसार ही नहीं होगा, अतः दुःख देने वाले पति-पुत्रादि से हमको क्या प्रयोजन है। कुछ भी नहीं। भले ही हमारे संबंध से पति-पुत्रादि को भय हो, अथवा कुछ और हो, हमारा उनसे धर्मसिद्धि आदि कुछ भी प्रयोजन नहीं है, हमको तो आपसे केवल एक ही वस्तु की प्रार्थना है कि जिस वस्तु के बिना सर्वशास्त्र और युक्ति व्यर्थ हो जाती है, वह वस्तु—आप भगवान् प्रसन्न हो जाओ। यही हम मांगती हैं कारण कि आप की प्रसन्नता के बिना ही लोक भ्रान्त, दुःख देनेवाले विषयादिकों में प्रवृत्त होता है।

यदि भगवान् कहे कि गोपियो ! तुम्हारे पास मुझे प्रसन्न करने का क्या साधन है ? तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि हे वरदेश्वर ! जो कोई भी वरदान देते हैं, वे लोकों को क्लिष्ट जानकर ही वर देते हैं, कारण कि वर देनेवाले दयालु होते हैं, जो वरदान देनेवाले दयालु नहीं हों तो तप करनेवालों को वरदान नहीं दें, इस प्रकार के दयालु वरदान देनेवालों के भी आप ईश्वर हो, अर्थात् अति दयालु हो। आप वरदान देकर भी सर्व का दुःख दूर करते हो, बिना साधन ही प्रसन्न हो जाते हो, इसलिये आपसे प्रार्थना करती हैं, कि यदि साधन की अपेक्षा हो तो हम सब क्लिष्ट-दुःखी हैं, हमारा तप की तरह बलेश ही साधन है।

यदि बलेश दूर करने में कोई निषिद्ध प्रकार हो तो वह आपको नहीं करना चाहिये, तात्पर्य यह है कि यदि आप यह जानें कि गोपियां सर्वात्मभाव से नहीं आई हैं, किन्तु कामभाव से विषयभोग भोग करने के लिये आई हैं, तो वह निषिद्ध प्रकार नहीं करना चाहिये। हमारा बलेश दूर करना चाहिये।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो ! जिस प्रकार तुमने इतने कालपर्यन्त पतियों की सेवा की, उसी प्रकार आगे भी पतिसेवा प्राप्त है, करनी चाहिये। कारण कि इस प्रकार का नियम है कि गौणकर्म भी प्रारम्भ करके पूरा करे मध्य में नहीं छोड़े, इसलिये बिना विचारे ही सब बातों को छोड़कर पतिसेवा करो।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'मास्म छिन्ना आशां धृताम्' हमने अभीतक पतिसेवा नहीं की और न पतिसेवा के लिये घर में ही रही हैं, हम तो आपकी आशा से इतने दिनतक घर में रही हैं, और मध्य में लोकमर्यादा का अनुसरण करने के लिये गोपों का स्वीकार किया था, इस समय आपके समीप में आई हुई हमारा यदि अभिलषित अर्थ सिद्ध नहीं हुआ तो फिर हमारी आशा भङ्ग हो जायगी, आशाभङ्ग हो जाने पर, उसके साथ प्राण भी निराश होकर चले जायेंगे, अतः स्त्रियों के हृदयज्ञ कवि कालिदास ने 'मेघदूत' नाम के काव्य में कहा है कि 'आशाबन्धो हृदयं रुणद्धि' आशाखी बन्धन हृदय को रोकता है, कवि के इस वाक्य का मूल स्त्री शास्त्र में—रसशास्त्र में है।

गोपियां कहती हैं कि बहुत काल से 'कल्पपर्यन्त' हमारी आप में ही आशाएं लगी हैं, तत्तद् आशा के छिन्न—कट जाने से अवलम्ब—आश्रयरहित हमारा अधःपात हो जायगा।

मूल में 'स्म' पद सूचन करता है कि हमने जो कुछ अर्थ कहा है, वह प्रसिद्ध है।

गोपियों ने 'हे अरविन्दनेत्र' हे कमल सदृश नेत्रवाले इस प्रकार का भगवान् को सम्बोधन दिया है, इसका तात्पर्य यह है कि आपकी दृष्टि ही तापहरण करके संवर्द्धन करती है, अरविन्दनेत्र सम्बोधन आशा में भी हेतु है, कारण कि तापहरण करनेवाली दृष्टि से आप हमको देख रहे हो, और दृष्टि से ही अनेक भाव सूचन करके हमारा ताप दूर करते, दुःखी हमको आशा प्रदान करते हो, इसीसे अभीतक जीवित रही हैं, यह भाव है ॥ ३३ ॥

(सुबो०) यदुक्तं 'वनदर्शनार्थं किमागता' इति, ततश्च वनवर्णना कृता, तत्राहुः—चित्तं सुखेनेति।

भगवान् ने गोपियों से २२ वें श्लोक में कहा था कि क्या आप सब वन देखने के लिये आई हो, इस प्रकार कहकर वन का वर्णन किया, इसके उत्तर में गोपियां आगे का श्लोक कहती हैं।

चित्तं सुखेन भवतापहतं गृहेऽपि

यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।

पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्

यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥ ३४ ॥

पदपदार्थ—(भवता) आपने (सुखेन) आनन्दरूप से (चित्तं) हमारा चित्त (अपहतं) चुरा लिया है (गृहेऽपि) घर में भी (यत्) जो चित्त (निर्विशति) प्रवेश करता है, वह। चुरा लिया है (उत) और (करो) दोनों हाथ (अपि) भी (गृह्यकृत्ये) घर के कार्यों में नहीं लगते हैं उनका भी बल हरण कर लिया है, (तव) आपके (पादमूलाद्) चरणमूल वृन्दावन स्थान से (पादौ) दोनों चरण (पदं) एक पग भी (न) नहीं (चलतः) चलते हैं (व्रजम्) व्रज को (कथं) कैसे (यामः) जायें (अथो) व्रज जाने के अनन्तर (किं वा) क्या (करवाम) करें ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—आनन्दरूप आपने हमारा चित्त चुरा लिया है, इसलिये घर में प्रवेश नहीं करता है, और हाथ घर कार्यों में लगते नहीं हैं, आपके चरणमूल से हमारे पद भी एक पग भर चलते नहीं हैं, इस प्रकार की दशा में हम व्रज में कैसे जायें, और जा करके भी क्या करें ॥ ३४ ॥

(सुबो०) वनदर्शनेच्छा तदा भवति, यदा चित्तं स्वस्मिन् तिष्ठेत् । तत्तु त्वयैवापहतम्, तत्रापहारे न तव प्रयासः, तथा सति सर्वं नापहतं स्यात्, तदाह सुखेनेति । भवता वा आनन्दरूपेणापहतम् । न हि साक्षात् परमानन्दे सति कश्चित् परम्परया पाक्षिकं साधनं गृह्णाति । वनदर्शनं दूरे, गृहेऽपि यच्चित्तं निर्विशति । अनेन ज्ञानशक्तेरपहार उक्तः । नापि मन्तव्यं वनं किञ्चित् कार्यार्थमागता इति । तदर्थं क्रियाशक्तेरपहारमाह उत करावपीति । यौ गृह्यकृत्ये निर्विशतः, दूरेणापास्तं वनकृत्यम्, कामेन बलस्य हतत्वात् । त्वत्स्पर्शेनैव करौ सजीवौ भवतः । नो चेन्मृतौ । अतः सेवाविधिरपि हस्ताभावात् कुण्ठितः । नहि कररहितं कर्मणि कश्चिन्नियुक्ते । किञ्च, यत् व्याघुट्य गन्तव्यमित्यभिप्रायेण वनदर्शनं जातमित्युक्तम्, तदप्यसम्भावितम् । यतोऽस्माकं पादौ द्वावपि तव पादमूलादस्मात् स्थानात् एकमपि पदं न चलतः, नान्यत्र गच्छतः । पादानां गति-युक्तानां मूलभूतौ त्वत्पादौ, तस्यापि चेन्मूलं गताः, तदा कथमन्यत्र गच्छेयुः, अन्यथा वृक्षाणामपि गतिः स्यात्, मूलं गतानाम् । 'अस्मात् स्थाना'दिति वक्तव्ये, यत् 'तव पादमूला'दित्युक्तम्, तत् त्वदगमनेन सर्वत्र गन्तुं शक्यते, न तु त्वद्व्यतिरेकेणेति ज्ञापितम् । अतः कथं यामः । शकटादिना प्रेषणीया इति चेत्, तत्राहुः । अथो अथ तत्र गत्वा किं वा करवाम । यथा शकटादिकं गृहे यापनार्थं साधनमस्ति, न चैवं हस्तयोः कार्यकरणे किञ्चित् लोकसिद्धम् । न केवलं गमनेन

प्रयोजनम्, किन्तु पित्रादिसेवार्थं गमनम्, तदभावाद् व्यर्थमेव गमनमिति भावः । तदाहुः । अथो अथ किं वा करवामेति । हस्तनिरपेक्षा कृतिः भिन्नप्रक्रमेण भगवद्भावेन भवतीति तथोक्तम् । अनेन स्तनपानमप्यशक्यं निरूपितम् । आशाभावे सर्वत्रैव शोषात् ॥ ३४ ॥

वन देखने की इच्छा तो तब होती है जब चित्त अपने शरीर में हो, किन्तु चित्त तो आपने अपहरण कर लिया है ।

हमारा चित्त अपहरण करने में—चुराने में आपको किसी प्रकार का प्रयास नहीं हुआ है, यदि चित्त अपहरण करने में आपको प्रयास करना पड़ता तो हमारे सर्वचित्त का अपहरण आप नहीं कर सकते, इसी बात को गोपियां कहती हैं 'सुखेन' सुख से हमारा चित्त अपहरण किया है, शयवा आनन्दरूप आपने हमारा चित्त अपहरण कर लिया है । साक्षात् परमानन्द भगवान् की प्राप्ति होने पर फिर कोई भी मनुष्य परम्परा से प्राप्त पाक्षिकसाधन को ग्रहण नहीं करता है, वनका दर्शन तो दूर रहा, घर में भी चित्त नहीं लगता है । इस प्रकार गोपियों की ज्ञानशक्ति का अपहरण कहा है ।

आगे गोपियां कहती हैं कि आपको यह भी नहीं मानना चाहिये कि ये सब गोपियां वन में किसी कार्य के लिये आई हैं, इसी को द्योतन करती गोपियां अपनी क्रियाशक्ति का भी अपहरण कहती हैं कि 'उत करावपि' । हमारे दोनों हाथ घरकार्य में नहीं लगते हैं, फिर वन की बात तो दूर ही रही ।

यदि कहो कि मन की तरह हस्तों का अपहरण करना संभव नहीं हो सकता है । तब इसके उत्तर में गोपियां अपहरण प्रकार कहती हैं कि, 'कामेन' भगवान् के सम्बन्ध की अभिलाषा से हस्तों के बल का—क्रियाशक्ति का अपहरण हो गया है, कारण कि आपके स्पर्श बिना मृततुल्य हैं, इसलिये शास्त्राज्ञानुसार पति आदि की सेवाविधि भी प्रतिबन्धित हो गई है । इस समय हम अपने गोपों की भी सेवा नहीं कर सकती हैं । कोई भी मनुष्य किसी हस्तरहित को किसी काम में नियुक्त नहीं करता है ।

गोपियां कहती हैं कि आपने कहा था कि घर लौटकर जाना चाहिये, वन देख लिया । इसके उत्तर में कहती हैं कि पीछे लौटकर घर जाना हमारा संभव नहीं है, कारण कहती हैं कि हमारे दोनों पाद आपके पादमूल स्थान से एक भी पग अन्यत्र नहीं जाते हैं, इसका कारण यह है कि हमारे गतियुक्त पादों के मूलभूत आपके दोनों पाद हैं, आपके चरणों के भी मूल में प्राप्त हुए हमारे पाद हैं तो फिर अन्यत्र किस प्रकार जा सकते हैं, अर्थात् पाद दोनों गोलक हैं, इन्द्रिय गति है, इन्द्रिय सहित गोलकों के आधिदैविक विष्णुरूप आपके पाद हैं, कारण कि हमारे पाद के आधिदैविक भगवान् के गोलक हैं ।

यदि इसको नहीं मानते हैं तो मूल तक प्राप्त हुए वृक्षों की भी गति हो जाये । मूल में 'अस्मात् स्थानात्' इस स्थान से, इस प्रकार कहना था, किन्तु 'तव पादमूलात्' आपके चरणमूल से, इस प्रकार जो कहा है, इससे यह ज्ञापित होता है कि, आपका गमन वन पर हमारा भी गमन सर्वत्र हो सकता है, आपके बिना हमारा गमन नहीं हो सकता है, अतः व्रज में कैसे जायें ।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो ! यदि तुम नहीं चल सकती हो तो मैं तुमको गाड़ी आदि सवारी से भेज दूँ ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'अथो' हम गाड़ी आदि सवारी में बैठकर व्रज में जाकर के क्या करेंगी । जिस प्रकार गाड़ी आदि साधन बिना दुःख के घर जाने में हैं, उस प्रकार हाथों का कार्य करनेवाला साधन लोक में कोई प्रचलित नहीं है ।

हमारा केवल घर जाने का ही प्रयोजन नहीं है, किन्तु घर जाकर के आपके कथनानुसार पिता आदि की सेवा करना भी तो घर जाने का प्रयोजन है, इस समय इस प्रकार की दशा में पिता आदि की सेवा भी नहीं हो सकती है, अतः गाड़ी आदि सवारी से घर जाना व्यर्थ है । इसी बात को गोपियां कहती हैं कि 'अथो-अथ, किं वा करवाम' घर जा करके क्या करेंगी ।

यदि आप कहें कि गोपियो ! हाथों के बिना यहां रह कर भी क्या करोगी ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि यहां की कृति में तो हस्तों की अपेक्षा ही नहीं होती है, कारण कि यहां कृति इन्द्रियजन्य—अर्थात् इन्द्रियों से नहीं होती है, किन्तु भिन्न प्रक्रम से भगवदावेश द्वारा होती है । इसलिये यहां रहने में कोई प्रकार की बाधा नहीं है, इस प्रकार घर में भिन्न प्रक्रम से कृति संभव नहीं होती है, अतः घर जा करके क्या करें । इस प्रकार गोपियों ने 'अथो किं वा करवाम' इस वाक्य से कहा है । और ऊपर के वाक्य से गोपियों ने यह भी कह दिया है कि घर जाकर बालकों को स्तनपान कराने का भी सामर्थ्य हममें नहीं है, कारण कि जब आप हमारी आशा भङ्ग कर देंगे, तो तापवलेष से सर्वशरीर ही सूख जायगा, फिर स्तनों का दूध भी सूख जायगा, तो स्तनपान कराने की भी अशक्यता स्पष्ट ही हो जायगी ॥ ३४ ॥

(सुबो०) यद्भगवता शीघ्रं गच्छतेत्युक्तम्, तत्राहुः—सिञ्चाङ्गेति ।

भगवान् ने प्रथम गोपियों से कहा था कि शीघ्र लौटकर घर पधारो, इसका उत्तर आगे श्लोक में देती हैं ।

सिञ्चाङ्ग नस्त्वधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।

नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपभुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥ ३५ ॥

पदपदार्थ—(हे अङ्ग) यह गोपियों ने कोमल सम्बोधन किया है । (नः) हमारे सबके (त्वधरामृतपूरकेण) अपने आप अधरामृत पूरक प्रवाह जल से (हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्) आप हासपूर्वक अवलोक और कल-अव्यक्त मधुर गीत द्वारा उत्पन्न हृदय में रहनेवाली कामाग्नि को (सिञ्च) सिञ्चन करो—सींचो (नो) नहीं (चेत्) तो (विरहजाग्न्युपभुक्तदेहाः) विरह से उत्पन्न अग्नि द्वारा जली हुई देहवाली (वयं) हम सब (हे सखे) हे सखा—मित्र (ध्यानेन) ध्यान द्वारा (ते) आपके (पदयोः) दोनों चरणों की (पदवीं) मार्ग को, अर्थात् आपके पीछे-पीछे (याम) हम भी जा रही हैं ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—हे अङ्ग ! हमारे सबके आप अपने अधरामृतपूरक-प्रवाह जल से और हास्य-पूर्वक अवलोक, तथा अव्यक्त मधुरगीत से उत्पन्न हृदय में रहनेवाले कामाग्नि को सींचो, जो आप कामाग्नि का सिञ्चन नहीं करोगे तो विरह से उत्पन्न अग्नि द्वारा जली हुई देहवाली हम सब हे सखे—मित्र ध्यान द्वारा आपके दोनों चरणों की पदवी—मार्ग को प्राप्त हो रही हैं ॥ ३५ ॥

(सुवो०) वयं शीघ्रमेव गमिष्यामः, यदि त्वं प्रतिबन्धं न करिष्यसि । अनेन तूष्णीभावेऽपि मरणम्, परावृत्तौ तु न किञ्चिद्वक्तव्यम् । हे भङ्ग ! त्वदधरामृतपूरकेण त्वदधरामृतप्रवाहजलेन नो हृच्छयाग्निं सिञ्च । स चाग्निः त्वयैवोत्पादित इति । तत्कारणमाहुः— हासावलोककलगीतजिति । तव योऽयं हासपूर्वकः अवलोकः कलगीतं च, ताभ्यां जातो यो हृच्छयः कामः, स एवाग्निः । हासः कामजनकः, अवलोकः सन्धुक्षणकर्ता । गीतं वायुरिव, तत्रापि कलगीतं सर्वतो वायुः । सोऽपि जातो हृदये । हृदयगामि च । त्वदधरामृतमेव । पुरो हि वस्तु प्रवाहयति, तस्यात्र सेचनकरणत्वेनोक्त्याऽग्नेरतिमहत्त्वं ध्वन्यते । अतो युक्ता सेचनोक्तिः । अलौकिकश्चाग्निः अलौकिकेनैव शाम्यति । कन्दर्पो हि मृतो ज्वलति, स हि जीवन् अन्यवस्थां त्यजति, नान्यथा, अमृतेनैव च जीवति, तत्रापि न देवभोग्येन, अन्यथा तैरेव जीवितः स्यात् । सृष्टिकारणत्वात् नास्य मोक्षः । अतोऽतिगुप्तेनैवाधरामृतेन तस्य जीवनम् । अतः सेचनमेवोक्तम् । अन्यथा निर्वापणमेव प्रार्थयेयुः । कामे जीवति जीविष्यामः, अन्यथा स स्वयं ज्वलन् अन्यानपि ज्वालयिष्यति । तदाहुः नोचेदिति । सेचनेन यदि मन्त्रवादीव न जीविष्यसि, तदा विरहेण जनितो योऽग्निः, तेनोपभुक्तदेहाः ध्यानेन ते पदयोः पदवीं यामः । स्वयं स्वतन्त्रमार्गाज्ञानात्, त्वं च सखा येन मार्गेण गमिष्यसि, तेनैव वयमपि यास्यामः । (यथा त्वमधुनाऽस्मभ्यमार्तिप्रदः, तथा वयमपि तथाभूतास्तुभ्यं पश्चात्तापादिहेतवो भविष्याम इति गूढाभिसन्धिः 'ते पदयोः पदवीं यामे'ति वक्त्रीणामिति ज्ञेयम् ।) देहे गते त्वन्तर्यामिणा कचिद् गन्तव्यम्, देहान्तरस्य तु नोत्पत्तिः, बीजस्य दग्धत्वात् । हरेणैव दग्धो न कामः प्ररोहति, स विपरीतो रहो भवति । तत्रापि विशिष्टो विरहः एकान्ताभावरूपो वा । अनेन त्वया सह एकान्ताभावे विरहत्वम् । यद्यपि पूर्वोक्ताग्निनैव दाहः संभवति, तथापि भस्मसात्करणेन तस्य सामर्थ्यम्, यावत् सर्वाङ्गेषु सूक्ष्मावयवेष्वप्यग्निः प्रविश्य नोदबुद्धो भवति । यथा वह्निसम्बन्धेन शुष्कं काष्ठं ज्वलति । तत उपाधेरत्यन्तं गतत्वात् ते पदयोर्गमनम् । अतो गमनं दूरापास्तम्, प्रत्युत मरणमुपस्थितमिति शीघ्रं प्रतीकारं कुरु ॥ ३५ ॥

गोपियां कहती हैं कि यदि आप प्रतिबन्ध नहीं करो तो हम शीघ्र ही घर चली जायें । इस प्रकार कहने से गोपियों ने यह भाव सूचन किया है कि यदि भगवान् गोपियों के सुधादान नहीं करेंगे तथा भाषण नहीं करेंगे तो गोपियों का मरण उपस्थित हो जायेगा । फिर घर लौट कर जाने की बात तो दूर ही रही है ।

१. () चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम् ।

हे भङ्ग ! आप अपने अधरामृत के पूर से—अधरामृत प्रवाह जल से हमारी कामाग्नि को सींचो । यह कामरूप अग्नि आपने ही उत्पन्न की है, उत्पन्न का कारण गोपियां कहती हैं कि 'हासावलोककलगीतज' आपका हासपूर्वक अवलोक-कटाक्ष और अव्यक्त मधुर गीत, इन दोनों से उत्पन्न हृदय में रहनेवाला काम ही अग्नि है, हास, काम उत्पन्न करता है, और अवलोक-कटाक्ष फूंक मारने के सदृश अग्नि को प्रदीप्त करता है, गीत, वायु की तरह काम बढ़ाने वाला है, इसमें भी अव्यक्त मधुर गीत चारों ओर से आते हुए वायु के सदृश है । अतः कामाग्नि सर्वशरीर में फैलनेवाला है, अभी तो हमारे हृदय में ही उत्पन्न हुआ है, हृदय में आपका अधरामृत पहुँच सकता है, कारण कि देवभोग्यसुधा हमारी हृदयगामी नहीं होती है ।

पूर वस्तु को बहाकर ले जाता है, गोपियों ने पूर द्वारा सिञ्चन के लिये कहा है, इससे ज्ञात होता है कि गोपियों के हृदय में कामाग्नि अत्यन्त महान्-तीव्र प्रज्वलित हो रही है, इसलिये थोड़ा जल नहीं कहा, गोपियों ने पूरजल से सिञ्चन के लिये कहा है ।

यदि कहो कि जिस प्रकार पित्तादि से हृदय में ताप होता है, और वह ताप बाहर चन्दन आदि के पूर-लेप से शान्त हो जाता है, उसी प्रकार यह कामाग्नि भी बाह्य करस्पर्शादि से शान्त करनी चाहिये ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि अलौकिक कामाग्नि भगवान् आपके अलौकिक अधरामृत से ही शान्त होती है ।

तो इस अग्नि को अलौकिकता कैसे है ।

इस प्रकार जानने की इच्छा में गोपियां कहती हैं कि काम जब मर जाता है तब जलता है, और जब काम जीवित रहता है, तब अग्निरूप अवस्था का त्याग कर देता है, अन्यथा अग्निरूप त्याग नहीं करता है, मरा काम अमृत से ही जीवित होता है, उसमें भी देवभोग्य अमृत से जीवित नहीं होता है ।

यदि देवभोग्य अमृत से जीवित होता तो देवताओं द्वारा जीवित होने पर काम को मोक्ष देना चाहिये, किन्तु काम को मोक्ष नहीं होता है, कारण कि काम सृष्टि का कारण है, इसलिये काम को यदि मोक्ष दे दिया जाय तो सृष्टि ही होना नष्ट हो जाये, अतः काम को मोक्ष नहीं दिया जाता है । अत्यन्त गुप्त काम अधरामृत से जीवित होता है, इसलिये गोपियों ने काम का सिञ्चन करने को भगवान् से कहा है, यदि उक्त कारण नहीं होता तो गोपियां कामाग्नि के वध की प्रार्थना करतीं, सिञ्चन की नहीं करतीं ।

अब गोपियां कामाग्नि के सिञ्चन में फलित अर्थ कहती हैं कि काम के जीवित होने पर ही हम सब जीवित रहेगी, नहीं तो काम के मरने पर काम स्वयं जलता हुआ, हमको भी जला देगा, अर्थात् काम विरह से उत्पन्न हुआ है, इसलिये हृच्छयत्व त्याग करके अग्निरूप होता हुआ हम सब को जला देगा । इसी बात को गोपियां कहती हैं कि 'नो चेत्' । अब गोपियां कहती हैं कि आप मन्त्रवादी-मन्त्र बोलनेवाले की तरह सिञ्चन करके यदि हमको नहीं जिलाओगे तो विरहोत्पन्न अग्नि से हमारी देह जल जायगी, और हम ध्यान द्वारा आपके चरणमार्ग में जाती हैं, अर्थात् जहाँ आप जायेंगे वहाँ आपके पीछे-पीछे हम सब भी जायेंगी ।

द्विष्णु में कहा है कि यहां पर श्लोक के उत्तरार्द्ध में सिञ्चन करने की आवश्यकता में गोपियों ने हेतु कहा है, उसमें भी 'याम' यह वर्तमान काल का प्रयोग किया है, इससे यह सूचन किया है कि सिञ्चन करने में क्षणमात्र का विलम्ब होगा तो हमारा जीवन नहीं रहेगा ।

गोपियां कहती हैं कि हमको स्वतन्त्र मार्ग का स्वयं ज्ञान नहीं है, इसलिये आप हमारे सखा हैं, जिस मार्ग से आप पधारेंगे, उसी मार्ग से हम सब भी जायेंगी।

प्रभुचरण कहते हैं कि यहां गोपियों ने गूढभाव से भगवान् को यह सूचित किया है कि जिस प्रकार आप इस समय हमारे लिये दुःख दे रहे हो, उसी प्रकार हम सब जब देहत्याग कर देंगी, तब आपके लिये पश्चात्ताप आदि से दुःखहेतु हो जायेंगी। 'ते पदयोः पदवीं याम' यह वचन वक्त्री गोपियों का है।

यदि आप कहें कि गोपियो ! देह के बिना मेरे पास तक कैसे जाओगी ? इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि हमारी देहों का त्याग होने पर अन्तर्यामी को तो कहीं जाना ही पड़ेगा, वही भगवान् की पदवी है, उसके पीछे हम भी जायेंगी, कारण कि अब हमको दूसरी देह की उत्पत्ति नहीं होगी।

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' इस श्रुति के अनुसार देह बीजवासना देह, अन्तःसंज्ञाओं की तरह हमारा आपके ध्यान से दग्ध हो गयी है, इसलिये हमको दूसरी देह की उत्पत्ति तो नहीं होगी, किन्तु इस शरीर का नाश होने पर अन्तर्यामी पक्षी है, इसलिये उड़कर आप के चरणों में ही प्राप्त होगा, उसी के साथ हम सब भी आपके चरणकमल में प्राप्त हो जायेंगी। कारण कि अक्षर आपका धाम है, और हम सब अन्तर्यामी की छाया रूप हैं, इसलिये उसके साथ मिलकर आप के चरणों में ही प्राप्त हो जायेंगी, यह भाव है।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो तुम्हारा शरीर जब जल जायेगा, तब मैं परीक्षित राजा की तरह जिला दूंगा।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि महादेव ने काम को दग्ध किया था, वह काम पुनः उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु विपरीत-रह में होता है, और हममें जो अग्नि है, वह पूर्व अग्नि सदृश नहीं है, यदि पूर्व अग्नि सदृश होता तो फिर यहां अग्नि शब्द नहीं कहते, अतः इस समय यह अग्नि पूर्व अग्नि से भी कठिन है, इसका नाम व्युत्पत्ति से गोपियां कहती हैं, हर-महादेव द्वारा दग्धकाम अग्नि-रूप से रहता है, भस्मीभूत नहीं होता है, इसलिये प्रथम प्रार्थित अमृत से काम का पुनर्जीवन भी हो सकता है, किन्तु विरह अग्नि से दग्ध हुआ काम एक क्षण में भस्मसात् हो जाता है, फिर से उसके जीवित होने की आशा नहीं होती है, हर शब्द में 'ह' और 'र' दो अक्षर हैं, इनका विपरीत-उलटा हो करने पर 'रह' हो जाता है, और फिर 'वि' उपसर्ग से विशिष्ट प्रकार का 'रह' 'विरह' शब्द हो जाता है, यही विरह काम को भस्मसात् कर देता है, और महादेव से दग्ध काम अग्निरूप रहता है किन्तु भस्मसात् नहीं होता है, इस प्रकार रह का धर्म जलाना, और हर का धर्म जलाने से विपरीत है।

गोपियों के कथन का तात्पर्य यह है कि हर-महादेव द्वारा जलाया गया काम अभी तक जीवित नहीं है, तो फिर विरहाग्नि से जलाई गोपियां पुनः किस प्रकार से जीवित हो सकती हैं। प्रथम गोपियों ने सिञ्चन द्वारा जीवन भी कहा है, किन्तु इस समय जीवन की आशा तो विपरीत धर्म कहा है।

गोपियां कहती हैं कि यदि आपकी इच्छा हमारे जीवन सम्पादन करने की हो तो फिर विरहाग्नि द्वारा दाह ही मत करो।

यहांपर 'रह' शब्द से प्रभु का स्वरूप ही कहा है, प्रभु का स्वरूप स्वयं समर्थ है, उसमें भी कोटिकन्दर्प-काम के सौन्दर्य से भी अधिक सौन्दर्यवान् है, इसलिये, तथा विभावानुभाव आदि सामग्री विशिष्ट है, इसलिये, प्रभुस्वरूप विरह क्या-क्या नहीं कर सकता है, अर्थात् सब कुछ कर

सकता है, इसी को मूल में 'तत्रापि विशिष्टो विरहः' इत्यादि से कहा है। अब गोपियां लोक-प्रसिद्ध अर्थ कहती हैं, 'एकान्त भाव रूपो वा' अथवा विरह शब्द का अर्थ एकान्त का अभाव है, 'रह' एकान्त 'वि' अभाव, एकान्त रहित-संयोग नहीं, यह है, आपके साथ एकान्त मिलता नहीं है। इसलिये विरह है।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो ! जब विरह मेरा रूप ही है तो विरह रूप में तो कभी भी सुख प्राप्त नहीं होगा। इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि यहां श्लिष्टार्थक विरह शब्द का प्रयोग है प्रभु शृङ्गार रस रूप हैं, शृङ्गार, संयोग, विप्रयोग उभय रूप है, इसलिये विरह प्रभु का स्वरूप ही है।

यद्यपि श्लोक के प्रथम आधे चरण में दृच्छयाग्नि-कामाग्नि कहा है, उससे हमारा दाह संभव हो सकता है, तथापि उस अग्नि में भस्मसात् करने का सामर्थ्य नहीं है, जबतक शरीर के सर्व सुक्ष्म अवयवों में अग्नि प्रवेश करके उत्तेजित नहीं होता है, तबतक इसका प्रतीकार आपको करना चाहिये, इसी बात को गोपियां दृष्टान्त द्वारा समझाती हैं कि जिस प्रकार अग्नि सम्बन्ध से सूखा काष्ठ जलत है, कारण कि काष्ठ से उपाधि-आर्द्रता अत्यन्त चली गई है, अर्थात् अत्यन्त सूख गया है। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि काष्ठ में प्रविष्ट होकर धीरे-धीरे काष्ठ की उपाधि-ग्रीलेपन को दूरकर सूखा करके उस सर्व काष्ठ को जला देती है, उसी प्रकार कामाग्नि धीरे-धीरे हृदय में से सर्व शरीर के अङ्गों में विस्तृत रूप से उत्तेजित हो, आपके स्वरूप से प्रतिरिक्त जो ग्रन्थ में स्नेहरूप उपाधि है, उसको दूर करके, उपाधिरहित हम सब आपके चरणों में गमन करेंगी।

इससे गोपियों ने यह भाव सूचन किया है कि उपाधि सहित स्नेह में हमारे सदृश भाव नहीं होता है, इसलिये घर को पीछे लौटकर जाना तो दूर रहा, उलटा विरहाग्नि से मरण उपस्थित हो गया है, अतः आप हमको शीघ्र ही अधराष्ट्र से सिञ्चन करके इस अग्नि का प्रतीकार-मरण से रोकने का उपाय करें ॥ ३५ ॥

(सुबो०) किञ्च यदप्युक्तं 'अथवा मदभिस्नेहात् आगता' इति, यदस्माकं स्नेहः स्तुतः, तत्र याथार्थ्यं शृण्वित्याहुः यहीति ।

भगवान् ने २३ वें श्लोक में गोपियों से कहा था कि तुम सबका मुझमें स्नेह है, इसलिये तुम यहां आई हो, इस प्रकार हमारे स्नेह की आपने प्रशंसा की थी, आपके इस कथन से भी हम यथार्थ बात कहती हैं, सुनें।

यद्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया

दत्तक्षणं वचिदरण्यजनप्रियस्य ।

अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमञ्जः

स्थातुं त्वयाभिरमिता वत पारयामः ॥ ३६ ॥

पदपदार्थ—(हे अम्बुजाक्ष) हे कमलसदृश नयनवाले (यहि) जिस क्षण में (रमायाः) लक्ष्मी को (क्वचित्) कभी (दत्तक्षणं) सुख जिसने दिया (अरण्यजनप्रियस्य) वन के रहनेवाले प्रिय जिसको (तव) उस आपका (पादतलं) प्रतिफलित चरण तल को (अस्प्राक्ष्म) स्पर्श किया है (तत् प्रभृति) उस क्षण से लेकर (त्वया) आपने (अभिरमिताः) आनन्द जिनको दिया इस प्रकार की हम गोपियां (अन्यसमक्षम्) और के सामने (अञ्जः)

समञ्जसता से यथोचित (वत) आश्रय है कि (स्थातुं) ठहरने को (न) नहीं (पारयामः) सकती हैं ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—हे कमलनयन ! वन में रहनेवाले प्रिय हैं जिसको इस प्रकार के भगवान् आपका प्रतिफलित पाद तल, जिससे कभी लक्ष्मी को सुख मिलता है, उस चरणतल को जिस क्षण से हमने स्पर्श किया है, और आपने आनन्द दिया है, उस क्षण से दूसरे के सामने हम यथोचित समस्तता से भी ठहर नहीं सकती हैं ॥ ३६ ॥

(सुबो०) हे अम्बुजाक्ष, दृष्ट्यैव तापनाशक, यहि यस्मिन् क्षणे तव पादतलं अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षं अञ्जः सामस्त्येनापि स्थातुं पारयामः । साक्षात् चरणस्पर्शो दुर्लभः । यत्र पुनः पादः प्रतिफलितः, तत्पादतलमुच्यते । रमापि तेनैव जीवति । तदुक्तं नागपत्नीभिः 'तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः यद्वाञ्छये'ति । अतस्तत् फलस्थानीयम् । रमायाः क्षणं सुखं तेनैव दत्तम्, कचिद् हृदये समागतम्, सुखं तत्रैव भवतीति तत्र स्पर्श एवास्माकं भूमिष्ठस्य, न तु लक्ष्मीवत् हृदये तत्तलमायाति । अस्माभिर्विचारितम्, लक्ष्म्या चेदेतत्प्राप्तम्, तपसा चाञ्चल्यपरिहारेण, तदा अस्माभिरपि चाञ्चल्यपरिहारेण तन्निष्ठतया स्थातव्यम् । किञ्च, अरण्यजनाः प्रियाः यस्य । तेनापि सर्वसङ्गपरित्यागेन स्थातव्यम् । सङ्गाभाव एव भगवत्तोषहेतुरिति । अरण्यं हि सात्त्विकं वैष्णवं च । ('एतेन पुलिन्दीस्मरणं वा । पादतलसम्बन्धिकुङ्कुमसम्बन्धेनैव ता अपि प्रिया आसन्निति । तेन पादतलस्य फलपर्यवसायित्वं प्रभुप्रीतिसाधकत्वं च सहजमिति वयमप्यात्मनि तथैव जानीम इति भावः । स्फुटमिदं न वक्तुं शक्यमित्येवमुक्तम् ।) अतः त्वत्प्राप्त्यर्थं नान्यसमक्षं स्थातुं शक्नुमः । सर्वथा त्वां यो न प्रपन्नः, शक्त्यभावः तद्धर्मप्रवेशात्, यो हि यस्य घातकः तद्भावापत्तौ तस्याग्रे स्थातुं न शक्नो भवति । यथा व्याघ्रादे देहाभिमानी, तथा भगवदीयः, भगवद्ध्यतिरिक्तो हि तद्भावं नाशयिष्यतीति । यत्रैवं सूक्ष्मेक्षिका, तत्रान्यस्य स्थाने गमनं, तस्य च देवतात्वेन भावनं दूरापास्तम् । अतः प्रीतिमात्रस्तुतिर्या सा अल्पीयसी । अनन्यभावा एव वयं लक्ष्मीवत् । किञ्च, यथा सर्वपरित्यागेन लक्ष्मीः चेत् त्वां शरणं गता, तदा त्वया अभिरमिता जाता, तथा वयमपि जाताः । सर्वदैव स्वप्ने त्वत्सम्बन्धं प्राप्नुमः । अन्यथा जीवनमेव न स्यात् । एवं भुक्तपूर्वा वयं नान्यत्र प्रेषयितुमुचिता इति ॥ ३६ ॥

हे कमल सदृश नेत्रवाले ! इस प्रकार सम्बोधन से गोपियों ने कहा है कि भगवान् कमल सदृश हैं, अतः आप अपनी दृष्टि से ही भक्तों का ताप नाश करते हैं ।

जिस क्षण से हमने आपके पादतल का स्पर्श किया है, उस क्षण से लेकर दूसरे के सामने समग्रता से बराबर ठहर नहीं सकती हैं, भगवान् का साक्षात् चरणस्पर्श दुर्लभ है ।

१. () चिह्नान्तर्गतं प्रसूणाम् ।

जिसमें चरण प्रतिफलित होता है—चरण की आकृति पृथिवी आदि में छापे की तरह उभर जाती है, उसको पादतल कहते हैं, लक्ष्मी जी भी अपने हृदय में प्रतिफलित पाद से जीती हैं, इस घात को नागपत्नियों ने कहा है कि 'तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः' 'यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽचरत्तपः' जिस चरण की प्राप्ति के लिये लक्ष्मीजी ने तपश्चर्या की है, उस आपकी चरणरेणु को स्पर्श करने का अधिकार काली नाग को मिला है ।

हृदय में आपका पाद स्थापन करने से चरणरेणु का स्पर्श होता है, इसलिये आपका पाद-तल फलरूप है, भगवान् के इसी पादतल ने लक्ष्मीजी को सुख दिया है, किसी समय भगवान् का पादतल लक्ष्मी जी के हृदय में प्राप्त हो गया था । सुख हृदय में ही होता है, हमको तो भगवान् के चरणतल का स्पर्श ही जब कभी भगवान् भूमि पर पधारते हैं, भूमि में स्थित होते हैं, तब होता है । किन्तु लक्ष्मीजी की तरह हमारे हृदय में भगवान् का चरणतल नहीं आता है, और प्रति-फलित भी नहीं होता है, कारण कि गाढ भाव से स्थापन करने में ही प्रतिफलित चरण की आकृति होती है ।

हम गोपियों ने विचार किया है कि 'भगवान् ब्रह्म कात्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्थत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्' ।

भगवान् ब्रह्मा ने तीन बार वेद का विचारात्मक ज्ञान तप से विचार करके यह निश्चय किया कि जिस प्रकार आत्मा-भगवान् में प्रीति हो जाये, वह प्रकार करना चाहिये । इस प्रकार रमा ने भी वेदार्थ का विचार करके निर्दोष पूर्ण गुण भगवान् ही सेवन करने योग्य हैं, और वह भगवान् निर्दोष प्राणी से ही सेवन करने योग्य हैं, इस प्रकार निश्चय करके आधिदैविक, आध्यात्मिक दोषों को त्यागकर भगवान् का ही वरण किया था 'यद्वाञ्छया श्रीर्ललना' इसमें ललना पद से स्त्री स्वभाव आधिदैविक, तथा मनोभिलाष रूप काम, आध्यात्मिक दोनों दोषों का लक्ष्मी ने त्याग कर दिया है ।

लक्ष्मी यहां पर सात्त्विकी शक्ति दोनों श्लोकों में कही गयी हैं, ब्रह्मानन्दरूपा शक्ति नहीं कही गयी हैं, कारण कि ब्रह्मानन्द रूप लक्ष्मी को इस प्रकार के शरीर की अपेक्षा नहीं होती है, इसका स्वरूप द्वितीयस्कंध नवम अध्याय में कहा गया है, जब कि लक्ष्मी ने कामत्यागरूप तप से चंचलता दूर कर आपका चरणतल प्राप्त किया है, अतः हमको भी चंचलता दूर करके और काम-त्याग करके भगवान् के चरणतल में निष्ठा करके रहना चाहिये । भगवान् के चरण में जो रहता है, वह भगवान् को प्रिय होता है, इस बात को गोपियां कहती हैं कि 'अरण्यजन प्रियस्य' अरण्यजन-पुलिन्दी जनप्रिय हैं जिसको, भगवान् को अरण्यजन-वनवासी प्रिय हैं, इस कारण से भी हमको सर्वसङ्गपरित्याग करके वन में ही रहना चाहिये । कारण कि सङ्गाभाव-भगवान् से अतिरिक्त अन्य पदार्थों में आसक्ति नहीं करने से भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

यदि कहो कि वन में रहनेवाले भगवान् को प्रिय क्यों होते हैं ?

तब इस प्रकार की अपेक्षा में गोपियां कहती हैं कि वन सात्त्विक तथा वैष्णव है, अर्थात् भगवत्प्राप्ति करानेवाला भगवदीय है, अतः भगवान् को वन प्रिय लगता है ।

गो० श्रीविठ्ठलनाथ जी स्वतन्त्र लेख में कहते हैं कि 'अरण्यजन' पद से पुलिन्दीजन का स्मरण कराया है, कारण कि भगवान् के पादतल सम्बन्धी कुङ्कुम के सम्बन्ध से ही पुलिन्दीजन भगवान् को प्रिय हुए थे, इसलिये भगवान् का पादतल स्वभाव से फल देनेवाला, तथा प्रभु में प्रीति साधन करनेवाला है, अतः हम भी पुलिन्दीजन की तरह भगवान् की प्रिया हैं, इस प्रकार का भाव अपने में जानती हैं, अर्थात् भगवान् ने चरणतल की कुङ्कुम से जिस प्रकार पुलिन्दी जन का मनो-

रथ सिद्ध किया, उसी प्रकार हम भी अपने लिये कृतार्थ मानती हैं, यहां गोपियों ने पहिले किये हुए रमण की बात स्पष्ट शब्दों में नहीं कही है, कारण कि गुप्त बात संकेत से ही कही जाती है, इस लिये परोक्ष प्रकार से यहां 'अरण्यजन प्रियस्य' इसके द्वारा कही है।

गोपियां कहती हैं कि आपको अरण्यजन प्रिय हैं, इसलिये हम सब भी आपकी पाप्मि के लिये वन में आई हैं, अन्य के सामने ठहर नहीं सकती हैं, कारण कि जो मनुष्य आपकी सर्वथा शरण नहीं आया है, उसके सामने हम ठहर नहीं सकती हैं, हममें ठहरने की शक्ति का अभाव है, कारण कि हममें भगवद्धर्म का प्रवेश हो गया है, जो एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का घातक-नाश करनेवाला है, उस घातक पदार्थ के आगे प्रथम पदार्थ ठहर नहीं सकता है, अर्थात् जो भाव देह का घातक है उसके आनेपर देह ठहर नहीं सकती है, देह का नाश होनेपर प्रथम अभिमत आत्मा का देवदत्तत्व निवृत्त हो जाता है, और आत्मा को देह की प्राप्ति तो भगवदीय जीवमें जिस समय भगवत्त्व-भगवद्भाव प्राप्त हो जाता है, उस समय निवृत्त हो जाती है, अर्थात् 'जीवेऽन्तःकरणे चैव' इस न्याय से 'भगवान्' मैं ही हूँ इस प्रकार अति विगाढ भाव प्राप्त होने पर आत्मा में देहभाव ठहर नहीं सकता है।

उसी प्रकार जो भगवदीय नहीं है, भगवान् की शरण नहीं गया है, वह भगवद्भाव का नाश ही करेगा, यदि उसका संसर्ग हो जायगा तो ?

जहां पर इस प्रकार की सूक्ष्म दृष्टि से विचार है, वहां पर फिर अन्य—गोप आदि के स्थान में जाना, और अन्य देवताओं के स्थान में जाना, उनको देवता मानकर भावना करने की बात तो दूर से ही निरस्त हो गई है, अतः आपने हमारी प्रीतिमात्र की जो २३ वें श्लोक में स्तुति की है, वह अत्यन्त अल्प-तुच्छ है, हम तो लक्ष्मीजी की तरह अनन्य भाववाली हैं। आपने

जिस प्रकार सर्वपदार्थ का परित्याग कर लक्ष्मीजी आपकी शरण में प्राप्त हुई हैं, आपने उनके साथ रमण किया है, उसी प्रकार हमारे साथ में भी आपने रमण किया है।

मूल में 'त्वयाभि रमिताः' इस पद से यह सूचन किया है कि सर्वदा ही आपका सम्बन्ध हमको स्वप्न में प्राप्त होता है, नहीं तो अभी तक हमारा जीवन नहीं रहता।

गोपियां कहती हैं कि इस प्रकार हम भुक्तपूर्वा हैं, पहले आपने हमारा भोग किया है इसलिये अन्यत्र—अन्य के पास में, स्थान में या आपके भेजने योग्य हम नहीं हैं ॥ ३६ ॥

(सुबो०) ननु तस्या दैवगत्या सम्बन्ध आसीत्, स च प्राथमिकः, भवती-
नां तु प्रथमतोऽन्यत्रैव सम्बन्धः, अतो वैषम्यमिति चेत्, तत्राहुः श्रीरिति।

यदि भगवान् कहें कि लक्ष्मी का सम्बन्ध मुझसे दैवगति से हुआ है, और वह प्रथम ही हुआ है, तुम सबका तो प्रथम सम्बन्ध अन्यत्र—गोपों के साथ में हो चुका है, लक्ष्मी और तुममें विषमता है, सदृशता नहीं है। इसके उत्तर में गोपियां आगे कहती हैं।

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥ ३७ ॥

पदपदार्थ—(श्रीः) लक्ष्मी (वक्षसि) हृदय में (पदं) स्थान को (लब्ध्वा) प्राप्त करके (अपि) भी (तुलस्या) तुलसी के साथ (भृत्यजुष्टम्) भक्तों द्वारा सेवित (यत्पदाम्बुजरजः) जिस आप भगवान् के चरणकमल की रेणु को (चकमे) प्राप्ति की इच्छा करती हुई (यस्याः) जिस लक्ष्मी के (स्ववीक्षणकृते) अपनी तरफ देखने के लिये (अन्यसुरप्रयासः) अन्य ब्रह्मादि देवताओं का प्रयास है (तद्वत्) लक्ष्मी की तरह (वयं च) हम सब (तव) आपकी (पादरजः) चरणरज को (प्रपन्नाः) प्राप्त हुई हैं ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—जिस लक्ष्मी को अपनी तरफ देखने के लिये अन्य ब्रह्मादि देवताओं का प्रयास है, वह लक्ष्मी आपके वक्षस्थल में स्थान प्राप्त करके भी तुलसी के साथ भक्तों द्वारा सेवित जो आपके चरण कमल की रज है, उसको प्राप्त करने की इच्छा करती हुई, उसी प्रकार हम आपकी चरणरज को प्राप्त हुई हैं ॥ ३७ ॥

(सुबो०) लक्ष्मीरपि न दैवगत्या भवन्तं प्राप्तवती, किन्तु त्वच्चरणार-
विन्दार्थं महत्तपः कृतवती । सा न स्त्रीत्वेन तदीया, किन्तु भक्तत्वेन, अन्यथा
वृक्षसि स्थलं प्राप्य स्वतन्त्रम्, तुलस्या सह सापत्न्यमप्यङ्गीकृत्य, चरणरजो न
कामयेत् । चरणरजस्तुलस्या भवति, भक्ता हि भक्ते । तदुपपादितं प्रथमस्कन्धे ।
तस्य रजसः माहात्म्यमाह भृत्यजुष्टमिति । तद्रजसैव भृत्यानां शरीरोत्पत्तेः ।
किलेति प्रसिद्धिः । सर्व एव भक्ताः त्वच्चरणरजसैव सम्पादितदेहवन्तः । अत-
स्तुलसी तत्र भक्तिरूपा प्रतिष्ठिता । तद्रजःप्राप्तिर्येषाम्, ते त्वत्सेवका एव
भवन्ति । अतो लक्ष्मीः, अन्तःकरणे स्थानं प्राप्यापि, अन्यः स्पृश्यतीति चिन्तया
रजश्चकमे । तस्मिन् प्राप्ते तु न शङ्कापि । ननु किमेतावद्भयं लक्ष्म्याः, तत्राहुः ।
यस्याः स्ववीक्षणकृते अन्यसुरप्रयासः । अन्ये सर्व एव ब्रह्मादयो देवाः तपः कुर्वन्ति,
'लक्ष्मीरस्मान् पश्यत्विति' । अन्यथा तेषां कोऽपि पुरुषार्थो न सिध्येदिति अतो
बहुभिः प्राध्यमाना भीता जाता । कश्चिदत्यन्तमपि तपः कुर्यात्, स, को वेद,
किं कुर्यादिति । रजःकामनायां तु नेयं शङ्का । प्राप्सौ तु सन्देह एव न भवति ।
एवं चरणरजःप्राप्सौ अनन्यगामित्वं निरूप्य स्वस्य तथात्वमाहुः तद्वद्वयं चेति ।
अस्मानपि बहवः प्रार्थयन्ति, तद्भयादेव पूर्वं चरणरजः स्पृष्टम्, ततो देहोऽपि
तच्चरणरजसा समुद्भूत इति सर्वथा तव पादरजः प्रपन्नाः । चकारात् या अपि
साम्प्रतं नागतोः । या वा महिष्यः, ता एतादृशशरीरयुक्ता एव । अतोऽस्मदर्थ
एव समागतो भवान् । नात्मानं गोपय । नापि गुप्तः स्थास्यसि । तस्मान्नाग्रहः
कर्तव्य इति भावः ॥ ३७ ॥

गोपियां कहती हैं कि लक्ष्मीजी भी दैवगति से आपको प्राप्त नहीं हुई है किन्तु आपके चरणारविन्द की प्राप्ति के लिये लक्ष्मी ने महान् तप किया था, लक्ष्मी ने आपके साथ सम्बन्ध स्त्री बनकर नहीं किया था, किन्तु भक्त बनकर किया था, इसलिये लक्ष्मी स्त्रीत्व से आपकी नहीं

हैं, भक्त हैं। यदि भक्त बनकर लक्ष्मी का सम्बन्ध आपसे नहीं होता तो वक्षस्थल में स्वतन्त्र स्थान प्राप्त करके भी तुलसी के साथ सापत्न्यभाव-सौतभाव स्वीकार कर लक्ष्मी, आपकी चरणरज की कामना नहीं करती।

यदि कहो कि लक्ष्मी और तुलसी का एक पति है, इसलिये सापत्न्यभाव सब लोग जानते ही हैं, फिर सापत्न्यभाव स्वीकार करके भक्त नहीं होती तो चरणरज की कामना नहीं करें, इत्यादि आप क्यों कहती हो। इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि यद्यपि सब लोग दोनों का एक पति जानते हैं, तथापि 'श्रीविष्णुपद्यामनुजस्तुलस्या' इत्यादि वाक्य में तुलसी का भगवान् के चरणकमल के साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है, इसलिये चरणरज भी सम्बन्ध निकट होने से तुलसी की प्राप्त होती ही है और लक्ष्मी भक्तिरूप-पादसेवनरूप भक्ति की भक्त हैं 'या वैलसच्छ्रीतुलसीविमिश्र पादाब्जरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री' इसमें इस प्रकार कहा है कि लक्ष्मीजी नित्य भगवान् की पूजा करने के समय चरणारविन्द में तुलसी समर्पण करती हैं, इस प्रकार भागवत प्रथम स्कन्ध अ० १९ श्लोक ६ में कहा है, इसलिये प्रथम सपत्नी भाव होने पर भी विषय भेद से सपत्नी भाव उत्पन्न नहीं होता है। और चरणरज की कामना में तो सपत्नी भाव होता ही है, इसलिये यहां 'वक्षसि-स्थलं प्राप्य स्वतन्त्रं तुलस्या सह सापत्न्यमप्यङ्गीकृत्य चरणरजो न कामयेत्' इस प्रकार कहा है।

अब गोपियां भगवान् की चरणरज का माहात्म्य वर्णन करती हैं, 'भृत्यजुष्टम्' सेवकों द्वारा चरणरज सेवित है, भगवान् की चरणरज की ही सेवा करने वालों के शरीर की उत्पत्ति होती है, यह प्रसिद्ध है, सभी भक्त आपकी चरणरज से संपन्न देहवाले होते हैं, इसलिये भगवान् के चरणकमल में तुलसी भक्तिरूप प्रतिष्ठित है।

जिनको आपकी चरणरज की प्राप्ति है, वे आपके सेवक ही होते हैं, अर्थात् वे आपकी सेवा करते हैं। उनको अन्य सम्बन्ध नहीं होता है, इसलिये हमको भी पति आदिका अन्य सम्बन्ध नहीं है, इसी बात को 'वेमाः स्त्रियः' इस श्लोक में आगे कहेंगे, अतः लक्ष्मी अन्तःकरण में स्थान प्राप्त करके भी, 'कहीं मुझको कोई अन्य-अभक्त स्पर्श कर लेगा' इस चिन्ता से आपकी चरणरज की कामना करती हुई। आपकी चरणरज प्राप्त होने पर फिर लक्ष्मी को अन्य-अभक्त द्वारा स्पर्श करने की शंका भी नहीं होती है।

यदि कहो कि लक्ष्मी जी को इतना भय क्यों लगता है, इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि जिस लक्ष्मी को अपनी तरफ देखने के लिये अन्य सभी देवताओं का प्रयास है, सभी ब्रह्मादि देवता तप करते हैं, और कहते हैं कि हे लक्ष्मी जी हमारी तरफ देखो! कारण कि लक्ष्मी जी के देखे बिना कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है, इसलिये बहुत से लोगों की प्रार्थना की देखकर लक्ष्मी अन्य स्पर्श से डरती हैं, और विचार करती हैं कि इस बात को कौन जानता है कि कभी कोई अत्यन्त तप करके क्या करे, कहीं मुझको प्राप्त न कर ले, इस विचार से भगवान् की चरणरज की प्राप्ति की कामना करती हैं।

चरणरज की प्राप्तिकामना में तो किसी प्रकार का संदेह ही नहीं होता है, कारण कि सबको इस प्रकार का ज्ञान होता है कि लक्ष्मी अनन्यगामी हैं, अर्थात् भगवान् के अतिरिक्त अन्य पुरुष के पास जाने वाली नहीं हैं, इस लिये विपरीत निश्चय से लक्ष्मी के लिये कोई यत्न नहीं करते हैं, अतः चरणरजप्राप्ति में लक्ष्मी को अन्य स्पर्श की शंका नहीं रहती है। (लोक में भी पतिव्रता स्त्री को जानकर परपुरुष उससे सम्बन्ध करने का प्रयत्न भी नहीं करता है।)

लेखकार मूल सुबोधिनी में 'प्राप्ती संदेह एव भवति' इस प्रकार पाठभेद भी मानते हैं, लक्ष्मी की प्राप्ति में संदेह ही होता है, इसलिये अन्य पुरुष निश्चय के अभाव से यत्न भी नहीं करते हैं, इस प्रकार अर्थ है।

इस प्रकार गोपियां लक्ष्मी को अनन्यगामी कहकर अपने को भी अनन्यगामी कहती हैं 'तद्वद्वयं च' जिस प्रकार लक्ष्मी की प्राप्ति की इच्छा बहुत से करते हैं, उसी प्रकार हम गोपियों की भी बहुत गोप प्रार्थना करते हैं।

श्रुतिरूपाग्र्यों के अभिप्राय से तत्तन्मन्त्रों के अभिमानी देवता श्रुतियों पर अपना अपना स्वामित्व मानते हैं, इसलिये मन्त्राभिमानी देवताओं के भय से हमने पहले आपकी चरणरज का स्पर्श किया था, कारण कि रज प्राप्त होनेपर देवगामित्व होता नहीं है। हमारी देह भी आप की चरणरज से उत्पन्न हुई है, इसलिये सर्वथा आपकी चरणरज प्राप्त हुई है।

मूल में 'तद्वद्वयं च' इसमें 'च' है, इसका अर्थ इस प्रकार है कि जो गोपियां इस समय यहां नहीं आई हैं, अथवा जो महिषी-आपकी रुक्मिणी आदि हैं, उनका शरीर भी आपकी चरणरज से उत्पन्न हुआ है। यहां 'महिष्यः' कहने से यह भी सूचित होता है कि जिनको अष्टावक्र ऋषिका प्रसाद, तथा शाप हुआ है, उनका यहां महिषियों में ग्रहण नहीं किया है।

अब गोपियां कहती हैं कि आप हमारे लिये ही पधारें हो, अपने स्वरूप को छिपाओ नहीं, कारण कि आप गुप्त भी नहीं रह सकते हो, इस लिये हमारे लिये घर भेजने का आग्रह आपको नहीं करना चाहिये, यह भाव है ॥ ३७ ॥

(सुबो०) एवं स्वस्य भगवदेकभोग्यशरीरत्वमुपपाद्य प्रार्थयन्ति तन्न इति।

इस प्रकार गोपियां अपना शरीर एक भगवान् के ही भोग्य है, प्रतिपादन करके आगे भगवान् से प्रार्थना करती हैं।

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेंऽग्निमूलं

प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।

त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-

तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥ ३८ ॥

पदपदार्थ—(तत्-तस्मात्) इस कारण से (हे वृजिनार्दन) हे दुःख उत्पन्न करने वाले पापों के नाश करने वाले (नः) हमारे सबके ऊपर (प्रसीद) प्रसन्न हो जाओ (वसतीः) गृहस्थाश्रम को (विसृज्य) त्याग करके (तदुपासनाशाः) आपका सेवन करने की आशा वाली हम सब (ने) आपके (अग्निमूलं) चरण मूल को (प्राप्ताः) प्राप्त हुई हैं, (हे पुरुषभूषण) हे पुरुषों के भूषण (त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां) आपके सुन्दर मंदहासयुक्त निरीक्षण से उत्पन्न तीव्र काम से तप्त अन्तःकरण वाली सब गोपियों को (दास्यम्) दास्य को (देहि) दो ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—हे दुःख उत्पन्न करने वाले पापों का नाश करने वाले आप हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ, हम गृहस्थाश्रम त्याग करके आपका सेवन करने की आशावाली आपके चरण-मूल को प्राप्त हुई हैं, हे पुरुषों के भूषण, आपके सुन्दर मंद हासयुक्त निरीक्षण से उत्पन्न तीव्र काम से तप्त अन्तःकरण वाली हम गोपियों को दास्य प्रदान करो ॥ ३८ ॥

(सुबो०) पूर्वश्लोकेनैव भर्तृशुश्रूषणविधिनिराकृतः । तदपरित्यागः सुतरामेव तेनैव निराकृतो भवति । अनेनापि निराकरणं प्रार्थयन्ति । भगवत्कृपाभावे तादृशेनैव सम्बन्धो भवेदिति, कृपा हि सर्वतोऽधिका, तत्तस्मात् कारणात् प्रसीद, प्रसन्नो सव, त्वयि प्रसन्ने सर्वं सेत्स्यतीति । ननु भवतीनां प्रतिकूलमदृष्टं दुःखप्रापकमस्ति, अतः कथं प्रसाद इति चेत्, तत्राहुः वृजिनार्दनेति । वृजिनं दुःखजनकं पापम्, स्वभावत एव सर्वेषां येन केनापि सम्बन्धेन तददंयसि । प्रसादे हेतुमाहुः तैश्चिन्मूलं प्राप्ता इति । यस्तु चरणतलं प्राप्नोति, स प्रसादमपि । स च प्रसादः पशुपुत्रादिरूपो मा भवत्विति स्वाधिकारमन्येभ्यो व्यावर्तयन्ति विसृज्य वसतीरिति । गृहस्थाश्रमस्त्यक्तः, न तु गृहमात्रमिति वसतीरिति बहुवचनम् । परित्यागेऽपि हेतुमाहुः त्वदुपासनाशा इति । त्वत्सेवां करिष्याम इति आशामात्रेणैव पूर्वसिद्धं त्यक्तम् । तत्र समागतानां पुनर्गृहं सम्बन्धे किं वक्तव्यमिति । अतो देवं प्रार्थयन्ति त्वत्सुन्दरेति । तव सुन्दरं यत्स्मितं मोहकमप्यानन्दजनकं त्वत्सम्बन्धात् परमानन्दरूपं तादृशस्मितपूर्वकं यन्निरीक्षणं, तेन जातः तीव्रो यः कामः, तेन तप्तान्तःकरणानां अस्माकं, पुरुषाणां भूषणरूप, अनन्तकोटिकन्दर्पलावण्यरूप, स्वतः पुरुषार्थरूपमेव दास्यं देहि ('अधिकारिभेदेन दास्यस्यानेकविधत्वाद्देयं रूपं स्वतापोक्त्या व्यज्यते । उक्तविशिष्टानां यदेतत्तापनिवर्तकं तदिति । किञ्च, प्रभोरपेक्षितवस्तुसमर्पणे हि दास्यं भवति, न त्वन्यथा । एवं सति यथास्माकमुक्ततापेन प्रचुरा त्वदपेक्षा, तथा तवास्मदपेक्षायां स्वयमुद्यम्यास्मदुपयोगः कार्यं इत्यर्थः पर्यवस्यति । अन्यथा दास्यस्य कृतिसाध्यत्वेन दानोक्तिरनुपपन्ना स्यात् । अत एव तथा भूत्वा पुरुषो भूत्वा भूषणरूपेति । तद्वि कण्ठादिषु सर्वेष्वङ्गेषु भवति । त्वमपि तथा भूत्वा दास्यं देहीति वाक्यैकवाक्यतया प्राप्यते । भूषणत्वोक्त्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थताप्युक्ता । मणिखचितं तद्विभूषणत्वसम्पत्त्यर्थं मध्ये लाक्षावदपि भवति । तेन महा-नपि तद्वारणार्थं लाक्षामपि धारयति, तुच्छामपि, तथा मध्ये कामोपयोग इति न तदुपाधिकृतं दास्यवरणम्, अपितु तद्विपरीतप्रीतिभावः ।) अतो दास्यार्थिन्येव वयम्, न तु विवाहार्थिन्यः । अत उपनयनाद्यपेक्षापि न लोकव्यवहारेण कर्तव्येति भावः ॥ ३८ ॥

प्रथम श्लोक से ही पतिसेवा विधि का निषेध कर दिया है और प्रथम श्लोक से ही यह भी निर्णय कर दिया है कि वास्तव पति का त्याग नहीं करना चाहिये, लौकिक का त्याग करना

१. () चित्तान्तर्गतम् प्रभुणाम् ।

चाहिये, अब आगे के श्लोक में भी गोपियां, जो भगवान् ने लौकिक पतिका त्याग नहीं करना चाहिये, कहा है, उसीके निराकरण की प्रार्थना करती हैं ।

भगवान् की कृपा बिना तादृश लौकिक पति के ही साथ सम्बन्ध होता है, अतः भगवान् की कृपा सर्वप्रमाणों से अधिक है, कारण कि अन्तरङ्ग धर्म है, इसलिये सर्व से आधिक्य युक्त ही है, अब आप सर्वोपरि आप की कृपा होने से हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ, आपके प्रसन्न होने पर सर्व कार्य सिद्ध हो जायेगा ।

यदि आप कहो कि इस समय तुम्हारा हमारी कृपासे प्रतिकूल अदृष्ट दुःख देने वाला है, अतः मैं प्रसन्न कैसे हो सकता हूं ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'हे वृजिनार्दन' आप वृजिन-दुःखजनक पाप का नाश करने वाले हो, आपका स्वभाव ही है, कि जिस अपने स्वभाव से किसी भी कामादि-भाव सम्बन्ध होने पर सर्व का सर्व पाप नाश करते हो, अतः आपके प्रसाद में अदृष्टादि प्रतिबन्ध नहीं करते हैं ।

अब गोपियां भगवान् के प्रसाद में कारण कहती हैं, 'तैश्चिन्मूलं प्राप्ताः' हम सब आपके चरणमूल में प्राप्त हुई हैं, जो पुरुष भगवान् के चरणतल को प्राप्त हो जाता है, वह आपके प्रसाद को भी प्राप्त होता है, हम आपसे पशु-पुत्रादि रूप प्रसाद नहीं चाहती हैं, इसी बात को ज्ञापन करने के लिये गोपियां अपना अधिकार-योग्यता प्रसाद में अन्यों की अपेक्षा भिन्न कहती हैं कि 'विसृज्य वसतीः' हम सब गृहस्थाश्रमका त्याग करके आपके समीप आई हैं । हमने केवल गृह मात्र का त्याग नहीं किया है, किन्तु 'वसतीः' इस प्रकार यहां बहुवचन का प्रयोग होने से गृहस्थाश्रमका त्याग कहा है ।

गृहस्थाश्रम के परित्याग में भी गोपियां हेतु कहती हैं कि 'त्वदुपासनाशाः' आप भगवान् की सेवा करने की आशामात्र से ही पूर्व सिद्ध गृह आदि सर्व पदार्थों का हमने त्याग किया है ।

उसमें भी आप के चरणकमल के मूल में प्राप्त हुई हैं, फिर हमारा गृह से सम्बन्ध कैसे हो सकता है, अब आगे घर जाने के विषय में कुछ भी वक्तव्य नहीं है, अतः गोपियां देय-देने योग्य वस्तु की भगवान् से प्रार्थना करती हैं कि 'त्वत्सुन्दर' आपका सुन्दर स्मित-मोह करने वाला भी आनन्दजनक-उत्पन्न करने वाला है, आपके सम्बन्ध से परमानन्द रूप है, इस प्रकार का स्मित पूर्वक जो निरीक्षण, उस निरीक्षण से उत्पन्न तीव्र जो काम, उस काम से तप्त अन्तःकरण वाली हम गोपियों को हे पुरुषों के मध्य में भूषण रूप-पुरुषों के भूषण अनन्त-कोटि कन्दर्प-कामदेव के सौन्दर्य रूप, स्वतः पुरुषार्थ रूप दास्य का दान करो !

दास्य के स्वरूपादिविषय में टिप्पणी आदि सहित स्वतन्त्र लेख का भाव कहते हैं कि दास्य के भी अधिकारियों के भेद से अनेक भेद हैं, अतः गोपियां कहती हैं कि हमारा अन्तःकरण कामाग्नि से तप्त हो रहा है, इस प्रकार कथन से गोपियों ने देने योग्य दास्य का स्वरूप बतलाया है, अर्थात् जिस दास्य से कामाग्नि से तप्त अन्तःकरण का ताप दूर हो जाये, उस दास्य का दान करो ।

जो वस्तु प्रभुको अपेक्षित होती है, उस वस्तु को प्रभु के लिये समर्पण करने से दास्य सिद्ध होता है, अन्य प्रकार से सिद्ध नहीं होता है ।

जिस प्रकार हमको पूर्व कथित ताप के कारण आप की अत्यन्त अपेक्षा है, उसी प्रकार आपको हमारी अपेक्षा में स्वयं उद्यम करके हम सबका उपभोग करना चाहिये, इस प्रकार का

अर्थ पर्यवसान में होता है, नहीं तो दास्य को कृति साध्यत्व होने के कारण यहां दान कथन अयुक्त हो जायेगा, अतः 'पुरुषभूषण' सम्बोधन, पुरुष होकर आप भूषण रूप हो, कहा है, भूषण कण्ठादि सर्व अङ्गों में धारण होता है, आप भी सर्व अङ्गों में भूषण रूप होकर हमको दास्य दान करो ।

इस प्रकार का अर्थ वाक्य की एकवाक्यता करने पर प्राप्त होता है, भूषणत्व कथन से ही दास्य को स्वतन्त्र पुरुषार्थरूपता भी कह दी है, मणि से जड़ी वस्तु भूषण रूप होने के लिये मध्य में लाख युक्त भी होती है, अतः जिस प्रकार महान् पुरुष भी भूषण धारण करने में तुच्छ लाख को भी साथ में धारण करता है, उसी प्रकार मध्य में तुच्छ काम का उपयोग है, अर्थात् जैसे महान् पुरुष भूषण धारण करने के लिये लाख को भी धारण करता है, वैसे कण्ठादि में आपको धारण करने के लिये हम लाख की तरह तुच्छ काम को धारण करती हैं, कारण कि जिस प्रकार लाख बिना जड़ा हुआ भूषण धारण नहीं होता है, उसी प्रकार काम के अभाव में भोग भोगना भी असंभव होता है, तो फिर भूषणरूप आपको धारण करना भी नहीं हो सकेगा, अतः भूषण में लाख की तरह मध्य में काम का उपयोग है । कामोपाधिकृत दास्य वरण नहीं है, अर्थात् हम आपसे जिस दास्य का वरण करती हैं, वह कामोपाधियुक्त नहीं है । किन्तु कामोपाधि से विपरीत-निरुपधि शुद्ध है, यह भाव है ।

गोपियां कहती हैं, कि इसलिये हम दास्य की अपेक्षा करने वाली हैं, विवाह की अपेक्षा करने वाली नहीं हैं, अतः हमको दास्य दान करने में लोकव्यवहार से उपनयन, समावर्तन आदि संस्कारों की भी अपेक्षा कर्तव्य नहीं है, यह भाव है ॥ ३८ ॥

(सुबो०) ननु भवतीनां सर्वासामेव दास्यवरणे को हेतुः, सालोक्यादेरपि फलस्य विद्यमानत्वात्, तत्राहुः वीक्ष्यालकावृतमिति ।

यदि भगवान् गोपियों से कहें कि तुम सभी को दास्य वरण करने में क्या कारण है, सालोक्यादि अन्य फल भी तो विद्यमान हैं, उनमें से किसी को जिसकी लेने की इच्छा हो, उसको ले लो । इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं ।

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्चि
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।

दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य

वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥ ३९ ॥

पदपदार्थ—(तव) आपके (अलकावृत मुखं) अलकों से आवृतमुख को (वीक्ष्य) देखकर (कुण्डलश्चि) दोनों कुण्डलों से शोभा जिसकी अथवा कुण्डलों में शोभा जिससे (गण्डस्थलाधर सुधं) दोनों गण्डकपोलस्थलरूप विशाल और अधर में सुधा जिसमें (हसितावलोकम्) हसित पूर्वक अवलोक जिसमें इस प्रकार के मुख को देखकर, (दत्ताभयं) दिया है अभय जिसमें, (भुजदण्डयुगं) भुजदंडयुग को (विलोक्य) देखकर (श्रियैकरमणं) लक्ष्मी का एक रमण जिसमें, (वक्षः) वक्षस्थल को देखकर (दास्यः) हम दासियां (भवामः) होती हैं ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—अलकों से आवृत तथा कुण्डलों से शोभित गण्डस्थल रूप विशाल और अधर में सुधा वाला एवं हास्य सहित अवलोकन वाला आपका श्रीमुख देखकर, तथा अभय देनेवाले

दोनों भुजदण्डों को देखकर तथा लक्ष्मी का ही एक रमण जिसमें इस प्रकार के वक्षस्थल को देखकर हम आपकी दासी होती हैं ॥ ३९ ॥

(सुबो०) अनेन लोकेप्सायां पतिनं त्यक्तव्य इत्यत्रोत्तरमुक्तम् । लोके हि पुरुषार्थत्रयम् । चतुर्विधो मोक्षः । इन्द्राद्यैश्वर्यभावेन स्वर्गप्राप्तिः । इह लोके परमा लक्ष्मीः । तदत्र त्रयमपि दास्ये सर्वोत्कृष्टमस्तीति तदुपपादयन्ति । प्रथमं सारूप्यं सालोक्यं सामीप्यं सायुज्यमिति मोक्षभेदाः । ते दास्याग्रे अप्रयोजकाः । यतो मुखारविन्ददर्शनेन ते कामा निवर्तन्ते इति भक्तिरूपमुखारविन्दस्य तदपेक्षयोत्कृष्टधर्मवत्त्वं निरूप्यते । अलकाः सारूप्यमिव प्राप्ता भ्रमराः । ते बहव एवात्र आवृत्य मुखं तिष्ठन्ति । अतः सारूप्यं गतानामपि यदि भक्तिशेषत्वम्, तदा किं सारूप्येन । किञ्च, मुखं कुण्डलश्चि, कुण्डलाभ्यां श्रीयस्य, कुण्डलयोर्वा श्रीयस्मात् । सामीप्ये हि नैकट्यं भवति । अत्यन्तसामीप्यं जायमानमपि कुण्डलादप्यधिकं न भविष्यति । ते चेत्सारूप्ययोगरूपे भगवत्प्रमाणावलम्बनी भगवदधीनगतिमती पुनर्भगवन्मुखनिरीक्षके, तदा किं सामीप्येन । किञ्च, गण्डस्थलाधरसुधमिति । गण्डौ स्थलरूपौ विशालौ । स्थले हि रसः पातुं शक्यत इति । अधरे च सुधा यस्मिन् । गण्डस्थले स्थित्वा अधरसुधा पातुमत्र शक्येति । सालोक्ये हि आनन्दमात्रमक्षरामृतपानं च । अक्षरापेक्षयापि गण्डस्थले स्थितिः चुम्बनाद्यर्थमुत्तमा । अधररसश्च अक्षररसादुत्तम इत्युक्तम् । कुण्डलश्रीयुक्तं गण्डस्थलमित्यस्मिन् पक्षेऽपि सामीप्यात् भक्तौ शास्त्रीयो रसः अधिको निरूपितः, परस्परं त्वद्गुणवादरूपः । अक्षरादाधिक्यं तु अधररसे स्पष्टमेव । किञ्च, हीसतावलोकमिति । हसितपूर्वकमवलोकौ यस्मिन् । ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानां न भक्तिविलासः । हासो हि सर्वरसोद्बोधरूपः । ज्ञानं चाविर्भूतम् । ब्रह्मानन्दे तु द्वयमप्यव्यक्तम्, जले निमग्नस्य जलपानवत् । अनुभवरसो हि भिन्नतया स्थितौ भवति । अतो भक्तिरूपमुखस्य दृष्टत्वात् दास्यमेव फलम्, न मोक्षः । भुजदण्डयुगं च विलोक्य इन्द्रादिभावेनापि स्वर्गो न प्रयोजक इति निरूपयन्ति दत्ताभयमिति । स्वर्गे इन्द्रः परमकाष्ठां प्राप्तिः । तेऽपि दैत्येभ्यो निरन्तरं भीताः इन्द्रादयः । तेषामप्यभयदातु भगवतो भुजदण्डयुगलम् । तच्चेदत्रैवास्ति, तत्परित्यज्य किमिन्द्रत्वेन । चकारात् न केवलमभयमात्रं प्रयच्छति, किन्तु क्रियाशक्त्या यज्ञादिना हविरपि प्रयच्छति । यथाग्रे इन्द्रः स्वाधिकारसमाप्तौ मुक्तो भवति । दण्डपदेनानुल्लङ्घ्यशासनत्वमुक्तम् । उभयत्र च दण्डो युगपदेन निरूपितः । ततो हि सर्वथा दैत्यनाशो भवति । किञ्च, वक्षोऽपि विलोक्य । लोकानां श्रिया रमणं भवति । श्रीरपि

तत्र रमते । चकाराद्धर्मस्यापि । अतो दास्य एव भवामः । “अत्र वाक्षणस्य दासीभवनहेतुत्वौक्त्या यत्रायं भावो नास्ति, तेषां नैतद्वीक्षणमस्ति, विधिप्रयुक्तत्वाभावेन तद्विपरीतविध्यनङ्गीकारश्च युक्त इति ज्ञाप्यते । यदप्युक्तं भगवता ‘अस्वर्ग्यं’ मित्यादि स्वभजने दोषषकटम्, तदपि षड्भिर्गुणैर्निवारितम् । न हि परमपुरुषार्थसाधकं पापं भवति । फलत एव पापस्य निन्द्यमानत्वात्” ॥ ३९ ॥

इस लोक में तथा परलोक में जिसको कीर्ति आदि की अपेक्षा हो, उस स्त्री को अपने पति का त्याग नहीं करना चाहिये, यह भगवान ने पञ्चोत्तरों श्लोक में कहा था, इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि लोकेप्सा—लोक की इच्छा तो यहां पर ही विशेष रूप से सिद्ध होगी ।

अब गोपियां विशेष लोकेप्सासिद्धि में कारण कहती हैं कि लोक में तीन पुरुषार्थ हैं, अर्थात् पुरुष प्रीति मोक्ष आदि तीनों के साधन तीन हैं, उसमें चार प्रकार का मोक्ष एक पुरुषार्थ है, इन्द्रादि ऐश्वर्य भाव से स्वर्गप्राप्ति द्वितीय पुरुषार्थ है, और इस लोक में परम लक्ष्मीप्राप्ति तीसरा पुरुषार्थ है ।

उक्त तीनों प्रकार के पुरुषार्थों से भगवान् का दास्य सर्वोत्कृष्ट-सर्व से उत्तम है, सर्व से उत्तम का प्रतिपादन गोपियां करती हैं कि १ सारूप्य, २ सालोक्य ३ सामीप्य, ४ सायुज्य—ये चार प्रकार भेद मोक्ष में हैं, ये चारो प्रकार के मोक्ष भगवान् के दास्य के आगे अप्रयोजक वेकार हैं, कारण कि भगवान् के मुखारविन्द का दर्शन करने से चार प्रकार के जो मोक्ष हैं, उनकी प्राप्ति की इच्छा निवृत्त हो जाती है, कारण कि भक्ति रूप भगवान् का मुखारविन्द, चतुर्विध मोक्ष में जो आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द की अपेक्षा से उत्तम धर्म वाला है, उत्तमधर्म वाला जिस प्रकार है उस प्रकार का गोपियां वर्णन करती हैं ।

मूल में गोपियों ने भगवान् के अङ्गों का दर्शन करके दासी होने को कहा है, और यहां पर तो ‘आपको देखकर’ इतना ही गोपियों को कहना था, कारण कि आपको देखकर इस प्रकार कहने से ही गोपियों के भाव की पूर्ति हो जाती, फिर जो एक एक अङ्ग भूषण का दर्शन कहा है, इसका अभिप्राय गोपियां निरूपण करती हैं कि भगवान् की अलक-केशों की धुंधुराली जो लज्जित हैं, उनमें सारूप्य मोक्ष की प्राप्ति की तरह भ्रमर हैं, वे भ्रमर बहुत सी अलकों में लिपटकर मुख ऊपर रहते हैं, अतः सारूप्य मोक्ष प्राप्त भ्रमरों को भी यदि भक्तिशेषता—भक्ति का अङ्ग नहीं तो फिर सारूप्य मोक्ष का हमको क्या प्रयोजन है ? यहां पर भ्रमरों के सारूप्य की तरह अलकों द्वारा सारूप्य मोक्षवाले भक्त लक्षित होते हैं । केश तो बद्ध भी होते हैं, किन्तु अलक बद्ध नहीं होती है इससे भी भक्त ही सुवन किये हैं । ‘मत्सेवया प्रतीतं च’ ‘सालोक्य-साष्टि-सामीप्य’ इत्यादि वाक्यों से भक्तों को दास्य की अपेक्षा चार प्रकार का मोक्ष भी न्यून है, अर्थात् दास्य चाहते हैं, मोक्ष नहीं चाहते हैं, इस प्रकार सिद्धान्त गोपियों ने सिद्ध किया है । कारण कि उक्त मोक्षों में परमानन्दरस प्राप्त नहीं होता है ।

दास्य रस मोक्ष से अधिक है, इसमें आवरण नहीं है । अतः यहां सारूप्य में भी मुख से आवरण रूप ही कहा है, जब तक भीतर स्थिति नहीं होती है, तबतक ऊपर चारों तरफ स्थिति मात्र से भ्रमरों को रसपान संभव नहीं हो सकता है, भ्रमरों को रसपान नहीं है, इस बात को सूचन करने के लिये यहां मुख को कमलत्व भी नहीं कहा है, दूसरे यहां मुख को

इसलिये भी नहीं कहा है कि कमल पान करने योग्य नहीं होता है, किन्तु कमल के भीतर के रस का आस्वादन किया जाता है । भगवान का मुख, कमल सदृश इस प्रकार का नहीं है किन्तु स्वयं ही रसात्मक है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये मुख को यहां मूल में कमलत्व नहीं कहा है । बहुतेरों से आवृत-आवरण कहा है, अतः मुख में महारस व्यंजित होता है ।

भगवान की लीला अथवा नाद के श्रवण से प्रथम उत्पन्न हुआ भाव मुखदर्शन से पुष्ट किया जाता है । और अत्यन्त आत्ति का लय, तथा विविध रस भावों की उत्पत्ति भगवान के मुखदर्शन से होती है, ‘अलक’ इस वर्णात्मक नाम से उक्त स्थिति, और प्रलय, उत्पत्ति सूचित होती है, इसलिये हमको आपकी दासी होना युक्त ही है ।

‘आपका सुन्दर स्मितयुक्त निरीक्षण’ आदि का वर्णन करके गोपियों ने पहले श्लोक में अपना अधिकार निरूपण किया है, अर्थात् हम सब दास्य प्राप्त करने की अधिकारिणी हैं, दास्य से मुख अपने अधीन हो जाता है, इसलिये दास्य के अङ्गभूत मोक्षों का सर्वरूप से गोपियों ने अङ्गीकार नहीं किया है । इस प्रकार जानना चाहिये ।

भगवान का मुख दो कुण्डलों से शोभित है, अथवा भगवान के मुख से कुण्डलों की शोभा हो रही है, सामीप्य मोक्ष में निकटता होती है, अर्थात् भगवान के समीप स्थिति होती है, यदि कोई सामीप्य मोक्षवाला भगवान के अत्यन्त समीप में जाता है तो कुण्डलों से अधिक समीप में नहीं जायेगा, भगवान के दोनों कुण्डल भक्ति के अङ्ग सांख्य, योगरूप हैं, और भगवान के प्रमाणरूप कर्णों के आश्रित हैं, अर्थात् कर्णों में लटक रहे हैं । ‘कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः’ इस वाक्य से भगवान के श्रोत्र शब्दरूप हैं, इसलिये प्रमाणरूप हैं, इस प्रकार प्रमाणरूप श्रोत्रों के अवलम्बी कुण्डल हैं, अर्थात् भगवान को प्रमाणित करनेवाले भक्ति प्रतिपादक भागवत और गीता रूप शास्त्र हैं, उनके आश्रित कुण्डलात्मक योग तथा सांख्य शास्त्र हैं । कारण कि सर्वत्र भक्ति की मुख्यता है ।

अथवा भगवत्प्रमाण वेद को भी कहते हैं, इसलिये वेद से अविच्छेद सांख्य, और योग वेद प्रमाण के आश्रित हैं, इस प्रकार भी अर्थ होता है । ‘भगवत्प्रमाणावलम्बिनी’ कुण्डलों की गति भगवान के अधीन है, और फिर भगवान के भक्तिरूप मुख का दर्शन कर रहे हैं ।

सांख्य-योग भगवान का मुख निरीक्षण करते हैं, इसलिये सांख्य-योग में निष्ठा वाले पुरुष, जिस समय भगवान का मुख निरीक्षण करते हैं, उस समय उनको भक्ति प्राप्ति की अभिलाषा ही होती है, भक्तिरूप मुख की प्राप्ति नहीं होती है, इस प्रकार भी भाव सूचन किया है । तो फिर इस प्रकार के सामीप्य मोक्ष से हमारा क्या प्रयोजन है ।

‘गण्डस्थलाधरमुधम्’ भगवान के मुख में गण्ड-कपोल दोनों स्थल रूप विशाल हैं, कारण कि स्थल में खड़ा रह करके ही रसपान हो सकता है, इसी को ज्ञापन करने के लिये ही यहां स्थल शब्द कहा है, नहीं तो नहीं कहते, भगवान के अधर-नीचे होठ में सुधा-अमृत है, गण्डस्थल में खड़े होकर अधर-सुधा का पान दास्य में हो सकता है, सालोक्य मोक्ष में स्थान-आनन्दमात्र अक्षरवत्ता के अमृत का पान है, परमानन्दरस प्राप्त नहीं है, अर्थात् सालोक्य मोक्ष में स्थल आनन्द की मात्रा-अंशवाला अक्षरात्मक है, और दास्य में स्थल गण्डरूप पूर्णानन्द रूप है, इसलिये अक्षर की अपेक्षा से भी गण्डस्थल में स्थिति चुम्बनादि के लिये उत्तम है, सालोक्य में अक्षर में स्थित होकर अक्षरामृत का पान है, और दास्य में गण्डस्थल में स्थित होकर अधर-रस का पान है, अतः गोपियों ने अक्षर-रस से यहां अधर-रस को उत्तम कहा है ।

अब मूल में ‘कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरमुधम्’ ।

इस प्रकार समस्त एक पद माना जाये तो इस पक्ष में कुण्डल श्रीयुक्त गण्डस्थल-कुण्डलों की शोभायुक्त गण्डस्थल, इस प्रकार अर्थ होता है, इसलिये सामीप्यमोक्ष, भक्ति का अङ्ग होने से गण्डस्थल रूपी भक्ति में परस्पर आपका गुणगान रूप शास्त्रीय रस का अधिक निरूपण होता है, और अक्षर से अधिक तो अक्षर-रस में स्पष्ट ही है।

‘हसितावलोकम्’ भगवान् के मुख में हामपूर्वक अवलोक-कटाक्ष हैं, ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट हुए जीवों को भक्ति विलास नहीं है।

भगवान् का हास सर्व रसों का उद्बोध रूप है, अर्थात् सर्व रसों को जाग्रत करनेवाला है, सर्व रसों का ज्ञान कराता है, और वह अवलोकन रूप ज्ञान आविर्भूत है, जिस प्रकार जल में डूबे हुए पुरुष को जलपान का अनुभव व्यक्त नहीं होता है, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट हुए पुरुष को आनन्द तथा ज्ञान का अनुभव व्यक्त नहीं होता है। ब्रह्मानन्द में आनन्द और ज्ञान दोनों ही अव्यक्त हैं, कारण कि ब्रह्मरूप हो जाने से आनन्द और ज्ञान आत्मारूप ही हो जाते हैं, इसलिये इन दोनों का भिन्नता से अनुभव नहीं होता है। अतः अव्यक्त रहते हैं। वास्तव में अनुभव रस तो भिन्न-पृथक् स्थिति रहने पर ही होता है। इसीसे हमने आपके भवितरूप मुख का दर्शन किया है, अतः हमारे सबके लिये दास्य ही फलयुक्त है, मोक्ष नहीं है।

‘भुजदण्डयुगम्’ इन्द्रादि देवता आपकी भुजायें हैं, इसलिये आपके दोनों भुजदण्डों को देखकर हमको इन्द्रादिभान से भी अभिलपित फल में स्वर्ग प्रयोजक नहीं है, कारण कि आपके भुजदण्डयुग दर्शन करके इन्द्रलोक के काम निवृत्त हो जाते हैं, इसी बात को गोपियां कहती हैं कि ‘दत्ताभयम्’ आपका भुजदण्ड अभय देनेवाला है, स्वर्ग में इन्द्र सर्व देवताओं से विशेष परम-काष्ठा ऊँचे से ऊँचे स्थान को प्राप्त हुआ है, परन्तु इन्द्रादि देवता भी दैत्यों से निरन्तर डरते रहते हैं, इस प्रकार भयभीत इन्द्रादि देवताओं को भी भगवान् का भुजदण्ड युगल अभय देने वाला है, इस प्रकार का अभयदान देने वाला भुजदण्डयुग जब कि दास्य में ही है, फिर दास्य को त्यागकर हमारे लिये इन्द्र पद से क्या प्रयोजन है।

मूल श्लोक में ‘च’ कार है, उससे इस प्रकार अर्थ सूचित होता है कि भगवान् इन्द्रादि देवताओं को केवल अभय मात्र ही नहीं देते हैं, किन्तु क्रियाशक्ति अपने हस्त से यज्ञादिद्वारा आप हवि प्रदान भी करते हैं, कारण कि जब इन्द्र का आगे अधिकार समाप्त हो जायेगा तब वह मुक्त हो जायेगा, मुक्त करने के लिये मुक्ति का साधनभूत शुद्धि सम्पादन करने वाला वैदिक विधि से सिद्ध हवि भगवान् इन्द्र के लिये देते हैं।

मूल में भुजदण्ड कहा है, इसमें दण्ड पद से आपकी आज्ञा का उल्लंघन इन्द्रादि देवताओं को भय देनेवाले भी दैत्य नहीं करते हैं, दैत्य भी आपकी आज्ञा मानते हैं, इस प्रकार गोपियों ने भगवान् को ऐहिक अनिष्ट निवर्तक कहा है, उसी प्रकार देवताओं के भी भगवान् अनिष्ट निवर्तक हैं। और यदि द्विज यज्ञ नहीं करें तो भगवान् द्विजों को भी दण्ड देकर शिक्षा करते हैं, यज्ञ करने की भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन द्विज भी नहीं करते हैं। भगवान् मुक्ति में हेतुभूत शुद्धि करनेवाले इन्द्रादि को हवि का दान करके पारलौकिक सुख देते हैं।

अब गोपियां हविदान से परलोक साधन में विशेषता कहती हैं कि यहां वाम तथा दक्षिण दोनों भुजाओं को दंडयुग से कहा है, इसलिये भगवान् की क्रियाशक्तिरूप वैदिक क्रिया-यज्ञ सम्बन्धी हवि का भक्षण करने वालों के अन्तःकरण में स्थित भी दैत्यों का नाश करने वाला है। मूल श्लोक में ‘भुजदण्डौ’ इस प्रकार द्विवचन नहीं कहा, ‘भुजदण्डयुगं’ यह एकवचन कहा है,

उसका यह भाव है कि दोनों भुजदण्डों की प्रतीति में अपेक्षा बुद्धि होती है, अपेक्षा बुद्धि से द्वित्व होता है, प्रकृति विषय में तो आश्लेष दशा में दोनों भुजाओं की एक की तरह प्रतीति होती है, एक की तरह प्रतीति भी अपने आश्लेष समय में संभव नहीं होती है, किन्तु और के आश्लेष में होती है इस प्रकार का दर्शन भाव का उद्बोधक ही होता है, फिर भी जो द्विवचन द्वयपद न कहकर ‘युग’ पद कहा है, इससे युग का स्वभाव है कि जिस प्रकार किसी से निवृत्त नहीं हो सकता है, (जो वस्तु युग होती है, वह वैसी ही जुड़ी रहती है, पृथक् नहीं होती है) उसी प्रकार भुजदण्ड, इस एकवचन से सूचित किया अर्थ लक्षण स्वभाव मर्यादा शास्त्र आदि से निवृत्त नहीं हो सकता है, कारण कि आश्लेषरूप स्वभाव इस प्रकार का ही है, यह ज्ञापन किया है, इसलिये हमको आपकी दासी होना आवश्यक हो जाता है। आपके वक्षस्थल को देखकर हम आपकी दासी होती हैं।

लोकों को लक्ष्मी से रमण होता है, अर्थात् लक्ष्मी लोकों के रमण का साधन है ‘धियैक-रमण’ इसमें इयङ् छान्दस है, लक्ष्मी का एक रमण आप भगवान् के वक्षस्थल में होता है, यह अर्थ होता है। अब विवक्षित अर्थ कहती हैं कि लक्ष्मी भी भगवान् के वक्षस्थल पर रमण करती हैं, इसलिये आपके वक्षस्थल का दर्शन करके हमको श्री-लक्ष्मी की अपेक्षा रहती नहीं है।

मूल श्लोक में ‘च’ है, इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार लक्ष्मी वक्षस्थल पर रमण करती हैं, उसी प्रकार धर्म भी रमण करता है। ‘धर्मोऽस्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठः’ भगवान् का स्तन धर्म है, और अधर्म पृष्ठ है, इस वाक्य से धर्म का भी वक्षस्थल स्थान है। लोक में लक्ष्मी का साधन धर्म भी आपके वक्षस्थल में रमण करता है, इस लिये भगवान् के वक्षस्थल का दर्शन करने वाली गोपियों को धर्म का प्रयोजन है। वक्षस्थल के दर्शन में ही धर्म का भी समावेश हो जाता है, इस लिये आपके वक्षस्थल को देखकर हम गोपियां दासी होती हैं।

इस प्रकार उक्त श्लोक में यहां क्रम से मोक्ष, काम, अर्थ और धर्म, इन चारों पुरुषार्थों की अभिलाष व्रजवधुओं ने अप्रयोजक-अपने लिये प्रयोजनरहित व्यर्थ बतलाई है।

यद्यपि जिस प्रकार का सारूप्य मुक्ति के अधिकारियों को भगवान् के मुख दर्शन आदि से परमानन्द का अनुभव होता है, उस प्रकार के दास्य में आनन्दानुभव नहीं होता है। तो फिर गोपियों ने सारूप्य मोक्ष स्वीकार क्यों नहीं किया, यह शंका प्राप्त होती है, तथापि स्वरूप के अन्तःपाति होने पर ही अलकों द्वारा मुख के आनन्द का अनुभव किया जाता है, सर्व स्वरूप के सुख का अनुभव नहीं होता है, इसलिये गोपियों ने सारूप्य मोक्ष स्वीकार नहीं किया है, इसी प्रकार सामीप्य आदि मोक्ष में भी जानना चाहिये। कारण कि स्वरूपान्तःपाति की अपेक्षा लीलान्तःपाति को उत्तमता है।

जिस प्रकार वैकुण्ठ में रहने वाले पार्षद आदि का भी चतुर्भुज आदि भगवान् के सदृश रूप होता है, उस प्रकार का यहां नहीं होता है, किन्तु भगवान् के स्वरूप में सायुज्य प्राप्त करके फिर इयामरूपता रूप अलकों का सारूप्य है। यहां पर इस प्रकार मानना चाहिये।

इस श्लोक में भगवान् के पृथक्-पृथक् अङ्गों का दर्शन करने से इस प्रकार का दास्य भाव प्राप्त हुआ कहा है, अर्थात् इस प्रकार के भाव से भगवान् का दर्शन करना दास्य भाव में कारण है, दास्य भक्त उक्त भाव से भगवान् का दर्शन करते हैं, इसलिये जिसमें इस प्रकार का दास्य भाव नहीं है, उसको भगवान् के अङ्गों का इस प्रकार से दर्शन नहीं होता है, गोपियों ने भगवान् के इस प्रकार के रसात्मक स्वरूप का दर्शन किया है, यह दर्शन विधिन्वेद के आज्ञानुसार नहीं

किया है, किन्तु स्वाभाविक प्रेम से किया है, इसीलिये भगवान् के दास्य से विपरीत-विबद्ध 'घर जाओ' यह विधि वाक्य भगवान् का गोपियों ने स्वीकार नहीं किया है। नहीं करना युक्त ही है।

'नैतद्वीक्षणमस्ति' इसके आगे पङ्क्ति में इस प्रकार का भाव कहा है कि जिसमें दास्य भाव नहीं है, उसका इस प्रकार का वीक्षण भी नहीं है। अतः वीक्षणाभाव के कारण से जो इस प्रकार से वीक्षण करने वाली गोपियाँ हैं, उनको ही 'भवाम दास्यः' इसमें लोट लकार का प्रयोग करके विधि बतलाई है। और जो गोपियाँ उक्त प्रकार से दर्शन नहीं करती हैं, उनको गोपियों द्वारा प्रतिपादित विधि का अभाव होने से दास्य विधि को अङ्गीकार नहीं करना युक्त ही है, इस प्रसार ज्ञापन किया है।

भगवान् ने छवीसवें श्लोक में 'अस्वयं' इत्यादि से कहा था कि जो स्त्रियाँ अपने पतियों का त्याग करके उपपति-जार का सेवन करती हैं, उस जार में व्यभिचार दोष से छै दोष हैं। मुक्त जार के भी भजन करने में छै दोष हैं, उन छै दोषों का भी निवारण गोपियों ने भगवान् के छै गुणों द्वारा कर दिया है। मूल श्लोक में 'अलकावृत आदि विशेषण हैं' इनमें क्रम से १ ऐश्वर्य, २ यश, ३ वैराग्य, ४ ज्ञान, ५ वीर्यम्, ६ श्री, ये भगवान् के छै गुणों का वर्णन किया है। अर्थात् अलकावृत से ऐश्वर्य 'कुण्डल श्रि' इससे यश कहा है, 'गण्डस्थलाधरमुधम्' इससे वैराग्य 'हसितावलोकम्' इससे ज्ञान 'दत्ताभयं' से 'भुजदण्डयुगं' इससे वीर्य 'श्रियैकरमणं, वक्षः' इससे श्री का वर्णन किया है।

भगवान् के दर्शन से उक्त छै गुण प्राप्त होते हैं, इसलिये व्यभिचारकृत छै दोषों की निवृत्ति हो जाती है। वास्तव में तो जो मोक्ष आदि से भी अधिक परमपुरुषार्थ साधन करने वाला है वह दास्य, पाप नहीं हो सकता है, कारण कि फल प्राप्त होने से ही पाप निन्दा करने योग्य है, अर्थात् पापका फल परिणाम में दुःख होता है, इसलिये उसको पाप कहते हैं, दास्य में तो परमानन्द की प्राप्ति होती है, लेशमात्र भी दुःख नहीं है, इसलिये आपका दास्य पाप नहीं है ॥३९॥

(सुबो०) ननु तथापि लोकविद्विष्टं स्त्रीणामभिसरणम्, अतः सन्मार्ग-रक्षणार्थं प्रमाणसिद्धमप्येतन्न कर्तव्यम्, अतः श्रवणदर्शनादिकमेव कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः का स्त्रीति ।

यदि भगवान् कहें कि स्त्रियों को जार पुरुष के पास जाना निन्दनीय है, इसलिये सन्मार्ग-मर्यादा मार्ग की रक्षा करने के लिये प्रमाणसिद्ध भी दास्य, नहीं करना चाहिए, २७वें श्लोक में कहे श्रवण-दर्शन आदि ही आपको करने चाहिये। इसका उत्तर आगे श्लोक में गोपियाँ कहती हैं।

का स्त्रयङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीत-

सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम् ।

त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं

यद्गोद्विजद्रुममृगाः

पुलकान्यविभ्रन् ॥ ४० ॥

पदपदार्थ—(हे अङ्ग) सम्बोधन (ते) आपके (कलपदामृत वेणुगीतसम्मोहिता) मधुर पदों में जो अमृत अर्थ रूप है, वह अमृत वेणु से गान किया, उसके द्वारा सम्मोहित हुई (का) कौन-सी (स्त्री) (त्रिलोक्याम्) त्रिलोकी में (आर्यचरितात्) सन्मार्ग से (न) नहीं

(चलेत्) चलायमान हो (इदं) यह (त्रैलोक्यसौभगं) त्रैलोक्य का सौभाग्यरूप (रूपं) अपने स्वरूप को (निरीक्ष्य) देखकर (यद्गोद्विजद्रुममृगाः) बेल, पक्षी, वृक्ष, मृग, (पुलकानि) रोमाञ्चों को (अविभ्रन्) धारण करते हुए ॥ ४० ॥

भाषार्थ—हे अङ्ग ! अपने अव्यक्त मधुर पदों में जो अमृत है, वह वेणुगान किया, उसके द्वारा सम्मोहित हुई कौन-सी स्त्री त्रिलोकी में आर्य चरित से चलायमान नहीं हो, अर्थात् सभी सन्मार्ग से विचलित हो जाती हैं, और त्रैलोक्य का सौभाग्य रूप आपके स्वरूप का दर्शन करके बेल पक्षी वृक्ष और मृग रोमाञ्च धारण करते हुए ॥ ४० ॥

(सुबो०) अयं धर्मः पुरुषाणां वक्तव्यः, न तु स्त्रीणाम्, असंभावितत्वात् । नह्यसंभावितो धर्मो भवति । एवं धर्मनाशे धर्मस्थापकं स्वरूपमेव हेतुः, अङ्गु-तकर्मत्वात् । वस्तुतस्तु स्वरूपसम्बन्धिनां भक्तानां धर्म स्वरूपेणैव रक्षति । तच्चान्यभावेभ्यो रक्षणमेतद्भावपोषणं च । ये स्वरूपधर्मसम्बन्धिनस्तास्तैरेवेति न किञ्चिदनुपपन्नमिति भावः । अत एवैवं स्वरक्षणेन स्वान्तरक्षणेन स्वान्तरङ्ग-त्वज्ञापनाय अङ्गेति सम्बोधनम्, अप्रतारणाय च । या स्त्री लोके स्त्रीशब्द-वाच्या सा कथमार्यचरितान्न चलेत् । त्रिलोक्यां सत्त्वरजस्तमःकार्यरूपायाम् । तामसीनां मौढ्यात् आर्यचरिते स्थितिं मत्वा तन्निराकरणम् । राजसीनां स्वभाव एव । सात्त्विकीनां सत्त्वाद्धर्मबुद्धिमाशंक्य तन्निराकरणम् । आर्यमार्ग-परित्यागे हेतुः ते कलपदामृतवेणुगीतसम्मोहितेति । सम्मोहिता आर्यचरिताच-लत्येव । सम्मोहः पञ्चपर्वोऽविद्यास्थानीयः । भगवत्सम्बन्धात् अविद्या तु न बाधते परमन्य एव बाधकाः । तेषां बलं ते इति, त्वदीया इति । कलान्यव्यक्तमधुराणि यानि पदानि तत्राविर्भूतं यदमृतं तदेव वेणुद्वारा गीतं तेन संमोहः । गीतं देह-मोहजनकम्, 'गायन्तं स्त्रियः कामयन्त' इति । स्त्री तु देह एव ! इन्द्रियाणां व्यामोहको वेणुः, रसात्मकत्वात् । अमृतं प्राणानाम् । पदान्यन्तःकरणस्य । अव्यक्तता आत्मन इति सम्यग्विमोहिताः । आर्याः प्रमाणबलविवेकिनः । प्रमाणे हि इन्द्रमहेन्द्रयोरपि भेदस्वीकारः । पृथगुपस्थिताः सर्वे एव भिन्ना इति । अन्यथा इन्द्रयाजिनोऽग्रे संवत्सरान्ते प्रायश्चित्तश्रवणं न स्यात्, 'सम्बत्सरस्य परस्ताद-ग्नये व्रतपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपे' इति । अतो देहव्यतिरिक्तः स्वरूपे-णोपस्थितोऽपि प्रमाणबले विरुध्यते । वस्तुविचारस्तु प्रमेयबलमाश्रित्य, अन्यथा विधिनिषेधविधयो व्यर्थाः स्युः । तदुत्तरत्र वक्ष्यति एकादशे । अतो मार्गान्तर-विरोधो मार्गान्तरे नोपयुज्यत इति मर्यादाभङ्गोऽत्र न दूषणम् । एतस्योत्तरमग्रे एकत्र वक्ष्यति, रासानन्तरम्, 'धर्मव्यतिकरो दृष्ट' इति । तस्मादत्र फलस्य सिद्धत्वात् साधनदृष्ट्या अपकीर्तिः नास्मत्प्रतिबन्धिका । किञ्च,

न केवलं नाम्ना मर्यादाभङ्गः, किन्तु स्वरूपेणापि, तदाहुः त्रैलोक्यसौभगमिति । त्रैलोक्यस्यापि सुभगत्वं यस्मात् । यथा सूर्येण दिनम्, चन्द्रमसा रात्रिः, तथा त्रैलोक्यमेव सुन्दरतां याति । इदमिति प्रत्यक्षसिद्धम् । चकारादनुभावांश्च । तच्च श्रुत्वा एतत् दृष्ट्वा का वा आर्यचरितान्न चलेत् । अस्त्वयं प्रमाणवार्ता दुर्बला, प्रकारान्तरेणापि चलति, भगवतो रूपेण प्रमेयमर्यादाप्यपगच्छति । या कथमपि नान्यथा भवति । तदाह यद्गोद्विजद्रुममृगा इति । गावो हि प्रमाणवार्तनिभिज्ञाः, मातरमपि गच्छन्ति, द्विजाः पक्षिणः सर्वभक्षाः, द्रुमाः स्थावराः, कदाचिदपि बहिः संवेदनरहिताः निरिन्द्रिया एवेति केचित् । मृगाः सर्वतोभयाः । तेऽपि चेद्भगवद्रूपेण ये गीतेन वा आश्लिष्टरसाः पुलकानि धारयन्ति, रसिकमनुष्यधर्मानाविष्कुर्वन्ति । ये भगवता अन्यथैव सृष्टाः । स्त्रियस्तु स्वभावतोऽप्यन्यथा भवन्तीति नाश्चर्यं किञ्चिदत्र ॥ ४० ॥

गोपियां कहती हैं कि आपने कहा है कि तुम घर जाकर श्रवणादि करो, और मर्यादामार्ग की रक्षा करो, इत्यादि वाक्यों का उत्तर हमारा यह है कि सन्मार्ग-रक्षारूप धर्म का तो पुर्वो को उपदेश करना चाहिये, स्त्रियों को नहीं, कारण कि इस प्रकार का धर्म स्त्रियों में संभावित नहीं होता है । वास्तव में तो जो सम्भावित नहीं होता है, वह धर्म ही नहीं होता है ।

यदि कहो कि बहुत सी स्त्रियां ऐसी हैं जो जार के पास नहीं जाती हैं । आप सब भी जार के पास जानेवाली नहीं हो, फिर इस प्रकार क्यों कहती हो ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि इस प्रकार आपकी दास्य स्वीकार करने में यदि सती स्त्रियों के धर्म का नाश होता हो तो धर्मस्थापक आपका स्वरूप ही धर्मनाशक हेतु हो जायेगा । यदि कहो कि जो धर्मस्थापक है, वह धर्मनाशक कैसे हो सकता है ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि आपका स्वरूप अद्भुत कर्म करनेवाला है, जिस प्रकार 'चस्कम्भ यः स्वमहसाऽऽखलता त्रिपृष्ठम्' यहां पर जो नीचे गिरने वाली क्रिया है, उसका स्थापकत्व कहा है । और जिस प्रकार 'वार्देविमोहयति यज्ञकृतोऽतदहान्' यहां पर वेदबाध को वेद का स्थापकत्व कहा है, उसी प्रकार यहां भी विपरीत है ।

गोपियां कहती हैं कि यदि आप कहो कि इस प्रकार करने से अधर्म जैसा होता है, तब गोपियां पक्षान्तर कहती हैं ('वस्तुतः') वास्तव में तो जिन भक्तों का सम्बन्ध भगवान् के स्वरूप से हो गया है, उन भक्तों के धर्म की भगवान् अपने स्वरूपबल से ही रक्षा करते हैं । अर्थात् अन्य भावों से धर्म का रक्षण, और दास्यभाव का पोषण करते हैं, तथा जो भक्त स्वरूपधर्म सम्बन्धी हैं, उनका भगवान् स्वरूपधर्म से ही रक्षण करते हैं, अतः इस प्रकार करने में कुछ भी अयुक्त नहीं है । यहां पर भी प्रतियोगी भेद से व्यवस्था होने से धर्मस्थापकत्व ही है, दोष का लेश भी नहीं है । यह भाव है । इसी से भगवान् ने हमारा अन्यभाव से रक्षण करके तथा दास्य का पोषण करके, ये गोपियां हमारी अन्तरङ्ग हैं, इस बात को ज्ञापन करने के लिये ही रक्षण किया है ।

हे अङ्ग ! यह कोमल सम्बोधन दिया है, अथवा अप्रतारण के लिये जिससे विश्वास हो जाये अङ्ग संबोधन दिया है ।

जो स्त्री लोक में स्त्री-शब्द से कहलाती है, वह स्त्री आर्यचरित से कैसे चलित नहीं हो, अर्थात् चलित ही हो जाती है ।

त्रिलोकी में—अर्थात् सत्त्व रज तम के कार्यरूप तीनों लोकों में, तामसी स्त्रियां अपने मूढ स्वभाव से आर्यचरित में स्थिति यदि करें, इस प्रकार माने तो गोपियां इसका निराकरण करती हैं, कि राजसी स्त्रियों का तो स्वभाव ही चलित होता है, सात्त्विकी स्त्रियों की बुद्धि सत्त्व से धर्म में होती है, इस शंका से सात्त्विकी आदि स्त्रियोंका भी यहां 'का स्त्री' इस प्रकार कहकर निराकरण कर दिया है, अर्थात् सात्त्विकी आदि कोई भी स्त्रीमात्र आर्यचरित से चले बिना नहीं रह सकती है ।

इस प्रकार तामसी राजसी सात्त्विकी स्त्रियां आर्यमार्ग से विचलित होती हैं, इसी बात को ज्ञापन करने के लिये मूल में 'त्रिलोक्यां' तीन लोक में कहा है । तीनों प्रकार की स्त्रियों ने आर्यमार्ग त्याग किया है, इसमें गोपियां हेतु कहती हैं कि, 'ते कल्पदामृतवेणुगीतसम्मोहिता' आपके अव्यक्त मधुर पदों में जो अमृत अर्थरूप, वह वेणुद्वारा गान किया, उससे सम्मोहित हुई आर्यचरित से चलित होती ही हैं ।

अविद्या के पांच पर्व हैं, (१) अन्तःकरणाध्यास, (२) प्राणाध्यास, (३) इन्द्रियाध्यास, (४) देहाध्यास, (५) स्वरूपविस्मरण । अतः अविद्या पञ्चपर्वी कही जाती है, इसके द्वारा जीवों को मोह होता है, किन्तु यहां स्त्रियों को जो मोह किया है वह पञ्चपर्वी अविद्या-स्थानीय भगवान् की सम्बन्धी अन्य पांच वस्तुओं से हुआ है, (१) गीत (२) वेणु, (३) अमृत (४) पद (५) कल । ये पांच अविद्यास्थानीय हैं ।

यदि कहो कि जब अविद्या के पर्वों से ही मोह सम्भव होता है, फिर कल आदि को मोहकत्व क्यों कहते हो ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि, भगवत्संबन्धियों को अविद्या बाध नहीं करती है, हमको भगवान् का संबन्ध है, इसलिये अविद्या तो बाध कर सकती नहीं है, किन्तु अन्य वस्तु ही बाध कर सकती है, और वह भी भगवत्संबन्धिनी ही कर सकती है, अन्य नहीं ।

यदि कहो कि भगवान् का साक्षात् संबन्ध होने पर मोह होना संभव नहीं है ।

तब इसके उत्तर में कहती हैं, (तेषां बलं ते इति) गीत आदि में आप का बल है, कारण कि पूर्वोक्त पांचों वस्तु आप की हैं, गोपियों के कहने का तात्पर्य यह है कि मर्यादामार्गीय भगवान् के धर्मों से भी पुष्टिमार्गीय भगवद्धर्म बलिष्ठ हैं, यह भाव है ।

कल-अव्यक्त मधुर जो पद शब्द हैं, उनमें प्रकट हुआ जो अमृत वही वेणु द्वारा गान किया, उस गान से हमको संमोह हुआ है । आपका गीत देह में मोह उत्पन्न करता है, इसमें श्रुति प्रमाण है कि 'गायन्तं स्त्रियः कामयन्तं' स्त्रियां गान करने वाले की इच्छा करती हैं ।

यदि कहो कि कामना मन का धर्म है, इसलिये मन को मोह होना तो युक्त ही है, किन्तु देह को मोह होना युक्त नहीं है ।

इसके उत्तर में कहती हैं कि 'स्त्रीतु देह एव' स्त्री तो देह ही है, कारण कि जीव इन्द्रिय प्राण और अन्तःकरण, इनको स्त्रीत्व नहीं कह सकते हैं, देह ही को कामना होने में प्रयोजकता है, इसलिये देह ही स्त्री है ।

(१) गीत-देह को मोह उत्पन्न करता है, (२) वेणु-इन्द्रियों को व्यामोह करनेवाला है कारण कि वेणु रसात्मक है, इन्द्रियां रूप आदि का ग्रहण करती हैं, वेणु द्वारा भगवान् वामपरावर्त

आदि रूप करके गान करते हैं, उस समय वेणुसहित रसात्मक स्वरूप भगवान का वेणु भी नाट्य की तरह रसात्मक ही भासता है।

(३) अमृत-प्राणों को मोह करता है, कारण कि अमृत द्रव होता है, इसलिये आपोमय प्राणों का पोषक है।

(४) पद-अन्तःकरण को मोह करते हैं, कारण कि पद-शब्दों का सूक्ष्म रूप मनोमय है।

(५) कल-अव्यक्तता आत्मा को मोह करती है, कारण कि अव्यक्तता में आनन्द है, आत्मा में आनन्द की अव्यक्तता से सजातीयता है, इसलिये प्राण, अन्तःकरण और आत्मा, इनको मोह करनेवाला ज्ञात होता है।

यहां पर इस प्रकार जानना चाहिये कि द्वितीय स्कंध में सत्त्व रज तम को क्रम से सत्त्व-दानंदका मल प्रतिपादन किया है, उसमें अविद्या तामसी मलिन सत्त्व और रजयुक्त है, तम से जीव को अपने स्वरूप का अज्ञान विधान करके रज और सत्त्व से देहादि में तथा विषयों में व्यामोह उत्पन्न करती है। किन्तु जिसको भगवान् का सम्बन्ध हो जाता है, उसको अविद्या बाध नहीं करती है, लीला के लिये मोह तो स्वरूप विषयक है, इसलिये गीत आदि उक्त स्वरूप धर्मों के ही द्वारा भक्तों को उत्तरीति से मोह संपादन होता है।

ऊपर कहे प्रकार से गोपियों को सम्यक् पूर्ण मोह हो गया है।

यदि आप कहो कि आर्य-श्रेष्ठ भी तो भक्त ही हैं, उनका चरित भी सर्वत्याग पूर्वक भगवान् का भजन करना है, फिर तुम्हारा कहना कैसे युक्त होता है।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (आर्याः प्रमाणबलविवेकिनः) आर्य लोग प्रमाणबल से विवेक करने वाले होते हैं, प्रमेयबल से विवेक नहीं करते हैं।

यदि कहो कि विवाहित पति की सेवा करना प्रमाण मार्ग है, भगवान् सर्वात्मक हैं 'गोपीनां तत्पतीनां च' (अ. ३० । ३६ ।) गोपियों के और गोपियों के पतियों के भगवान् आत्मा हैं, इस प्रकार शुकदेवजी आगे कहेंगे, अतः प्रमाणमार्ग का भी त्याग नहीं होता है, और केवल अधिक ही संपादन होता है, इसलिये तुमने जो प्रमाणबल की युक्ति दी है, वह युक्त नहीं है।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'प्रमाणे' प्रमाण मार्ग में इन्द्र महेन्द्र का भी गुणों से भेद स्वीकार किया है, यद्यपि महान् इन्द्र महेन्द्र, इस निर्धन से इन्द्र ही महेन्द्र पदवाच्य है, तथापि यागविषय में पृथक् पृथक् देवता उपस्थित होते हैं, इसलिये प्रमाणबल से इन्द्र याग आदि सर्व देवता भिन्न भिन्न हैं। यदि भिन्न नहीं मानते हैं तो एक इन्द्रका उद्देश्य करके अन्त करने वाले को इन्द्र और महेन्द्र दोनोंका उद्देश्य न करके याग करने वाले को, संवत्सर के अन्त में व्रतपति अग्निदेवता के लिये अष्टकपालों में तय्यार किया पुरोडाश अर्पण करना जो प्रायश्चित्त कहा है, उसका श्रवण नहीं होता, 'संवत्सरस्य परस्तादनये व्रतपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्' इस प्रकार प्रायश्चित्त के श्रवण होने से सिद्ध होता है कि देह से पृथक् पदार्थ स्वरूप से उपस्थित भी प्रमाणबल में विरुद्ध होता है, इसलिये आत्मता से ऐक्य में भी गुण भेद स्वीकार करके महेन्द्र को देवतान्तरत्व की कल्पना करते हैं 'गुण आदि देह के धर्म हैं, इसलिये प्रमाणमार्ग में देह की प्रधानता है।

उक्त कहने से यह सिद्ध हुआ कि प्रमाणमार्ग में देहनिष्ठ पति का अङ्गीकार करते हैं, अतः गोपियों के प्रमाणमार्गानुसार गोप ही पति हैं, किन्तु वास्तव में सर्वपति होने के कारण भगवान् ही पति हैं, अतः विवाहित पतियों की सेवा त्याग कर भगवान् का भजन करना चाहिये।

उपनिषदों के हृदय का भाव है, भजन ही आर्यमार्ग है। अतः आपके भजन करने में आर्यमार्ग हैं। अतः आपके भजन करने में आर्यमार्ग से कौन सी स्त्री चलित नहीं हो, इस प्रकार कथन यद्यपि संभव नहीं है, तथापि यहां आर्यशब्द से प्रमाणबल विवेकियों का ग्रहण किया है।

प्रमाणबल का विवेक करने वाले वस्तु का विचार नहीं करते हैं, प्रमाणबल से देह की ही प्रधानता अङ्गीकार करते हैं। देह प्राधान्य में तो विवाहित पति का भजन मुख्य है, कारण कि उसको ही पतित्व है, भगवान् का भजन नहीं है, अतः विवाहित पति की सेवा त्याग करके वस्तु-पति भगवान् है, उनकी सेवा आर्यमार्ग से चल नहीं है, इसलिये मूल में कहा है कि वस्तु विचार तो प्रमेयबल का आश्रय करके किया है, प्रमेय भगवान् सर्वात्मक हैं, अतः सर्वरूप होने के कारण प्रमेयबल का आश्रय करके 'गोपीनां तत्पतीनां च' इत्यादि से भगवान् में परपुरुषत्व आदि से खण्डन विचार नहीं है, किन्तु वस्तुतः भगवान् पति ही हैं, और भगवान् का भजन आर्य मार्ग है, यह आशय है।

टिप्पणी में कहा है कि प्रमाणमार्ग में पति आदि धर्म देह में रहते हैं, अतः देहधर्म से भिन्न धर्म—भगवद्धर्म यहां उपस्थित है, इसलिये यहां प्रमाण वचन का विषय नहीं है, कारण कि 'यावद्वचनं हि वाचनिकम्' यह न्याय प्रवृत्ति रूप प्रमाणमार्ग वस्तु को सहन नहीं करता है, अर्थात् प्रमाणबल में वस्तु का विचार नहीं है, यदि वस्तु का विचार हो तो आत्मधर्मों की मुख्यता होनी चाहिये, और जहां आत्मधर्मों की मुख्यता होती है, वहां देह का उद्देश्य—देह आगे करके प्रवृत्त हुई विधि निषेध की विधि व्यर्थ हो जाती है।

भगवान् ने एकादश स्कन्ध के बारहवें अध्याय में उद्धवजी के प्रति वस्तुविचार से आत्मधर्म को आगे करके प्रमेयबल कहा है, 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्। प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च। मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्। या हि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥' इसलिये उद्धव तुम विधिशास्त्र की विधि को त्याग कर तथा प्रवृत्ति, निवृत्ति श्रोतव्य और श्रुत को त्याग कर सर्व प्राणियों का एक आत्मा मुझको सर्वात्मभाव से शरण प्राप्त हो मेरे द्वारा तुम अकुतोभय हो जाओ।

इत्यादि वाक्यों से भगवान् ने प्रमेयबल कहा है। इसलिये प्रमेयमार्ग—पुष्टिमार्ग में मर्यादामार्गीय विरोध उपयुक्त नहीं होता है, अतः मर्यादाभङ्ग पुष्टिमार्ग में दूषण नहीं है।

यदि कहो कि विहित धर्म उत्तम है, और निषिद्ध अधम है, तो इस प्रकार कहना भी उचित नहीं है, कारण कि 'शुद्धचणुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु' यहां से लेकर 'गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम्' यहां तक भगवान् ने कहा है कि सर्व वस्तु समान हैं, विधिनिषेध का विधान तो कर्मों के नियम के लिये है, वस्तु उत्तम अथवा अधम है, इसके लिये नहीं है, अतः विहित धर्म उत्तम, निषिद्ध-अधम मानते हैं तो उक्त भगवान् के वाक्य से विरोध हो जायगा।

यदि कहो कि प्रमाणमार्ग विरोध का परिहार आपने नहीं किया है, इसलिये प्रमाणविरुद्ध नहीं करना चाहिये।

इसके उत्तर में भी गोपियां कहती हैं कि प्रमेयमार्ग स्वतन्त्र है, वह प्रमाण मार्ग से बलिष्ठ है, इसलिये प्रमाणमार्ग का विरोध यहां प्रयोजक नहीं है। यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो प्रेममार्ग का उच्छेद हो जाता है, इसी को सुबोधिनी में 'प्रमाणे हि' यहां से लेकर 'न दूषणम्' यहां तक कहा है, मर्यादा का भङ्ग होना प्रमेयमार्ग में पुष्टिमार्ग में दूषण नहीं है इसी को आगे रास के अनन्तर शुकदेवजी स्वयं कहेंगे।

यदि कहो कि प्रमाणमार्गीय और प्रमेयमार्गीयों का परस्पर भेद है, अतः प्रमाण वाक्य प्रमेयमार्गीय के विषय में उपयुक्त नहीं होता है, जिस प्रकार यज्ञविधि यति-संन्यासी को उपयुक्त नहीं होती है अतः प्रमाण मार्ग का विरोध नहीं होता है।

इसका उत्तर इस प्रकार है कि भले ही ऐसा हो, यदि प्रमेयमार्ग में भी यति आश्रम की तरह विधि होती तो विधि होने पर अधिकारि-विशेषण की महिमा से ही अन्य की प्राप्ति होने से अविरोध होता, किन्तु प्रकृत में तो प्रभुके एक अनुग्रह से ही सर्ववस्तु की लभ्यता है, इसलिये कोई विधि नहीं है, वर्णाश्रम के विशेषाधिकार से प्रवृत्त वाक्य को संकुचित करना योग्य नहीं है, कारण कि कोई बाधक नहीं है। इसलिये प्रमाण से अन्यथा करने में विरोध दूर नहीं हो सकता है।

प्रमेयमार्ग में प्रमाण तो 'धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः' यहां से लेकर 'याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्' यहां तक शुकदेवजी ने ही कहा है, इसलिये सब निर्दोष है।

गोपियां कहती हैं कि मार्गान्तर विरोध का पुष्टिमार्ग में दोष नहीं है, इसलिये प्रमेय-मार्ग में फलसिद्धि होने से साधन-मर्यादा मार्ग की दृष्टि से हमारी गोपियों की अपकीर्ति होगी तो, हमको प्रतिबन्ध करने वाली नहीं है।

यदि शंका करो कि कल-अव्यक्तपद आदि से जो मोहकत्व कहा है, वह शब्द रूप होने से वेदतुल्य है, अतः मर्यादामार्ग और प्रमेयमार्ग-पुष्टिमार्ग दोनों समान बल ही प्राप्त हैं, 'श्रवणा-दर्शनात्' यह भगवान् का वाक्य प्रमाणमार्ग का पोषण करता है, इसलिये प्रमाणमार्ग भी बलिष्ठ है, प्रमाण-मर्यादा मार्ग के विरोध से यहां प्रतिबन्ध है।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि केवल नाम-शब्द मात्र के कथन से मर्यादा का भङ्ग नहीं है, किन्तु स्वरूप से मर्यादा का भङ्ग है, इसी को आगे कहती हैं कि (त्रैलोक्य सौभगम्) त्रिलोकी का सौभग-सौभाग्य जिससे है वह त्रैलोक्यसौभग होता है, जिस प्रकार सूर्य से दिन सुन्दर लगता है, चन्द्रमा से रात्रि सुन्दर लगती है, उसी प्रकार त्रिलोकी भगवान् के रूप सुन्दरता को प्राप्त होती है।

'इदम्' शब्द यहां यह सूचन कर रहा है कि, यह प्रत्यक्ष सिद्ध भगवान् का रूप है, और 'च' से जिसके अनुभाव को द्योतन कर रहा है।

भगवान् के अनुभाव का श्रवण करके तथा स्वरूप का दर्शन करके कौन सी स्त्री आर्य चरित से चलित नहीं हो। अतः गौतरूप शब्दमात्र से मर्यादा और पुष्टि दोनों मार्गों की तुल्यता की शंका प्राप्त होती है, किन्तु दोनों मार्गों की तुल्यता नहीं है, प्रमेयमार्ग में मर्यादामार्ग का प्रतिबन्ध नहीं है, यह भाव है।

अब गोपियां कहती हैं कि प्रमाण विचार तुच्छ है, भगवान् का स्वरूप ही आर्यचरित से विचलित करता है, इसी को कैमुतिक न्याय से कहती हैं, कि यह आश्चर्य की बात नहीं है, कारण कि बलवान् प्रमाण प्रमेय से प्रमाणान्तर का बाध पूर्वमीमांसा 'औदुम्बरीय अधिकरण' में 'औदुम्बरी स्पृष्ट्वोद्गायेत्' 'सर्वा सा वेष्टयितव्या' यहां पर देखा है।

अब यह प्रस्तुत प्रमाणवार्ता प्रमाणबलावलचर्चा रहने दो, कारण कि भगवान् के स्वरूप धर्मों के विचार की अपेक्षा दुर्बल है।

यदि कहो कि तो फिर भगवान् के स्वरूप से चालन कैसे।

इसके उत्तर में कहती हैं कि दूसरे प्रकार से भी मर्यादा से चलित होती हैं, जो प्रमेय मर्यादा कभी चलित नहीं होती है, वह भी भगवान् के स्वरूप से चलित हो जाती है, इसी बात को गोपियां कहती हैं कि 'यद्गोद्विजद्रुममृगाः' बेल द्विज द्रुम और मृग, ये भी पुलकित हो जाते हैं। बेलों को प्रमाणवार्ता का ज्ञान नहीं होता है, इसलिये अपनी माता से भी समागम करते हैं।

द्विज-पक्षीगण सर्वभक्ष होते हैं। द्रुम-वृक्ष स्थावर हैं, वृक्षों को कभी भी बाहिर का ज्ञान नहीं होता है, कोई वृक्षों को इन्द्रिय रहित मानते हैं।

मृग-हरिण सर्व से सदा डरते रहते हैं। ये सभी यदि भगवान् के रूप से (अश्लिष्टरसाः) भगवान् के रस का स्पर्श करके रोमाञ्चित हो जाते हैं, और रसिक मनुष्यों के धर्मों को प्रकट करते हैं, जो ये भगवान् ने अन्य प्रकार के स्वभाव वाले ही रचे हैं, इनकी जब इस प्रकार की दशा हो जाती है, तो फिर स्त्री तो स्वभाव से ही अन्यथा-सुन्दर स्वरूप का श्रवण तथा दर्शन करके चलित स्वभाव वाली होती है, अतः आपके अनुभाव का श्रवण करके तथा स्वरूप का दर्शन करके हमने आर्यमार्ग त्याग कर दिया, इसमें आश्चर्य की क्या बात है। अर्थात् आप का स्वरूप और गान जिसकी प्रमेय मर्यादा का नाश करता है, वह आर्यमार्ग से चलित होता है। और जिसकी प्रमेय मर्यादा का नाश नहीं करता है, वह प्रमेय मर्यादा में स्थित रहता है।

इस प्रकार की व्यवस्था सिद्ध होने पर जिसकी प्रमेयमर्यादा भी चलने के अनुगुण है, वहां 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्वानिः' अधिक प्रविष्ट होने पर भी उसकी हानि नहीं है, इस न्याय से आश्चर्य नहीं है, यह अर्थ है।

पूर्व में कहने का आशय यह हुआ कि जो सगुण हैं वे ही चलित होती हैं, निर्गुण चलित नहीं होती हैं। मूल में 'का' शब्द विशेष प्रयोजन वाला नहीं है, इसलिये यहां इसका प्रयोजन बताकर इस शंका को भी दूर कर दिया है। और 'आत्मारामाश्चमुनयः' आत्मा में रमण करने वाले मुनिभी भगवान् के इस प्रकार के गुणों का विचार करके अहेतुकी भक्ति करते हैं, इत्यादि वाक्योंका समर्थन भी कर दिया है ॥ ४० ॥

(सुबो०) एवं भगवदुक्तानां वाक्यानां निवारणार्थं पुष्टिसिद्धान्तं निरूप्य एतद्भगवत्कृपैकसाध्यमिति भगवत्कृपां प्रार्थयन्ति व्यक्तमिति।

इस प्रकार भगवान् ने मर्यादामार्गीय वाक्यों द्वारा गोपियों को उपदेश किया था, और भगवान् के कहे वाक्यों के निवारण करने के लिये गोपियों ने भी दश श्लोक से पुष्टिसिद्धान्त निरूपण किया है, यह पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त भगवान् की एक कृपा से ही सिद्ध हो सकता है, इसलिये गोपियां भी भगवान् की कृपा होने के लिये प्रार्थना करती हैं।

व्यक्तं भवान् ब्रजभयार्तिहरोऽभिजातो

देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।

तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो

तसस्तनेषु च शिरस्सु च किंकरीणाम् ॥ ४१ ॥

पदपदार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (आदिपुरुषः) प्रथम पुरुष भगवान् (देवः) देव होकर (सुरलोकगोप्ता) देवलोक की रक्षा करते (तथा) उसी प्रकार से (व्यक्तं)

स्पष्ट है (भवान्) आप (व्रजभयातिहरः) व्रज का भय, और दुःख हरने वाले (अभिजातः) प्रकट हुए, हे आर्तबन्धो ! हे दुःखीजन के बन्धु (तत्, तस्मात्) इस कारण से (करपङ्कजम्) अपने हस्तकमल को (किङ्करीणाम्) दासियां (नः) हमारे सब के (शिरस्सु) मस्तकोंपर (च) और (तप्तस्तनेषु) तप्त-स्तनों पर (निधेहि) धारण करो ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार आदि पुरुष भगवान् देव होकर देवलोक की रक्षा करता है, उसी प्रकार स्पष्ट है कि आप व्रजका भय और दुःख हरण करने वाले प्रकट हुए हैं और आप दुःखी जन बन्धु हैं, इसलिये अपना हस्तकमल हम दासियों के तप्त स्तनों पर और मस्तकों पर धरो ॥ ४१ ॥

(सुबो०) नापि त्वदुक्तमस्मदुक्तं वा किञ्चत्साधकं बाधकं वा, तथापि स्वावतारप्रयोजनं विचार्य अस्मात् कृपा कर्तव्या । तत्प्रयोजनमाहुः । भवान् व्रजभयातिहर एव व्यक्तमभिजातः । व्रजस्य आर्तिः पीडा भयं च त्वया दूरी-कर्तव्यम् । अन्यथा साक्षाद्भगवतोऽवतारे प्रयोजनं न पश्यामः । भूभारहरणं तु सङ्कर्षणांशेन । वसुदेवादिप्रियं प्रद्युम्नेन । धर्मरक्षा त्वनिरुद्धेन । यदि व्रजभया-तिनिराकरणं न क्रियेत, तदा किमवतारान्तरकार्यं स्यात् । अतो व्यक्तं भवान् व्रजभयातिहरः । इदानीं यथातिरस्माकम्, तथा न कदापि । अस्मदपगमे तु सर्व-स्यापि व्रजस्य महती आर्तिः । अत आर्तिनिवृत्तिः कर्तव्या । ननु मर्यादयैव निवृत्तिकरणमुचितम्, न तु अमर्यादया, तथा सति भवतीनां कामशान्तिः, ज्ञानं वा, भवत्विति चेत्, तत्राहुः देवो यथादिपुरुष इति । भगवान् ब्रह्मरूपः सर्वसमः, तथापि इन्द्रादिषु कृपां कुर्वन् दैत्यान् मारयन् विषमतामङ्गीकरोति । न तु देवेभ्यो ज्ञानं प्रयच्छति । यत्र स्वरूपमेवान्यथाकरोति, तत्र वाचमन्यथा करोतीति किं वक्तव्यम् । अतो यथादिपुरुषोऽपि देवो भूत्वा सुरलोकगोप्ता जातः, तथा भवानपि धर्ममर्यादारक्षकः, अस्मत्सम्बन्धं करोत्विति हस्तं तदेव रसपोषार्थं व्याजेनाहुः तन्नो निधेहीति । आदावस्माकं शिरसि स्तनेषु स्थापय । यथास्माकमभयं भवति । ततोऽस्माकं हृदयतापनिवृत्त्यर्थं यतो वर्यं च करपङ्कजममृतस्त्रावि तापनाशकं निधेहि । अनौचिती तु नास्ति । यतो वर्यं किङ्कर्यः । परीक्षार्थं वा एतत् द्रष्टव्यमिति रसोक्तिः ॥ ४१ ॥

इस श्लोक में गोपियों ने जो प्रार्थना की है, वह क्या भगवान् के वाक्यों का अर्थ निर्धार किया है, और अर्थ निर्धार करने से प्रसन्न हुए भगवान् को जान कर गोपियों ने कृपा की प्रार्थना की है ।

अथवा भगवान् कृपा करेंगे या नहीं, इस प्रकार सन्देह में भी अपने दैन्य से की है । अथवा किसी अन्य कारण से की है ।

यदि प्रसन्न भगवान् को जान कर की है तो कृपा स्वतः अपने आप ही सिद्ध है, उसकी लिये प्रार्थना करने का कोई प्रयोजन नहीं है ।

और यदि सन्देह में अपने दैन्य से की है, तो भगवान् के वाक्यों से ही कृपा नहीं करना सूचित हो रहा है फिर प्रार्थना करना उचित नहीं होता है । तृतीयपक्ष-अन्य किसी कारण से की है, यह स्पष्ट नहीं है । इस प्रकार शंका में द्वितीयपक्ष-सन्देह में अपने दैन्य से की है, इस द्वितीय पक्ष को सूचन करतीं, तथा तृतीय पक्ष जो अस्पष्ट है उसको स्पष्ट करतीं गोपियां कहती हैं कि यद्यपि आपने जो आज्ञा की, वह अथवा हमने जो कुछ उत्तर में वाक्य कहे वे सब, इनमें से एक भी वाक्य साधन करने वाला, अथवा बाधा करने वाला नहीं है । तथापि आपको अपने अवतारका प्रयोजन विचार करके हमारे ऊपर कृपा करनी चाहिये । अवतार का प्रयोजन गोपियां कहती हैं, 'व्रजभयातिहरः' आप व्रजका भय तथा आर्ति-दुःख हरण करने वाले ही भूतलपर प्रकट हुए हैं, अतः व्रज की आर्ति-पीडा और भय आप को दूर करना चाहिये ।

यदि आप व्रजकी आर्ति और भय दूर नहीं करते हो तो साक्षात् भगवान् आपके अवतार लेने का अन्य प्रयोजन हम देखती नहीं हैं । कारण कि पृथिवी का भार दूर करने का कार्य तो संकर्षण अंश से होता है, और वसुदेव आदि को प्रिय-आनन्द देने का पुत्ररूप से कार्य प्रद्युम्न अंश से होता है, धर्मरक्षा का कार्य अनिरुद्ध अंश से होता है । यद्यपि यहां मूल में वासुदेवकार्य नहीं कहा है, इसलिये प्रकृत कार्य वासुदेव का ज्ञात होता है, तथापि पहिले वासुदेव अंश का कार्य मोक्ष देना कहा है, इसलिये यहां लोकवेदातीत पुरुषोत्तम के कार्य का प्रस्ताव होने के कारण से अवान्तर कार्य पद से पुरुषोत्तम का कार्य ही जानना चाहिये । और जो यहां सुबोधिनी में वासुदेव का नाम निर्देश नहीं किया है, इसका आशय यह है कि व्रज में स्तनपान करने के लिये वासुदेव का आविर्भाव हुआ है, इसलिये वासुदेव अंश भगवान् में एक होकर स्थित है, इस प्रकार प्रतिमान होता है । गोपियां कहती हैं कि यदि व्रजका भय और आर्ति दूर नहीं करोगे तो फिर आप-पूर्ण पुरुषोत्तम का अवतार कार्य अन्य क्या है, शेष कार्य कुछ ज्ञात नहीं होता है, इसलिये व्यक्त-स्पष्ट ही है कि आप व्रजजन का भय और आर्ति हरण करने वाले कार्य करने के लिये यहां पधारे हो । यदि भगवान् कहे कि गोपियो ! जिस प्रकार इतने काल तक आर्ति सहन करती तुम व्रज में रही हो, उसी प्रकार इस समय भी रहना चाहिये ।

इसके उत्तर में गोपियों ने इस समय जो आर्तिहरण करने की प्रार्थना की है, उसका तात्पर्य गोपियां कहती हैं कि इस समय जिस प्रकार की आर्ति हमको हो रही है, उस प्रकार की आर्ति हमको अभी तक पहिले कभी नहीं हुई है । यदि आप इस दुःख को दूर नहीं करोगे तो हमारा नाश हो जायेगा, जीवन नहीं रहेगा, और फिर सभी व्रज को बहुत आर्ति होगी ।

अथवा इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है कि यदि हम दुःखी घर लौटकर जायेंगी तो हमको दुःखी देखकर सभी व्रज बहुत दुःखी होगी, इसलिये आर्ति निवृत्त आपको करनी चाहिये ।

यदि भगवान् कहें कि मर्यादा से ही तुमको आर्तिनिवृत्त करना उचित है, अर्थात् विवाहित पतियों द्वारा ही आर्तिनिवृत्त करना उचित है । मर्यादा त्यागकर आर्ति निवृत्त करना योग्य नहीं है । इस प्रकार से ही तुम्हारे काम की शान्ति, अथवा ज्ञान प्राप्त हो जायेगा ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (देवो यथादिपुरुषः) जिस प्रकार आदि पुरुष देव भजता है, उस प्रकार हमको भजो । आदि पुरुष देव भगवान् ब्रह्मरूप है, वह सर्व को समान है, तो भी इन्द्रादि देवताओं पर कृपा करता हुआ दैत्यों को मारकर विषमता स्वीकार करता है, देवता प्रिय हैं, और दैत्य अप्रिय हैं, इस प्रकार देवताओं का पक्षपात करता है, किन्तु देवताओं को ज्ञान नहीं देता है । इस प्रकार भगवान् जब अपने सर्वसम ब्रह्म रूप को ही अन्यथा-पलटकर

दूसरा कर लेते हैं, अर्थात् विषम बना लेते हैं, तो फिर अपनी वाणी-वेद को, अर्थात् वेद विहित मर्यादामार्ग को अन्यथा उलटपलट-फेरफार बदलावदल करे तो इसमें क्या कहने की बात है।

अतः जिस प्रकार आदि पुरुष भी-भगवान् भी देव-क्रीडापर होकर जिस प्रकार देवलोक का रक्षक हुआ है, उसी प्रकार क्रीडा के लिये अवतीर्ण हुए आप भी धर्ममर्यादा रक्षक हमारे साथ सम्बन्ध करो। यह भाव है। अब गोपियां कहे हुए भाव को रस पोषण करने के लिये व्याज से कहती हैं 'तन्नो निधेहि' प्रथम आप हमारे शिर पर हस्त स्थापन करो, जिससे हम भयरहित हो जाये, फिर हमारे हृदय में जो ताप हो रहा है, उसकी निवृत्ति के लिये हमारे स्तनों पर अमृत स्रावि-तापनाश करने वाला हस्तकमल निरन्तर स्थापन करो। इस प्रकार करना अनुचित रीति नहीं है, कारण कि हम सब आप की किङ्करी-दासी हैं। अथवा जो हमने अपनी परिस्थिति आदि आदि आपसे कही है, उसकी 'गोपियों का कहना ठीक है अथवा नहीं है' परीक्षा लेने के लिये आपको हमारे मस्तक और स्तनों में स्पर्श करके देखना चाहिये, इस प्रकार रसयुक्त वचन गोपियों ने कहा है ॥ ४१ ॥

(सुबो०) एवं प्रार्थनायां भगवान् तदाह इतीति ।

इस प्रकार गोपियों द्वारा प्रार्थना करने पर भगवान् का कर्तव्य शुक्रदेव जी आगे कहते हैं—

श्रीशुक उवाच—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।

प्रहस्य सद्यं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥ ४२ ॥

पदपदार्थ—(इति) इस प्रकार (तासां) गोपियों का (विक्लवितं) परम विकलता युक्त वाक्य को (श्रुत्वा) सुनकर (योगेश्वरेश्वरः) योगेश्वरों के ईश्वर (आत्मारामः) आत्मा में रमण करने वाले (अपि) भी (प्रहस्य) हँस करके (सद्यं) दयासहित (गोपीः) गोपियों को (अरीरमत्) रमण कराया ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—शुक्रदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार गोपियों का परम विकलता युक्त वाक्य श्रवण कर योगेश्वरों के ईश्वर भगवान् आत्माराम भी हँस कर सद्य हो गोपियों को रमण कराये।

(सुबोधिनीकारिका)

षड्गुणैश्वर्यभावेन पोढा रेमे हरिः स्वयम् ।

स्वरूपेणापि शृङ्गारो द्विविधोऽपि निरूपितः ॥ १ ॥

सामान्यरमणं पूर्वं विशेषे मेलनं पुरा ।

बाह्येन रमणं पश्चादान्तरं च ततः परम् ॥ २ ॥

ततो नाना विलासेन जातकेलिविभेदतः ।

विप्रलम्भस्य सिद्धयर्थं तासां मानमुदीर्यते ॥ ३ ॥

तिरोभावस्ततश्चापि नायं लौकिककाशुकः ॥ ३३ ॥

अब श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि छै श्लोक में भगवान् का रमण स्वकार्यसहित कहा है, छै ही श्लोकों से भगवान् का रमण क्यों कहा, इसमें संख्यातात्पर्य इस प्रकार है कि 'षड्गुणैश्वर्यभावेन' भगवान् में ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, ये छै गुण रहते हैं, इसलिये छै गुणों के भाव से भगवान् का रमण छै श्लोक में कहा है।

भागवत में परमकाष्ठापन्न वस्तु भगवच्छब्दसे कही है, भगवान्-अर्थात् छै गुणवान् उसका अर्थ है, परम काष्ठापन्न वस्तु भगवान् हैं, प्रकृत में रमण कहा है, रमण विविध भाव से साध्य है, विविध भाव निर्विकार ब्रह्म में संभव नहीं होते हैं, इसलिये यदि कोई बहिर्मुख शंका करे कि भगवान् ने रमण माया द्वारा प्राकृत गुणों के सम्बन्ध से किया है।

तब इस शंका का निरास रमण निरूपक श्लोकसंख्या द्वारा ही रमण का स्वरूप निरूपण करके किया है, इसी बात को 'षड्गुणैश्वर्यभावेन' इसके द्वारा कहा है, छै गुणों में भगवान् का स्वामिभाव है, इसलिये जिस प्रकार के रमण में जिस समय जिस गुण का उपयोग होता है, उस समय उसी गुण का प्राकट्य करके भगवान् छै प्रकार से स्वयं रमण करते हैं।

यहां पर भी इसी प्रकार किया है, माया आदि के अधीन होकर रमण नहीं किया है, इसीसे कारिका में 'स्वयं' पद कहा है।

रमण संयोग शृङ्गारात्मक किया है, अन्तका श्लोक 'तासां तत्सौभगमदं' इसमें तिरोधान निरूपण करने से विप्रलम्भात्मक शृङ्गाररूप से भी रमण किया है, इसलिये यहां पूर्णरस का निरूपण है। इसी बात को कहते हैं कि 'स्वरूपेणापि' संपूर्ण स्वरूपसे भगवान् ने रमण किया है।

श्लोक ४२ से ४७। छै में 'मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि' यहां तक संयोगात्मक शृङ्गार रूप से रमण किया है।

फिर ४८ से श्लोक में छै गुणों को स्वरूप भूत करके धर्मी रूप से तिरोभावलीला करके विप्रलम्भात्मक शृङ्गाररूप से रमण किया है। इस प्रकार सात श्लोक में दोनों प्रकार का शृङ्गार निरूपण किया है ॥ १ ॥

अब वाक्यार्थ कहते हैं कि 'सामान्यरमणं' प्रथम ४२ वे श्लोक 'इति विक्लवितं' इसमें भगवान् ने सामान्य रमण किया है, (विशेषे मेलनं पुरा) आगे विशेष रमण करने लिये प्रथम सज्जम है, वह सज्जम 'ताभिः समेताभिः' इस श्लोक द्वितीय ४३ में कहा है।

विशेषरमण दो प्रकार का है, 'बाह्येन रमणं पश्चादान्तरं' १ बाह्यरमण, स्वरूपसे होता है, अर्थात् अङ्गस्पर्शादि बाह्य प्रकार से विलासपूर्वक गति कटाक्षादि के द्वारा कामका उद्बोध करके होता है। बाह्यरमण 'उपगीयमान उद्गायन्' इस ४४ वे श्लोक में कहा है। 'आन्तरं च ततः परम्' २ तीसरे में आन्तर रमण कहा है, साक्षात् अङ्गस्पर्शादिरूप स्वरूपनिष्ठ बन्धादि प्रकार वाला आन्तर रमण है 'नद्याः पुलिनमाविश्य' इस ४५ वे श्लोक में अजातस्मरकेलि विलास कहा है।

'ततो नाना विलासेन जातकेलिविभेदतः' फिर जात केलि भेद से नाना विलास रमण है, विलास अजातस्मरकेलि, और जातस्मरकेलि दो प्रकार के हैं, इसलिये दो श्लोक हैं। नाना विलास से रमण जातस्मरकेलि विलास में होता है, उसका वर्णन 'बाहुप्रसार' इस ४३ वे श्लोक में किया है।

अर्थात् ४२ वे श्लोक में सामान्य रमण, फिर तीन ४३। ४४। ४५ में विशेष रमण-अर्थात् ४३ में समागम ४४ में बाह्य रमण ४५ में आन्तर रमण और इसमें जातस्मरकेलिविलास

है, इस प्रकार ४६ छे श्लोक तक का विवरण है, अब छठे ४७ श्लोक का अर्थ कहते हैं कि 'विप्रलम्भस्य सिद्धयर्थं' विप्रलम्भ-वियोग की सिद्धि के लिये 'एवं भगवतः कृष्णात्' इस ४७ वे श्लोक में गोपियों का मान कहा है। मान का प्रयोजन विप्रलम्भ की सिद्धि है।

'तिरोभावस्ततश्चापि' फिर 'तासां तत्सोभगमदं' इस ४८ वे श्लोक में भगवान् के तिरोभाव का वर्णन है।

यदि कहो कि भगवान् ने नायिकाओं का मान दूर करने के लिये अनुनय वाक्य नहीं कहे, किन्तु तिरोधान किया है, रसशास्त्र की मर्यादा है कि मान में नायिकाओं को मनाया जाता है, फिर भगवान् ने गोपियों को क्यों नहीं मनाया।

इसके उत्तर में कहते हैं, कि 'नायं लौकिककामुकः' भगवान् लौकिक कामी पुरुष नहीं हैं। यदि भगवान् प्राकृत कामी पुरुष की तरह होते तो स्त्रियों के प्रेक्षण आदि से जिस प्रकार का भी पुरुष को काम-भाव उत्पन्न हो जाता है, और काम-भाव से शरीर के अङ्गों में विकार उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार गोपियों के देखने से भगवान् को भी काम भाव उत्पन्न होकर शरीर के अङ्गों में विकार उत्पन्न हो जाता और फिर प्राकृत पुरुष की तरह विकार का नाश भी होता, किन्तु इस प्रकार हुआ नहीं है, कारण कि 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा का स्वरूप ही रसात्मक है, अतः रसशास्त्रसिद्ध जितने भेद वर्णन किये हैं, वे सर्वरूप भगवान् के स्वरूप ही हैं। इस प्रकार का ही पुरुषोत्तम स्वरूप है। इसलिये भगवान् लौकिक कामी पुरुष की तरह नहीं हैं।

जिस प्रकार भगवान् का दैत्यों के समक्ष वीररूप से आविर्भाव होता है, कारण कि दैत्यों का इसी प्रकार का अधिकार है, उसी प्रकार गोपियों के समक्ष आगे भगवान् रसरूप से ही प्रकट होते हैं, कारण कि गोपियों का अधिकार इसी प्रकारका है। इस प्रकार यह यहाँ हृदय है ॥ १॥ ॥

(सुबो०) प्रथमं तासां तापापनोदनार्थं सामान्यलीलामाह । इति तासां विक्लवितं परमवैवल्यभाषितं श्रुत्वा प्रहस्य अरीरमत् । ननु निरिन्द्रियः कथं रेमे, तत्राह, योगेश्वराणामपीश्वर इति । योगादिषु सर्वे पदार्थाः स्फुरन्ति, अणिमादयोऽपि, तथा तदैव स्वरूपमेवेन्द्रियादिभावेन प्रकटीकृतवान् । न तु स्वस्य कामेन । तथा सति बीजनिवृत्तौ कामो निवर्तते । तासां यथा न कदाचिदपि स भावो गच्छति, तदर्थं प्रहस्य प्रकर्षेण हास्यं कृत्वा, तासामुद्धरणार्थं, न तु भिन्नगणनया मर्यादायां पातयित्वा नाशनार्थमिति । तदाह सदयमिति । गोपीरेवारमयत्, स्वयं त्वात्माराम एव । तासां रसाधारत्वाय वा सदयम् ।

क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते ।
तासां कामस्य सम्पूतिर्निष्कामेनेति तास्तथा ॥ १ ॥
कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटः ।
कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः ॥ २ ॥

अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च ।

अत एतच्छ्रुतौ लोको निष्कामः सर्वथा भवेत् ॥ ३ ॥

भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते ।

अतः कामस्य नोद्वेगः ततः शुकवचः स्फुटम् ॥ ४ ॥

आत्मारामस्य आत्मनैव रमणं व्यावर्तयितुमपि-शब्दः । अरीरमत् बहुधा रेमे । उत्तरोत्तरं रसाधिक्यं च प्रकटितवान् ॥ ४२ ॥

प्रथम गोपियों का ताप दूर करने के लिये भगवान् ने सामान्यलीला की है, उसको शुक-देवजी कहते हैं । 'इति' ।

इस प्रकार गोपियों का परम विकलता युक्त भाषण सुनकर, भगवान् हँसे, और हँस कर गोपियों को रमण किया ।

यदि कहो कि भगवान् तो निरिन्द्रिय हैं, भगवान् को इन्द्रियां नहीं हैं, कारण कि इन्द्रियां होने पर ही, इन्द्रियों से स्त्रियों का प्रेक्षण आदि होता है, और प्रेक्षणादि से उत्पन्न काम द्वारा गोलक छोटा-बड़ा होता है, फिर भगवान् ने रमण कैसे किया ।

यदि कहो कि परिदृश्यमान साकार ब्रह्म में गोलक प्रत्यक्ष दीखते हैं, इसलिये इन्द्रियों का भी स्वीकार करना चाहिये । तो फिर जो स्वरूप प्रत्यक्ष दीख रहा है, उससे अन्य वस्तु ब्रह्म में आजाने से स्वगत द्वैत हो जायेगा, जिस प्रकार वृक्ष और उसके पत्रमें स्वगत द्वैत होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में भी स्वगत द्वैत हो जायेगा । स्वगत द्वैत शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में नहीं है । कारण कि 'सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितम् ।' ब्रह्म, पुत्रादिवत् सजातीय और वृक्षादिवत् विजातीय, तथा वृक्ष और उस के पुत्रादिवत् स्वगत द्वैत वर्जित है, इस प्रकार कहा है । इस लिये जो गोलक दीखता है, वह ब्रह्म ही है, साकार ब्रह्म स्वरूप में चक्षु आदि इन्द्रियों को ब्रह्म स्वरूप से पृथक् स्वीकार नहीं किया है, और न सूर्यादि देवताओं को ही ब्रह्मस्वरूप से पृथक् स्वीकार किया है, किन्तु ब्रह्म ही दर्शनादि रूप कार्य को करता हुआ चक्षुरादि शब्द से कहा जाता है ।

'पश्यन् चक्षुर्वदन् वाग्' इत्यादि श्रुतियों में, तथा इसी प्रकार तृतीयध्याय भाष्य में भी प्रतिपादन किया है ।

निरिन्द्रिय भगवान् ने कैसे रमण किया, इस शंका का उत्तर भी शुकदेव जी देते हैं कि (योगेश्वरेश्वरः)

ब्रह्मा शिवदि योगियों के भी भगवान् ईश्वर हैं, योग और ज्ञान में सर्व पदार्थों को अपने आप स्फूर्ति होती है, और इन्द्रियादि के बिना ही ज्ञानक्रिया का उपयोग होता है, अणिमादि सिद्धियां भी प्राप्त होती हैं ।

योगेश्वर ब्रह्मा आदि को जिस समय जानने की इच्छा होती है, उस समय वे ज्ञान योग-ज्ञान और कर्मेन्द्रियरूप होते हैं, यह निबन्ध पुरखन के प्रसङ्ग में निरूपण किया है । भगवान् तो योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं, अतः यहां भी रमण करने के समय भगवान् ने अपना स्वरूप ही इन्द्रिय प्राण मन देह काम भाव से प्रकट किया है ।

भगवान् स्वरूप से ही सर्व कार्य करते हैं, पृथक् अलौकिक इन्द्रियां भी आपने स्वीकार नहीं की हैं, किन्तु इन्द्रिय आदि भाव से प्रकट हो कर ब्रजसुन्दरियों के प्रेम का फल देने के लिये गोपियों के भावानुसार तादृश भावविशेष इन्द्रियादिरूप स्वरूप प्रकट किया है।

भगवान् ने अपने काम से रमण नहीं किया है।

यदि भगवान् प्राकृत मनुष्य की तरह काम से प्रेरित होकर रमण करते, तो बीज की निवृत्ति-वीर्यसिञ्चन होने पर काम की भी निवृत्ति हो जाती, किन्तु भगवान् के काम की निवृत्ति नहीं हुई। इसलिये भगवान् ने कामवश हो कर यह संपूर्ण लीला नहीं की है, यह सिद्ध होता है। गोपियों का जो भगवान् में भाव है, वह कभी भी नहीं जाये, इसके लिये भगवान् खूब हँसे हैं, भगवान् का हास मोह करता है, किन्तु यहां पर खूब हँसने का प्रयोजन गोपियों का सख्य में अङ्गीकार करना ही है।

यदि भगवान् गोपियों को सख्य प्रदान नहीं करते तो भगवान् के रूपानुसार गोपियों में साम्यभाव नहीं होने से रस नहीं होता। अतः गोपियों को भगवान् ने अपने समान योग्य बनाया।

जिस समय कोई समान बन जाता है, उस समय अपने से भिन्न गणना नहीं होती है, इस प्रकार सख्यता का स्वभाव है। अपने से भिन्न गणना तो मर्यादामार्ग में अङ्गीकार होने पर होती है।

भगवान् इस प्रकार के भाववाली गोपियों को यदि मर्यादामार्ग में डाल देते, तो भक्ति-पुच्छ मार्ग की मर्यादा नष्ट हो जाती, अतः भगवान् ने भक्तिमार्ग की मर्यादा रखने के लिये गोपियों को हँस करके सख्यभावका अपने रूप समान दान दिया है, गोपियों के उद्धार करने के लिये। उद्धार गोपियों के उत्कट ताप से हुआ है कारण कि गोपियों का तीव्रताप देख कर ही उद्धार करने के लिये भगवान् को दया हुई है, इसलिये भगवान् ने हँस कर गोपियों का ताप भी नष्ट कर दिया है। नहीं तो भगवान् का हास रसाभास का हेतु हो जाने से यहां दया का होना नहीं कहते।

प्रथम व्याख्यान में 'प्रहस्य अरीरमत्' इस प्रकार सम्बन्ध है, और द्वितीय व्याख्यान में 'अथवा' से मूल में 'सदयं रेमे' इस प्रकार सम्बन्ध है। यह रमण पहिले कभी नहीं हुआ, और यह रमण सामान्य रूप है, इसलिये यहां इस रमण में पूर्ण रसदान नहीं है, पूर्ण रसका दान तो आगे है, कारण कि इस समय गोपियों में भगवान् के तुल्य सामर्थ्य नहीं है, अतः भगवान् यदि अधिक क्रियाशक्ति का आविर्भाव करके नायिकाओं का उपमर्दन करते हैं तो रस का नाश हो जाये, इस लिये रस नष्ट नहीं होने के लिये भगवान् ने दया की है।

यद्यपि इस प्रकार से रस पुष्ट नहीं होता है, तथापि रसाभास और भावाभासों से रस पुष्ट होता है, इस लिये यहां किया सामान्य रमण आगे रसपोषण करने के लिये उपयुक्त होता है, इसी से आभास में 'तापापनोदनार्थं सामान्यलीलामाह' ताप दूर करने के लिये सामान्य लीला कहते हैं, इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी ने कहा है।

'सदयं गोपीरेवारमयत्' सदय भगवान् ने गोपियों को ही रमण कराया, स्वयं भगवान् तो आत्माराम ही हैं, अपने स्वरूप में ही रमण करते हैं, अर्थात् गोपियों का भगवान् के साथ रमण है, भगवान् तो स्वरूप में ही रमण करते हैं। इस प्रकार आगे 'रेमे तथा चात्मारतः' प्रहस्य पर कहेंगे।

अथवा सदय पद का अर्थ इस प्रकार है कि, गोपियां स्वयं इसका आधार हो जायें, भगवान् ने अपनी क्रियाशक्ति इस प्रकार की कि गोपियां इसका आधार बन गईं।

अब पहिले सुबोधिनी में 'क्रिया सर्वापि' इत्यादि कारिका कही हैं उनका आशय स्फुट करते हैं।

यदि कहो कि 'बाहुप्रसारपरिरम्भ' इत्यादि ४६वें श्लोक में लौकिक सदृश क्रिया की प्रतीति होती है, और वह लौकिक क्रिया प्रतीति काम बिना हो नहीं सकती है, इसलिये काम को भी स्वीकार करना चाहिये। काम को स्वीकार करने पर भगवान् की लीला में प्राकृतता ही हो जायेगी।

अथवा परार्थ रमण में भी योगेश्वर कहने से भगवान् का योगियों की तरह रमण प्राप्त होता है, योगी लोग संकल्पमात्र से ही अपेक्षित पदार्थ का विधान कर लेते हैं, 'संकल्पादेव च तच्छ्रुतेः' यह मतान्तर सिद्ध है। तत्तत्पदार्थ विधान करने का संकल्प काम जनक है, काम को उत्पन्न करता है, इसलिये काम की सिद्धि भी होती है, फिर भगवान् को 'आत्मारामत्व' आत्मा में ही रमण करना कैसे युक्त होता है।

इस प्रकार आकांक्षा करने पर भगवान् को आत्मारामत्व प्रतिपादन करने के लिये श्री-मदाचार्य कहते हैं कि 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते' यहां भगवान् और भक्त दोनों में अलौकिक और लौकिक काम का अभाव है। अभाव इसी बात को ज्ञापन करते हैं 'क्रिया-रमणो-पयोगी' 'सर्वा' सर्वरस उद्बोधन करनेवाली, तथा रसपोषण करनेवाली, तथा रसपूर करनेवाली, 'अपि' शब्द से रस के अवान्तर भेद से भिन्न समस्त क्रिया, 'सैव' 'रसो वैसः' इस श्रुति से भगवान् रसात्मक हैं, इसलिये रसशास्त्र-कामशास्त्र सिद्ध ही, 'अत्र' इस रमण में हैं। लोक में रस सम्बन्धनी क्रिया लौकिक कामविषयणी ही प्रसिद्ध है, भगवान् की भी चेष्टा लौकिकी सजातीय है, अतः काम भी लौकिक ही होगा, इस प्रकार किसी भ्रान्त को शंका हो तो इस शंका के दूर करने के लिये कहते हैं कि 'परं कामो न विद्यते' 'परं' किन्तु केवल लौकिक काम नहीं है। इसलिये यहां योगियों की तरह भी रमण नहीं है, किन्तु जिस प्रकार योग में अणिमादि सर्व पदार्थ की स्फूर्ति होती है, उसी प्रकार यहां योगेश्वरों के ईश्वर भगवान् हैं, अतः रमण के उपयोगी सर्व वस्तु ध्यानगोचर करके अपना स्वरूप ही इन्द्रियादि भाव से प्रकट किया है।

जिस प्रकार पुरुषविध ब्राह्मण में 'स वै नैव रेमे' इत्यादि से रमणादि कहकर पश्चात् 'सोऽनु-वीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्'।

उपसंहार में काम का अभाव ही कहा है। कारण कि भगवान् की इच्छा भी स्वरूप से पृथक् नहीं है, इसी प्रकार यहां भी जिस प्रकार योगी जन को क्रिया करने पर भी आत्मारामता है, उसी प्रकार भगवान् को यहां भी आत्मारामत्व है।

यदि कहो कि श्रुति में कही लीला स्वाभाविकी स्वार्था-भगवान् ने अपने लिये ही की है। और प्रकृत लीला यहां परार्था-गोपियों के लिये की है, अतः आगन्तुकी है, और यह लीला जिन गोपियों के लिये की है, वह लीला उन गोपियों के अनुरूप ही होगी, कारण कि सर्वत्र ये ही प्रकार देखने में आया है, अतः जिन गोपियों के लिये यह लीला है वे गोपियां तो तुम्हारे सुन्दर स्मित युक्त निरीक्षण से उत्पन्न तीव्र काम से तप्त आत्मावाली हैं, इस प्रकार प्रथम ३८वें श्लोक में गोपियों की सकामता का निरूपण किया है, अतः सकाम गोपियों के सम्बन्ध से लीला को भी कामपूरकत्व है, तो फिर कामोपाधि ही सिद्ध होती है, फिर भगवान् को आत्मारामत्व कैसे सिद्ध होता है।

इस वांका का उत्तर देते हैं कि 'तासां कामस्य संपूर्तिः निष्कामेनेति तास्तथा ।'

गोपियों के काम की पूर्ति निष्काम भगवान् ने की है, इसलिये गोपियां भी निष्काम हैं, लीला भगवद्धर्म रूप हैं, और सब श्रुतियों ने भगवान् को निष्काम कहा है, इसलिये भगवान् ने धर्मरूप लीला द्वारा गोपियों का काम पूर्ण किया है, अतः गोपियां भी निष्काम हैं ।

श्रुति में 'अथाकामयमानः' इस प्रकार प्रतिज्ञा करके 'योऽकामो निष्काम आत्मकामः' इस कथन से आत्मकाम का निष्काम कोटि में प्रवेश है, प्रकृत में 'सन्त्यज्य सर्वविषयान्' इस वाक्य से आत्मकामता से निष्कामता स्पष्ट ही है ।

भगवान् ने गोपियों के काम की पूर्ति 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' इस श्रुति के अनुसार की है । इसलिये भगवान् की कृति में निष्कामता है । इसी से भगवत्सम्बन्ध के कारण गोपियां भी निष्काम हो गईं ।

यदि भक्तों में लौकिक काम होता तो फिर अलौकिक भगवान् के काम से पूर्ण नहीं होती, कारण कि परस्पर लौकिक अलौकिक में एकजातीयता नहीं होती है, और विजातीय काम से विजातीय काम का पूर्ण होना संभव नहीं हो सकता है । अतः भगवान् के अलौकिक काम से ही गोपियों के काम की पूर्ति हुई है, इसलिये गोपियां भगवान् के तुल्य हो गईं इसी बात को ज्ञापन करने के लिये कारिका में 'तास्तथा' इस प्रकार कहा है ।

जिस प्रकार अप्राकृत भगवान् लौकिक कामरहित हैं, उसी प्रकार अप्राकृत गोपियां भी लौकिक कामरहित हैं । यदि इस बात को नहीं मानते हैं तो भगवान् के पूर्ण रस का उद्बोधन नहीं होगा, कारण कि न्यून तथा अधिक होने से भाव विजातीय हो जाता है ।

इस बात को प्रथम कह चुके हैं कि भगवान् में काम नहीं है, और भगवान् के सम्बन्ध से भक्तों में भी नहीं है । तो फिर लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकार के काम का अभाव होगा । और यदि दोनों प्रकार के काम का अभाव मानेंगे तो पञ्चम अध्याय की कारिका से विरोध हो जायेगा, वहाँ पर लौकिक काम का निषेध करके भगवान् में अलौकिक काम का निरूपण किया है,

'अथैव लोके प्रकटमाधिदैविकमुत्तमम् ।

कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते न चापरम्' ॥ १ ॥

इस कारिका में कामसुख आधिदैविक उत्तम कहा है । और प्रभु को भी कर्तृत्व कहा है, इसलिये लौकिक काम का ही निषेध किया है । अलौकिक काम का निषेध नहीं किया है, अतः भगवत्भोग्या गोपियों में भी अलौकिक काम है, नहीं तो भगवान् को भोक्तृत्व नहीं हो सकता है । अतः युक्त ही कहा है कि 'तास्तथा' गोपियां भी भगवत्तुल्य निष्काम हैं ।

यद्यपि आपके कथनानुसार ही है, तथापि गोपियों के 'सन्त्यज्य' सर्वत्याग करके आपके पादमूल में आई हैं, इस वाक्य में आत्मकामत्व की तरह त्वत्सुन्दरस्मित' इस श्लोक में पहिले से अतिरिक्त कामभाव का भी निरूपण गोपियों का स्पष्ट ही है । इसलिये सर्वथा निष्काम तो गोपियां हो नहीं सकती हैं ।

इस प्रकार के जानने की इच्छा में गोपियों का वाक्य स्वीकार करके गोपियों में कामभाव होते हुए भी निष्कामत्व का परिचय कराने के लिये कहते हैं कि 'कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटः' ।

यदि भगवान् ने प्राकृत काम से गोपियों के काम की पूर्ति की होती तो संसार की उत्पत्ति भी होती, जिस प्रकार द्वारका-लीला में महर्षियों को काम था, उसका प्रद्युम्नरूप से अमोघ वीर्य भगवान् ने काम द्वारा पूरित किया और पुत्रादि रूप संसार उत्पन्न करता हुआ काम प्रकट

हुआ, उस प्रकार यहाँ मूलरूप के काम द्वारा पूरित गोपियों का काम पूर्ण होता तो यहाँ भी पुत्रादिरूप संसार उत्पन्न करता हुआ काम प्रकट होता, किन्तु यहाँ प्रकट नहीं हुआ है, इसलिये यह काम काम से पूरित नहीं है । और गोपियों का काम पूर्ण किया है, अतः कामाभाव से ही पूर्ण किया है । इसलिये निष्काम हैं, अग्नि से आविष्ट काष्ठ की तरह, अर्थात् जिस प्रकार अग्नि के प्रवेश से काष्ठ का स्वरूप ही नहीं रहता है, उसी प्रकार काम स्वरूप ही निवृत्त हो गया, काम का स्वरूप होता तो संसारोत्पत्ति-पुत्रादि सन्तति अवश्य होती, कारण कि प्राकृत मनुष्यों में सर्वत्र संसारोत्पत्ति दीखती है । यहाँ के भक्तों में संसार नहीं हुआ है, इसलिये प्राकृत काम का अभाव निःसंदेह है ।

यदि कहो कि इस प्रकार की औपधियां हैं कि जिनका सेवन करने से स्त्रियां महा वन्ध्या हो जाती हैं, और ऋतु-काल में स्त्री-पुरुष का संगम आदि नहीं होने से भी स्त्री गर्भवती नहीं होती है, अतः तुमने जो हेतु संसारोत्पत्ति का कहा है वह साधारण है ।

इस वांका का उत्तर देते हैं कि 'न संशयः' इसमें संशय नहीं करना चाहिये, कारण कि भगवान् ने भावी रमण के समय में कहा है कि 'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते । भजिताः श्वयिता धाना भूयो बीजाय नेशते' मुझ में जिसने अपनी बुद्धि लगा दी है, उनका काम काम के लिये नहीं हैं, भुंजे हुए, तथा अग्नि में उबले हुए धान फिर बीज के लिये समर्थ नहीं होते हैं । जिस प्रकार जले हुए कपड़े का आकारमात्र प्रतीत होता है, उसी प्रकार यहाँ क्रिया की समानता से भगवान् और गोपियों में काम की प्रतीति होती है । किन्तु भगवान् और भक्तों में प्राकृत काम नहीं है ।

इसमें हेतु कहते हैं कि 'अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च' इससे यहाँ रसशास्त्र की, और ब्रह्मधर्म की मर्यादा का भङ्ग नहीं हुआ है । ब्रह्मधर्म की मर्यादा भङ्ग नहीं होती, इसको पहिले भी सिद्ध किया है, और रसशास्त्र की मर्यादा तो भगवान् के धर्मादि गोपियों में प्रविष्ट होने से गोपियां भगवान् के तुल्य हो गई हैं, उस समय 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इस श्रुति के अनुसार गोपियों का स्वरूप हो गया, इस प्रकार निगूढाशय है । कारण कि यह भाव अलौकिक है, इसलिये मर्यादा मार्गीय मोक्ष की इच्छा करनेवालों की भी प्रवृत्ति का बाध नहीं होता है, कारण कि मोक्षमार्ग में जिसमें काम नहीं है, उसका ही अधिकार है, इसी बात को श्रुति कह रही है कि 'ओत्रियस्य चाकामहतस्य' इत्यादि ।

अतः इस काम को यदि प्राकृतत्व हो, तो कामभाव से की हुई लीला भी प्राकृत होगी, तो फिर इस लीला के श्रवण में लौकिक काव्य आदि की तरह काम का ही उद्बोध होता, और विपरीत फल प्राप्त होता, मोक्षफल प्राप्त नहीं होता, तो फिर इस लीला के श्रवण में जीव की प्रवृत्ति भी नहीं होती, अतः यह लीला प्राकृत कामभाव से नहीं की है ।

मूल में 'च' शब्द का अर्थ यह है कि इस लीला के करने में भक्तिमार्गीय मर्यादा भी भङ्ग नहीं हुई है, इसलिये यह भाव अलौकिक है, इस लीला के श्रवण करनेवालों को फल प्राप्त होता है, अतः इस लीला में प्रवृत्ति होती है, इसी बात को आगे कहते हैं कि 'अत एतच्छ्रुती लोको निष्कामः सर्वथा भवेत्' इस लीला के श्रवण करने पर लोक सर्वथा निष्काम हो जाता है ।

यदि कहो कि काम लीला के तो श्रवण मात्र से ही लौकिक काम भाव उत्पन्न हो जाता है, फिर तुम कहते हो इस लीला के श्रवण से सर्वथा निष्काम हो जाता है, यह कैसे संभव हो सकता है ।

इसका उत्तर देते हैं कि 'भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते' भगवान् का सर्वचरित ११ रा०

निष्काम है। कारण कि वस्तु-स्वभाव ही इस प्रकार का है, जो वस्तु जिस प्रकार की होती है, वह अन्य अपने में स्थित वस्तु को भी अपने तुल्य बना लेती है।

यह भगवान की लीला लौकिक काम रहित है, इसमें अलौकिक काम देवता रूप का प्रतिपादन किया है, अतः इस लीलापरायण मनुष्य भी लौकिक काम रहित होकर अलौकिक निर्वृत भगवद्भाव युक्त हो जाता है, किन्तु इस लीला का श्रवण लीलातात्पर्य अवधारण पूर्वक होना चाहिये, साधारण रीति से नहीं होना चाहिये, 'अतः कामस्य नोद्वेगः' यह लीला लौकिक काम रहित है, इसलिये इस लीला के श्रवण करने से लौकिक काव्य श्रवण की तरह लौकिक काम का उद्वेग नहीं होता है, इसी से 'कामं हृदोगमाश्रयहि नोत्यचिरेण धीरः' इस शुकवाक्य में स्पष्ट कहा है। अतः मोक्षफल देनेवाली मर्यादा भी भग्न नहीं हुई है, कारण कि कामभाव रहते मोक्ष नहीं होता है, कामभाव के अभाव में ही मोक्ष होता है। अतः लक्षण भी भग्न नहीं होता है।

यदि कहो कि कामलीला श्रवण से लौकिक भाव की उत्पत्ति होती है, तो फिर लौकिक भाव अवश्य ही होगा, लौकिकभाव होने पर मोक्ष से विपरीत प्रयोजन इस लीला के श्रवण से होगा।

इस शंका का उत्तर यह है कि 'भगवच्चरितं सर्वं'।

स्वभाव से वस्तु और भगवान् अद्भुतकर्मा हैं, अतः इस लीला के श्रवण करने से काम का उद्वेग नहीं होता है। शुकदेव जी ने भी इस लीला के श्रवण कीर्तन आदि का फल कामभाव ही 'काममपहिनोति' काम दूर करना ही प्रकट कहा है।

यद्यपि 'हृदोगमपहिनोति' हृदय का दोष दूर करता है, इस प्रकार कहना चाहिये था, कारण कि इतने कहने से ही चरितार्थता हो जाती है, तथापि उक्त लीला का स्वरूप ज्ञापन करने के लिये काम का नाम स्पष्ट कहा है ॥ ४२ ॥

मूल श्लोक में 'अपि' शब्द है, इससे यह सूचन होता है कि आत्माराम भगवान् ने केवल आत्मा से ही रमण नहीं किया, किन्तु मन वाणी प्राण इन्द्रिय और शरीर से भी किया है।

इस प्रकार यह भगवान् का सामान्य रमण उत्तरोत्तर पुष्ट होकर अव्याय पर्यन्त विवृत होगा, इस आशय से कहते हैं कि 'अरीरमत' भगवान् ने बहुत प्रकार से रमण किया, और उत्तरोत्तर अधिक रस प्रकट किया है ॥ ४२ ॥

(सुबो०) एवं सामान्यलीलामुक्त्वा विशेषलीलामाह । ताभिरिति त्रिभिः ।

इस प्रकार भगवान् की सामान्य लीला वर्णन करके आगे तीन श्लोक में विशेष लीला वर्णन करते हैं।

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।

उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणां क इवोडुभिर्वृतः ॥ ४३ ॥

पदपदार्थ—(प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिः) प्रिय के दर्शन से उत्फुल्ल-खिले हुए मुखवाली (समेताभिः) एकत्रित हुई (ताभिः) गोपियों से (उदारचेष्टितः) उदार (उदारहासद्विजकुन्ददीधितिः) उदारहासयुक्त कुन्दपुष्प सदृश दांतों में कान्तिवाले (अच्युतः) च्युतिरहित भगवान् (उडुभिः) नक्षत्रों से (वृतः) व्याप्त-घिरा हुआ (एणाङ्कः इव) एकाङ्क की तरह (व्यरोचत) शोभित हुआ ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—प्रिय के दर्शन से खिले हुए मुखवाली एकत्रित हुई गोपियों के साथ उदार

चेष्टित और उदारहासयुक्त कुन्दपुष्प सदृश दांतों में कान्तिवाले अच्युत भगवान् तारागणों से आवृत चन्द्र की तरह शोभित हुए हैं।

(सुबो०) अजातस्मरकेलिभिः प्रथमतः ताभिः समेतो जातः मिलितः । पूर्व भयात् पृथक्स्थिताः । तत उदाराणि चेष्टितानि यस्य । अत्र औदार्य रस-विषयकम् । यथा तासां महानेव रस आविर्भवति, तथा कामशास्त्रसिद्धलीलाः सर्वा एव कृतवान् । ततस्ता अन्तः पूर्णरसाः । प्रियस्य भगवत ईक्षणार्थमुत्फुल्लानि मुखानि यासां तादृश्यो जाताः । प्रियेक्षणेन वा सूर्यकिरणैरिव उत्फुल्लानि मुखानि । वस्तुतो लोभस्थितरसार्थमेव तथा करणम् । एतावति कृते रसो निवर्तते, तदभावायाह अच्युत इति । तासामपि रससमाप्त्यभावाय उदारेति । उदारो यो हासः पूर्णकामप्रदः, कामार्थमेव यो मोहः तेनैव स्नेहः संवर्धितः । तदाह । हाससहिता ये द्विजाः त एव कुन्दपुष्पाणि, आरक्तान्यपि हासेन शुभ्राणि, तेषु दीधितिर्यस्य । कुन्दत्वं स्नेहस्यैतन्मात्रपर्यवत्त्वानार्थम् । (पूर्व) निरुपाधिरेव स्नेहः स्थितः, भगवता परं रसशास्त्रोक्तरीत्या स्वरूपानन्दं दातुं तत्सजातीयः कामोपाधिकः स्नेहोऽधुना जनित इति ज्ञापनाय स्नेहरूपरदानां द्विजपदेन कथनम् ।) तथा सति फलभोगात् कान्त्यभावमार्शक्य तत्र दीधिति-रक्ता । यद्यपि भगवान् तन्निर्बन्धेन रेमे, जगद्दोषनिराकरणार्थं च, नतु स्वयम्, तथापि न पूर्णमनोरथ इव, किन्तु यथा लौकिकः, तदाह दृष्टान्तेन । एणाङ्कः उडुभिः नक्षत्रैः सह यथा व्यरोचतेति । बन्धातिरिक्ताः सर्वा बाह्या एव लीला उक्ताः ॥ ४३ ॥

भगवान् प्रथम ही अजातस्मर केलि गोपियों से जिनके साथ अभी तक कामक्रीडा नहीं की थी मिले, प्रथम गोपियां भय से पृथक् खड़ी थीं, अब पास में आ गईं, उस समय भगवान् ने उदार चेष्टा की, अर्थात् रसविषय की उदारता की कि जिससे गोपियों को महान् रस प्रकट हो जाये, उस प्रकार की सर्वकामशास्त्रसिद्ध स्पर्शादिलीला गोपियों के साथ की, अतः गोपियों के भीतर पूर्णरस प्रकट हो गया।

प्रिय भगवान् के दर्शनके लिये गोपियों के मुख उत्फुल्ल-विकसित हो गये अर्थात् गोपियों के मुख अञ्चलों से निर्गत हो गये, गोपियों ने अञ्चलों के आवरण हटाकर खोल लिये और भगवान् के दर्शन करने लग गईं।

अथवा जिस प्रकार सूर्य की किरणों से कमल खिल जाते हैं, उसी प्रकार प्रियदर्शन से उत्फुल्ल-विकसितमुख हो गये। वास्तव में तो भगवान् के अधर में स्थित रसपान करने के लिये गोपियों ने अपने मुख विकसित कर लिये हैं।

इस प्रकार जब गोपियों ने रसग्रहण करने के लिये उद्योग किया, तब भगवान् में प्रयत्न करने की शिथिलता आ गई, कारण कि जिस समय पुरुष की सामर्थ्य क्षीण हो जाती है, उस

१. () चिह्नान्तर्गतं प्रश्नायम् ।

पदपदार्थ—(वनिताशतयूथपः) सैकड़ों स्त्रियों के यूथपति (उपगीयमानः) समीप में गोपियों द्वारा गान किये भगवान् (उदगायन्) स्वयं भी गान करते (वैजयन्ती) नवरत्नखचित वैजयन्ती (माला) माला को (विभ्रत्) धारण करते (वनम्) श्रीवृन्दावन को (मण्डयन्) शोभित करते (व्यचरन्) विचरते हुए ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—सैकड़ों स्त्रियों के यूथपति भगवान् के समीप गोपियां गान करतीं और भगवान् स्वयं भी गान करते, वैजयन्ती माला धारण कर वन को शोभित करते विचरते हुए ॥ ४४ ॥

(सुबो०) ताभिरुपगीयमानः निकटे गीयमानः स्वयमप्युदगायन् जातः । ततः वनिताशतानामनेकविधस्त्रीणामनेकविधानेव यूथान् पातीति तथा जातः । यावतीभिर्मिलितो रसहेतुर्भवति, तावतीनामेकं यूथम् । एवमनेकयूथानि कृतानि । तेषामत्र रक्षणं दूरादेवाश्वासनेन च । तदा गायतो गच्छतः रूपमाह माला-मिति । वैजयन्तीं नवरत्नखचितां स्वाभाविकीमैश्वर्यप्रबोधिकां कीर्तिमयीं मालां विभ्रत्, वनमेव सर्वं मण्डयन् अलंकुर्वन्, व्यचरत् लीलागतिं कृतवान् । एषा हि गतिः तासां कामोद्बोधिका । स तासां कामपूरकः । एकस्मात् वनात् वनान्तरं वा गत इति ॥ ४४ ॥

गोपियां भगवान् के पास गान करने लग गईं, और भगवान् स्वयं भी ऊँचे स्वर से गान करने लग गये । फिर सैकड़ों स्त्रियों के अनेक प्रकार के यूथों का पालन करनेवाले पति हो गये । जितनी गोपियों से मिलकर रस प्रकट हो, उतनी गोपियों का एक यूथ है, इस प्रकार अनेक यूथ किये ।

भगवान् ने अनेक प्रकार के यूथों का रक्षण दूर से ही आश्वासन, ललितगति, सुन्दर वाक्य, मन्द मुसुकान, कटाक्षों का प्रक्षेप आदि से किया है ।

गान करते हुए भगवान् का स्वरूप शुकदेवजी कहते हैं, (मालाम्) भगवान् ने नवरत्नों से जड़ी हुई, स्वाभाविक ऐश्वर्य प्रकट करनेवाली कीर्तिमयी वैजयन्तीमाला धारण करके समग्र वृन्दावन को भूषित किया है, और लीला से धीरे-धीरे गमन करने लग गये, यह रसपोषक प्रकरण है, अतः भगवान् की चरणगति भी रसपोषक ही है, इसीसे कहा है कि भगवान् की ललितगति गोपियों के काम को जाग्रत करनेवाली है । कारण कि भगवान् गोपियों का काम पूर्ण करनेवाले हैं । अथवा 'व्यचरत्' भगवान् गोपियों सहित एक वन से दूसरे वन में पधारे इस प्रकार अर्थ होता है ॥ ४४ ॥

(सुबो०) एवमुदबुद्धे कामे ताभिः सह बन्धादिभिः रेम इत्याह नद्या इति ।

इस प्रकार गोपियों में काम जाग्रत होने पर भगवान् ने गोपियों के साथ रसशास्त्र विद्वत् बन्ध आदि प्रकार से रमण किया, इसीको आगे कहते हैं ।

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम् ।

रेमे

तत्तरलानन्दिकुमुदामोदवायुना ॥ ४५ ॥

पदपदार्थ—(नद्याः) श्रीयमुनाजीके (हिमवालुकम्) शीतलवालु-रजवाले (तत्तरलानन्दि) श्रीयमुनाजी की लहरों से आनन्दयुक्त (कुमुदामोदवायुना) कमलपुष्पों की सुगन्ध

युक्त वायु से (जुष्ट) सेवित (पुलिन) पुलिन को (गोपीभिः) गोपियों के साथ (आविश्य) प्रवेश करके (रेमे) भगवान् रमण करते हुए ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—श्रीयमुनाजी के शीतल वालुका-रजवाले और श्रीयमुनाजी की तरङ्गों से आनन्दयुक्त कमलपुष्प की सुगन्धयुक्त वायु से रमण करते हुए ॥ ४५ ॥

(सुबो०) नद्याः पुलिनमच्छं कोमलमाविश्य, आसमन्तात् प्रविश्य, रमणे बन्धादिभिरतिकोमलं कृत्वा, गोपीभिरनेकविधाभिः रेमे । हिमाः शीतलाः वालुका यत्रेति अन्तरूढा निवारितः । बहिःशैत्यं चाह तत्तरलानन्दीति । तस्या नद्यास्तरलास्तरङ्गाः ताभिः कृत्वा आनन्दयुक्तं पुलिनमेव । आनन्दयुक्तो वायुर्वा । कुमुदानां चानन्दयुक्तसुगन्धः । तस्यानन्दजनकत्वेनैव मान्द्यं निरूपितम् । शैत्यं च कुमुदानां जलसम्बन्धात् । तादृशवायुना सहितं पुलिनम् । महाबन्धेषु वायो-रप्यपेक्षा ॥ ४५ ॥

भगवान् गोपियों सहित श्रीयमुनाजी के स्वच्छ कोमल पुलिन में सर्वत्र प्रविष्ट होकर, अर्थात् रमण में बन्धादि द्वारा अति कोमल करके अनेक प्रकार की गोपियों के साथ भगवान् ने अनेक प्रकार से रमण किया, गहरे जल से निकला हुआ बालू का स्थल, अथवा चारों तरफ से जिसके जल हो और बीच में स्थल हो, इस प्रकार का रेती के स्थल टापू का नाम पुलिन है ।

श्रीयमुनाजी का पुलिन शीतल बालूवाला है, इसलिये भीतर गरम नहीं है और बाहर से भी गरम नहीं है, कारण कि श्रीयमुनाजी की लहरों से आनन्दयुक्त है, अथवा 'तत्तरलानन्दि-कुमुदामोदवायुना' समस्त एकपद मानकर 'तत्तरलानन्दि' यह वायु का विशेषण है, तब इस प्रकार अर्थ होता है कि श्रीयमुनाजी की लहरों से आनन्दयुक्त और कमलों से आनन्दयुक्त सुगन्धित वायु जिसमें है ।

वायु को आनन्द उत्पन्न करनेसे ही मन्द चलने का भी निरूपण कर दिया है, और शीतलता कमलों के जल सम्बन्ध से हुई है, इस प्रकार शीतल, मन्द और सुगन्ध त्रिविध वायुसहित पुलिन है, महाबन्धों में वायु भी अपेक्षित प्रस्वेद आदि निवारण के लिये होता है ॥ ४५ ॥

(सुबो०) एवं सर्वभावेन तासां जातस्मरकेलित्वं सम्पादितम् । अतः परं अष्टविधालिङ्गनादिपूर्वकं चेष्टितकामादियुक्तं रसविलासचरित्रमाह बाहुप्रसारेति ।

इस प्रकार भगवान् ने बाह्यलीला की अपेक्षा से गोपियों के साथ अनेक बन्धादि प्रकार से रमण करके गोपियों में जातस्मरकेलित्व सम्पादन किया है, अब आगे आठ प्रकार के आलिङ्गन आदि पूर्वक चेष्टित काम आदि युक्त रसविलासचरित्र को शुकदेवजी कहते हैं ।

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-

नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।

क्ष्वेत्यावलोकहसितैर्ब्रजसुन्दरीणा-

मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाश्चकार ॥ ४६ ॥

पदपदार्थ—(बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननमनखाग्रपातः) । बाहु-प्रसार-हस्त लम्बा करना, परिरम्भ-परस्पर मिलना, कर-हस्त अलक-वाल शिर के छत्तादार बुले, ऊरु-जंघा, नीवी, गुहस्थल, स्तनालभन-स्तनों का स्पर्श, नम-हँसी, नखाग्रपात-नखक्षत, नखों के अग्रपातों से (क्ष्वेल्यावलोकहसितः) क्रीडापूर्वक अवलोक और हास्यों से (व्रजसुन्दरीणाम्) व्रजसुन्दरी गोपियों के (रतिपति) काम को (उत्तम्भयन्) अधिक वर्धन करते जाग्रत करते (रमयाञ्चकार) रमण कराते हुए ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—बाहुप्रसार परिरम्भ हस्त अलक जंघा नीवी तथा स्तनों का स्पर्श हास्य नखदान दन्तक्षत आदि से, इसी प्रकार क्रीडा प्रस्तोभन आदि पूर्वक अवलोकन और हास्यसे व्रजसुन्दरियों के काम को वर्धन करते भगवान् ने रमण कराया ॥ ४६ ॥

(सुबो०) दूरे स्थितानामवयवं वा स्पष्टं बाहुप्रसारणम् । ततो बलादपि परिरम्भः । ततः करालकोरुनीवीस्तनानामालभनानि । करालभनं हस्तेग्रहणम् । पुरषायितलीलासम्बन्धे वा । एवं कचोन्नमनार्थं अलकानां स्पर्शः । ऊरुस्पर्शो बाहुवन्वार्थः । नीवीस्पर्शः पुष्टे रसे मोचनार्थः । स्तनयोस्तु रसोदगमनार्थः । एवं पञ्च स्पर्शा विहिताः । नर्मपरिहासवचनानि कामस्तम्भनार्थम् । ततो नखाग्र-पाताः नखक्षतदन्तक्षतताडनादयः कामयुद्धनिरूपिकाः । तत्तत्स्थाने स्थितः कामः तैरुद्बोध्यते, यथा सेनावधे राजा समायाति । क्ष्वेलिः क्ष्वेलिका प्रस्तोभनादि, तत्पूर्वकान्येवावलोकनानि । हसितानि रसस्थापकानि । एवं द्वादशविधोऽपि कामः द्वादशाङ्गेषु स्थितः प्रबुद्धो भवति, तदाह व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन्निति । संयुक्तः कामो रतिपतिः, वियुक्तस्त्वग्निरूपः । एवमाधिदैविकं काममुद्बोध्यन् रमयाञ्चकार । गोपीनां सुखमेव प्रकटितवान्, न तु कामान्तेन विरतिमुत्पा-दितवान् ॥ ४६ ॥

भगवान् ने दूर स्थित गोपियों का स्पर्श करने के लिये अथवा गोपियों के अवयवों का स्पर्श करने के लिये बाहुप्रसारण—अपना हस्त लम्बा किया है ।

फिर लज्जित गोपियों का बलात्कार से परिरम्भण दोनों हस्त से पकड़ करके वक्षस्थल से वक्षस्थल को लगाया है, इसके अनन्तर १ हस्त, २ अलक, ३ ऊरु, ४ नीवी, ५ स्तन इनका स्पर्श किया है ।

करालभन—गोपियों का हस्तग्रहण किया है, करालभन, पुरुषायित लीला को भी कहते हैं, पुरुषायित लीला-पुरुष की तरह आचरण करनेवाली लीला है । अथवा, करालभन-सम्बन्ध की कहते हैं, इसी प्रकार गोपियों के कच, केशों को ऊँचे करने के लिये भगवान् ने अलक बाल की लटों का स्पर्श किया है ।

जङ्घा का स्पर्श भगवान् ने बाहुबंध के लिये किया है ।

रसपुष्ट होने पर वस्त्रत्याग कराने के लिये भगवान् ने नीवी का स्पर्श किया है ।

इसके अनन्तर रस प्रकट करने के लिये भगवान् ने गोपियों के स्तनों का स्पर्श किया है और मर्दन किया है ।

इस प्रकार रसशास्त्र—कामशास्त्र में पांच स्पर्श कहे हैं, वे भगवान् ने किये हैं ।

नर्म—भगवान् ने काम का स्तम्भन करने के लिये हास्यवाक्य कहे हैं । फिर नखाग्रपात-नखों के अग्रभाग से क्षत तथा दन्तक्षत—दांतों से कपोल आदि में क्षत किये हैं, नखक्षतादि काम-युद्ध निरूपण करनेवाले हैं, अर्थात् नखाग्रपात और दांतों से काम के साथ युद्ध किया है । इससे तत्तत्स्थान में स्थित काम जाग्रत होता है । जिस प्रकार सेना का वध हो जाने पर राजा स्वयं संग्राम में आगे आता है । उसी प्रकार काम भी जाग्रत होता ही आता है ।

क्ष्वेलि-क्रीडा प्रस्तोभनादि, भगवान् ने गोपियों का क्रीडासहित अवलोकन और उनके साथ हास्य किया है । भगवान् का अवलोकन हास्यरस स्थापन करनेवाला है, इस प्रकार भगवान् ने बारह प्रकार से काम गोपियों के बारह अङ्गों में स्थित अतिजाग्रत किया है । इसी बात को शुकदेवजी कहते हैं कि 'व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन्'

भगवान् ने व्रजसुन्दरी गोपियों का कामवर्धन किया है ।

संयोग दशा में काम रतिपति होता है और वियोगदशा में तो काम अग्निरूप हो जाता है । इस प्रकार भगवान् ने गोपियों में आधिदैविक काम जाग्रत करके गोपियों को रमण कराया है ।

मूल में 'रमयाञ्चकार' इस प्रकार परस्मैपद का प्रयोग किया है, इसका तात्पर्य यह है कि रमणफल गोपियों को मिलेगा, 'नद्याः पुलिनमाविश्य' इस ४५ वें श्लोक में 'रेमे' इस आत्मने-पद का प्रयोग है, इसलिये इसका फल भगवान् को मिलेगा, भगवान् ने गोपियों के लिये कामसुख ही प्रकट किया है और वह सुख निरन्तर गोपियों को प्राप्त हो रहा है, जिस प्रकार लौकिक कामी स्त्री-पुरुषों को काम के अन्त में विरति-ग्लानि प्राप्त हो जाती है, उस प्रकार की विरति यहां नहीं हुई है, किन्तु गोपियों की सदा सुख ही भगवान् ने प्रकट किया है, कारण कि गोपियों में आधिदैविक काम जाग्रत किया है, लौकिक नहीं किया है ।

यद्यपि 'उदारहास' इस ४३वें श्लोक में उपाधिभूत काम सम्पादन करना कहा है, और वह विकारवान् है, कहा है, तथापि विकार भी स्वरूपात्मक है, इसलिये उपाधि भी वास्तव में आधिदैविक ही है ॥ ४६ ॥

(सुबो०) एवं संयोगशृङ्गारमुपपाद्य विप्रयोगमुपपादयितुं तासां मान-माह एवमिति ।

इस प्रकार संयोग शृङ्गार प्रतिपादन करके अब श्रीशुकदेवजी विप्रयोग शृङ्गार प्रतिपादन करने के लिये गोपियों के मान का वर्णन करते हैं ।

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धकामा महात्मनः ।

आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ॥ ४७ ॥

पदपदार्थ—(एकं) इस प्रकार (महात्मनः) महापुरुष (कृष्णात्) कृष्णसदानन्द (भगवतः) भगवान् से (लब्धकामाः) प्राप्त कामवाली गोपियां (मानिन्यः) मानवती हुई (भुवि) पृथिवी में (स्त्रीणां) स्त्रियों के मध्य में (आत्मानं) अपने को (अभ्यधिकं) सब से अधिक-श्रेष्ठ (मेनिरे) मानती हुई ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार महात्मा कृष्ण भगवान् से मनोरथ प्राप्त गोपियों को मान-अभिमान हुआ कि पृथिवी में जितनी स्त्रियां हैं उनके मध्य में हम सब से अधिक-श्रेष्ठ हैं ॥ ४७ ॥

(सुबो०) पूर्वोक्तप्रकारेण भगवतः सर्वरसदानसमर्थात्, कृष्णात् सदान्-
न्दात् फलस्वरूपात्, लब्धकामाः प्राप्तमनोरथाः सत्यः आत्मानमेव पूर्णं मेनिरे,
न तु भगवन्तं पूर्णम्, तेन वा स्वपूर्णताम् । ननु भगवानेवं कथं कृतवान्, न्यूना
एव कथं न संरक्षिताः, तत्राह महात्मन इति । भगवान् महानेवात्मा । न
ह्यगाधे जले प्रविष्टः अमग्नो भवति, घटो वा अपूर्णो भवति । किञ्च,
आत्मानं स्त्रीणां मध्ये अभ्यधिकं मेनिरे, भुवि चाभ्यधिकं भुवि स्त्रीणां मध्ये
वा । अत एव मानिन्योऽपि जाताः । न ह्यस्मत्सदृशोऽन्याः सन्ति । अतोऽ-
स्मान् यदि प्रार्थयिष्यति, तदा रसं दास्याम इति मानयुक्ता जाताः । भग-
वद्धर्मस्तासु समागताः । तथा सति यथा प्रार्थनया पूर्वं भगवान् वशे जातः, एवं
वयमपि भविष्याम इति । रसार्थमेवैवं भावः, न तु दोषरूपः, भगवद्भावात् ॥४७॥

प्रथम कहे प्रकार से भगवान् सर्वरसदान में समर्थ कृष्ण-सदानन्द फलरूप से गोपियाँ
अपना मनोरथ प्राप्त करके अपने को पूर्ण मानती हुई । और भगवान् को पूर्ण नहीं मानती हुई,
और भगवान् से हम पूर्ण हुई हैं, यह भी नहीं मानती हुई ।

यदि कहो कि भगवान् ने इस प्रकार गोपियों का मनोरथ पूर्ण करके गोपियों को पूर्ण क्यों
किया, गोपियों को अपने तुल्य नहीं करके न्यून-अपने कम बना करके इनका संरक्षण क्यों नहीं किया ।

इस बाङ्का के उत्तर में कहते हैं कि (महात्मनः) भगवान् महान आत्मा है, जो कोई
अगाध-ओढ़े जल में प्रविष्ट होता है वह डूबे बिना नहीं रहता है, अथवा अगाध जल में घड़ा भी
भरे बिना नहीं रहता है । भर ही जाता है, इसी प्रकार गोपियाँ अगाध रसवाले भगवान् कृष्ण के
रस में मग्न पूर्ण ही हो गई ।

और अपने को स्त्रियों के मध्य में अथवा पृथिवी में अथवा पृथिवी में जो स्त्रियाँ हैं उनके
मध्य में अधिक-बहुत श्रेष्ठ मानती हुई, इसलिये मानवती भी हुई कि हमारे तुल्य जगत् में अन्य
कोई भी स्त्रियाँ नहीं हैं । इस प्रकार अभिमान हो गया कि अब यदि भगवान् हमारी प्रार्थना
करेंगे तो हम भगवान् को रसदान करेंगे । इस प्रकार गोपियाँ मानयुक्त हुई । मान आदि धर्म
भगवान् के गोपियों में प्रविष्ट हो गये, अतः गोपियाँ मानने लग गई कि जिस प्रकार भगवान्
हमारी प्रार्थना से वश में हुए, उसी प्रकार भगवान् हमारी प्रार्थना करेंगे तो हम उनके वश में
हो जायेंगी । इस प्रकार का भाव गोपियों में रसपोषण करने के लिये ही हुआ है, यह भाव दोष
रूप नहीं है, कारण कि गोपियों में अभिमान भगवद्भाव से हुआ है, अर्थात् भगवद्धर्म कृत ही है ॥

(सुबो०) भगवांस्तु ऐक्येनैव रसं प्रयच्छन् बहिस्तिरोहितो जात इत्याह
तासामिति ।

भगवान् तो ऐक्य से ही रसदान करते बाहर से तिरोहित हो गये इसी बात को शुकदेव
जी आगे के श्लोक में कहते हैं ।

तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।

प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

पदपदार्थ—(तासां) गोपियों के (तत्) प्रसिद्ध पूर्वोक्त सर्वोत्तमलक्षण (सौभगमदं)
सौभाग्यमद को (च) और (मान) मान को (वीक्ष्य) देखकर (प्रशमाय) शान्त करने
के लिये (प्रसादाय) प्रसाद करने के लिये (केशवः) केशव भगवान् (तत्रैव) वहाँ ही
(अन्तरधीयत) अन्तर्हित हो गये ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—गोपियों का प्रसिद्ध सौभाग्यमद, और मान देखकर शान्त करने के लिये और
प्रसाद करने के लिए केशव भगवान् वहाँ ही अन्तर्हित हो गये ॥ ४८ ॥

(सुबो०) मानः पूर्णता च न दोषाय । स्त्रीषु भूमौ च यदाधिक्यज्ञानं
स दोषो भवति । तदनुद्य तत्परिहारार्थं तिरोहित इत्याह । तासां तत्प्रसिद्धं
पूर्वोक्तं सर्वोत्तमत्वलक्षणं सौभाग्यमदं वीक्ष्य, तस्य मदस्य प्रशमाय अन्तर-
धीयत । ननु भगवद्रमणेन हि तासामेवं भावः, अतः स्वकृत एवेति कथं तिरो-
धानं कृतवानित्याशङ्क्याह । वीक्ष्य मानं च प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयतेति ।
मानापनोदनं कर्तव्यम् । मानस्त्वान्तरः । अशक्तो हि बहिरपनोदनार्थं यत्नं
करोति । चकारात् स्वधर्मं च । अतः प्रसादाय, प्रथमतस्तासां, पश्चात् स्वस्य
च तत्रैव गोपिकासु यूथमध्ये वा अन्तर्धानं प्राप्तवान् । नन्वेतत् द्वयमपि न कर्त-
व्यम्, उपेक्षिताः कुतो नेति चेत्, तत्राह केशव इति । यथा रजोगुणं ब्रह्मणो
निवार्य, तस्मै मुक्तिं दत्तवान्, यथा वा शिवस्य तमोगुणं निवार्य, एवमेतासा-
मपि मदं मानं च निवार्य, मुक्तिं दातुं तथा कृतवानित्यर्थः । कायिकतिरोभावोऽ-
यम्, प्रथमाधिकारित्वाद् गोपीनाम् ॥ ४८ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धविवरणे षड्विंशोऽध्यायविवरणम् ॥ २६ ॥

गोपियों में प्रसिद्ध सौभाग्यमद देखकर शान्त करने के लिये तथा मान देखकर प्रसाद के
लिये भगवान् अन्तर्हित हो गये । इससे ज्ञात होता है कि मद ही दोषरूप है, मद का ही प्रशमन
है, मान का नहीं है, मान तो भगवद्धर्म है, अतः दोषरहित है । इसीको श्रीसुबोधिनीजी में कहते
हैं कि गोपियों को जो पूर्णता-भगवद्धर्मरूप प्राप्तकामता हुई, और प्राप्तकामता होनेसे जो मान हुआ
है, वह दोषरूपी नहीं है, किन्तु स्त्रियों में और भूमि में हम श्रेष्ठ हैं, इस प्रकार जो आधिक्य ज्ञान
गोपियों को हुआ, वह दोषरूप है, इसलिए इस दोषका अनुवाद करके दोष दूर करने के लिये
भगवान् तिरोहित हो गये, इसी बात को कहते हैं कि (तासां) ।

गोपियों का प्रसिद्ध प्रथम श्लोक में कहा 'हम श्रेष्ठ हैं' इस प्रकार का सौभाग्यमद भगवान्
देखकर उस मद को दूर करने के लिये आप अन्तर्हित हो गये ।

यदि कहो कि गोपियों ने जो भगवान् के साथ रमण किया, उस रमण से गोपियों को
सौभाग्यमद हुआ है, अतः भगवान् का किया ही तो मद है फिर आप द्वारा उत्पन्न मद दूर करने
के लिये आपने ही तिरोधान क्यों किया ।

इस बाङ्का का उत्तर देते हैं कि 'वीक्ष्य मानं च' ।

भगवान् गोपियों का मान देखकर प्रसाद करने के लिये वहां ही अन्तर्हित हो गये, मान दूर करने के लिये तिरोधान करना आवश्यक है। अतः भगवान् को मान तो दूर करना ही था, नहीं तो आगे रमण में अभिमान प्रतिबन्ध करता, मान दूर करने के लिये भगवान् ने तिरोधान किया है।

मान तो गोपियों के आन्तर-भीतर है, जो कोई अशक्त होता है, वह बाहर से दूर करने का प्रयत्न करता है, 'च' चकार से स्वधर्मपूर्णता भगवान् ने गोपियों को अपने धर्म से पूर्ण किया है। उसको भी दूर करना है।

लौकिक कामी पुरुष मानको बाहर से दूर करने का प्रयत्न करता है, कारण कि वह अशक्त होता है, किन्तु भगवान् सर्वसामर्थ्यवान् हैं, अतः प्रसाद करने के लिये अन्तर्हित हुए हैं, अर्थात् प्रथम गोपियों के भीतर प्रविष्ट होकर बाहर के प्रकार से विलक्षण, जिसको कह नहीं सकते, इस प्रकार से प्रार्थना कर भगवान् गोपियों को अपने वश में करेंगे, पश्चात् २८ वें अध्याय में गोपियों की प्रार्थना से भगवान् स्वयं गोपियों के वश में हो जायेंगे, इस प्रकार के प्रसाद का दान करने के लिये भगवान् तिरोहित हो गये।

भगवान् कहां पर तिरोहित हुए ? इसको कहते हैं कि (तत्रैव) वहां ही गोपियों के भीतर हृदय में, अथवा 'एव' कार से जिन गोपियों में मदमान नहीं था, उन गोपियों के मध्य में ही बाहर विराजते अन्तर्हित रहे हैं।

योजनाकार कहते हैं कि 'तत्रैवान्तरधीयत' इसमें दो पक्ष हैं, (१) 'गोपिकासु' गोपिकाओं के हृदय में, अर्थात् गोपियों के हृदय में लीलासहित प्रभु की क्रीडा है, वह अलौकिकी लीला है। (२) 'यूथमध्ये वा' यूथ के मध्य में, यहां लौकिक प्रकार से छुपकर भगवान् की स्थिति है, इस प्रकार दोनों पक्षों में 'तत्र' पद प्रमाण है।

अब यहां तीसरा पक्ष भी है, वह यह है कि व्यापिवैकुण्ठ में पधारे हैं, और वहां लक्ष्मीजी के साथ उतने कालपर्यन्त रमण किया है, फिर वहां से आने के समय मार्ग में ब्रह्माजी ने भगवान् की पूजा की है, पूजा के समय ब्रह्माजी ने माला समर्पण की है, समर्पण की हुई माला धारण करके भगवान् पधारे, इस कथा को २९ वीं अध्याय में 'तासामाविरभूत्' श्लोक २ में कहेंगे, इस प्रकार भगवान् के तिरोधान में तीन पक्ष हैं।

यदि कहो कि भगवान् को गोपियों के मद का प्रशमन और मान दूर करना दोनों ही नहीं करने थे, गोपियों का त्याग कर देते, फिर भगवान् ने गोपियों की उपेक्षा-त्याग क्यों नहीं किया।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (केशवः) क-ब्रह्मा। ईश-महादेव। इन दोनों को 'व' मोक्ष देनेवाले केशव हैं, अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्मा का रजोगुण दूर करके, उसके लिये भगवान् मोक्ष देते हैं, और जिस प्रकार शिव का तमोगुण दूर कर शिव को मोक्ष देते हैं, उसी प्रकार गोपियों का मद और मान दूर करके मुक्ति-विप्रलम्भ शृङ्गाररस का अनुभव देने के लिये भगवान् तिरोहित हुए हैं।

भगवान् का यह तिरोभाव वाणी अथवा मन का नहीं है, कायिक-स्वरूप का है। कारण कि गोपियां प्रथम-तामस अधिकारवाली हैं, तामसभक्तों की स्वरूपमात्र में निष्ठा होती है, इसलिये भगवान् ने शरीर का तिरोधान किया है। कारण कि वाणी और मन के तिरोधान में गोपियों

को दुःख नहीं होता और दुःख नहीं होने से वियोग का अनुभव भी नहीं होता, स्वरूप का तिरोधान होने पर ही गोपियों को दुःख होने से विरह का अनुभव होता है। अतः विरहानुभव कराने के लिये भगवान् ने स्वरूप तिरोधान किया है।

प्रकाशकार कहते हैं कि 'कस्य रूपमभूद्द्वेधा तत्कायमभिचक्षते' इस पद की निरुक्ति से भगवान् ने स्वरूप दो प्रकार का किया और दो प्रकार का भाव विधान करके बाहर के कायस्वरूप को गोपियों से छुपा लिया, कारण कि प्रथम अधिकार अर्थात् सर्वात्मभाव के आरम्भकाल की कक्षा में गोपियों को अधिकार है, इसलिये गोपियों को मद और मान हुआ है, पूर्ण दशा में मद और मान भाव नहीं होता है, इस प्रकार भगवान् बाहर से तिरोहित होकर रसात्मक स्वरूप से गोपियों के हृदय में विराजे, यह फलित अर्थ हुआ है ॥ ४८ ॥

इति श्रीभागवत सुबोधिनी श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षितविरचित दशम स्कन्ध तामस फलप्रकरण प्रथम २६ वें अध्याय का उपलब्ध साहित्यसहित मथुरास्थ जगन्नाथ चतुर्वेदी (सर्वान) कृत भाषाविवरण पूर्ण हुआ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

(श्रीमद्भा०, स्क० १०, अ० २७)

अब श्रीमद् आचार्य चरण सत्ताइसवें अध्याय का विवरण करते हुए प्रथम प्रसङ्गरूपसङ्गति का बोध करने के लिये पहिली २६ वें अध्याय का अर्थ सार्धकारिका से अनुवाद करते हैं—

(सुबोधिनीकारिका)

‘स्वानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता ।

सवाद्यो जनितः पुष्टो यथान्तर्निविशेत् पुनः ॥ १ ॥

तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोऽविशत् ।

चत्वारोऽत्र निरूप्यार्थाः रसासक्तिर्हरेः क्रियाः ॥ २ ॥

गर्वाभावश्च तत्रादौ निरूप्यन्ते क्रमात् त्रयः ।

उद्देश्यतो लक्षणतः फलतश्च यथायथम् ॥ ३ ॥

सप्तविंशे तिरोधानालीलान्वेषण - तत्पराः ।

रसमन्तर्गतं चक्रुर्गोपिका इति रूप्यते ॥ ४ ॥

पूर्वाध्याय में भगवान् अन्तर्हित क्यों हुए ? इसका तात्पर्य कहते हैं कि (स्वानन्द स्थापनार्थाय) भगवान् ने गोपियों के साथ २६ वें अध्याय में कामलीला की । वह अपने स्वरूपात्मक आनन्द को गोपियों में स्थापन करने के लिये की थी । लौकिक में काम से उत्पन्न आनन्द समय विशेष में उत्पन्न होता है, और स्वल्पकाल रहता है, फिर नष्ट हो जाता है, कारण कि विकृत है । प्रकृत में तो कामलीला से उत्पन्न आनन्द भी स्वरूपात्मक है—अर्थात् भगवत्स्वरूप है । भगवान् का स्वरूप अविकृत है, इसलिये स्वरूपात्मक आनन्द अविकृत ही उत्पन्न होता है, और यह आनन्द सर्वदा रहता है, कभी भी नष्ट नहीं होता है । संयोगावस्था में यह आनन्द बाहिर प्रकट होता है, और विप्रलम्भ (विरहावस्था में) भीतर प्रकट होता है, इस प्रकार दोनों प्रकार से रहता है । यह आनन्दात्मा रस बाह्य प्रकार से उत्पन्न हुआ जिस प्रकार भीतर पुष्ट होकर देह इन्द्रिय आदि में पुनः प्रवेश करे, इसके लिये लीलासहित भगवान् गोपियों में प्रविष्ट हुए ।

टिप्पणी में इसका आशय इस प्रकार कहा है ।

संगम में अग्रिम-अग्रिम रस के लिये नवीन-नवीन प्रयत्न किया जाता है, पूर्वानुभूत रस का पोषण नहीं किया जाता है, कारण सभी रस स्वतन्त्र हैं । संयोग में जैसे-जैसे रस का अनुभव अधिक होता है, वैसे-वैसे विप्रयोग में दुःख का अनुभव अधिक होता है, यह बात अनुभवसिद्ध है । इस प्रकार के भाव में सस्कारमात्र शेष पूर्व रस का उपमर्दन करनेवाला अग्रिम संगम अभाव होने से जिस प्रकार भीतर ही रस अति पुष्ट होता है, उस प्रकार पूर्वानुभूत लीलास्वरूपात्मक देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण आत्मा हो जाते हैं । इसको ही सर्वात्मभाव कहते हैं, अर्थात् निरोधात्मक प्रलय हो जाने से सर्वात्मभाव में पूर्णाधिकार सम्पन्न हो जाता है । अतएव स्वरूप

श्रीमद्भा० स्क० १०, अ० २७]

श्रीसुबोधिनी

१७५

परिग्रह में ‘असौ अहम्’ यह मैं हूँ इत्यादि रूप कृष्णज्ञान स्फुरित होता है, अहंता स्फुरित नहीं होती है । और कृष्ण की सी ही क्रिया हो जाती है । इसके अनन्तर सङ्गम होने पर पूर्व सङ्गम से अधिक रस की स्फूर्ति इसीसे ही होती है । नहीं तो पूर्वसंगम में और विप्रयोग के अनन्तर संगम में विशेषता का अनुभव नहीं होगा । यद्यपि संगम के उत्तरकालीन विप्रयोग मात्र में ही विशेष रस का अनुभव होना सम्भव होता है, फिर भगवान् के भीतर प्रविष्ट होनेकी अपेक्षा रहती नहीं है तथापि यह विप्रयोग अतिविषम है, क्षणमात्र में अन्वयावस्था करनेवाला है । आगे फिर रसदान भी नहीं हो सकेगा, इसलिये भगवान् रसात्मकस्वरूप स्वयं प्रविष्ट हुए, इस बात को आगे कहते हैं । (तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोऽविशत्) उक्त कार्य करने के लिये भगवान् गोपियों में लीलासहित प्रविष्ट हुए ॥ १३ ॥

(चत्वारोऽत्र निरूप्यार्थाः) इस रसपोषण करनेवाली विप्रयोग अवस्था में चार अर्थ निरूपण किये हैं ।

(१) रसासक्ति, (२) भगवान् की क्रिया, (३) गर्व का अभाव-गर्व-अहङ्कार, उसका अभाव, (४) गुणगान, प्रिय की प्राप्ति में साधन अनुष्ठानरूप वियोगरस स्वभाव से प्राप्त गुणगान चौथा अर्थ है । यहां इस सत्ताइसवें अध्याय में रसासक्ति आदि तीन ही अर्थ कहे हैं । और ये उद्देश-नाममात्र से कीर्तन नहीं, किन्तु संक्षेप से अथवा एकदेश से कहे हैं, तथा लक्षण और फल से कहे हैं । चौथा गुणगान आगे अष्टादसवें अध्याय में कहा है । पहिले तीन श्लोकों में ‘रसासक्ति’ ‘भगवत्क्रिया’ और ‘गर्वाभाव’ इन तीनों का उद्देश है । यद्यपि ‘गायन्त्य उच्चैः’ यहां गान का भी उद्देश है, तथापि लक्षण एवं फल नहीं कहा, इसलिए गान नहीं कहा है । अथवा उद्देश विचार से ‘तद्गुणानेव गायन्त्यः’ यह समाप्ति में कहा है, अतः इस अध्याय में ही चारों अर्थ हैं । लक्षण आदि विचार से इस अध्याय में तीन अर्थ हैं, चतुर्थ गुणगान को लक्षित नहीं किया है, तो भी उपक्रम और उपसंहार में गुणगान दीखता है, इसलिये अर्थत्रय में अनुस्यूत होने से अथवा आगे के अध्याय में कहने से विरोध नहीं आता है । गोपियां रसासक्ति के कारण से ही भगवान् के अन्वेषण में तत्पर हुई, नहीं तो घर लौट जातीं । जिस समय गोपियों को बहिःसंवेदन (बाहिर का ज्ञान) होता है, उस समय अन्वेषण करने से रसासक्ति का ही निरूपण किया है । अन्वेषण रसासक्ति का लक्षण असाधारण धर्म का अनुमापक है ।

(हरेः क्रियाः) भगवान् की क्रिया ‘कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः’ कोई गोपी पूतना का-सा आचरण करती, इत्यादि लक्षण से निरूपण की है । गर्वाभाव का लक्षण (अनयाराधितो नूनम्) सपत्नीभाग्य अभिनन्दन से कहा है । अन्वेषण का फल भगवान् के पद का दर्शन है । भगवान् की लीलाविशेषफल प्रिया के अधीन तथा अनधीन प्रिय को जानने पर उसमें दोषारोप अभावपूर्वक (रेमे तथा चात्मरतः) इत्यादि भाव है । गर्वाभावफल भगवान् के बिना इतर पदार्थ की विस्मृति-पूर्वक एक भगवान् की प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करना है । (ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद् विभाव्यते) इस श्लोक में कहा है ।

गुणगान तो विशेष करके आगे की अध्याय में है । इस अध्याय में भी (पुनः पुलिनमाविश्य) इत्यादि से सामान्य कहा है ।

इस प्रकार रसासक्ति, हरिलीला, गर्वाभाव और गुणगान ये चार अर्थ तिरोधान लीला में निरूपण करेंगे ॥ ३ ॥

भगवान् जब तिरोहित हो गये तब गोपियां भगवान् की लीला में तथा भगवान् के

अन्वेपण (ढूँढ़ने) में तत्पर गई और रसासक्ति, हरिक्रिया, गर्वाभाव इन तीनों के द्वारा रस को अन्तर्गत करती हुई ।

भगवान् में पूर्व अध्याय में आन्तरलीला की ओर गोपियों ने भगवान् का बाहिर तिरोधान होने के कारण इस सत्ताइसवें अध्याय में आन्तरलीला की, इसका वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

(सुबो०) पूर्वाध्यायान्ते भगवतस्तिरोभाव उक्तः, ततस्तदनन्तरं प्रथमतः तासां रसासक्तचित्तानामापाततो महान्तापो जात इत्याह-अन्तर्हिते भगवतीति ।

पहिले अध्याय के अन्त में भगवान् का तिरोधान कहा । भगवान् के तिरोधान के अनन्तर रसमें आसक्त चित्तवाली गोपियों को प्रथम सर्वाङ्ग में महान् ताप उत्पन्न हुआ, इस बात की शुकदेवजी आगे श्लोक में कहते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

अन्तर्हिते भगवति सहस्रैव व्रजाङ्गनाः ।

अतप्यन्तमचक्षाणाः करिष्य इव यूथपम् ॥ १ ॥

पदपदार्थ—(अन्तर्हिते) अन्तर्धान (भगवति) भगवान् के होने पर (सहस्रैव) अकस्मात् ही (व्रजाङ्गनाः) व्रज की स्त्रियां । (तं) भगवान् को (अचक्षाणाः) नहीं देखतीं (अतप्यन्) ताप करने लगीं (यूथपम्) यूथस्वामी (तं) हाथी को (अचक्षाणाः) नहीं देखतीं (करिष्य इव) हथिनियों की तरह ।

भाषार्थ—भगवान् के अन्तर्धान होने पर अकस्मात् व्रजाङ्गना हथिनियां जिस प्रकार यूथस्वामी हाथी को न देखकर ताप करती हैं, उस प्रकार भगवान् को न देखकर ताप करने लगीं ।

(सुबो०) भगवति अन्तःप्रविष्टे षड्गुणैश्वर्यसहिते यावदन्तरनुसन्धानं न कृतवत्यः, तावत् सहस्रैव अकस्मादतप्यन् । अन्तर्विचाराभावे हेतुः व्रजाङ्गना इति । तापे हेतुः तमचक्षाणा इति । तापः सहज एव स्थितः कामात्मा तद्दर्शनस्पर्शादिभिः शान्तो भवति । यदा पुनः पूर्वसिद्धं बहिर्दर्शनं न जातम्, तदा तत्ताप उचित एव । तासां स्पर्श एव मुख्य इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह—करिष्य इवेति । यूथपो महामत्तगजः । 'रति गज एव जानाती'ति वात्स्यायनः । 'रत्यां विमर्द गज' इति विवृतश्च । सन्ति च सिहाः, तथात्र कालः । अतः करिणीनां यूथपा-दर्शने महानेव क्लेशः ।

ऐश्वर्यादि छः गुण सहित भगवान् गोपियों के भीतर प्रविष्ट हुए । जब तक गोपियों ने भीतर हृदय में अनुसन्धान नहीं किया, तबतक अकस्मात् एकाएक ताप करने लगीं ।

यदि कहो कि गोपियों ने भीतर विचार क्यों नहीं किया । तब इसके उत्तर में कहते हैं कि (व्रजाङ्गनाः) गोपियां व्रज की स्त्रियां हैं । अर्थात् व्रज की स्त्रियां भगवान् का बाहिर प्रकटस्वरूप ही मुख्य मानती हैं, भीतर विचार नहीं है ।

यदि भीतर विचार करतीं तो ताप वर्धित नहीं होता ।

ताप में हेतु कहते हैं, 'तमचक्षाणाः' भगवान् को नहीं देखती हुई ।

गोपियों में कामरूपी ताप सहज ही स्थित है, और यह कामात्मा भगवान् का दर्शन-स्पर्श आदि लीला से शान्त होता है । प्रथम जिस प्रकार बाहर भगवान् का दर्शन गोपियों को होता था, वह जिस समय फिर नहीं हुआ, उस समय गोपियों को ताप होना उचित ही है ।

गोपियों को स्पर्श ही मुख्य है, इस बात का ज्ञापन करने के लिये यहां दृष्टान्त देते हैं, (करिष्य इव) हथिनियों की तरह ।

यूथप महामत्त गज को कहते हैं । वात्स्यायनऋषि कहते हैं कि रति को तो हाथी ही जानता है, रति-समय विमर्द में हाथी ही समर्थ है, इस प्रकार सूत्र का विवरण किया है । वन में सिंह बहुत से होते हैं, इसलिये हाथी को न देखकर इकली हथिनियां सिंह के भय से भीत होती हैं ।

उसी प्रकार यहां भगवान् को न देखकर अकेली रह गयीं गोपियां भगवान् के अवतार का समाप्ति काल जानकर भयभीत होती हैं । अतः जिस प्रकार हथिनियों को यूथप गज के अदर्शन में महान् ही क्लेश होता है, उसी प्रकार भगवान् के अदर्शन में गोपियों को महान् क्लेश हुआ ॥ १ ॥

(सुबो०) यदा पुनः स तापः अन्तः प्रवेष्टुमैच्छत्, तावता भगवल्लीला अन्तःप्रविष्टा तापं दूरीकृत्य स्वयमेवाविभूतेत्याह-गत्येति ।

जिस समय फिर उस ताप ने गोपियों के भीतर प्रवेश करने की इच्छा की, इतने ही में भगवान् के साथ भीतर प्रविष्ट हुई भगवल्लीला गोपियों का ताप दूर करके स्वयं ही प्रकट हो गई ।

ताप भगवद्रूप होने से सच्चिदानन्दरूप है, अतः चेतन-धर्म सम्भव होता है ।

जिस प्रकार सूर्योदय से पहले प्रभानुभाव से तमकी निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार गोपियों की तापनिवृत्ति हो गई । अर्थात् बाहर के ताप को दूर कर लीला बाहर भी स्वयं प्रकट हुई, इससे बाहर का ताप भी शान्त हो गया । इस बात को सूचन करनेके लिये मूल में 'दूरीकृत्य आविभूता' कहा है । उक्त भाव को शुकदेवजी 'गत्यानुराग' इत्यादि से आगे कहते हैं ।

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।

आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥ २ ॥

पदपदार्थ—(गत्या) गति द्वारा (अनुरागस्मितविभ्रमेक्षितैः) अनुरागपूर्वक स्मित सहित विलास-कटाक्षों से (मनोरमालापविहारविभ्रमैः) मन को रमण करानेवाले, अथवा मन में रमण करनेवाले भगवान् के गुप्त भाषण-विलासों से (आक्षिप्तचित्ताः) आकर्षित चित्तवाली (तदात्मिकाः) भगवदात्मकवालीं (प्रमदाः) प्रकृष्ट मदवाली गोपियां (रमापतेः) लक्ष्मी पतिकी (तास्ताः) काय-वाङ्-मन से की हुई (विचेष्टाः) विलासरूप लीलाओं को (जगृहुः) ग्रहण करती हुई ॥ २ ॥

भाषार्थ—भगवान् की कायिक गति, स्नेहपूर्वक स्मित और विलासयुक्त कटाक्षों द्वारा तथा मनोरम आलाप-गुप्त भाषण विहार-विलासों द्वारा आक्षिप्त-आकर्षित चित्तवालीं तथा भगवान् आत्मा में जिनके इस प्रकार की प्रकृष्ट मदवालीं गोपियां लक्ष्मीपति की काय-वाङ्-मन से की हुई लीलाओं का ग्रहण करती हुई ॥ २ ॥

(सुबो०) ता भगवदीयैः कायवाङ्मनोभिः वशीकृताः तद्भावमापन्नाः तास्ता एव भगवच्चेष्टा जगृहुः । प्रथमतः कायिकीमाह । गत्या कामचेष्टा वशीकृताः । तत इन्द्रियसहितमनश्चेष्टया वशीकृता जाता इत्याह—अनुरागेति । अनुरागः स्नेहो मानसः, तत्पूर्वकं स्मितम्, तस्य विलासः स्वनिष्ठतात्याजनार्थः । अन्यथैवं सति ज्ञानमेवोदयं प्राप्नुयात् । अतः स्मितेन मन्दहासेन ईषद्विमोहिताः न बहिर्गताः, नान्तःस्थिताः, किन्तु भगवति मध्ये स्फुरिते तद्धर्मेषु च समागताः । अनुरागस्मितेन सहितो यो विभ्रमो विलासः अलसवलितादिः तत्सहितानीक्षितानि, सर्वं एव कटाक्षाः । वाचिकैरपि विमोहमाह—मनोरमालापेति । मनोरम्यतीति, मनसि रमते इति वा, मनोरमः, योऽयमालापः, भगवतो गुह्यभाषणानि, केवलवाक्यस्य चित्ताक्षेपकत्वं न भविष्यतीति प्रामाण्यावधारणं स्त्रीणां प्रकारान्तरेण न भवतीति फलमेवादौ निरूपितम् । सुखार्थं हि भगवद्वाक्यानि तदानीमेव च सुखमुत्पादयन्ति । ते चालापाः कचिद्वन्धादिवोधका लीलोपयोगिन इत्याह—विहार इति । तत्रापि विलासाः अवान्तरभेदाः, यथोत्तानके ग्राम्यादयः । तैः पूर्वकृतैः तमःसत्त्वरजोरूपैः त्रिविधमपि चित्तमाक्षिप्तमिति आक्षिप्तचित्ता जाताः । अतस्तापं न प्राप्तवत्य इति भावः । प्रमदा इति । बाह्याभ्यन्तरानुसन्धानहेतुभूतोऽत्युत्कटरसभावोऽत्र मदपदेनोच्यते । तेन प्रभुलीलाविष्करणं युक्तमिति भावः । किञ्च प्रमदाः प्रकृष्टो मदो यासां स्वभावत एव, अन्यथा दास्यभावान्न प्रच्युताः स्युः । तदा केवलभगवतः लीला स्वानुपयोगिनी साम्प्रतं च नानुभूतेति रमापतेर्लक्ष्मीपतेः, लक्ष्म्या सह विलासरूपां चेष्टां जगृहुः । एकस्या अपि बह्व्यचेष्टा इति तास्ता उक्ताः । नन्वीश्वरधर्माविष्करणं दासीनां निषिद्धमिति चेत्, तत्राह—तदात्मिका इति । भगवानेवात्मनि यासाम्, तथात्वेन स्फुरितः । अतो भगवल्लीलाग्रहणं तापनिवारकत्वेनोद्देशत उक्तम् । विस्तरमप्येव वक्ष्यति । क्रमहेतुत्वं च वक्ष्यामः ॥ २ ॥

ये गोपियां भगवान् के कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारों से वश में हो गई थीं । इसलिये भगवद्भाव को प्राप्त हुई, भगवान् की काया, वाणी और मनकी भिन्न-भिन्न क्रियाओं को ग्रहण करती हुई ।

अब शुकदेवजी प्रथम भगवान् की कायिक चेष्टा को कहते हैं । (गत्या) भगवान् के शरीर की चेष्टा से गोपियां वश में हो गई ।

यद्यपि कटाक्षों को इन्द्रियत्व ही है, तथापि भाव का उद्बोधन करने से भाव-प्राधान्य है, अतः मनको चेष्टात्व के अभिप्राय से मनकी प्रधानता कहते हैं । (तत इन्द्रियसहितमन-चेष्टया) फिर भगवान् की इन्द्रिय-सहित मनकी चेष्टा से गोपियां वश में हो गई, इस बातकी

आगे कहते हैं । (अनुरागेति) अनुराग-मानसस्नेहपूर्वक स्मित का विलास भक्तों की भगवान् के भजन में स्थित निष्ठा को छुड़ाता है, कारण कि स्मित मायारूप है । इसलिये भगवान् के भजन में स्थित भाव का त्याग करा करके केवल गोपियों के सट्टा भक्तोंको प्रमदा भाव सम्पादन करके मानादिक भाव उत्पन्न करता है ।

यदि भगवान् स्मितपूर्वक ईक्षण नहीं करें, केवल ईक्षण करे तो ईक्षण को ज्ञानात्मक होने से गोपियों में ज्ञान का ही उदय हो, अर्थात् रसानुभवरूप ज्ञान ही हो । इसलिये भगवान् ने स्मितपूर्वक ईक्षण किया । और स्मित—मंदहास से गोपियों को थोड़ा मोहित किया ।

पहले छब्बीसवें अध्याय में (ताभिः समेताभिः) ४३ वें श्लोक में प्रकृष्ट उदार हास का वर्णन कर आये हैं, फिर जो यहां स्मित कहा है, इससे स्मित का अर्थ मंदहास ही होता है ।

अब गोपियों की थोड़े मोहन से जो दशा हुई, उसका वर्णन करते हैं ।

(न बहिर्गताः नान्तःस्थिताः) गोपियों को न तो केवल बाहर का अनुसंधान था, और न केवल भीतर का ही अनुसंधान था । अर्थात् गोपियों की केवल न तो धर्ममात्र में निष्ठा थी, और न केवल स्वरूपमात्र में निष्ठा थी किन्तु हृदय में स्थित भगवान् में, तथा धर्मों में, उभयत्र प्राप्त होती दोनों में ही निष्ठा हुई थी ।

भगवत्स्वरूप के अन्तर्गत धर्मों ही द्वारा गोपियों के चित्तका आक्षेप हुआ था । मर्यादा-मार्गीय धर्मों द्वारा, तथा केवल स्वरूपमात्र से चित्ताक्षेप नहीं हुआ था । इसलिये पूर्वोक्त स्वनिष्ठता निवृत्त ही हो गई ।

यदि गोपियों को केवल बाहर का अनुसंधान होता तो भगवान् से हमारा विरह हुआ है, इस प्रकार के ज्ञान से क्लेश को ही प्राप्त होती ।

और गोपियोंको भीतर का अनुसंधान होता तो भगवान् लीलासहित हमारे हृदय में विराजमान हैं, इस प्रकार के ज्ञान से केवल सुख का ही अनुभव करती । परन्तु गोपियों को तो क्षण-क्षण में विलक्षण भाव होते थे । जिस समय विरह-ज्ञान होता था, उस समय दुःख का अनुभव करती थीं, और जिस समय पुरुषोत्तम के भीतर सम्बन्ध का ज्ञान होता था, उस समय सुख का अनुभव करती थीं अतः गोपियों को सर्वथा बाहर की स्फूर्ति नहीं थी, और न सर्वथा भीतर की ही स्फूर्ति थी, यह जानना चाहिये ।

गोपियों में बाह्य अनुसंधान, तथा अन्तर्निष्ठा, दोनों के उद्भव की उत्कंठा हुई, उस समय हृदय में भगवान् स्फुरित हुए और गोपियां भगवान् के धर्मों को स्वयं करती हुई थीं ।

अनुराग-स्मित सहित विभ्रम-विलास, अर्थात् अलस-संचलनादि सहित ईक्षण, ये सब कटाक्ष हैं ।

भगवान् ने गोपियों को वाणी की चेष्टा से भी विमोह किया, इसको कहते हैं । (मनोरमालापेति) मन को रमण कराये, अथवा मन में रमण करे, उसको मनोरम कहते हैं । मनोरम आलाप—भगवान् के गुप्त भाषण, केवल वाक्य चित्तका आकर्षण नहीं करता है । अतः 'तू मेरी प्राणप्रिया है', इत्यादि वाक्यों के प्रामाण्य का अवधारण—निश्चय स्त्रियों को सुखानुभव के अभाव समय में प्रकारान्तर से नहीं होता है, इसलिये प्रथम मनोरम आदि पद से फल का निरूपण किया है ।

भगवान् के वाक्य सुख उत्पन्न करने के लिये हैं। इसलिये भगवान् के वाक्य गोपियों को उसी समय सुख उत्पन्न करते हैं।

भगवान् के गुप्तभाषण किसी समय वन्द्य आदि का बोध करनेवाले लीला के उपयोगी हैं, इस बात को कहते हैं कि (विहार इति) भगवान् ने आलाप-सहित विहार-विभ्रमों द्वारा गोपियों को विमोहित किया।

विहार में विलास अवान्तर भेदवाले हैं। जिस प्रकार उत्तानक बंध विशेष में ग्राम्यादिक विलास हैं, उसी प्रकार यहां विहार में अनेक प्रकार के विलास हैं।

भगवान् की पहिले कही गई कायिक, वाचिक, मानसिक, तामस, राजस, सात्त्विक चेष्टा-क्रियाओं ने गोपियों का तीन प्रकार के चित्त का आकर्षण किया। अर्थात् गोपियां आक्षिप्तचित्त वाली हो गईं, इसलिये गोपियों को ताप प्राप्त नहीं हुआ। यह भाव (प्रमदा इति) प्रमदा शब्द का है।

प्रभुचरण कहते हैं कि गोपियों को बाहर तथा भीतर का अनुसन्धान नहीं था, इसमें कारण गोपियों में उत्कट रस भाव है, यह उत्कट रस भाव यहां 'मद' पद से कहा है, इसलिये गोपियों में प्रभुलीला का प्रकट होना युक्त ही है।

गोपियां चित्तके आकर्षण से तथा स्वभाव से भी प्रमदा हैं।

(प्रमदाः) प्रकृष्टमदवाली स्वभाव से ही हैं।

यदि स्वभाव से प्रमदा न होतीं तो दास्यभाव से च्युत भी नहीं होतीं। इस प्रकार गोपियां प्रमदा हुईं।

गोपियोंको इस समय भगवान् की केवल गोचारण आदि लीला उपयुक्त नहीं थी, और अभी हालमें भगवान् की शृंगार रसमयी लीला का गोपियों ने अनुभव किया था, इसलिये (रमापतेः) लक्ष्मीपति की चेष्टा ग्रहण की, भगवान् लक्ष्मीजी के साथ जिन लीलाओं को करते हैं, उस शृंगार रस प्रकारवाली विलास रूप चेष्टा का गोपियों ने ग्रहण किया। एक-एक गोपी की बहुत सी चेष्टायें थीं, इसलिये मूल में (तास्ताः) यह चेष्टा का विशेषण कहा है।

यदि कहो कि गोपियां भगवान् की दासियां थीं, ईश्वर-धर्म प्रकट करना दासियों को निषिद्ध कहा है, फिर गोपियों ने ईश्वर-धर्म प्रकट क्यों किया।

इसका उत्तर कहते हैं कि (तदात्मिकाः) गोपियों की आत्मा में भगवान् ही थे, इसलिये भगवान् ही लीलाकर्ता स्फुरित होते हैं। और भगवल्लीला-ग्रहण गोपियों का ताप दूर करने वाला है।

इस प्रकार संक्षेप में शृङ्गारमात्र लीला का ग्रहण कहा है। विस्तार से वर्णन आगे करेंगे, और लीलाक्रम का हेतु कहेंगे ॥ २ ॥

(सुबो०) ततो भगवतः स्वरूपपरिग्रहो जात इत्याह-गतिस्मितेति ।

प्रथम श्लोक में गोपियों ने भगवान् के धर्मों का ग्रहण किया, यह वर्णन किया।

अब आगे के श्लोक में गोपियों ने भगवान् का स्वरूप ग्रहण किया, इसका निरूपण करते हैं।

गति - स्मित - प्रेक्षणभाषणादिषु

प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।

असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका

न्यवेदिषुः कृष्ण-विहार-विभ्रमाः ॥ ३ ॥

पदपदार्थ—(प्रियाः) प्रियगोपियां (प्रियस्य) प्रिय भगवान् के (गतिस्मित-प्रेक्षणभाषणादिषु) गति-स्मित-प्रेक्षण भाषण आदि में (प्रतिरूढमूर्तयः) विपरीतता से आरूढ स्वरूप करने वाली (अबलाः) बलरहित। (तदात्मिकाः) भगवत्स्वरूपात्मक (कृष्णविभ्रमाः) कृष्ण की तरह विहार-विभ्रम वाली गोपियां (असौ, अहं) यह कृष्ण, मैं कृष्ण, (इति) इस प्रकार (न्यवेदिषुः) निवेदन करती हुई ॥ ३ ॥

भाषार्थ—प्रिय भगवान् की गति-स्मित तथा प्रेक्षण-भाषण आदि में प्रिया गोपियां अपने धर्मों का आरोप करके, अर्थात् भगवद्धर्मों में अपनी मूर्ति आरोपण करके, तदात्मक हुईं अबलाएँ कृष्ण की तरह विलास करतीं 'यह कृष्ण है, मैं कृष्ण हूँ' इस प्रकार निवेदन करने लगीं ॥ ३ ॥

(सुबो०) धर्माश्चेत् स्वस्मिन् समागताः, तदैकत्रोभयधर्मा विरुद्धा इति भगवति स्वधर्मानारोपितवत्यः। कायवाङ्मनसां दृष्टेश्च चत्वारः प्रधान-धर्माः। तेषु सर्वेष्वेव प्रतिरूढा मूर्तिर्यासाम्। भगवद्धर्मेषु स्वमूर्तिरारोपिता। अन्यथा अन्योऽन्यधर्माभिनिवेशाभावे सम्यग् विलासो न स्यात्, यदाह। गतिः कायिकी, स्मितं मानसम्, प्रेक्षणमैन्द्रियकम्, भाषणं वाचिकम्, तदादयो यावन्तो विभ्रमाः बन्धादयः रतिरूपा एव। तेषु सर्वेष्वेव प्रियस्य सम्बन्धिषु स्वयं प्रियाः भोगावस्थामेव प्राप्ताः विपरीता जाताः। 'रसाधिवये स्त्रियः पुरुषत्वमापद्यन्ते' इति वात्स्यायनः। अत एव स्वयं प्रियायोग्याः प्रतिरूढा विपरीततया आरूढा मूर्तयः स्वरूपाणि यासामिति। तत्र यासां भगवानल्पव्यवहितः पूर्वमासीत्, ताभिर्भगवत्प्रश्ने कृते, अन्तर्हिताज्ञानात् तत्रोत्तरवक्तव्यो भवन्ति। 'असौ कृष्णः' 'अहं कृष्ण' इति। अथवा योऽन्विष्यते, सोऽसावहमिति। अन्यासां प्रतीत्यर्थं नटः कपटवेषं कृत्वापि वदति क्रीडायाम्, तथा न, किन्तु स्वत एवेत्याह—अबला इति। अबलाः स्त्रियः भगवद्रूपाविष्कारे च बलरहिताः। स्पष्टवैलक्षण्यं च स्त्रीपुरुषयोः। तथा कथने प्रतारकत्व-मालक्ष्याह—तदात्मिका इति। न केवलं धर्म्यापत्तिः, किन्तु तद्धर्माणामपीत्याह। कृष्णवत् विहारः कायवाङ्मनोव्यापारः, विभ्रमाः तत्रत्या विलासाः यासाम् ॥ ३ ॥

जिस समय गोपियों में भगवान् के धर्म प्राप्त-सङ्गत हुए, उस समय एक मूर्ति दोनों के धर्म-गोपियों के तथा भगवान् के धर्म विरुद्ध हुए। इस विरोध को दूर करने के लिये गोपियों ने भगवान् में अपने धर्मों का आरोप कर दिया, अर्थात् अपनी गति में प्रियगति की भावना की। भगवद्धर्म रमण का अनुकरण करती गोपियां, भगवान् ही रमण कर रहे हैं, यह मानती बार-बार उसी प्रकार रमण करती हैं।

इस प्रकार भगवद्धर्म रमण में अपनी मूर्ति-देह का आरोपण—भगवदेकपरता करके भगवान् की तरह रमण करती स्थित हुई।

शरीर, वाणी, मन और दृष्टि इन चारों के धर्म मुख्य हैं। उन सभी के धर्मों में गोपियों की प्रतिरुद्ध मूर्ति हो गई, अर्थात् भगवान् के धर्मों में गोपियों ने अपनी मूर्तियों का आरोप कर दिया। कारण कि भगवान् तथा गोपियों की परस्पर गत्यादि में पहले स्वाभाविक विलक्षणता थी, किन्तु इस समय भगवान् की गति आदि की तरह गोपियों का गति आदि संस्थानविशेष भी हो गया। पहले की तरह नहीं रहा। गोपियों की मूर्ति—शरीर भगवद्भाव को प्राप्त हो गई, इसको ही स्वरूप-परिग्रह कहते हैं।

यदि इस प्रकार स्वरूप-परिग्रह नहीं होता, अर्थात् परस्पर एक के धर्मों का एक में अभिनिवेश—गोपियों की गति में प्रियगति, तथा प्रिय भगवान् की गति में गोपियों की गति नहीं होती, तो सम्यक् प्रकार से विलास नहीं होता। इस बात को शुकदेवजी कहते हैं।

(गति-स्मित) गति-शरीर की क्रिया है, स्मित—मनकी क्रिया है, प्रेक्षण—देखना नेत्र इन्द्रिय (बांख) की क्रिया है। भाषण—बोलना वाणी की क्रिया है, इत्यादि समग्र जितने बन्ध आदि विभ्रम हैं, वे सब रतिरूप ही हैं।

प्रिय भगवत्संबन्धी समग्र विभ्रमों में गोपियां स्वयं प्रियारूप भोगवस्था को ही प्राप्त हुई विपरीत हो गई अर्थात् भगवान् के धर्मों में अपनी मूर्ति का आरोप करने पर, यद्यपि भगवान् की तरह क्रिया करने लग गई, तथापि प्रिय ही इस प्रकार की लीला कर रहा है, हम नहीं, यह भाव था।

वात्स्यायन सूत्र में कहा है कि 'रसाधिक्ये स्त्रियः पुरुषत्वमापद्यन्ते' रस अधिक होने पर स्त्रियां पुरुषत्व को प्राप्त हो जाती हैं। इसी से गोपियां स्वयं प्रिय भगवान् की प्रियायोग्य प्रतिरुद्ध मूर्ति-विपरीतता से भगवद्धर्मों में आरुढ स्वरूपवाली हो गई।

इन गोपियों में भी जिन गोपियों से भगवान् पहले कुछ थोड़े दूर थे, उन गोपियों ने जिस समय भगवद्विषयक प्रश्न किया था, उस समय भगवान् तिरोहित हो गये, इस प्रकार का ज्ञान इनको नहीं था, इसलिये ये गोपियां ही प्रश्न का उत्तर 'यह कृष्ण है' में कृष्ण होती हैं।

तदात्मकत्व में 'असी कृष्णः' यह कृष्ण है इस प्रकार का प्रयोग करना युक्त नहीं होता है, इसलिये अथवा, कहकर पक्षान्तर कहते हैं।

(योऽन्विष्यते) जिस कृष्ण को तू खोजती है, वह कृष्ण मैं हूँ।

अन्य स्त्रियोंको प्रतीति-विश्वास कराने के लिये नट कपटवेष-बनावटी रूप धारण करके भी खेलने में इस प्रकार कहता है, किन्तु गोपियां नट की तरह बनावटी वेष बनाकर नहीं बोलती हैं, किन्तु स्वतः-अपने आप ही कहती हैं, इस बात को शुकदेवजी अबला शब्द से कहते हैं। स्त्रियां अबला हैं। भगवद्रूप प्रकट करने में बलरहित हैं।

यदि कहो कि स्त्री और पुरुष में विलक्षणता स्पष्ट प्रतीत होती है, इसलिये (अहं कृष्णः) मैं कृष्ण हूँ इस प्रकार कहने से अन्य गोपियों को प्रतारकत्व-ठगना मालूम होता है।

इस शंका के उत्तर में शुकदेवजी कहते हैं (तदात्मिकाः) गोपियां स्वयं भगवद्रूप हो गई हैं। केवल भगवद्रूपत्व ही नहीं किन्तु गोपियों में भगवान् के धर्म भी आ गये, अर्थात् गोपियों के धर्म भगवद्धर्मरूप हो गये हैं। गोपियों की गति अपनी गति नहीं है, किन्तु प्रिय-भगवान् की ही गति है। इसलिये कृष्ण भगवान् की तरह गोपियों ने विहार-शरीर, वाणी और मन का व्यापार। विभ्रम-शरीर, वाणी और मन के व्यापार में प्राप्त हुए, अवान्तर विलास किये ॥ ३ ॥

(सुबो०) एवं तापलीला भगवतामुद्देशतस्तासु सम्बन्धमुक्त्वा प्रथमं तापनिवृत्त्यर्थमन्वेषणं कृतवत्य इत्याह। गुणानामिव त्रयाणामेषामन्योन्योप-मर्दनेन भगवदिच्छयाविर्भाव इति न परस्परकार्यप्रतिबन्धकता आपाततः। अतो यदा प्रपञ्चसंवेदनम्, तदा पृष्ठवत्य इत्याह गायन्त्य—इति। प्रथमतो मिश्रभावात् गायन्त्यो जाताः।

इस प्रकार भगवान् की तापादि लीला को उद्देश से (संक्षेप से) गोपियों में रसासक्ति आदि सम्बन्ध को कहकर, प्रथम ताप-निवृत्ति के लिये गोपियां भगवान् की खोज करने लगीं, इस बात को कहते हैं।

सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों की तरह रसासक्ति आदि का परस्पर उपमर्दन होने से भगवान् की इच्छा से आविर्भाव है। अर्थात् रसासक्ति से अन्वेषण, भगवल्लीला-प्रवेश से भगवत्सहस्र लीला तथा गर्वाभाव से अन्य विस्मृतिपूर्वक भगवान् की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना, ये तीनों परस्पर एक का एक उपमर्दन करके (दबा करके) भगवान् की इच्छा से प्रकट होते हैं। इसलिये कार्य में प्रतिबन्धकता नहीं होती है। इसीसे जिस समय गोपियों को प्रपञ्च का ज्ञान होता है, उस समय भगवद्विषयक प्रश्न करती हैं, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं। (गायन्त्यः) इस आगे के श्लोक में।

प्रथम गोपियां मिश्रभाव से गान करने लगीं, अर्थात् क्षण में सोना और क्षण में जगना, इस प्रकार 'सुप्तप्रबुद्ध' न्याय से बाहर का ज्ञान तथा बाहर का ज्ञान न होने से, गोपियों को संयोग-विरह-विषयक समुहालम्बन ज्ञान उत्पन्न हो गया, इसलिये मिश्रभाव से गान किया।

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिवयुरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम्।

पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥४॥

पदपदार्थ—(संहताः) मिलित गोपियां (अमुमेव) भगवान् को ही (उच्चैः) ऊँचे स्वर से (गायन्त्यः) गान करतीं (उन्मत्तकवत्) पागल की तरह (वनात्) एक वन से (वनम्) दूसरे वन में (विचिवयुः) ढूँढ़ने लगीं (आकाशवत्) आकाश की तरह (भूतेषु) सर्वप्राणियों में (अन्तरम्) भीतर (बहिः) बाहर (सन्तं) स्थित-विराजमान (पुरुषं) पुरुष को (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (पप्रच्छुः) पूछने लगीं ॥ ४ ॥

भाषार्थ—गोपियां एकत्र मिलकर सब ऊँचे स्वर से भगवान् का ही गान करती उन्मत्त

बावरे की तरह एक वन से दूसरे वन में प्रभु को खोजने लगीं, और आकाश की तरह सर्वप्राणियों के भीतर-बाहर स्थित पुरुष को उन्मत्त की तरह वनस्पतियों से पूँछने लगीं ॥ ४ ॥

यदि कहो कि प्रभु तो आनन्दरूप हैं, और गोपियों में भी आनन्द रूप भाव थे, इसलिये गोपियों में सर्वदा सदानन्द अवस्था ही उचित है, वक्ष्यमाण दुःखावस्था उचित नहीं है ।

इस शंका का उत्तर देते श्रीमहाप्रभुजी उक्त अवस्था का स्वरूप साढ़े तीन कारिकाओं से बतलाते हैं ।

(सुबो०) शब्दो हि धूमवल्लोके बाह्याभ्यन्तरयोगतः ।

विराजते विनिर्गच्छन् तारतम्यं च गच्छति ।

अतोऽत्र धर्मिधर्माणामाधिक्याज्ज्ञानमुत्तमम् ॥ १ ॥

यथा भगवतो गानात् स्वयमागत्य संगताः ।

एवं स्वयं भगवत् आगत्यर्थं जगुः स्फुटम् ॥ २ ॥

कृत्रिमत्वात्तु भावस्य मिलिताश्च स्वतोऽन्यतः ।

ततो विशेषविज्ञानात् तिरोभावोऽस्फुरत् स्फुटः ॥ ३ ॥

उक्त कारिकाओं का आशय टिप्पणी में श्रीविठ्ठलनाथजी इस प्रकार कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ काल से कृष्णावतारकाल पर्यन्त भगवान् ने स्वरूपानन्द प्रकट नहीं किया ।

स्वरूपानन्द स्वरूपात्मक है, इसके प्राकट्य विना स्वरूपानन्द का अनुभव होना सम्भव नहीं होता है ।

‘तथा परमहंसानाम्’ इस वाक्यानुसार जिस प्रकार के भक्तियोग से स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है, उस प्रकार का स्वरूपानन्द प्रकट करने के लिये ‘अथ सर्वगुणोपेतः’ इत्यादि से श्रीभागवत में कहे हुये काल में पुरुषोत्तम का अवतार हुआ है ।

यदि कहो कि प्रभु के प्राकट्य में दुःखरूप अनर्थ की आपत्ति प्राप्त होगी, इसलिये उक्त आपत्तिभय से श्रुति आदि में कहे साधनों से साध्य स्वरूपानन्द है, भक्तियोग स्वरूपानन्द का साधन नहीं है, इस बात को भी कह नहीं सकते । इसीसे ‘तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः’ (भा० १।८।२०) इस वाक्य में कुन्ती ने कहा है कि पूर्ण साधनवालों को भी यह दुर्लभ है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये ही परमहंस आदि अधिकांश कारियों के विशेषण कहे हैं ।

इस प्रकार भगवान् का स्वरूप रसात्मक होने से यहां सर्वभाव रसात्मक ही मानने चाहिये ।

यदि रसात्मक नहीं मानेंगे तो इस लीला के श्रवणमात्र से स्नेह की उत्पत्ति नहीं होगी । इस प्रकार भगवद्रस वार्ता को न जाननेवाले आपकी यह शंका कण्टकवेधन्याय से कामिनी स्त्रियों के कुचकुम्भ में नखवेध को भी दुःखहेतु साधन बतलानेवाली होगी । इससे विशेष क्या कहा जाय ।

आपसे विरह-दुःखावस्था का स्वरूप कहते हैं (शब्दो हि धूमवल्लोके) भक्तों का भगवद्-गुणगानात्मक शब्द, अगर आदि के धूम की तरह निर्गत हुआ, लोक में बाहर-भीतर योग से विराजता है, और प्रतिक्षण विचित्र होता जाता है ।

यहाँ तापकत्व से विरहाग्नि का ग्रहण किया है । जिस प्रकार लोक में बाह्य अग्नि, आर्द्र-गीले ईंधन से संयुक्त होता है, और वह उस लकड़ी आदि गीले ईंधन में जो अग्नि है, उसको प्रकटकरने की चेष्टा करता है, उस समय गोला ईंधन प्रतिबन्ध करता है, और असमर्थ होता हुआ धूम को ही उत्पन्न करता है । उसी प्रकार यह विरहाग्नि भी गोपियों को जिस समय बाहर का ज्ञान होता है, उस समय सर्वथा भगवान् तिरोहित हो गये, इस प्रकार की स्फूर्ति करता है । बाहर का ज्ञान गीले ईंधन स्थानीय है, इसलिये जिस समय बाहर का ज्ञान होता है, उस समय विरहाग्नि भी गानरूप धूम को उत्पन्न करता है । इस प्रकार विरहाग्नि का धूम गानरूप शब्द ही है, इसलिये आधी जली लकड़ी की तरह गोपियों की अवस्था सिद्ध होती है । इसी अवस्था को ‘बाह्याभ्यन्तरयोगतः’ इस पद से कहा है । नहीं तो एकदम पूर्ण अग्नि प्रकट हो जाय तो क्षणमात्र में सब को भस्म कर दे ।

जिस प्रकार धूम का प्रथम एक रूप ही होता है, फिर अनेक प्रकार का हो जाता है, उसी प्रकार गान में भी उत्तरोत्तर विचित्र भाव उत्पन्न होने से विचित्र हो जाता है, इस बात को ‘विराजते’ इस पद से कहा है ।

जिस प्रकार अगर आदि से निकलते धूम की शोभा होती है, उसी प्रकार इस शब्द की गानरूपता है, इस बात को सूचन करने के लिये (विराजते) यह पद कहा है । कारण कि भगवान् रसात्मक हैं, और भाव भी रसात्मक है, इसलिये अखण्ड द्वैत होने से स्वामिनियों का ज्ञान उत्तम है, इस बात को आगे स्फुट कहते हैं, (धर्मिधर्माणाम्) ये भाव स्थायिभाव के व्यभिचारी भाव हैं ।

धर्मों, श्रीकृष्ण के धर्म-गति, स्मित, इत्यादि तथा विहार-विभ्रमादि जीव और जीव के धर्मों की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं । अर्थात् ‘असावहं’ कृष्ण मैं हूँ, इस प्रकार का स्वामिनियों का ज्ञान उत्तम है ।

(कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानम्) इस वाक्य से अखण्ड द्वैतमान जीवधर्म है, जीव चित्प्रधान है । प्रकृत गोपियों के प्रसङ्ग में तो स्वामिनियों का ज्ञान वरणकलम्य है, और गोपियां भगवत्पर हैं, विषय भी भगवत्पर ही हैं, इसलिये जीवधर्म अखण्ड द्वैतमान से गोपियों का ज्ञान उत्तम है ।

अथवा जिस प्रकार से प्रिय की तरह विहार आदि गोपियों ने किया, उसी प्रकार यह गान भी किया, इस बात को कहते हैं, (यथा भगवतः) जिस प्रकार भगवान् के गान से गोपियां स्वयं आकर संगत हो गईं, उसी प्रकार हमारे गान से भगवान् स्वयं आकर हमसे संगत हो जायेंगे, इस उद्देश से गोपियों ने स्फुट गान किया ।

प्रीति विषयों का आकारण भगवद्धर्म यहां कहा है, इसी से भगवान् गान से उस समय गोपियों के आगमन की तरह इस समय प्रभु का आगमन नहीं हुआ है, कारण कि आगमन को स्वधर्मता है । भगवान् कोतुक के लिये यहां कहीं छिपे हुये हैं, और रसपरवश हैं, इसलिये हमारे गान से आ जायेंगे, इस बात को गोपियां जानकर गान करने लगीं ।

इस पक्ष में गोपियों को बाहर का ज्ञान है, परन्तु भगवान् का दर्शन न होने के कारण उत्पन्न हुई आर्ति से गान करती हुई, यह जानना चाहिये ।

सर्वथा बाहर का ज्ञान होने पर ही एकत्रित होकर ढूँढना संभव हो सकता है, इसमें हेतु कहते हैं (कृत्रिमत्वात्) गोपियों में भगवद्भाव विरह से उत्पन्न कृत्रिम है, इसलिये तिरोधान आवश्यक है, इसमें हेतु विचित्र भाववाली गोपियों का मिलन है, इस मिलन को कहते हैं (मिलिताश्च स्वतोऽन्यतः) विचित्रभाववाली गोपियां सब परस्पर मिल गईं, इसलिये स्वयं तथा अन्य गोपियों के द्वारा विशेष विज्ञान से भगवान् के तिरोधान की स्फूर्ति हो गई।

(यद्वा) दूसरा अर्थ-जिस समय गोपियों को अपने प्रिय का दर्शन नहीं हुआ, उस समय उत्कट भाव से केवल प्रिय की स्फूर्ति ही हुई।

यह भगवद्भाव कृत्रिम था। गोपियों का मिलन दो प्रकार से हुआ, एक स्वतः स्वयं तथा दूसरा 'अन्यतः' दूसरे के द्वारा।

जिन गोपियों में भगवद्भाव प्राप्त हुआ था, वे गोपियां दूसरी गोपियों को सखी मानकर आश्लेषादि क्रिया करती हैं, इसको ही स्वतः मिलन कहते हैं।

जिस समय भगवद्भाववाली गोपी से आलिङ्गन आदि करती है, उस समय अन्य गोपी में भगवद्भावबुद्धि नहीं है, इसलिये भगवद्भाव के प्रतिकूल आचरण करती हैं, अर्थात् आश्लेषादि नहीं करने देती हैं, उस समय पूर्वभगवद्भाववाली गोपी को विशेष विज्ञान होता है, अर्थात् अपनी स्थिति का यथार्थमान होता है।

अन्य भी गोपी भगवद्भावापन्न-जो अपने को भगवान् मानती थी, उसको अपनी सखी मानकर मिले, तब उसको 'अन्यतः' मिलन कहते हैं।

इस पक्ष में दूसरी गोपी भगवान् माननेवाली इस गोपी को भगवान् नहीं मानती है, इस गोपी को भी विशेष विज्ञान होता है।

इस प्रकार विशेष विज्ञान होने से भगवान् के तिरोधान की स्पष्ट स्फूर्ति होती है। यदि कहो कि जिस प्रकार आगे श्लोक १५ में पूतना के प्राण-पान करनेवाली लीला में, प्रभुभाव को प्राप्त हुई गोपी ही, पूतना की तरह आचरण करनेवाली गोपी का ही स्तनपान करनेवाली हुई, उसी प्रकार यहां भी क्यों नहीं किया। यदि उक्त प्रकार से यहां भी लीला होती, तो विशेष विज्ञान नहीं होता। इस बात को कहते हैं (कृत्रिमत्वात्) भाव कृत्रिम है।

आगे लीला का आविर्भाव कहना है, इसलिये जिस प्रकार की लीला है, उसी प्रकार की ही प्रकट होती है, इसलिये सब बात उपयुक्त हैं।

प्रकृत प्रसङ्ग में तो प्रिय का दर्शन न होने पर उत्कटभाव उत्पन्न हो जाता है, और उत्कटभाव से प्रियमात्र की स्फूर्ति होती है, प्रियतम मात्र की स्फूर्ति से अपने प्रियत्व से मान है, इसलिये इस भाव को कृत्रिमत्व है। इसलिये—इसभाव को कृत्रिमत्व होने से, जिस समय इस भाव से उक्त रीति द्वारा अन्य ज्ञान होता है, उस समय तिरोभाव की स्फूर्ति होती है। यह अर्थ हुआ ॥ ३३ ॥

(सुबो०) तदा विचिक्युः क भगवान्स्तीत्यन्वेषणं कृतवत्यः। तत्रापि न सर्वात्मना तिरोभावः स्फुरित इति अन्वेषणेऽपि अनियतवृत्तयो जाता इत्याह उन्मत्तकवदिति। अज्ञात उन्मत्त उन्मत्तकः, कुत्सितो वा। स यथा स्वपरविवेकं न जानाति, वस्त्रादिरहितश्च भवति। एवमवस्थां प्राप्ताः। एकस्माद्विना

न्तरं गताः। किञ्च, न केवलमन्वेषणमात्रम्, किन्तु उन्मत्तकवत् पृच्छन्ति स्मेत्याह—पप्रच्छुरिति। शुको हि भगवत्स्वरूपाभिज्ञः आनन्दमात्रकरपादमुखो-दरादि कृष्णं सर्वत्रैव विद्यमानं पश्यति। यदि भक्तिसहितं ज्ञानमाविर्भवति, तदा अन्योऽपि पश्यति। सर्वत्रैव तिरोधाननाशात्। तादृशमेताः परिच्छिन्नं मत्वा पृच्छन्तीति तासामज्ञानकथनार्थमाह—आकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्त-मिति। बाह्याभ्यन्तरविवेकहेतुराकाश इति पूर्वं निरूपितम्। तद्वदेवायमपि। अत एवाकाशस्य ब्रह्मलिङ्गत्वम्। एतादृशं सर्वत्रैव विद्यमानमदृष्टा, आत्मनि विचारं त्यक्त्वा, चेतनांश्चापृष्टा स्थावरान् पृच्छन्ति। वनस्पतीन् पप्रच्छुरिति। ते हि वैष्णवा इति। मूढा अपि वैष्णवा एव हि विष्णुगतिं जानन्ति, न त्वत्यन्तं निपुणा अप्यवैष्णवाः ॥ ४ ॥

उस समय मिलकर गान करती हुई गोपियां भगवान् को ढूँढती हुईं, अर्थात् भगवान् कहां हैं, इस प्रकार अन्वेषण करने लग गईं।

यद्यपि अन्वेषण करने में गोपियों को बाहर का ज्ञान था, किन्तु जिस प्रकार मादक द्रव्य के स्वभाव से पुरुष उन्मत्त—विवेकरहित हो जाता है, उसी प्रकार विरह भाव के स्वभाव से उत्पन्न हुई विकलता से गोपियों को भगवान् का सर्वात्मा से तिरोभाव स्फुरित नहीं हुआ। इसलिये ढूँढने में भी गोपियों के चित्त की वृत्तियां नियत-ठिकाने पर नहीं रहीं, और की ओर हो गई, इस बात को कहते हैं, (उन्मत्तकवत्) जिसका उन्माद ज्ञात नहीं होता है, किसी समय अन्यथा कहता है, और किसी समय ठीक-ठीक बोलता है, उसको उन्मत्तक कहते हैं। उसी प्रकार गोपियां भी यहां कभी अन्वेषण करती हैं, और कभी नहीं करती हैं।

मूल में (विचिक्युः) यह पद कहा है, इसलिये यहां अन्वेषण ही वाक्यार्थ है। अन्वेषण का अभाव कहना युक्त नहीं है, इस आशय से पक्षान्तर सुबोधिनी में (कुत्सितो वा) कहा है। जिस प्रकार कुत्सित उन्मादवाला यह अपना है, यह पराया है, इस प्रकार का विवेक नहीं जानता है, वस्त्रादिरहित भी हो जाता है, ठीक इसी प्रकार की अवस्था गोपियों को प्राप्त हो गई और गोपियां ढूँढते-ढूँढते, एक वन से दूसरे वन में चली गईं।

गोपियों ने केवल अन्वेषण ही नहीं किया, किन्तु उन्मत्तक की तरह पूछने भी लग गईं, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं (पप्रच्छुः) शुकदेव जी भगवान् के स्वरूप को जानने वाले हैं, ये आनन्द मात्र कर-पाद-मुखोदरादि कृष्ण को सर्वत्र ही विद्यमान देखते हैं।

जिस समय भक्तिसहित ज्ञान का आविर्भाव होता है, उस समय अन्य भी कृष्ण को सर्वत्र विद्यमान देखता है। कारण कि सर्वत्र तिरोधान का नाश हो जाता है। इस प्रकार से कृष्ण को गोपियां परिच्छिन्न मानकर पूछती हैं, अतः गोपियों के अज्ञान को कहते हैं (आकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तम्) आकाश की तरह प्राणियों में भीतर-बाहर स्थित पुरुष को गोपियां वनस्पतियों से पूछने लगीं।

आकाश बाहिर तथा भीतर के विवेक में हेतु है, अर्थात् आकाश बाहर-भीतर का विवेक करता है। इस बात को तृतीय स्कंध में पूर्वं निरूपण कर आये हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण भी बाहर तथा भीतर दोनों का विवेक करने वाले हैं, इसी से आकाश को ब्रह्मलिङ्ग माना है।

इस प्रकार सर्वत्र ही विद्यमान कृष्ण को न देखकर, तथा अपनी आत्मा में भी विचार न करके, और चेतन जीवों से भी न पूछकर, गोपियां स्थावर वृक्षों से पूछती हैं, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं (वनस्पतीन्पप्रच्छुः) गोपियों ने वनस्पतियों से पूछा ।

वनस्पति वैष्णव हैं, इसलिये मूढ भी, वैष्णव ही विष्णु-व्यापक भगवान् की गति की जानते हैं, अवैष्णव अत्यन्त निपुण भी विष्णुगति नहीं जानते हैं, इस बात को सूचन करने के लिये गोपियों ने स्थावरों से पूछा है ।

यदि कहो कि भागवत एकादशस्कंध में भगवान् गोपियों को सर्व से उत्तम कहा है 'मत्स्वरूपविदोऽत्रलाः' मेरे स्वरूप को गोपियां जानने वाली हैं, इस प्रकार भी कहा है, और यहां तो मूल सुबोधिनी में भक्त की अपेक्षा शुकदेवजी का उत्कर्ष वर्णन प्रतीत होता है, इसलिये मूल से विरोध मालूम स्पष्ट हो रहा है, 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' ग्रन्थ में श्रीमहाप्रभु जी ने 'बुद्ध्याः प्रेम्णातिदुर्लभाः' शुद्ध प्रेमवाले भक्त अति दुर्लभ बतलाये हैं । तथा 'एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः । यो दारागारपुत्रासप्राणान् वित्तमिमं परम् ॥ हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदा ।' जो स्त्री, घर, पुत्र, आस, प्राण, धन और इस लोक, तथा परलोक को छोड़कर कृष्ण में पर भाव को प्राप्त हुआ, इस प्रकार का पुरुष करोड़ों में भी सुदुर्लभ है । इस निबन्ध वाक्य से भी विरोध प्रतीत होता है ।

इस प्रकार के विरोध का परिहार करने के लिये श्री गोविन्दलनाथ जी टिप्पणी में कहते हैं, 'अत्रायं भावः' यहां यह भाव है ।

'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।

न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद्विद्वि ॥'

मदात्मा भक्त को ज्ञान और वैराग्य यहां प्रायः श्रेयस्कर नहीं है ।

इस प्रकार उक्त भगवद्वाक्य से भक्तिमार्ग में ज्ञान-प्रतिबन्धक माना गया है । यह बात युक्त भी है, कारण कि जिस समय आत्मत्व से भगवान् का ज्ञान हो जाता है, उस समय भगवान् के दर्शन आदि की इच्छा से उत्पन्न आति का होना असंभव होता है, और आति बिना प्रभु का प्राकट्य होना भी असंभव हो जाता है, इसलिये उक्त ज्ञान से सर्वस्व-नाश ही होता है । जहां पर काल आदि का नियन्ता ज्ञानात्मक प्रतिबन्धक होता है, वहां पर भी कंसादिभयज्ञान रूप स्नेहकार्य ही देवकी जी में उत्पन्न हुआ था, फिर प्रतिबन्धकरहित भक्तों में स्नेहमात्र कार्य सम्भव हो तो इसमें क्या कहने की बात है । अर्थात् जब इस प्रकार शुद्ध प्रेमभक्त नहीं, किन्तु ज्ञानमिश्र भक्त कहलाते हैं, तब शुद्ध भक्त की क्या बात है, इस प्रकार कैमुतिक-न्याय यहां कहा है । इसी बात को जापन करने के लिये ही शुकदेव जी का उत्कर्ष यहां बतलाया है ।

अब भक्ति की पराकाष्ठा जापन करने के लिये कहते हैं ।

देवकी जी में देवकीधर्मरूप ज्ञान प्रतिबन्धक था, और यहां तो मूल में 'आकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं' इत्यादि विशेषण से भगवद्धर्मरूप ज्ञान कहा है, तो जब भगवद्धर्मरूप ज्ञान जहां प्रतिबन्धक नहीं है, वहां और धर्म प्रतिबन्धक कैसे हो सकता है, इस बात को जापन करने के लिये उक्त विशेषण है । अर्थात् प्रतिबन्धक हेतु का सत्त्व होने पर भी गोपियों में भगवद्धर्मरूप ज्ञान नहीं है । इसलिये भक्ति की ही उत्तमता सूचन की है, इसी बात को मूल में 'तासामज्ञान-कथनार्थम्' गोपियों को अज्ञान है कहने के लिये 'आकाशवत्' इत्यादि कहा है, इसलिये विरोध नहीं है ।

यदि कहो कि 'परिनिष्ठितो नैर्गुण्ये' निर्गुण ब्रह्म में निष्ठावाले शुकदेवजी का चित्त भगवत्लीलाओं ने ग्रहण कर लिया । इस वाक्य से शुकदेवजी में भी भक्तिका उद्रेक था, इसलिये शुकदेवजी में भी ज्ञान का अभाव कहना उचित है, फिर ज्ञानमिश्र भक्ति क्यों कहते हो ?

इस शंका के उत्तर में शुकदेवजी के अधिकार-स्वरूप का परिचय कराते हैं । शुकदेवजी को इस प्रकार का ज्ञान नहीं हो तो, फिर इस कथा के कहने की भी शक्ति नहीं हो, एवं इनका जीवन भी नहीं हो, इसीलिये शुकदेवजी में ज्ञानमिश्रित भक्ति है, यह तात्पर्य जानना चाहिये ।

यदि शुकदेवजी में ज्ञान न हो, और शुद्ध भक्ति ही हो तो, इस प्रकार के भाव से श्रीभागवत का प्रचार ही नहीं होता । अतः शुकदेवजी का स्वरूप इस प्रकार का शाब्द ज्ञान वाला है, भक्तों की तरह अनुभव नहीं है, इतना ही शुकदेवजी का अधिकार है, इसीलिये शुकदेवजी में ज्ञान भक्तिका उद्रेक है ।

इसी बातको आचार्यों ने 'गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते । यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥' जिस प्रकार शुक आदि को गोविन्द के गुणगान करने में सुख की प्राप्ति होती है, उस प्रकार आत्मा में नहीं, फिर अन्य से कैसे हो सकती है ।

अब पूर्व वर्णन किया, तथा हाल में वर्णन किया, तात्पर्य दृढ करने के लिये श्रीविठ्ठलनाथजी मूल में 'भूतेषु' इस पद में भूत पदका तात्पर्य कहते हैं ।

यहां 'सर्वेषु' इत्यादि पद को न कहकर, जो नपुंसकलिङ्ग भूत-पद का प्रयोग किया है, इससे प्रभु का पुरुषत्व सूचन किया है ।

जिस प्रकार नपुंसक को पुरुष के निकट में रस की उत्पत्ति नहीं होती, स्त्रियों को ही होती है, उस प्रकार प्रभुके सान्निध्य में भी भूतों-प्राणियों को रस उत्पन्न कहीं होता है, गोपियों को तो रसोत्पत्ति युक्त ही है । यह भाव जापन किया है । इसी से गोपियों को ही प्रभु के रस का परिज्ञान है ।

यदि कहो कि भक्तों को ही प्रभुरस का ज्ञान है, तो सर्वदा ही इस प्रकार का भाव रहना चाहिये । इसके उत्तर में कहते हैं,

गोपियों में इतनी बात विशेष है कि बाहर सम्बन्ध में, और भीतर सम्बन्ध में विलक्षण भाव उत्पन्न होते हैं ।

यदि कहो कि भगवान् ही पुरुष हैं, तो स्त्रीत्व जिसमें है, उसी को रसका ज्ञान होना उचित है, केवल गोपियों को ही नहीं ।

इसका उत्तर यही है कि पहिले कात्यायनी-स्वरूप-निरूपण-प्रस्तावमें कहा है कि यहां इस रस में स्त्रीत्व विवक्षित है, इसलिये हमारा कहा काल्पनिक नहीं है, यह भाव 'भूत' पद के प्रयोग से सिद्ध है, इसलिये, किसी शंका का यहां लेशमात्र भी नहीं है ।

इस प्रकार अधिकार का तारतम्य विवेचन करके, अब व्याख्यान-प्रतिपादन से, उसको दृढ करते हैं ।

गोपियों को भगवान् का दर्शन होने पर ही, भगवान् बाहर भी हैं, और भीतर भी हैं, इस प्रकार ज्ञान है । अब इस समय भगवान् का दर्शन नहीं हो रहा है, इसलिये बाहर, भीतर का ज्ञान भी नहीं है । अतः भीतर का अनुसन्धान न होना उचित ही है । परन्तु गोपियों को

भगवान् की प्राप्ति अपेक्षित है, इसलिये बाहिर का भी यथावत् अनुमन्धान न होने से जहाँ तहाँ प्रश्न किया ।

गोपियोंमें 'स एवावस्तात्' इत्यादि श्रुति में प्रतिपादन किया बाहर-भीतर ज्ञान का अभाव रूप व्यभिचारी भाव स्फुट हुआ है, शुकदेवजी में नहीं हुआ । इस बात का प्रथम विशेषण आकाश से निश्चय होता है ।

तृतीय स्कंध में 'भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च' कपिलदेवजी ने यह आकाश का लक्षण कहा है, और शुकदेवजी ने दृष्टान्त में आकाश का निरूपण करके भीतर-बाहर व्यापकत्व कहा है, इसलिये मालूम होता है कि शुकदेवजी को भीतर-बाहर व्यापकत्व का अनु-सन्धान है, अतः शुद्ध भक्त गोपियों में और शुकदेवजी में अधिकारभेद स्पष्ट ही है ।

इसीसे शुकदेवजी कहते हैं 'आकाशवत्' सर्वत्र विद्यमान पुरुष को । 'पुरुष' पुरि-हृदयाकाश में शयन करनेवाला, पुरुष कहलाता है ।

अब प्रकारान्तर से अधिकार का तारतम्य कहते हैं ।

प्रकरण यहाँ भक्तिमार्ग का है, इसलिये भगवान् ने जिन जीवों को बाहर भावित कर दिया, वे सब जीव 'बहिर्भूत' पद से कहलाते हैं । अर्थात् बहिर्भावित जीवों में ही आकाशवत् निराकार की तरह भगवान् परीक्षता से स्थित है, उसमें भी भीतर ही स्थित है, बाहर प्रकट होकर कभी भी स्थित नहीं हैं । वास्तव में तो भक्तिमार्गीयों में भगवान् पुरुषत्व रूप से साकार बाहर प्रकट पतिरूप है । इसलिये भीतर ज्ञान होने पर भी बाहिर ढूँढना उचित ही है ।

ब्रह्मसूत्र ३।३।३३ में 'ओपसद न्याय' कहा है, उसमें यजमान जिस ऋत्विज का जिस कार्य के लिये वरण करता है, वही यज्ञ में उस कार्य को करता है, उक्त न्यायानुसार भगवान् के विचार से अधिकार का तारतम्य है ।

यद्यपि शुकदेवजी भक्त हैं, तथापि गोपियों के सदृश अधिकार नहीं हैं । इसीलिये शुकदेवजी को स्वस्थता आदि रही, गोपियों को नहीं रही ।

भीतर का ज्ञान तो दोनों को ही बराबर है, किन्तु केवल गोपियों का अधिकार सामर्थ्य से दूर हो गया, और शुकदेवजी का नहीं हुआ । यह सब बात ओपसद न्याय से सहज में सिद्ध हो जाती है, और कोई विरोध नहीं होता है ।

स्त्रियों को अपने पति का भीतर अन्वेषण करना, और भीतर स्थिति का ज्ञान होना स्वस्थता में हेतु नहीं है, और न पुरुषार्थ साधक हो होता है । इस प्रकार मूल का अर्थ है ॥ ४ ॥

(सुबो०) तत्रापि प्रथमं विष्णुब्रह्मशिवतां लोके प्राप्ताः अश्वत्थप्लक्ष-वटास्तान् पृच्छन्ति दृष्ट इति ।

वनस्पति मात्र वैष्णव हैं, फिर प्रथम अश्वत्थ आदि से गोपियों ने क्यों पूछा । इसमें हेतु कहते हैं, कि लोक में पीपल, विष्णु और पाखर, ब्रह्मा तथा बड़, शिव हो गये हैं, इसलिये प्रथम अश्वत्थ आदि से गोपियाँ प्रश्न करती हैं ।

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः ।
नन्दसूनुर्गतो हत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—(हे अश्वत्थ) हे पीपल (हे प्लक्ष) हे पाखर (हे न्यग्रोध) हे बड़ (वः) तुम्हारा संबंधी कृष्ण (दृष्टः) आपने देखा (कच्चिद्) प्रश्न संभावना में (नन्दसूनुः) नन्दरायजी का पुत्र (प्रेमहासावलोकनैः) प्रेमपूर्वक हास्य, और अवलोकन से (नः) हमारा सब का (मनः) मनको (हत्वा) हरण-चोरी करके (गतः) गया है ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे पीपल ! हे पाखर ! हे बड़ ! तुम्हारा सम्बंधी कृष्ण तुमने देखा है क्या ? वह नन्दरायजी का पुत्र प्रेमपूर्वक हास्य तथा अवलोकन से हमारा मन चोरी कर गया है ॥ ५ ॥

(सुबो०) अश्वत्थो हि वैष्णवो वृक्षः, विष्णुवत् लोके सन्मानमर्हतीति प्रायेणायं ज्ञास्यति, तत्राप्ययं स्तब्धः स्वोत्तमभावनया न ज्ञास्यतीति तदर्थं हेतुभूतं नामाह । अश्वस्तिष्ठत्यस्मिन्निति अश्वत्थः । लोकास्त्वश्वे तिष्ठन्ति, अस्मिस्त्वश्वस्तिष्ठतीति । 'अश्वो रूपं कृत्वा यदश्वत्थेऽतिष्ठत्' इति श्रुतेः । तर्हि प्राजापत्योऽश्वत्थ इति तदपेक्षया प्राजापत्यो वृक्षः द्रष्टव्य इति प्लक्षं पृच्छन्ति प्लक्षेति । तत्रापि तस्याज्ञानं नाम्ना वदन्ति । अयं हि मनुष्याणामज्ञानार्थं पावित्र्यक्षारणादुत्पन्नः अपवित्रः लोकानामज्ञानहेतुरेव, अतः कथं वक्ष्यतीति । 'पशुना वै देवाः स्वर्गं लोकमायन्, तेऽमन्यन्त मनुष्या नीत्वा भविष्यन्तीति, तस्य शिरश्छित्वा मेघं प्राक्षारयन्, स प्लक्षोऽभवदिति' श्रुतेः । तर्हि कर्मसम्बन्धरहितः वैष्णवधर्मोपदेष्टा शिवः प्रष्टव्य इति तद्रूपं न्यग्रोधं पृच्छन्ति न्यग्रोधेति । तस्यापि दूषणम् । नितरामग्राण्यधो यस्येति । अतोऽन्ते हीनभावं गच्छतीति अग्रे गमनहेतुर्भविष्यति । वः गुष्माकं सम्बन्धी भवद्भिः किं दृष्टः । प्रश्नसंभावनायां कच्चिदिति । दृष्टोऽस्माभिः पूर्वम्, सर्व-देव वा, ततः किं भवतीनामिति चेत्, नो मनः हत्वा गत इति । ननु स विष्णुः कथं चोर्यं करिष्यतीति, तत्राहुः नन्दसूनुरिति । नन्दस्य चेत् पुत्रो जातः, तदा तत्कार्यं कर्तव्यम् । ते हि दधिदुग्धादिचौर्यं कुर्वन्ति । अतो मनश्चौर्यमपि नात्यन्तं विरोधि । भर्तृनामाग्रहणं वा । अत एव हरणपर्यन्तं प्रभुपुत्र इति न जातः । अन्यथा भोगं परित्यज्य कथं गच्छेत् । नन्वन्तःस्थितं मनः कथं गृहीत-मित्याशंक्य, त्रिविधं मनः त्रिभिरपि धर्मैर्गृहीतवानित्याह प्रेमहासावलोकनै-रिति । प्रेमपूर्वकहास्यसहितान्यवलोकनानि मनोहराणि । तमोरजःसत्त्व-भावा उक्ताः । प्रेम्णा अन्तः प्रवेशः, हास्येन ग्रहणम्, अवलोकनेन हरण-मिति ॥ ५ ॥

पीपल वैष्णव वृक्ष है, लोक में पीपल का विष्णु की तरह सन्मान-पूजन होता है, इस लिये प्राय करके पीपल भगवान् को जानता होगा । गोपियाँ इसके नाम से प्रश्न का उत्तर करती हैं ।

यद्यपि पीपल वृष्णव होने से विष्णुगति जानता होगा, तथापि यह स्तब्ध एक स्थान में रहने वाला है, अपने को उत्तम जानता है, इसलिये भगवान को नहीं जानता होगा। इस बात को सूचन करने के लिये गोपियां हेतुभूत नाम की व्यत्पत्ति करती हैं। अश्व स्थित रहता है जिसमें वह अश्वत्थ है।

लोक तो अश्व पर बैठते हैं, और अश्वत्थ में अश्व स्थित है। इसमें श्रुति का प्रमाण कहते हैं 'अश्वो रूपं कृत्वा' इत्यादि, अश्वरूप को धारण करके जो अश्वत्थ में रहा, इसलिये अश्वत्थ-पीपल कहा जाता है।

तो फिर प्राजापत्य-प्रजापति देवतावाला वृक्ष अश्वत्थ है, इसलिये पूर्वकथित पीपल की अपेक्षा प्राजापति देवता वाला वृक्ष पूछना चाहिये। इस प्रकार विचार गोपियां प्लक्ष-पाखर को पूछती हैं।

इसमें भी पाखर का अज्ञान नाम से कहती हैं।

यदि कहो कि उक्त वृक्ष बड़े हैं, इसलिये गोपियों ने इनसे पूछा है, उत्तर न देने पर भी इन वृक्षों में दूषण नहीं देना चाहिये, अपने में ही दूषण का आरोप करना चाहिये।

तब इस शंका के उत्तर में कहते हैं। यह पाखर मनुष्यों में अज्ञान के लिये, अर्थात् मनुष्य अज्ञान में रहे, इसके लिये पवित्रता, स्नान आदि दूर करने के अनन्तर उत्पन्न हुआ है, इसलिये यह अपवित्र है, और लोकों को अज्ञान का ही हेतु है, अतः उत्तर क्यों देगा। इसमें भी श्रुति प्रमाण देते हैं। 'पशुना वै' इत्यादि। पशुद्वारा देवता स्वर्गलोक में गये, देवताओं ने विचार किया, कि मनुष्य अपने पीछे आयेगे, इसलिये देवताओं ने पशु का माथा काटकर लोह की धारा बहा दी, वह रक्त प्लक्षवृक्ष हो गया।

तो फिर कर्मसंबंध रहित, और वैष्णव धर्म का उपदेश करनेवाले शिव को पूछना चाहिये। इस प्रकार विचार कर गोपियां शिवरूप वटवृक्ष से पूछती हैं। इस बड़े के वृक्ष में भी दोष है, 'न्यग्रोध' है, इसके अग्र भाग नीचे की तरफ हैं, इसलिये अन्त में हीनभाव को प्राप्त होता है, इस प्रकार उक्त दूषणों के कारण इन वृक्षों का त्याग करके भगवान आगे पधारे हैं।

यह कारण भगवान के आगे गमन में मालूम होता है। तुम्हारा सम्बन्धी भगवान क्या तुमने देखा है, इस प्रकार प्रश्न करने लग गई।

वृक्षों ने भगवान का दर्शन किया होता, तो भगवान वृक्षों के दर्शनका विषय होता, और इनका सम्बन्धी माना जाता। कच्चित् शब्द प्रश्न-संभावना में है, गोपियां कहती हैं कि पहले हमने भी भगवान का दर्शन किया था,।

अथवा सर्वदा भगवान का दर्शन पहले हम भी करती थीं।

यदि वृक्ष कहें कि गोपियों! भगवान से तुमको क्या प्रयोजन है।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं (नो मनो हत्वा गतः) हमारे मन का हरण करके गया है।

यदि कहो कि विष्णु-व्यापक है, चोरी क्यों करेगा।

तब इसके उत्तर में कहते हैं कि (नन्दसूनुः) वह नन्द का पुत्र है, जिस समय भगवान नन्द का पुत्र होता है, उस समय नन्द का कार्य करता है।

नन्दादिलोक दही-दुध आदि की चोरी करते हैं, इसलिये हमारे मन की चोरी करने में अत्यन्त विरोध नहीं है।

यदि कहो कि गोपियों! तुमने अपने मन की रक्षा क्यों नहीं की?

इसके उत्तर में पक्षान्तर कहते हैं। (अथवा) भगवान गोपियों के पति हैं, पतिका नाम नहीं लिया जाता है, इस प्रकार स्मृति कहती है—'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥' अपना नाम, अपने गुरुजनों का नाम, अत्यन्तकृपण का नाम और बड़े पुत्र का नाम, अपनी स्त्री का नाम, श्रेय की इच्छा करनेवाला पुरुष नहीं ले। इत्यादि शास्त्रीरिति के अनुसार गोपियों ने अपने पति भगवान् का नाम न लेकर 'नन्दसूनुः' नन्द का पुत्र कहा है।

उक्त कहने से यह भी मालूम होता है, कि जबतक मन हरण नहीं किया था, तबतक भगवान् को गोपियों ने प्रभु-स्वामी का पुत्र जाना था, चोर नहीं जाना था, कारण कि स्वामी-पुत्र चोरी नहीं करता है। किन्तु मनहरण करने के अनन्तर भगवान् चोर है, गोपियां जान गईं।

यदि भगवान् चोर नहीं है, इस प्रकार मान लिया जाये तो भोग का त्याग करके क्यों चला जाता? भोग त्याग करके चला जाना ही भगवान् को चोर सिद्ध करता है, यदि कहो कि भगवान् ने भीतर स्थित गोपियों का मन कैसे हरण कर लिया?

इसके उत्तर में कहते हैं कि, तीन प्रकार का मन गोपियों का भगवान् ने तीन धर्मों से ग्रहण कर लिया, इस बात को आगे कहते हैं। (प्रेमहासावलोकनैः) प्रेमपूर्वक हास्यसहित अवलोकन से भगवान् ने मन का हरण कर लिया है। इस जगह तम, रज, और सत्त्व, तीनों भावों का वर्णन किया है, प्रेम तमभाव है, हास्य रजभाव है और अवलोकन सत्त्वभाव है।

जिसका मन जिस प्रकार का था, उसका मन भगवान् ने उसी प्रकार से हरण कर लिया। अर्थात् तमःप्रधान मन को प्रेम की प्रधानता से भगवान् हरण करता है, और रज तथा सत्त्व-प्रधान मन को हास्य, और अवलोकन से हरण करता है। प्रेम से भीतर प्रवेश करता है, हास्य से मन का ग्रहण करता है, और अवलोकन से हरण करता है ॥ ५ ॥

(सुबो०) तेषामनुत्तरं मत्वा, एते अमुख्यफला महान्तोऽपि काकसेव्या एवेति, ये महान्तः पुष्पवन्तः सुगन्धाः, तान् पृच्छाम इति कुरवकादीन् पृच्छन्ति कच्चिदिति।

उक्त पीपर, पाकर और वट, इन वृक्षों ने उत्तर नहीं दिया, तब गोपियां विचार करती हैं, कि इन वृक्षों का फल मुख्य उपयोगी नहीं है, और ये वृक्ष बड़े भी हैं, किन्तु कौओं के सेवन करने योग्य ही हैं, इसलिये जो वृक्ष बड़े, और सुगन्धित पुष्पवाले हैं, उनके प्रति पूछें, इस प्रकार विचार करके कुरवक आदि वृक्षों के प्रति गोपियां पूछती हैं।

कच्चित् कुरवकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः।

रामानुजो मानिनीनां गतो दर्पहरस्मितः ॥ ६ ॥

पदपदार्थ—(हे कुरवक!) कटसरैया का वृक्ष लाल फूलवाला कुरवक है, (हे अशोक!) (हे नाग!) (हे पुन्नाग!) (हे चम्पक!) ये सब वृक्ष पुष्पविशेष हैं। (मानिनीनां) मानवती स्त्रियों का (दर्पहरस्मितः) गर्व हरनेवाला स्मित जिसका है। (रामानुजः) बलदेवजी का छोटा भाई। (गतः) गया है। (कच्चित्) प्रश्न संभावना में ॥ ६ ॥

भाषार्थ—हे कुरवक! हे अशोक! हे नाग! हे पुन्नाग! हे चम्पक! मानिनी स्त्रियों के गर्वहर स्मितवाला बलभद्र का छोटा भाई गया, आपने देखा है क्या? ॥ ६ ॥

(सुबो०) कुरवकाशोकौ कामोदीपकौ । एते कामवाणपुष्पाः । नागो नाग-
केसरः, पुन्नागः चम्पकश्च अतिमुगन्धपुष्पाः । ते हि कामिनं व्यावर्तयन्ति ।
अतः पञ्चाप्येते ज्ञास्यन्तीति । रामानुजः कच्चिद्भुवद्भिद्वष्ट इति पृच्छन्ति । पूर्व-
वदेव प्रयोजनकथनम् । मानिनीनां दर्पहरं स्मितं यस्य । व्यर्थमेव गतो भगवान्,
स्मितमात्रेणैव दर्पो गच्छति, किं गमनेन । भयं तु नास्त्येव, यतो रामानुजः बल-
भद्रभ्राता, भर्तृनाम न ग्राह्यमिति । वयं सर्वा एव मानिन्यः स्थिताः । अतोऽ-
स्मदर्पदमनार्थं गतः । प्रायेणैतैनं दृष्टः । कुत्सितरवात् कं सुखं यस्य । रोदनप्रि-
योऽयम् । अशोकश्च शोकनाशक एव, न तु कस्यचित् सुखं प्रयच्छति । नागोऽयं
नाम्नैव भयानकः । गजपक्षेऽपि पुंसामपि नागः । चम्पकोऽपि परिणामविरसः ।
अफलाश्चेते ॥ ६ ॥

कुरवक और अशोक, ये दोनों वृक्ष कामोदीपक हैं, और कुरवक आदि वृक्षों के पुष्प काम-
देव के वाण हैं ।

नाग नागकेसर है, नागकेसर, पुन्नाग, और चम्पक, ये अतिमुगन्धित पुष्पवाले वृक्ष
हैं, ये वृक्ष कामी पुरुष को अन्य कार्य से हटाते हैं, अर्थात् इन वृक्षों के पुष्पों की सुगन्ध से
कामो पुरुष अन्यत्र नहीं जाते हैं, इनकी सुगन्ध से मुग्ध हो जाते हैं, इसलिये ये पांचो वृक्ष
भगवान् को जानते होंगे, इस प्रकार विचार करके गोपियां प्रश्न करती हैं, कि राम के छोटे
भ्राता को आपने क्या देखा है ?

पहले श्लोक में गोपियों ने भगवान् हमारा मन हरण करके गया है, इस प्रकार प्रश्न करनेका
प्रयोजन बतलाया है, उसी प्रकार इस श्लोक में भी मनहरण करके जाने का प्रयोजन बतलाया है ।
भगवान् मानिनी स्त्रियों का दर्पहरस्मितवाला है, फिर व्यर्थ ही गया, अर्थात् जब
भगवान् के स्मितमात्र से ही दर्प दूर हो जाता है, तो फिर भगवान् के जाने का कारण क्या है ?
भगवान् को किसी का भय तो है ही नहीं, कारण कि रमण का अधिकरण क्रियाशक्ति-
प्रधान बलभद्र आपका भ्राता है, इसलिये रस की च्युति होने का भय नहीं है । पति का नाम नहीं
लेना चाहिये, इसीलिये गोपियों ने 'रामानुज' कहा है । गोपियों ने पति का नाम नहीं लिया,
इसलिये यह वाक्य कुमारिकाओं का सूचित होता है ।

हम सभी मानवती हैं, इसीसे भगवान् हमारे दर्प को दमन करने के लिये गये हैं, गोपियां
कहती हैं, कि प्रायः इन वृक्षों ने भगवान् को नहीं देखा है, कारण कि 'कुरवक' को कुत्सित रव से
सुख होता है, अर्थात् इस 'कुरवक' को रोना अच्छा लगता है, और यह 'अशोक', शोकनाश करने-
वाला ही है, किन्तु किसी को सुख नहीं दे सकता है । यह नाग, नाम से ही भयानक है । नाग
का अर्थ हाथी किया जाये तो पुरुषों में नाग पुन्नाग होता है । चम्पक भी परिणाम में विरस-रस-
रहित हो जाता है ।

इस प्रकार गोपियां उक्त वृक्षों में दोषों का वर्णन करके, एक दोष और भी कहती हैं कि
इन वृक्षों में फल नहीं हैं ॥ ६ ॥

(सुबो०) पूर्वोक्तास्त्वपुष्पाः, एते अफलाः । फलपुष्पाभ्यां नानाविधवित्-
योगसंभवादज्ञानं मत्वा, तुलस्यास्तदुभयं नास्तीति भगवदीयत्वेन प्रसिद्धा
पृच्छन्ति कच्चिदिति ।

जिस जगह आकृति होती है, उस जगह गुण रहते हैं, इस न्यायानुसार वृक्षों में पुष्प शोभा
देनेवाले होते हैं, इसलिये जिन वृक्षों में पुष्प नहीं हैं, उनमें गुण-शोभा भी नहीं होती है । पांचवें
श्लोक में वर्णित वृक्षों में पुष्प नहीं हैं, और छठे श्लोक में वर्णित वृक्षों में फल नहीं हैं, जिन वृक्षों
में फल नहीं हैं, उनवृक्षों से पूछने से प्रश्न भी निष्फल हो जाता है ।

और यदि केवल पुष्पफल का भगवान् में ही विनियोग होता, तो कदाचित् वृक्षों को
भगवत्सम्बन्धी ज्ञान होता, किन्तु फल तथा फूल का अनेक प्रकार से अन्यत्र विनियोग होने से
अन्य सम्बन्ध भी सम्भव होता है, इसलिये उक्त वृक्षों को भगवान् के विषय में अज्ञान ही है ।

इस प्रकार गोपियां जानकर, तुलसी में जो पुष्पकृत तथा फलकृत द्विविध विनियोग है वह
अन्यत्र नहीं है, भगवान् में ही है, इसलिये भगवदीयत्व से प्रसिद्ध तुलसी से गोपियां प्रश्न करती हैं ।

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये ।

सह त्वाऽलिकुलैर्बिभ्रत् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥ ७ ॥

पदपदार्थ—(हे तुलसि) (हे कल्याणि) हे सौभाग्यवाली (हे गोविन्दचरणप्रिये)
हे गोविन्दचरण प्रियवाली (अलिकुलैः) भ्रमरों के समूह के (सह) साथ (त्वा) तुम्हको (बिभ्रत्)
धारण करते हुए (ते) तुम्हारे (अतिप्रियः) अत्यन्त प्यारे (अच्युतः) च्युतिरहित भगवान्
(त्वया) आपने (दृष्टः) देखा है क्या ? (कच्चित्) प्रश्नसम्भावना में ॥ ७ ॥

भाषार्थ—हे तुलसि, हे कल्याणि, हे गोविन्दचरणप्रिये, भ्रमर समूह के साथ तुम्हको
धारण करनेवाले, तुम्हारे अतिप्रिय अच्युत भगवान् का तुमने देखा है क्या ? ॥ ७ ॥

(सुबो०) तुलसीति सम्बोधनं सखीमिव मत्वा । सा चेत् पूर्वसम्बन्ध-
स्मरणेन भक्तेव भगवन्तं भजेत्, तदा रसो न पृष्ट इति तां भगवत्पत्नीं मन्यमाना
आहुः कल्याणीति । एवमपि सति भक्तिप्रधानेत्यस्मदाद्यपेक्षया उत्कृष्टेत्याहुः
गोविन्दचरणप्रिय इति । किञ्च, तव दर्शने उपायोऽप्यस्ति । त्वत्सजातीयस्य तत्र
विद्यमानत्वात् । सजातीयो हि सजातीयं मार्गस्थं दृष्ट्वा गच्छति । तदाहुः ।
अलिकुलैः सह त्वा त्वां बिभ्रत् दृष्ट इति । किञ्च, ते भगवानत्यन्तं प्रियः, यद्यनेन
मार्गेण गतः स्यात्, अवश्यं त्वया दृष्टः स्यादिति ॥ ७ ॥

हे तुलसि ! यह सम्बोधन गोपियों ने तुलसी को सखी की तरह मानकर किया है । यदि
तुलसी पूर्व सम्बन्ध का स्मरण करके भक्त की तरह भगवान् का भजन करे, तो रस पुष्प नहीं हो,
अर्थात् पहले तुलसी भक्तत्व से निष्काम हो निरन्तर भगवान् के चरणारविन्द का सेवन करती हुई
स्थित थी, इसीलिये लक्ष्मी आदि को भी पूजा का साधन थी, नहीं तो सपत्नी जानकर लक्ष्मी
आदि पूजा में साधन नहीं करतीं । इस समय भी यदि तुलसी उक्त भाव से भजन करती है, तो फिर
तुलसी को नायिकात्व से जो रस अनुभव होता है, उस रस का अनुभव नहीं होता ।

गोपियां कहती हैं कि तुलसी हमारी रीति को न जानकर (चुपचाप बैठी है) अर्थात्
अपना आशय चरण-सेवा प्रकाश करती स्थित है । इसलिये गोपियां तुलसी को भगवान् की
पत्नी मानकर कहती हैं कि (कल्याणि) हे सौभाग्यवती ! इस प्रकार सौभाग्यवती होते हुए
भी तुलसी में भक्ति की प्रधानता है, इसलिये हमारी अपेक्षा उत्तम है ।

अवस्थाविशेष से गोपियों में दैन्य का आविर्भाव हो गया है, इस भाव को ज्ञापन करने के लिये यहां गोपियों ने तुलसी को उत्तम बतलाया है, नहीं तो सपत्नी जान करके भी तुलसी के गोपियां नहीं पूछतीं, यह भाव है।

गोपियां अपने से उत्तम तुलसी को कहती हैं (गोविन्दचरणप्रिये) हे तुलसी तुम को गोविन्द के चरण अत्यन्त प्यारे लगे हैं।

दूसरी बात यह है कि तुम्हारे पास भगवान् के दर्शन करने का उपाय भी है। कारण कि तुम्हारी सजातीय अन्य वस्तु भी वहां विद्यमान है। 'जो सजातीय होता है, वह मार्ग में स्थित सजातीय—अपने समान को देखकर ही जाता है, अर्थात् लोक में जब कोई अन्यत्र जाता है, तब मार्ग में स्थित अपने सम्बन्धियों से मिलकर ही जाता है, भगवान् के चरण में स्थित तुलसी सजातीय है, इसलिये भगवान् तुमसे मिले बिना नहीं गया होगा, इस बात को गोपियां कहती हैं। (अलिकुलैः सह त्वा त्वा विभ्रत् दृष्टः) भ्रमर समूह के साथ तुमको धारण किये भगवान् को देखा है। गोपियां तुलसी के दर्शन में अन्य भी कारण बतलाती हैं कि तुमको भगवान् जरूरत प्रिय है, प्यारा अपनी प्रिया से मिले बिना नहीं जाता है।

यदि इस मार्ग से भगवान् गया होगा, तो अवश्य तुमने देखा होगा ॥ ७ ॥

(सुबो०) तत्राग्यर्चि मत्वा, इयं सपत्नीवत् स्वोत्कर्षं ख्यापयन्ती कथं मन्याभ्यो वक्ष्यतीति, साधारण्यः स्त्रिय एवास्माकमुपकारिण्य इति, ताः पृच्छन्ति मालतीति।

गोपियों ने तुलसी से प्रश्न किया, और जब उत्तर नहीं मिला, तब गोपियों ने जाना कि यह सपत्नी की तरह अपना उत्कर्ष सूचन करती है, फिर कैसे अन्य स्त्रियों से कहेंगी। इस प्रकार तुलसी में भी अर्चि मानकर, गोपियों ने विचार किया कि साधारण स्त्रियां ही हमारा उपकार करनेवाली हैं, इसलिये साधारण स्त्रियां मालती आदि से पूछती हैं।

मालत्यदर्शि वः कच्चित् मल्लिके जाति यूथिके।

प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥ ८ ॥

पदपदार्थ—(हे मालति) (हे मल्लिके) मोतिया (हे जाति) जाही (हे यूथिके) जुही (वः) तुमको (करस्पर्शेन) हस्त के स्पर्श से (प्रीति) प्रीति को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (माधवः) लक्ष्मीसहित भगवान् (यातः) गया है (वः) तुमने (अदर्शि) देखा है (कच्चित्) प्रश्न सम्भावना में ॥ ८ ॥

भाषार्थ—हे मालती, हे मल्लिका, हे जाही, हे जुही, तुमको हस्तस्पर्श से प्रीति उत्पन्न करता हुआ माधव गया है, उसे तुमने देखा है क्या ! ॥ ८ ॥

(सुबो०) हे मालति, वः युष्माभिः प्रत्येकं नानारूपाभिः दृष्टः कच्चित्। तथैव मल्लिके, हे जाति, हे यूथिके। एताश्चतस्रो लताः अतिसुगन्धपुष्पाः भगवत्प्रियाः। अतः वः युष्माकं करस्पर्शेन प्रीतिं जनयन् पुष्पावचयं कुर्वन् माधवो लक्ष्मीसहितः। लक्ष्म्या सह तिष्ठति, अतस्तस्याः चूडाबन्धनार्थं पुष्पावचय आवश्यक इति ॥ ८ ॥

हे मालति ! तुम सब प्रत्येक नाना रूपवालिओं ने भगवान् को देखा है क्या ? इसी प्रकार हे मल्लिके—मोतिया, हे जाति, हे यूथिके, तुम सब ने भगवान् को देखा है क्या ! ये चारो लता हैं, इनके अतिसुगन्धिन पुष्प हैं और भगवान् को प्रिय लगती हैं। इसलिये तुमको हस्तस्पर्श से प्रीति उत्पन्न करता हुआ, अर्थात् तुम्हारे फूलों को लक्ष्मीसहित भगवान् चुनकर स्पर्श से प्रीति उत्पन्न करता हुआ लक्ष्मी के साथ स्थित है, इसलिये लक्ष्मीजी का चूडा-केश बन्धन करने के लिये पुष्पों का इकट्ठा करना आवश्यक है, अतः तुमने भगवान् को देखा है ? ॥ ८ ॥

(सुबो०) ननु यद्यप्येताः स्त्रियः, तथाप्यफला इति, अल्पा इति, स्वार्थ-परा इति, लक्ष्मीपक्षपातिन्य इति न वदिष्यन्तीति ज्ञात्वा आम्नादीनत्युत्तमान् वृक्षान् पृच्छन्ति चूतेति।

यद्यपि पहले कही गयी मालती आदि लताएँ स्त्रियां हैं, तथापि फलरहित हैं, और अल्प हैं। छाया आदि से इनमें परार्थता नहीं है, स्वार्थपरता है तथा लक्ष्मीजी का पक्षपात करनेवाली हैं। अर्थात् धनवालों में ही इनका उपयोग होता है। इसलिये हमसे नहीं कहेंगी। इस प्रकार गोपियां जानकर अति उत्तम आम्र आदि के वृक्षों को पूछती हैं।

चूतप्रियालपनसासनकोविदार-

जम्बवर्कविल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः।

येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः

शंसन्तु कुण्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥ ९ ॥

पदपदार्थ—(हे चूत) हे आम (हे प्रियाल) हे चिरौजी (हे पनस) हे कटहर (हे असन) हे विजयसार, दुपहरियाकासा फूलवाला (हे कोविदार) हे कचनार (हे जम्बु) हे जामुन (हे अर्क) सूर्यकासा फूलवाला वृक्ष (हे विल्व) हे बेल (हे बकुल) हे मौलसरी (हे आम्र) हे आम्र, आम पुनः जातीय भेद से कहा है। (हे कदम्ब) (हे नीप) इन दोनों में पहला फूलप्रधान है, और दूसरा फलप्रधान है। तथा (ये) जो (अन्ये) और सब महुआ आदि वृक्ष (हे परार्थभवकाः) अन्य लोकों के उपकार के लिये जन्मवाले ! (हे यमुनोपकूलाः) यमुनातटपर स्थिति करनेवाले (रहितात्मनां) आत्मरहित (नः) हमारे लिये (कुण्ण-पदवीं) सदानन्द भगवान् के मार्ग को (शंसन्तु) बताओ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—हे आम, हे चिरौजी, हे कटहर, हे विजयसार, हे कचनार, हे जामुन, हे अर्क-सूर्य के-से आकारवाले फूलवाला वृक्ष, हे बेल, हे मौलसरी, हे आम्र, हे कदम्ब, हे नीप ! तथा अन्य महुआ आदि पराये अर्थ के लिये जन्म लेनेवाले हे यमुनातट पर रहनेवाले वृक्षो ! आत्मरहित हमारे लिये भगवान् का मार्ग बतलाओ ॥ ९ ॥

(सुबो०) चूताम्नौ मधुराम्लप्रकृतिकौ। कालभित्रफलौ वा। प्रियालस्तु बीजेप्यधिकरसयुक्तः। पनसो महाफलः। अन्ये चासनादयो वृक्षाः पुष्पफलप्रधानाः। किं बहुना। अन्येऽपि ये मधूकादयः। परार्थमेव जन्म येषां ते परार्थभवकाः। किञ्च, यद्यपि सर्व एव वृक्षाः परार्थजन्मानः, तथापि ये यमुनोपकूलाः, यमुनाया

उपकूले तपस्विन इव तिष्ठन्ति, ते ह्यवश्यं भगवन्तं पश्यन्ति बोधयन्ति च ।
अतः सदानन्दस्य पदवीं शंसन्तु । यथास्मद्दृढये समायाति । दयार्थमाहुः रहिता-
त्मनामिति । केचित् गृहरहिताः धनरहिताः देहरहिता वा । वयं त्वात्मारहिता
एव । अतः सर्वपेक्षया वयं दीनाः । अतः कृष्णपदवीमस्मदर्थे शंसन्तु ॥ ९ ॥

भूत-मीठा आम, आम्र-कुछ खट्टा आम, इस प्रकार दोनों में भेद है, इसलिये इस श्लोक में दो बार एक ही वृक्ष कहा है। अथवा कालभेद से पृथक्-पृथक् समय पर फल आनेवाले वृक्ष दो कहे गये हैं। प्रियाल-चिरींजी तो बीज में भी अधिक रसयुक्त है, पनस-कटहर बड़े फलवाला वृक्ष है, अन्य असनादि वृक्षों में पुष्प-फलप्रधान है, अर्थात् किसी वृक्ष में पुष्पप्रधान और किसी में फल प्रधान है। बहुत क्या कहा जाय, और भी जो मधुक-महुआ आदि वृक्ष हैं उन्होंने पराये अर्थ ही जन्म लिया है।

यद्यपि सभी वृक्ष परार्थ जन्म लेने वाले हैं, तथापि जो वृक्ष यमुनाजी के समीप तीर पर तपस्वियों की तरह स्थित हैं, वे अवश्य भगवान् का दर्शन करते हैं, और दूसरों को भी बोध करते हैं, इसलिये हे वृक्षो ! आप सदानन्द का मार्ग बतलाओ ।

जिस प्रकार के बोध से हमारे हृदय में भगवन्मार्ग प्राप्त हो, अर्थात् भगवान् जिस मार्ग से गया है, उसका ज्ञान हो जाये ।

वृक्ष दया करके हमको भगवान् का मार्ग बतलायेंगे, इसके लिये गोपियां कहती हैं।
(रहितात्मनामिति) कुछ लोग घररहित होते हैं, कुछ लोग घनरहित होते हैं, और कुछ देह-
रहित होते हैं, किन्तु हम सब तो आत्मरहित ही हैं। इसलिये सब की अपेक्षा हम सब दीन हैं,
आप सबका पराया अर्थ करने के लिये जन्म है, हम सब दीन दया करने के पात्र हैं, इसलिये कृष्ण
के जाने का मार्ग हमारे लिये बोध करो ॥ ९ ॥

(सुबो०) एवमतिविलापे दीनतायामाविष्कृतायां भूमौ भगवच्चरणारविन्दानि दृष्टानि, तदा भूमिं स्तुवन्ति किं ते कृतमिति ।

इस प्रकार जब गोपियों ने अत्यन्त विलाप किया, और उनकी दीनता प्रकट हुई, तब भूमि में भगवान् के चरणारविन्दों का दर्शन हुआ, उस समय गोपियां भूमि की स्तुति करती हैं।

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यहं

अप्यङ्घ्रिसंभव उरुकमविक्रमाद्वा

आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥ १० ॥

पदपदार्थ—(हे क्षिति) हे पृथिवी (ते) तूने (कि) कौन सा (तपः) तप (कृतं) किया है, (वत) खेद में, अर्थात् हमने इस प्रकार का तप नहीं किया, इस बात को सूचन करती गोपियाँ खेद प्रकट करती हैं। (केशवांघ्रिस्पर्शात्सवोत्पुलकिताङ्ग रहैः) केशव की स्पर्शसे उत्सव और उत्पुलकित-ऊँचे उठे हुये रोमाँच्चों से (विभासि) तू शोभित हो रही है।

(अपि) संभावना में (अङ्घ्रिसंभवः) केशव के चरणस्पर्श से उत्सव हुआ है, (वा) अथवा (उरुक्रमविक्रमात्) त्रिविक्रम का विक्रम, पदभ्यास से हुआ है (आहो) अथवा (वराहवपुषः) वराह शरीर भगवान् के (परिरम्भणेन) आलिङ्गन से हुआ है ॥ १० ॥

भाषार्थ—हे पृथिवी ! तूने कीन सा तप किया है, हमको खेद होता है, केशव भगवान् के चरण स्पर्श से उत्सव और उत्पुलकित रोमाञ्चों से तू विशेष शोभित हो रही है, इस प्रकार उत्सव क्या भगवान् के चरणस्पर्श आदि से हुआ है, अथवा वामन जी के पदव्यास से, अथवा वाराह भगवान् के आलिङ्गन से हुआ है ॥ १० ॥

(सुबो०) हे क्षिति ! ते त्वया किं वा तपः कृतम् । अस्माभिरपि तपः
कृतमेव, परं नैवं फलमनुभूतम् । सर्वथा पुण्यव्यतिरेकेण नेष्टसिद्धिः । सुतरां
भगवल्लक्षणा । स्वस्य तदभावमाशङ्क्य बतेति खेदे । न केवलं तव पादसम्बन्ध-
न्यमात्रम् , किन्त्वन्येऽपि भावा दृश्यन्त इत्याहुः । केशवस्य ब्रह्मादेरपि मुक्तिदातुः
ब्रह्मप्रार्थितचरणारविन्दस्य अंग्रिस्पर्शनं उत्सवो यस्याः । स्वेदो दृश्यत एव, अन्यथा
पदानि स्पृष्टानि न भवेयुः । अन्योप्युत्सवो दृश्यते, उत्पुलकिता च । सर्वत्र द्वर्वा-
ङ्कुरा उत्थिता इति अङ्गरुहैः रोमाश्चैः कृत्वा विशेषेण भासि । उत्पुलकिताङ्ग-
रुहैर्वा । अंग्रिस्पर्शोत्सवा विभासि । ननु सर्वत्रैव पुलको दृश्यते, यदि केशवा-
ग्रिस्पर्शेन स्यात्, तत्रैकदेशे स्यात्, स्वेदवदित्याशङ्क्य हेत्वन्तरमुत्प्रेक्षन्ते अप्यंग्रि-
संभव उरुक्रमविक्रमाद्वेति, अपीति सम्भावनायाम् । अनेन चरणस्पर्शेन पूर्व-
स्थितचरणस्पर्शः स्मृतः स तु सर्वत्र भूमौ व्याप्तः । अतस्तेन अंग्रिणा संभवो यस्य
उत्सवस्य । उरुक्रमः त्रिविक्रमः । तस्य विक्रमात् पदन्यासाद्वेति तत्राप्यनिर्धारः ।
न हि चरणसम्बन्धमात्रेण संभोगरहितेन सात्त्विकभावरूपः उत्सवो रोमाञ्चो
भवितुमर्हति । तदर्थं पक्षान्तरमाशङ्कते आहो वराहवपुषः परिरम्भणेनेति ।
अनेन स्वसमानता च वर्णिता ॥ १० ॥

गोपियां कहती हैं, हे पृथिवी ! तू ने कौन सा तप किया है !

गोपियां कहती हैं, हे पृथिवी ! तू ने कौन सा तप किया है ? तप तो हम सबने भी किया है, परन्तु इस प्रकार का फल हमने अनुभव नहीं किया है । कारण कि पुण्य बिना सर्वथा इष्टसिद्धि नहीं होती है, और भगवत्लक्षण—जिससे भगवान् का ज्ञान हो, उस प्रकार की इष्टसिद्धि—चरणप्रतिफलनरूप तो पुण्य बिना प्राप्त होती ही नहीं है । गोपियां अपने में तप करने के लिये प्रयत्न करती हैं, परन्तु वे भगवान् का ज्ञान 'बत' शब्द से खेद प्रकट करती हैं ।

गोपियां कहती हैं कि हे पृथिवी तुमको केवल भगवान् के पाद का ही सम्बन्ध नहीं हुआ है, किन्तु तुममें अन्य भाव भी दीखते हैं, गोपियां अन्य भाव का वर्णन करती हैं । को- ब्रह्मा- ईश महादेव, इन दोनों को भी (वः) मोक्ष देनेवाले केशव, अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिये ब्रह्मा, एवं महादेव करते प्रार्थित चरणारविन्द जिसका इस प्रकार के केशव भगवान् के चरणस्पर्श से उत्सव-महाहर्ष की तुममें प्रतीति ही रही है । स्वेद-पसीनों का दर्शन हो रहा है, नहीं तो भगवान् के चरण का स्पष्ट दर्शन नहीं होता ।

और भी उत्सव दीख रहा है, जिससे तुममें उत्पलक रोमाञ्च हो रहे हैं, सर्वत्र दूबके अंकुर उत्पन्न हुए हैं, अङ्गरुह-रोमाञ्चों से विशेष करके तू शोभित हो रही है। अथवा, उत्पलकित खड़े हुए अङ्गरुह-रोमाञ्चों से, अथवा चरणस्पर्श से उत्सवों वाली तू शोभित हो रही है।

यदि कहो कि पृथिवी में तो सर्वत्र ही रोमाञ्च-रोगटा दीखते हैं, केशव भगवान् के चरण-स्पर्श से ही यदि रोमाञ्च होते तो पृथिवी के एकदेश में ही पसीना की तरह दीखते, अतः केशव के चरणस्पर्श से रोमाञ्च नहीं हुए। इस शंका के उत्तर में गोपियाँ अन्य कारण की उत्प्रेक्षा करती हैं। (अप्यग्निसंभव उरुक्रमविक्रमाद्वेति) अपि का अर्थ संभावना है, गोपियों को इस समय पहले जो भगवान् का चरणस्पर्श पृथिवी को हुआ था, उसका स्मरण हुआ है।

पहले जो पृथिवी को भगवान् का चरणस्पर्श हुआ था, वह तो सर्वत्र पृथिवी में व्याप्त हो गया था, इसलिये उस चरण से उत्पन्न उत्सव आनन्द क्या उरुक्रम-तीन पद पृथिवी नापने वाले वामन भगवान् के चरणस्पर्श से तुमको प्राप्त हुआ है।

गोपियों को पृथिवी के लिये आनन्दप्राप्ति में उक्त प्रकार का भी निश्चय नहीं हुआ, कारण कि बिना संभोग के केवल चरण सम्बन्ध मात्र से सात्त्विक भावरूप उत्सव-रोमाञ्च नहीं हो सकते हैं, इस बात का विचार कर गोपियाँ पक्षान्तर-अन्य कारण कहती हैं। (आहो वराहवपुषः परिरम्भणेनेति) अथवा वाराह अवतार धारण करनेवाले भगवान् के आलिङ्गन द्वारा तुमको आनन्द प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार वर्णन करके गोपियों ने पृथिवी को अपने समान कहा है ॥ १० ॥

(सुबो०) एवं स्थावरान् पृष्ठा जङ्गमान् पृच्छन्ति अपीति ।

इस प्रकार स्थावर-वृक्ष आदि से पूछकर गोपियाँ जङ्गम-चलनेवाले प्राणियों से पूछती हैं।

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-

स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः ।

कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः

कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—(अपि) प्रश्न में (हे एणपत्नि) कृष्णमृग की पत्नि (हे सखि) हे सखी (इह) यहाँ (प्रियया) प्यारी के साथ (उपगतः) मिलकर गया (गात्रैः) शरीर के अवयवों से (वः) तुम सबके (दृशां) नेत्रों को (सुनिर्वृतिम्) आनन्द को (तन्वन्) देता हुआ (अच्युतः) भगवान् (द्रष्टः) (कच्चित्) देखा है क्या (कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः) कान्ता के अङ्गसङ्ग में जो कुचों में कुङ्कुम लगा है, उस कुङ्कुम से रंगी हुई। (गोकुलपतेः) गोकुलनाथ सम्बन्धिनी (कुन्दस्रजः) कुन्दपुष्प माला की (इह) इस स्थान में (गन्धः) गन्ध (वाति) चल रही है, अर्थात् सुगन्धित वायु आ रही है ॥ ११ ॥

भाषार्थ—हे मृगपत्नी, हे सखी यहाँ प्रिया के साथ मिलकर गया, और अपने शरीर के अवयवों से तुम्हारे नेत्रों को आनन्द देता हुआ अच्युत भगवान् को क्या आपने देखा है। कारण कि कान्ता के अङ्गसङ्ग में जो कुचों में कुङ्कुम लगा है, उससे रंगी गोकुलपति सम्बन्धिनी कुन्दपुष्प माला की इस स्थान में गन्ध आ रही है ॥ ११ ॥

(सुबो०) हे एणपत्नि कृष्णसारपत्नि, प्रियया क्याचित् लक्ष्म्या अन्यया वा उपगतः मिलितः स्त्रीसहितः, अनेन मार्गेण गच्छन्, स्वगात्रैः स्वावयवैः, भवतीनां दृशां सुनिर्वृतिं तन्वन् दृष्टुः कच्चित् । अनेनैव मार्गेण गत इति चरणारविन्ददर्शनात् निश्चीयते । यदि दृष्टो भवेत्, तदा अस्माभिरपि द्रष्टुं शक्यत इति । त्वं त्वन्यस्य पत्नी अस्माकं च सखी भवसि । अत आहुः हे सखीति । सखित्वं कृष्णानुरक्त्या, नेत्रतुल्यत्वेन भीरुत्वादिधर्मैः । अन्यथा भवतीनां विकसितनयनानि न भवन्तीति । ननु कृतलीलः किमिति प्रार्थ्यते, तत्राहुः अच्युत इति । ननु कथं ज्ञायते प्रियया उपगत इति, तत्राहुः कान्तेति । कान्ताया अङ्गसङ्गे यत्कुचयोः कुङ्कुमं तेन रञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुन्दपुष्पमालायाः गोकुलपतेः सम्बन्धिन्या इह गन्धो वाति । आर्द्रश्च गन्धः आर्द्रं कुङ्कुमं ज्ञापयति । सात्त्विकभावादेवार्द्रता । अतो ज्ञायते प्रियया सङ्गत इति ।

हे एणपत्नि, कृष्णसारमृग की स्त्री, प्रिया के साथ—लक्ष्मी के साथ, अथवा किसी अन्य स्त्री के साथ मिलकर, अर्थात् स्त्रीसहित इस मार्ग से जाते हुए, तथा अपने शरीर के अवयवों से तुम्हारे नेत्रों को अति आनन्द देते हुए भगवान् को क्या आपने देखा है। यहाँ 'कच्चित्' सम्भावना अर्थ में है।

भगवान् इसी मार्ग से गया है, इसका हमको उनके चरणारविन्द के दर्शन से निश्चय होता है।

यदि आपने भगवान् का दर्शन किया हो तो हम भी दर्शन कर सकती हैं, आप तो अन्य की पत्नी, और हमारी सखी हो, इस बात को गोपियाँ कहती हैं, (हे सखीति) ।

मृगपत्नी को सखी कहने का कारण यह है कि कृष्ण में अनुराग मृगपत्नियों और गोपियों दोनों का ही था, और दोनों को ही भय था।

गोपियों की तरह हरिणियों को भी भगवान् के गात्रों से आनन्द प्राप्त हो रहा था, दोनों के नेत्रतुल्य हैं। यदि हरिणियों को भगवान् का दर्शन नहीं होता तो इनके नेत्र विकसित-प्रफुल्लित नहीं होते।

हरिणियों के नेत्र आनन्द से विकसित हैं, इसलिये स्पष्ट होता है कि हरिणियों ने भगवान् का दर्शन किया है।

यदि कहो कि भगवान् ने आपके साथ पहिले लीला की है, पुनः अब प्रार्थना क्यों करती हो? इसके उत्तर में गोपियाँ कहती हैं। (अच्युतः) भगवान् अच्युत है, पहले लीला करने पर भी च्युतिरहित ही है।

यदि कहो कि प्रिया के साथ भगवान् गया है, इस बात को तुम कैसे जानती हो? तब इसके उत्तर में गोपियाँ कहती हैं (कान्तेति) सुख का अन्त जिसमें, वह कान्ता, प्रियतमा के अङ्ग का सङ्गम होने में उसके कुचों में जो कुङ्कुम लगा है, उस कुङ्कुम से रञ्जित (रंगी) गोकुलपति सम्बन्धिनी कुन्दपुष्पमाला की गन्ध इस स्थान पर आ रही है। गन्ध आर्द्र, गोली है, वह कुङ्कुम का ज्ञापन कर रही है, सात्त्विक भाव से ही आर्द्रता होती है, इसलिये ज्ञात होता है भगवान् प्रिया के साथ है ॥ ११ ॥

(सुबो०) एवं हरिणपत्नीं दृष्ट्वा इयं भर्तुसमीपे वक्तुमशक्तेति पूर्वं भगव-
त्स्तुतान् वृक्षान् पृच्छन्ति बाहुमिति ।

इस प्रकार हरिणपत्नी को पूछकर गोपियां विचार करती हैं कि यह अपने पति के समीप
में है, इसलिये बोल नहीं सकती है, इसको पूछना व्यर्थ है ।

अब गोपियां पहले बारहवें अध्याय में भगवान् ने जिन वृक्षों की स्तुति की थी, उन वृक्षों
से पूछती हैं ।

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।

अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं

किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥ १२ ॥

पदपदार्थ—(हे तरवः) हे वृक्षो ! (प्रियांसे) प्यारी के कंधे पर (बाहुं) एक
हस्त को (उपधाय) धारण करके (गृहीतपद्मः) दूसरी भुजा में कमल धारण किये (रामा-
नुजः) बलदेवजी का छोटा भाई (मदान्धैः) मद से अन्ध (तुलसिकालिकुलैः) तुलसी सम्बन्धी
भ्रमर समूह द्वारा (अन्वीयमानः) जिनके पीछे भ्रमर समूह जा रहा है, इस प्रकार के भगवान्
(इह) यहां (चरन्) डोलते (प्रणयावलोकैः) प्रणयपूर्वक अवलोकनों से (वः) तुम सबके
(प्रणामं) प्रणाम को (वाभिनन्दति) अभिनन्दन करता है (किं) क्या (वा) अथवा
नहीं ॥ १२ ॥

भाषार्थ—हे वृक्षो ! प्रिया के कंधे पर एक भुजा धर कर, दूसरी भुजा में कमल धारण
किये तुलसी सम्बन्धी भ्रमरों का समूह जिसके पीछे जा रहा है, वह राम का छोटा भाई प्रणय-
पूर्वक अवलोकनों से तुम्हारा प्रणाम यहां जाता हुआ क्या स्वीकार करता है ? ॥ १२ ॥

(सुबो०) प्रियाया अंसे बाहुमुपधाय द्वितीयेन हस्तेन गृहीतपद्मः रामा-
नुजो निर्भयः तुलसिकायाः सम्बन्धिनो येश्लयः तेषां कुलैः कृत्वा अन्वीयमानः
पश्चाद् गम्यमानः । हे तरवः । पूर्वं भगवता भक्तत्वेन स्तुताः, अतो भवद्भिः
कृतं प्रणाममिहैव किमभिनन्दति, न वेति प्रश्नः । प्रियांसे बाहुमुपधायेति सम-
तया गमनेन लक्ष्यते । उभयोः पदानां पङ्क्त्याकारेण गमनात् । कदाचित्पदानां
चाश्रित्येन भ्रमरोपरुद्धगत्या तन्निवारणार्थं यत्नो लक्ष्यते । तरवश्च नम्राः, नम-
स्कारार्थमेव फलोपहारं कृत्वा भूमिसम्बद्धशिरसो जाताः । अतो ज्ञायते प्रणामः
कृत इति । अनुत्थानात्संदेहः अभिनन्दति न वेति । अनभिनन्दने हेतुः चरन्ति । यद्य-
पि हि गच्छति, सः अनवहितोऽपि भवति । ननु निकट एव स गच्छति । यद्य-
भिनन्दनं कृतं स्यात्, तदैव श्रूयेत, कथं संदेह इति चेत्, तत्राहुः प्रणयावलोकै-
रिति । प्रणयपूर्वकमवलोकैः, न तु वाचा । अतो ये निकटस्थाः, त एव जानन्ति
नान्ये ॥ १२ ॥

भगवान् ने एक हस्त प्रिया के कंधे पर धरा है, और दूसरे हस्त में कमल धारण किया
है, आप राम का बलदेवजी का छोटा भाई है, अतः निर्भय है और आप तुलसीजी के सम्बन्धी
जो भ्रमर हैं, उनके समूहों करके अनुगम्यमान है, अर्थात् आपके पीछे भ्रमर गुञ्जार करते जा
रहे हैं ।

(हे तरवः) हे वृक्षो ! तुम्हारी स्तुति पहले दशम स्कन्ध बारहवीं अध्याय श्लोक ५ में
भगवान् ने परोपकारी भक्तत्व से की है, इसलिये तुम्हारे किये प्रणाम का भगवान् यहाँ ही अभि-
नन्दन करता है क्या ? अथवा नहीं करता है । इस प्रकार गोपियां वृक्षों से प्रश्न करती हैं ।

भगवान् प्रिया के कंधे पर हस्त धर कर पधारे हैं, यह बात दोनों के समतयागमन से
लक्षित होती है, अर्थात् भगवान् और स्वामिनीजी दोनों के चरणों का गमन बराबर हो रहा है ।

यद्यपि गोपियों को चरणचिह्न का दर्शन नहीं होता है, तथापि भगवद्भाव स्वभाव से ही
इस लीला की स्फूर्ति हो रही है, अतएव भ्रमरों में तुलसी सम्बन्ध निरूपण किया है और इसके
अनुसार ही भगवान् का देशान्तर में गमन भी नहीं हुआ ।

यद्यपि यहाँ दोनों के समानता से जा रहे चरणचिह्नों का दर्शन प्रिय की प्राप्ति में हेतु
नहीं है, तथापि प्रिय के दर्शन करनेवाले प्रिय को बतला देंगे, तो प्रिय शीघ्र ही प्राप्त हो जायगा,
इस बात को जानकर ही गोपियां प्रश्न करनेवाली हुईं ।

भगवद्भाव के अनुभाव से लीलास्फूर्ति होने पर भी गोपियां सावधान नहीं थी, पदचिह्नों
का दर्शन होने पर भी उस मार्ग से नहीं गईं । इसलिये गोपियों को यथार्थ ज्ञान न होने के कारण
उत्प्रेक्षा रीति से ही 'प्रिया के कंधे पर हस्त कमल धरना' आदि का गोपियों को ज्ञान है ।

भगवान् ने गोपियों को पदचिह्न का दर्शन तीक्ष्णभाव शान्त करने के लिये ही कराया
है, पदचिह्नदर्शन भगवदावेश कार्य नहीं है, इसीलिये गोपियों को सर्वलीला की स्फूर्ति नहीं हुई ।

भगवदावेश कार्य आगे 'व्यचक्षत वनोद्देशे' इस श्लोक में कहेंगे । इस आशय से आगे टिप्पणी
में कहते हैं (किञ्च) ।

और जिस प्रकार आगे साथ में स्थित स्वामिनी के चरणचिह्न का पहले अवर्शन, और
पीछे दर्शन हुआ, उसी प्रकार यहाँ भी एक स्थान में एक समय पदचिह्न का दर्शन हुआ है, आगे नहीं
हुआ है । कारण कि तीक्ष्णभाव को शान्त करने के लिये ही पदचिह्नों का दर्शन भगवान् ने कराया
है, इतने से ही तीक्ष्णभाव की शान्ति हो जाती है ।

जिस समय भगवान् कुछ शीघ्रगामी होता है, उस समय भ्रमर आपके गमन में रुकावट
करते हैं, भ्रमरों को दूर करने के लिये भगवान् ने श्रीहस्त में कमल लिया है, इस प्रकार कमल
द्वारा भ्रमरों को हटाकर गमन सम्भव होता है । भ्रमरों में मद का निरूपण किया है, मद संग
के अभाव में हेतु है ।

मदवाले भ्रमरों के संग में मर्यादामार्गीय भक्तिरस से, अर्थात् कामरहित भक्तिरस से
उत्पन्न ही मद होता है, इसलिये तुलसी का सम्बन्ध यहाँ कहा है ।

पुष्टिमार्गीय मद तो किसी को ही होता है, यदि पुष्टिमार्गीय मद होता तो 'अलिकुलैः'
इस पद में कुलत्व का वर्णन नहीं करते, स्त्रीत्व का वर्णन करते, अतः पुष्टिमार्गीय मद नहीं है ।

भ्रमरों ने भगवान् के पीछे अवसर विना गमन किया, इसलिये मदान्धता निरूपण की है ।
इस प्रकार रसाक्त भगवान् का इतर को अनुसन्धान होता संभव नहीं होता है, तो फिर
हमको मिलना भी दुर्लभ है, इस प्रकार जानकर गोपियां विचार करती हैं, कि यदि वृक्षों का

किया प्रणाम भगवान् अनुसन्धान करेगा, इस समय में भी तो कदाचित् हमारा भी अनुसन्धान करेगा। इसी आशय से गोपियों ने प्रश्न किया है।

यदि इस प्रकार नहीं मानते, तो भ्रमरों को मद से अन्ध निरूपण करनेवाली गोपियों का वृक्षों द्वारा किये गये प्रणाम के अभिनन्दन का प्रश्नयुक्त नहीं होगा, यह भाव है।

वृक्ष नीचे नव गये हैं, अर्थात् वृक्षों ने भगवान् को नमस्कार करने के लिये फल भेंट करके पृथिवी में अपना मस्तक टेक दिया है, इससे मालूम होता है कि, वृक्षों ने भगवान् को प्रणाम किया है। वृक्षों ने पृथिवी में मस्तक टेककर फिर ऊंचा उठाया नहीं है, इसलिये गोपियों को संदेह होता है कि, (अभिनन्दति नवेति) वृक्षों के किये प्रणाम का भगवान् ने अभिनन्दन किया है, अथवा नहीं किया है।

भगवान् ने वृक्षों के किये प्रणाम का अभिनन्दन नहीं किया, इसमें गोपियाँ हेतु कहती हैं (चरन्) भगवान् गमन करते हुये थे। जो कोई भी जाता है, वह विशेष ध्यान किये बिना ही जाता है, अर्थात् चलने में असावधान भी होता है।

यदि कहो कि भगवान् का गमन वृक्षों के निकट ही में ज्ञात होता है, यदि भगवान् ने वृक्षों का अभिनन्दन किया होता, तो उसी समय वृक्षों को श्रवणगोचर होता, फिर गोपियों को संदेह क्यों हुआ ?

इस शंका के उत्तर में गोपियाँ कहती हैं कि, (प्रणयावलोकैः) प्रणयपूर्वक अवलोकन द्वारा। अर्थात् भगवान् ने यदि वृक्षों के प्रणाम का अभिनन्दन किया होगा, तो प्रणयपूर्वक अवलोकन से दृष्टि द्वारा किया होगा, वाणी से नहीं किया होगा, इसलिये जो वृक्ष निकटवर्ती हैं, वे ही अभिनन्दन जानते हैं, अन्य नहीं जानते हैं ॥ १२ ॥

(सुबो०) ते ज्ञानिनो वृक्षाः स्त्रीभिः सह सम्भाषणं न करिष्यन्तीति तत्पत्न्या एव प्रष्टव्या इत्याहुः पृच्छतेमालता इति।

गोपियाँ कहती हैं, कि ये सब वृक्ष ज्ञानी हैं, स्त्रियों के साथ सम्भाषण नहीं करेंगे, अतः इनकी स्त्रियों से ही पूछना चाहिये, इस प्रकार विचार करके गोपियाँ वृक्षों की स्त्रियों से पूछती हैं।

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्या वनस्पतेः।

नूनं तत्करजस्पृष्टा विभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥ १३ ॥

पदपदार्थ—(वनस्पतेः) वृक्ष के (बाहून्) हस्तों को (अपि) भी (आश्लिष्याः) आलिङ्गन करने वाली (इमाः) इन (लताः) लताओं को (पृच्छत) पूछो। (नूनं) निश्चय (तत्करजस्पृष्टाः) भगवान् के नख से स्पर्श की गई (अहो) आश्चर्य है, ये लतायें (उत्पुलकानि) रोमाञ्चों को (विभ्रति) धारण कर रही हैं ॥ १३ ॥

भाषार्थ—ये सब लतायें वृक्ष की बाहु से आलिङ्गित भी हैं, तो भी इनसे पूछो। निश्चय भगवान् के नखस्पर्श से रोमाञ्च धारण कर रही हैं ॥ १३ ॥

(सुबो०) वनस्पतेर्बाहुनाश्लिष्या अप्येताः पूछत यद्यपि तासामप्यनवसरः ताश्च पुनर्भवंभुजालिङ्गिता अपि भगवत्करजैरेव नखैः स्पृष्टाः सत्यः उत्पुलकानि विभ्रति। न हि रसान्तराविष्टानां रसान्तरार्थं स्पृहा भवति। अत एव

ज्ञायते 'सर्वोपमर्दी भगवत्सम्बन्धी रस' इति। एवं सर्वेषामेवावचने मूर्छिता इव जाता इति। एतदन्ता प्रश्नकथा। नवविधा एता गोप्यो निरूपिताः दशमी तु भगवता नीयते। एवमन्वेषणेन रसस्थैर्य निरूपितम् ॥ १३ ॥

वनस्पति के बाहु से आलिङ्गित भी इन लताओं से पूछो ! यद्यपि इस समय लताओं से भी पूछने का अवसर नहीं है, कारण कि ये लताएँ अपने पति वनस्पति की भुजा से आलिङ्गित भी भगवान् के नखों से ही स्पर्श की गई रोमाञ्च धारण कर रही हैं।

वास्तव में तो जो एकरस में प्रविष्ट हैं, उनको दूसरे रस के लिये स्पृहा-प्रविष्ट होने की इच्छा नहीं होती है, इसलिये जान पड़ता है कि 'सर्वरसों का उपमर्दी—दूर करनेवाला भगवत्सम्बन्धी रस है'।

शुकदेव जी कहते हैं कि इस प्रकार पूर्वोक्त वृक्षलता आदि ने जब गोपियों को उत्तर नहीं दिया, तब गोपियाँ मूर्च्छित की तरह हो गईं।

प्रश्नकथा भी यहां तक ही हुई, अर्थात् गोपियों का प्रश्न करना समाप्त हो गया। गोपियाँ नव प्रकार की हैं, इनका वर्णन ५ से १३ श्लोकों में किया है और दशमी गोपी को भगवान् अपने साथ ले गया है।

इस समय जो गोपी भगवान् के साथ में है, उसका ही दशम-निर्गुणभाव है, अन्य किसी का नहीं है, आगे अन्य में भी निर्गुण भाव कहेंगे।

इस प्रकार भगवान् का अन्वेषण करने—खोजने से गोपियों में रस की स्थिरता, अर्थात् रसा-सक्तिका निरूपण किया है, कार्यलक्षण निरूपण करने से, कारण लक्ष्य का निरूपण किया है, अर्थात् प्रतिज्ञात लक्षण से रसासक्ति का निरूपण सिद्ध हुआ, यह भाव है ॥ १३ ॥

(सुबो०) एवं तिरोधानेन जाततापनिवारणार्थं यत्नो निरूपितः। एतदुपमर्दिका भगवल्लीला प्रादुर्भूता। तस्या विलासं वक्तुं पूर्वोपसंहारपूर्वकमुपक्रमते इतीति।

इस प्रकार भगवान् के तिरोधान से गोपियों में ताप उत्पन्न हुआ था, उसका निवारण करने के लिये चरणचिह्नदर्शन आदि यत्न का वर्णन किया, कारण कि ताप रसासक्ति से ही उत्पन्न होता है, अब आगे ताप का उपमर्दन करनेवाली, दूर करनेवाली भगवान् की लीला प्रकट हुई, भगवल्लीला विलास निरूपण करने के लिये पूर्व लीला का उपसंहारपूर्वक शुकदेव जी भगवल्लीला का उपक्रम करते हैं।

श्रीशुक उवाच—

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।

लीला भगवत्स्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥ १४ ॥

पदपदार्थ—(इति) यह प्रकारवाची शब्द है—इस प्रकार (उन्मत्तवचः) उन्मत्तवचम वाली (गोप्यः) गोपियाँ (कृष्णान्वेषणकातराः) कृष्ण के अन्वेषण—हुँढने में दीन हुई (तदात्मिकाः) भगवदात्मक हो गईं (भगवतः) भगवान् की (तास्ताः) जो जो पहले की हुई (लीलाः) लीलाओं को (अनुचक्रुः) अनुकरण करती हुई (हि) यह अर्थ युक्त है ॥ १४ ॥

भाषार्थ—शुकदेव जी कहते हैं कि, इस प्रकार की उन्मत्तवाणी कहनेवाली गोपियां कृष्ण की खोज करने में दीन हो गईं, और भगवदात्मक हुईं भगवान् की पूर्वकृत लीलाओं का अनुकरण करने लग गईं ॥ १४ ॥

(सुबो०) इतिशब्दः प्रकारवाची । एवं प्रकारेण प्रश्नायोग्येऽपि प्रश्न-करणादुन्मत्तवाचो गोप्यो जाताः । कृष्णस्यान्वेषणे कातरा अपि, दीना अपि जाताः । तनुर्वाक् श्रान्ता । मनसि तु त्रयो वर्तन्त इति प्रथमस्यापगमे द्वितीय आविर्भूत इत्याह लीला इति । भगवतस्तास्ताः पूर्वमुक्ताः कृताश्च तदात्मिकाः सत्यः अनुचक्रुः । उन्मत्तवच इति छान्दसो ह्रस्वः । अथवा । इति पूर्वोक्तमुन्मत्तवचः एतावदिति । ततो गोप्यः कृष्णान्वेषणार्थं कातरा जाता इति । भगवतो लीलाः षड्विधाः स्वाभाविक्यस्तासामपि भेदाः तास्ताः । युक्तश्चायमर्थः । भगवति हृदि समाविष्टे लीलाभिः सहिते । यदा यदा भगवानवतरति, तदा तदा पूतनासु पयःपानादिकं करोति, तथैव संवत्सरलीलायां पुरुषोत्तमादिषु प्रसिद्धिः । एतासामपि मनसि आविर्भूतेन कर्तव्यं तत्साक्षात्कर्तुमशक्यमिति भावनयैवाविर्भूत इति अनुकरणमात्रं कृतवत्यः ॥ १४ ॥

इति शब्द प्रकार वाचक है, अर्थात् इस प्रकार से स्थावर प्राणियों से प्रश्न करना अयोग्य है, तो भी गोपियों ने प्रश्न किया, इसलिये गोपियां उन्मत्तवाणीवाली हुईं, और कृष्ण के अन्वेषण से कातर-दीन भी हो गईं, इनके शरीर और वाणी थक गईं ।

मन में तो रसासक्ति, ताप, लीला और भगवान् तीनों ही हैं ।

प्रथम का अपगम, तिरोधान होने पर दूसरा प्रकट हुआ है, अर्थात् जिस प्रकार ज्वाला के जाने पर अग्नि तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार गोपियों का प्रश्न करके अन्वेषणरूप अग्नि तिरोहित हो गया, रसासक्ति का शरीर, वाणी से तिरोधान हो गया । इसलिये द्वितीय पदार्थ, भगवान् की लीला प्रकट हो गई, इसको शुकदेवजी कहते हैं, (लीला इति) ।

भगवान् की लीला प्रथम प्रमाण आदि प्रकरण में कही हुई, तथा फल प्रकरण में कही हुई, और जो लीला पहले नहीं कही भी भगवान् ने की है 'कस्यांचित् स्वभुजं न्यस्य' इत्यादि से कही, उनका भी भगवदात्मक हुई गोपियां अनुकरण करने लग गईं ।

'उन्मत्तवचः' इसमें वाचः, न कहकर जो 'वचः' कहा है, वह छान्दस ह्रस्व किया है, अथवा—दूसरे प्रकार से अन्वय करना चाहिये ।

(इति) इस प्रकार पहिले कहा उन्मत्त का वाक्य इतना है ।

फिर गोपियां कृष्ण के ढूँढ़ने के लिये दीन हो गईं । इस प्रकार अन्वय है ।

भगवान् की छः प्रकार की लीलायें स्वाभाविकी हैं, इसमें भी अनेक भेद हैं । इसीसे मूल में (तास्ताः) भिन्न-भिन्न लीलाभेद कहा है ।

मूल में 'हि' शब्द है, इसका अर्थ इस प्रकार है कि उक्त सर्व अर्थ युक्त है । गोपियों के हृदय में लीलासहित भगवान् प्रविष्ट है ।

जिस-जिस समय भगवान् का अवतार होता है, उस-उस समय भगवान् पूतना के प्राणपय का पान आदि लीला करता है, इसी प्रकार सर्वलीला वर्षोत्सव की पुरुषोत्तम मास आदि में प्रसिद्ध है ।

जो कुछ भगवान् को कर्तव्य है, वह गोपियों के मन में प्रकट होकर करना है, साक्षात् कर्तव्य अशक्य है, इसका विचार कर भगवान् गोपियों के मन में भावना से प्रकट हुए हैं, इसलिये गोपियां भगवान् का अनुकरणमात्र करने लग गईं ॥ १४ ॥

(सुबोधिनीकारिका)

भक्त्यातिमत्तास्तद्भावमीषन्मत्तास्तु रोषतः ।

द्वेषभावं समाश्रित्य क्रीडन्त्यो जातमत्सरः ॥ १ ॥

सत्त्वादिगुणभावेन नवलीलाः प्रपेदिरे ।

अतो न न्यूनभावोऽत्र ह्याविष्टाः शकटादिभिः ॥ २ ॥

सर्वत्र हरिबुद्ध्या वा पादस्पर्शेच्छया पुनः ।

उलूखलादिभावोऽपि तत्सम्बन्धप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

यद्यपि समस्त गोपियों का भगवान् में एक-सा स्नेह है, तथापि किसी गोपी को कभी भगवद्भाव और किसी गोपी को कभी पूतनादि भाव हुआ है । इसमें कारण कहते हैं कि (भक्त्यातिमत्ताः) गोपियां भक्ति से अतिमत्त हैं । नायिकाभेद से गोपियों के भाव में भेद है ।

एक गोपी को भी समय आदि कारणभेद से भी भावभेद है ।

इस प्रकार भगवान् और भगवान् की लीला सम्बन्धिनी गोपियों के मध्य में जिस समय जिस गोपी को जिस प्रकार के रूप की स्मृति हुई, उस समय उस गोपी को उस रूप में तदात्मत्व हो गया । कारण कि जल आदि सम्बन्धी स्फटिक की तरह गोपियों का विषुद्धभाव है ।

इसलिये यहां इस प्रकार समझना चाहिये कि 'भक्त्यातिमत्ताः' जो गोपियां भगवन्मात्र जानवाली हैं, वे अतिमत्त हैं, और (कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्) मैं कृष्ण हूँ मेरी गति तुम देखो, इस प्रकार भगवद्भाव को प्राप्त हो गई हैं, और जो भगवल्लीला सम्बन्धिनी गोपी हैं, उनका ज्ञान थोड़ा मत्त है ।

लीला सम्बन्धिनी गोपियों के मध्य में जिसको भाव होता है, वह द्वेष आदि भाव भी तदात्मकता होने पर अपने आप ही होता है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये कारिका में श्रीमहाप्रभु जी कहते हैं (रोषतः) इस प्रकार द्वेषभाव का आश्रय करके मत्सरता को प्राप्त हुई गोपियां क्रोड़ा करने लगीं ।

गोपियों के पृथक्-पृथक् भावों का ज्ञापन करने के लिये आगे कहते हैं । (सत्त्वादिगुणभावेन) सत्त्व, रज और तम, ये तीन गुणवाले भावों से गोपियों ने नव लीला की हैं ।

यद्यपि यहां लीला अनेक प्रकार की हैं, तथापि (१५-२३) नवश्लोकों में, एक-एक श्लोक में कही हुई लीला में एक-एक प्रकार की विवक्षा है, इसीसे कारिका में 'नवलीलाः' नव-लीला गोपियों ने की हैं, इस प्रकार कहा है ।

यदि आप कहो कि भगवान् के ज्ञान को छोड़कर जिन गोपियों में पूतना आदि का ज्ञान है, उनमें भाव न्यून मालूम होता है, न्यूनभाव का आप कारण भी नहीं कह सकते हो, कारण कि

पहले आपने कहा है कि सर्वगोपियों का एक-सा भाव, बराबर है, न्यून नहीं है। इस प्रकार पूर्वोक्त में अरुचि होने से पक्षान्तर कहते हैं, (अतो न न्यूनभावोऽत्र) सर्व गोपियों का भाव बराबर है, न्यून नहीं है। कितनी ही गोपियों में शकट आदि का आवेश है, इसलिये न्यूनभाव नहीं है, अर्थात् भगवद्भाववाली तथा पूतनादि भाववाली सर्वगोपियों का भाव बराबर है।

यहाँ भगवान् की तापलीला अन्योन्य उपमर्दक भाव से प्रकट हुई है। गोपियों में शीघ्र लीला का आविर्भाव है।

यदि कहो कि 'लेभे गति धात्र्युचिताम्' पूतना धात्री की गति को प्राप्त हुई है। इत्यादि वाक्यों से पूतना आदि को मोक्ष प्रतिपादन किया है, इसलिये शकट आदि के आवेश का कथन किस प्रकार सङ्गत होता है।

इस शंका का उत्तर कहते हैं—

गोपियों में जिस लीला का आविर्भाव हुआ है, वह लीला विशिष्ट प्रकार की है, इसमें भगवान् की कृति तथा भगवान् के सम्बन्धी पदार्थ दोनों ही मिले हैं, दोनों में से एक नहीं है, किन्तु दोनों ही हैं। उक्त लीला का स्वरूप कहने से शंका को अवकाश नहीं मिलता है, कारण कि भगवल्लीला नित्य है।

भगवान् की लीलाओं में भगदीर्यरूप आधिदैविक असुरों का सम्बन्ध है, इसलिये असुरों का भगवल्लीला में प्रवेश है, और मुक्ति वाक्य का सम्बन्ध असुराविष्ट जीव विषय में है, अतः भिन्न विषय होने से विरोध नहीं है। जहाँ जो अंश प्रकट हुआ है, वहाँ वही अंश वर्णन किया है, नहीं तो पूतना के प्राणपय पान समय में भगवद्भाव को प्राप्त हुई गोपी पूतनाभाव वाली गोपी का स्तनपान किस प्रकार करे तथा पूतना भाववाली गोपी भगवद्भाववाली गोपी में पूतना की तरह आचरण किस प्रकार करे। अतः किसी भाव में कहीं भी न्यूनता नहीं है।

इस पक्ष में एक लीला का जहाँ आविर्भाव होता है, वहाँ दूसरी लीला प्रकट नहीं होती है, यह सिद्ध हुआ।

उक्त द्वितीय पक्ष के विषय में तर्क करते हैं, कि जब एक लीला के आविर्भाव में दूसरी लीला प्रकट नहीं होगी तो बहुत काल तक विलास नहीं होगा, इसलिये पक्षान्तर-तीसरा पक्ष कहते हैं।

भगवद्भाव प्राप्त हुई गोपी के सकाश से पूतना उलूखल आदि भाव को प्राप्त गोपी उत्पन्न है। इस बात को ज्ञापन करने के लिये कहते हैं, (सर्वत्र हरिबुद्ध्या वा) गोपियों में अति उत्कट विरहभाव से अतिदीनता उत्पन्न हो गई, जिससे गोपियाँ भगवच्चरणारविन्द सम्बन्ध की इच्छा करने लग गई और जिस स्थान पर भगवान् के चरण सम्बन्ध का प्रथम अनुभव हुआ था, उस लीला का आचरण करती हैं।

इस गोपी ने विचार किया कि यदि भगवान् मेरे ऊपर चरणस्थापन नहीं करते हो, तो पूतना उलूखल आदि बुद्धि से ही मेरे ऊपर चरण स्थापन करो। इस प्रकार के भाव से अत्यन्त आति-दुःख से ही सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो गई है, इसलिये भगवच्चरणारविन्द का सम्बन्ध प्रकर्ष से सिद्ध करने के लिये गोपियों में पूतनादिभाव है।

मूल कारिका में श्री महाप्रभुजी ने 'पुनः' शब्द कहा है, इससे ज्ञात होता है कि गोपियों को एक लीला का अनुकरण करने पर भी उक्त रीति से अत्यन्त आति जिस समय होती है, उस समय फिर दूसरा उलूखल आदिभाव होता है।

इस प्रकार यहाँ भाव अधिक होने से उत्कर्ष सिद्ध है, यह भाव है ॥ ३ ॥

कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबस्तनम् ।

तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहन् शकटायतीम् ॥ १५ ॥

पदपदार्थ— (पूतनायन्त्याः) पूतना की तरह आचरण करती (कस्याश्चित्) किसी गोपी का (कृष्णायन्ती) कृष्ण की तरह आचरण करती गोपी (स्तनम्) स्तन का (अपिबत्) पान करती हुई (अन्या) अन्य गोपी (तोकायित्वा) बालक की तरह आचरण करके अथवा आत्मा को लोक मानकर (रुदती) रुदन करती (शकटायतीम्) शकटासुर की तरह स्थित गोपी को (पदा) चरण से (अहन्) प्रहार करने लगी ॥ १५ ॥

भाषार्थ—पूतना की तरह आचरण करती किसी गोपी का, कृष्ण की तरह आचरण करती गोपी स्तनपान करती हुई, बालक की तरह आचरण करके रुदन करती अन्य गोपी ने शकटासुर की तरह स्थित गोपी को चरण से प्रहार किया ॥ १५ ॥

(सुबो०) प्रथमतो भगवच्चरित्रं पूतनासुपयःपानमिति, काचित्पूतना भूता जाता, अन्या 'अहं कृष्ण' इत्युक्तवती, तदा तामङ्के भगवद्बुद्ध्या अगृह्णात् । ततस्तस्याः पूतनायन्त्याः कृष्णायन्ती स्तनमपिबत् । तस्यास्तु मरणभावना न स्थितेति, सा न मृता । नाप्यनुकरणं कृतवती । कृष्णायन्ती च स्तनमात्रमेव पिबति । अलौकिकसामर्थ्याभावात् इति स्तनपानमात्रमुक्तम् । अमङ्गलतानि-वृत्तये च शकटभङ्गलीलामाह तोकायित्वेति । तोकवदाचरति, आत्मानं तोकं मन्यते वा, तोकवदात्मानं कृत्वा वा । शकटायतीं शकटवत् स्थितां, अहन् ताडितवती ॥ १५ ॥

पूतना के प्राण-पय का पान करना भगवान् का प्रथम चरित्र है, इसलिये कोई गोपी पूतनाभूत हो गई, अन्य गोपी 'अहं कृष्णः' मैं कृष्ण हूँ, इस प्रकार कहती थी।

यद्यपि यहाँ 'मैं कृष्ण हूँ' इस प्रकार कहने का प्रयोजन नहीं है, तथा पूतना के प्राणपय-पान समय 'कृष्णोहं' इस प्रकार कथन का प्राकट्य भी नहीं है, फिर 'मैं कृष्ण हूँ' इस प्रकार कथन सम्भव नहीं होता है, तथापि जिस समय पूतनाभूत गोपी आई थी, उस समय पूतनाभूत गोपी ने विचार किया कि कृष्ण मुझे ग्रहण करे, नहीं तो मेरा कार्य नहीं होगा, इस प्रकार की भगवान् की इच्छा पूतना में स्थित थी, और पूतना कृष्णत्व से मुझको जाने, इस प्रकार की इच्छा कृष्ण की तरह आचरण करनेवाली गोपी में थी, अतः उक्त बात ज्ञापन करने के लिये 'कृष्णोऽहं' कहा है। उस समय पूतनाभूत गोपी ने कृष्णरूप गोपी को भगवद्बुद्धि से गोदी में ले लिया। अनन्तर पूतना की तरह आचरण करनेवाली गोपी का, कृष्ण की तरह आचरण करनेवाली गोपी स्तनपान करती थी।

पूतना की तरह आचरण करनेवाली गोपी में 'मुझे मरना चाहिये' इस प्रकार मरणभावना में स्थित नहीं थी, इसलिये मरी नहीं।

पूतना की तरह आचरण करनेवाली गोपी के न मरने में 'भावनयैवाविर्भूता' भावना से ही लीला का आविर्भाव होता है, इत्यादि वाक्य से आचार्य द्वारा पूर्व कही उक्ति ही मुख्य समाधान है।

इस पूतनाभूत गोपी ने पूतना का अनुकरण भी नहीं किया, अर्थात् जिस प्रकार पूतना ने मारने की भावना से भगवान् को स्तनपान कराया था, उस प्रकार स्तनपान नहीं कराया, इसलिये कृष्ण की तरह आचरण करनेवाली गोपी स्तन मात्र का ही पान करती है, कारण कि भगवान् की तरह इस गोपी में अलौकिक सामर्थ्य नहीं है, इसलिये यहां अमञ्जलता दूर करने के लिये मूल में स्तनपान मात्र कहा है।

अब शकटभंग लीला शुकदेव जी कहते हैं।

(तोकायित्वा) इसमें 'क' अक्षर दीर्घ छान्दस है।

(१) बालक का आचरण करती है, (२) अथवा अपने को बालक मानती है।

(३) अथवा बालक की तरह आत्मा को करती है।

(शकटायतीम्) शकट की तरह स्थित गोपी को पाद प्रहार करती रही ॥ १५ ॥

(सुबो०) तृणावर्तलीलामाह दैत्यायित्वेति ।

अब शुकदेव जी तृणावर्त लीला का वर्णन करते हैं।

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् ।

रिङ्गयामास काप्यंग्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥ १६ ॥

पदपदार्थ—(एका) एक गोपी (दैत्यायित्वा) दैत्य की तरह आत्मा को करके (कृष्णार्भभावनाम्) कृष्ण की बालभावना वाली (अन्याम्) अन्य गोपी को (जहार) हरण करती हुई (काप्यंग्री) कोई गोपी (अंग्री) चरणों को अर्थात् दोनों घुट्टियों को (कर्षन्ती) खेंचती-घसीटती (घोषनिःस्वनैः) तूपुर आदि के शब्द सहित (रिङ्गयामास) रिङ्गण रेंगना अर्थात् चलती थी ॥ १६ ॥

भाषार्थ—एक गोपी अपने को दैत्य की तरह करके, कृष्ण की बाल भावना वाली अन्य गोपी का हरण करती हुई।

कोई एक गोपी चरणों का कर्षण करती, अर्थात् घुट्टियों से घिसटती तूपुर आदि के शब्द सहित रिङ्गण रेंगती थी ॥ १६ ॥

(सुबो०) दैत्यवदात्मानं कृत्वा कृष्णस्यार्भं बाल्यं भावयन्ती, कृष्णार्भ-भावनं तामेका आत्मानं दैत्यायित्वा जहार। काप्यंग्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः रिङ्गयामास चलितवती। यथा बाल्ये मुग्धप्रभीतवत् घोषप्रघोषरुचिरं भगवान् गच्छति। पूर्वश्लोके चतस्रः उक्ताः लीलाद्वयेन, तास्तामसतामस्यः। अत्र तिस्र एव राजसतामस्य इति। चरित्रलीलायामुक्ता विशेषा अत्राप्यनुसंधेयाः। अथवा। युगलास्तिस्रो निरूपिताः। गुणातीता त्वेका पुनः प्रकारान्तरेण। बह्वचः एकभावमापन्नाः भगवदिच्छया प्रधानगुणभावं प्राप्य रजसा अनेकधा विक्षिप्ताः बहुरूपा जाताः ॥ १६ ॥

दैत्य की तरह आत्मा करके, कृष्ण की बालभावना करती, कृष्ण बाल भावना करके वाली गोपी को, एक गोपी आत्मा को दैत्य की तरह करती हुई।

कोई एक गोपी चरण खेंचती तूपुर आदि के शब्द सहित घुट्टियों से चलने लग गई, जिस प्रकार बालभाव में मुग्ध डरपोक की तरह घोष प्रघोष से रुचिर भगवान् चलता है, उसी प्रकार चलने लगी।

पहिले १५ वें श्लोक में (१) पूतना भाववाली (२) कृष्ण भाववाली (३) बाल भाववाली (४) शकट भाववाली, इस प्रकार चार गोपियाँ कही हैं। और १ पूतना लीला, २ शकटभंग लीला, दो लीला निरूपण की हैं।

ये चारो गोपियाँ तामस तामस भाववाली हैं, और इस १६वें श्लोक में तीन गोपियाँ (१) दैत्य भाववाली (२) कृष्णभाववाली (३) रिङ्गण करनेवाली, इस प्रकार तीन हैं। ये तीनों राजस तामस भाववाली हैं।

भगवान् की चरित्रलीला में जिन गोपियों के भावविशेष से भेद वर्णन किये हैं, उनका यहां भी अनुसन्धान करना चाहिये।

अथवा, तीन युगल निरूपण किये हैं, पूतनावत् और कृष्णवत् गोपी का प्रथम युगल है, बालकवत् और शकटवत् गोपी का दूसरा युगल है, दैत्यवत् और कृष्ण बाल भावनावाली गोपी का तीसरा युगल है, इस प्रकार तीन युगल समुण भाववाले हैं, और रिङ्गण करनेवाली गुणातीत एक है।

पुनः प्रकारान्तर से बहुत-सी गोपियाँ एक भाव को प्राप्त हुईं, अर्थात् गोपालक-गोप रूप हुईं, और भगवान् की इच्छा से प्रधान गुणभाव को कृष्ण बलदेव भाव को दो गोपी प्राप्त हुईं।

गोपियों में शृङ्गाररस सम्बन्धी रजोगुण भाव विशेष अनेक प्रकार से विक्षिप्त हुआ, और गोपालक-गोपों के रूप में बहुत रूप से हो गया, अर्थात् श्रीकृष्णरूप, बलदेवरूप, गोपबालकरूप भेद से गोप रूपों में बहुत्व हो गया ॥ १६ ॥

(सुबो०) वृन्दावनक्रीडायां वत्सपालकरूपा जाताः। तत्र प्रकारमाह कृष्णेति ।

अब वृन्दावन क्रीडा में गोपियाँ वत्सपालकरूप हो गईं, इसका प्रकार शुकदेवजी कहते हैं।

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन ।

वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु वकायतीम् ॥ १७ ॥

पदपदार्थ—(द्वे) गोपियाँ (तु) तो (कृष्णरामायिते) कृष्णरामवत् हुईं (काश्चन) कुछ गोपियाँ (गोपायन्त्यः) गोपबालकवत् हुईं (च) और कुछ गोपियाँ वत्सरूप हुईं (चान्या) अन्य गोपी (वत्सायतीं) वत्सवत् आचरण करनेवाली गोपी को (हन्ति) मारती हैं (तत्र) वहां लीला में (एका) एक गोपी (तु) तो (वकायतीम्) बगला की तरह आचरण करनेवाली गोपी को मारती थी ॥ १७ ॥

भाषार्थ—दो गोपियाँ कृष्णरामवत् हुईं, कुछ गोपियाँ गोप बालकवत् हुईं, अन्य गोपियाँ बगला रूप हुईं, फिर अन्य गोपी वत्सासुरवत् आचरण करनेवाली को मारती हुईं, और एक गोपी वकासुरवत् आचरण करनेवाली गोपी को मारती रही ॥ १७ ॥

(सुबो०) द्वे कृष्णरामायिते, कृष्णरामवत् जाते। काश्चन गोपायन्त्यः। गोपा अत्र बालकाः। जातिशब्दोऽयम्। वत्सरूपाश्च काश्चन जाताः। चकारेण

समुच्चिताः । अन्या पुनर्वत्सायिता, वत्सासुरवदाचरति । तां घनती च जाता । कृष्णायिता अर्थात् चकारात् फलानि पातयन्ती च । अन्या पुनः वकायन्ती घनती जाता । वत्सवधो लोके बलभद्रकृत इत्यपि प्रसिद्धः । 'प्रलम्बो निहतोऽनेन वत्सको धेनुकादयः ।' अत उभयोर्मध्ये एका वकायतीम्, अन्या वत्सायतीम् ॥१७॥

दो गोपियां कृष्णरामवत् हुईं, और कुछ गोपियां गोपवत् हुईं ।

यदि कहो कि वत्सपाल लीला में तो भगवान् के साथ गोप बालक ही थे, इसलिये मूल में (बालायन्त्यः, कहना चाहिये था, मूल में गोपायन्त्यः, क्यों कहा ? इसके उत्तर में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं, यहां गोप शब्द बालकों का बोध करता है कारण कि गोपशब्द जातिवाचक है ।

कितनी ही गोपियां वत्सरूप हुईं, उक्त अर्थ मूल के 'च' शब्द से लिया है ।

अन्य गोपी फिर वत्सासुरवत् आचरण करती है, वत्सासुरवत् आचरण करनेवाली गोपीको अन्य गोपी मारती हुई, अर्थात् जो गोपी कृष्णरूप हुई थी, उसने वत्सरूप गोपी को मारा । मूल के 'च' शब्द का अर्थ इस प्रकार है कि कृष्णरूप गोपी फलों को गिराती हुई । फिर अन्य गोपी वक की तरह आचरण करनेवाली गोपी को मारती हुई, वत्सवध लोक में बलभद्रकृत प्रसिद्ध है 'प्रलम्बो निहतोऽनेन वत्सको धेनुकादयः' यह श्रीमद्भागवत का वाक्य है बलभद्र ने प्रलम्ब, वत्सक और धेनुक आदि का वध किया है ।

इसलिये दो गोपियों के मध्य में एक गोपी, वकासुर की तरह आचरण करनेवाली गोपी को मारती हुई और दूसरी गोपी वत्सासुरवत् आचरण करनेवाली गोपी को मारती हुई ॥ १७ ॥

(सुबो०) ततः परं गोपरूपेण वृन्दावनलीलामाह आहूयेति ।

इससे आगे गोपरूप से वृन्दावन लीला कहते हैं ।

आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम् ।

वेणुं कणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥ १८ ॥

पदपदार्थ—(कृष्णः) कृष्ण (दूरगा) दूर चली गयी गायों को (आहूय) बुलाकर (यद्वत्) कृष्ण की तरह कोई गोपी (तम्) कृष्ण को (अनुकुर्वतीम्) अनुकरण करती हुई (वेणुं) वेणु को (क्वणन्तीं) बजाती हुई (क्रीडन्तीं) क्रीडा करती हुई गोपी को (अन्याः) गोपवत् आचरण करनेवाली गोपियां (साधु) बहुत अच्छा (इति) इस प्रकार (शंसन्ति) प्रशंसा-बढ़ाई करती हैं ॥ १८ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार कृष्ण दूर गई हुई गायों को बुलाता था, उसी प्रकार कृष्ण का अनुकरण करती तथा वेणुनाद करती क्रीडा करती हुई गोपी की अन्य गोपरूप गोपियां बहुत सुन्दर बहुत सुन्दर कहकर प्रशंसा करती हैं ॥ १८ ॥

(सुबो०) गोरूपाः काश्चन जाताः, गोपालरूपाः काश्चन । तत्र यद्वत् कृष्णः दूरगाः गाः आहूय वेणुकणनं करोति, एवं दूरगा गोपीराहूय तं कृष्णमनुकुर्वती काचित् जाता ताम् । वेणुं क्वणन्तीम्, ततो नानाविधक्रीडां कुर्वती अन्याः गोपायिताः साधु साध्विति शंसन्ति ॥ १८ ॥

कितनी ही गोपियां गायरूप हो गईं, और कितनी ही गोपियां गोपालरूप हुईं, उस समय जिस प्रकार कृष्ण दूर चली गईं गायों को बुलाकर वेणुनाद करता है, उसी प्रकार कोई कृष्णरूप गोपी दूर चली गई गोपियों को बुलाकर कृष्ण का अनुकरण करती हुई ।

वेणुनाद करनेवाली कृष्णरूप गोपी अनेक प्रकार की क्रीडायें करती है ।

उसको अन्य गोपरूप गोपियां 'बहुत सुन्दर बहुत सुन्दर' इस प्रकार कहकर प्रशंसा करती हैं ॥ १८ ॥

(सुबो०) एका पुनः क्रीडायां कृतापि लीला भागवते अनुक्ता तां भावयित्वा तादृशीं लीलां कृतवती, तदाह कस्याश्चिदिति ।

फिर एक गोपी भगवान् ने क्रीडा में लीला तो की थी, किन्तु भागवत में शुकदेवजी ने वर्णन नहीं किया, इस प्रकार की लीला की भावना करके तादृशी लीला करती हुई, उसको शुकदेवजी कहते हैं ।

कस्याश्चित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु ।

कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥ १९ ॥

पदपदार्थ—(अपरा) अन्य गोपी (कस्याश्चित्) किसी गोपी में (स्वभुजं) अपने हस्त को (न्यस्य) धर कर (चलन्ती) चलती हुई (तन्मनाः) कृष्ण में मनवाली (आह) बोली (ननु) हे गोपियो ? (अहं) मैं (कृष्णः) कृष्ण हूं, मेरी (ललिताम्) मनोहर (गतिं) चालको (पश्यत) देखो । (इति) इस प्रकार कहने लगी ॥ १९ ॥

भाषार्थ—अन्य गोपी किसी गोपी के कन्धे पर अपना हस्त धर के चलती भगवान् में मनवाली कहती है कि मैं कृष्ण हूं, मेरी ललित-मनोहर गति देखो ॥ १९ ॥

(सुबो०) अत्रापि पूर्ववत् युगलास्तिस्रः । चतुर्थी वा । कृष्णरामायिते द्वे युगले । साध्वाशंसनसहिता वेणुनादपरा च तृतीया । एषा तु निर्गुणा । कस्यांचित् गोपरूपायां स्वभुजं स्थापयित्वा चलन्ती, अपरा गोपरूपा, अतोऽन्या । ननु हे गोप्यः अहं कृष्णः, मे ललितां गतिं पश्यतेति । दोषाभावार्थमाह तन्मना इति । पूर्वं कायिकीं चेष्टां केवलां कृतवती । इदानीं वाचा सहिताम् ॥ १९ ॥

सत्रह श्लोक से तीन से १९ तक वृन्दावन लीला कहने का प्रसङ्ग है, और यहां भी १५ वें श्लोक की तरह तीन युगल हैं ।

अर्थात् कृष्ण बलदेव का निरूपण करके, श्रीकृष्ण रूप एक गोपी, दूसरी बकरूप है, यह एक युगल है ।

वलराम रूप एक गोपी, दूसरी वत्सरूप है, इस प्रकार दो युगल हुए, दूसरे १८ वें श्लोक में दूर से गायों को बुलाना, वेणुवादन, क्रीडा आदि करनेवाली कृष्णरूप एक गोपी, दूसरी प्रशंसा करनेवाली है इस प्रकार एक युगल है, उक्त प्रकार से तीन युगल हैं ।

यद्यपि 'आहूय' इस १८ वें श्लोक में गोरूप, कृष्णरूप और गोपरूप इस प्रकार तीन कहने चाहिये, तथापि गायों को बुलानेवाली लीला करनेवाले एक कृष्ण भगवान् ही विवक्षित हैं, उनके मध्य में गोपरूपों का भी अभिनिवेश जानना चाहिये ।

साधु-साधु प्रशंसा सहित वेणुवादन करनेवाली तीसरी है, अर्थात् तीसरे युगल को साधन करनेवाली है ।

इस १९ वें श्लोक में कही चतुर्थ गोपी है, यह निर्गुण है, अर्थात् (कस्याश्चित्) इसमें कही कृष्णरूप गोपी गुणातीत है, और अन्य पूर्व में कही सगुण हैं ।

किसी गोपरूप गोपी पर अपनी भुजा स्थापित करके चल रही दूसरी गोपरूप गोपी बोली, हे गोपियो ! मैं कृष्ण हूँ, मेरी ललित-सुन्दर गति देखो ।

इस गोपी में किसी प्रकार का दोष नहीं था, इस बात को आगे कहते हैं (तन्मनाः) इसका कृष्ण में मन था ।

पहले इस गोपी ने केशव शरीर की क्रिया की थी, इस समय यह गोपी वाणीसहित शरीर की चेष्टा करती है ॥ १९ ॥

(सुबो०) पुनः प्रकारान्तरेण चातुर्विध्यमाह मा भैष्टेति ।

फिर प्रकारान्तर से निर्गुण, सात्त्विक, राजस और तामस चार प्रकार की गोपियों का वर्णन शुक्रदेवजी करते हैं ।

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ।

इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥ २० ॥

पदपदार्थ—(वातवर्षाभ्यां) वायु और वर्षा से (मा) मत (भैष्ट) डरो (तत्त्राणं) वायुवर्षा से रक्षण (मया) मैंने (विहितं) किया है, (इति) इस प्रकार (उक्त्वा) कह कर (यतन्ती) प्रयत्न करती गोपी (एकेन) एक (हस्तेन) हाथ से (अम्बरम्) वस्त्र को (उन्निदधे) ऊँचा धारण करती हुई ॥ २० ॥

भाषार्थ—वायु तथा वर्षा से मत डरो । मैंने वायुवर्षा से रक्षण तुम्हारा किया है, इस प्रकार कहकर प्रयत्न करती गोपी ने एक हाथ से गोवर्धन पर्वत की तरह अपना वस्त्र ऊँचा धारण कर लिया ॥ २० ॥

(सुबो०) एषैव निर्गुणा । काश्चन गो-गोपगोपीरूपा जाता वृष्टिभीता इव । तदा वातवर्षाभ्यां हेतुभूताभ्यां मा भैष्ट, मया तत्त्राणं विहितं इत्युक्त्वा एकेन हस्तेन अम्बरं यतन्ती, पर्वतवत् स्थापयन्ती, ऊर्ध्वं निदधे । गोवर्धनवत् धारितवती, यतन्ती प्रयत्नं कुर्वन्ती वा ॥ २० ॥

इस बीसवें श्लोक में कही गई गोपी निर्गुण है । कितनी ही गोपियाँ गाय, गोप और गोपीरूप हो गईं और वर्षा से भयभीत की तरह हो गईं, उस समय भय हेतु वायु वर्षा से मत डरो, मैंने तुम्हारा वायुवर्षा से रक्षण किया है, इस प्रकार एक निर्गुण गोपी कहकर एक हस्तसे वस्त्र गोवर्धन पर्वत की तरह स्थापन करती ऊँचा धारण करती हुई, अथवा गोवर्धन की तरह प्रयत्न करती ऊँचा धारण करती हुई ॥ २० ॥

(सुबो०) सात्त्विक्याश्चेष्टामाह आरुह्येति ।

अब सात्त्विक भाववाली गोपी की क्रिया कहते हैं ।

आरुह्यैका पदाक्रम्य शिरस्याहापरां नृप ।

दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥ २१ ॥

पदपदार्थ—(एकां) एक गोपी के ऊपर (आरुह्य) चढ़कर (शिरसि) मस्तक में (पदा) चरण से (आक्रम्य) प्रहार करके (अपरां) अन्य गोपी के प्रति (आह) बोली (दुष्टाहे) हे दुष्ट सर्प ! (गच्छ) चला जा (ननु) सम्बोधन मारने के लिये नहीं कहा है (खलानां) दुष्टों को (दण्ड धृक्) दण्ड देनेवाला (अहं) मैं (जातः) प्रकट हुआ हूँ ॥ २१ ॥

भाषार्थ—हे नृप एक गोपी अन्य गोपी के ऊपर चढ़कर और चरण से मस्तक में लात मारकर बोली, हे दुष्ट सर्प ! यहां से चला जा, खलों को दण्ड देनेवाला मैं प्रकट हुआ हूँ ॥ २१ ॥

(सुबो०) एकामारुह्य, पदा च आक्रम्य, शिरसि पादाघातं कृत्वा । नृपेति सम्बोधनं विश्वासाय । एषा लीला कठिना । उपरि वृक्षशाखामवलम्ब्य वा तथा कृतवती । वस्तुतस्तु या लीला यथा प्रभुणा कृता, सा तथैवात्राविर्भवति इति निरालम्बनत्वेऽपि नानुपपत्तिः ।) हे दुष्टाहे कालिय । इतो गच्छ । यतोऽहं खलानां दण्डधृक् जातः । ननु इति सम्बोधनं अमारणार्थम् ॥ २१ ॥

एक गोपी दूसरी गोपी के ऊपर चढ़कर उसके मस्तक में चरण से प्रहार करके बोली, हे नृप ! (इस सम्बोधन का तात्पर्य राजा परीक्षित का शुक्रदेवजी के कथन में विश्वास हो जाने के लिये है । यह लीला कठिन है, अथवा यह लीला इस प्रकार हुई कि कृष्णरूप गोपी ऊपर वृक्ष की शाखा का अवलम्बन करके, अर्थात् वृक्ष की शाखा में लटक कर दूसरी गोपी के लात मारती हुई ।

वास्तव में तो जो लीला जिस प्रकार प्रभु ने की है, वह उसी प्रकार से यहां प्रकट होती है, इसलिये निरालम्बन-वृक्ष शाखा के अवलम्बन बिना करने में भी कोई आपत्ति नहीं है ।

हे दुष्ट कालिय नाग ! यहां से तू चला जा, कारण कि मैं दुष्टों को दण्ड देने वाला प्रकट हुआ हूँ ।

'ननु' यह संबोधन है, इसका भाव यह है कि सर्प को मारना नहीं हूँ ॥ २१ ॥

(सुबो०) तत्रैकोवाचेति ।

अब वहां एक गोपी बोली, इसको आगे श्लोक में कहते हैं ।

तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम् ।

चक्षूंष्याश्चपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥ २२ ॥

पदपदार्थ—(तत्र) वहां (एका) एक गोपी (उवाच) बोली (हे गोपाः) हे गोपी । (उल्बणम्) भयंकर (दावाग्निं) वन में लगी अग्नि को (पश्यत) तुम देखो (आशु) जल्दी (चक्षूंषि) नेत्रों को (अपिदध्वं) बंद कर लो (वः) तुम्हारा (अञ्जसा) इसी क्षण में (क्षेमम्) कल्याण को (विधास्ये) विधान करूंगा ॥ २२ ॥

भाषार्थ—वहां एक गोपी बोली, हे गोपी ! तीक्ष्ण-भयंकर दावाग्नि को देखो, शीघ्र अपनी आखें मींच लो, मैं तुम्हारा क्षेम इसी क्षण में करूंगा ॥ २२ ॥

(सुबो०) राजसी पुनस्तत्रैका जाता । उवाच च वक्ष्यमाणम् । गोरूपाः काश्चन । गोपरूपास्तथापराः । एका तु कृष्णरूपा आह । हे गोपा उल्वणं दावाग्निं पश्यतेति । विरहेण दावाग्निं दृष्टवती, भावनया वा तथा भानम् । सर्वापि क्रीडा भगवद्रूपा तत्र तत्राविशतीति दावाग्नेरपि दर्शनम् । अन्यासां विशेषाकारेण तस्यां भगवद्भावाभावात् न तत्प्रार्थना । एवमेव वातवर्षस्थलेऽपि । अतिमत्तानामेव भगवद्भावेन तल्लीलावेशात् तस्य एव दर्शनमिति निष्कर्षः ॥ २२ ॥

वहाँ फिर एक गोपी राजसी थी, और वह वक्ष्यमाण को कहने लगी । कितनी ही गोपियाँ गायरूप हैं, और कितनी ही गोपियाँ गोपरूप हैं, एक गोपी कृष्ण रूप है, कृष्ण रूप गोपी बोली, हे गोपो ! उल्वण दावाग्नि को तुम देखो ।

श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि यह गोपी भगवान् के विरह में दावाग्नि को देखती है । यहाँ यह भाव है कि भगवान् ने जिस समय उक्त लीला की थी, उस समय पहले गोपों ने दावाग्नि को देखा था, अनन्तर भगवान् की प्रार्थना की थी, फिर यहाँ पूर्व से विपरीत क्यों कहा ! इस शंका का परिहार महाप्रभुजी ने 'विरहेण दावाग्निं दृष्टवती' इससे किया है, कारण कि जिसमें अति विगाड भाव होता है, उसको ही भगवद्भाव होता है, और उसके ही हृदय में विरहाग्नि प्रकट होती है, अर्थात् उसको ही दावाग्नि का दर्शन होता है, अतः उसी अति विगाड भाव वाली स्वामिनी ने दावाग्नि को देखा, अन्य गोपियों ने नहीं देखा है, इसलिये श्री महाप्रभुजी ने 'विरहेण' इत्यादि कहा है ।

इससे पूर्व उस समय भी भगवान् ने पालन ही किया था, इसलिये अब इस समय भी स्वामिनियों की रक्षा ही की है यह भाव है ।

अथवा इसी गोपी को इस दावाग्नि पान लीला की भावना हुई है, इसलिये इसी गोपी ने ही कहा है ।

सभी गोपियाँ भगवान् की क्रीडा में भगवद्रूप हैं ।

गोपियों की भिन्न भिन्न क्रियाओं में भगवद्रूप क्रीडा का आवेश है, इसलिये दावाग्नि का भी दर्शन होता है ।

अन्य गोपियों का विशेषाकार से दावाग्नि का दर्शन करने वाली गोपी में 'यह भगवद्रूप है' इस प्रकार का भाव नहीं था, इसलिये अन्य गोपियों ने भगवान् रूप गोपी से रक्षा के लिये प्रार्थना नहीं की ।

इसी भाव को 'माभेष्ट वातवर्षाभ्यां' इस २० वें श्लोक में भी समझ लेना चाहिये, बीसवें श्लोक में भगवद्भाव वाली गोपी को ही वायु वर्षा का दर्शन हुआ था, अन्य गोपियों को नहीं हुआ ।

भगवद्भाव वाली गोपी को अन्य गोपियाँ 'यह भगवान् है,' इस प्रकार नहीं जानती हुई इसलिये अन्य गोपियों ने भी वायु वर्षा से रक्षण की प्रार्थना नहीं की ।

अब श्री महाप्रभुजी निष्कर्ष कहते हैं कि, जो भक्त अति मत्त होते हैं, उनको ही भगवद्भाव होता है, और भगवद्भाव से भगवान् की लीला उसमें प्रविष्ट होती है, इसलिये उसकी लीला का दर्शन होता है, यह तात्पर्य है ॥ २२ ॥

(सुबो०) तामसीमाह बद्धेति ।

तामसी गोपी का शुकदेवजी वर्णन करते हैं ।

बद्धान्यया स्रजा काचित् तन्वी तत्र ह्युल्लखले ।

भीता सुदृक् पिधायस्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ॥ २३ ॥

पदपदार्थ—(काचित्) कोई (तन्वी) सुन्दर शरीरवाली (उल्लखले) ओखली में (अन्यया) अन्य किसी गोपी ने (स्रजा) माला से (बद्धा) बांध दी (हि) जिससे (तत्र) वहाँ (भीता) डरती (सुदृक्) सुन्दर दृष्टिवाली (आस्यं) मुखको (पिधाय) ढाँककर (भीति-विडम्बनम्) भय का अनुकरण (भेजे) करने लगी ॥ २३ ॥

भाषार्थ—एक सुन्दर अङ्ग वाली गोपी ने उल्लखल स्थानीय गोपी में माला से अन्य गोपी को बांध दिया ।

एक गोपी यशोदारूप थी, उससे डरती हुई सुन्दर दृष्टि वाली गोपी हाथ से मुख ढाँककर भय का अनुकरण करने लग गयी ॥ २३ ॥

(सुबो०) उल्लखले कयाचिद्वद्धो स्रजा मालया, उल्लखलस्थानीयार्पि काचित् । अन्या तु यशोदारूपा । तदा भीता सती सुदृक् उत्तमदृष्टियुक्ता आस्यं पिधाय हस्तेन सम्पूर्णं मुखमाच्छाद्य, भीत्यनुकरणं भेजे । अत्र क्रमे गुणा एव प्रयोजकाः । तत्तदधिकारानुसारेण तत्तल्लीलाः प्रादुर्भवन्ति । भगवद्वशीकरणान्ता च लीला । अन्यथान्ते उल्लखललीला न कृता स्यात् । नातः परं कर्तव्यमस्तीति लीलाया विरतिः । एवं लीलाभावमुपपाद्य भगवद्भावे वक्तव्ये भगवतो भीति-विडम्बनलीलायां सर्वा लीलास्तिरोहिताः । ततः पूर्ववत् पुनः प्रश्न एव स्थितः । तस्य संवेदनपूर्वकत्वात् । एतत्त्वावेशेन जातमिति संवेदनराहित्यम् । अतस्त्वस्य नोपसंहारः ॥ २३ ॥

उल्लखल में किसी गोपी ने कृष्ण रूप गोपी बांध दी, उल्लखल स्थानीय भी कोई गोपी थी, अन्य गोपी यशोदारूप थी, उस समय कृष्ण रूप सुन्दर दृष्टिवाली गोपी डरती हुई सम्पूर्ण मुखको हस्त से ढाँककर भय का अनुकरण करने लगी ।

यदि कहो कि पूर्व भगवान् ने जिस प्रकार पूतना का प्राणपय पान, फिर इसके अनन्तर शकट भङ्ग आदि लीला की, उसका निरूपण क्रम से यहाँ किया, अब गोवर्धन आदि लीला में क्रम निरूपण क्यों नहीं किया ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ क्रम निरूपण करने में गुण ही प्रयोजक हैं, अर्थात् गोपियाँ सात्त्विक आदि भावानुसार ही लीलार्थ करती हैं । और तत्तदधिकारानुसार ही तत्तल्लीलाओं का प्रादुर्भाव होता है, और भगवान् को वश करने पर्यन्त ही लीला है ।

यदि इस बात को नहीं मानते हैं तो गोपियाँ अन्त में उल्लखल लीला नहीं करती । अब इससे आगे गोपियों का कर्तव्य शेष नहीं है, इसलिये लीलाकृति भी समाप्त हो गई ।

गोपियां भगवान् की जिन लीलाओं का अनुकरण करती हैं, उन लीलाओं के क्रम में जिन गोपियों के चित्त में जिस प्रकार का सात्त्विकादिभाव है, उस भाव के अनुसार भावनासे उस उस लीला का प्रादुर्भाव होता है ।

उन लीलाओं का फल भगवान् को वश में करना है, कारण कि वशीकृत ही भगवान् ने चरणदर्शन कराया है, इस आशय को सूचन करने के लिये यहां 'भगवद्वशीकरणान्ता लीला' भगवान् को वश करने पर्यन्त ही लीला है, इस प्रकार मूल में कहा है ।

भगवान् की इच्छा से ही आरम्भ लीला का क्रमत्याग भी है । साधनों की पराकाष्ठा उसी समय सिद्ध होती है, जिस समय भगवान् अपने वश में हो जाता है, इस प्रकार पुष्टिमार्ग की व्यवस्था है ।

पुष्टिमार्गीय व्यवस्था यहां इस लीला में सिद्ध हो गई, अतः अब यहां से आगे गोपियों का कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, इसलिये लीलाओं का भी तिरोधान हो गया । अर्थात् साधनत्व से लीला प्रकट होकर कृतार्थ हो गई, इसलिये लीला करने का प्रयोजन न होने से लीला तिरोभूत हो गई ।

इस प्रकार वर्णन करने से भक्तिमार्ग का स्वरूप सिद्ध बतलाया है, कि भगवान् भक्त के वश में हो जाता है, वहां पुष्टिमार्ग सिद्ध जानना चाहिये ।

इसी बात को श्रीमहाप्रभुजी ने निबन्ध में कहा है ।

'कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते' ।

जहां तक भक्त कृष्ण के अधीन रहता है, वहां तक भक्ति मर्यादा है, और जब कृष्ण भक्त के अधीन हो जाता है, तब उसको पुष्टि भक्त कहते हैं । जिस प्रकार यहाँ दामोदर लीला में भगवान् ने भक्तवशता दिखाई है ।

इस प्रकार गोपियों में लीलाभाव उत्पन्न करके, अब भगवद्भाव कहने के लिये भगवान् की भय अनुकरण लीलामें सर्वलीलायें तिरोहित हो गईं, इसलिये पुनः गोपियां पहिले की तरह वृक्ष आदि से प्रश्न ही करने लग गईं ।

प्रश्न करने में बाहर का ज्ञान होता है, भीति अनुकरण तो भगवान् के आवेश से हुआ है, उसमें बाह्यज्ञान प्रपञ्चज्ञान नहीं रहता है, इसलिये इसका उपसंहार नहीं कहा है ॥ २३ ॥

(सुबो०) पूर्व तु 'इत्युन्मत्तवच' इति वचनमेवोपसंहृतम्, नतु प्रश्न उपसंहृतः । अत इदानीं मध्ये लीलामुक्त्वा तस्यास्तिरोधाने पुनरेव वृन्दावनलता-स्तरून् कृष्णं पृच्छमाना जाता इत्याह एवमिति ।

पहले 'इत्युन्मत्तवच' इस चौदहवें श्लोक में वचन का ही उपसंहार किया है, प्रश्न नहीं, आगे २४वें श्लोक में 'पृच्छमानाः' इससे कायिक अभिनय गोपियों ने किया है, इस प्रकार बोध होता है, आगे गोपियों को अत्यन्त आति का वर्णन किया है, इसलिये इस समय मध्य में लीला कहकर, लीला का तिरोधान होने पर फिर भी गोपियां वृन्दावन के लता वृक्षों के प्रति कृष्ण की पूछने लग गईं, इसका वर्णन शुक्रदेव जी करते हैं ।

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून् ।

व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥ २४ ॥

पदपदार्थ—(एवं) इस प्रकार (वृन्दावनलताः) वृन्दावन की लताओं के प्रति (तरून्) वृक्षों के प्रति (पृच्छमानाः) पूछती गोपियां (वनोद्देशे) वन भूमि में (परमात्मनः) भगवान् के (पदानि) चरणों को (व्यचक्षत) देखने लगीं ॥ २४ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार वृन्दावन की लतायें तथा वृक्षों से कृष्ण को पूछती गोपियां वन-भूमि में परमात्मा भगवान् के चरणों का दर्शन करती रहीं ॥ २४ ॥

(सुबो०) तदा पुनरनुत्तरे प्राप्ते भगवानाविशन् मोहं दूरीकृत्य सर्वं ज्ञापितवानित्याह व्यचक्षतेति । तापापनोदनार्थमेव त्रयम्, अन्वेषणं लीलाप्रवेशो भगवदावेशश्चेति । तत्र प्रश्नोऽन्तरङ्ग इति स एव सर्वत्रानूद्यते । वृन्दावनलताः तरून् कृष्णं पृच्छमाना जाता इति । ततो वनोद्देशे वनभूमौ भगवतः पदानि दृष्टवत्यः । परमात्मन इति । पदानां परमपुरुषार्थता सूचिता । भगवदावेशे हि सर्वज्ञता भवति । तेषां च कार्यं भगवत्पददर्शनम् । 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय' इति श्रुतेः ॥ २४ ॥

गोपियों में भगवान् की प्राप्ति के लिये अत्यन्त आति थी, उस आति में गोपियों ने वृन्दावन की लताओं तथा वृक्षों से भगवान् को पूछा, किन्तु जब उस समय उत्तर नहीं मिला तब गोपियों में भगवान् प्रविष्ट हुए, और गोपियों का मोह दूर करके सर्वज्ञापन करते हुए, इस बात को कहते हैं, (व्यचक्षत) गोपियां वनभूमि में परमात्मा के चरण दर्शन का करती हुईं ।

भगवान् को ढूँढना, भगवान् की लीलाओं का प्रवेश, तथा भगवान् का प्रवेश, ये तीनों गोपियों का ताप दूर करने के लिये ही हैं ।

अन्वेषण—ढूँढने से शान्ति, और अन्य लीलाप्रवेश, भगवत्प्रवेश, दोनों से ताप की स्फूर्ति नहीं होती है ।

इनमें प्रश्न अन्तरङ्ग है, इसलिये प्रश्नका सर्वत्र अनुवाद किया है, गोपियां वृन्दावन के लतावृक्षों से कृष्ण को पूछने लगीं, फिर अनन्तर वनभूमि में भगवान् के चरण का दर्शन हुआ ।

मूल में 'परमात्मनः' इस पद से भगवान् के चरण को परम पुरुषार्थता सूचन की है, परमात्मा के चरण परमपुरुषार्थ रूप हैं ।

यदि कहो कि मूल में भगवान् का प्रवेश नहीं कहा, फिर तुमने गोपियों में भगवान् का आवेश क्यों कहा ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि जिस समय भगवान् का आवेश होता है, उस समय जीव में सर्वज्ञता होती है, अतः सर्वज्ञता लक्षण कार्य से भगवदावेश अनुमेय है ।

गोपियों में सर्वज्ञता का कार्य भगवान् के पद का दर्शन स्पष्ट है ।

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' ज्ञानी और भक्त सदा विष्णु के परम पद का दर्शन करते हैं, यह श्रुति है ॥ २४ ॥

(सुबो०) एता अपि पूर्ववत् दशविधाः । तथैव तासां वचनानि । पदानि प्रत्यक्षयोग्यानि सर्वैरेव दृश्यन्त इति तेषां याथात्म्यज्ञानं साध्यम् । अतः प्रथमं आहुः पदानि व्यक्तमेतानीति ।

पूर्व की तरह ये गोपियां भी दश प्रकार की हैं, नव सगुण, और दशमी निर्गुण है, इन गोपियों के वाक्य भी सगुण निर्गुण भेद से दश प्रकार के हैं।

प्रत्यक्ष योग्य भगवान् के चरण का सभी गोपियां दर्शन कर रही हैं, इस लिये चरणों का याथात्म्यज्ञान-वास्तव में जिस प्रकार के भगवान् के चरण हैं, उसका ठीक ठीक ज्ञान साध्य है। अर्थात् दर्शन साधन है, और याथात्म्य ज्ञान साध्य है, इसलिये गोपियों ने पहले ही कहा है 'पदानि व्यक्तमेतानि'।

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।

लक्ष्यन्ते हि ध्वजांभोजचक्रांकुशयवादिभिः ॥ २५ ॥

पदपदार्थ—(एतानि) ये (पदानि) चरण (महात्मनः) महत्तों की भी आत्मा (नन्दसूनोः) नन्द पुत्र के (व्यक्तम्) स्पष्ट सत्य हैं, इसमें संदेह नहीं है (हि) जिससे (ध्वजांभोज चक्रांकुशयवादिभिः) ध्वजा कमल चक्र अंकुश यवादि चिह्नों से (लक्ष्यन्ते) लक्षित होते हैं ॥ २५ ॥

भाषार्थ—ध्वजा कमल चक्र अंकुश और यव आदि के चिह्नों से लक्षित होते हैं कि ये चरण निश्चय महात्मा नन्दपुत्र के हैं ॥ २५ ॥

(सुबो०) एतानि पदानि नन्दसूनोरेव। व्यक्तं सत्यम्, नात्र सन्देहः। चिह्नैः पदानां विशेषज्ञानम्। चिह्नान्येव कथं भवन्तीत्याशङ्क्य, तत्रोपपत्ति-माहुः महात्मन इति। महतामप्यात्मा महान् वा ब्रह्मरूपः। तस्य तत्तत्कार्यार्थं पदे चिह्नानि भवन्ति, प्रकृतेऽपि तेषामुपयोग इति तदभिव्यक्तिः क्रियते। तानि चिह्नान्याह लक्ष्यन्ते इति। अनुमीयन्ते पदानि। असाधारणधर्मैः। लोकेऽप्येता-दृशोऽर्थः प्रसिद्ध इति सम्मतिः। ध्वजस्य स्थापनं भक्तानां निर्भयवासार्थम्। अम्भोजस्थापनं सुखसेव्यत्वाय। चक्रस्थापनं रक्षायै। मनोनिग्रहार्थं अङ्कुश-स्थापनम्। कीर्तिसिद्धयर्थं यवः। वज्रादयोऽप्यादिशब्देनोच्यन्ते, पापपर्वतादि-निराकरणार्थाः ॥ २५ ॥

गोपियां कहती है ये पद नन्दसूनु के ही हैं यह सत्य है, इस में संदेह नहीं है। चिह्नों से भगवान् के चरणों का विशेष ज्ञान हो रहा है। यदि कहो कि भगवान् के चरण में चिह्न ही क्यों होते हैं।

तब इस शंका के उत्तर में कहती है। (महात्मनः) महत् वड़ों की भी आत्मा, अथवा महान् आत्मा, ब्रह्मरूप, इस पक्ष में कर्मधारय समास है, पृथक्-पृथक् कार्य करने के लिये महात्मा ब्रह्मरूप भगवान् के चरणों में चिह्न होते हैं। प्रकृत, इसचालू प्रसङ्ग में भी भगवान् के चरण-चिह्नों का उपयोग है, इसलिये भगवान् ने चरणचिह्नों को प्रकट किया है।

गोपियां चरणचिह्नों का वर्णन करती हैं, (लक्ष्यन्ते) असाधारण धर्मों से भगवान् के चरणचिह्नों का अनुमान हो रहा है, लोक में भी इस प्रकार का अर्थ प्रसिद्ध है, इस प्रकार 'हि' शब्द सम्मति देता है।

भक्तों के निर्भय निवास करने के लिये भगवान् के चरण में ध्वजा विराजमान है।

भक्त भगवान् की सुख से सेवा कर सके, इसलिये कमल विराजमान है, भक्त की रक्षा करने के लिये चक्र विराजमान है। भक्तों के मन का निग्रह करने के लिये अङ्कुश विराजमान है, कीर्तिसिद्धि के लिये यव का चिह्न भगवान् के चरण में विराजमान है।

और आदि शब्द से वज्र आदि के चिह्न पाप पर्वत आदि निराकरण करने के लिये भगवान् के चरण में विराजमान हैं ॥ २५ ॥

(सुबो०) एवमसाधारणधर्मैः पदानि निश्चित्य, तन्मार्गेण गता इत्याह तैस्तैरिति।

इस प्रकार गोपियां असाधारण धर्मों से भगवान् के चरणों का निश्चय करके उसी मार्ग से अर्थात् भगवान् के चरणों का दर्शन करते करते आगे गईं, इसको शुकदेव जी कहते हैं।

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।

वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन् ॥ २६ ॥

पदपदार्थ—(तैस्तैः) उस उस (पदैः) चरणों से (तत्पदवीं) भगवान् के मार्ग को (अन्विच्छन्त्यः) ढूँढती हुईं (अग्रतः) पहिले गोपियां (अबलाः) बलरहित, अर्थात् देहानु-संधान करतीं (वध्वाः) किसी गोपी के (पदैः) चरणों से (सुपृक्तानि) मिले हुए भगवान् के चरणों को (विलोक्य) देखकर (आर्ताः) दुःखी गोपियां (समब्रुवन्) परस्पर कहने लगीं ॥ २६ ॥

भाषार्थ—भगवान् के उन उन चरण चिह्नों से अबला गोपियां मार्ग ढूँढती आगे आगे गईं, और किसी गोपी के चरण भगवान् के चरणों से मिले देखकर दुःखी होती कहने लगीं ॥ २६ ॥

(सुबो०) ज्ञानं क्रियापर्यवसायीति क्रिया निरूप्यते। तत्पदवीमन्विच्छ-च्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः जाताः, पदान्यन्विष्य तत्पदवीं गता इत्यर्थः। मध्ये तासां प्रतिबन्धमाह वध्वा इति। यदि तासां मत्सरदोषो न स्यात्, गच्छेयुरेवान्ति-कम्। दोषवशाच्च परं कुण्ठिता भवन्ति। तदाह। वध्वाः कस्याश्चिद्रोपिकायाः पदैः सुपृक्तानि पङ्क्त्याकारेण गतानि भगवत्पदानि दृष्ट्वा तानि विलोक्य च आर्ता जाताः। तदा अन्योऽन्यमेवान्ब्रुवन्। ज्ञानक्रिययोरुपसर्जनं कृत्वा वाचि प्रतिष्ठिता जाताः। अन्यथा शीघ्रगमने भगवान् प्राप्तः स्यात् ॥ २६ ॥

ज्ञान का पर्यवसान-परिणाम-अन्त क्रिया में है, इसलिये गोपियों की क्रिया का निरूपण करते हैं।

गोपियों को भगवान् के चरणचिह्न के दर्शन से याथात्म्यज्ञान हुआ था, इसलिये ज्ञान के परिणाम से क्रिया प्रकट होती है।

भगवान् के मार्ग को ढूँढती गोपियां प्रथम अबला हुईं, अर्थात् पहले गोपियों को अपनी देह की सुख नहीं थी, अब गोपियां अपनी देह का अनुसन्धान करती हुईं, और भगवान् के चरणों की खोज करके भगवत्पदवी को प्राप्त हो गईं।

मध्य में गोपियों को चलते-चलते प्रतिबन्ध आ गया, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं।

यदि गोपियों को मत्सर दोष नहीं होता, तो भगवान् के समीप पहुँच जातीं, केवल दोष वश से गोपियां कृण्ठित—चलते चलते रुक गईं, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं कि किसी गोपी के चरणों से मिले बराबर जा रहे भगवान् के चरणों को देखकर, और इस गोपी के चरणों को देखकर गोपियां आर्त-दुःखी हो गईं, और उस समय परस्पर कहने लगीं।

गोपियां ज्ञान और क्रिया को उपसर्जन-गोण करके वाणी में स्थित हो गईं। अर्थात् परस्पर बातचीत करने में लग गईं, नहीं तो शीघ्र चली जातीं और परस्पर बातों में न लगतीं तो भगवान् प्राप्त हो जाते ॥ २६ ॥

(सुबो०) तासामसूयावाक्यान्याह कस्याः पदानीति ।

अब आगे श्लोक में गोपियों के असूया-ईर्ष्या वाक्य कहते हैं।

कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना ।

अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ॥ २७ ॥

पदपदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (करेणोः) हथिनी के (करिणा) हाथी द्वारा (तथा) उसी प्रकार (अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः) कंधे पर धरा प्रकोष्ठभाग जिसमें (च) और (नन्दसूनुना) नन्दपुत्र के साथ (यातायाः) जा रही (कस्याः) किस गोपी के (एतानि) ये सब (पदानि) चरण हैं ॥ २७ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार हाथी हथिनियों के कंधे ऊपर अपना हाथ-सूँड़ रखता है, उसी प्रकार कंधे ऊपर हाथ धरनेवाले नन्दपुत्र के साथ जानेवाली किस गोपी के ये सब चरण हैं ॥ २७ ॥

(सुबो०) पुरुषोऽत्र न संभाव्यते, नापि ग्रामान्तरस्त्रियः, अतोऽस्मन्मध्य एव कस्याश्चिद्भविष्यन्तीति । अयं प्रश्न इतरपरिच्छेदेन विशेषज्ञानार्थः । न त्वत्र पदे लक्षणानि सन्ति । चकारादभगवतः तस्याश्च चेष्टाज्ञापकानि चिह्ना न्यधुच्यन्ते । सा हि नन्दसूनुना सहैव याता । अन्यथा भगवान् न गच्छेत् । प्रायेण नीतः । स्वापेक्षया तस्या महद्भाग्यमाहुः । अंसे न्यस्तः प्रकोष्ठभागो यस्याम् । प्रकोष्ठभागो भगवदीयः करतलादवाचीनभागः । तावता करेण क्वचित्सम्बन्धः सूचितः । तावदेव नैकट्यं पदयोरिति । किञ्च, मध्ये तयोः रसाविर्भावोऽपि जायत इति दृष्टान्तेनाहुः । करेणोः करिणा यथेति । करेणोरसे यथा हस्तः प्रसायंते इति । करेणुः स्त्री, तस्या अंसे यथा करी हस्तं प्रसारयति, तदा पदानि मिलन्ति, संमुखश्च भवति, उद्धृष्टकण्ठा वा भवति । स्पर्शसुखमेव प्रधानमिति गजो दृष्टान्तोक्तः । एवं त्रिविधा गोपिका उक्ताः ॥ २७ ॥

गोपियां कहती हैं कि यहां पुरुष की तो संभावना ही नहीं होती है, और न ग्रामान्तर की स्त्री की सम्भावना होती है, इसलिये हमारे मध्य में से ही किसी गोपी के चरण होंगे ।

यह गोपियों का प्रश्न अन्य स्त्री का परिच्छेद निर्णय करके विशेष ज्ञान के लिये है । अर्थात् अमुक स्त्री को ही भगवान् साथ लेकर गये हैं, उसके ये चरण हैं, इस प्रकार विशेष ज्ञान करने के लिये ही प्रश्न किया है ।

जिस गोपी को भगवान् साथ लेकर गये हैं, यहां उसके चरण में लक्षण नहीं है । मूल के चकार से भगवान् तथा उस गोपी के चेष्टा-क्रिया ज्ञापन करनेवाले चिह्न भी हैं ।

वह गोपी नन्दराय जी के पुत्र के साथ ही गई है, नहीं तो भगवान् नहीं जाते । वह गोपी ही प्रायः करके भगवान् को अपने साथ ले गई है । अर्थात् वह गोपी प्रधान और भगवान् उसके समक्ष गोण हो गये हैं ।

अब गोपियां कहती हैं कि हमारी तुम्हारी अपेक्षा वह गोपी महाभाग्यवाली है, जिसके कंधे पर भगवान् ने अपना प्रकोष्ठ भाग धरा है, प्रकोष्ठभाग भगवदीय है, अर्थात् भगवान् का है, करतल के नीचे के भाग को प्रकोष्ठ कहा जाता है, पहुँचे से केहुनी तक का भाग है, अर्थात् प्रकोष्ठ भाग से जिस समय गले में हस्त डाला जाता है, उस समय हस्तभाग से स्तनादि के ऊपर स्पर्शादि होता है, यहां इस भाव का सूचन किया है, इतनी ही चरणों में निकटता है ।

अब गोपियां कहती हैं कि भगवान् तथा गोपी दोनों को मध्य में रस का आविर्भाव भी होता जा रहा है, इस बात को दृष्टान्त से बतलाती हैं, (करेणोः करिणा यथा) ।

हथिनी के कंधे पर जिस प्रकार हाथी अपना हस्त-सूँड़ प्रसारण करता है, उसी प्रकार भगवान् ने उस गोपी के कंधे ऊपर अपना श्रीहस्त प्रसारण किया है, 'करेणुः' हाथी की स्त्री, उसके अंस पर जिस समय हाथी हस्त-सूँड़ प्रसारण करता है, उस समय दोनों हाथी तथा हथिनी के चरण मिल जाते हैं, और हाथी हथिनी के सम्मुख हो जाता है ।

अथवा हाथी का कण्ठ हथिनी से उद्धृष्ट घिसा जाता है, उसी प्रकार भगवान् तथा गोपी की स्थिति मालूम पड़ती है ।

शृङ्गाररस में स्पर्श सुख ही प्रधान है, इसलिये यहां गज का दृष्टान्त दिया है ।

इस प्रकार सत्त्वप्रधान तीन प्रकार की गोपियों का वर्णन किया है ॥ २७ ॥

(सुबो०) गुणातीताया वाक्यद्वयमाह । दोषाभावप्रतिपादकं गुणप्रतिपादकं च । तामसतामसी भगवदाविष्टा न भवतीति । अनयाराधित इति द्वाभ्याम् ।

अब शुकदेव जी गुणातीत गोपियों के वाक्य दो श्लोकों में कहते हैं, एक श्लोक दोषाभाव प्रतिपादक है, और दूसरा गुण प्रतिपादक है ।

तामस तामसी गोपी में भगवान् का आवेश नहीं होता है, इसलिये इसका वाक्य भी संभव नहीं है ।

अथवा (विप्रावमन्ता विशतां तमोन्धं यथा गजः) ब्राह्मणों का अपमान करनेवाला अन्धतम में प्रविष्ट हो, जिस प्रकार हाथी, इस वाक्य से गज तामस है, हाथी का दृष्टान्त देने से, इस वाक्य को कहने वाली स्वामिनी तामस तामसी है, इस प्रकार जानना चाहिये ।

इस प्रकार पहले कहे सत्त्वप्रधान गोपियों के तीन वाक्य, तथा आगे दो श्लोकों में गुणातीत गोपियों के दो वाक्य ।

तथा तीन श्लोकों में रजोगुण प्रधान गोपियों के वाक्य, और दो श्लोकों में तमोगुण प्रधान गोपियों के वाक्य निरूपण किये हैं ।

इस प्रकार दश संख्या पूर्ण होती है ।

अब प्रथम दो श्लोकों में गुणातीत गोपियों के वाक्य कहते हैं ।

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।

यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः २८ ॥

पदपदार्थ—(अनया) इस गोपीने (भगवान्) (हरिः) हरि (ईश्वरः) ईश्वर (नूनं) निश्चय (आराधितः) साधित किया है (यत्) जिससे (नः) हम सब को (विहाय) छोड़ कर (प्रीतः) प्रसन्न हुआ (गोविन्दः) गोविन्द (याम्) इस गोपी को (रहः) एकान्त में (यामनयत्) ले गया है ॥ २८ ॥

भाषार्थ—इस गोपी ने निश्चय भगवान् हरि ईश्वर की आराधना की है, कारण कि इस-के ऊपर प्रसन्न गोविन्द हम सबको छोड़ कर इसको एकान्त में ले गया है ॥ २८ ॥

(सुबो०) तत्र प्रथमं तथा सह विशेषरमणे तस्या भाग्यं तस्याः पुण्यं हेतुत्वेनाहुः । अनया हरिर्नूनमाराधितः । यद्यप्यस्माभिरप्याराधितः, तथापि नूनं नाराधितः । भगवदनाराधकैरपि फलत्वात् भगवतः सम्बन्धसम्भवात् । ओरा-धिते तु फलं स्ववशे भवति । तत्रापि तारतम्यम् । ननु तुल्यकर्मणां मध्ये कथं अवान्तरभेदः, तत्राह भगवानिति । सामग्रीभेदात् कर्माणि सर्वत्र विलक्षणानि भवन्ति । तदवान्तरवैलक्षण्यं स एव जानाति । अतस्तथा फलनिरूपको जातः । ननु तथापि वयं तथा न ज्ञापनीयाः, दुःखसाधकत्वादिति चेत्, तत्राहुः हरिरिति । सहि सर्वदुःखहर्ता, वैलक्षण्यज्ञापनार्थं तथा बोधितवान् । ननु भक्तिः तुल्येति कथं भक्त्यनुसारेण तुल्यफलं न कृतवान्, तुल्यफलत्वेन कर्म कुतः स्वीकृतवान्, तदाहुरीश्वर इति । कदाचिद्भक्तिमुररीकरोति, कदाचित्कर्म, कदाचित्स्वेच्छाम् । न हीश्वरो नियन्तुं शक्यः । अस्मान् भक्तिमार्गे योजयति, न कर्ममार्गं इति । अत एव नः अस्मान् विहाय गोविन्दः साधारणेन्द्रोऽपि रहः एकान्ते प्रीतः सन् तामेवानयत् । कामरसः स्त्रीसमूहापेक्षयाप्येकस्यामेव मुख्यतयोत्पद्यते । तथा करणे प्रीतिर्हेतुः, प्रीतौ भक्तिः कर्म वा ॥ २८ ॥

साथ में ले जाकर वहां प्रथम भगवान् ने इस गोपी के साथ विशेष रमण किया है, विशेष रमण करने में इस गोपी का भाग्य पुण्य ही हेतु है, इस बात को गोपियां कहती हैं ।

आराधन पुण्य है, पुण्यजनित भगवत्प्रसाद विषय भाग्य शब्द से कहा है, इस गोपी ने हरि की निश्चय आराधना की है ।

गोपियां कहती हैं, यद्यपि भगवान् की आराधना हमने भी की है, तथापि हमने निश्चय आराधना नहीं की है, 'नूनं' मूल में कहा है, इसका स्वारस्य यह है कि हमने किसी अन्यद्वारा आराधना की है ।

यदि कहो कि अन्य द्वारा आराधना करने परभी 'तत्क्रतु न्याय' से फल भी अन्य द्वारा ही होना चाहिये, साक्षात्सम्बन्ध नहीं होना चाहिये ।

इस शंका का समाधान यह है कि जो लोग भगवान् की अन्य साधन द्वारा आराधना करते

हैं, साक्षात् आराधना नहीं करते हैं, उनको भी भगवान् फल रूप हैं, इसलिये भगवान् का सम्बन्ध सम्भव होता है, अर्थात् अन्य द्वारा भी भगवान् का सम्बन्ध होता है ।

ब्रह्मपुराण की समाप्ति होने पर मायानुकीर्तन अध्याय के प्रारम्भ में भास्कर की प्रसन्नता से शंभु की पूजा से रुचि उत्पन्न होती है, इस प्रकार कहकर 'सुष्टे त्रिलोचने तस्य भक्तिर्धवलि केषवे' ।

महादेव के प्रसन्न होने पर केशव में भक्ति होती है, इस प्रकार कहा है । भागवत एका-दश स्कंध में भी भगवान् ने कहा है ।

यद्यपि मय, और बाण दोनों शिवभक्त प्रसिद्ध हैं, तथापि 'वृषपर्वविलिखीणो मयश्चाप विभीषणः' इत्यादि से अपने पद की प्राप्ति कही है, अतः भगवान् की अनाराधना-नहीं आराधना करने वाले साधनों द्वारा भी भगवान् के साक्षात्सम्बन्ध में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है ।

उक्त प्रकार निरूपण करने से ज्ञात होता है कि कुमारिकाओं ने भी यही अपना कात्या-यनी द्वारा आराधन स्मरण किया है ।

यदि कहो कि अन्य द्वारा आराधन और साक्षात् आराधन, ये दोनों तुल्य ही हुए, फिर इस गोपी के आराधन में विशेषता क्या हुई ?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि भगवान् की साक्षात् आराधना करने पर फल रूप भगवान् आराधना करनेवाले के वश में हो जाते हैं, अन्य द्वारा आराधन में प्रभु वश नहीं होते हैं ।

यदि कहो कि ठीक यही बात है तो गोपियों के वश में तो भगवान् बाल्यकाल से ही हैं 'गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यत्' इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट ज्ञात होता है, इस समय भी उक्त वाक्य प्रकीर्ण करने से गोपियों के वश में ही हूँ, यही वाक्य प्रकट होता है, फिर निश्चय आराधना हमने नहीं की है, इस प्रकार गोपियों ने क्यों कहा ?

इस शंका के समाधान में गोपियां कहती हैं । भगवान् की साक्षात् आराधना में भी तारतम्य है ।

यदि तारतम्य नहीं हो तो हम सब गोपियों का त्याग कर उस गोपी को साथ लेकर भगवान् क्यों जाते ? अतः मालूम होता है कि भगवान् के साक्षात् आराधन में भी भेद है ।

यदि कहो कि कर्म सर्वगोपियों का तुल्य है, फिर अवान्तरभेद कैसे ?

इस प्रकार की शंका में गोपियां कहती हैं (भगवान्) आप षडैश्वर्यवान् हैं, सामग्री भेद से कर्म सर्वत्र विलक्षण होते हैं, अर्थात् भिन्न-भिन्न सामग्री होने से कर्म भी एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं ।

कर्मों की अवान्तर विलक्षणता ज्ञानस्वरूप भगवान् ही जानते हैं, इसलिये भगवान् कर्मा-नुसार फल देते हैं, फल से भेद स्पष्ट ज्ञात हो जाता है ।

यदि गोपियां कहें कि भगवान् को हमारे लिये इस प्रकार का ज्ञान नहीं कराना था, कारण कि इस प्रकार के चरण दर्शन करके हमको दुःख होता है । दुःख साधक ज्ञान कराना भगवान् के लिये उचित नहीं है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं (हरिः) वह सर्वदुःखहर्ता है । जिस गोपी को भगवान् साथ ले गये हैं उसमें और अन्य सब गोपियों के कर्म में अवान्तर विलक्षणता बताने के लिये भगवान् ने गोपियों को पददर्शन आदिका ज्ञान कराया है, कारण कि कर्मों के भीतर भेद होने से भिन्न-भिन्न फल दिया है, जो फल भगवान् के साथ जानेवाली गोपी

को प्राप्त हुआ है, वह फल हम सब गोपियों को प्राप्त नहीं हुआ, इस प्रकार का ज्ञान जब गोपियों को हुआ, तब गोपियों ने जाना कि इस प्रकार का कर्म हमने किया है, जिसके कारण उस गोपी और हमारे दोनों के कर्मभेद से फलभेद हो गया है।

हमारे दोष से भगवान् ने हमारा त्याग किया है।

इस प्रकार भक्त को जिस समय अपना दोष स्फुरित होता है, उस समय मत्सरता से उत्पन्न दुःख नहीं होता है।

अब गोपियों में भी मत्सरतादोष—(हमको छोड़कर भगवान् अन्य गोपी को साथ ले गये), नहीं रहा।

यदि कहो कि उस गोपी की और हमारी सबकी भक्ति तो तुल्य है, फिर भगवान् ने भक्ति के अनुसार तुल्यफल क्यों नहीं दिया। तुल्य फलत्व से कर्म स्वीकार क्यों किया।

कर्ममार्ग में कर्मानुसार फल मिलता है, मान लिया जाय कि उस गोपी का कर्म और हमारा कर्म विलक्षण है, किन्तु भगवान् ने हमारा भक्तिमार्ग में अङ्गीकार किया है, वह गोपी भी भक्तिमार्गीया है, इसलिये हमारे तुल्य है, यदि भगवान् हमारी तरह उस गोपी को भी केवल भक्ति का अङ्गीकार करे तो हमारे सबके तुल्य वह गोपी भी हो, किन्तु उस गोपी में आराधन बललक्षण कर्मविशेष है, अधिक है, इसलिये भगवान् ने उस गोपी का कर्ममार्ग स्वीकार क्यों किया।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (ईश्वरः) भगवान् ईश्वर है, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, किसी समय फल देने में भक्ति का अङ्गीकार करता है, किसी समय कर्म स्वीकार करता है, और किसी समय अपनी इच्छा स्वीकार करता है, ईश्वर का कोई नियमन नहीं कर सकता है, अतएव हम

हमारा भगवान् भक्तिमार्ग में योजन करता है, कर्ममार्ग में नहीं करता है, अतएव हम सबको छोड़कर गोविन्द, साधारण इन्द्र भी एकान्त में प्रसन्न हुआ, उसी गोपी को साथ ले गया है।

साधारण इन्द्र कहने का तात्पर्य इस प्रकार है कि—

‘इति गोकुलपति गोविन्दमभिषिच्य च’। इस गोवर्धनलीला प्रसङ्ग के वाक्य से साधारणतया भगवान् सभी गोकुल के इन्द्र हैं, किसी एक के विशेषता से नहीं हैं, फिर भी एक गोपी को साथ ले गये, इसलिये सर्वसाधारण गोकुल के इन्द्र को हमारी अपेक्षा विशेषता से एक गोपी का भोग करना यद्यपि अनुचित है, तथापि ईश्वर होने के कारण सर्व बात उचित ही है।

कामरस स्त्रीसमूह की अपेक्षा भी एक स्त्री में ही मुख्यता से उत्पन्न होता है।

भगवान् हम सबको छोड़कर जिस गोपी को साथ ले गये हैं, उसमें प्रीति हेतु है, अर्थात् इस गोपी के ऊपर भगवान् प्रसन्न हो गये, इसलिये अपने साथ ले गये हैं।

भगवान् के प्रसन्न करने में भक्ति, अथवा कर्म हेतु है ॥ २८ ॥

(सुबो०) एवं तस्या भाग्यमभिनन्द्य मात्सर्येऽपि गूढे तथा वचनं भवतीति स्वभाग्याभिनन्दनमप्याहुः धन्या इति ।

इस प्रकार जिस गोपी को भगवान् साथ लेकर पधारें थे, उस गोपी के भाग्य की प्रशंसा गोपियों ने की, किन्तु इस प्रकार के वचन गुप्तमात्सर्य में भी कहे जाते हैं कि भगवान् का आराधन तो एक इसीने किया है, हमने क्या किया है, जिससे इस गोपी को भगवान् साथ ले गये।

गोपियों ने गुप्तमात्सर्य से इस गोपीकी प्रशंसा नहीं की, इस बात को सूचन करने के लिये गोपियाँ अपने भाग्य का भी अभिनन्दन करती हैं, अर्थात् आगे श्लोक में गोपियाँ चरण सम्बन्ध से रेणुओं को धन्यता कहकर हमको भी भगवान् के चरण का सम्बन्ध हुआ है, इसलिये हम सब भी धन्य हैं, इस प्रकार कहती हैं।

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यञ्जरेणवः ।

यान् ब्रह्मेशो रमा देवो दधुर्मूर्धन्यघनुत्तये ॥ २९ ॥

पदपदार्थ—(अहो) आश्चर्य है, (हे आल्यः) हे सखियो । (अमी) ये सब (गोविन्दाङ्घ्र्यञ्जरेणवः) गोविन्द के चरणकमल की घूलियाँ (धन्याः) धन्य हैं (यान्) जिन रजों को (ब्रह्मा) प्रजापति (ईशः) महादेव (रमा) लक्ष्मी (देवी) देवता रूप पालन करनेवाली शक्ति (अघनुत्तये) पाप दूर करने के लिये (मूर्ध्नि) मस्तक पर (दधुः) धारण करते हुए ॥ २९ ॥

भाषार्थ—हे आलियो ! आश्चर्य की बात है कि गोविन्द के चरणकमल की रज धन्य है, जिस रज को ब्रह्मा, शिव और रम देवी ने अपने पाप दूर करने के लिये मस्तक पर धारण किया है ॥ २९ ॥

(सुबो०) अहो आश्चर्य, हे आल्यः सख्यः, अमी अङ्घ्रिरेणवो धन्याः । मात्सर्याभावार्थं चैतदुच्यते । यथा रेणवः, तथा सेति । विश्वासार्थं अप्रतारणार्थं च सम्बोधनम् । अनेन रेणूत्कर्षेण रेणव एव धार्याः स्वदोषनिवृत्त्यर्थमित्युक्तं भवति । पूर्वमत्रैव ते रेणवः स्थिताः, न तदा तेषामुत्कर्षः, यदा पुनश्चरणसम्बद्धाः, तदा धनमर्हन्तीति । धनं कृष्णः, यथेन्द्रो देवानाम् । यथा धनेन सर्वविषयप्राप्तिः एवं प्रभुणापि । तेषां धन्यत्वमुपपादयन्ति यानिति । ब्रह्मा ईशो रमा च देवतारूपा पालिका शक्तिः । तेषां स्वस्वाधिकारे दोषसम्भवात् तन्निवृत्त्यर्थं मूर्ध्नि दधुः । ब्रह्मानन्दरूपाया निवृत्त्यर्थं देवतापदम् । अतः कारणादेतद्वारणेन वयमपि निर्दुष्टाः नीयमानगोपिकातुल्या भविष्याम इति ॥ २९ ॥

अहो शब्द आश्चर्य अर्थ में है, हे आलियो ! हे सखियो ! भगवान् के ये चरणरेणु धन्य हैं । गोपियों में मात्सर्य दोष नहीं है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये गोपियाँ कहती हैं कि जिस प्रकार गोविन्दचरण-स्पर्श से रेणु धन्य हैं, उसी प्रकार जिस गोपी को भगवान् एकान्त में अपने साथ ले गये हैं, वह गोपी भी धन्य है।

विश्वास के लिये तथा झूठी बात कहकर न ठगने के लिये ‘हे आल्य’ सम्बोधन दिया है, जिससे सब गोपियाँ वचन वाक्य न समझकर वचन पर विश्वास करें।

इस प्रकार गोपियों ने भगवान् के चरणरज की श्रेष्ठता बताकर यह सूचन किया है कि अपने दोष निवृत्त करने के लिये भगवान् की चरणरज ही धारण करनी चाहिये।

पहले यहाँ इसी स्थान में रज स्थित थी, किन्तु उस समय रज का उत्कर्ष नहीं था, जिस समय फिर रजसे भगवान् के चरण का सम्बन्ध हुआ उस समय रज धन के योग्य हुई।

धन कृष्ण है, अर्थात् जिस प्रकार देवताओं का धन इन्द्र है, उसी प्रकार हमारा धन कृष्ण है, जिस प्रकार धन से सर्व विषय की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार प्रभु से सर्वविषय-सर्वपदार्थ की प्राप्ति होती है।

अब गोपियाँ रज का धन्यत्व प्रतिपादन करती हैं, (यान्) ब्रह्मा, शिव, रमा—लक्ष्मी देवतारूप पालन करनेवाली शक्ति, उक्त सर्वदेवता अपने-अपने अधिकारानुसार कार्य करते हैं,

उसमें देवताओं को दोष भी सम्भव होता है, कारण कि अधिकार में दोष अवश्य करके होता ही है, इसलिये अपने-अपने दोष निवृत्त करने के लिये देवताओं ने भगवान् की चरणरज मस्तक पर धारण की है।

भगवान् की चरणरज जिसके मस्तक पर स्वयं स्थित होती है। उसका दोष दूर करके उसमें स्वयं योग्यता सम्पादन करती है।

यहाँ पर लक्ष्मीजी का वर्णन करने में ब्रह्मानन्दरूप लक्ष्मी का वर्णन नहीं किया है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये मूल में 'देवी' शब्द पद कहा है।

इस प्रकार भगवच्चरण रज का महत्त्व बतलाकर गोपियाँ कहती हैं कि इसी कारण भगवान् की चरणरज धारण करके हम सब भी निदुष्ट-दोषरहित होकर जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये हैं, उस गोपी के तुल्य हो जायेंगी अर्थात् निर्दोष हो जाने पर भगवत्प्राप्ति हो जायेगी ॥ २९ ॥

(सुबो०) अन्या रजःप्रकृतय आहुः तस्या इति ।

अब रजोगुण भाववाली गोपियाँ कहती हैं।

पहले २५, २६, २७ इन तीन श्लोकों में सत्त्वप्रधान तीन गोपियों का वर्णन किया, फिर २८, २९ दो श्लोकों में गुणातीत गोपियों के दो वाक्य कहे, अब आगे रजोगुण प्रधान गोपियों के तीन वाक्य कहते हैं।

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् ।

यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥ ३० ॥

पदपदार्थ—(या) जो (एका) एक गोपी (अपहृत्य) भगवान् को अपने साथ ले जाकर (यत्) जिससे (गोपीनां) हम सब गोपियों का आगरूप (अच्युताधरम्) भगवान् के अधरामृत का (रहः) एकान्त में (भुङ्क्ते) पान करती है (तस्याः) उस गोपी के (अमूनि) ये सब (पदानि) चरण (नः) हमको (उच्चैः) अत्यन्त (क्षोभं) क्षोभ को (कुर्वन्ति) करते हैं ॥ ३० ॥

भाषार्थ—जो एक गोपी भगवान् को साथ ले जाकर हम सब गोपियों का आगरूप अच्युत भगवान् का अधरामृत एकान्त में पान करती है, उस गोपी के ये सब चरण हमको अत्यन्त क्षोभ करते हैं ॥ ३० ॥

(सुबो०) भगवच्चरणारविन्दरजस्तथैव, परमस्याः गोपिकायाः अमूनि पदानि सङ्गे गच्छन्त्याः नोऽस्माकं क्षोभं कुर्वन्ति । तत्राप्युच्चैरत्यर्थम् । नन्वेका की भगवान् गच्छेत्, तदपेक्षया ससहायो भक्तिमार्गे युक्त इति चेत् तत्राहुः । यद्यस्मात् गोपिकानां सर्वासामेव आगरूपमच्युताधरं ता विहाय एकैवोपभुङ्क्ते । तत्रापि रहः एकान्ते तासामनुशास्यतिरेकेण । ननु विरतो भगवान् बहुणी-सम्बन्धाद्भविष्यति, कुतः सा भोक्ष्यते, तत्राहुः अच्युतेति । सहि पूर्णकाम एव न तस्य च्युतिरस्ति ॥ ३० ॥

गोपियाँ कहती हैं कि भगवान् के चरणारविन्द की रज तो साथ ही है, परन्तु भगवान् का साथ जानेवाली गोपी के ये सब चरण हमको क्षोभ करते हैं, उसमें भी अत्यन्त क्षोभ करते हैं।

यदि कहो कि भगवान् के इकले जाने की अपेक्षा दूसरे सहायक के साथ जाना भक्तिमार्ग में योग्य ही है।

इसके उत्तर में गोपियाँ कहती हैं कि क्षोभ होने का कारण यह है कि हम सब गोपियों का ही आगरूप अच्युत भगवान् का जो अधरामृत है, उस अधरामृत का पान हम सबको छोड़कर यह गोपी अकेली ही करती है, उसमें भी एकान्त में हव सब गोपियों की आज्ञा बिना करती है।

यदि कहो कि भगवान् ने पहिले बहुत-सी स्त्रियों के साथ सम्बन्ध किया है, अब इस समय विरत भगवान् उस गोपी का भोग कैसे भोगेंगे।

तब इस शङ्का के उत्तर में गोपियाँ कहती हैं, (अच्युतेति) वह भगवान् पूर्ण काम ही है, उसकी कभी च्युति नहीं है, इसलिये उस गोपी का भोग करने में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है ॥ ३० ॥

(सुबो०) अन्या पुनस्ततोऽपि खेदं कृतवत्य इत्याह न लक्ष्यन्त इति ।

अन्य गोपियाँ पूर्वोक्त गोपियों से भी विशेष खेद करती हुई इस बात को कहती हैं।

न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः ।

खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निये प्रेयसीं प्रियः ॥ ३१ ॥

पदपदार्थ—(अत्र) इस स्थान में (तस्याः) जिस गोपी को भगवान् साथ ले गये हैं, उस गोपी के (पदानि) चरणचिह्न (न) नहीं (लक्ष्यन्ते) दीखते हैं (नूनं) निम्न (तृणाङ्कुरैः) तृण के अङ्कुरों से (खिद्यत्) खेद को प्राप्त हुई (सुजाताङ्घ्रितलाम्) सुन्दर कोमल चरण तलवाली (प्रेयसी) प्यारी गोपी को (प्रियः) प्यारा कृष्ण (उन्निये) ऊँची उठाता हुआ।

भाषार्थ—इस स्थान में जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये हैं उस गोपी के चरण नहीं दीखते हैं, निश्चय तृण के अङ्कुरों से उस गोपी के कोमल चरण तल में, जिस समय खेद हुआ है, उस समय प्रिया को प्यारे ने ऊँचे उठा लिया है ॥ ३१ ॥

(सुबो०) अहो किमिति विचार्यते । अधरामृतं पिबतीति । एतावददूरे समागतानि तस्याः पदानि अग्रे न लक्ष्यन्ते । न च वक्तव्यं समीचीनं जातमिति, तत्राहुः । तस्याः तृणाङ्कुरैः खिद्यद् पादतलं जातम् । तदा तादृशीमुन्निये, ऊर्ध्वं नीतवान् । कटिभागे स्कन्धभागे वा । वस्तुतस्तु हस्ताभ्यामेवोदधृतवानिति सुतरां खेदे हेतुः । ननु कथमेवं करिष्यतीत्याशङ्क्याहुः प्रेयसीमिति । साप्यत्यन्तं प्रिया, स्वयमपि तस्याः प्रियः । अतो ज्ञायते न सा स्कन्धमारूढा, किन्तु केवल-मुन्निये ॥ ३१ ॥

गोपियाँ कहती हैं कि हे गोपियो ! वह गोपी भगवान् के अधरामृत का पान करती है, इसका क्या विचार करती हो, देखो इतने दूर तक उस गोपी के चरण भगवान् के चरणों के साथ-साथ आये हैं, आगे नहीं दीखते हैं।

यदि कहो कि यह तो बहुत ही अच्छा हुआ।

तब इसके उत्तर में गोपियाँ कहती हैं कि (शिलतृणाङ्कुरैः) उस गोपी का जिस समय तृणाङ्कुरों से पादतल खेद को प्राप्त हुआ है, उस समय भगवान् दःखी गोपी को कटि भाग पर

अथवा स्कन्धभाग पर ऊँचा उठा कर ले गये हैं, वास्तव में तो हाथों से उठाकर ले गये हैं, यह विशेष खेद में हेतु कहा है :

यदि कहो कि भगवान् इस प्रकार क्यों करेगा ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं (प्रेयसीं) वह गोपी भगवान् को अत्यन्त प्यारी है और उस गोपी को स्वयं भगवान् भी अत्यन्त प्यारे हैं, इसलिये ज्ञात होता है कि वह गोपी कंधे ऊपर नहीं चढ़ी, किन्तु भगवान् ने केवल दोनों हाथों से ऊँचे उठा ली है ॥ ३१ ॥

और गोपियां कहती हैं कि इस प्रकार से उस गोपी को दोनों हाथों से ऊँचा उठाकर भगवान् का जाना बहुत दूर तक सम्भव नहीं होता है, इसलिये किसी स्थान पर विश्राम करके उस गोपी के लिये भगवान् पुष्पों को चुनते हैं । इस बात को आगे श्लोक में गोपियां कहती हैं ।

अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थं प्रेयसा कृतः ।

प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥ ३२ ॥

पदपदार्थ—(अत्र) इस स्थान में (प्रेयसा) प्यारे ने (प्रियार्थं) प्यारी के लिये (प्रसूनावचयः) वृक्षों से पुष्पों का चुनना (कृतः) किया है (प्रपदाक्रमणे) चरणों के अग्रभाग से आक्रमण जिनमें, अर्थात् पादाग्रभाग से खड़े होने से (असकले पदे) सम्पूर्ण पद-चिह्न नहीं, आधे पदों का चिह्न (एते) ये दोनों (पदे) चरणों को (पश्यत) देखो ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—यहां इस स्थान में प्यारे ने प्यारी के लिये वृक्षों से पुष्प चुने हैं, देखो चरणों के आगे का भाग उँचा करने से आधे चरणचिह्न दीखते हैं ॥ ३२ ॥

(सुबो०) प्रसूनानामवचयो वृक्षादुत्तारणम् । न च स्वार्थं भविष्यतीति शङ्कनीयम् । सा हि श्रान्ता । अतः प्रियार्थं एव । सा तु कर्तुमशक्तैव । तदाहुः प्रेयसा कृत इति । सा हि भगवदपेक्षया खर्वा प्रपदाभ्यामुत्थानुमप्यशक्ता । अतः प्रेयसैव कृतः । यतः प्रपदाक्रमणे पादाग्राभ्यामेवाक्रमणं ययोः । अत एवासकले, पाष्णिभागो नाभिव्यक्त इति । पश्यतेति संदेहाभावार्थं वचनम् ॥ ३२ ॥

वृक्षों से पुष्प चुनने को, उतारने को पुष्पों का अवचय कहते हैं, वृक्षों से पुष्पों को भगवान् अपने लिये चुनते हैं, इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये, कारण कि वह गोपी श्रान्त-यंक गई है, इसलिये अपनी प्यारी के लिये ही भगवान् पुष्पों का चयन करते हैं ।

वह गोपी थक गई है, इसलिये फूल चुनने का उसमें सामर्थ्य नहीं रहा, इस बात को गोपियां कहती हैं 'प्रेयसाकृतः' प्यारे ने पुष्पावचय किया है ।

और एक बात यह है कि वह गोपी भगवान् की अपेक्षा छोटी है, वृक्ष ऊँचे हैं, इसलिये चरण के आधे भाग को ऊँचा करके भी इसमें पुष्प चुनने का सामर्थ्य नहीं है, इसलिये दर्शनी नहीं, भगवान् ने ही पुष्प चुने हैं । इसी कारण से यहां भगवान् के आधे चरण चिह्न नहीं हो रहा है, अर्थात् अग्र भाग का दर्शन होता है, पश्चात् एड़ी का भाग प्रकट नहीं हो रहा है, तुम सब देखो ? इस प्रकार गोपियां अन्य गोपियों से संदेह दूर करने के लिये 'पश्यत' देखो । इस प्रकार कहती हैं ॥ ३२ ॥

(सुबो०) ततोऽप्यन्या अधिकमेव सूचयन्त्य आहुः केशप्रसाधनमिति । अथ आगे उक्त गोपियों से भी अन्य तमः प्रधान दो गोपियां पूर्व से अधिक सूचय करती हैं ।

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ।

तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

पदपदार्थ—(अत्र) इस स्थान में (तु) तो (कामिना) कामी भगवान् ने (कामिन्याः) कामिनी गोपी के (केशप्रसाधनं) केशों का प्रसाधन (कृतम्) किया है (तानि) उन केशों की (चूडयता) चुटिया करता हुआ (इह) इस स्थान में (ध्रुवम्) यह बात सत्य है (कान्ताम्) कान्ता के (उपविष्टम्) समीप में बैठा है ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—इस स्थान में तो कामी भगवान् ने कामिनी स्वामिनी के केश गूँथे हैं, केशों को गूँथता हुआ यहां पर निश्चय कान्ता के समीप कान्त बैठा है ॥ ३३ ॥

(सुबो०) नखैरेव केशानां प्रसाधनम्, वेण्याकारेण आपीडाकारेण वा । तुराब्दोऽन्यथा पक्षं व्यावर्तयति । न ह्यत्र ज्ञानोपदेशः सम्भवति । तदाहुः कामिन्याः कामिना कृतमिति । एतत् उत्थायापि भवति । चूडायां पुष्पप्रवेशनं तु उत्थिते न भवति । क्रोडे पुष्पाणि स्थापयित्वा क्रमेण तानि निवेशनीयानि । अतः तानि चूडयता इहोपविष्टम् । ध्रुवमिति सत्यम् । कान्तामुप कान्तासमीपे । कान्ता-मुद्दिश्य वा । तथैवाकृतिर्दृश्यत इति ॥ ३३ ॥

इस स्थान में वेणी के आकार से अथवा मुकुट के आकार से कामी भगवान् ने कामिनी गोपी के केशों में पुष्प अपने नखों से ही गूँथे हैं ।

मूल का 'तु' शब्द अन्य पक्ष का व्यावर्तन करता है, अर्थात् इस स्थान में नखों से ही केश गूँथन किया है, अन्य कार्य नहीं किया है, कारण कि इस स्थान में ज्ञानोपदेश सम्भव नहीं होता है, इस बात को गोपियां कहती हैं, 'कामिन्याः कामिना कृतम्' कामी भगवान् ने कामिनी का केश गूँथन किया है ।

केश प्रसाधन तो खड़े होकर भी हो सकता है, किन्तु चुटिया में पुष्पों का प्रवेश करना खड़े होकर नहीं हो सकता है, चुटिया में पुष्पों को क्रम से यथावत् लगाना बैठकर अपनी गोदी में पुष्पों को रखकर ही होता है, इसलिये पुष्पों से केशों की चुटिया करते हुए भगवान् यहां बैठे हैं । यह बात सत्य है ।

कान्ता के समीप में अथवा कान्ता का उद्देश करके-सामने करके यहां बैठे हैं । इस स्थान पर इसी प्रकार की आकृति का दर्शन हो रहा है ॥ ३३ ॥

(सुबो०) एवं रसार्थं तस्यानयनं सामग्रीसम्पादनमलङ्करणं चोक्तम् । यदर्थमेतावत्तदाहुः रेम इति ।

इस प्रकार रस के लिये एक गोपी द्वारा भगवान् को एकान्त में लेकर जाना, तथा सामग्री सम्पादन करना, एवं अलङ्करण करना कहा, अब आगे जिस कार्य के लिये उक्त सर्व कार्य किया, उसको गोपियां कहती हैं ।

रेमे तथा चात्सरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥ ३४ ॥

पदपदार्थ—(आत्सरतः) आत्मा में रतिवाला (आत्मारामः) आत्मा में ही क्रीडा-वाला (अखण्डितः) पूर्णनिन्द भगवान् (अपि) भी (कामिनां) कामी पुरुषों की (दैन्यं)

दीनता (च) और (स्त्रीणां) स्त्रियों की (दुरात्मता) दुष्टता को (दर्शयन्) दिखाते हुए (तथा) उस गोपी के साथ (रेमे) रमण करते हुए ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—आत्मरत आत्माराम अखण्डित-पूर्णानन्द भी भगवान् कामियों का दैन्य तथा स्त्रियों की दुरात्मता को दिखाते हुए उस गोपी के साथ रमण करते हुए ॥ ३४ ॥

(सुबो०) पुष्टत्वात् कामस्य आत्मरतः तथा च सह रेमे । चकारात् लक्ष्म्या च । अन्तः प्रविष्टाभिर्वा । सापि रेम इति वा । आत्मन्येव रतियंस्य । तेन निष्काम एव तस्या यथेच्छं कामं पूरितवान् । अस्यामपि दशायामात्मरत एव, रसाधारत्वाय तस्यामात्मानं स्थापितवान् । आत्मन्येव मुख्या रतिः आत्मन्येव रमणं क्रीडा च यस्य । यतः अखण्डितः इन्द्रियैरन्तःकरणैर्विषयैर्वा । यदि स्वानन्दोऽन्यत्र गच्छेत्, तदान्यत्र रतो भवेत् । ननु कथमेवमसमीचीनस्थाने एतावता प्रयासेन एवं रमणं कृतवानिति, तत्र प्रयोजनमाहुः कामिनां दर्शयन् दैन्यमिति । कामिनस्त्वेवमेव दीना भवन्ति । 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणा' इति तेषामनुकरणं करोति । अन्यथा तेषां निरोधो न स्यात् । प्रयोजनान्तरमप्यस्तीत्याहुः स्त्रीणामिति । स्त्रीणां च दुरात्मता प्रदर्शिता । न तासां काचिदशक्तिरस्ति, नापि सौकुमार्यम्, किन्तु वशीकृते पुरुषे दौष्ट्यमेव कुर्वन्ति । 'शाला वृकाणां हृदयान्येता' इति । अतः उभयबोधनार्थमेवं रेमे ॥ ३४ ॥

काम पुष्ट हो गया, इसलिये आत्मा में रति करनेवाले भगवान् उस गोपी के साथ रमण करते हुए । अर्थात् जिस प्रकार लौकिक कामी महान् भी केवल स्वार्थपर होता हुआ स्वयं जिस समय सुखी होता है, उस समय अपना कार्य सम्पन्न करने में दुःखी का अनुसंधान नहीं करता है, उसी प्रकार भगवान् आत्मारामत्वलक्षण अपने धर्म का अतिक्रमण करता हुआ, हमारे सबके दुःख का विचार न करके और स्वार्थ के लिये ही उक्त सर्व सामग्री आदि संपादन करके स्वयं उद्भट भाववाला, उद्भट भाववाली ही गोपी के साथ रमण करता हुआ इस आशय से सुबोधिनी में 'पुष्टत्वात्' कहा है ।

तो जिस भगवान् को अपने आत्मारामत्व धर्म का ही विचार नहीं है, उसको पर धर्म का विचार न हो तो क्या आश्चर्य की बात है ।

इस प्रकार 'आत्मरत' शब्द का अर्थ स्वार्थपर होता है, इसलिये श्लोक में पुनरुक्ति नहीं है, काम का पोषण करने से आत्मरत-स्वार्थपर भगवान् हो गये, और उस गोपी के साथ रमण करते हुए ।

यहां आत्मरत में तथा उस गोपी के रमण करने में काम पोष हेतु है, 'आत्मरत आत्म-क्रीडा आत्ममिथुनः' इस श्रुति में कहा भगवान् का धर्म भंग न हो जाय, इसके लिये मूल श्लोक में 'च' शब्द कहा है, और 'च' शब्द कहने का आशय यह है कि भगवान् ने लक्ष्मी के साथ अथवा अन्तर्गृहगता गोपियां जो सायुज्य को प्राप्त हुईं भगवान् के भीतर प्रविष्ट थीं, उनके साथ रमण किया है, अथवा 'च' शब्द का अर्थ यह भी होता है कि वह गोपी भी रमण करती है । अतः यह सिद्ध हुआ कि लक्ष्मी तथा गोपी भगवान् से भिन्न नहीं हैं, इस लिये श्रुति में कहा गया कि धर्म भंग नहीं होता है ।

जिसकी आत्मा में ही रति होती है, वह आत्मरत कहलाता है, इस प्रकार सकाम होते हुए भी भगवान् की निष्कामता में किसी प्रकार की क्षति नहीं होती है, इस बात को सापब करने के लिये आत्मारामत्व कहा है ।

यदि कहो कि पूर्वोक्त भगवान् का रमण तो निष्कामता को भंग करनेवाला है । तब इसके उत्तर में कहते हैं कि निष्काम भगवान् ने उस गोपी का यथेच्छ काम पूर्ण किया है, इस दशा में भी भगवान् आत्मरत ही है ।

अब प्रकारान्तर से पुनरुक्ति दोष दूर करने के लिये आत्मरत शब्द का अर्थ कहते हैं । 'रसाधारत्वाय तस्यामात्मानं स्थापितवान्' ।

भगवान् रसात्मक शृङ्गार रस स्थायिभावात्मक है, इसलिये भगवान् ने विचार किया कि यह गोपी भी शृङ्गार रस का आधार बन जाये, अतः भगवान् ने इस गोपी में शृङ्गार रस स्थायि भावरूप अपना रसात्मक स्वरूप स्थापन किया है ।

यदि भगवान् इस गोपी में अपना स्थायिभावात्मक शृङ्गार रस स्वरूप प्रकट करके रमण न करते तो इस रस का अनुभव होना ही सम्भव नहीं होता । कारण कि प्राकृत भाव में उक्त रस का अनुभव नहीं होता है ।

अथवा 'आत्मरत' पदका इस प्रकार अर्थ है ।

आत्मा में, शृङ्गार स्थायि भावात्मक रस स्वरूप में ही 'रति' आसक्ति जिसकी वह आत्मरति है, और आत्मा में शृङ्गार स्थायि भावात्मक स्वरूप में ही रमण और क्रीडा जिसकी वह आत्माराम है ।

'आत्मरत' इस पद में आत्म पद स्वामिनी वाचक है, इसलिये यह अर्थ हुआ कि भगवान् आत्माराम भी उस गोपी में आसक्त होते उसके साथ रमण करते हुए । प्रथम मूल का चकार विशेष रमण विविध प्रकार के बन्धादि को सूचन करता है, अर्थात् भगवान् ने बन्धादि प्रकार से भी विशेष रमण किया है ।

यदि कहो कि इस प्रकार के रमण में तो नखक्षत, दाँतो से दंशन आदि कार्य भी सम्भव होते हैं, इसलिये खण्डित होने से ब्रह्मता नहीं रहती है ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'अखण्डितः' जिस प्रकार भगवान् उस गोपी में आसक्त भी आत्माराम ही है, उसी प्रकार नखक्षत दंशन आदि से खण्डित भी अखण्डित ही है, कारण कि इस गोपी के इन्द्रिय अन्तःकरण और शब्द स्पर्श रूप आदि विषयों से भगवान् खण्डित नहीं हुआ था, अर्थात् भगवान् का स्वरूपानन्द बाह्यइन्द्रिय अन्तःकरण और शब्दादि पाँचों विषयों से सम्बन्धित नहीं था, यदि भगवान् का स्वानन्द इन्द्रियादि सम्बन्ध के योग्य होता तो स्थायिभाव स्थापन के विना ही लोक की तरह उस गोपी में भी इन्द्रियादि द्वारा ही भगवान् सुख उत्पन्न करता, किन्तु यह आनन्द अपनी आत्मा के ही सम्बन्ध योग्य है, इसलिये लोक में जो प्रकार है, उसको छोड़कर भगवान् उस गोपी की आत्मा में अपनी आत्मा का स्थापन करके उस आत्मा में रत हुए और क्रीडा करते हुए ।

यदि भगवान् का आनन्द अन्यत्र जाये, तो भगवान् अन्यत्र रत आसक्त होता, किन्तु इस प्रकार न करके भगवान् ने अपना स्वरूपानन्द इस गोपी में स्थापित किया, इसलिये इसी गोपी में आसक्त हो, इसके साथ रमण किया है ।

यदि कहो कि भगवान् ने इस प्रकार के शय्या आदि सामग्री रहित स्थान में इतना परिश्रम करके इस प्रकार का रमण क्यों किया ।

इस शंका के उत्तर में शुक्रदेवजी इस प्रकार से रमण करने का कारण बतलाते हैं 'कामिनां दर्शयन् दैन्यम्' इत्यादि ।

कामी पुरुषों की दैन्य और स्त्रियों की दुष्टता दिखाने के लिये भगवान् ने इस प्रकार का रमण किया है ।

कामी पुरुष इस प्रकार से दीन बन जाते हैं, मेघदूत काव्य में कहा है 'कामार्ता हि प्रकृति कृपणाः' काम से दुःखी लोग स्वभाव से कृपण-दीन हो जाते हैं, इसलिये यहां भगवान् कामियों का अनुकरण करता है ।

यदि भगवान् कामियों का अनुकरण नहीं करे तो कामियों को भगवान् में निरोध सिद्ध नहीं हो ।

कामियों में तो दैन्य ही फलित होता है, और कुछ नहीं ।

इस प्रकार का ज्ञान होने पर कामी लोग काम का त्याग करके भगवान् का मनन करें, इसके लिये भगवान् कामियों का अनुकरण करता है ।

अब शुक्रदेवजी उक्त भगवान् के रमण में द्वितीय प्रयोजन-कारण बतलाते हैं 'स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्' ।

भगवान् ने उस गोपी के साथ उक्त प्रकार का रमण करके स्त्रियों की दुष्टता दिखलाई है, स्त्रियों में किसी प्रकार की अशक्ति नहीं है, और न सुकुमारता ही है, किन्तु जिस समय पुरुष स्त्रियों के वश में हो जाता है उस समय स्त्रियां 'दुष्टता ही करती हैं, 'शालावृक्षाणां हृदयान्येताः' ऋग्वेद १०।९५।१५ स्त्रियों के हृदय बंदरिया, कुतिया और गधी तुल्य होते हैं, इस प्रकार श्रुति कहती है, अतः कामी पुरुषों की दीनता और स्त्रियों की दुष्टता, इन दोनों का बोध करने के लिये भगवान् ने इस प्रकार से रमण किया है ।

इसमें यहां इस प्रकार का अर्थ जानना चाहिये कि प्रथम भगवान् को आत्माराम कहा है, भगवान् आत्माराम होते हुए भी नायिका के अधीन होकर उसको इस प्रकार से भजता है, इसलिये रसात्मक रसवान् भगवान् ही है, और अन्य कामी तो रसाभासी ही हैं ।

अन्य कामी लोग मूल पूर्ण वस्तु में आसक्ति करके बीभत्स रसपूर्ण भ्रान्त होते हैं, और इस प्रकार की स्त्रियों में ही उनको दैन्य मात्र फल की प्राप्ति होती है, यह प्रकार यहां भगवान् ने ज्ञापन किया है ।

भगवान् आत्माराम भी रसपरवश है, रसपरवश में ही मान आदिक होते हैं । अन्य स्त्रियों में तो रस का अभाव है, इसलिये मान नहीं है, किन्तु दुष्टता प्रकट करना ही है, इससे यहां यह सूचन किया है कि आत्माराम भी प्रभु की जहां रति होती है, वहां ही रस है, अन्य में नहीं है, इस प्रकार यह फलित अर्थ हुआ ॥ ३४ ॥

(सुबो०) एवं सर्ववस्तुयाथात्म्यस्फुरणं भगवदावेशात्तासां निरूपितमुप-संहरति इत्येवमिति ।

इस प्रकार भगवान् के आवेश से गोपियों को सर्व वस्तु के यथार्थ स्वरूप की स्फूर्ति हुई, भगवान् के स्वरूप की स्फूर्ति भगवान् के आवेश से हुई, प्रथम की तरह पद दर्शन से नहीं हुई, कारण कि पद दर्शन तो भगवान् के आवेश का कार्य है, स्वरूप स्फुरण में हेतु नहीं है । अतः स्वरूप की स्फूर्ति भगवान् के आवेश से हुई है, इसका वर्णन किया, अब शुक्रदेवजी आगे आगे श्लोक में उपसंहार करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः ।

पदपदार्थ—(इति-एवं) इस प्रकार से भगवान् की लीलाओं को (दर्शयन्त्यः) दिखाती हुई (ताः) पूर्वोक्त ये सब (गोप्यः) गोपियां (विचेतसः) विक्षिप्त चित्त वाली (चेरुः) विचरती हुई ।

भाषार्थ—इस प्रकार भगवान् की लीलाओं को दिखाती विक्षिप्त चित्तवाली ये सब गोपियां बन में गमन करती हुई ।

(सुबो०) एवं प्रकारेण भगवल्लीलाः प्रदर्शयन्त्यः चेरुः गतिं कृतवत्यः । तासामनेकविधत्वे हेतुमाह गोप्य इति । न हि ताः शास्त्रेण भगवदीया जाताः, किन्तु स्वभावेन । स्वभावस्त्वेनेकविध इति सर्वमुपपद्यते । किञ्च, नहि ताः किञ्चित् ज्ञात्वा वदन्ति, किन्तु विचेतस एव । अथवा । एवं दर्शयन्त्यो विचेतसो जाताः । प्रकारत्रयस्यापि समाप्तत्वात् । अतस्तासां नाग्रे गतिर्न वचनानि ।

इस प्रकार भगवान् की लीलाओं को दिखाती हुई गोपियां गमन करती हुई ।

गोपियां अनेक प्रकार की थीं, इसमें शुक्रदेवजी हेतु कहते हैं कि 'गोप्यः' ।

गोपियां शास्त्र पढ़ कर भगवदीय नहीं हुई, किन्तु स्वभाव से ही भगवदीय है, स्वभाव

अनेक प्रकार का होता है, इसलिये गोपियों में अनेक प्रकार होने घटित होते हैं । गोपियां कुछ जानकर-किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करके नहीं बोलती हैं, किन्तु चित्त रहित-विक्षिप्त ही हैं ।

अथवा मूल श्लोक का अन्वय इस प्रकार है 'एवं दर्शयन्त्योविचेतसोजातः' इस प्रकार भगवान् की लीलाओं को दिखाती हुई गोपियां विचेतस हो गईं, कारण कि रसासक्ति, हरेः क्रिया, और गर्वाभाव, ये तीनों प्रकार समाप्त हो गए, इसलिये गोपियां न तो आगे ही गईं, और न कुछ बोल ही सकीं ।

इस प्रकार गोपियों का स्वरूप निरूपण करके शुक्रदेवजी आगे के साठे तीन श्लोकों में जिस गोपी को भगवान् साथ ले गये थे, उस गोपी का स्वरूप-कार्य सहित मदमान का निरूपण करते हैं ।

(सुबो०) एवमेतासां स्वरूपं निरूप्य, तस्याः स्वरूपं निरूपयति यां गोपीमिति सार्धैः त्रिभिः ।

यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥ ३५ ॥

सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् ।

हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥ ३६ ॥

ततो गत्वा वनोद्देशं दृष्ट्वा केशवमब्रवीत् ।

न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥ ३७ ॥

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्धमारुह्यतामिति ।

ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥ ३८ ॥

पदपदार्थ—(कृष्णः) कृष्ण (याः) पूर्वोक्त जिन (स्त्रियः) स्त्रियों को (वधूः) वन में (विहाय) छोड़कर (यां) भगवान् जिसको अपने साथ ले गया उस (गोपीम्) गोपी को (वने) वन में (अनयत्) ले गया था (सा च) वह गोपी (तथा) उस समय (असौ) यह (प्रियः) प्यारा (कामयानाः) काम से प्राप्त हुई (गोपीः) सर्व गोपियों को (हित्वा) छोड़कर (माम्) मुझ को (भजते) भजता है । इस प्रकार (सर्वयोषितां) सर्व स्त्रियों के मध्य में (आत्मानं) अपने को (वरिष्ठं) श्रेष्ठ (मेने) मानने लगी ॥ ३७ ॥ (ततः) इसके अनन्तर (वनोद्देशं) वन प्रदेश में (गत्वा) जाकर (हस्तं) गवित हुई (केशवम्) केशव के प्रति (अन्वयत्) बोली (अहं) मैं (चलितुं) चलने को (न) नहीं (पारये) पूरा कर सकती हूँ (यत्र) जिस स्थान में (ते) तुम्हारा (मनः) मन है, उस स्थान में (मां) मुझको (नयः) ले चल ॥ ३७ ॥ (एवम्) इस प्रकार (उक्तः) कहा गया कृष्ण (प्रियाम्) प्रिया के प्रति (आह) बोला (स्कन्धम्) कंधे पर (आरोहताम्) आप चढो (इति) इस प्रकार भगवान् ने कहा (च) और (ततः) अनन्तर (कृष्णः) कृष्ण (अन्तर्दधे) अन्तर्धान हो गया (सा) वह (वधूः) स्त्री (अन्वतप्यत) भगवान् के अन्तर्धान होने के पश्चात् ताप को प्राप्त हो गई ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—अन्य गोपियों को छोड़कर भगवान् कृष्ण जिस गोपी को वन में अपने साथ ले गये थे, वह गोपी काम से प्राप्त हुई सर्व गोपियों का त्याग करके यह प्रिय मुझ को भजता है, इस प्रकार सर्व स्त्रियों के मध्य में अपने को श्रेष्ठ मानने लगी, और वही से आगे बढ़ कर मणीय वन प्रदेश में जाकर गवित हुई गोपी केशव के प्रति बोली कि अब यहाँ से आगे मैं चल नहीं सकती, जहाँ पर आपका मन हो वहाँ पर मुझे ले चलो ? इस प्रकार जब गोपी ने कहा तब भगवान् ने प्रिया से कहा कि मेरे कंधे ऊपर बैठ जाओ ? जिस समय वह गोपी कंधे पर बैठने लगी, उसी समय भगवान् कृष्ण अन्तर्धान हो गया, और वह वधू-प्रान्त्य पूर्वा प्रिया भी पश्चात्ताप करने लग गई ॥ ३७-३८ ॥

सुबोधिनीकारिका—

दोषोऽभिमानवचनं वचनोत्तरमेव च ।

पूर्ववच्च तिरोभावो विज्ञेयं दोषदर्शने ॥ १ ॥

प्रथम इस गोपी को अभिमान दोष हुआ, अनन्तर इसने अभिमान के वचन कहे, भगवान् ने इसके वचनों का उत्तर दिया और, पूर्ण की तरह भगवान् तिरोहित हो गये ।

उक्त गोपी का भगवान् ने जो त्याग आदि किया, वह अन्य सब गोपियों को अपने दोष का परिज्ञान कराने के लिये ही किया है, इस गोपी की इस प्रकार की व्यवस्था देखकर अन्य सब गोपियों को अपने दोष की स्फुटि हुई कि हमारे दोष से ही भगवान् ने हमारा त्याग किया है, यह बात जाये ४० वें श्लोक में स्फुट होगी ॥ १ ॥

(सुबो०) यां गोपीं पूर्वमजातदोषां अनयत् । यतः कृष्णः सदानन्दः, तस्यामानन्दं स्थापयितुम् । अन्यास्तु जियो जाताः । सा तु मुञ्चैव गोपी । अतः स्ता वने विहाय तामनयत् । वनस्थानां विवेको भवतीति ॥ ३५ ॥

पहले भगवान् जिस गोपी में दोष नहीं था, उस गोपी को ले गये, कारण कि भगवान् कृष्ण-सदानन्द हैं । इस गोपी में आनन्द स्थापन करने के लिये एकान्त में ले गये ।

अन्य सब गोपियाँ स्त्रियाँ थीं, दोषयुक्त थीं । और जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये थे, वह गोपी मुग्धा थी, इसलिये दोष-युक्त गोपियों को वन में छोड़कर भगवान् उसको ले गये, कारण कि वन में रहनेवालों को विवेक-ज्ञान होता है । इन गोपियों को भी अपने दोष का ज्ञान होगा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार बाहर प्रिय के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध हेतु से मान में दोष कहा है ।

यदि शंका करो कि सभी गोपियों में समान रस था फिर उस समय अन्य सब गोपियों को मान हुआ, और जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये उसको उस समय मान नहीं हुआ, किन्तु इस समय इस गोपी को भी मान हुआ, इसमें कारण क्या है ।

इस शंका का उत्तर देते हुये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि—

कारिकाश्रीसुबोधिनी—

स्वयं त्वयुक्तकरणात् प्रकृत्याधधिकारिणः ।

बुद्धि रम नाशयामासुः साप्यन्येवाभवत्ततः ॥ १ ॥

स्वगत्ययुक्तकरणात् (इति पाठः सूचितः)

नायिकाओं की प्रकृति में सदा मान रहता है । यही चालू विषय में तो अवतक नायिका ने नायक भगवान् की अधीनता स्वीकार की है, भगवान् ने भी नायिका के स्वभाव की जो गति-रीति है, उससे अयुक्त-विरुद्ध वर्ताव किया है, अब नायिका की प्रवृत्ति निवृत्ति में कारण अधिकारियों की तरह अधिकारी जो स्वभाव गुण अभिमान आदि, प्रीतिभाव है, वे पूर्वभाव के मलों का नाश करते हुए अर्थात् भगवान् के अधीन जो मलभावों के कारण गोपी हो गई थी उन कोमल भावों का नाश कर दिया ।

पहले जब मान नहीं था तब भाव कोमल थे, पीछे नायिका के स्वभाव वशा से कोमल भावरूप बुद्धि का नाश होने पर यह नायिका भी अन्य नायिकाओं की तरह मानवती हो गई ।

यह मान नायिका का स्वभाव सिद्ध ही है, दोषात्मक नहीं है, 'स्वयं त्व युक्तकरणात्' इस प्रकार के पाठान्तर में अर्थ स्वयं शब्द स्वामिनी वाचक है । शेष अर्थ पूर्व की तरह है ।

यदि शंका करो कि रस की प्राप्ति सभी गोपियों को बराबर हुई, फिर पहले इस गोपी को मान क्यों नहीं हुआ ।

इस शंका का समाधान इस प्रकार है कि भगवान् भक्तों के लिये भजनानन्द का दान करने के लिये और स्वयं आप उस रस का अनुभव करने के लिये लीला करते हैं ।

रस का अनुभव बहुत सी प्रियाओं में मिलकर वैसा नहीं होता है, जैसा एक के साथ विशेष रमण में होता है, रस स्वरूपात्मक ही है, इसलिये स्वरूपात्मक रस का स्वरूप भगवान् ने प्रकट किया है, अतः कोई भी आपत्ति नहीं है । पहले मान के अभाव में गोपियों में ही 'अनयाराधितः' इस २८ वें श्लोक में हेतु कहा है ।

(सुबो०) तदाह । सा च तदा सर्वयोषितां मध्ये वरिष्ठं मेन इति । चकारः पूर्वसमुच्चयार्थोऽप्यर्थः । तदेति । पूर्व तस्यास्तथात्वं न जातमिति ।

१. स्वयं स्वामिनी के अयुक्त करने से, नायक के अधीन गोपी की स्थिति थी इससे विरुद्ध करने से ।

अनेन समुदायदोषेण न भगवांस्त्यजति, किन्तु प्रत्येकदोषेणेति ज्ञापितम् । तस्यास्तथा दोषे हेतुः हित्वेति । कामयाना अपि सर्वाः गोपीः हित्वा असौ मां भजत इति । तत्रापि प्रियः, यथैव मम प्रीतिर्भवति, तथैव करोति । न तु क्वचिदप्यप्रियविषयः । अतोऽहं वरिष्ठा । अन्यथानुपपत्त्या तथात्वं कल्प्यते ॥ ३६ ॥

भगवान् के साथ गई गोपी को अभिमान हुआ, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं कि 'सा च मेने तदात्मानं' जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये थे, वह गोपी भी उस समय सर्व स्त्रियों के मध्य में अपने को श्रेष्ठ मानने लगी ।

मूल में चकार पूर्व का समुच्चय करने के लिये अपि के अर्थ में है । पहले इस गोपी को इस प्रकार का अभिमान नहीं हुआ, इससे यह सूचन किया कि भगवान् समुदाय के दोष से त्याग नहीं करते हैं, किन्तु प्रत्येक भक्त के दोष से त्याग करते हैं ।

इस गोपी के अभिमान का कारण शुकदेवजी कहते हैं 'हित्वेति' कामवाली सभी गोपियों का त्याग करके यह भगवान् मुझको भजता है इस प्रकार का इस गोपी को अभिमान हुआ । उसमें भी भगवान् प्रिय है, जिस प्रकार से मेरी प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार को करता है । और अप्रिय-जो मुझको अच्छा नहीं लगता है, उसको नहीं करता है । इसलिये मैं सर्व स्त्रियों में श्रेष्ठ हूँ, यह गोपी अन्यथानुपपत्ति से श्रेष्ठता की कल्पना करती है ॥ ३६ ॥

(सुबो०) दोषाभावेनैवोत्तमता, न तु धर्मान्तरेण, अतस्तस्या भ्रमः, भ्रान्ताया वाक्यमाह ततो गत्वेति । ततो भोगस्थानादग्रे गत्वा । वनोद्देशमतिरमणीयम् । स्वार्थमयं गच्छति, न तु मदर्थम् । ततश्चान्यार्थं मया कथं खेदः प्राप्तव्य इति दृष्टा । तादृशभगवत्कृपायामनधिकारिणी प्राप्तप्रसादेन जाता-जीर्णा ब्रह्मादिभ्योपि मोक्षदातारं देहेन्द्रियादिसर्वरहितं परमानन्दरूपकेशवमब्रवीत् । तस्या वाक्यमाह न पारय इति । अहं चलितुं न पारये । तथापी-ष्टदेशं गन्तव्यमिति चेत्, तत्राह । यत्र ते मनः, तत्र मां त्वमेव नय ॥ ३७ ॥

जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये हैं, उस गोपी की उत्तमता दोष के अभाव से ही है, धर्मान्तर से नहीं है । और इस गोपी में जो दर्प दीखता है, वह विप्रयोग रस दान करने के लिये भगवान् ने ही उत्पन्न किया है, इसलिये दोषरूप नहीं है, अतः इस गोपी को भ्रम हुआ है ।

जिस प्रकार प्राकृत कामी काम के अधीन हो जाता है, और स्त्री में शक्ति होने पर भी यह कामी मेरे वश में है, जिस प्रकार मैं कहूँगी उसी प्रकार करेगा, यह जानकर अपनी अशक्ति प्रकट करती है, उसी प्रकार इस गोपी में शक्ति होते हुये भी भगवान् मेरे वश में है, इस प्रकार के ज्ञान से अपना असामर्थ्य प्रकट करती हुई भगवान् मुझको कबू पर भी चढाकर ले जावेंगे, इस प्रकार का ज्ञान भ्रम हुआ है ।

यदि शंका करो कि भ्रम सर्वत्र दोष उत्पन्न करता है, फिर इस गोपी की निर्दोष क्यों ब्रजवासे हो । इस शंका के उत्तर में कहते हैं ।

जिस प्रकार भगवान् के रमण में दोषभाव नहीं है, उसी प्रकार सीभाग्य मदमान भी भगवद्भावात्मक हैं, यह बात 'तासां तत्सीभगमदं' इस श्लोक में वर्णन कर आये हैं । उसी प्रकार यहां भी प्रिया के अधीनभाव से भगवान् ने रस दिया है । इसलिये प्रिय मेरे वश में है, यह भाव यहां उत्पन्न हुआ है, दोषरूप नहीं है । यही भाव 'हित्वा गोपीः' यहां कहा है ।

अब भ्रान्त हुई गोपी का वाक्य कहते हैं 'ततो गत्वेति' फिर यह गोपी भोग स्थान से आगे अति रमणीय वनप्रदेश में जाकर विचार करने लगी कि यह प्रिय मुझको अपने स्वार्थ के लिये लेकर जाता है, मेरे लिये नहीं लेकर जाता है, तो फिर मैं दूसरे के स्वार्थ के लिये खेद क्यों पाऊँ । इस प्रकार गोपी विचार करके दर्पयुक्त हो गई ।

कारण कि इस प्रकार की भगवत्कृपा का इस गोपी को अधिकार नहीं था, इसलिये भगवत्प्रसाद से इस गोपी को अजीर्ण हो गया, अर्थात् जिस प्रकार कोई सेर भोजन की जगह दो सेर खा लेता है और उसको भोज्य पदार्थ नहीं पचता है, अजीर्ण हो जाता है, उसी प्रकार विशेष भगवत्प्रसाद से अभिमान हो गया । फिर ब्रह्मादि देव-देवों को भी मोक्ष देनेवाले देह इन्द्रिय आदि सर्वरहित परमानन्दरूप केशव भगवान् से बोली । उस गोपी का वाक्य कहते हैं, 'न पारये' ।

मैं चल नहीं सकती हूँ । तो भी इष्टदेश को तो जाना चाहिये । यदि यह कहो तो गोपी कहती है कि जहां तुम्हारा मन है, वहां मुझको तुम ही लेकर चलो ।

लोक में जिस प्रकार रमण में दोष है, किन्तु भगवान् के रमण में दोष नहीं है, उसी प्रकार दर्प भी भगवत्सम्बन्धी होने से भगवदीय है, अतः इसमें दोष नहीं है ।

इस प्रकार इस गोपी को जब दर्प हुआ तब भगवान् ने विचार किया कि जबतक विप्र-योगात्मक रस का अनुभव नहीं होगा तबतक पूर्ण रस का दान नहीं होगा, इसलिये प्रभु ने संयोग रस देने की इच्छा का संकोच किया । यही भव क्रियाशक्ति संकोच प्रकाशक 'न पारयेऽहं चलितुं' इससे कहा है । नहीं तो मिथ्या भाषण दोष गोपी को प्राप्त हो जायेगा, भगवदीय भगवान् से झूठ नहीं बोलते हैं । यह भाव तो अतिपूर्ण रस के आविर्भाव से स्तम्भरूप सात्त्विक भाव होने के योग्य है ।

इस शब्द का अर्थ मर्यादारहित है, कही हुई रीति के अनुसार निरवधि रसदान करने-वाले भगवान् की संयोग रसदान संकोच की इच्छा रस मर्यादा वाली नहीं है, इसलिये रस मर्यादा विरुद्ध इच्छा को हेतु होने से रस मर्यादारहित भाव का उदय दृष्टा पद से मूल सुबो-धिनी में कहा है ।

ब्रह्मा, और शिव क्रम से रज-तम के अधिष्ठाता देवता हैं, इन दोनों का रजतम से उत्पन्न भाव दूर करके भगवान् ब्रह्मा शिव को अमृत-मोक्ष दान करते हैं ।

यहां उक्त स्वामिनी में भी पूर्णरस दान करने के लिये ही संयोग उत्पन्न करनेवाले भाव को दूर करने के लिये दृष्टापद से कहा भाव उत्पन्न करना, और अपना तिरोधान ज्ञापन करने के लिये केशवपद कहा है ।

इस प्रकार पर्यवसान में कही हुई भगवान् की इच्छा को रसमर्यादात्व भी ज्ञापन होता है, 'विप्रयोग विना रस पुष्ट नहीं होता है, अतः संयोग रस संकोच करने की भगवान् की इच्छा को रसमर्यादात्व ज्ञापन किया है ।

सुबोधिनी में पहिले वैसी कृपा की अनधिकारिणी तथा अजीर्णत्व जो गोपी को कहा है, वह पूर्व की अपेक्षा सर्वात्मभाव की अधिकता बोधन करने के लिये कहा है । इससे यह

सिद्ध होता है कि जिस प्रकार की अन्य गोपियों में भगवान् की कृपा थी, उसकी अपेक्षा यह गोपी अनधिकारिणी-अर्थात् उन सब गोपियों की अपेक्षा उनसे यह गोपी विलक्षण कृपाधिकारिणी है,—भगवत्प्रसाद प्राप्त होने से अत्यन्त उच्छलित रसवाली है, इस प्रकार यही यह रूप जानना चाहिये ॥ ३७ ॥

(सुबो०) तदा भगवानतिचतुरः तद्वाक्यस्योत्तरमाह एवमुक्त इति । प्रियेति कृत्वा उत्तरमुक्तवान् । उत्तरमाह स्वस्वमावृत्तामिति । एषा हि नृत्यं कर्तुं वाञ्छति । स्वान्तर्गतं रसमभिनेतुम् । तद्धूमौ पदस्थापने ऊर्ध्वभावाभावात् रसः च्युतो भवेत् । अतः स्वस्वमावृत्तामिति । स एवात्यन्तं नटबद्धः यः स्वस्वमावृत्ता नरीनर्त्ति । अशक्यं हि उपदिशति । प्रार्थितं तथेति । भगवतो हि मनः अलौकिकरसाभिनयने, तद् भूमौ पदस्थापने न भवति । अशक्ता चेत् कथं वदेत् । अतो मम तन्नैव मनः । यदि तथा करिष्यति, तदा नेष्यामीति । नष्टनधिकारी नेतुं योग्यः । भगवांस्तु नान्यथा वदतीति न स्वस्वमावृत्तामिति । तथा तु मोहवशात् तथैव बुद्धम् । ततो मोहवशात् तथा चिकीर्षमाणां तां दृष्ट्वा ततोऽप्यन्तर्दधे । यतोऽयं कृष्णः सदानन्दः । ततः पूर्ववदेव सापि जातेत्याह सा वधूरन्वतप्यतेति । वधूरिति सा अनन्यपूर्वा व्रतमध्यस्था । तत्रापि गुणातीता । अतः अन्वतप्यत, अनुतापं कृतवती ॥ ३८ ॥

इस गोपी ने 'नय मां यत्र ते मनः' जहाँ तुम्हारा मन हो वहाँ मुझको ले चलो, यह इस प्रकार कहा तब अतिचतुर भगवान् ने जो उत्तर दिया उसका शुक्रदेव जी वर्णन करते हैं । (एवमुक्तः) ।

यह गोपी भगवान् की प्रिया है, इसलिये भगवान् ने उत्तर दिया है, भगवान् कहते हैं कि हे प्रिये । (स्वस्वमावृत्तामिति) कंधे पर चढ़ो । प्रिया इस बातको न जानती पहिले की तरह प्रिय करेगा इस बात को जानकर 'नय माम्' मुझे ले चलो । इस प्रकार क्रिया शक्ति की प्रार्थना करती हुई, परन्तु 'यत्र ते मनः' भगवान् के मन की बात न जानकर 'जहाँ तुम्हारा मन हो वहाँ ले चलो ।' यह वचन कहा ।

भगवान् का मन तो विप्रयोग द्वारा पूर्ण रस दान करने का है, इसलिये पूर्ववत् क्रिया का उद्गम होना अशक्य है ।

भगवान् ने संयोग विप्रयोगका अशक्य को ही उपदेश किया है । प्रिया को अपने कंधे पर चढ़ना अपने को नहीं । आगे रस देने की इच्छा से प्रभु अपने हृदय की बात नहीं जानते हैं, अतः प्रिया अपने प्रिय के कंधे पर चढ़ना जान कर, प्रियके कंधे ऊपर चढ़ने उस समय प्रभु तिरोहित हो गये । इस सब बात को हृदय में करके आचार्यों ने कहा कि (एषा हि नृत्यं कर्तुं वाञ्छति) यह गोपी नृत्य करने की इच्छा करती है ।

रसका अभिनय नृत्य से करना चाहिये कारण कि अभिनय नृत्यसाध्य होता है, इसलिये इस गोपी ने भी नृत्य करने की इच्छा की जिस प्रकार नट नृत्यवेष्टा के अपने भीतर निहित रसको देखने वालों के लिये अनुभव कराता है, उसी प्रकार यह गोपी भी अपने भीतर निहित रस का बाहर अभिनय करने की इच्छा कर रही है । अर्थात् पहले प्रभु के सर्वथा इस गोपी

के दशमें होकर रसदान किया है, अतः भगवान् के साथ रमण में जिस रसका अनुभव किया था, वह रस इस प्रिया के भीतर स्थित है । इस समय स्वयं उस रसका प्रिय को अनुभव कराने के लिये वाणी क्रिया प्रकट करती है ।

यह बात अशक्य है, भगवान् भक्त के स्नेह से ही वश में होकर रमण करते हैं, और प्रकार से रमण नहीं करते हैं, प्रकृत—इस गोपी के विषय में तो 'न पारयेऽहं' मैं नहीं चल सकती हूँ, इत्यादि वाक्य स्नेहरीति से विरुद्ध हैं, जो रसमार्ग से विरुद्ध नहीं वह करना उचित होता है, स्नेहरीति से विरुद्ध नहीं करना चाहिये, किन्तु इस गोपी ने स्नेहरीति से उचित न करके विरुद्ध किया है ।

यदि शंका करो कि रसके स्वभाव से प्रिया के भीतर स्थित रस च्युत हो जायेगा तो फिर प्रिय को किसका अनुभव करावेगी । और आगे भगवान् जिस रस का दान करेंगे उसमें प्रतिबन्ध भी हो जायेगा ।

तब इस शंका का समाधान करते हैं ।

उक्त अभिनयभूमि में पद स्थापन करने पर—भगवान् के साथ चरणों से चलने पर अपने भीतर रहने के स्थान को छोड़कर बाहर अपनी प्रीति से रस प्रकट हो जायेगा तो रस ही संभव नहीं होगा, कारण कि ऊर्ध्वभाव के न होने से अभिनय किया शृङ्गार च्युत हो जाता है, और बोधविषय नहीं होता है, भीतर ही गुप्त रसायुत समुद्र उत्तरोत्तर भाव तरङ्गों का अनुभव करता है, इसको ही ऊर्ध्वभाव कहते हैं, यह ऊर्ध्वभाव ही बाहर प्रकट किया रसस्व से ही बाहर होता है, इसलिये ऊर्ध्वभाव का बाहर होना स्वभाव कहा जाता है ।

च्युत—अर्थात् स्वरूप से ही नष्ट हो जाता है ।

विरह से आति आदिका प्रकट होना अलौकिक रसका अभिनयन है, और लौकिक रीति से अपनी अधिकता ज्ञापन भूमि में पदस्थापन है, इसके होने पर अलौकिक रसका अभिनयन संभव नहीं होता है । अतः भगवान् ने कहा (स्वस्वमावृत्तामिति) ।

रसका अपने भीतर अनुभव करना चाहिये, बाहर रस प्रकट नहीं करना चाहिये, रस बाहर प्रकट करने से रसत्व नष्ट हो जाता है ।

'भगवानपि' श्लोक लीला के प्रारम्भ में आनन्द अपना स्थान त्याग करके अन्यथा भाव वाला न हो जाये, इसलिये योगमाया का श्रयण कहा है ।

और यहाँ पर तो भगवान् की इच्छा नहीं है, इसलिये योगमाया वहाँ की तरह नहीं करती है, अतः रस-आनन्दच्युत हो जायेगा, यह कहा है ।

जो अपने कंधे ऊपर चढ़कर नाचता है, वही अत्यन्त नट बटु है, यहाँ वट वेष्ट-ने धातु से कर्ता में 'उ' प्रत्यय हुआ है, नटों में वेष्टक, अपने अंग वेष्टन में चतुर होता है, यह अर्थ है ।

सङ्गीतशास्त्र में जहाँ नृत्यविशेष का वर्णन है वहाँ अपने कंधे पर चढ़ना कहा है, अपने कंधेपर चढ़ना अतिकठिन है, इसलिये जो नर्तक अपने कंधेपर चढ़कर नाचता है, वह नट अत्यन्त श्रेष्ठ है, भगवान् इस प्रकार का अशक्य उपदेश करता है, कारण कि गोपी ने इस प्रकार की प्रार्थना की है,

भगवान् का मन तो अलौकिक रस के अभिनयन में है, अलौकिक रस का अभिनयन भूमि में पदस्थापन से नहीं होता है,

यदि यह गोपी अशक्त होती तो जहां तुम्हारा मन हो वहां ले चलो, इस प्रकार वाक्य कैसे कहती, अशक्त होती तो प्रार्थना रीति से कहती किन्तु इसने प्रीठ रीति से सदयता के वाक्य कहे हैं, अतः अशक्त नहीं है। इसीलिये भगवान् का मन अलौकिक रसके अभिनयन में है, यदि तुम विरह से आति आदि को प्रकट करोगी तो मैं अदृश्य रूपसे ले जाऊंगा। जो अधिकांशी नहीं होता है वह ले जाने के योग्य नहीं होता है,

यदि कहो कि यहां भगवान् ने अपने कंधे ऊपर चढ़ने का उपदेश ही दिया है। इसका उत्तर में कहते हैं,

‘सत्यं देवानामनुतं मनुष्याणाम्’ इस श्रुति के अनुसार भगवान् में साधारण मनुष्यों का धर्म नहीं है, भगवान् कभी असत्य भाषण नहीं करते हैं, इसलिये भगवान् के कंधे की संभावना नहीं है।

इस गोपी ने मोहवश से इस प्रकार जाना था कि भगवान् मुझे अपने कंधे ऊपर चढ़ाने को कहते हैं, फिर मोहवश से भगवान् के कंधे ऊपर चढ़ने की इच्छा करनेवाली गोपी को देखकर वहां से भी भगवान् तिरोहित हो गये। कारण कि यह तो कृष्ण सदानन्द है।

उक्त सुबोधिनी का भाव अन्य प्रकार से भी सम्भव हो सकता है इसको भी विद्वत्-नाथ जी कहते हैं।

भगवान् ने इस अपनी प्रिया गोपी के लिये अपना पूर्ण रस दिया है, इसलिये इस गोपी के हृदय में भगवान् में स्थित सर्वभाव स्फुरद्रूप हो गये, और सर्व से आधिक्य ज्ञान भी अपने बीच में व स्फुरित हो गया, इस बात को ‘कामयान’ सर्व गोपियों को छोड़कर भगवान् मेरे वश में हो गये हैं, ‘मे सर्व गोपियों में श्रुत हूं’ इस प्रकार इस गोपी ने कहा है।

भगवान् की जब द्वितीय लीला—विप्रयोग-लीला करने की इच्छा हुई, तब वह लीला भी गोपी के हृदय में स्फुरित हुई, इस लीला को कठिन मानती हुई भी भयभीत नहीं हुई किन्तु पूर्वसके अभिमान से दृढ होती प्रिय से बोली, ‘जहां तुम्हारा मन हो वहां ले चलो’ यह बात द्वापद से कही है।

ब्रह्मा, शिव दुष्ट गुण व्याप्त वालों को भी भगवान् अमृत देता है, फिर मैं तो भगवान् के गुणों से ही पूर्ण हूं, इसलिये मुझको भगवान् सुख अवश्य ही देगा, दुःख नहीं देगा, इस अभिप्राय को ज्ञापन करने के लिये मूलमें केशव पद कहा है।

फिर गोपी भोगस्थान से आगे वन-संबंधी उत्कृष्ट देश में स्वयं अपनी इच्छा से गई प्रिय अपनी इच्छा से नहीं ले गये वहां जाकर बोली।

पूर्व उक्ति से प्रिय इस गोपी के निकट ही है, यह ज्ञापन किया है, और इससे गोपी के अधीन ही प्रिय गोपी के संग गया है, यह भी ज्ञापित होता है।

अथवा वन यह उद्देश नाम मात्र है, वास्तव में तो महारस का निधान है, इससे रसो हीपक कहा है। इस प्रकार के वन में मेरे वियोग से यदि प्रिय मुझको ढूँढेगा, तो किस प्रकार रस उत्पन्न होगा, इस आशय से बोली, अत एव द्वापद कहा है।

पूर्व रसके अत्यन्त मद से प्रिय यदि पूर्व की तरह लीला करेगा तो मुझमें यहां से दृष्टि का भी सामर्थ्य नहीं है, अर्थात् मेरा जीवन ही नहीं रहेगा, तो फिर क्या करना चाहिये। यदि इस प्रकार की आकाङ्क्षा हो तो गोपी कहती है। ‘नय मां यत्र’ जिस अन्तर्धान लीला में तुम्हारा वन है, उस अन्तर्धान में मुझको साथ ले चलो, अर्थात् मुझको भी तिरोहित करो।

अकेले तिरोहित मत हो, अब प्रिय ने विचार किया कि यह बात तो अशक्य है, इस आशय से उत्तर देता है ‘स्कन्धमावृत्ताम्’।

जिस प्रकार अपने कंधे ऊपर चढ़ना अशक्य है उसी प्रकार तुम्हारा अन्तर्धान करना मुझ को अशक्य है। कारणकि पूर्ण ज्ञान शक्ति जहांपर होती है, वहांपर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उसका विषय न हो, अर्थात् पूर्ण ज्ञान शक्ति वालेसे कोई वस्तु छिपी नहीं रहती है, यद्यपि विषय सर्वधर्माश्रयत्व से और रसात्मकत्व से जानता हुआ भी अज्ञानी भी हो सकता है, इसलिये यह उत्तर संभव नहीं है, तथापि यहां अति प्रीति विषयत्व से विरुद्ध धर्माश्रय धर्म को पूर्ण नहीं करता हूं, इस प्रकार भगवान् का आशय ज्ञापन करने के लिये प्रिया पद कहा है। इसीसे उत्तर भी भगवान् के दिया है, नहीं तो भगवान् चुप हो जाते, अथवा तिरोहित हो जाते, उत्तर नहीं देते। तुम घेरी प्रिया हो, इसलिये तुम्हारा तिरोधान करना मेरे लिये अशक्य है, प्रियाका तिरोधान करना अनुचित है, मुझमें सामर्थ्य नहीं है, इसलिये आपका स्वतः तिरोधान अपने कंधे ऊपर चढ़ना है, यद्यपि भगवान् के सकाश से तिरोधान करना अपने कंधे ऊपर चढ़ने के तुल्य है।

इस प्रकार जब यह गोपी भगवान् की प्रिया है, तो प्रिया जिस वस्तु की प्राप्ति करे, वह वस्तु भगवान् को यद्यपि देनी चाहिये, तथापि भगवान् ने प्रियात्व से जो तिरोधान में अशक्यता प्रकट करके हेतु बतलाया है, उस हेतु से गोपी को तिरोहित न करके स्वयं ही तिरोहित हो गये, इस बात को कहा है कि ‘ततश्चान्तर्दधे’ इस प्रकार तिरोधान में प्रभुनिष्ठ हेतु कहते हैं, (कृष्ण इति) इस प्रकार की दशा में भी हृदय में प्रकट होते हुए ही आनन्दात्मक रसके पोषक है, इस प्रकार अर्थ कहा है।

भगवान् का तिरोधान होने पर यह गोपी पहली अन्य गोपियों की तरह हो गई, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं। (सा वधूरन्वतप्यत) वह वधू ताप करती हुई। वह गोपी वधू है, जिसने शृङ्गार रस का अनुभव नहीं किया है, उस नवोटा को वधू कहते हैं, ‘वरवध्वोः सुमङ्गलम्’ ‘वधूप्रवेशः खलु मङ्गलपदः’ इत्यादि वाक्यों से उक्त निर्धार किया है, वह वधू अनन्यपूर्वा व्रत करने वालियों के मध्य की है, कारण कि पहले व्रत करने वालियों का ही रासक्रीडा में निरूपण किया है, और उनमें भी यह गोपी अनुताप करने से गुणातीता ही है। नहीं तो क्रोध आदि करती, अनुताप नहीं करती, इसलिये यह गुणातीता ही है, अतः ताप करती हुई ॥ ३८ ॥

(सुबो०) न केवलमन्तरनुतापः, किन्तु तज्जनितो बहिरपि विलापो जात इत्याह—हानायेति।

जिस गोपी को भगवान् साथ ले गये थे उस गोपी को भगवान् का तिरोधान होने पर केवल भीतर ही ताप नहीं हुआ, किन्तु उससे उत्पन्न बाहर भी विलाप हुआ, इस बातको शुकदेवजी आगे श्लोक में कहते हैं।

हा नाथ रमण प्रेष्ठ कासि कासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम ॥ ३९ ॥

पदपदार्थ—(हा) पश्चात्ताप में आपने युक्त नहीं किया (हे नाथ) हे स्वामी (हे रमण) हे रतिवर्धन करने वाले भोक्ता (हे प्रेष्ठ) हे प्रीतिविषय ! (हे महाभुज !) हे बड़ी भुजावाला ! (कासि) कहां हो ? (कासि) कहां हो ? (ते) तुम्हारी (कृपणाया) दीन

(दास्याः) दासी (मे) मुझको । (हे सखे !) हे मित्र ! (सन्निधिम्) अपनी सन्निधि को (दर्शय) दिखाओ ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—हा, यह पद पश्चात्ताप में है, आपने अयुक्त किया, हे नाथ ! हे रमण ! हे श्रेष्ठ ! हे महाभुज ! आप कहां हो, कहां हो, हे सखा कृपण-दीन आपकी दासी मुझको समीप में दर्शन दो ॥ ३९ ॥

(सुबो०) हा इति पश्चात्तापे । अयुक्तं कृतमिति । तथापि हे नाथ, त्वमेव स्वामी । अतो दोष एव दूरीकर्तव्यः, न तु त्यक्तव्या । ननु दूरे स्थित्वा पालनं करिष्यामीति चेत्, तत्राह—रमणेति । त्वमेव रतिवर्धको भोक्ता, भोग्यरूपाश्च वयम् । अतो निकट एव स्थातव्यमिति भावः । नन्वनुरोधेन केवलं पालनं करिष्यामि, भोक्तरिच्छाभावात् । न हि भोग्येच्छया भोक्ता भुङ्क्ते तत्राह—प्रेष्ठेति । न ह्यन्यः प्रीतिविषयोऽस्ति येन जीविष्यामि । अत्यन्तं व्याकुलाया वचनमाह—कासि कासीति । मोहवशात् अन्धा पतिता च जाता उत्थापनार्थं संबोधयति 'महाभुजेति' । महान् भुजो यस्य । महती क्रियाशक्तिः । अतो दोष एव दूरीकर्तव्यो, न त्वहम् । यतोऽहं दासी, तत्रापि ते तवैवाहं दासी, स्वभावत एवाहं कृपणा, अनालोचितयाचिका, अतो मद्वचनान्नान्यथा भावः कर्तव्यः । एवं प्रार्थनायां परमकृपालुस्तामुत्थाप्य स्वस्थां कृतवान्, अदृश्यरूपेणैव । तदा पुनराह । हे सखे, स्पर्शेन स्वधर्मारोपात्स्वसंनिधिं दर्शय । वर्तसे निकटे, तथापि यथा सान्निध्यं दृष्टं भवति, तथा कुरु । एवमेव वदन्ती स्थिता । भगवानपि तत्रैव स्थितः ॥ ३९ ॥

हा, यह पद पश्चात्ताप अर्थ में है, जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये थे, और अब छोड़ गये, वह गोपी कहती है कि मैंने अथवा आपने यह बात ठीक नहीं की, तथापि हे नाथ ! आपही मेरे स्वामी हो इसलिये मेरा दोष ही दूर करना चाहिये, त्याग नहीं करना चाहिये । यदि भगवान् कहें कि मैं दूरस्थित होकर तुम्हारा पालन करता हूँ । तब इसके उत्तर में गोपी कहती है कि (हे रमण) तुमही मेरे लिये रतिवर्धक भोक्ता हो, और मैं भोग्य रूप हूँ इसलिये निकट होना चाहिये, यह भाव है ।

यदि भगवान् कहें कि तुम्हारे अनुरोध से केवल पालन करूँगा, कारण कि भोग करने की इच्छा नहीं है । भोग्य की इच्छा से भोक्ता भोग नहीं करता है, किन्तु अपनी इच्छा से भोक्ता भोग करता है ।

तब इसके उत्तर में गोपी कहती है, (हे श्रेष्ठ !) मेरा प्रीतिविषय-स्नेहविषय अन्य को नहीं है केवल आप ही हैं, आपके कारण से ही मैं जीवित हूँ, आप ही मेरे जीवन के समान हो ।

अब अत्यन्त व्याकुल गोपी के वचन शुकदेव जी कहते हैं । (क्वासि क्वासि) कहाँ कहाँ हो ? मोहवश से यह गोपी अन्ध हो गई, और गिर पड़ी, फिर अपने उठाने के लिये भगवान् को संबोधित करती है । (हे महाभुज) महान् है भुजा जिसकी, भगवान् की महती

क्रियाशक्ति है, इसलिये मेरा आपको दोष ही दूर करना चाहिये, मुझको दूर नहीं करना चाहिये, कारण कि मैं दासी हूँ उसमें भी आपकी ही मैं दासी हूँ, और स्वभाव से ही मैं दीन हूँ बिना विचारे मांगने वाली हूँ, उक्त मेरे कहे वचन से आपको अपना अन्वया भव-दूसरा भाव नहीं करना चाहिये ।

इस प्रकार गोपी के प्रार्थना करने पर परम कृपालु भगवान् ने इस गोपी को अदृश्य रूपसे ही उठाकर स्वस्थ किया, उस समय फिर यह गोपी बोली, (हे सखे) समान शील व्यसक्त जिसका हो उसको सखा कहते हैं, इसलिये आप सखा धर्म प्रकट कर अपने स्पर्श से अपने धर्मों का आरोप करके अपनी सन्निधि का दर्शन कराओ ।

यद्यपि आप मेरे निकट में हो, तथापि जिस प्रकार सान्निध्य में दर्शन हो, उस प्रकार को करो ।

इस प्रकार बारंबार कहती हुई गोपी स्थित हो गई, और भगवान् भी वहाँ ही स्थित हो गये ॥ ३९ ॥

(सुबो०) ततो यज्जातं तदाह—अन्विच्छन्त्य इति ।

पश्चात् जो कुछ हुआ, उसका वर्णन शुकदेवजी करते हैं ।

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्यो विचेतसः ।

ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम् ॥ ४० ॥

(विचेतसः) विक्षिप्त चित्तवाली (गोप्यः) गोपियां (भगवतः) भगवान् के (मार्गं) मार्ग को (अन्विच्छन्त्यः) खोजती हुई (प्रियविश्लेषमोहितां) प्रियके वियोग से मोहित (दुःखितां) दुःखी (सखीम्) सखी को (ददृशुः) देखती हुई ॥ ४० ॥

भाषार्थ—पूर्वोक्त विक्षिप्त चित्तवाली गोपियां भगवान् का मार्ग खोजती हुई प्रिय के वियोग से मूर्च्छित दुःखी इस अपनी सखी गोपी को देखती हुई ॥ ४० ॥

(सुबो०) पूर्वोक्ता गोप्यः भगवन्मार्गमन्विच्छन्त्यः अविदूरत एव तां ददृशुः । तासां क्रोधाभावायाह—दुःखितामिति । न हि दुःखितायां क्रोधो भवति, दुःखे हेत्वन्तरनिराकरणायाह—प्रियविश्लेषमोहितामिति । भगवत एव विश्लेषेण परममोहं मूर्च्छां प्राप्ताम् । सापि तासां सखी । अतः सख्यभावेन बह्वयः तां प्रबोधितवत्यः । 'न दुःखं पञ्चभिः सहेति' ॥ ४० ॥

पहले जिनका वर्णन किया है वे गोपियां भगवान् के मार्ग को खोजती हुई समीप में ही जिसका भगवान् ने त्याग किया, उस गोपी को देखती हुई ।

इस गोपी को देखकर अन्य सब गोपियों को क्रोध नहीं आया, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं 'दुःखिताम्' कारण यह गोपी भी दुःखी देखी । दुःखी के ऊपर क्रोध नहीं आता है, इस गोपी के दुःखी होने में कोई दूसरा हेतु नहीं है दूसरा हेतु निराकरण करने के लिये शुकदेवजी कहते हैं 'प्रियविश्लेषमोहिताम्' यह गोपी भगवान् के ही वियोग से परम मोह की मूर्च्छा को प्राप्त हो गई है ।

यह गोपी भी अन्य सब गोपियों की सखी है, इसलिये सख्यभाव से बहुत सी गोपियां इसको प्रबोध करने लग गईं ।

नीति शास्त्र में कहा है कि 'पञ्चभिः सह गन्तव्यं स्थातव्यं पञ्चभिः सह। पञ्चभिः सह भोक्तव्यं न दुःखं पञ्चभिः सह' पाँचों के साथ जाना, रहना, और भोजन करना चाहिये, पाँचों के साथ रहने में दुःख नहीं होता है ॥ ४० ॥

(सुबो०) पूर्वमेताः भगवानेवमेव कौतुकार्थं गतः, न त्वस्मदोषेणेति ज्ञातवत्यः। अन्यथा दोषनिराकरणार्थमेव यत्नः कृतः स्यात्। स्वदोषपरिज्ञानं च भगवत्कृपयैव भवति, न स्वत इति ज्ञापयितुं सा नीता, पश्चात् त्यक्ता कथनार्थमेव, अतो भगवदिच्छया सर्वं कथितवती। तत्र वक्तव्ये यत्प्रयोजकं तदाह-तया कथितमिति।

पहिले इन गोपियों ने जाना था कि भगवान् ऐसे ही कौतुक करने के लिये चले गये हैं, हमारे दोष के नहीं गये हैं, इसी बात को जानती थीं, नहीं तो दोष दूर करने के लिये ही प्रयत्न करतीं।

अपने दोष का ज्ञान तो भगवान् की कृपा से ही होता है, अपने आप नहीं होता है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये थे, पश्चात् दोष दूर करने के लिये उसका त्याग कर दिया, अतः भगवान् की इच्छा से इस गोपी ने सर्वं बात भगवत्कृपयैव भवति, न स्वत इति ज्ञापयितुं सा नीता, पश्चात् त्यक्ता कथनार्थमेव, अतो भगवदिच्छया सर्वं कथितवती। तत्र वक्तव्ये यत्प्रयोजकं तदाह-तया कथितमिति।

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात्।

अवमानं च दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ॥ ४१ ॥

पदपदार्थ—(माधवात्) लक्ष्मीपति से (मानप्राप्ति) मान की प्राप्ति को (च) और (दौरात्म्यात्) दुष्टता से (अवमानं) अपमान को (तया) उस गोपी द्वारा (कथितम्) कहे वाक्य को (आकर्ण्य) सुनकर गोपियां (परमं) परम (विस्मयं) आश्चर्य को (ययुः) प्राप्त हुईं ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार माधव से मानप्राप्ति तथा दुष्टता से अपमान प्राप्ति हुई, उस प्रकार का सखी का वाक्य सुनकर गोपियां परम विस्मय को प्राप्त हो गईं ॥ ४१ ॥

(सुबो०) मानप्राप्तिं च माधवात्, अवमानं च दौरात्म्यादिति। तया कथितं यद्यपि बह्वेव श्रुतम्, तत्रैतावानर्थो निर्धारितः। सन्माननं यत्प्राप्तम्, तत्र स्वगुणैः, किन्तु लक्ष्मीपतेरेव गुणैः, लक्ष्म्यंशा एता इति। दौरात्म्यात्स्वधर्मदिव अवमानम्। चकारात् खेदभ्रमादयः। एवं भगवतः अलौकिकं सामर्थ्यं दृष्ट्वा परमं विस्मयं प्राप्ताः। एवं तद्वाक्यैः पदार्थनिर्धारो जातः। अन्वेष्टनादिना भगवान् न प्राप्तव्य इति ॥ ४१ ॥

माधव-लक्ष्मीपति भगवान् से मान की प्राप्ति को, और दुष्टता से अपमान की प्राप्ति को उस गोपी द्वारा सुनकर, यद्यपि गोपियों ने बहुत सी बातें सुनीं, किन्तु उसमें से गोपियों ने इसका ही अर्थ निर्धार किया कि जो भगवान् से इस गोपी को सम्मान प्राप्त हुआ, वह अपने

गुणों से नहीं हुआ, किन्तु लक्ष्मीपति भगवान् के गुणों से ही हुआ है, ये सब गोपियां लक्ष्मी जी के अंश हैं।

और इस गोपी का अपने दुष्टता धर्म से ही अपमान हुआ है। मूल के चकार से खेद भ्रम आवि जानने चाहिये, अर्थात् इसको खेद भ्रम आदि भी अपने दुष्टता धर्म से हुए हैं।

इस प्रकार गोपियां भगवान् का अलौकिक सामर्थ्य देखकर परम विस्मय को प्राप्त हो गईं।

इस प्रकार गोपियों के वाक्यों से पदार्थ का निर्धार हुआ कि अन्वेष्टनादि से भगवान् प्राप्त नहीं होने ॥ ४१ ॥

(सुबो०) अतः परं भगवत्प्रसादे को हेतुरिति विचार्य, सर्वपरित्यागेन देहपरित्यागपर्यन्तं साधनमिति निश्चित्य, तथा कृतवत्य इत्याह—तत इति।

अब भगवान् की कृपा-प्रसाद में क्या हेतु है, इसका गोपियों ने विचार किया, विचार करके यह निश्चय किया कि भगवत्प्रसाद में सर्वपरित्याग करके देहपरित्याग पर्यन्त साधन है, इस प्रकार गोपियों ने निश्चय करके उक्त साधन किया, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं।

ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते।

तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निवृत्तुर्हरः ॥ ४२ ॥

पदपदार्थ—(ततः) पीछे (यावत्) जहां तक (चन्द्रज्योत्स्ना) चन्द्रमा के प्रकाश से (वनं) वन को (विभाव्यते) प्रकाशित देखा वहांतक (अविशन्) प्रविष्ट हुईं (तमः) अन्धकार को (प्रविष्टं) प्रविष्ट हुआ (आलक्ष्य) देखकर (हरेः) हरि के सकाश से अथवा हरि की सम्बन्धिनी गोपियां (ततः) अन्धकार से (निवृत्तुः) निवृत्त हो गईं—प्रयात् अन्धकार देखकर लौट आईं ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—पीछे गोपियों ने जहां तक चन्द्रमा की चांदनी का प्रकाश देखा वहांतक वन में गईं, अन्धकार प्रविष्ट हुआ देखकर हरि के सकाश से अथवा हरिसम्बन्धिनी गोपियां अन्धकार से निवृत्त हो गईं, अर्थात् लौट आईं ॥ ४२ ॥

(सुबो०) ततो वनमविशन्। मोहनिवृत्त्यर्थं वनप्रवेशः। वनं गतानामपि चेन्मोहः, तदा किं वनप्रवेशेनेति। चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते, तावद् दूरमेव गताः। अतिनिविडवनं तु न प्रविष्टाः। यदा पुनर्गठि वने अन्तश्चन्द्रकिरणा न प्रविशन्ति, तदा तत्र तमः प्रविष्टमालक्ष्य, ततो निवृत्ता जाताः। ननु प्रथमं यदुद्योगेन वनं गताः, तदकृत्वा कुतो वा निवृत्ता इत्याशङ्क्याह—हरेरिति। हरेः सकाशात् हरेः सम्बन्धिन्यो वा। ततः अन्धकारान्निवृत्ताः। न हि भगवदीया अन्धकारं प्रविशन्ति। भगवतैव निवर्तिताः ॥ ४२ ॥

इसके पश्चात् गोपियां वन में प्रविष्ट हुईं, भगवद्भाव से अन्य भाव दोषरूप है, इसको ही मोह कहते हैं इस मोह की निवृत्ति के लिये गोपियों ने वन में प्रवेश किया है। यदि वन में गये हुए को भी मोह हो, तो फिर वन में प्रवेश करने से क्या प्रयोजन है, अर्थात् कुछ नहीं। फिर वन में जाना व्यर्थ है।

गोपियों ने चन्द्रमा का प्रकाश जहाँतक देखा, वहाँतक ही गईं, अत्यन्त निविड-सघन वन में तो गोपियाँ प्रविष्ट नहीं हुईं। कारण कि जहाँ फिर गाढ वन में भीतर चन्द्रकिरण प्रविष्ट नहीं होती हैं, वहाँ वन में भीतर अन्धकार प्रविष्ट देखकर गोपियाँ वहाँ से निवृत्त लौट आईं।

यदि शंका करो कि गोपियाँ जिस कार्य के करने के उद्योग से प्रथम वन में गईं, उस कार्य को बिना किये क्यों लौट कर आईं।

इस शंका का उत्तर देते कहते हैं (हरेः) गोपियाँ हरि के सकाश से, अथवा हरि भगवान् की संबन्धिनी हैं, अतः अन्धकार से लौट कर आईं, कारण कि भगवदीय अन्धकार में प्रवेश नहीं करते हैं, इन गोपियों को भगवान् ने ही अन्धकार से निवृत्त किया है। गोपियाँ दोष निवृत्त्यर्थ गई थीं, इस चन्द्रमा को स्वामिनीमन रूप तारों की रक्षा करने वाला पूर्व में कहाँ है, इसलिये चन्द्रप्रकाश रहित देश में दोष ही होगा, दोषनिवृत्त नहीं होगा, अतः लौटकर आ गईं ॥ ४२ ॥

(सुबो०) निवृत्ताः चेत्, गृहं गताः भविष्यन्तीत्याशंकायामाह-तन्मनस्का इति ॥ ४२ ॥

यदि शंका करो कि वन से लौटकर गोपियाँ घर को चली जायेंगी, तब इस शंका के उत्तर में शुकदेवजी कहते हैं।

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।

तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥ ४३ ॥

पदपदार्थ—(तन्मनस्काः) भगवान् में मनवाली (तदालापाः) भगवान् में वाणीवाली (तद्विचेष्टाः) भगवान् में चेष्टावाली (तदात्मिकाः) चित्त में कृष्ण ही हमारी आत्मा है, इस प्रकार की स्वाभाविकी भावनावाली (तद्गुणानेव) भगवान् के गुणों का ही (गायन्त्यः) गान करती हुईं (आत्मागाराणि) देह, घर तथा इनके सम्बन्धी वस्तुओं की (न) नहीं (सस्मरुः) स्मरण करती हुईं ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—इन सब गोपियों का मन भगवान् में था, इनकी वाणी भगवान् में थी, इनके शरीर की क्रिया भगवन्मय थी, इनकी आत्मा भगवान् ही था, अर्थात् गोपियों के चित्त में कृष्ण ही हमारी आत्मा है, इस प्रकार भावना स्वाभाविकी थी, सब गोपियाँ भगवान् के गुणों का ही गान करतीं देह, घर और इनकी सम्बन्धी वस्तुओं का स्मरण नहीं करती हुईं ॥ ४३ ॥

(सुबो०) ता नात्मागाराणि सस्मरुः । आत्मानं देहम् । अगारं गृहम् । तत्संबन्धीनि च वस्तूनि स्मृतवत्य एव न, कुतो गमिष्यन्ति । अस्मरणे हेतवः । तन्मनस्का इत्यादिभिः पञ्चभिः पदैः पञ्च निरूप्यन्ते, स्मृतिर्मनसि जायते, तन्मनस्तु केवलं भगवत्येव, अतस्तन्मनस्काः भगवन्मनस्का न सस्मरुः । अन्यद्वाराप्यस्मरणार्थमाह—तदालापा इति । अन्या अपि चेदन्यवाता कुर्युः, तदा तत्प्रसङ्गात् गृहादिस्मरणं भवति । सर्वा एव तस्मिन् भगवत्येवालापो यासाम् । अतोऽन्यतोऽपि न स्मरणम् । ननु दैहिकी क्रिया क्षुत्पिपासाकृता आवश्यकी, तथा देहादिस्मरणं भविष्यतीति चेत्, तत्राह—तद्विचेष्टा इति । तस्यैव भगवतः पूर्ववच्चेष्टाविष्टाः ।

ननु तथापि सर्वज्ञानेष्वात्मांशः स्फुरति, घटमहं जानामि, पटमहं जानामीति । अतः कथमात्माऽस्फूर्तिः, तत्राह—तदात्मिका इति । स एवात्मा यासाम् । सर्वदा कृष्णात्मभावनेव चित्ते सहजा तासाम् । अत आत्मत्वेन भगवानेव स्फुरति इति न देहादिस्फुरणम् । ननु 'सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधका' इति अदृष्टवशात् कथं न स्मृतिः, तत्राह—तद्गुणानेव गायन्त्य इति । यदि तूष्णीं तिष्ठेयुः, भवेदपि स्मृतिः अन्यासक्तास्तु ताः कार्यान्तरपराः यतस्तस्य भगवतो गुणानेव गायन्ति । गुणैः कृत्वा दुरदृष्टं च नश्यति । अतो नादृष्टद्वारापि स्मृतिबोधः ॥ ४३ ॥

ये सब गोपियाँ अपनी देह, तथा घर और इनके सम्बन्धी वस्तुओं का स्मरण भी नहीं करती हुईं । फिर घर लौटकर कैसे जायेंगी ।

गोपियों को घर आदि का स्मरण नहीं हुआ, इसमें 'तन्मनस्का' इत्यादि पांच पदों से पाँच हेतु शुकदेवजी निरूपण करते हैं ।

स्मृति मन में उत्पन्न होती है, गोपियों का मन तो केवल भगवान् में ही था, इसलिये 'तन्मनस्का' भगवान् में ही मन लग रहा था, इसलिये देह और घर का स्मरण नहीं हुआ ।

अन्य द्वारा भी गोपियों को देह तथा घर का स्मरण नहीं हुआ, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं 'तदालापाः' अन्य गोपियाँ यदि अन्यवार्ता करें तो अन्यवार्ता के प्रसङ्ग में गृह आदि का भी स्मरण हो, किन्तु सभी गोपियों की वार्ता भगवत्सम्बन्धिनी थी, इसलिये अन्य से भी गृहादि का स्मरण गोपियों को नहीं हुआ ।

यदि शंका करो कि शरीर की क्रिया भूख प्यास कृत तो स्मरण आवश्यकीय है । उससे देहादि का स्मरण हो जायेगा ।

तब इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'तद्विचेष्टाः' गोपियाँ भगवान् की ही पूर्व की तरह क्रियाविष्ट हैं, अर्थात् गोपियों में पहिले की तरह भगवान् की क्रियाओं का आवेश है ।

यदि कहो कि तो भी सर्वज्ञान में घट को मैं जानता हूँ, पटको मैं जानता हूँ, इस प्रकार आत्मांश भी स्फुरित होता है, अतः आत्मा की स्फूर्ति होगी, फिर कैसे आत्मा की स्फूर्ति नहीं होगी ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'तदात्मिकाः' भगवान् ही गोपियों की आत्मा है, गोपियों के चित्त में कृष्ण हमारी आत्मा है इस प्रकार की भावना स्वाभाविकी है, अतः गोपियों के आत्मत्व से भगवान् ही स्फुरित होते हैं । इस प्रकार गोपियों को देहादि स्फुरण नहीं है ।

यदि कहो कि 'सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' सदृश—किसी एक से पदार्थ का दर्शन, तथा अदृष्ट और चिन्तन आदि स्मृतिबीज के बोधक हैं, इस प्रकार तर्कभाषा में कहा है, इसलिये अदृष्ट आदि के वश से स्मृति का होना सम्भव होता है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'तद्गुणानेव गायन्त्यः' यदि गोपियाँ चुपचाप स्थित रहें तो भी स्मृति हो जाये, किन्तु गोपियों की आसक्ति भगवान् में थी, और कार्यान्तर-अन्य कार्य नहीं करती थीं, गोपियाँ तो भगवद्गुणगानरूप कार्य में लगी हुई थीं, कारण कि भगवान् के गुणों का गान करती हैं । गुणगान से अशुभ अदृष्ट का नाश होता है, इसलिये अदृष्ट द्वारा भी गोपियों को देहादि की स्मृति नहीं होती है ॥ ४३ ॥

(सुबो०) तर्हि किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह—पुनः पुलिनमागत्येति ।

तो फिर क्या हुआ, इस प्रकार की आकाङ्क्षा में शुकदेवजी कहते हैं ।

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्ध्याः कृष्णभावनाः ।

समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षया ॥ ४४ ॥

इति श्रीभागवतमहापुराणे दशमस्कन्धपूर्वार्धे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

पदपदार्थ—(पुनः) फिर (कालिन्ध्याः) श्री यमुनाजी के (पुलिनम्) तट में (आगत्य) आकर (कृष्णभावनाः) कृष्ण भावनावाली (तदागमनकाङ्क्षिताः) कृष्ण आगमन की इच्छा (समवेताः) इकट्ठी हुई गोपियाँ (कृष्णं) सदानन्द को (जगुः) गान करती हुई ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—गोपियाँ पहिले श्रीयमुनाजी के जिस पुलिन में थीं, उसी पुलिन में कृष्ण भावनावाली गोपियाँ भगवत्प्रेरणा से आकर भगवान् के आगमन की आकाङ्क्षा से इकट्ठी हुई कृष्ण सदानन्द का गान करने लग गईं ॥ ४४ ॥

(सुबो०) पूर्व पुलिने स्थिता यत्र, तत्रैव पुनरागताः । ननु विवेकरहिताः कथं तत्रागताः, तत्राह—कृष्णभावना इति । कृष्ण एव भावना यासाम् । तेन भगवदिच्छया भगवत्प्रेरणया तत्रैव स्थाने भगवान् रतिं करिष्यतीति निश्चित्य, तत् स्थानमस्माकं हितकरमिति तत्रैवागताः । ततः कस्या वा भाग्यात् स्नेहेन कृपया वा आगच्छेदिति संदेहात् समवेता जाताः । तदा साधनान्तरमलभमानाः कृष्णं सदानन्दं जगुः । दोषनिवारणे हरिगुणगानमेव साधनमिति । निवृत्ते पुनर्दोषे स्वयमेवायास्यतीति तदागमनकाङ्क्षया जगुः ॥ ४४ ॥

गोपियाँ पहिले जिस श्रीयमुनाजी के पुलिन में स्थित थीं, उसी पुलिन में फिर आ गईं । यदि कहो कि विवेक-ज्ञान रहित गोपियाँ पुलिन में कैसे आ गईं ।

तब इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'कृष्णभावनाः' गोपियों की कृष्ण ही में भावना की, इसलिये भगवान् की इच्छा-प्रेरणा से उसी स्थान में भगवान् रति-रमण करेंगे, इस प्रकार निश्चय करके वही स्थान हमारा हित करनेवाला है, अतः श्रीयमुना पुलिन में आ गईं । पश्चात् न जाने किसके भाग्य से, स्नेह से, अथवा कृपा से, भगवान् आ जाये, इस प्रकार संदेह से गोपियाँ एकत्रित हो गईं ।

उस समय भगवत्प्राप्ति का कोई दूसरा साधन न पाकर कृष्ण-सदानन्द का गान करती हुई ।

गोपियों ने विचार किया कि दोषनिवारण में हरि का गुणगान ही साधन है, और गुणगान करने पर जिस समय सर्वदोषों की निवृत्ति हो जायेगी, उस समय स्वयं ही भगवान् आ जायेंगे । इस प्रकार भगवान् के आगमन की आकाङ्क्षा से गोपियाँ भगवद्गुणगान करती हुई ॥ ४४ ॥

(सुबोधिनी कारिका)

श्रीकृष्णगोपिकास्तत्र द्विविधा नवधा गुणैः ।

समुदायेन भिन्ना वा नतागर्वा असाधनाः ॥ १ ॥

हरेर्गानं प्रियं मत्वा जीवनार्थमपि प्रियाः ।

स्वसंदेहात् मिलिता जगुर्नानाविधैर्गुणैः ॥ २ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनी श्रीमद्वल्लभभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धविवरणे सप्तविंशोऽध्यायविवरणम् ॥ २७ ॥

कारिकार्थ—श्रीयमुना तट पर एकत्रित हुई श्रीकृष्ण भगवान् की गोपियाँ अन्यपूर्वा-श्रुतिरूपा, तथा अनन्यपूर्वा-अग्निकुमार ऋषिरूपा, भेद से दो प्रकार की हैं ।

ये सब सात्त्विक, राजस, और तामस इस प्रकार तीन भेद से नव प्रकार की हैं, अर्थात् अन्यपूर्वा सात्त्विक आदि भेद से नव प्रकार की तथा अनन्यपूर्वा भी सात्त्विक आदि गुणों के भेद से नव प्रकार की हैं, इस प्रकार प्रत्येक भेद से अठारह प्रकार की हुई, उपलक्षण विधि से उन्नीसवीं भी जाननी चाहिये, इसलिये गोपियों के उन्नीस प्रकार हुए ।

अथवा 'समुदायेन' समुदायभेद-यूथभेद से नव प्रकार की हैं अर्थात् पहिले पक्ष-गुणभेद पक्ष में प्रत्येक गोपियाँ सात्त्विकी, राजसी, और तामसी हैं, दूसरे पक्ष में समुदाय से तामसत्व, राजसत्व और सात्त्विकत्व है, अर्थात् कोई यूथ सात्त्विकी गोपियों का, और कोई यूथ राजसी गोपियों का और कोई यूथ तामसी गोपियों का है, उसमें सात्त्विकी गोपियों का त्रिक, राजसी गोपियों का त्रिक, तथा तामसी गोपियों का त्रिक है, इस प्रकार नव प्रकार के यूथ हैं । पक्ष फलित अर्थ है ।

इन दोनों पक्षों को आगे २८ वीं अध्याय की कारिकाओं में स्वयं ही कहेंगे । ये सब गोपियाँ गर्वरहित हो गई, निःसाधन थीं, हरि भगवान् को गान प्रिय है, इस बात को जानकर तथा अपने जीवन के लिये गान करना आवश्यक है, इस बात को भी जानकर भगवान् की प्यारी गोपियाँ किसी के भाग्य से, अथवा किसी के स्नेह से अथवा किसी के ऊपर कृपा करके भगवान् प्रकट हो जायेंगे, इस प्रकार के संदेह से सर्व एकत्रित हो गई । और फिर मिलकर अनेक प्रकार के गुणों से गान करने लग गईं ॥ २ ॥

इति श्रीभागवत सुबोधिनी श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित विरचित दशमस्कन्ध-

तामसफल प्रकरण सत्ताईसवीं अध्याय का उपलब्ध साहित्य सहित मथुरास्थ

जगन्नाथ चतुर्वेदी कृत भाषा विवरण पूर्ण हुआ ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

(श्रीमद्भागवत सुबोधिनीफलप्रकरण तृतीय २८)

अष्टाईसवीं अध्याय का प्रारम्भ करते हैं ।

(सुबोधिनी कारिका)

अष्टाविंशे हरेर्गानं स्वभावादपराधतः ।
कृतावज्ञा गोपिका हि स्तोत्रं चक्रुरितीर्यते ॥ १ ॥
एकोनविंशतिविधा गोप्यः स्वस्याधिकारतः ।
एकोनविंशतिविधां स्तुतिं चक्रुर्हरेः प्रियाम् ॥ २ ॥
राजसी तामसी चैव सात्त्विकी निर्गुणा तथा ।
एवं चतुर्विधा गोप्यः पतिमत्यो निरूपिताः ॥ ३ ॥
तथैवानन्यपूर्वाश्च प्रार्थनामाहुरुत्तमाम् ।
गुणातीताः सात्त्विकीश्च तामसी राजसीस्तथा ॥ ४ ॥
कृष्णभावनया सिद्धा विशेषेणाह ताः शुक्रः ।
अनन्यपूर्विका एव पुनस्तिष्ठो मुदा जगुः ॥ ५ ॥
सात्त्विकी तामसी चैव राजसी चेति विश्रुताः ।
सपूर्वाश्च ततस्तिष्ठः तामसी राजसी परा ॥ ६ ॥
पुनस्ता एव त्रिविधा अटतीत्यादिभिस्त्रिभिः ।
राजसी तामसी चैव सात्त्विकीति विभेदतः ॥ ७ ॥
अनन्यपूर्वा द्विविधा राजसी सात्त्विकी तथा ।
तमसा तामसी तत्र नास्तीत्येकोनविंशतिः ॥ ८ ॥
अथवा प्रार्थनाध्यायाः सप्तान्ते द्विविधा पुनः ।
चतुर्थ्यस्तु समास्तत्र तत एकोनविंशतिः ॥ ९ ॥
तत्तद्वाक्यानुसारेण तासां भावो निरूप्यते ।
अन्यथाऽनेकता स्तोत्रे प्रकारैर्नोपयुज्यते ॥ १० ॥

अब संक्षेप से दो प्रकार की गोपियों का विभाग वर्णन करते हैं ।
अन्यपूर्वा-श्रुतिरूपा, पतिवाला गोपियां दश प्रकार की हैं, और अनन्यपूर्वा-कुमारिका
मव प्रकार की हैं ।
इन सबका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि (१) 'जयति ते' इस श्लोक में सात्त्विक राजसी
है (२) 'शरदुदाशये' इस श्लोक में सात्त्विक तामसी है, (३) 'विषजलाप्ययात्' इस श्लोक में

श्रीमद्भा० स्क० १०, अ० २८]

श्रीसुबोधिनी

२५३

सात्त्विक-सात्त्विकी है, (४) 'न खलु गोपिकानन्दनः' इस श्लोक में निर्गुणा है, 'दिनपरिक्षये' सह
१२ वें श्लोक में राजस तामसी है, 'प्रणतकामदं' इस १३ वें श्लोक में राजस-राजसी है, 'सुरत-
वर्धनं' इस १४ वें श्लोक में राजस तामसी है, 'अटति यत्' इस १५ वें श्लोक में सत्त्वमिश्र तामसी
है, 'पतिसुतान्वय' इस १६ वें श्लोक में तामस-तामसी है, 'रहसि संविदं' इस १७ वें श्लोक में
'रजोगुण मिश्र तामसी है, इस प्रकार अन्यपूर्वा-श्रुतिरूपा दश प्रकार की हैं ।

अब कुमारिकाओं को कहते हैं ।

'विरचिताभयम्' इस ५ वें श्लोक में सात्त्विकसात्त्विकी है ।

'ब्रजजनातिहन्' इस ६ वें श्लोक में सात्त्विकतामसी है ।

'प्रणतदेहिना' इस ७ वें श्लोक में सात्त्विकराजसी है ।

'मधुरया गिरा' इस ८ वें श्लोक में निर्गुणा है ।

'तव कथामृतं' इस ९ वें श्लोक में राजससात्त्विकी है ।

'प्रहसितं' इस १० वें श्लोक में राजसतामसी है ।

'चलति यद् ब्रजात्' इस ११ वें श्लोक में राजसराजसी है ।

'ब्रजवनीकसां' इस १२ वें श्लोक में सत्त्वमिश्रतामसी है ।

'यत्ते सुजात' इस १९ वें श्लोक में रजोगुणमिश्रतामसी है ।

इस प्रकार १९ श्लोकों से दो प्रकार की गोपियां कहीं गई हैं ।

यह विरहावस्था का ही स्वभाव है, जो कि इसमें गुणगान ही होता है । इसलिये गोपियां
'स्वभावात्' वियोगावस्था के स्वभाव से ही अष्टाईसवें अध्याय में गान करती हुई ।

'अपराधतः' अब दूसरे पक्ष को कहते हैं ।

गोपियों ने अन्य भक्तों से भी अपने बीच में आधिक्य लक्षण अपराध प्राप्त करके भगवान्
यदि हमारी प्रार्थना करेंगे तो रसदान करेंगी इस प्रकार मान-लक्षण से भगवान् की अवज्ञा
की है, इसलिये अपना दोष दूर करने के लिये गोपियों ने स्तोत्र गान किया, कारण कि अवज्ञा
से भगवान् अप्रसन्न हो गये हैं, स्तोत्रगान से भगवान् का प्रसाद होगा, इसलिये गोपियों ने
स्तोत्रगान किया है । अथवा स्तोत्र, यह गान का विशेषण है, इसका अर्थ इस प्रकार है, 'स्वभा-
वात्' इस स्वभाव से जो अपराध उसकी निवृत्ति के लिये गोपियों ने स्तोत्ररूप गान किया है,
आगे गुणों का निरूपण भावविलक्षण करने के लिये है, इस प्रकार जानना चाहिये ।

ये सब गोपियां १९ प्रकार की हैं, और अपने-अपने अधिकारानुसार १९ प्रकार की हरि
भगवान् की स्तुति करती हुई ॥ २ ॥

विवरण अब तीसरी कारिका 'राजसीतामसी चैव' श्लोक १ सात्त्विकराजसी का,
श्लोक २ सात्त्विकतामसी का, श्लोक ३ सात्त्विकसात्त्विकी का है, श्लोक ४ निर्गुणा का है,
इस प्रकार चार प्रकार की पतिवाली श्रुतिरूपाओं का निरूपण किया है ।

इसके अनन्तर ७ श्लोकों में सात प्रकार की कुमारिकाओं का निरूपण है, १ गुणातीता
२ सात्त्विकी, ३ तामसी ४ राजसी ये सब कृष्णभावना से सिद्ध हो गई हैं ।

फिर तीन कुमारिकायें सात्त्विकी तामसी, और राजसी कही हैं ।

इस प्रकार सात श्लोक कुमारिकाओं के हैं ।

फिर अन्यपूर्वा-पतिवाली श्रुतिरूपाओं के ६ श्लोक हैं ।

चारहवां श्लोक 'दिनपरिक्षये' इसमें राजसतामसी है ।

'प्रणतकामदं' इस १३ वें श्लोक में राजसराजसी है ।

‘सुरतवर्धन’ इस १४ वें श्लोक में राजससात्त्विकी है।

‘अटति यद्भवान्’ इस १५ वें में देवनिन्दा करनेवाली सात्त्विकतामसी है।

‘पतिसुतान्वय’ इस १६ वें श्लोक में भगवान् की निन्दा करनेवाली तामसतामसी है।

‘रहसि संविदं’ इस १७ वे श्लोक में अपनी निन्दा करनेवाली राजस-तामसी है। इस प्रकार आभास में क्रम कहा है।

कारिकाओं में कहे क्रम के अनुसार देवनिन्दा करनेवाली राजसतामसी है, और अपनी निन्दा करनेवाली सात्त्विकतामसी है, इसीसे कारिका में कहा है ‘राजसो तामसी च सात्त्विकीति विभेदतः’।

इस प्रकार कारिका में कहा क्रम अविवक्षित होने से अथवा तात्पर्यान्तर से कारिका में कहा क्रम तथा आभास में कहा क्रम दोनों पक्षों की व्यवस्था जाननी चाहिये। इस प्रकार १२ वें श्लोक से १७ श्लोक तक तथा पहले चार श्लोक मिलकर दश प्रकार की श्रुतिरूपा-पतिवाली गोपियों का वर्णन किया है।

कुमारिकाओं का वर्णन ‘विरचिताभयम्’ इस ५ वे श्लोक में।

सात्त्विकसात्त्विकी, आभास पक्ष में तथा कारिका में गुणातीता कही है।

‘व्रजजनातिहन्’ इस ६ वे श्लोक में सात्त्विकतामसी।

‘प्रणतदेहिना’ इस ७ वे श्लोक में सात्त्विकसात्त्विकी।

‘मधुरया गिरा’ इस ८ वें श्लोक में निगुणा मालूम होती है।

‘तव कथामृतम्’ इस ९ वें श्लोक में राजससात्त्विकी।

‘महसितं’ इस १० वें श्लोक में राजसतामसी।

‘बलसि यद्व्रजात्’ इस ११ वें श्लोक में राजसराजसी।

‘व्रजवनोकसां’ इस १८ वें श्लोक में सत्वमिश्रतामसी।

‘यत्ते मुखात्’ इस १९ वें श्लोक में रजोमिश्रतामसी है।

इस प्रकार पांच श्लोक से ११ तक सात श्लोक और अन्तिम के २ श्लोक मिलकर ११ श्लोक कुमारिकाओं के हैं।

कुमारिकाओं में तामसतामसी नहीं है, अतः श्रुतिरूपा दश प्रकार की और कुमारिका नव प्रकार की हैं।

इस प्रकार कारिकाओं में कहा १९ श्लोक का विवरण है।

इस प्रकार कारिकाओं में कहा पक्ष वर्णन किया, अनगूढ अनुसंधान से द्वितीय पक्ष कहते हैं। ‘अथवा’

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, और पंचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, तथा अन्त में तेरह और कीचड़ श्लोकों से कुमारिकाओं ने प्रार्थना की है।

इस प्रकार नव श्लोक कुमारिकाओं के हुए।

अन्य प्रौढाओं के नव, दश, ग्यारह, बारह, पन्द्रह, सोलह, सत्रह, अठारह, उन्नीस, और ‘नखसु गोपिका’ इस चतुर्थ श्लोक की निरूपण करनेवाली गुणातीता-कोमल भाववाली गोपी कुमारिका तथा श्रुतिरूपा दोनों में समान है, अतः १९ श्लोक हैं।

उक्त दूसरे पक्ष में सात्त्विक आदि गुणों का विभाग करना कठिन है, इसीजिसे द्वितीय पक्ष में गूढाभिसन्धि से पक्षान्तर कहा है।

यदि शंका करो कि ‘तदागमनकाक्षया’ भगवान् के आगमन की आकांक्षा से गोपियों ने गाया है, इस वाक्य से जिस प्रकार मानापराध से भगवान् तिरोहित हुआ है, उसी

प्रकार स्तोत्र से संतुष्ट होकर आ जायेगा, यह भाव लक्षित होता है, तो फिर दोष रोपण बाध करना ठीक नहीं है।

इस प्रकार शंका करके गूढाभिसन्धि प्रकट करते स्तुति का स्वरूप १० वीं कारिका से बतलाते हैं। ‘तत्तद्वाक्यानुसारेण’।

स्तुति अपने-अपने अधिकारानुसार होती है, गोपियों का इस प्रकार का ही अधिकार है, जिससे गोपियों के ‘कुहक’ ‘कितव’ आदि वाक्यों को भी स्तुतित्व है, नहीं तो आगे उक्त वाक्यों का अनुवाय करती भगवान् के आगमन की आकांक्षा से गान करती हुई, इस प्रकार गुरुदेवजी नहीं कहते।

भगवान् से इस प्रकार के वचन कहने की ब्रह्मादिकों का भी सामर्थ्य नहीं है, गोपियों के अपने-अपने स्वभावानुसार ही वचन कहे, और उन वचनों को श्रवण कर भगवान् को परम संतोष प्राप्त हुआ इसलिये गोपियों का भाव ही निरूपण किया है।

यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो औरों की स्तुति की तरह यहाँ भी स्तुतित्व ही हो, भावमात्र निरूपण नहीं हो, दूसरी बात यह है कि उपालम्भ-उराहना आदि प्रकार से अपने-अपना स्तुति में सम्भव नहीं होती है, अतः यहाँ गोपियों के पुण्य-पुण्य भाव का ही निरूपण है ॥ १० ॥

(सुबो०) तत्र प्रथमं राजस्यः काश्चन गोप्य आहुः—जयतीति ।

अब प्रथम कितनी ही राजसी गोपियाँ कहती हैं।

(सुबो०) श्रीगोप्य ऊचुः ।

श्री गोपियाँ कहती हैं।

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।

दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥१॥

पदपदार्थ—(ते) आप के (जन्मना) प्राकट्य से (व्रजः) सभी व्रज (अधिक) अधिक (जयति) सर्वोत्कर्ष से अर्थात् वैकुण्ठ से भी अधिक उत्कर्ष से विराजमान है, (धृता) व्रज में (इन्दिरा) लक्ष्मी (शश्वत्) सर्व काल में (श्रयते) हीन भाव से आश्रय करती है (हे दयित) हे प्यारे (तावकाः) तुम्हारे में (धृतासवः) प्राण धारण करनेवाले हम सब (स्वा) आपको (दिक्षु) दिशाओं में (विचिन्वते) ढूँढती हैं (दृश्यतां) इसलिये एक बार अपने-अपने को देखो ॥ १ ॥

भाषार्थ—आपके जन्म से व्रज का वैकुण्ठ से भी अधिक उत्कर्ष हुआ है, कारण कि व्रज में लक्ष्मी निरन्तर हीन भाव से रहती है, हे प्यारे ! तुम्हारे हम आप में प्राण धारण करनेवाले आपको दिशाओं में खोजते हैं, इसलिये एक बार देखो ॥ १ ॥

(सुबो०) मङ्गलार्थोऽत्र जयशब्दः । यथा फलं साधयेत्स्तोत्रम्, तथा निविधानार्थः । अन्यथा क्रियामादौ न प्रयुञ्ज्यात् । त्वदवतारेण व्रजः सर्वोऽपि कृतार्थः । वयमेव परमकृतार्था एवेति । यथा वयमपि कृतार्था भवामः, तथा यत्नः कर्तव्य इति वक्तुं व्रजस्य तवावतारेण सर्वोत्कर्षो जात इत्याहुः । ते जन्मना व्रजः अधिकं जयतीति । सर्वोत्कर्षेण स्थितिः जयः, अधिकजयो वैकु-

यदि कहो कि ब्रज में रहनेवालों में भक्त नहीं है, नहीं तो विरह में मर जाते, किन्तु ब्रजस्थ तो सब जीवित हैं, अतः ब्रज में रहनेवालों में भक्ति नहीं है, भक्तिरहित मेरा दर्शन नहीं करते हैं, इसलिये मेरा दर्शन तुमको नहीं होता है, यह बात युक्त ही है।

इस शंका के उत्तर में गोपियाँ कहती हैं, 'त्वयि धृतासवः' हम आपके लिये ही प्राण धारण कर रही हैं, जिस समय आपके उपयोग में नहीं आवेंगे, इस बात को हम जान जायेंगी, तब उसी समय निरूपयोगी प्राणों का त्याग कर देंगी। इस प्रकार का गोपियों का भाव है। प्राणों को आश्वासन देने के लिये ही आपका खोज कर रही हैं, अब थोड़ा भी बिलम्ब होगा, तो हमारे प्राण निकल जायेंगे।

यदि थोड़े बिलम्ब होने से प्राण निकलने की तैयारी नहीं होती तो हम ब्रज में ही लौट कर चली जातीं, प्रातःकाल आप स्वयं ही ब्रज में आ जाओगे, फिर हम आपका रात्रि के समय व्यर्थ ही क्यों खोज करतीं, अतः थोड़ा बिलम्ब होने पर प्राण निकलनेवाले हैं, इसलिये प्राणधारण करने के लिये ही आपको रात्रि में ढूँढ रही हैं। इसलिए हमारा आपको इस समय ढूँढना सायंक है।

अथवा इस प्रकार अन्वय करना चाहिए। 'दिक्षु त्वदीयाः त्वयि सति' इस अन्वय में 'सति' सप्तमी जाननी चाहिए, इस पक्ष में अर्थ इस प्रकार है कि 'आपके ब्रज में विद्यमान-विराजने पर हम तुम्हारे तुमको ढूँढते हैं' इस अर्थ में गोपियों ने महादेव्य प्रकट किया है, अर्थात् हम सब अतिदीन हैं, इसलिए एक बार अपने निज भक्तों को देखो। इस प्रकार हमारी प्रार्थना है।

इस प्रकार एक गोपी ने भगवान् के दर्शन की प्रार्थना की है, 'हे दयित' हे प्यारे! इस सम्बोधन से गोपी इस बात का निरूपण करती है कि पति के बिना देखे स्त्रियों का जीवन योग्य नहीं है।

यद्यपि भगवान् गोपियों को देखें, तो देखने मात्र से गोपियों को कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होगा, तथापि गोपियों की दीनता को देखकर अपने स्वरूप का दर्शन कराओ। इस प्रकार भगवान् के दर्शन के लिए गोपियों ने प्रार्थना की है।

(सुबो०) एवं स्वदैत्यानौचित्यादिनिरूपणेन तस्या राजसत्त्वं निरूपितम् । तामसी तु वधाभावं प्रार्थयितुमदर्शनस्य वधसाधकत्वमाह— शरदुदाशय इति ।
इस प्रकार प्रथम श्लोक में गोपी ने अपनी दीनता, तथा भगवान् के अदर्शन की अनुचित आदिका निरूपण करके सात्त्विक राजस भाव निरूपण किया है, अब सात्त्विक तामसी गोपी वधनिषेध की प्रार्थना करने के लिए, भगवान् का अदर्शन वधसाधक है इस बात की आगे श्लोक में कहती है।

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ ते शुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥२॥

पदपदार्थ—(हे सुरतनाथ) हे सम्भोगनाथ (शरदुदाशये) शरदृक्तु के सरोवर में (साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा) सम्यक् प्रकार से उत्पन्न कमल के उदर की लक्ष्मी को हरण करनेवाली (दृशा) दृष्टि से (हे वरद) हे वर देनेवाले । (ते) आपकी (शुल्कदासिकाः) मोल की दासियों को अथवा (अशुल्कदासिकाः) बिना मोल की-धर्मदासियों को

(निघ्नतः) मारनेवाले आपको (इह) इसमें (किं) क्या (वधः) वध दोष (न) नहीं है, अर्थात् है ॥ २ ॥

भाषार्थ—हे सुरतनाथ ! शरदृक्तु समय के सरोवर में सुन्दर प्रकार से उत्पन्न कमल के उदर-भीतर की लक्ष्मी को हरण करनेवाली दृष्टि से हे वर देनेवाले ! आप अपनी मोल की दासियों का अथवा बिना मोल की-धर्मदासियों का वध करते हो, इसमें क्या आपको वधदोष नहीं होता, अर्थात् आपकी दृष्टि से वध होता है ॥ २ ॥

(सुबो०) शरत्कालीनो योऽयमुदाशयः पुष्करिणी, तत्र साधु सम्यक् प्रकारेण जातं यत्सरसिजं कमलं, तदन्तर्वर्तिनी या श्रीः तामपि मुष्णातीति तादृग्रूपया दृशा दृष्ट्या, हे वरद, यो निहन्ति तस्य किं वधो न, अपि तु वधदोषो भवत्येव । येनैव साधनेन परस्य प्राणा गच्छन्ति, तत्सम्पादनसाधको घातकः दोषभागभवति । अनेन भगवद्दृष्टिः सर्वघातुका निरूपिता । 'आयुर्मनांसि च दृशा सह भोज आच्छन्दि'ति वाक्यात् । तथास्मानपि प्रायेण क्रूरदृष्ट्या पश्यसि । अन्यथा कथं प्राणवाधा स्यात् । रूपं त्वानन्दमयमिति तद्दृष्टौ तदेव जीवयेत् । अतस्तदभावात् केवलं घातयत्येव । किञ्च, न वयं वधाहर्ताः, यतो दासिकाः, कुसिता दास्यः । न हि स्त्रियः अप्रयोजिकाश्च हन्यन्ते । किञ्च, वयं शुल्कदासिकाः, त्वं च सुरतनाथः । सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन तव सम्बोधनानि यथाधिकारं नियतानि । यथा धर्ममार्गं, हे धर्मपालक, हे ब्रह्मण्य, हे यज्ञेश्वरेत्यादीनि । अर्थ, हे लक्ष्मीपते, सर्वसिद्धिदेत्यादीनि । तथा मोक्षे, हे मुकुन्द, हे योगेश्वर, हे ज्ञाननिधे इत्यादीनि धर्मार्थमोक्षार्थभिरुच्यन्ते । एवमस्माभिरपि सुरतनाथे-त्युच्यते । सुरतं सम्भोगः जगति यावानस्ति तस्य भवान् नाथः । त्वदाज्ञाव्यतिरेकेण सुरतं जगति न प्रवर्तते । अतो ब्रह्मणा कामेन वा लोके सुरतप्रवृत्त्यर्थं वयं शुल्करूपा दासिका दत्ताः । शुल्कं मार्गनिर्वाहकद्रव्यं प्रतिबन्धनिवर्तकम् । सुरतं चेत् भगवत्येव निरुद्धं तिष्ठेत्, तदा लोके रसो न भविष्यतीत्यस्मद-द्वारा त्वत्तः तल्लोके प्रसृतं भवत्विति वयमागताः । तत् कार्यं दूरत एव स्थितम्, प्रत्युतास्मान्मारयसि । एवं सति सर्वमेव कामशास्त्रं व्यर्थं स्यात् । तृतीयः पुरुषार्थश्च न भवेत् । अतः सर्वथा यदर्थं वयं प्रेषितास्तत्कर्तव्यम् । अथवा । यदा कदाचित्कर्तव्यम्, इदानीं जीवयितव्या रूपप्राकट्येन । दृशो मारकत्वमुपपादयन्ति श्रीमुषेति । यस्तु चोरो भवति, स घातकोपि भवति । यथा यथा चौर्ये नैपुण्यम्, तथा तथा घातकत्वम् । तदर्थ-माहुः उदरश्रीमुषेति । तत्रापि ये दुर्गजाताः, ते अतिनिपुणाः । तत्रापि जलदुर्गजाः । तत्सरसिजम् । तत्रापि ते दुर्ग एव तिष्ठन्ति । तत्रापि ते साधु-

‘मैवं विभोर्हन्ति भवान्’ इत्यादि गोपियों के वचन भगवद्भावात्मक होने से आज्ञारूप है। इस प्रकार आशय है। उक्त इन वचनों से ही रस की प्रवृत्ति में जो प्रतिबन्ध थे, उनकी भी निवृत्ति हो गई है, इसलिये ब्रह्मा अथवा कामने सुरत-प्रवृत्ति के लिये शुल्करूप हम को दी है।

यहां यह भाव है कि ‘ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामाः’ इस श्लोक में ब्रह्मा आदि देवता भगवद्भाव की इच्छा करते हुए, साक्षात् कामरूप भगवद्भाव को प्राप्त नहीं कर सके, परन्तु भगवद्भाव सूचन करने वाले लक्ष्मी जी के कटाक्ष, जो निरन्तर प्रिय भगवान् के साथ सम्बन्ध से भगवद्भावात्मक हो गये हैं, उन कटाक्षों का सम्बन्ध हो जाने पर, इनके अनुभाव से कदाचित् भगवद्भाव भी प्राप्त हो जायगा, इस आशय से भगवद्भाव की इच्छा करने वाले ब्रह्मादिदेवता तप करते हैं। इस प्रकार निरूपण किया है।

अब यहां चालू विषय में तो प्रभु स्वयं प्रकट हुए हैं, इसलिये रस-मार्ग प्रकट करने के लिये द्वारभूत हम सब गोपियों ब्रह्मा ने प्रकट की है।

उक्त श्लोक में सुरत शब्द का विग्रह इस प्रकार है, सुष्ठु—सम्यक् प्रकार से ‘भगवता सम’ भगवान् के साथ ‘रतं’ रमणं ‘येन’ जिस भगवद्भाव करके, इसका अर्थ भगवद्भाव हुआ, लौकिक संभोग नहीं है।

यदि सुरत शब्द का अर्थ लौकिक संभोग किया जाय तो इस प्रकार का प्राकृत संभोग जगत् में पामर जीव से लेकर मनुष्य पर्यन्त वर्तमान है, फिर सुबोधिनी में ‘त्वदाज्ञाव्यतिरेकेण’ आपकी आज्ञा के बिना जगत् में सुरत प्रवृत्त नहीं होती है, इत्यादि से जो नाथत्व का विवरण किया है, वह घट नहीं सकता है।

इस मार्ग के प्रकट होने से ब्रह्मा को कोई भी भाव सिद्ध नहीं होता है, अतः उक्त अर्थ चि से पक्षान्तर कहते हैं कि (कामेन वा) अर्थात् भगवदीय भावरूप काम ने आपको सम्पूर्ण की है।

स्वामिनीजी का दर्शन होने पर भगवान् का भाव उद्विक्त—बढ़ता हुआ काम कार्य करता है, अतः काम ने ही अपने लिये हम को प्रकट की है। हमारे द्वारा आप से रस लोक में विस्तृत हो जायें, इस कार्य के लिये हम सब आई हैं; यह कार्य तो दूर रहा, और उलटा हमको आप दृष्टि द्वारा मार रहे हो, यदि हम सब मर जायेंगी तो फिर सभी कामशास्त्र व्यर्थ हो जायेगा। भगवान् की लीला का प्रतिपादन करने से ही कामशास्त्र सफल कहा जाता है, भगवान् की लीला यदि प्रकट नहीं हो तो लौकिक काम का प्रतिपादन करने से शास्त्र व्यर्थ हो जाये। कारण कि कामशास्त्र लौकिकपर ही तो लौकिक प्रतिपादन करने वाला काम पात का हेतु ही हो, अर्थात् मनुष्यों का अधः पात करे, पुत्रपार्थ साधन नहीं करे, तो फिर धर्म अर्थ मोक्ष, तीन ही पुत्रपार्थ हों, तृतीय पुत्रपार्थ—काम नहीं हो, अतः सर्वथा जिस अलौकिक काम-प्रवृत्ति के लिये हम सब भेजी गई हैं, यह कार्य आपको करना चाहिये।

अथवा सुरत तो जब कभी आपकी इच्छा हो तब सिद्ध करना, इस समय तो अपना स्वरूप प्रकट करके हम सब को जिलाना चाहिये। अब गोपियां भगवान् की दृष्टि मारने वाली है, इस बात का प्रतिपादन करती है, ‘श्रीमुपेति’।

जो चोर होता है, वह मारने वाला भी होता है, जैसे जैसे चोरी करने में चतुराई होती है, वैसे वैसे मारने में भी चतुराई बढ़ती है, इस अर्थ को गोपियां कहती हैं ‘उदरश्रीमुपेति’ दुर्ग-किले में जो उत्पन्न होते हैं वे अतिनिपुण हैं, उसमें भी जलके किले में उत्पन्न हुए हैं वे अति निपुण हैं, इस प्रकार का सरसिज-कमल है, कमल जल के किले में रहता है, उसमें भी

जो कमल सुन्दर प्रकार से उत्पन्न हुआ है, और उसमें भी प्रकाशयुक्त काल-शीतादि उपद्रव रहित शरत् ऋतु में उत्पन्न होता है, इस प्रकार देश काल स्वरूप आदि से उत्पन्न जिसकी चोरी करना सामर्थ्य से बाहर है, उस प्रकार से पुरुष—कमल के उदरवर्ति सर्वस्व का हरण करने वाले चोर भगवान् की दृष्टि साधारण गोपियों के अन्तःस्थित प्राणों का हरण कर ले जाये तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है। अर्थात् जिस प्रकार किले के भीतर घरी हुई वस्तु की चोरी हो नहीं सकती, उसी प्रकार जल के किले में रहने वाले कमल की चोरी हो नहीं सकती, स्थल से भी जलदुर्ग कठिन होता है।

कमल साधुजात है, सामर्थ्य युक्त है, इसका स्वरूप इस प्रकारका है, शक्तिमान् पुरुषकी कोई चोरी ही कर सकता है, समय भी शरद् ऋतु का है, प्रकाश में चोरी करना असंभव होता है, इस प्रकार देश-काल स्वरूपादि से कमल की चोरी होना अशक्य है, फिर भी भगवान् का चोर दृष्टि कमल के भीतर रहनेवाली सर्वस्व वस्तु की चोरी करती है। फिर गोपियों के प्राण हरण करे तो इसमें क्या आश्चर्य है।

बलिष्ठ राजा आदि भी चोरी करते हैं, किसी के यहां उनकी अपेक्षित वस्तु होती है, और पैसा देने पर भी जब वह उस वस्तु को नहीं देता है, तब बलात्कार से लेने से, अथवा उसको मरवा कर लेने से तो उनकी बुराई होती है, अतः हमारी अपकीर्ति न हो, इस लिये चोरी से ही उस वस्तु को ले लेते हैं। किन्तु यहां तो अपकीर्ति का अभावरूप विचारित नहीं होगा, अर्थात् चुराने में अपकीर्ति होगी ही।

अथवा-अपयश तो नहीं होगा, किन्तु वधदोष तो प्राप्त होता ही है, अथवा श्लोक के मूल में ‘अदृशा’ इस प्रकार पदच्छेद करना चाहिये। अदृशा—अदर्शन से, दर्शन दिये बिना आप हम सब को मार रहे हो, यह क्या वध नहीं है। कारण के अभाव में कार्यका अभाव होता है, सृष्टिका आदि के अभाव में घट कार्य का अभाव होता है, इस न्याय से भगवान् के अदर्शन को अपना वध साधन करने वाला गोपियों ने कहा है।

गोपियां कहती हैं कि हम आपके पास में सुरत-रमण के लिये आई हैं, वह सुरत तो दूर रहा, उलटा मध्य में मरण उपस्थित हो गया है, हम सब मर जायेंगी तो सुरत प्रकटित नहीं होगी, तब आप सुरतनाथ भी नहीं कहलावेंगे।

घोड़ा उत्पन्न करने के सामर्थ्य होने पर भी जब तक योगी घोड़ा उत्पन्न नहीं करता है, तब तक उसको अश्वपति नहीं कहते हैं, जिस समय घोड़ा उत्पन्न करता है, उसी समय योगी को अश्वपति कहते हैं।

इसी प्रकार जब तक आप सुरत प्रकट नहीं करोगे, तब तक सुरतनाथ यह नाम नहीं कह सकते हैं।

अब गोपियां कहती हैं कि आपका अदर्शन हमारा वध करे इसमें क्या आश्चर्य की बात है, आपके दर्शन बिना लक्ष्मी भी नहीं रह सकती है इस बात को गोपियां कहती हैं ‘श्रीमुपेति’

इस पक्ष में ‘श्रीमुपा’ इसमें मोष-नाम प्राणहरण है। कमल के उदर में स्थित लक्ष्मी जिस समय बाहर लाई जाती है तो फिर उसी समय वह मर जाती है, कारण कि लक्ष्मीका पोषण भगवान् की दृष्टि से होता है, जिस प्रकार आम-कच्चा गर्भ पुष्ट न होने से मर जाता है, उसी प्रकार पुष्ट न होने से लक्ष्मी मर जाती है।

यद्यपि कमलस्थ लक्ष्मी के जीवन में काल-द्रव्य-देश आदि बहुत सी वस्तुयें हैं, तथापि आपके देखे बिना लक्ष्मी जिन्दा नहीं रह सकती है, उसी प्रकार हम भी आपके दर्शन बिना जी नहीं सकती हैं।

आप समस्त प्राणियों को वरदान देते हो, और हमको तो मारते हो, यह कितना बड़ा आश्चर्य है। वरदाता तो प्रत्यक्ष दर्शन देता है, छिपता नहीं है।

अब गोपियां शुल्क-पद में नव् के प्रश्लेष से पक्षान्तर कहती हैं, अथवा 'ते वयममृत्यु-दासिकाः' आपकी हम बिना मोलकी दासी हैं—

अर्थात् घमंदासी हैं, मारने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार अनेक प्रकारकी क्रूर भावनाओं से कितनी ही गोपियां भगवान् को उलाहना देती हैं।

(सुबो० का०)

अन्तःस्थितो रसः पुष्टो वहिश्चेन्न विनिर्गतः ।

तदा पूर्णो नैव भवेदिति वाग्निर्गमस्तथा ॥ १ ॥ २ ॥

भीतर स्थित रस पुष्ट हुआ, यदि बाहर निकले नहीं तो रस पूर्ण नहीं हो, अर्थात् गान रूप से वाणीका निर्गमन नहीं हो तो बाहर के अंश में पूर्ण रस नहीं हो, अतः गान रूप से वाणी का निर्गमन है ॥ १ ॥ २ ॥

(सुबो०) अन्याः पुनः कोमलाः बहुधा त्वया रक्षिताः, इदानीमपि पालयेत्याहुः विषजलाप्ययादिति ।

फिर अन्य गोपियां कोमल सात्विक स्वभाव वाली 'आपने अनेक बार हमारी रक्षा की है, इस समय भी हमारी रक्षा करो' कहती हैं।

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।

वृषमयात्मजाद्विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥ ३ ॥

पद पदार्थ—(हे ऋषभ) हे श्रेष्ठ (विषजलाप्ययात्) विषले जलद्वारा मरने से (व्याल-राक्षसात्) व्याल—कालिय आदि सर्प से, राक्षस-तृणावर्त आदि से (वर्षमारुतात्) वर्षा और वायु से (वैद्युतानलात्) विजुली और अग्नि से (वृषमयात्मजात्) वृष-बैल मय का पुत्र व्योमासुर से (विश्वतः) सर्व प्रकार के (भयात्) भय से (ते) आपने (वयं) हम सब की (मुहुः) बार बार (रक्षिताः) रक्षा की है ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे ऋषभ—श्रेष्ठ कालियनाग के विषयुक्त यमुना जलपान करने से हुई मृत्यु से, कालिय, सुदर्शन आदि सर्पों से, तृणावर्त आदि राक्षसों से, इन्द्रकृत वर्षा-वायु से, विजुली तथा दवाग्निसे, मय का पुत्र वृष—व्योमासुर से, बहुत क्या कहें सर्वप्रकार के भय से आपने हमारी बार बार रक्षा की है, इस समय भी हमारी रक्षा करो ॥ ३ ॥

(सुबो०) विषजलं कालियहृदजलम्, तत्पीत्वा सर्व एव बालकाः गावश्च मृताः, ते पुनर्जीविताः । व्यालाः सर्पाः कालियसुदर्शनादयः, राक्षसाः तृणावर्तादयः, तेषामेकवद्भावः । तस्मादपि रक्षिताः । वर्षमारुतादिन्द्रकृतात् । तत्रैव वैद्युतानि अनलो दवाग्निश्च, तयोरप्येकवद्भावः । वृषो योऽयं मयात्मजः व्योमासुरः, तस्मादपि रक्षिताः । न तासां भूतभविष्यद्विषयकपदार्थज्ञान-निबन्धोऽस्ति, सर्वज्ञत्वात् । किम्बहुना विश्वत एव भयात् । पालने हेतुः ऋषभेति ।

भर्ता हि पालयत्येव । अतः सर्वदा पालक इति इदानीमपि पालयेत्यर्थः । ते च मारका बाह्याः, इदानीन्तनस्त्वान्तर इति सर्वथा पालनीयाः ॥ ३ ॥

विषजल—कालिय नाग के विषयुक्त श्रीयमुनाजी के हृद का जल, उस जल का पान करके सभी बालक तथा गायें मर गई थीं, इनको फिर आपने जीवित की।

व्याल—सर्प कालिय सुदर्शन तथा इनके परिकर के सर्प आदि, राक्षस—तृणावर्त आदि, यहां व्याल राक्षस का एकवद्भाव हो गया है, अतः एकवचन है इनसे भी आपने हमारी रक्षा की है।

इन्द्रकृत—इन्द्र द्वारा की गई वर्षा तथा वायु से और उसमें विजुली और अनल-दवाग्नि से, यहां भी एकवद्भाव होने से एकवचन है।

वृष—जो मय का पुत्र व्योमासुर है, उससे भी आपने हमारी रक्षा की है। गोपियों को भूत भविष्य काल के पदार्थों का ज्ञान करने का आग्रह नहीं है, कारण कि गोपियां सर्वज्ञ हैं।

बहुत कहने से क्या, सभी प्रकार के भयों से आपने हमारी रक्षा की है, गोपियां रक्षा करने का कारण कहती हैं, (हे ऋषभेति) जो भर्ता होता है वह तो पालन करता ही है। अतः आप सर्वकाल में हमारा पालन करने वाले हो, इसलिये इस समय भी पालन करो। यह अर्थ है, पूर्वोक्त विष, सर्प, राक्षसादि मारणवाले बाहर के थे किन्तु इस समय हमारे मारने वाला पदार्थ भीतर में है, ऋषभ तो भीतर बाहर पालन करनेवाला होता है, इस लिये सर्वथा हमारा पालन करना चाहिये ॥ ३ ॥

(सुबो०) अन्याः पुनः भगवतो महानुभावत्वं ज्ञात्वा तस्य स्वरूपं कीर्तयन्ति । ततश्च ज्ञानिभ्यो यथा मोक्षं प्रयच्छति, तथाऽस्मभ्यमपि अस्मदुचितं मोक्षं दास्यतीति, तं स्तुवन्ति न खल्विति ।

अन्य फिर कितनी ही गोपियां निर्गुण भाव वाली भगवान् को महान् अनुभाव को जान कर इनके स्वरूप का कीर्तन करती हैं। इससे जिस प्रकार ज्ञानियों के लिये भगवान् मोक्ष देता है, उसी प्रकार हमारे लिये भी हमारे उचित मोक्ष देंगे, इस कारण से भगवान् की गोपियां स्तुति करती हैं।

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।

विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान्सात्त्वतां कुले ॥ ४ ॥

पदपदार्थ—(हे सखे) हे मित्र (भवान्) आप (खलु) निश्चय (गोपिकानन्दन) श्री यशोदापुत्र (न) नहीं (अखिलदेहिनां) सर्व देहधारियों के (अन्तरात्मदृक्) अन्तःकरण के द्रष्टा हो (विखनसा) ब्रह्माने (विश्वगुप्तये) विश्व की रक्षा करने के लिये (अर्थितः) प्रार्थना की (सात्त्वतां) यादवों के (कुले) कुलमें (उदेयिवान्) प्रकट हुए ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे सखे आप निश्चय श्री यशोदा के पुत्र नहीं हो, किन्तु सर्व देहधारियों के अन्तःकरण के द्रष्टा हो, विश्वकी रक्षा करने के लिये ब्रह्माने प्रार्थना की, तब यादवकुल में प्रकट हुए हो ॥ ४ ॥

(सुबो०) भगवतो नन्दसूनुत्वे सर्वे उपालम्भा युक्ता भवन्ति । तदेव नास्ति इति सर्वमयुक्तमुपालम्भनम् । खल्विति निश्चये । नात्र तिरोहित-

मिव । गोपिकायाः यशोदाया नन्दनः पुत्र इति न । तथा सति यथा तथा स्वाधीनः कृतः, जातो वा तथा गोपिकानामपि भवेत् । गोकुलस्वामिपुत्रत्वात् । तुल्य-तायामेव हि विद्यायोनिसम्बन्धः । किञ्च, न केवलं भवान् वैकुण्ठाधिपतिः पुरुषोत्तमः, किन्तु अखिलदेहिनां सर्वेषामेवास्मदादीनामन्तरात्मानं अन्तःकरणं पश्यतीति । यद्यस्मद्बुद्धये तादृशं तार्पं पश्येत्, तदा प्रसन्न एव भवेत् । अतो नास्मिन्वक्तव्यं किञ्चित् । किञ्च, आगतश्चास्मदादीनां परिपालनायमेव यदि जानीयात् एता नश्यन्तीति, तदा परिपालयेत् । रक्षार्थं च प्रार्थित एव, नतु स्वेच्छया समागतः, तदाह—विखनसायित इति । विखना ब्रह्मा, विशेषेण खनतीति सर्वथा वेदार्थविचारकः । अत एव वैखानसं मतं ब्रह्मणा कृतं भगवद्भजनप्रतिपादकम्, तेनैव मार्गेण पूजां भगवान् गृह्णातीति वेङ्कटाद्रौ तथैव पूजा । अतः सर्वेषां पूजामपि ग्रहीतुं ब्रह्मणा प्रार्थितो विश्वगुप्तये इति मुख्यं प्रयोजनम् । एवमन्तरात्मत्वात् सर्वेषामेव जीवानां भवान् सखा । तादृशः लोके सख्यं प्रकटयितुं सात्वतां यादवानां वैष्णवानां वा कुले उदेयिवान् प्रादुर्भूतः । अत एतदर्थमेवागतः । पूर्वमपि सखा यथेच्छमेव प्रेरयसि, आगतस्य पुनर्विशेषो वक्तव्यः । स चात्मनिवेदनरूपो भवति । अतो वयं किं विज्ञापयामः । यथोचितमेव कर्तव्यमिति भावः ॥ ४ ॥

भगवान् का नन्दगृह में प्रादुर्भाव पहिले वर्णन कर आये हैं, यहां नन्दसूनु नहीं कहा, इसका तात्पर्य कहते हैं ।

भगवान् नन्दसूनु होते तो हमारे दिये सब उलाहने युक्त होते, किन्तु भगवान् तो नन्दसूनु ही नहीं है, इसलिये गोपियों के दिये सब उलाहने अयुक्त-योग्य नहीं है ।

जिस प्रकार मथुरा में वसुदेव द्वारा देवकी जी में आकरके प्रादुर्भाव हुआ है, उस प्रकार नन्द द्वारा यशोदा में भगवान् का आगमन नहीं हुआ है, किन्तु यशोदा जी के गर्भ में माया की ही स्थिति रही, भगवान् तो तब तक भक्तों के हृदय में स्थित रहे, फिर प्राकट्य समय मायावृत्त प्रकट हुए ।

लीला के लिये नन्द-यशोदा दोनों में पुत्र-बुद्धि स्थापन कर दी, इसलिये पृथक्-पृथक् यशोदा तथा नन्द पुत्र कहलाते हैं, वसुदेव की तरह नन्द से यशोदा जी में भगवान् नहीं पधारे, इसलिये नन्दसूनुत्व विशिष्ट यशोदासूनु भगवान् नहीं हैं ।

गोपिकानन्दन पद का अर्थ नन्दसूनुत्व विशिष्ट गोपिकानन्दनत्व है, लोक में पिता माता दोनों का सम्बन्ध पुत्र में देखा गया है, किन्तु यहां लोककी तरह गोपिकानन्दनत्व सम्बन्ध नहीं है, इस बात को गोपियां कहती हैं कि भगवान् नन्दसूनु होते हुए यशोदानन्दन नहीं हैं ।

खलू—यह पद निश्चय अर्थ में है, इसमें कोई अर्थ तिरोहित गुप्त नहीं है स्पष्ट है ।

योजनाकार लिखते हैं कि यशोदानन्दन का निषेध तो लौकिक भाव से किया पुत्रभाव पर है, 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवादः' इस श्लोक में जिस प्रकार देवकीनन्दन का निषेध है, उसी तरह यहां भी है, इसी से 'न माता न पिता तस्य' भगवान् के न तो माता है

और न पिता है, यह वाक्य संघटित होता है, अतः पुरुषोत्तम का यद्यपि जन्म नहीं होता है, तथापि पुत्रभाव से प्रादुर्भाव होने से यशोदानन्दनत्व है ।

अथवा शृङ्गाररस भाव वाली व्रजसुन्दरियों ने कटाक्ष से कहा है कि आप यशोदापुत्र नहीं हो, यदि लोकरीति से सम्बन्ध होता तो यशोदाजी के लिये भक्तवश्यता बोधन करने के लिये जिस प्रकार यशोदा जी ने अपने अधीन-यश में किया है, अथवा यशोदाजी ने जिस प्रकार आपको जाना है, उसी प्रकार गोपियों के भी वश में हो जाते, अथवा गोपियां आपको जान लेतीं, कारण कि आप गोकुलस्वामी के पुत्र हो ।

यदि आप शंका करो कि यह कौन सा नियम है कि यशोदानन्दन होने पर अधीनता, और गोकुलस्वामी का पुत्र होने पर अधीनता नहीं होती है, कारण कि अधीनता तो स्नेह से देखी गयी है, उक्त आपका कथन संघटित कैसे हो सकता है ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं 'तुल्यतायामेव हि विद्यायोनिसम्बन्धः' परस्पर दोनों की तुल्यता होनेपर ही भगवान् को वश करने वाली साधन रूप विद्या और योनिसम्बन्ध होता है, तुल्यता नहीं होती है तो विद्या तथा योनिसम्बन्ध वशीकरण में हेतु नहीं होता है, इसीसे भागवत में भी 'ययोरात्मसमं वित्तम्' इत्यादि से कहा है कि जहाँ जहाँ तुल्यता है, वहाँ वहाँ विद्यायोनिसम्बन्ध वशीकरण में हेतु है, लोक में भी यही प्रकार देखने में आता है कि सात्त्विक, राजस, तामस प्रकृतिवाले जिस प्रकार के मनुष्य, उसी प्रकार की विद्या, देवता, फल आदि मिलते हैं, तथा परस्पर तुल्ययोनिसम्बन्ध नहीं होता तो आपस में खटपट होती रहती है प्रीति नहीं होती है, और यदि दोनों पक्षों को तुल्यता होती है तो एक के वश में एक होकर मेल रहता है, यहां तो तुल्यता नहीं है, इसमें मालूम होता है कि नियत वह आप में यशोदासूनुत्व तिरोहित जैसा है, अतः तुल्यता का अभाव होने से उपालम्भ युक्त नहीं है ।

गोपियां कहती हैं कि आप केवल वैकुण्ठ के अधिपति पुरुषोत्तम नहीं हो, किन्तु अखिल देहधारियों के तथा हम सबके अन्तरात्मा को—अन्तःकरण को देखते हो, हमारे हृदय में इस प्रकार का ताप देखे तो प्रसन्न ही हो, अर्थात् सेवक का दुःख देखकर भी दया नहीं आती है, इसलिये अब इस विषय में कुछ कहना नहीं है ।

गोपियों के इस प्रकार कहने से भगवान् में सेवकों के दुःख पर ध्यान न देने का दोषा-रोप प्राप्त होता है, इस आक्षेप को दूर करने के लिये पहिले यशोदा के अधीन भगवान् है, इस प्रकार कहकर निश्चय गोकुलस्वामी, पुत्र हैं, इस समय हमारे अधीन नहीं है, इसलिये गोपियां कहती हैं कि हममें उस प्रकार की विद्या आदि नहीं है, इसका विचार करना चाहिये उपालम्भ नहीं देना चाहिये इस आक्षेप से गोपियां वाक्यान्तर कहती हैं 'किञ्च' ।

गोपियां भगवान् में दोष का अभाव विशेषाकार से समर्थन करती हुई कहती हैं कि भगवान् अस्मदादि के परिपालन के लिये पधारे हैं, यदि भगवान् 'ये गोपियां मर रही हैं' इस बात को जानें तो परिपालन—रक्षण करें, हमारी रक्षा करने के लिये ही ब्रह्मा ने प्रार्थना की है, भगवान् स्वयं अपनी इच्छा से नहीं पधारे हैं, इस बातको गोपियां कहती हैं 'विखनसायितः' ।

विखना—ब्रह्मा जो विशेष खनन करता है—खोदता है, वह विखना कहलाता है, अर्थात् जो वेदके अर्थका विचार करता है, इसी से ब्रह्मा ने वैखानस मत किया है, जिसमें भगवद्भजन प्रतिपादित किया है, इसी मार्ग से भगवान् पूजा ग्रहण करता है, वेङ्कट अद्रि में वैखानस मतानुसार पूजा होती है अतः सर्व की पूजा को भी ग्रहण करने के लिये ब्रह्माने प्रार्थना की थी, 'विश्वगुप्तये' विश्व की रक्षा करने के लिये ब्रह्मा ने भगवान् की प्रार्थना की, यह प्रार्थना करने का मुख्य प्रयोजन है ।

इसी प्रकार आप अन्तरात्मा हो, अतः सर्व जीवों के आप सखा हो, इस प्रकार की लोक में सख्य प्रकट करने के लिये सात्वत—यादव अथवा वैष्णवों के कुल में प्रकट हुए, लोक में सख्य प्रकट करने के लिये ही आप पधारे हो, आविर्भाव से पहले भी आप हमारे सखा थे।

आप अपनी इच्छानुसार प्रेरणा करते हो, 'सुपर्णविती सयुजो सखायो' इस श्रुति के अनुसार अन्तरात्मा जीवका सखा होता है, इस समय आपकी रमण करने की इच्छा हुई है, इस लिये आप हम को अपनी इच्छानुसार प्रेरणा कर रहे हो।

हमारा सब का नायिकाभाव ही नित्य है, इस प्रकार के भगवान् का आगमन नायिकाओं के लिये अपना आत्मा समर्पण करने के लिये ही होता है, इसलिये आत्मसमर्पण करना उचित है, यह भाव है इसी आशय से गोपियां कहती हैं कि 'आगतस्येति'।

सब के सखा भगवान् जिस समय प्रकट होते हैं, उस समय फिर कुछ विशेष कार्य होना चाहिये, वह विशेष कार्य भगवान् का भक्तों को आत्मनिवेदन रूप होता है, अर्थात् आत्मा-स्वरूपानन्द उसका निवेदन—भक्तों में अनुभावन रूप विशेष होता है, अब इससे विशेष हम क्या विज्ञप्ति करें जिस प्रकार आपको उचित लगे, उसी प्रकार करना चाहिये, यह भाव है ॥ ४ ॥

(सुबो०) अन्याः पुनः सात्त्विकसात्त्विक्यः राजसप्रधानाभ्यो विशिष्टाः अप्राथितं च भगवान् न दास्यतीति भगवत्करस्य स्वशिरःसंबंधं प्रार्थयन्ति-
विरचिताभयमिति ।

अब अन्य गोपियां फिर सात्त्विकी हैं, राजस प्रधान गोपियों से विशिष्ट हैं उत्तम है, बिना प्रार्थित वस्तु को भगवान् नहीं देंगे, इस प्रकार विचार कर भगवान् के श्रीहस्त का अपने शिर पर सम्बन्ध होने की प्रार्थना करती हैं।

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते शरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—(हे वृष्णिधुर्य) हे यादव कुलमें श्रेष्ठ (हे कान्त) कं—सुखं तेषां अन्तः यस्मिन् संबुद्धी, सुखों का अन्त जिसमें वह कान्त होता है, हे पति (ते) आपका (करसरोरुहम्) हस्तकमल (संसृतेः) संसार के (भयात्) भय से (शरणम्) शरण को (ईयुषां) प्राप्त हुए जीवों को (विरचिताभयं) अभय करनेवाला (कामदं) इच्छित वस्तु को देने वाला (श्रीकर-ग्रहम्) लक्ष्मी का पाणिग्रहण जिसने किया, उस हस्तकमल को (नः) हमारे (शिरसि) मस्तक-पर (धेहि) आप धरो ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे यादवकुल में श्रेष्ठ ! हे कान्त ! आपका हस्तकमल संसार के भय से आपकी शरण प्राप्त हुए जीवों को अभय दान देनेवाला है, तथा अभिलाषा पूर्ण करने जिसने लक्ष्मी का पाणिग्रहण किया है, उस हस्तकमल को हमारे शिर पर धरो ॥ ५ ॥

(सुबो०) हे स्वामिन्, हृदयं स्फुटति । अतः यथा सर्वाङ्गे आप्यायन् भवति, तथा शिरसि करसरोरुहं धेहि । शीतलं हि कमलं भवति । तत्रापि सरसि जातम् । तत्रापि कर एव सरःस्थानं सरसिजस्थानं च । अत उद्धरणादिना न रसालतापगमः । कान्तेति संबोधनम् । प्रथमतः शिरसि हस्तस्था-

पनेन स्वाधीनीकरणं द्योतितम् । किञ्च, न केवलं हस्तस्तापमेव दूरीकरोति, किन्तु कामदं च । अभिलषितं कामं प्रयच्छति । ननु भगवान् पुरुषोत्तमः, कथं श्रीणां स्पर्शं करिष्यति इति चेत्, तत्राह—श्रीकरग्रहमिति । श्रियाः करस्य ग्रहो ग्रहणं येन । अतो भगवान् गृहस्थ इति । यत्र लक्ष्म्या हस्तं गृह्णाति, तत्रास्मच्छिरोग्रहणे किं भविष्यतीति भावः । तनु लक्ष्मीर्विवाहितेति विधिवशात् तस्या हस्तग्रहणम्, भवतीनां ग्रहणे को हेतुरिति चेत् ; तत्राहुः संसृतेर्भयात् शरणमीयुषां विरचिताभयमिति । यथा विधिर्विवाहे, तथैव शरणागतपाल-नेऽपि । विवाहापेक्षया शरणागतरक्षा महती । स साधारणधर्मः, अयमीश्वरधर्म इति । नन्वयं निषिद्धः प्रकार इति कथं पालनमिति चेत्, तत्राहुः—हे वृष्णिधुर्येति । वृष्णिहि यदुर्वंशोद्भवः बहुल्लोकः बहुवंशकर्ता । तद्वंशेऽपि भवान् धुर्यः श्रेष्ठः । तत्रापि स्त्रियः संसारभयात् समागताः । न हि संसारः स्वभावत एव दुष्टः, किन्त्वसह्यदुःखहेतुरिति । तथा वयमपि महत् दुःखं प्राप्नुम इति दृष्टादृष्टद्वारा भवांस्तन्निवर्तक इति । अनेनैव निर्भयतापि सूचिता । अतः कान्त-सम्बोधनात् भवानेव भर्ता । अतः स्त्रीणां व्रतमनुस्मरन् वाञ्छितं कुर्वित्यर्थः ॥ ५ ॥

हे स्वामिन् ! हमारा हृदय फूटता है, इसलिये जिस प्रकार सर्व अङ्ग में शान्ति हो, उसी प्रकार हमारे मस्तक पर हस्तकमल धरो । हृदयकमल स्वस्थ होता है तो सर्व अङ्गका वृद्धि-जनक होता है, हृदयकमल तो फट रहा है, अतः हृदयकमल में आप्यायन नहीं करता है, किन्तु इस कार्य के लिये मस्तक पर आप अपना हस्तकमल धरो, यह अर्थ है ।

अब गोपियां कमल को आप्यायकत्व कहती हैं । कमल शीतल होता है, उसमें भी सरोवर में उत्पन्न हुआ है, जल सिञ्चन करने से जैसे तैसे बड़ा नहीं हुआ है, उसमें भी भगवान् का हस्त ही सरोवर और कमलस्थानीय है, इसलिये जिस प्रकार सामान्यकमल को उखाड़ ने आदि से उसकी रसालता चली जाती है, उस प्रकार आपके हस्तकमल का उद्धरण होने पर रसालता नहीं जाती है, कारण कि भगवान् का हस्त कमल सरोवर रूप है ।

यहां सरोरुह पद से ताप दूर करने के लिये करस्थापन गोपियों ने कहा है । कान्त यह संबोधन है, प्रथम भगवान् हमारे मस्तक पर हस्त कमलस्थापन करके हमको अपने अधीन करें, शरणमें ले, यह भाव सूचन किया है ।

अब हस्तकमल स्थापन करने का दूसरा प्रयोजन गोपियां कहती हैं । आपका हस्त केवल ताप को ही दूर नहीं करता है, किन्तु 'कामदं च' अभिलषित कामको भी देता है,

यदि शंका करो कि भगवान् पुरुषोत्तम है, योगियों के ध्यान करने योग्य है, स्त्रियों का स्पर्श क्यों करेंगे ।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'श्रीकरग्रहम्' भगवान् ने लक्ष्मी जी का हस्त-ग्रहण किया है, अतः गृहस्थ है, जहाँ लक्ष्मीजी का हस्तग्रहण करता है, वहाँ हमारे शिरके ग्रहण में क्या होगा, यह भाव है ।

यदि शंका करो कि लक्ष्मी तो विवाहिता है, विधिवश से उसका हस्त ग्रहण किया है, आप सब के मस्तक ग्रहण करने में कौन सा कारण है, कहिये ।

इस शंका के समाधान में गोपियां कहती हैं, कि 'संसृतेभ्ययात् शरणमीयुषां विरचिताभयम्' जिस प्रकार विवाह में शास्त्रविधि है, उसी प्रकार शरण में आये मनुष्य की रक्षा करने की विधि है । विवाह की अपेक्षा शरणागत की रक्षा करना बड़ा है, विवाह लोक में साधारण धर्म है, शरणागत की रक्षा करना ईश्वरधर्म है ।

यदि कहो कि जिस कार्य के लिये तुम शरण में आई हो, उसकी रक्षा का प्रकार निषिद्ध है, मैं कि प्रकार पालन करूं ।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'हे वृष्णिधुर्यं' वृष्णि यदुवंश में उत्पन्न हुआ था, उसके बहुत सी स्त्रियां थीं, और वह बहुत वंश करने वाला हुआ था, उस यदुवंश में भी आप धुर्यं—श्रेष्ठ हो, वृष्णिधुर्यं होने से आपको स्त्रियों का ही पालन करना चाहिये । उसमें भी संसार के भय से स्त्रियां आपके पास में आई हैं, इनकी रक्षा करना आपको आवश्यक है ।

यदि कहो कि गोपियो ! तुमको संसार का भय कहाँ है, जिससे तुम संसार का भय बतलाती हो ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि संसार स्वभाव से हा दुष्ट नहीं है, किन्तु असह्य दुःख का हेतु है, उसी प्रकार हम सब भी आपके विरह से महान् दुःख पा रही हैं, अतः दृष्ट अथवा श्रद्धा द्वारा आपका दुःखहेतु-निवर्तक स्वभाव है, इसलिये हमारा भी दुःखहेतु दूर करना चाहिये !

संसार-निवर्तकत्व कथन से—अर्थात् अन्य जीवों को अभयदान भगवान् देते हैं, इस प्रकार के कथन से गोपियों ने अपने लिये भी निभयता सूचित की है, उक्त प्रार्थना से गोपियों ने दुःखनिवृत्ति की ही प्रार्थना की है, यह भाव है ।

अन्य जीवों को अभय सम्पादन करने से, तथा उससे अपने लिये भी अभय सूचन करने से 'स वै पतिः स्यात्' इस श्लोकानुसार वही पति है, जो अभयदान दे, इस प्रकार कथनानुसार कान्त संबोधन से आप ही हमारे भर्ता हो यह गोपियों ने सिद्ध कर दिया है ।

अतः गोपियां कहती हैं कि स्त्रियों के सम्बन्धि व्रतका स्मरण करके स्त्रियों का पालन हो करना चाहिये,

इस प्रकार के नियम का अनुसरण करके हमारा मनोरथ पूर्ण करो, इस प्रकार का अर्थ है ॥५॥

(सुबो०) ततः तामसी किञ्चिद्वैलक्षण्येन धाष्ट्र्येन तमेवार्थं प्रार्थयति प्रजजनार्तिहन्ति ।

इसके अनन्तर सात्त्विक तामसी कुछ विलक्षणता से उसी अर्थ की धृष्टता से प्रार्थना करती है ।

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥६॥

पदपदार्थ—(हे व्रजजनार्तिहन्) हे व्रजजनकी आर्ति-दुःख के नाश करनेवाले (योषितां वीर) स्त्रियों के मध्य में वीर (हे निजजनस्मयध्वंसनस्मित) हे निजजन के गर्व को दूर करने

के लिये मन्दहास्य वाले (हे सखे) हे मित्र (भवत्किंकरीः) आपकी दासियों को (भज) भजो (स्म) प्रसिद्ध अर्थ में (नः) हमारे लिये (चारु) सुन्दर (जलरुहाननं) कमलसदृश मुख को (दर्शय) दिखाओ ॥६॥

भाषार्थ—हे व्रजजनकी आर्ति के नाश करनेवाले, हे स्त्रियों के वीर, हे निजजन के गर्व को दूर करने के लिये मन्द हास्य वाले, हे सखा, आपकी दासियां हमको भजो, तथा हमको अपना सुन्दर कमलसदृश मुखका दर्शन कराओ ॥ ६ ॥

(सुबो०) हे भगवन् एता वक्तुं न जानन्ति । मया तु निर्धारितमुच्यते । हे सखे इति अप्रतारणार्थं संबोधनम् । नः अस्मान् भजेति हितोपदेशः । ननु कथमेवं धाष्ट्र्यं निषिद्धं च बोध्यते, तत्राहुः—भवत्किंकरीरिति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति हि तव प्रतिज्ञा । अतो यथा किंकरीं वयं भवन्तं भजामः, तथा भवानपि भजतु । किंकरीत्वं तव प्रतिज्ञा च प्रसिद्धेत्याहुः—स्मेति । न केवल-मस्मद्भजने तव सैवैका प्रतिज्ञा हेतुः, किन्तु अन्येऽपि हेतवः सन्ति । प्रथमं अव-तारप्रयोजनम् । व्रजजनार्तिहन्ति । व्रजजनानां आर्तिं हन्तीति तथा । नातः परमन्या आर्तिरस्ति । सामान्यप्रयोजनमेतत् । विशेषप्रयोजनमाहुः—योषितां वीरेति । कृष्णो भगवान् । वीरैर्हि शूरा निराकरणीयाः, अन्यगतकामादयः । तत्र मुख्यः कामः । स च बहुविधः । अन्तर्बहिः पदार्थेन पूर्णेन पूरयित्वाश्रया-भावान्निवारणीयः । अत एव लोके दातारः कीर्तिमन्तो भवन्ति वीरेभ्यः । अतो भवान् महावीरः । अन्तःस्थितेनानन्देन अतिदरिद्राणां ब्रह्मणापि पूरयि-तुमशक्यानामिच्छापूर्कः । अयं चार्थस्तव सर्वजनीनः । अतः योषितां वीरेति सम्बोधनम् । न हि कृष्णादन्यो जगति कश्चिदेवं सम्बोधनमर्हति, अपूर्णकाम-त्वात् । अतोऽवतारसामान्यविशेषप्रयोजनाभ्यां च नो भज । ननु सत्यम्, तथापि भवतीनामभिमानदोषनिवृत्त्यर्थं भजनं न क्रियते इति चेत्, तत्राह—निजजनस्मयध्वंसनस्मितेति । निजजनाः सेवकाः तेषां स्मयो गर्वः तस्य ध्वंसनार्थं स्मितं यस्य । निजजनानां स्मयदूरीकरणार्थं परित्यागो नोपायः, किन्तु तदर्थं स्मितमेव कर्तव्यम् । स्मितं हि मन्दहासः । 'हासो जनोन्मादकरी च माया' । तस्या मन्दत्वं भक्तेष्वप्रवर्तनम् । न हि मायामोहव्यतिरेकेण कस्यचित्स्मयो भवति । अत एव हास्यसंकोच एव साधनम् । निजजनाना-मपि धर्म एव दुष्टः, नतु धर्मो । अन्यथा निजजनत्वमेव न स्यात् । इत्यलौकि-कोपायः । लौकिकेऽपि तव हास्येन ता अपि आत्मानं तुल्यं मन्यन्ते । यदा पुनर्हास्ये संकोचः, तदैव तासां गर्वो निवर्तते । किञ्च, अभिमानो हि दोषः । स तावदेव तिष्ठति, यावत्तव स्मितयुक्तमाननं न पश्यति । नहि काचित्तादृशम-

प्याननं दृष्ट्वा स्वाभिमानं पालयितुं शक्ता । नन्वेतल्लोके अप्रसिद्धं साधनत्वेनेति
कथं ज्ञातुं शक्यत इत्याशङ्क्याहुः—जलरुहाननं चारु दर्शयेति । जलरुहं कमलं
तत्सदृशमाननममृतस्त्रावि । न ह्यमृते पीते कस्यचिदोषस्तिष्ठतीति युक्तिः ।
साधनत्वे चेत्संदेहः, एकवारं प्रदर्श्य पश्येत्यर्थः । किञ्च, अभिमानो हि मनोधर्मः,
तव आननं तु चारु मनोहरम् । नहि धर्मिणि हृते धर्मस्तिष्ठति । सख्युः सखि-
भजनं युक्तमेव ॥ ६ ॥

हे भगवन् ये सभी गोपियां आपसे क्या कहना चाहिये इस बात को नहीं जानती हैं, अब
आपसे मैं निर्धारित बात कहती हूँ हे सखे, इस संबोधन का तात्पर्य यह है कि आप हमारे सखा हो
इसलिये मैं आपसे प्रतारण-कपट में ठगने के वाक्य न कह कर सत्य सत्य वाक्य कहती हूँ
कि 'हमको आप भजो' यह हित करने वाला उपदेश है, मित्र को मित्र हितोपदेश करता है, यह
हितोपदेश हित करने वाला हमको तथा आपको लाभकारक है, इसलिये इसको करना चाहिये ।
गोपियां कहती हैं कि यदि आप शंका करो कि 'हमारा भजन करो' इस प्रकार की घृष्टता
और निषिद्ध प्रकारका बोध क्यों करती हो ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं 'भवत्तिकरीः' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' 'जो भक्त मुझे
जिस प्रकार भजता है, मैं उसको उसी प्रकार भजता हूँ' यह आपकी प्रतिज्ञा है इसलिये जिस
प्रकार हम दासियां आपका भजन करती हैं, उसी प्रकार आप भी हमारा भजन करो, हम आपकी
किंकर हैं, और आपकी प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है, इस बात का मूल के 'स्म' शब्द से बोध होता है ।

हमारे भजन करने में केवल एक आपकी प्रतिज्ञा ही हेतु नहीं है, किन्तु अन्य भी कारण
हैं, प्रथम प्रयोजन भगवान् का अवतार है, इस बात को गोपियां कहती हैं कि 'व्रजजनातिहन्' आति

आपका अवतार केवल व्रजजनकी आति दूर करने के लिये है, इससे अन्य—दूसरी आति
नहीं है, व्रजजन की आति दूर करना यह आपके अवतार का सामान्य प्रयोजन है ।

अब गोपियां भगवान् के अवतार का विशेष प्रयोजन कहती हैं, 'योषितां वीर' हे स्त्रियों
के वीर, इस पदका समुदायार्थ सुबोधिनी में 'कृष्णो भगवान्' कृष्ण भगवान् कहा है, स्त्रियों के
वीर तो कृष्ण भगवान् षडैश्वर्यवाले ही हो सकते हैं, अन्य किसी में योषितां वीर, सम्बोधन घट
नहीं सकता है, कारण कि भगवान् कृष्ण आत्मकाम हैं, अन्य सब सकाम हैं, जब अपना ही काम
पूर्ण नहीं कर सकते हैं तब दूसरों का काम पूर्ण कैसे कर सकते हैं, अतः कृष्ण भगवान् ही स्त्रियों
के वीर—स्वानन्द दाता हैं ।

अब संबोधन का फलित अर्थ कहते हैं कि वीरों द्वारा शूर ही निराकरण के योग्य होते
हैं, दान वीर—दातालोक बहुत दान देकर दूसरों की अभिलाषा पूरी करते हैं, उसमें मुख्यकाम है,
अन्नादिकाम की अपेक्षा कामशास्त्रसिद्ध काम मुख्य है, और वह काम बहुत प्रकार का है, भीतर
बाहर पूर्ण पदार्थ—स्वरूपानन्द द्वारा पूर्ण करने से जब उसको रहने का स्थान नहीं मिलेगा, तब
उस काम का निवारण हो जायगा, इसीसे लोकमें वीरों से दानवीर—दाताओं की कीर्ति
विशेष होती है ।

वीर तो जो मारने योग्य होता है, उसको स्वरूप से मारते हैं, और दाता तो दीन के
घर को समृद्धि से पूर्ण करके उसकी दरिद्रता को दूर करते हैं, दरिद्री के घर में लक्ष्मी पूर्ण करके
दरिद्रता को अवकाश नहीं रहने देते हैं, उसके घर से दरिद्रता चली जाती है, यह हृदय का धाम
है । इसलिये गोपियां कहती हैं कि दानवीर से भी आप महावीर हो । अधिक हो ।

आप अपने अन्तः स्थित आनन्द से ब्रह्मा भी जिन दरिद्रियों की इच्छा पूरी नहीं कर
सकता है, इस प्रकार के अति दरिद्रियों की इच्छा पूरण करनेवाले हो, इस प्रकार का अर्थ
आपका सर्वत्र प्रसिद्ध है, इसलिये 'योगिनी वीर' यह सम्बोधन है ।

कृष्ण से अन्य जगत् में कोई भी इस प्रकार के संबोधन के योग्य नहीं है, कारण कि
अन्य सबमें पूर्ण काम नहीं है, इस लिये आप अपना अवतार का सामान्य प्रयोजन—व्रजजन की
भाति दूर करना, विशेष प्रयोजन 'योषितां वीर' स्त्रियों को स्वरूपानन्द का दान करना, इन दोनों
प्रयोजनों का विचार करके हमारे लिये भजो ।

यदि आप शंका करो कि गोपियो ! तुम ठीक कहती हो, तो भी तुममें 'हम सबसे अधिक
हैं' इस प्रकार का अभिमान दोष स्मय है, जब तक उसको दूर नहीं कर दूंगा, तब तक तुमको
नहीं भुगंगा । इस प्रकार भगवान् यदि कहते हैं तो इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं, 'निजजन-
स्मयध्वंसनस्मित' निजजन-सेवक इनका स्मय-गर्व, उसके ध्वंसन करने के लिये स्मित जिसका,
इस प्रकार के आप हो, अर्थात् अपने सेवकों का गर्व दूर करने वाला आपका स्मित है ।

निज जनो का स्मय दूर करने के लिये परित्याग करना उपाय नहीं है, किन्तु उनका
गर्व दूर करने के लिये आपको स्मित ही करना चाहिये, स्मित—अर्थात् मंदहास 'हासो जनोन्माद-
करी च माया' श्रीभाग० द्वि० अ० १ भगवान् का हास्य मनुष्यों को उन्माद करनेवाली माया
है, यह हासरूपी माया भक्तों में जब प्रवृत्त नहीं होती है, तब इसको मन्द कहते हैं, मायाद्वारा
मोह बिना किसी को स्मय-गर्व नहीं होता है, इसलिये हास्य का संकोच ही हमारा गर्व दूर करने
में साधन है, अतः हमारा त्याग न करने तथा आप अपना मंदहास करके हमारे अहंकार का
नाश करो ।

निज भक्तों का धर्म ही दुष्ट है, रसमें प्रतिबन्धक स्मय दोष ही है, धर्मी हम सब सेवक
भक्त दुष्ट नहीं हैं, यदि इस बात को नहीं मानते तो निजजन ही नहीं कहलायें ।

इस प्रकार गोपियों ने अपना लौकिक अहंकार का नाश करने के लिये भगवान् का
स्मितरूप अलौकिक उपाय बतलाया है, लौकिक उपाय में भी आपके हास्य से गोपियां
भी अपने को आपके तुल्य मानती हैं, अर्थात् हमारे हास्य से आप का भी गर्व दूर हो जाता है,
जिस समय फिर आपके हास्य में संकोच—मंदहास होता है, उस समय गोपियों का गर्व दूर
हो जाता है ।

अब रसमार्गीय उपाय गोपियां कहती हैं कि, अभिमान दोष है, और रसकी प्राप्ति में
प्रतिबन्धक है, वह अभिमान तभी तक रहता है कि जबतक आपका स्मितयुक्त मुख नहीं दीखता
है, कोई भी स्त्री इस प्रकार आपका स्मितयुक्त मुख का भी दर्शन करके अपने अभिमान का
पालन नहीं कर सकती है, अर्थात् आपके मंद हास्य युक्त मुख का दर्शन करके स्वाभिमान रह
नहीं सकता है—चला जाता है ।

इस प्रकार 'निजजनस्मय' इस पदका अर्थ गोपियों ने क्रम से शास्त्रीय, लौकिक, और
रसमार्गीय तीन प्रकार से कहा है ।

यदि आप कहो कि स्मित अभिमान का नाश करने वाला साधन लोक में प्रसिद्ध नहीं
है, फिर कैसे जाना जाये ।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (जलरुहाननं चारु दर्शय) जलरुह-कमल,
कमल के सदृश आनन-मुख, अमृत स्त्राव करनेवाला है ।

अमृत का पान करने पर कोई भी दोष नहीं रहता है, इसमें युक्ति है ।

आपका स्मित भक्तों का अभिमान नाश करनेवाला साधन है, इसमें यदि आपको संदेह हो तो एकवार अपने मुखका दर्शन कर, कर देखो, हमारा अभिमान-अहंकार आपके मुख का दर्शन करके जाता है कि नहीं, इस बात का आप अनुभव करो।

अभिमान मन का धर्म है, और आप का मुख तो चारु-मनोहर मनका हरण करने वाला है, धर्म-मन का हरण करने पर मन का धर्म अभिमान कैसे रह सकता है, अर्थात् रहता ही नहीं है, इसलिये सखा को सखी का भजन करना युक्त ही है ॥६॥

(सुबो०) राजसी तु तत उत्तमा तमेवार्थं प्रकारान्तरेण प्रार्थयते-प्रणत-देहिनामिति ।

अब सात्त्विकराजसी गोपी सात्त्विकतामसी से उत्तम है, अतः पूर्वोक्त अर्थ की प्रकारान्तर से प्रार्थना करती है ।

**प्रणतदेहिनां पापकर्षणं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥७॥**

पदपदार्थ—(प्रणतदेहिनां) आप को प्रणाम करने वाले प्राणियों के (पापकर्षणं) पापनाश करनेवाला (तृणचरानुगं) गायों के पीछे चलनेवाला (श्रीनिकेतनम्) लक्ष्मी जी के रहने का स्थान (फणिफणार्पितं) कालिय नाग के फण पर धरा (ते) आपका (पदाम्बुजं) हृदय चरणकमल को (नः) हम सबों के (कुचेषु) स्तनों पर (कृणु) स्थापन करो (हृच्छयम्) हृदय में चोर की तरह स्थित काम को (कृन्धि) नाश करो ॥७॥

भाषार्थ—आपको प्रणाम करनेवाले प्राणियों के पाप नाश करने वाला, गायों के पीछे चलनेवाला, लक्ष्मी जी का स्थान, कालियनाग के फणपर धरा गया, आप अपना चरणकमल हमारे स्तनों पर धरो, और हमारे हृदय में चोर की तरह स्थित काम का नाश करो ॥७॥

(सुबो०) ते पदाम्बुजं नः कुचेषुकृणु कृणुष्व । छान्दसो लोपः । स्थापय । तस्य प्रयोजनं-कृन्धि हृच्छयमिति । हृदये चौरवत् स्थितं कामं कृन्धि । कुचेष्विति समुदायाभिप्रायेण बहुवचनम् । विरहेण भिन्नान् वा मन्यन्ते । शिरसि ह्रस्वदानेन निकटे समानयनमुक्तम् । ततो भजनेन संबन्ध उक्तः । अनेन विपरीतरस उच्यते, बंधविशेषो वा तिर्यग्भेदः । एकवचनात् । तावता हि संबन्धो भवकामो गच्छति । स्त्रीणां समूहे लीलाशयने परितः स्थितानां तथा तत्राहुः—तीति वा । ननु कर्कशेषु स्तनेषु कथं कोमलचरणस्थापनमिति चेत्, तत्र यथा चरणफणिफणार्पितमिति । नहि कालियफणात् क्रूरा अस्मत्स्तनाः । तत्र यथा चरणस्थापनं कृत्वा तदन्तर्गतो दोषो दूरीकृतः, एवमत्रापि कर्तव्यः । अम्बुजपदेन च प्रत्यक्षतस्तापहारकत्वम् । ननु तथापि स्त्रीणां वक्षसि चरणस्थापनमयुक्तमिति चेत्, तत्राहुः—श्रीनिकेतनमिति । लक्ष्म्याः स्थानं तत् । लक्ष्मीः किल तत्र स्वर्गमर्हति, अन्यासु कः संदेह इति । ननु भवत्यो मूढाः, कथं भवतीनां हितं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः—तृणचरानुगमिति । तृणचरा गावः, तेषामप्यनुगं पश्चाद्गच्छति

तद्वितार्थम्, ते किं भगवता प्रेर्यमाणा इति तृणं परित्यज्यामृतं भक्षयन्ति । तेषां तृणमेवामृतम्, तथास्माकमपि काम एवास्तम् । नैतावता परमकृपालोः कश्चनार्थः क्षीयते । ननु भवतीनां जितेन्द्रियत्वाद्यभावात् पापमस्ति, तदपगमे पश्चात्पदं स्थापयिष्यामीति चेत्, तत्राहुः—प्रणतदेहिनां पापकर्षणमिति । वयं प्रकर्षेण नताः, नास्माभिः प्रकारान्तरेण निवर्तयितुं शक्यते, किन्तु तव चरणप्रसादादेव नम्राणां पापं गच्छति । तत्रापि देहिनः । प्रकर्षेण नतत्वेन धर्ममार्गादिपरित्याग उक्तः । देहाभिमानस्य विद्यमानत्वात् न ज्ञानमपि । प्रणतानां हि नाप्यधो गतिः । अतस्तव पदमेव तेषां पापनाशकम्, चिन्तितम्, दृष्टम्, स्पृष्टम्, आलिङ्गितं वा ॥ ७ ॥

आप अपना चरणकमल हमारे स्तनों पर स्थापन करो । मूल श्लोक में 'कृणु' के स्थान में 'कृणुष्व' जानना चाहिये, इसमें 'ष्व' का छान्दस लोप हो गया है, इसलिये मूल में 'कृणु' कहा है, इसका अर्थ स्थापन करो, यह होता है ।

स्तनों पर चरणकमल स्थापन का प्रयोजन गोपियां कहती हैं कि 'कृन्धि हृच्छयम्' हमारे हृदय में चोर की तरह स्थित काम का नाश करो ।

मूल में 'कुचेषु' इसमें बहुवचन समुदाय के-सर्व गोपियों के अभिप्राय से कहा है । और मूल में 'नः' इस प्रकार बहुवचन से स्तन बहुत से कहे हैं, अतः अरुचि से श्री महाप्रभुजी पक्षान्तर कहते हैं कि 'विरहेण' जिस समय गोपियों का भगवान् से संयोग होता है, उस समय स्तन भगवान् के उपयोग में आते हैं, इसीलिये गोपियों को ये स्तन हमारे हैं इस प्रकार का भान होता है, किन्तु, विरह में भगवान् के उपयोगी न होने से 'हमारे हैं' इस प्रकार का भान नहीं होता है, और अपने से भिन्न स्तनों को मानती हैं ।

यदि आप हमारे स्तनों पर चरणकमल स्थापन नहीं करोगे तो हमसे भिन्न आप अपनी पक्षपातिनी अन्य गोपियों के स्तनों में अपना हस्तकमल स्थापन करो, इस प्रकार बहुवचन का भाव है ।

पांचवे श्लोक में गोपियों ने मस्तक पर हस्त रखने की प्रार्थना करके समीप में आने की प्रार्थना की है ।

इसके अनन्तर छठे श्लोक में हम दासियों का आप भजन करो, इस प्रकार की प्रार्थना से सम्बन्ध कहा है ।

अब इस सातवें श्लोक में विपरीत रसकी गोपियों ने प्रार्थना की है ।

अथवा तिर्यग् भेदरूप बंध विशेष की प्रार्थना की है, कारण कि 'पदाम्बुजम्' इसमें एकवचन का प्रयोग किया है ।

भगवान् का चरण कमल स्तनों पर स्थापित होने से गोपियों के हृदय में स्थित काम दूर हो जाता है ।

सब गोपियों का मनोरथ तुल्य-एक-सा घट नहीं सकता है, अतः उक्त पक्ष भी बहुत्वसाधक नहीं है, इस अरुचि से पक्षान्तर कहते हैं 'स्त्रीणां समूहे' स्त्रियों के समूह में भगवान् जिस समय लीलाशयन करते हैं, उस समय चारों तरफ स्थित गोपियों के मध्य में भगवान् का चरणारविद

स्थित रहता है, अतः एक चरणारविन्द का अनेक गोपियों के स्तनों से सम्बन्ध हो सकता है अर्थात् 'कुचेषु' यह वचन इस प्रकार से घट सकता है।

यदि आप कहो कि तुम्हारे कठिन स्तनों पर मैं अपना कोमल चरण कैसे स्थापन करूँ।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'फणिफणापितम्' आपने अपना चरण कालिय नाग के फणपर धरा है।

कालिय नाग के फण से क्रूर-कठिन हमारे स्तन नहीं हैं। जिस प्रकार कालिय नाग के फण पर स्थापन करके उसके भीतर का दोष आपने दूर किया है उसी प्रकार हमारे स्तनों पर चरण स्थापन करके हमारे भीतर स्थित दोष दूर करना चाहिये।

यदि आप कहो कि कालियनृत्य में इस चरण का प्राकट्य नहीं है, वेणुगीत में जहाँपर चरण का माहात्म्य निरूपण किया है, वहाँ पर कहा है, कि पुष्टिमार्गीय लीला में ही इस चरण का प्राकट्य होता है, कालियशिर-नृत्यलीला शुद्ध पुष्टिमार्गीय नहीं है, फिर 'फणिफणापितम्' यहाँ गोपियों ने चरण का विशेषण क्यों कहा है, किस प्रकार घटित होता है।

इस शंका का उत्तर 'इत्युन्मत्तवचो गोप्यः' इस प्रकार उन्मत्तवाणी वाली गोपियां हैं। पहिले अध्याय २७ श्लो० १४ में कहा है, यहाँ भी पूर्व वाक्य चला आ रहा है, इसलिये यहाँ भी गोपियों ने उन्मत्तता से वाक्य कहा है, इस प्रकार से कोई समाधान करते हैं। किन्तु वहाँ पर उन्मत्त वचनों का उपसंहार भी सुबोधनी में अङ्गीकार किया है, इसलिये पूर्वोक्त असंगति यहाँ यथावत् रहती है, इसके दूर करने के लिये 'चेरुर्गोप्यो विचेतसः' यह वाक्य यहाँ अध्याय के ३५ वे श्लोक में कहा है कि गोपियां विचेतस होकर फिरने लगीं। यह वाक्य पर ठीक अनुस्यूत-चला आ रहा है, इस प्रकार प्रतीत होता है, अतः गोपियों का चित्त ठिकाने वास्तव में ठीक नहीं था, इस प्रकार की दशा में गोपियां जो कुछ भी कहती हैं वह ठीक ही है, वास्तव में तो यह विशेषण गोपियों ने ज्ञानपूर्वक ही कहा है, इसमें पूर्व विरोध नहीं है कारण कि सुबोधनी में ही 'तत्र यथा चरणस्थापन' इस प्रकार कह कर दोष दूर करने के लिये कालिय, फणस्थित चरण का गोपियों ने वर्णन करके आगे 'अम्बुज' पद का व्याख्यान किया है, इससे मूल में क्रम से दोनों प्रकार के चरण का स्थापन व्यक्त किया है, इसलिये इस प्रकार की शंका का प्रयास नहीं करना चाहिये। यह मालूम होता है।

भगवान् के चरण को अम्बुज कहा है, इसलिये कमल की तरह भगवान् का चरण भी प्रत्यक्ष से ताप हरने वाला है।

यदि आप कहो कि तो भी स्त्रियों के वक्षस्थल में चरणस्थापन करना योग्य नहीं है। तब गोपियां कहती हैं कि कालिय के फणपर कोमल चरण आपने क्यों धारण किया। इसमें भगवान् को अयुक्त कह कर प्रश्न का उत्तर गोपियों ने युक्ति से दिया है, दूसरा उत्तर गोपियां कहती हैं कि 'श्रीनिकेतनम्'।

आपका चरण लक्ष्मी जी का स्थान है, जब कि लक्ष्मी जी आपके चरण-स्पर्श योग्य प्रसिद्ध ही हैं, तब लक्ष्मी जी के ही अंशभूत अन्य स्त्रियां-हम सब गोपियां आपके चरण का स्पर्श करें तो इसमें क्या संदेह की बात है।

यदि आप कहो कि लक्ष्मी जी तो चतुर हैं, और तुम सब मूढ़ हो, तुम सबका हित तुम को किस प्रकार के करना चाहिये।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'तृणचरानुगम्'।

तृण खाने वाली गायों के भी पीछे उनके हित करने के लिये आपका चरणारविन्द जाता है, वे गायें क्या भगवान् की प्रेरणा से तृण छोड़कर अमृत भक्षण करती हैं, जिस प्रकार उन गायों का तृण ही अमृत है, उसी प्रकार हमारा काम ही अमृत है, इस कार्य के करने से परम कृपालु आपका कोई अर्थ नष्ट नहीं होता है।

यदि आप कहो कि गोपियों तुम्हारे वश में इन्द्रिय नहीं है, और इस समय तुम सब में काम भाव होने से विषय रीति से रतकी इच्छारूप पाप विद्यमान है, जिस समय तुम्हारा पाप दूर हो जायेगा उस समय पीछे चरण-स्थापन कर दूंगा।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'प्रणतदेहिनां पापकर्षणम्'।

आपका चरणकमल स्थापन करने से ही कामभाव दूर हो जायगा, और सर्वात्मभाव प्राप्त हो जायगा, हम सब प्रकर्ष से नत हैं, अन्य प्रकारान्तर से हम पाप दूर नहीं कर सकती हैं, किन्तु आपके चरणप्रसाद से ही नम्र भक्तों का पाप दूर हो जाता है, इस से भी हम देहधारी हैं।

यहाँ पर प्रकर्ष से नमन कहा है, इससे गोपियों ने यह विज्ञापन किया है कि धर्ममार्ग आदि का हमने परित्याग कर दिया है, और देह में अभिमान विद्यमान है, इसलिये ज्ञान भी नहीं है, अर्थात् ज्ञानमार्ग का भी त्याग ही है।

प्रणतभक्तों की अधोगति भी नहीं होती है, कारण कि आपका चरण ही प्रणतों का पाप नाश करने वाला है।

जो भक्त आपके चरण का चिन्तन करे, दर्शन करे, तथा स्पर्श करे आलिङ्गन करे तो उसका पाप नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

अब उक्त ७ वे श्लोकपर स्वतंत्र लेख है, उसकी भाषा है शंका—प्रणतों को पाप क्यों प्राप्त होता है। इसका उत्तर भगवान् लोक में अपने धर्म का माहात्म्य प्रकट करने के लिये, अपने धर्म का भी प्राकट्य करके दोष का नाश करते हैं। अन्य धर्म से नहीं करते हैं, कारण कि भगवान् की इस प्रकार की इच्छा है, इसी से 'दुःसहप्रेष्ठविरह' यहाँ से लेकर 'धुताशुभाः' यहाँ तक कहा है, अर्थात् पापों का भोग किये बिना ही प्रमेय बल से पाप नाश होते हैं, इस लिये प्रमेय बल पापनाश से पहले अपेक्षित है।

प्रभु से सम्बन्ध के बिना पापनाश नहीं होते हैं, इसलिये भगवान् स्वधर्म लक्षण प्रमेय बल से जीवों के उद्धार की इच्छा जब करते हैं, तब प्रमेय बल से उन भक्तों के पाप नष्ट करते हैं, इसमें कुछ भी अयुक्त नहीं है।

शास्त्र के अर्थ को जान कर मन से शरण प्राप्त हुए प्रणत कहलाते हैं, देहाभिमान होने पर भी हीनाधिकार में भी उतना साधन आप सम्पादन करते हो, कि जिससे चरणकमल प्रकट करके उस प्रकार के भक्त को दुःख देने वाला जो विरहात्मक पाप है, उसको आप दूर करते हो, और जीव कृत साधन की आप अपेक्षा नहीं करते हो, आप स्वतः ही सर्व करते हो, उसी प्रकार यहाँ भी आप की सर्व करना चाहिये। यह भाव है।

अथवा यहाँ द्वन्द्वसमास जानना चाहिये, सर्व त्याग पूर्वक केवल भगवान् के अधीन हो जाना, यह न मन का प्रकर्ष है, उसमें दुःख देनेवाला होने से प्रथम नमन के प्रकर्ष में विरह ही पाप शब्द वाच्य है।

निषिद्ध कर्म करने से जो उत्पन्न होता है, उसको पाप कहते हैं, वह पाप यहाँ मानरूप है, मान करने वालों को दुःख होना उचित ही है, किन्तु आप का उस पाप को कर्षण करने का स्वभाव है, आप कृष्ण हो, इसलिये पाप दूर करो।

दूसरा पाप कर्म से उत्पन्न होता है, उसको नष्ट आप श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि से करते हो।

अथवा यहां कर्मधारय समास मानना चाहिये, प्रकर्ष से नति-सर्वात्म भाव, सर्वात्मभाव होने पर प्रभु में समर्पण करने के लिये देह, अभिमान आदि हैं, इस प्रकार भक्तों को प्रियस्वरूप से अतिरिक्त—अन्य का संग प्रतिबंधक होने से उसको पाप मानते हैं अतः उस अन्यसंग पाप को आपका चरण दूर करता है, इसी से 'विश्वतोभयात्' इस प्रकार कहा है।

'जगुः कृतानि पुण्यानि' इस वाक्य से आगे भगवान् के गुणों की पुण्यरूपता है। 'हृच्छय' हृदय में चोर की तरह रहनेवाला काम शीघ्र दुःख देनेवाला होता है, इसलिये इसको पाप मानते हैं, इसलिये यहां गोपियों ने उसके नाश की प्रार्थना की है, यद्यपि काम सङ्ग का उपयोगी है, तथापि सङ्ग में प्रतिबन्धक मान का हेतु है, इसलिये त्याग करने योग्य है।

अथवा प्रणत देह ही जिन भक्तों का है, किन्तु अन्तःकरण आदि प्रणत नहीं हैं, उन भक्तों का भी पापनाश करनेवाला आपका चरण है।

अथवा प्रणत देहधारियों के सम्बन्धी जो भक्त हैं, स्वयं प्रणत नहीं हैं, इस प्रकार के भक्तों का भी पापनाशक आपका चरण है, इस प्रकार गोपियों के कहने से भगवान् का चरण साक्षात् तथा परम्परा से अनिष्ट निवर्तक है।

अब और भी गोपियां कहती हैं कि अङ्गीकृत का पालन करने में आप योग्य अयोग्य का विचार नहीं करते हो, कारण कि तृणचरों के पीछे भी आप जाते हो, उनका जीवन तृण से ही होता है, तृण तो कुमांग में भी होते हैं, आप अपने अनुरोध से गायों को रोकते नहीं हो, किन्तु जहां उनका भक्ष होता है, वहां पर ही बिना विचारे मुञ्जाटवी की तरह चली जाती है, और आप भी उन गायों के पीछे पीछे उनके अधीन होते वहां पर ही जाते हो।

उक्त बात से गोपियों ने यह सूचन किया है कि हमारा भी जीवनहेतु आपका चरण कमल है, उसका मकरन्द मादक है, इसलिये आप के चरण कमल मकरन्द से मानरूप, उन्मार्ग—कुत्सितमार्ग में हम चली गयीं, तो भी आपको हमारी उपेक्षा करनी उचित नहीं है, कारण कि हमारा आपने अङ्गीकार किया है, यदि आप हमारी उपेक्षा करोगे तो हमारा जीवन ही नहीं रहेगा, अतः हम सब अत्यन्त विलम्ब हैं, इस प्रकार गोपियों ने कहा है।

उक्त कहने से गोपियों ने यह भी ज्ञापन किया है कि आपने ही यह रीति प्रकट की है, अन्त तक हमारा दोष नहीं है, नहीं तो आप श्रीकृष्ण के मुख से निकला वेणुगीत पीयूष को ऊँचे कानरूपी दोनाओं से प्रथम पान करके, यदि आप अपनी लीला विशेष के लिये उस प्रकार से गायों को प्रवृत्त नहीं करो तो लोक में लौकिकता से दीख रहे, किन्तु वास्तव में तो उक्त किक कहे गये तृण-पीयूष के तुल्य न हों तो सुखी गायों की प्रवृत्ति कैसे हो। वास्तव में तो उक्त रूप तृणों में रुचि उत्पन्न करने के लिये आपका गायों के पीछे गमन होता है, इससे भक्तिरस पोषित तृण होते हैं, इसीलिये गायों की रुचि होती है।

इस प्रकार का भक्तिरस का हम सबमें स्थापन होने पर हमको भी आप अभीष्ट देनेवाले, तथा पालन करनेवाले होंगे। कारण कि अपने भक्तों में आपका इस प्रकार का स्वभाव है, यह भाव है।

और भी गोपियां कहती हैं कि आपका चरण लक्ष्मी का स्थान है लक्ष्मी जी की जाति की हम सब में भी चरण कमलस्थापन करना उचित है, कारण कि लक्ष्मीजी भी नायिका हैं, उनको भी रसपोषण समय में ही आपके चरण का सम्बन्ध अभीष्ट है, तृणसंचार समय में नहीं

है, क्रम से 'तृणचरानुगं' तथा 'श्रीनिकेतनम्' ये दो विशेषण कहके गोपियों ने यह ज्ञापन किया है कि यहां स्वयं साक्षात् आपके सम्बन्ध का समय न पाकर लक्ष्मीजी ने विचार किया कि प्रभु पशुओं की तृण से तृप्ति करके सायंकाल ब्रज में आकर रात्रि में अपनी प्रियाओं के साथ क्रीड़ा ही करेंगे, उस समय प्रियाओं के सम्बन्ध से मुझको भी रमण सदृश हो जायगा, इस प्रकार लक्ष्मी जी का दूर पर्यन्त में हृदय है।

गायों के पीछे जाने से रज करके तथा परिश्रम से भगवान् में सौन्दर्य के अभाव की शंका भी दूसरे 'श्रीनिकेतनं' इस विशेषण से दूर कर दी है, अतः जैसे जैसे भगवान् गोचारण करते हैं, वैसे वैसे विशेष शोभा ही होती है, यह कहा है।

अथवा जिस समय भगवान् गायों के पीछे पीछे जाते हैं, उस समय स्नेह भर से कहीं भगवान् के कांटे आदि का स्पर्श न हो जाय इस प्रकार की शंका से स्वयं लक्ष्मी सूक्ष्म रूप से आपके चरण कमल के तल में स्थित होकर कांटे आदि के सम्बन्ध को निवारण करती हैं, उस समय आपका चरण श्री का निकेतन होता है, यह भाव कहा है।

और भी गोपियां कहती हैं कि यदि भगवान् अपनी इच्छा से गायों को स्वयं ले जायें तो आगे विषपानात्मक अनिष्ट सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु गायें अपनी इच्छा से जाती हैं, और प्रभु उनके पीछे उनके अधीन होकर आते हैं, इसलिये आगे अनिष्ट सम्बन्ध में, उस अनिष्ट को निवारण करने के लिये अम्बुज होने से अतिमुकुमार भी चरण अतिकूर कालिय के फण पर आप घरते हो, उस समय ब्रजवासियों ने आप में अपने स्नेह की परीक्षा यथावत् सम्पन्न की, और आपने कालिय नाग पर प्रसन्न होकर उसके फण रूप मस्तकों पर ब्रह्मा आदि देवताओं को भी दुर्लभ रज जिनकी इस प्रकार के चरणों से नृत्य किया, नृत्य भी आपने अल्पकाल मात्र नहीं किया, किन्तु बहुत काल तक किया।

आपने नृत्यमात्र ही नहीं किया, किन्तु कालिय नाग का सदा के लिये रिपु भय दूर कर दिया, गरुड़ कालिय नाग के मस्तकों पर सदा आपका चरण कमल देखता है, अतएव 'फणिफणा-पितम्' इस विशेषण में अर्पण कहा है, स्पर्शमात्र नहीं कहा है।

अब गोपियां कहती हैं कि हमारी परीक्षा तो प्रथम ही सम्पन्न हो चुकी है, इसलिये हमको जो दुःख दे रहा है, उसका निवारण करना चाहिये।

वह दुःख देनेवाला भीतर स्थित हुआ चोर की तरह पीड़ा दे रहा है, आपके चरण कमल के सम्बन्ध से हमारे द्वारा वह चोर भी तापरहित होकर, फिर हमको भी नहीं तपावेगा। यह भाव है। यहां 'तापयतीति' इस प्रकार कथन से मालूम होता है कि चोर की तरह स्थित काम को भी ताप है, इस प्रकार लक्षित होता है।

कूर तथा तप्त में स्थापित आपका चरणकमल विकृत नहीं होगा, इस बात को ज्ञापन करने के लिये शूल में 'ते' तुम्हारा चरण कहा है, कारण कि आप विकार रहित हो, इसलिये चरण भी विकृत नहीं होगा।

गोपियां कहती हैं कि सर्वात्मा से हम सब आपमें प्राप्त हुई है, जब कि आप स्वार्थ पर, और सहज दोष से युक्त दुष्टों के ऊपर भी कृपा करते हो, तब स्वतः दोषरहित हमारे ऊपर भी कृपा करनी चाहिये, यह भाव है।

गोपियां कहती हैं कि विपरीत रस से हमारे स्तनों में चरणकमल स्थापन करने में पूर्व विशेषण 'प्रणतदेहिनां पापकर्षणं' इसके अनुसार हम प्रणत हैं, प्रणतों के कार्य करने का आप पर

अति भार रहता है, अतः हमारा कार्य करने में आपको अत्यन्त आश्लेष करना पड़ेगा, उस समय जब अपने जन को भय, कम्पादि होता है, तब वेणी रूप का आप कर्पण करते हो।

तुमको मैं जीतूंगी, इस प्रकार जीतने के वचन से मन, और वाणी में उस समय नतत्व का भाव नहीं है, इसलिये यहां देहमात्र कहा है, और पुल्लिङ्ग का प्रयोग किया है।

उस भाव की प्रधानता होने से तृणचर—गायों में भगवान् के चरण ने अपना भोग्य रस सम्पादन किया है।

गायों को तृणभक्षण करने से तृणचरत्व है।

‘तृणचरेषु स्वभोग्यरससम्पादकम्’ इस पंक्ति का भाव श्री हरि रायजी इस प्रकार लिखते हैं कि भगवान् गायों के सङ्ग में जाते हुए अपने चरण सम्बन्ध से तृणों को भक्तिरसायुत युक्त करके, उन तृणों से उत्पन्न दुग्धादि रस को अपने भोग्य योग्य विधान करते हैं, उसी प्रकार यहां जो अपने भोग्य रस है पुरुषत्व से, उसका सम्पादन करनेवाली जो रस की अधिकता है, उस अधिकता का सम्पादन करनेवाला भगवान् का चरण है।

इस प्रकार भगवान् के चरण का सम्बन्ध होने पर भगवद्भोग्य जो रस पुरुषत्व है, उससे हमारा सम्बन्ध होगा, यह भाव है।

यह स्वरूप गायों की लीला के उपयोगी हरी घास के प्रदेश में गमन से होता है।

अथवा तृण—सबसे लघु है, गायें तृण की तरह ल—मन्द चलती हैं, उस समय चलने के अति लाघव से रस का अतिशय होता है, इसलिये पुनः रस प्रकट करने के लिये प्रेरणा करते हुए भगवान् गायों को पीछे से चलाते हैं, इसलिये यहां ‘तदनुगतत्व’ कहा है, अपने आप रस स्रवित होने से ‘श्रीनिकेतनम्’ यह विशेषण है, आगे ‘फणिफणापितम्’ इस विशेषण से विविध बन्ध विशेषों में नृत्य की तरह आप अपने चरणकमल को स्थापन करो, यह हृदय का व्यञ्जित अर्थ गोपियों ने कहा है, अब श्री हरिरायजी कहते हैं कि यह जो कुछ मैंने बिना विचारे युक्त अथवा अयुक्त कहा है, उसको प्रिया युक्त श्रीकृष्ण हमारे कुल के ईश्वर क्षमा करो ॥ १ ॥ ७ ॥

(सुबो०) इममेवार्थं ततोऽप्युत्तमा प्रकारान्तरेण प्रार्थयते—मधुरया गिरिति।

अब सात्त्विक राजसी गोपी से उत्तम निर्गुणा गोपी इसी वाञ्छित उपकार रूप अर्थ की प्रकारान्तर से प्रार्थना करती है।

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाप्याययस्व नः ॥ ८ ॥

पदपदार्थ—(हे पुष्करेक्षण) हे कमलनयन (हे वीर) हे शूर (वल्गुवाक्यया) मनोहर वाक्यवाली (बुधमनोज्ञया) विद्वानों को आनन्द देनेवाली (मधुरया) मधुर रसवाली (गिरा) वाणी से (मुह्यतीः) मोह को प्राप्त हुई (इमाः) ये सब (विधिकरीः) आपकी आज्ञा पालन करनेवाली दासियां (नः) हम गोपियों को (अधरसीधुना) अधरामृत का पान कराकर (आप्याययस्व) जिलाओ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—हे कमल नयन, हे वीर, मनोहर वाक्यवाली, विद्वानों को आनन्द देनेवाली मधुर वाणी से मोह को प्राप्त हुई इन आपकी आज्ञापालन करनेवाली दासी हम गोपियों को अधरामृत का पान कराकर जिलाओ ॥ ८ ॥

(सुबो०) हस्तेन च स्वरूपेण यदा चोपकृतिर्मता ।

मुखेन चोपकारो हि कर्तव्य इति ता जगुः ॥ १ ॥

पूर्वोक्तमपि सर्वं हि यावत्स्पष्टं न भाषते ।

तावत्सरसतां याति न कदाचिदिति स्थितिः ॥ २ ॥

श्लोक ५ ‘विरचिताभयम्’ इसमें ‘शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्’ यहां गोपियों ने हस्त से उपकार की प्रार्थना की है।

‘व्रजजनार्तिहन्’ इस छठे श्लोक में ‘भज सखे भवत्किं करीः’ यहां स्वरूप से उपकार की प्रार्थना की है।

‘प्रणतदेहिनां’ इस ७ वे श्लोक में ‘पदाम्बुजं कृणु कुचेषु’ यहां चरण से उपकार की प्रार्थना की है, इस प्रकार यहां ५-६, ७ तीन श्लोकों का अनुवाद किया है।

‘मधुरया गिरा’ इस ८ वें श्लोक में मुख से उपकार करना चाहिये, इस प्रकार गोपियों ने प्रार्थना की है।

लोभ स्थित रस वाणी में विद्यमान रहता है, इसलिये मुख का उपकार भी करना चाहिये, यह मूल कारिका में ‘हि’ शब्द का अर्थ है।

तो फिर यहां लोभ की प्रार्थना करनी चाहिये, वाणी की प्रार्थना नहीं कहनी चाहिये, वाणी की प्रार्थना का क्या प्रयोजन है ?

इस प्रकार की आकांक्षा में गोपियों ने जो मधुर वाणी की प्रार्थना की है, उसका प्रयोजन कहते हैं, ‘पूर्वोक्तमपि’।

जहां तक भगवान् मधुर वाणी से भाषण नहीं करते हैं, वहां तक पूर्वोक्त भी उपकार सब सरसता को प्राप्त नहीं होते हैं। छुपचाप रमण करने में रस प्राप्त नहीं होता है, अतः इस प्रकार की रसमर्यादा सूचन करने के लिये मधुर वाणी की आवश्यकता होती है, इसलिये गोपियों ने मधुर वाणी की प्रार्थना की है ॥ २ ॥

(सुबो०) हे स्वामिन्, मधुरया गिरा मुह्यतीरिमा गोपीराप्याययस्व ।
मोहो हि मरणपूर्वावस्थारूपः । तासामाप्यायने हेतुः विधिकरीरिति । आज्ञा-
कारिणीः सेवाकारिणीर्वा । असामर्थ्यं तु तव नास्तीत्याहुः—हे वीरेति । शौर्यं हि
आर्तानामार्तिनिराकरणार्थम् । इमा इति प्रदर्शनेन क्षणमात्रविलम्बेन मरि-
ष्यन्ति इति सूचितम् । ननु वाङ्मात्रेण कथं मोहनिवृत्तिरिति चेत्, तत्राहुः—
मधुरयेति । मोहो हि मायारूपः । स भवत्स्वरूपेणैव निवर्तते सच्चिदानन्द-
रूपेण । तत्र तव वाणी आनन्दरूपेत्याह—मधुरयेति । मध्वसाधारणो रसः ।
तद्युक्ता मधुरा । वल्गु मनोहरं वाक्यं यत्र । वाक्यस्य मनोहरत्वं सत्यप्रिय-
प्रतिपादकत्वेन । अतः सद्रूपता निरूपिता । बुधानां मनोज्ञा आह्लादकारिणी ।
अनेन ज्ञानरूपा निरूपिता । ते हि ज्ञानेनैव रता भवन्ति । मुखे नयने वर्तते
इति तयोरपि व्यापारं कृत्वैव वक्तव्यमित्याहुः—पुष्करेक्षणेति । कमलवत् पर-
तापापहारके ईक्षणे यस्य । किञ्च, अधरसीधुना अधरामृतेन च आप्याययस्व ।

वक्तव्याः द्रष्टव्याः पाययितव्या इति । मूर्च्छितानां हि मूर्च्छानिवारणार्थं महामन्त्राः पठ्यन्ते, कमलादीनि च शीतलद्रव्याणि स्थाप्यन्ते । सर्वथा असाध्यो अमृतमपि पाय्यते । अतिगोप्यान् वा रसान् पाययन्ति । इयं तु मूर्च्छा नाल्पेन निवारयितुं शक्येति वीरेति सम्बोधनम् । अनेनान्तिमावस्था प्रदर्शिता । पूर्वप्राथिता-
श्रार्थाः स्मारकत्वेनाधिकमूर्च्छाहितवो जाताः ॥ ८ ॥

हे स्वामिन्, मधुर वाणी से मोह को प्राप्त हुईं इन गोपियों को जिलाओ, मोह मरण की पूर्वावस्था रूप है, अतः मोह का निवारण करना परमावश्यक है ।

अब गोपियों के जिलाने में हेतु कहते हैं, कि 'विधिकरीः' हम आपकी आज्ञा पालन करने वाली अथवा सेवा करनेवाली हैं ।

यदि आप कहो कि मुझमें जिलाने की सामर्थ्य नहीं है । तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (हे वीर) आप वीर हो, सामर्थ्य आपमें विद्यमान है, वीरों में शूरता आती—दुःखी लोगों का दुःख दूर करने के लिये होती है, 'इमाः' इस प्रकार इदम्शब्द का प्रयोग करके गोपियों की प्रत्यक्ष दशा दिखाई है, यदि क्षणमात्र का भी विलम्ब होगा तो ये सब गोपियां मर जायेंगी, यह सूचन किया है ।

यदि आप कहो कि गोपियो मेरी वाणीमात्र से तुम सबका मोह कैसे निवृत्त होगा ?

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'मधुरया' ।

आपकी मधुर वाणी से मोह निवृत्त हो जायगा, कारण कि मोह मायारूप है, वह मोह आपके सच्चिदानन्द स्वरूप से ही निवृत्त होता है, इसमें आपकी वाणी आनन्दरूपा है, इसी बात को गोपियां कहती हैं कि 'मधुरयेति' मधु यह असाधारण रसप्रीति है, कारण कि प्रीति का आनन्द धर्म है, प्रीतियुक्त आनन्द मधुर है, अतः प्रीतियुक्त वाणी आपकी मधुर है, और वल्लु—मनोहर वाक्य वाणी में हैं, सत्य तथा प्रिय प्रतिपादन करनेवाले वाक्य भगवान् के हैं, इसलिये वाक्यों को मनोहर कहा है । इसी से भगवान् की वाणी को सद्रूपता निरूपण की है ।

भगवान् की वाणी विद्वानों को आनन्द देनेवाली है, इससे वाणी को ज्ञानरूपता—विद्रूपता निरूपण की है, विद्वान् लोग ज्ञान से ही भगवान् में रत होते हैं ।

मुख में नेत्र होते हैं, इसलिये नेत्रों का भी व्यापार करके ही बोलना चाहिये, इस बात की प्रार्थना गोपियां करती हैं, 'पुष्करेक्षणेति' कमल की तरह दूसरों के ताप को हरण करनेवाले नेत्र भगवान् के हैं ।

आप अधरसीधु—अधरामृत से हम सबको जिलाओ । अर्थात् मधुर वाणी से आपको हम सबसे भाषण करना चाहिये, और कमलसदृश ताप हरनेवाले नेत्रों से हम सबको देखना चाहिये, तथा अधरसीधु—अधरामृत का हम सबको पान कराना चाहिये ।

आप उत्तम वैद्य हो, जिन पुरुषों को मूर्च्छा आ जाती है, उनकी मूर्च्छा निवारण करने के लिये महामन्त्रों का पाठ किया जाता है, तथा उनके शरीर पर कमल आदि शीतल द्रव्यों का स्थापन किया जाता है, यदि सर्वथा असाध्य हो तो अमृत भी पिलाते हैं, अथवा अति गुप्त रस का पान कराते हैं, किन्तु यह हमारी मूर्च्छा अल्प साधनों से, मनुष्य द्वारा दूर नहीं हो सकती है, इस भाव को सूचन करने के लिये यहां 'वीर' यह सम्बोधन दिया है ।

इस प्रकार गोपियों ने अमृत की प्रार्थना करके अपनी अन्तिम अवस्था—मरणावस्था का प्रदर्शन किया है ।

पहले जो हस्त, स्वरूप, चरण आदि अर्थों की प्रार्थना की थी, उस प्रार्थना से लीला का स्मरण गोपियों को हो गया, इसलिये पूर्वोक्त अर्थ अधिक मूर्च्छा के कारण बन गये ॥ ८ ॥

(सुबो०) एवं पदार्थचतुष्टयं संप्राप्य तददाने स्वयमेव हेतुमाशङ्क्य परिहरन्ति—तव कथेति ।

गोपियां इस प्रकार भगवान् से हस्त, स्वरूप, चरण और मुख इन चार पदार्थों की प्रार्थना करके, जब उक्त चार पदार्थ भगवान् ने नहीं दिये तब गोपियां स्वयं ही न देने में कारण की शंका करके कारण का परिहार करती हैं, यह आगे का श्लोक राजस सात्त्विकी गोपी का है ।

तव कथामृतं तसजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।

श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥ ९ ॥

पदपदार्थ—(तव) आपका (कथामृतं) कथारूपी अमृत (तसजीवनं) संसार से तप्तों का जीवन है (कविभिः) ज्ञानियों से (ईडितं) स्तुत है (कल्मषापहं) पापों का नाश करनेवाला है (श्रवणमङ्गलं) श्रवण करने से आनन्द देनेवाला है (श्रीमत्) लक्ष्मीयुक्त है (आततं) सर्व लोकों में व्याप्त है (ये) प्रसिद्ध व्यासादिक (भुवि) पृथिवी में (गृणन्ति) गान करते हैं (ते) वे सब (भूरिदाः) बहुत देनेवाले (अजनाः) भगवान् के स्वरूप हैं, अथवा जन्मदोष आदि रहित है ॥ ९ ॥

भाषार्थ—आपका कथा रूपी अमृत संसार से तप्त जीवों का जीवन है, और ज्ञानियों द्वारा प्रशंसित है, पापों का नाश करनेवाला है, श्रवण करने से मङ्गल—आनन्द देनेवाला है, लक्ष्मी युक्त है, सर्वलोकों में व्याप्त है, इस प्रकार के कथामृत का जो व्यासादिक पृथिवी में गान करते हैं, वे सब बहुत देनेवाले और भगवद्रूप अथवा जन्मादि दोषरहित हैं ॥ ९ ॥

(सुबो०) ननु सर्वमिदं प्रार्थितं भक्तेभ्यो देयम्, न त्वभक्तेभ्यः । अभक्तत्वं च विरहेऽपि जीवनादवसीयते । भगवांस्तु सर्वनिरपेक्षकः । न तस्य भवजीवनेन कार्यम् । लक्ष्मीसदृश्यो यस्य कोटिशो दास्यः । 'अतस्त्वयि धृतासवः' इत्यप्यसंगतम् । तस्माद्वचर्थमेव प्रार्थनमित्याशङ्क्य परिहरति । नेदं जीवनमस्मिन् कृतिसाध्यम्, किन्तु तव कथा विरहेण प्राणानां गमने प्रतिबन्धं करोति । कथायाः पुनः यथा तव सामर्थ्यं तथा । सापि षड्गुणात्मिका मोक्षदायिनी परमानन्दरूपा च, तदाहुः—तव कथा अमृतमिव । अमृतं भगवद्रसात्मकम् । सर्वेषां मरणादिनिवर्तकं यद्रूपं तदमृतशब्देनोच्यते । अतो मोक्षदातृत्वं परमानन्दरूपता च सिद्धा । इदानीं षड्गुणान्निरूपयन्ति—तसजीवनमित्यादिषड्भिः पदैः । तस्मा ये संसारे तेषां जीवनं यस्मात् । अमृतं हि तापनिवर्तकं प्रसिद्धमेव । वैराग्यं च भगवतो ज्ञानं वा सर्वतापनिवर्तकम् । यत्संस्कारयोग्यं तत् ज्ञानेन नश्यति । यदयोग्यं तत्परित्यागेन । अत एव स्मार्तैः संस्काराशक्तैः परित्याग एव बोध्यते । अतो ज्ञानं वैराग्यं च तापनाशके भवतः । आपाततस्तापनाशकत्वं जलादावपि

वर्तत इति तदर्थमाह—कविभिरीडितमिति । कविभिः सर्वैरेव शब्दार्थरसिकैः
ज्ञानिभिरीडितं ज्ञानं वैराग्यं वा । आपाततः स्त्रीषु तथात्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थ-
माहुः कल्मषापहमिति । कल्मषं पापमपहन्तीति । 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य'
त्यपि कचित्पाठः । अलौकिकसाधकं च वीर्यं महत् तद्धर्मरूपमेव भवति । धर्म्यं
च पुनः कल्मषनिवर्तकं भवति । पूर्वोक्तधर्मविशिष्टं च । कथायाश्च तथात्वं
सर्वत्र प्रसिद्धम् । प्रायश्चित्तादीनामपि आपाततस्तथात्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थ-
माह—श्रवणमङ्गलमिति । तद्गोमयादिलेपनात्मकमुपवासात्मकं च स्वरूपतोऽप्य-
मङ्गलम् । घोरात्मकत्वात् श्रवणेऽप्यमङ्गलम् । इदं तूदारचरितम्, श्रुतमेवा-
नन्दं जनयतीत्यनुभवसिद्धत्वात् श्रवणमङ्गलम् । तेन कीर्तितुल्यता निरूपिता ।
पुत्रजन्यादिश्रवणस्यापि किञ्चिद्धर्मसाम्यात् श्रवणमङ्गलत्वमाशङ्क्य तद्व्या-
वृत्त्यर्थमाह—श्रीमदिति । तद्धनव्ययसाधकम्, न तु धनसाधकम् । कथामृतं तु
लक्ष्म्या अप्यपेक्षितत्वात् तद्युक्तं भवति । तेन श्रोतुर्वक्तुश्च तत्सिद्धिः । राज्य-
प्राप्तिश्रवणं तथा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—आततमिति । आ सर्वतः तत्
व्याप्तम् । राज्यादिकं तु परिच्छिन्नम् । भगवत ऐश्वर्यं तु न तथा । अन्त-
र्बहिः सर्वेषां सर्वथा व्याप्तमिति । कथामृतं च पुनः सर्वलोकात् व्याप्य तिष्ठति
स्वसामर्थ्यं सर्वत्रैव सम्पादयति । तस्मात् स्वरूपतो धर्मतश्च भवत्सदृशी
भवत्कथेति तया कृत्वा जीवनम्, न तु स्वतः । अनेनोत्कर्षोऽप्युक्तः । त्वं कदाचि-
न्मारयस्यपि, कथामृतं तस्मिन्नपि काले जीवयतीति । भगवान् प्रार्थित
कथामृतं परतन्त्रमित्येतावान् विशेषः । त्वं च अवतारे ब्रह्मादिभिः प्रार्थित
आगच्छसि, आगतोऽपि तिरोभवसि । कथा तु समागता न तिरोभवति । अत
एव तादृशं कथामृतं ये भुवि गृणन्ति, त एव भूरिदाः बह्वर्थदातारः । जननादि-
प्रसिद्धाः व्यासादयः । भूरिदाश्च ते भजनाश्च । ते केवलं भगवद्रूपाः । अन्यथा
दोषरहिता वा, परं विरलममृतं केवलं मरणोपस्थितौ तन्निवर्तकमेवेति, न
तु संभूयैकत्र रसजनकम् । रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशेषः । अन्यथा
कथार्थमेव यत्नः कृतः स्यात् । परं विरहे मरणनिवर्तकत्वेन तदुपयोग इति
भगवत्त्वेन स्तूयते । अतस्तैर्भगवत्कथाकथकैः बहु दत्तमिति तद्वशात् जीवनम् ।
एतत्सात्त्विक्याः ॥ ९ ॥

यदि भगवान् कहें कि जो पूर्वोक्त हस्तादि पदार्थों की तुमने प्रार्थना की है, वे सब पदार्थ
तो भक्तों के लिये देने के योग्य हैं, अभक्तों के लिये नहीं दिये जाते हैं, तुम सब अभक्त हो, कारण
कि विरह में भी तुम्हारा जीवन हो रहा है, इससे निश्चय होता है कि तुम सब गोपी भक्त
नहीं हो ।

भगवान् तो सर्वनिरपेक्ष हैं, भगवान् को किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है, और यदि
तुम्हारा जीवन नहीं रहा तो, तुम्हारे जीवन से भगवान् का कोई कार्य नहीं है, कारण कि लक्ष्मी
जी के सदृश भगवान् के करोड़ों दासियां हैं, अतः तुमने जो कहा है कि 'त्वयि घृतासवः' तुम्हारे
लिये हम सब प्राण धारण कर रही हैं और हम आपकी 'विधिकरीः' किकरी हैं, इत्यादि प्रार्थना
तुम्हारी व्यर्थ है ।

इस शंका का गोपियां परिहार करती हैं और कहती हैं कि आपने कहा कि तुम अभक्त
हो, अभक्त न होतीं तो विरह में जीवन कैसे हो सकता है, तुम अभक्तों का तो विरह में भी जीवन
हो रहा है, जीवन से अनुमान अभक्तत्व का किया है, अतः जिस हेतु-कारण से गोपियों का
जीवन हो रहा है, उस हेतु को गोपियां कहकर परिहार करती हैं ।

जिस प्रकार यज्ञ में हिंसा अधर्म है, हिंसा होने के कारण, इसमें निषिद्धत्व उपाधि है,
उसी प्रकार प्रकृत—चाहू विषय में भी अपनी कृति से साध्यता उपाधि है, यह भाव है । इसी
बात को गोपियां प्रदर्शन करती हैं, 'नेदं जीवनमस्मत्कृतिसाध्यम्' हम सबका जीवन हमारे
प्रयत्न से नहीं हो रहा है, किन्तु आपकी कथा विरह से प्राणगमन में प्रतिबन्ध करती है, जो
सामर्थ्य आप में है, वही सामर्थ्य आपकी कथा में है ।

जिस प्रकार भगवान् छः गुण युक्त मोक्ष देनेवाले परमानन्द रूप हैं, उसी प्रकार भगवान्
आपकी कथा भी ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छः गुण युक्त हैं, अर्थात् इसके
स्वरूप में छः गुण हैं, जिस कार्य को आप भगवान् करते हैं, उसी कार्य को आपकी कथा भी करती
है, अतः पूर्वोक्त छः गुण युक्त हैं, और मोक्ष देनेवाली परमानन्द रूप है, इसी बात को गोपियां
कहती हैं कि आपकी कथा अमृततुल्य है, अमृत भगवद्रसात्मक है, और सर्व का मरण आदि
निवर्तक जो रूप है वह अमृत शब्द से कहा जाता है । 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' मरण
निवर्तक वित्त भी नहीं है, इत्यादि श्रुति पूर्वोक्त प्रतिपादन करती है, अतः आपकी कथा को मोक्ष
दातृत्व और परमानन्द रूपता सिद्ध होती है ।

अब गोपियां कथा में स्थित छः गुणों का निरूपण 'तप्तजीवनं' इत्यादि छः पदों से करती हैं ।
तप्त जो संसार में हैं, उन प्राणियों का जीवन आपकी कथा से होता है ।
'तप्तजीवनं' इस पद का अर्थ वैष्णवतोषिणीकार करते हैं कि तप्त लोहे का गोला, और
तप्त तैल आदि में जिस प्रकार 'जीवन' जल कुछ गिर जाता है, तो अधिक ताप उत्पन्न करता है,
उसी प्रकार आपका कथामृत भी वियोग में अधिक ताप को ही करता है, इस प्रकार तोषिणीकार
ने उक्त अर्थ सुन्दर विचार से नहीं किया है, कारण कि तप्त लोहे के गोला में थोड़ा भी जल
गिरता है तो वह जल अपने अनुरूप उष्णता का नाश ही करता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, इस बात
को नहीं मानते हैं तो फिर अन्य अग्निसंयोग की तरह बहुत से जल का संयोग होने पर भी
अधिक ताप का हेतु हो जायगा, तप्त तैल आदि में तो तैल को उत्तेजकत्व दीखता है, तो भी
तीव्र अग्नि से जल का नाश हो जाता है । कथा तो विद्यमान है, इसलिये दृष्टान्त में वैषम्य है,
तप्त तैलादि में जो उत्तेजकता है, वह बाहर अग्नि में फेंकने से है और वह दूसरों को ताप करने
वाली है, किन्तु जल संयुक्त उसमें तापकत्व नहीं है, यह बात भी तप्त तैलादि में जल गिराने से
प्रत्यक्ष देखी गयी है, प्रकृत में भी परताप करनेवाला, और अपने ताप की शान्ति करनेवाला
कथामृत सिद्ध है ।

यदि कहो कि भगवान् की कथा से ही जब सर्व ताप-निवृत्त हो जाता है, तब भगवान् के
संयोग की आवश्यकता क्या है ?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि, भगवान् की अपेक्षा इसलिये है कि कथाको स्वल्पता है, अर्थात् कथा तो सांसारिक सकल ताप निवृत्त करने में ही समर्थ है, किन्तु विरह से उत्पन्न महाताप निवारण करने में कथा की सामर्थ्य नहीं है, इसलिये भगवान् के संयोग की आवश्यकता रहती है, इसी से मूल में जीवन सम्पादकत्व ही कहा है, विरहताप-निवर्तकत्व नहीं कहा है, यदि वैष्णव तोषिणीकार का अर्थ मानते हैं तो अमृतपद से विरोध होता है, कारण कि अमृत ताप करनेवाला नहीं है, किन्तु ताप शमन करनेवाला है।

इसी प्रकार 'भूरिद' पद का भी विरोध होता है, कारण कि महाताप उत्पन्न करनेवाला वाक्य कहनेवाली गोपियों की स्तुति में विद्यमान है, इस प्रकार की स्तुति में गोपी का वाक्य ताप शान्त करने योग्य है, किन्तु ताप करनेवाला अयुक्त होता है और यहां काकु, विपरीतलक्षणा आदि को अङ्गीकार करना तो साहस ही है, इसलिये तापनाशक करनेवाला ही यहां अर्थ है।

यदि कहो कि शब्दरूप कथा किस प्रकार ताप निवृत्त करेगी।

तो इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि अमृत तापनिवर्तक प्रसिद्ध है, संसार के ताप से युक्त पुरुषों का जीवन जनक—उस ताप का निवर्तक अमृत होता है, भगवान् का वैराग्य गुण, अथवा ज्ञान गुण सर्व ताप का निवर्तक होता है।

भगवान् का धर्मरूप उसकी कृपा से जिस समय जीवों में आता है, उस समय ताप दूर कर देता है, कथा भी श्रवण द्वारा भीतर प्रविष्ट होकर ताप दूर करती है।

ताप की निवृत्ति सांसारिक विषयों के नाश हो जाने पर होती है, इसलिये व्यवस्था से संसार में उत्पन्न हुए विषयों का नाश करनेवालों को गोपियां कहती हैं।

जो संस्कार के योग्य है, अर्थात् यह पदार्थ वाचारम्भण विकार रहित है, मिथ्या नहीं है, किन्तु ब्रह्मत्व प्रकारक ज्ञान विषय के योग्य है—ब्रह्मरूप है, इस प्रकार संस्कार योग्य वस्तु ज्ञान से नष्ट हो जाती है, अर्थात् उस वस्तु का ज्ञानी को वस्तुत्व से अनुभव नहीं होता है।

और जो वस्तु संस्कार के अयोग्य है, अर्थात् स्त्री आदि वस्तु ज्ञान का भी अपने संग से नाश कर देती है, उसका परित्याग करने से नाश होता है।

यहां प्रथम उदाहरण 'अप्रजत्वादितसका' का है 'तद्वैक आहुः ऋषयः कावपेयाः, किं प्रजया करिष्यामो' 'येषां नो एवायमात्मा' 'नायं लोकः' कावपेय ऋषि कहते हैं कि प्रजा-पुत्रादि सन्तान उत्पन्न करके हमको क्या करना है, जिन हम ज्ञानियों को यह आत्मा प्रत्यक्ष है, यह लोक नहीं है, कुछ पाठ भेद से यह श्रुति बृहदारण्यक अ. ४ ब्रा. ४ मन्त्र २२ में भी है।

इस प्रकार ज्ञान से पुत्र आदि ताप निवृत्त हो जाता है।

दूसरा उदाहरण—जुङ्गितोपगतादितस से बोध्य है।

जिस प्रकार स्मृति में कहा है कि 'चतस्रस्तु परित्याज्याः'।

चारों के त्याग का बोध करके बताया है। इसीसे स्मार्त लोग जो संस्कार करने में अशक्त हैं, वे परित्याग का बोध करते हैं, अतः ज्ञान तथा वैराग्य ताप नाश करनेवाले हैं।

यद्यपि ज्ञान-वैराग्य दोनों ही ताप नाशक हैं, तथापि 'तप्तजीवन' यहां दोनों में से एक का ग्रहण करना चाहिये, इसी प्रकार आगे के विशेषण में भी दोनों में से किसी एक का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् 'तप्तजीवन' इसमें ज्ञान का ग्रहण करते हों तो आगे 'कविभिरीडित' इसमें वैराग्य का ग्रहण करना चाहिये, इस प्रकार एक विशेषण में एक का ग्रहण करना चाहिये, इस प्रकार दो विशेषणों से भगवान् की कथा में ज्ञान वैराग्य की सिद्धि हुई।

यदि शंका करो कि समग्र ताप का नाश करना जलादिकों में भी विद्यमान है, फिर कथा को ही तापनाशकत्व क्यों बतलाते हो ?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'कविभिरीडितम्' कवि—सभी शब्दार्थ रसिक ज्ञानियों ने कथामृत कहा है, अर्थात् कथायें ज्ञान धर्म, तथा वैराग्य धर्म का वर्णन किया है।

यदि कहो कि कथा के विषय में नहीं कहा है।

तब इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि भगवान् का कथामृत 'कल्मषापहम्' कल्मष-पाप को दूर करनेवाला है।

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरितः' यह वाक्य अग्निपुराण आदि में है, इसमें कहीं पर 'इतीरिणा' इस प्रकार पाठ है, उक्त श्लोक में 'वीर्यस्य' इसके स्थान में 'धर्मस्य' इस प्रकार भी पाठ है, इसलिये 'कल्मषापहम्' इससे कथा में धर्माख्य धर्म भी सिद्ध होता है। कारण कि धर्म पापनाशक प्रसिद्ध है।

'वीर्यस्य' इस पाठ में 'कल्मषापहम्' इस विषय से वीर्य का भी ग्रहण करना चाहिये।

अलौकिक वस्तु का साधन करने वाला भगवान् का वीर्य महान् और धर्मरूप है, अर्थात् धर्म तथा वीर्य दोनों एक हैं, जिसमें धर्म रहता है, वह तो फिर पाप नाश करने वाला हो जाता है, तथा अलौकिक वस्तु सिद्ध करने वाला हो जाता है।

भगवान् की कथा भी पाप नाश करने वाली, तथा अलौकिक कार्य करने वाली होती है, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है।

यदि शंका करो कि प्रायश्चित्त आदि से भी समग्र पाप दूर हो जाते हैं, तो फिर भगवान् की कथा में विशेषता क्या है।

इस शंका के दूर करने के लिये गोपियां कहती हैं कि 'श्रवणमङ्गलम्'।

प्रायश्चित्त में गायका गोबर आदि लेपन तथा उपवास आदि किया जाता है, इसलिये स्वरूप से भी श्रमङ्गल है, और घोरात्मक होने से श्रवण करने में भी श्रमङ्गल है।

भगवान् की कथा का तो श्रवण उदारचरित है, अर्थात् इसमें भगवान् के उदार चरित्रों का वर्णन है, भगवान् की कथा का श्रवण करने से आनन्द उत्पन्न होता है, यह बात अनुभव सिद्ध है, इसलिये कथा का श्रवण मङ्गल है, उक्त विशेषण से कीर्ति-यश तुल्यता भगवान् की कथा को निरूपण की है।

यदि शंका करो कि पुत्र जन्म आदि श्रवण करने से भी आनन्द उत्पन्न होता है, तथा पुत्र पितृ ऋण से भी मुक्त करता है, अतः कुछ धर्म की समानता से पुत्र जन्म श्रवण मङ्गल है, तो फिर कथा में क्या विशेषता हुई। इस शंका का निवारण गोपियां करती हैं कि (श्रीमत्) पुत्र जन्म आदि से धन का व्यय—खर्च होता है, धन आता नहीं है। किन्तु कथामृत तो लक्ष्मी जी को भी अपेक्षित है, इस लिये लक्ष्मीयुक्त है।

कथामृत से श्रवण करने वाले तथा कहने वाले को धन की सिद्धि होती है, तो फिर यदि शंका करो कि राज्य प्राप्ति के श्रवण से भी लक्ष्मी जी की सिद्धि होती है, तो फिर कथा में विशेषता क्या होगी।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (आततम्) भगवान् का कथामृत आ—सर्वत्र ततम्-व्याप्त है, और राज्य आदि तो परिच्छिन्न है, अर्थात् अमुक देश में ही सीमित होता है, भगवान् का ऐश्वर्य तो परिच्छिन्न नहीं है, सर्व के भीतर

बाहर सर्वथा व्याप्त है, उसी प्रकार कथामृत फिर सर्व लोकों को व्याप्त करके रहता है, अपनी सामर्थ्य सर्वत्र ही संपादन करता है।

इस प्रकार 'श्रीमत्' विशेषण से 'श्री' का तथा 'आततं' इस विशेषण से ऐश्वर्य का निरूपण किया है।

इस प्रकार भगवान् की कथा में छै गण हैं भगवत्कथा भगवान् के तुल्य है, यह सिद्धान्त इस प्रकार प्रतिपादन किया है। कारण कि यह सिद्धान्त युक्त भी है, श्रुति में 'नामरूपे व्याकरवाणि' इस प्रकार नाम और रूप की तुल्यता निरूपण की है, इसी से 'आच्छिद्य कीर्ति सुश्लोक्यां वितत्य' इस प्रकार कह कर 'तमोऽनया तरिष्यन्तीत्याना-त्स्वं पदमीश्वरः' इस कीर्ति से मनुष्य तम को तर जायेंगे, इस बात का विचार कर भगवान् अपनी कीर्ति का विस्तार करके आप अपने धाम को पधारे' इससे भगवान् ने अपनी कीर्ति में अपना भार स्थापित कर दिया, इस प्रकार भी एकादश स्कन्ध में कहा है। और 'कृष्णे स्वधा-मोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह। कलौ नष्टदशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः' इस प्रकार नामात्मक भागवत प्रथम स्कन्ध में कृष्णतुल्यता निरूपण की है, इसलिये गोपियां कहती हैं कि स्वरूप धे तथा धर्म से आपके सट्टा आप की कथा है।

इस आपकी कथा से ही हमारा जीवन है, स्वतः नहीं है, अर्थात् अपने आप प्रयत्न से जीवन नहीं है।

इस प्रकार गोपियों के कथन से भगवान् की कथा का उत्कर्ष-श्रेष्ठता का भी वर्णन किया गया है।

गोपियां कहती हैं कि आप कभी हमको मारते भी हो, किन्तु कथामृत तो उस समय भी हमको जिलाता ही है।

भगवान् के समय में भी आपकी कथा हमको जिलाती है, इस प्रकार गोपियों के कथन से भगवान् की अपेक्षा भी भगवान् की कथा को उत्तम सा बतलाई है, परन्तु भगवान् में इतनी बात विशेष है कि भगवान् रसदान करने में स्वतन्त्र हैं, और कथामृत परतन्त्र है, कारण कि कथामृत पान करने में वक्ता की आवश्यकता रहती है। अर्थात् कथामृत पान सहाय सङ्गसापेक्ष है।

जिस समय ब्रह्मादि देवता आपकी प्रार्थना करते हैं, उस समय आप भूमि में अवतार लेकर पधारते हो, और पधार करके भी तिरोहित हो जाते हो, किन्तु आपकी कथा तो यहाँ आकर कभी तिरोहित नहीं होती है, इसी से इस प्रकार का आपका कथामृत जो पृथिवी में गान करते हैं, वेही 'भूरिदाः' बहुत अर्थ के देने वाले हैं।

ये—अर्थात् जो प्रसिद्ध व्यासादिक हैं वे बहुत देने वाले, एवं केवल भगवद्रूप अथवा जन्म आदि दोष रहित हैं, 'भूरिदाश्च ते अजनाश्च' इस प्रकार समस्त एक पद का अर्थ है।

यद्यपि भगवान् का स्वरूप और कथा तुल्य है, तथापि द्रवीभूत कथामृत केवल मरण समय में, मरणनिवर्तक ही है, किन्तु घनीभूत रस की तरह एकत्र मिल कर—अर्थात् घनीभूत होकर रस उत्पन्न नहीं करता है, अर्थात् आपका स्वरूप घनीभूत रस है, और आपकी कथा द्रवीभूत रस है, इस प्रकार द्रवीभूतरस और घनीभूत रस में जितना अन्तर है, उतना आप, आप की कथा में और आप में विशेष है, यदि आप की कथा से आप में विशेषता न होती तो फिर हमसब आपकी कथा के लिये ही प्रयत्न करतीं, आपके लिये नहीं करतीं।

गोपियों के उक्त विचारपूर्वक कथन से, भगवान् की कथा से भगवान् का स्वरूप उत्तम है, इस प्रकार निश्चय हुआ है।

कथा का उपयोग तो विरह में जब मरण उपस्थित हो जाता है, तब मरणनिवृत्त करने के लिये ही होता है। इसीलिये भगवान् के तुल्य कथा की स्तुति की जाती है। इसी कारण से भगवान् की कथा कहने वाले मुनियों ने लोकों के लिये बहुत दिया है, कारण कि कथावश से आपके विरह में भी हम सब गोपियों का जीवन हो रहा है।

उक्त कथन से यहाँ व्यङ्ग्य द्वारा यह भी सूचित होता है कि अन्य गोपियों के द्वारा कही कथा को जीवन सम्पादकत्व है, इस प्रकार उक्त वचन राजस सात्विकी गोपी ने कहा है ॥ ९ ॥

(सुबो०) तामस्याः वचनमाह प्रहसितमिति ।

अब राजस तामसी गोपी का वचन शुक्रदेव जी कहते हैं।

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।

रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥ १० ॥

पदपदार्थ—(हे प्रिय) हे प्यारे (ते) आपका (प्रहसितं) अत्यन्त हास्य (प्रेमवीक्षितं) प्रेम से देखना (विहरणं च) वेणुवादन आदि क्रिया करते हुए त्रिभङ्गललित चाल से ब्रज में आना (ध्यानमङ्गलम्) ध्यान ही मङ्गल (याः) और जो (हृदिस्पृशः) हृदयगामिनी—हृदय का स्पर्श करनेवाली (रहसि) एकान्त में (संविदः) ज्ञानरूप भगवान् की वाणियां हैं, वे सर्व (हे कुहक) हे कपटी (नः) हमारे (मनः) मन को (हि) निश्चय (क्षोभयन्ति) क्षोभ करती हैं ॥ १० ॥

भाषार्थ—हे प्रिय आपका अत्यन्त हास्य, प्रेम से देखना, और वेणुवादन आदि क्रिया करते हुए त्रिभङ्गललित चाल से ब्रज में आना तथा ध्यान मङ्गल, और जो हृदय स्पर्श करनेवाले एकान्त में वाक्य हैं, ये सब हे कपटी हमारे मन को क्षोभ करते हैं ॥ १० ॥

(सुबो०) यद्यपि कथया स्थातुं शक्यते, यदि त्वदीयैर्धर्मैः क्षोभो नोत्पादितः स्यात् । यथा भगवति षड्गुणाः सन्ति, तथा षट् तथा व्यामोहका अपि गुणाः सन्ति । अन्यथा कथयैव चरितार्थता स्यात् । तदर्थं भगवान् मायया कुहकलीलामपि करोतीति स्वस्वभावदोषात् भगवति तथा स्फूर्तिरिति । यथा ज्वरितस्य अन्ने विरसताप्रतीतिः । अत आह । तव प्रहसितादिकं नो मनः क्षोभयतीति । प्रकर्षेण हसितम् स्वभावत एव खिन्ना तां त्यक्त्वा अन्यया सह स्थित इति । ततश्चेत् समागत्य प्रकर्षेण हसति, सुतरां क्षोभं प्राप्नोति । प्रियेति सम्बोधनात् तव सम्बन्धोऽपि स्मृतः क्षोभजनको जायते । अत एव यासां न सम्बन्धः, तासां न क्षोभः । किञ्च, तव यत्प्रेमवीक्षितं प्रेम्णा वीक्षितं तदपि क्षोभयति । स्मृतं सत् । अन्यविषयकं वा विश्वासजनकत्वाद्वा अन्तः कपटरूपमिति क्षोभजनकम् । अन्यथा कार्ये विसंवादो न स्यात् । मनस उत्तोलकं वा । आशाजनकम् । आशया च श्रमः । तव विहरणमपि क्षोभजनकम् । विहरणं यच्चलनं वेणुवादनादिना ।

रसो भगवदीय आकाराद्वहिः स्थाप्यत इति विशेषेण हरणं यस्मादिति त्रिभङ्गल-
लितादिकं भवति । तत्पूर्वमस्माभिर्ध्यातमिति ध्यानं एव मङ्गलं त्वलक्षणं शुभ-
फलं प्रयच्छतीति । तदपीदानीं क्षोभजनकम्, तिरोहितत्वात् । ते इति सर्वत्र
सम्बन्धः । अन्यन्माययापि करोतीति मुख्यतया भवोक्तिः । एवं रूपसम्बन्धे
चतुष्टयं क्षोभकमुक्तम् । नामसम्बन्धि द्वयमाह रहसि संविद इति । या हृदि
स्पृश इति । रहसि एकान्ते संविदो ज्ञानरूपाः भगवद्वाचः । ज्ञानान्येव वा शास्त्र-
जनितानि बन्धाद्यभिज्ञारूपाणि या वाचो हृदिस्पृशः हृदयगामिन्यो भवन्ति ।
अस्मदनुगुणा एव बन्धसंविदो वा । न तु केवलं नायकानुगुणाः । अत एवमेते
सुखहेतवोपि, भवान् वञ्चयति चेत्, तदा क्षोभं जनयन्ति । अयमर्थः सर्वानुभवसिद्ध
इत्याह हीति ॥ १० ॥

यद्यपि आपकी कथा से हम सब जी सकती हैं, तथापि जो आप के धर्म क्षोभ उत्पन्न
नहीं करें तो हम कथा से जी सकती हैं ।

जिस प्रकार भगवान् में पूर्वोक्त ऐश्वर्यादि छै गुण हैं, उसी प्रकार भगवान् में मोह करने
वाले भी छै गुण हैं, नहीं तो कथा से ही चरितार्थता—हमारा कार्य सिद्ध हो जाता ।

कथा में भी हमारी निष्ठा मन में क्षोभ के कारण यथावत् नहीं रहती है, यदि कहो कि
भगवान् में मोह करने वाले छै गुण हैं, इसमें क्या प्रमाण है ?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि मोह करने के लिये भगवान् माया से कपट लीला
को भी करते हैं, अतः मोह करनेवाली कपट लीला ही प्रमाण है ।

यदि कहो कि भगवान् में इस प्रकार का दोष आरोप करना अनुचित है । इसके उत्तर
में कहते हैं कि यद्यपि भगवान् कपट लीला नहीं करते हैं, तथापि अपने स्वभावदोषसे जीव को

भगवान् में कपट लीला की स्फूर्ति होती है, जिस प्रकार ज्वर वाले मनुष्य को अन्न में विरसता
की प्रतीति होती है, उसी प्रकार गोपियों को अपने स्वभाव दोष से भगवान् कपटी लगते हैं, गोपियां

वास्तव में भगवान् कपटी नहीं हैं, अपने स्वभाव दोष से भगवान् के कपटी लगने से ही गोपियां
कहती हैं कि आपका हास्य आदि हमारे मन को क्षोभ उत्पन्न करता है, (प्रहसितं) अत्यन्त

आपका हंसना, इत्यादि कहनेवाली गोपियां अपने स्वभाव से ही दुःख-खेद पा रही हैं कि हमारा
त्याग कर भगवान् दूसरी गोपी के साथ स्थित हैं ।

यदि वहां से आकर के भगवान् अत्यन्त हँसते हैं, तो हम निरन्तर क्षोभ को प्राप्त
होती हैं ।

'हे प्रिय' सम्बोधन से गोपियां यह सूचित करती हैं कि आपका सम्बन्ध भी स्मरण करने
पर क्षोभ उत्पन्न करनेवाला होता है, इसी से यह भी सूचन कर दिया है कि जिन गोपियों का

भगवान् से सम्बन्ध नहीं हुआ, उनको क्षोभ नहीं होता है ।

अब गोपियां क्षोभजनक भगवान् का अन्य गुण भी कहती हैं (प्रेमवीक्षणं) जो आपका
प्रेम से देखना है, वह भी हमारे मनको क्षोभ उत्पन्न करता है ।

अब गोपियां भगवान् के प्रेम से वीक्षण को तीन प्रकार से क्षोभ उत्पन्न करने वाला
कहती हैं ।

१. 'स्मृतं सत्' संयोगदशा में आप हमको प्रेम से देखते हो, वियोगदशा में प्रेमवीक्षण का
स्मरण क्षोभ उत्पन्न करता है ।

२. 'अन्यविषयकं' जब आप अन्य नायिका को प्रेम से देखते हो तो वह आप का देखना
हमको क्षोभजनक होता है ।

३. अथवा आप हम को जब प्रेम से देखते हो, तब हमको विश्वास उत्पन्न होता है, किन्तु
भीतर से कपट रूप देखना है, इसलिये क्षोभ उत्पन्न करता है । नहीं तो—यदि क्षोभ उत्पन्न न
हो तो कार्य में विसंवाद विरोध नहीं हो ।

अथवा आपका प्रेम से देखना हमारे मन की परीक्षा करनेवाला है, जबकि हमारा प्रेम
उत्तमोत्तमता से प्रसिद्ध है, फिर हमारे प्रेम की परीक्षा करने से मन को क्षोभ ही होता है ।

अथवा आपका प्रेम से देखना हमको आशा उत्पन्न करनेवाला है, आशा से श्रम हो रहा
है और श्रम से क्षोभ उत्पन्न हो रहा है ।

अब गोपियां भगवान् का अन्य मोहक गुण कहती हैं ।
(विहरणं) आपका विहरण भी क्षोभ उत्पन्न करता है । विहरण—अर्थात् वेणु वादन

आदि क्रिया करते करते भगवान् का चलना ।

जिस समय भगवान् त्रिभंग ललित स्वरूप से व्रज में पधारते हैं, उस समय वेणुनाद द्वारा
स्वामिनियों के भीतर स्थित भगवदीय रस को बाहर प्रकट करते हैं, नाद के श्रवण से गोपियों में

पुलकावलि आदि हो जाती हैं, इस प्रकार भगवदीय रस वेणुनाद द्वारा बाहर प्रकट करते हो ।

भगवदीय रस का विशेष करके हरण-बाहर स्थापन जिस स्वरूप से उस प्रकार का स्वरूप
त्रिभङ्ग ललित आदि होता है, वह हमारे मन को क्षोभ उत्पन्न करता है, इस प्रकार का आपके

स्वरूप का पहले हमने ध्यान किया था, और इस प्रकार का ध्यान ही मङ्गल, स्वयं प्रभुरूप
शुभफल को देता था, किन्तु इस समय वह आपका ध्यान क्षोभ उत्पन्न कर रहा है, कारण कि

आपका ध्यान भीतर भी नहीं हो रहा है, तिरोहित है ।

गोपियों को इस समय भगवान् हमारे भीतर स्थित है, इस प्रकार का ज्ञान भी भगवान्
नहीं करा रहे हैं, इसलिये गोपियां इस प्रकार से कह रही हैं ।

मूल श्लोक में 'ते' पद है, इसका सम्बन्ध प्रहसित आदि सभी में करना चाहिये, अर्थात्
आपका प्रहसित, आपका वीक्षण, इस प्रकार ।

यदि शंका करो कि सर्वत्र ही जब ते पद का सम्बन्ध है तो प्रथम (प्रहसितं) इसके पास में
ही ते शब्द का प्रयोग करना था, आगे क्यों किया ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् अन्य सब भाषा से भी करते हैं, अतः मुख्यता
से 'ते' पद का प्रयोग 'विहरणं, ध्यान मङ्गल' इन दो पदों के साथ किया है ।

इस प्रकार भगवान् के रूप सम्बन्ध में, १. प्रहसित २. प्रेमवीक्षित, ३. विहरण ध्यान
मङ्गल, और 'प्रिय' संबोधन से सूचित चार सम्बन्ध क्षोभ उत्पन्न करनेवाले कहे हैं, उक्त चौथा

सम्बन्ध लेखकार ने कहा है ।

मूल के अनुसार प्रायः 'प्रहसित' 'प्रेमवीक्षित' 'विहरण' और 'ध्यान मङ्गल' इस प्रकार
चार होते हैं ।

इस प्रकार भगवान् के रूप संबंधी चार पदार्थों का निरूपण करके गोपियां अब नाम
संबंधी दो पदार्थों का वर्णन करती हैं कि 'रहसि संविदः' 'इति' 'या हृदिस्पृशः' इति ।

रहसि-एकान्त में संविदः-ज्ञानरूप भगवान् के वचन अथवा संविद-ज्ञान ही कामशास्त्र आदि में कहा बन्ध आदि अभिज्ञान, अर्थात् कामशास्त्रोक्त बन्ध आदि का ज्ञान कराने के वचन, इसमें भी भगवान् की वाणी 'हृदि स्पृशः' हृदय में प्रविष्ट होनेवाली होती है।

अथवा हमारे-गोपियों के अनुकूल ही बन्ध आदि का ज्ञान, केवल नायक के अनुकूल नहीं, इस प्रकार का ज्ञान संविद है, अतः इस प्रकार आपके पूर्वोक्त गुण सुख के हेतु होते हुए भी, जिस समय आप हमसे बन्धन-कपट करते हो, उस समय पूर्वोक्त गुण क्षोभ उत्पन्न करते हैं, यह अर्थ सर्व के अनुभव सिद्ध है, इस बात को गोपियां 'हि' शब्द से कहती हैं ॥ १० ॥

(सुबो०) राजस्या वचनमाह चलसीति ।

अब शुक्रदेव जी राजस-राजसी गोपिका वचन कहते हैं ।

चलसि यद्व्रजाच्चारयन्पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—(हे नाथ) हे स्वामी (यत्) जिस समय (व्रजात्) व्रज से (पशून्) पशुओं को (चारयन्) चराते हुए (चलसि) आप चलते हो उस समय चलने में (नलिनसुन्दरं) कमल की अपेक्षा भी कोमल (ते) आपका (पदम्) चरण (शिलतृणाङ्कुरैः) पत्थर तृण कुश आदि से अथवा शिलारूप तृण-कठिन तृणों के अङ्कुर अति कठोर तीक्ष्णों से (सीदति) क्लेश को प्राप्त होता है, (इति) इस कारण से (हे कान्त) हे पति (नः) हमारा (मनः) मन (कलिलतां) गहनता को, अर्थात् खेद को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

भाषार्थ—हे नाथ जिस समय आप व्रज से पशुओं को चराते हुए चलते हो, उस समय कमल की अपेक्षा भी कोमल आपके चरण पत्थर तृण कुश आदि के अङ्कुरों से पीड़ित होते हैं, इससे हे कान्त हमारा मन गहन विचार करता है, खेद को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

(सुबो०) अस्माकं तु स्नेहवशात् त्वद्विषयिका समीचीनेऽपि खेदबुद्धिर्जायते, यत् तव तु नास्मद्विषयिणी सत्यखेदेपि जायत इति न्यायविरोधमिवाह । नाथ, व्रजात्पशून् चारयन् चलसि । तत्र चलने नलिनापेक्षयापि सुन्दरं कोमलं, हे नाथ, ते पदं मार्गस्थितैः शिलतृणाङ्कुरैः, शिलाः पाषाणाः, तृणानि, अङ्कुराः दर्भदीनाम्, कठिन-तामसानि सात्त्विकानि राजसानि । अथवा शिलारूपं यत्तृणं शिलतृणं कठिन-तृणम्, तस्याङ्कुरैः अतिपरुषतीक्ष्णैः सीदतीति क्लेशं प्राप्नोतीति, वस्तुतो न प्राप्नोत्येव, तथापि हे कान्त भर्तः मनः कलिलतां गच्छति । व्रजादिति प्रातरारभ्य खेदः सूचितः । चलनादेव च खेदः । अतः प्रथमतस्तदेवोक्तम् । वस्तुस्तु तव पदे अस्मत्स्थानं विहाय न गच्छतः तथापि भवानेव तथा चालयति । अतः व्रजस्थिता गावः अरण्ये नीयन्ते, तासां चारणं न मार्गगमनेन भवति । चर्म अमार्गंऽपि गन्तव्यम् । भूम्यादीनां अनुग्रहार्थं न पादुकाग्रहणम्, पाल्यानां च न परिधेयम् । अतो नलिनसुन्दरं पदमेव शिलतृणाङ्कुरैः सीदति । जले एव स्थातुं योग्यम् । जलपूर्णं वा नलिनादपि सुन्दरं चेत्, लक्ष्म्यामस्मासु वा स्थातुं

योग्यम् । नाथेति सम्बोधनात् बहव एवात्रार्थे नियोज्याः सन्ति, तथापि स्वयमेव गच्छसीति । वने हि त्रिविधा भूमिः, पर्वतरूपा अरण्यरूपा कच्छरूपा च । तत्र क्रमेणैकमेकत्र भवति, सर्वं वा सर्वत्र । अवसादः अशक्त्या एकत्र स्थितिः । तदा चिन्ता भवति । स्वयं गत्वा स्वहृदये स्थापनीयमिति । मनःकान्तेति च । तेन मनःस्थापितमपि न तिष्ठतीति ॥ ११ ॥

हम गोपियों को स्नेहवशा से जिस समय आपको यथार्थ में खेद नहीं होता है, उस समय भी खेद बुद्धि होती है, और आपकी तो हमको यथार्थ में खेद होते हुए भी खेद बुद्धि नहीं होती है, इस प्रकार न्याय विरोध प्रकार को गोपियां कहती हैं कि जिस समय आप व्रज से पशुओं को चराते हुए चलते हो, उस समय आपके चलने में कमल की अपेक्षा से भी सुन्दर-कोमल हैं नाथ आपका चरण मार्ग में स्थित (शिलतृणाङ्कुरैः) शिला-पत्थर, तृण और दर्भ आदि के अङ्कुरों से कष्ट पाता है, उक्त तीनों क्रम से तामस सात्त्विक राजस हैं ।

अथवा 'शिलतृणाङ्कुरैः' इस पद का अन्य प्रकार से समास है, शिलारूप जो तृण, वह शिल-तृण-कठिनतृण उसके अङ्कुर अति परुष तीक्ष्ण, उनसे आपका चरण 'सीदति' क्लेश को प्राप्त होता है, इस कारण से हमारा मन खेद को प्राप्त होता है, वास्तव में तो आपको क्लेश होता ही नहीं है ।

तथापि हे कान्त, हे भर्ता हमारा मन खिन्न होता है । 'व्रजात्' यह पद मूल में कहा है, इस पद से यह सूचित किया है कि प्रातः काल से लेकर ही हम को खेद होता है, और आपके चलने से ही खेद होता है, इसलिये श्लोक में प्रथम 'चलसि' इस पद से भगवान् का चलना कहा है ।

भगवान् के चलने में पशु चराना हेतु कहा है, अतः भगवान् को तो पशुओं को चराना अभीष्ट है, और उसके लिये चलना भी अभीष्ट है, किन्तु भगवान् के चरणों को चलना अभीष्ट नहीं है, इस उक्त आशय से गोपियां कहती हैं कि, वास्तव में तो आपके चरण हमारे स्थान को छोड़ कर नहीं चलते हैं, तथापि आप ही अपने चरणों को हमारे स्थान से छुड़ाकर अन्य स्थान में चलाते हो, कारण कि आपके चरणों को हमारा स्थान ही अभीष्ट है, अतः आपको व्रज से चलने में चरणों को ही कष्ट होता है, आपको नहीं होता है, तो भी हमारा मन क्लेश को प्राप्त होता है ।

अब आपके चरणों के दुःख का विचार करके भी हमारा मन खिन्न होता है, इस बात को गोपियां कहती हैं ।

आप व्रज में स्थित गायों को वन में ले जाते हो, गायों का चराना सीधे मार्ग जाने से नहीं होता है, अतः अमार्ग में भी जाना पड़ता है, पृथिवी आदि के ऊपर अनुग्रह करने के लिये आप पादुका भी पहिनते नहीं हो, कारण कि चर्म परिधान का निषेध है, इसीलिये चर्ममयी पादुका आप नहीं पहिनते हैं, और लकड़ी की पादुकाओं को पहिनकर बहुत दूर तक चल नहीं सकते हैं, इस लिये लकड़ी की पादुकाओं का भी आपने ग्रहण नहीं किया है ।

यदि शंका करो कि आवश्यक व्यवधान से भूमि के ऊपर अनुग्रह करने में बाध नहीं होता है, जिस प्रकार शीतल आदि करने के लिये अपेक्षित कुंकुम के व्यवधान से स्तनों के स्पर्श में बाधा नहीं होती है, उसी प्रकार भूमि पर अनुग्रह करने में किसी प्रकार का बाध नहीं होता

इस प्रकार पाँचवें श्लोक से लेकर ग्यारहवें श्लोक तक—सात श्लोक में सात प्रकार की अनन्य पूर्वा—कुमारिका निरूपण की हैं, सात्त्विक सात्त्विकी, सात्त्विक तामसी, सात्त्विक राजसी, निगुण, राजस सात्त्विकी, राजस तामसी, राजस राजसी, इस प्रकार सप्तनिरूपण की हैं, और प्रथम के चार श्लोकों में चार प्रकार की अन्यपूर्वा—श्रुतिरूपा निरूपण की हैं, प्रथम चार श्लोक से कहीं अन्यपूर्वा सात्त्विक राजसी, सात्त्विक तामसी, सात्त्विक सात्त्विकी और निगुण हैं।

अब आगे बारह से सत्रह श्लोक, अर्थात् छः श्लोकों में क्रम से छः अन्यपूर्वा—श्रुतिरूपा गोपियों का निरूपण है, इसमें प्रथम-बारहवें श्लोक में राजस तामसी अन्यपूर्वा का वचन है।

अन्यपूर्वा बाहर जाकर भगवान् का दर्शन नहीं कर सकती हैं, इसलिये जब संध्या समय भगवान् व्रज में आते हैं, तब भगवान् का दर्शन करके मन में कामभाव होता है, अर्थात् अन्यपूर्वा पति आदि के अनुरोध से दिन में वन नहीं जा सकती हैं, इसलिये दिन में कुछ प्रयोजन न होने से इनमें कामभाव का सम्पादन नहीं है, किन्तु इनको गुणगान से ही रमण है, रात्रि में इनके साथ भगवान् का रमण होता है, इसलिये संध्या समय में इनके उपयोगी कामभाव का संपादन भगवान् करते हैं, और अनन्यपूर्वा...कुमारिकाओं के साथ दिन में भी भगवान् के रमण का संभव होता है, इसलिये कुमारिकाओं के, उपयोगी निन्य ही काम है।

अनन्यपूर्वा अग्निकुमारों की तरह अन्य गोपियाँ भी उसी प्रकार की हैं—अर्थात् नित्य कामवाली हैं। इसलिये कुमारिकाओं के साथ रात्रि में भी विवाहित न्याय से रमण है, इसलिये पूर्वोक्त से विरोध नहीं है, यहाँ सत्त्व आदि भेद समयभेद से एक में भी बहुत प्रकार से हैं।

फिर दो श्लोकों में प्रार्थना एक गोपी कृत भी सम्भव हो सकती है, इस आशय से कहते हैं कि, 'ततः' अनन्तर अनन्य पूर्वा गोपी कामदान लीला का स्मरण करती है, और उससे उद्बुद्ध-जागृत काम होता है, कारण कि अनन्य पूर्वा गोपियों में नित्य काम है, इसलिये काम दान कथन के बिना ही 'व्रजजनातिहन्' 'प्रणतदेहिनां' इन ६-७-दो श्लोकों में रजोगुणभाव से बन्ध प्रार्थना और 'मधुरया गिरा' इस ८ वें श्लोक में सतोगुण भाव से अधरामृत की प्रार्थना की है।

कोई कहते हैं कि 'मधुरया गिरा' इसमें निगुण है।

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।

धनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥१२॥

पदपदार्थ—(दिनपरिक्षये) संध्या समय में (नीलकुन्तलैः) काले केशों से (आवृतम्) ढका (धनरजस्वलम्) गायों की रज से व्याप्त (वनरुहाननं) कमल सदृश मुख को (बिभ्रत्) धारण करते हुए (मुहुः) बारंबार (दर्शयन्) दिखाते हुए (हे वीर) हे वीर आप (नः) हमारे (मनसि) मन में (स्मरं) काम को (यच्छसि) देते हो ॥१२॥

भाषार्थ—हे वीर संध्या समय में नीलकेशों से ढका तथा गायों की रज से व्याप्त कमल की तरह मुख को धारण करते हुए आप इस प्रकार के मुख का बार-बार दर्शन कराकर हमारे मन में कामभाव को देते हो ॥१२॥

(सुबो०) दिनपरिक्षये संध्याकाले । क्षयोक्त्या दिने द्वेष्टत्वं ज्ञाप्यते । रजो-गुणस्यायं समयः, कामस्य च कालः । नीलकुन्तला भ्रमरा इव रसबोधकाः । ये हि मुखकमललावण्यामृतं पिबन्ति, ते उद्बोधका भवन्ति । अतस्तैरावृतं वनरुहवत् कमलवत् आननं बिभ्रत्, हे वीर, नः मनसि स्मरं यच्छसि । सन्ध्यायां

नीलवर्णैरावृतत्वे तत्प्रभाव्याप्तत्वं भवतीति तदुक्त्या, वनरुहोक्त्या च कुवल्याभत्वं ज्ञाप्यते । तथा च प्रियामुखेन्दुदर्शनेनोत्तरोत्तरमधिकविकासवत्त्वमितः पूर्व-मतादृशत्वं च ज्ञाप्यते । तेन प्रियस्य सर्वास्वासक्तिः सूचिता भवति । अत एव जलगदं विहाय वनपदमुक्तम् । तेन वने यावस्था तां ज्ञापयितुं तान् धर्मान् बिभ्रदेवाननं दर्शयतीति ध्वन्यते । धनेन गोभिः रजस्वलम् । मुहुश्च प्रदर्शयन् । भव्येभ्यो गच्छन् उभयतः स्थिता गोपीः पर्यायेण पश्यति । अतो मुहुः प्रदर्शनम् । अग्रे गच्छन् पुनः पुनर्व्याधुट्य पश्यतीति वा तथा । तादृशदर्शनं स्वापेक्षा-ज्ञापकमिति स्मरणजनकम् । निरन्तरदर्शनेन तत्रैव रसास्वादनमिति न स्मरो-त्पत्यवसरः स्यात् । अतो वारं वारं प्रदर्शनं स्मरणेः संधुक्षणमिव भवति । तादृशं कृत्वा तत्पूरणार्थं तन्निराकरणार्थं वा युद्धमवश्यं कर्तव्यम् । तत्सूचयन्ति वीरेति । धनेन रजस्वलं च श्रमसूचकं भवति । श्रमनिवृत्तिश्चा-स्माभिरेव । वनरुहमिति । वन एवैतत्सर्वथा भोग्यम् । अनोऽत्रैव समागम-नम् । अनेन गृहे रतिं दास्यामीति पक्षो व्यावर्तितः । बिभ्रदिति बलात्कारेण ता-मेवावस्थां स्थापयति । यदि मुखसंमार्जनं कृत्वा समागच्छेत्, तदा प्रसन्नमुख-दर्शनात् ज्ञानं वा भवेत् । धनसम्बन्धि रज इति काम एव, न तु क्रोधः । यथा पात्रं धृत्वा तत्स्थितमन्नं भोगार्थं दीयते, तथा मुखं धृत्वा तत्रत्यो रसः कामात्मा मनसि स्थाप्यत इति मुखधारणस्य हेतुत्वम् । अतो भोगार्थं दत्त इति भोग-करणीयः । अयं काम आगन्तुक इति नास्यान्येन पूरणं भवति ॥ १२ ॥

'दिनपरिक्षये' इस पद में दिन का क्षय कहा है, इससे दिन के ऊपर गोपियों ने अपना द्वेषभाव सूचन किया है।

इस प्रकार कहनेवाली गोपी राजस तामसी है, कारण कि संध्या समय रजोगुण का है, इस समय में सब लोग गायों के दोहन आदि करने में व्यग्र रहते हैं, यह काल तमरूप काम का उद्बोधक है, इसलिये यह काल राजस तामस है, इस समय की लीला वर्णन करने से इस गोपी को भी राजस तामसीत्व है।

भगवान् के नीलकेश भ्रमरों की तरह रसका बोध करनेवाले हैं, और जो भगवान् के मुख-कमल में लावण्यरूपी अमृत है, उसका पान करते हैं, ये रसको जागृत करनेवाले होते हैं, अतः नीलकेशों से आवृत-ढका कमलसदृश मुख को धारण करते हुए आप हे वीर हमारे मन में काम-दान करते हो।

अब इस पर प्रभुचरण का स्वतन्त्र लेख है, उसकी भाषा कहते हैं सन्ध्या समय में भग-वान् का मुख नीलवर्णवाले केशों से आवृत कहा है, अतः नील केशों की प्रभा से मुख भगवान् का व्याप्त होता है, इसलिये आपका अधर, तथा नेत्रों में लालिमा की प्रतीति नहीं होती है, इस प्रकार वर्णन से तथा वनरुह के वर्णन से भगवान् के मुख की शोभा कुवलय-रात्रि विकासी कमल के सदृश ज्ञापन की है, जिस प्रकार रात्रिविकासी कमल चन्द्रदर्शन से भगवान् का मुखकमल उत्तरोत्तर होता है, उसी प्रकार प्रिय गोपियों के मुखरूपी चन्द्रदर्शन से भगवान् का मुखकमल उत्तरोत्तर

अधिक विकसित होता है, अब से पूर्व जबतक गोपियों के चन्द्रमुख का दर्शन नहीं होता है, तब तक विकसित नहीं होता है, इस प्रकार कहने से भगवान की सर्व गोपियों में आसक्तिसूचन की है, इसी आसक्ति के कारण मूल में जल पद को छोड़कर वन पद कहा है, 'अर्थात् 'जलरुहानन' न कहकर 'वनरुहानन' कहा है। वन में से भगवान व्रज में पधार करके भी गोपियों में आसक्ति होने के कारण से रमण करने के लिये फिर वन में प्रवेश करेंगे अर्थात् भगवान वन में ही रहते हैं, यह सिद्ध हुआ।

वन में रहने के कारण वन में कुवलय की जिस प्रकार की अवस्था होती है, उस अवस्था का ज्ञान कराने के लिये भगवान कुवलय—रात्रिविकासी कमल के धर्मों को धारण करनेवाले मुख का दर्शन कराते हैं, यह ध्वनि है।

'धनेन' अर्थात् गोधन—गायों के चरण रज से भगवान का मुख व्याप्त हो रहा है, इस प्रकार के मुख का दर्शन भगवान बारंबार कराते हैं।

मार्ग के मध्य भाग में भगवान पधारते हैं, और दोनों तरफ खड़ी गोपियों को पर्याय से—कभी इधर की तरफ कभी उधर की तरफ, इस प्रकार दोनों ओर क्रम से देखते हैं, इसलिये बारंबार मुख का प्रदर्शन कराना कहा है।

अथवा भगवान आगे गमन करते-करते पुनः-पुनः बारंबार पीछे की तरफ मुख फेरकर गोपियों की तरफ देखते हैं। अतः अपना मुख बारंबार दिखाते हैं।

इस प्रकार बारंबार अपना मुख दिखाकर भगवान अपनी गोपियों के प्रति अपेक्षा-इच्छा जापन करते हैं, इस इच्छा से गोपियों में काम उत्पन्न होता है।

यदि भगवान गोपियों को निरन्तर अपना मुख दिखायें तो मुखदर्शन से गोपियों को उसी स्थान में रसका आस्वादन हो जाये, तो फिर कामोत्पत्ति का श्रवसर नहीं रहे, अतः बारंबार मुख का प्रदर्शन कामाग्नि में फूँक मारने की तरह होता है।

अपना बारंबार मुख दिखाकर भगवान फूँक से गोपियों का कामाग्नि वर्धन करके, उस कामाग्नि को पूरण करने के लिये अथवा उसको नष्ट करने के लिये भगवान को युद्ध अवश्य करना चाहिये, इस बात को गोपियाँ सूचन करती हैं। आगे संबोधन से, 'हे वीर' हे शूर।

गायों के खुरों की रज से व्याप्त आपका धूसरमुख श्रम सूचन कर रहा है, आपके श्रम की निवृत्ति हमारे-गोपियों के द्वारा ही होगी, अन्य से नहीं होगी।

भगवान का मुख वनरुह—कमल है, अतः वन में ही आपका मुख कमल सर्वथा भोग्य है, इसीसे आप वन में ही पधारें हो।

इस प्रकार गोपियों के कहने से यदि भगवान यह कहें कि गोपियों में घर में रतिदान करूँगा, यहाँ पर नहीं, तब उक्त पक्ष का निरास कर दिया है।

मूल में 'विभ्रत्' पद कहा है, यह इस बात को सूचन करता है कि बलात्कार से इस प्रकार की अवस्था को,—अर्थात् अलकों से आवृत गायों की रज से व्याप्त मुख को भगवान धारण करते हैं।

यदि भगवान अपने मुख को वन में ही धोकर आयें तो भगवान का प्रसन्न मुख देखकर गोपियों को ज्ञान उत्पन्न हो जाये। अर्थात् भगवान का श्री मुख भक्त्यात्मक है,—भक्तिरूप है, इसलिये स्नेह रस का अनुभव हो जाये, किन्तु इस समय भगवान का मुख गायों की रज से व्याप्त है, इसलिये स्नेह रस का अनुभव नहीं होता है, काम ही उत्पन्न होता है। उसी प्रकार क्रोध भी नहीं होता है, किन्तु काम ही उत्पन्न होता है।

जिस प्रकार पात्र में अन्न धरके, उसमें धरा अन्न भोग के लिये दिया जाता है, उसी प्रकार पात्ररूप श्रीमुख में धरके, उसमें धरा रस कामात्मा मन में स्थापित किया जाता है, यह गोपियों ने भगवान के मुख धारण में हेतु कहा है अर्थात् हमारे लिये कामदान करने के लिये आप इस प्रकार का श्रीमुख धारण करते हो, अतः सन्ध्यासमय आपने भोग करने के लिये हमको कामदान किया है, इसलिये आपको भोग करना चाहिये।

जिस काम का आप ने दान किया है वह काम आगन्तुक—आया हुआ है, इसलिये इसकी पूर्ति भोग करने से अतिरिक्त—आश्वासन आदि प्रकार से नहीं होगी, आप भोग करेंगे, तभी होगी ॥ १२ ॥

(सुबो०) तत उत्तमा अनन्यपूर्वावस्तनयोश्चरणधारणं प्रार्थयन्ति प्रणतेति ।

पूर्व १२ वें श्लोक में राजसतामसी अन्यपूर्वा गोपी ने प्रार्थना की है, अब इस १३ वें श्लोक में पूर्व गोपी से भी उत्तम अन्यपूर्वा राजसराजसी गोपी, अनन्यपूर्वा-कुमारिका ने जिस प्रकार सातवें 'प्रणतदेहिनाम्' इस श्लोक में स्तनों में चरण धरने की प्रार्थना की, उसी प्रकार यह राजसराजसी गोपीस्तनों में चरण धारण करने की प्रार्थना करती है।

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।

चरणपङ्कजं शान्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥ १३ ॥

पदपदार्थ—(हे रमण) हे रति करनेवाले (हे आधिहन्) हे मन की व्यथा को दूर करनेवाले पाठान्तर में (हे आतिहन्) हे चिन्तानाश करनेवाले (प्रणतकामदं) अनन्य शरणागत जीव की अभिलाषा पूर्ण करनेवाला (पद्मजार्चितं) ब्रह्माद्वारा अथवा लक्ष्मीद्वारा पूजित (धरणि-मण्डनं) पृथिवी का अलङ्काररूप (आपदि) दुःख में (ध्येयम्) ध्यान करने योग्य (शान्तमं) अत्यन्त कल्याणरूप (ते) आपका (चरणपङ्कजं) चरणकमल (नः) हमारे (स्तनेषु) स्तनों के ऊपर (अर्पय) धारण करो ॥ १३ ॥

भाषार्थ—हे रमण, हे आधिहरण करनेवाले, अथवा दुःखनाश करनेवाले, अनन्य शरणागत जीव की अभिलाषा पूर्ण करनेवाला, ब्रह्माद्वारा अथवा लक्ष्मीद्वारा पूजित, पृथिवी का अलङ्कार रूप, आपत्ति में ध्यान करने योग्य, अत्यन्त कल्याणरूप आप अपना चरण कमल हमारे स्तनों पर धरो ॥ १३ ॥

(सुबो०) अत एव न पौनरुक्त्यम् । परं पूर्वपिक्षयात्र चरणमहात्म्यम-विकम् । गुणाधायकमेतत् । पूर्व तु दोषनिवर्तकम् । हे रमण रतिकर्तः । नः स्तनेषु चरणपङ्कजमर्पय । प्रयोजनमाहुः अधिहन् इति । आतिहन् इति वा । हृदयतापः चिन्ता च निवारणीया । इष्टोपकारेणैव तापो गमिष्यति । अस्मा-भिर्हृदये स्थापितं न बहिः समायाति । अतस्त्वया बहिः स्थापनीयम् । चरण-पङ्कजस्यापि भगवत इव षड्गुणानाह । तत्र प्रथममैश्वर्यम् । प्रणतकामद-मिति । प्रकर्षेण ये नता अनन्यशरणाः तेषां कामदमभिलषितार्थदातृ । ईश्वर

एव तथाविधो भवति । तत्रत्यः कामः स्तब्धैर्ग्रहीतुं न शक्यत इति प्रणतत्वमुक्तम् । पद्मजार्चितमिति । धर्मरूपता निरूपिता । ब्रह्मप्रार्थनयैवात्रागतमिति । कीर्तिरूपतामाह धरणिमण्डनमिति । धरण्या मण्डनमलङ्करणरूपं श्रीरूपं वा । आपदि ध्येयं श्रीरूपं कीर्तिरूपं वा । पङ्कजसाम्यात् स्वरूपोत्कर्ष उक्तः । शान्तमं कल्याणतमम् । ज्ञानरूपम् । आर्तिहन्ति सन्बोधनात् ते चरणपङ्कजमिति सम्बन्धनिरूपणाद् वैराग्ययुक्तं च । रमणेतीष्टप्रापकः । आर्तिहन्तिनित्यनिष्ठनिवारकः । अथवा । यल्लोके पञ्चविधमुपकारं करोति, तदस्मात्स्वेकमेव करोत्विति प्रार्थ्यते । प्रणतासु कामं ददाति । तत्पूर्वमुक्तं 'मनसि न स्मरं वोर यच्छसी'ति । प्रकर्षेण नम्रेषु वा कामं द्यति खण्डयति । पद्मजेन पद्मजया वा अर्चितम् । ऐश्वर्यार्थं कामार्थं वा पद्मजैः अर्चितम् । तत्तुल्यं वा । अन्यथा तानि चरणपङ्कजजन्म कथं प्राप्नुयुः । धरण्यपि स्त्री अनलंकृता न भुज्यत इति तस्यां पदस्थापनम् । भगवदपेक्षयापि चरणो महान् । आपदि ध्यानमात्रेणैवापदं दूरीकरोतीति । यथैतेषां सर्वोपकारकर्तुं, तथास्माकमपि करोत्विति प्रार्थना । अनेन सर्व एव दुरतवन्धा आक्षिप्ताः ॥ १३ ॥

'प्रणतदेहिनां' इस सातवें श्लोक की कहनेवाली अनन्यपूर्वा कुमारिका है, और 'प्रणतकामदं' इस १३ वें श्लोक की कहनेवाली अन्यपूर्वाश्रुतिरूपा है, इसलिये कहने वालियों का भेद होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है, किन्तु पूर्व की अपेक्षा यहां भगवान के चरण का माहात्म्य अधिक कहा है, और यहाँ जो चरणकमल का वर्णन किया है वह भक्तों को गुणाधायक—कामादि देनेवाला कहा है । पहिले ७ वें श्लोक में जो चरण माहात्म्य कहा है, वह तो केवल दोषनाश करनेवाला कहा है, इसलिये यहाँ चरण का अधिक माहात्म्य वर्णन किया है । हे रमण, रति करनेवाले हमारे स्तनों के ऊपर आप अपना चरण पङ्कज धरो ।

स्तनों के ऊपर चरणकमल धरने का गोपियां कारण बताती हैं कि 'हे आधिहृद्' हे मन की व्यथा को हरण करनेवाले अथवा पाठान्तर में 'हे आर्तिहन्' हे दुःखहरण करनेवाले अर्थात् हृदयताप और चिन्ता आपको निवारण करनी चाहिये ।

अब गोपियां 'पङ्कज' पद का तात्पर्य कहती हैं ।

जिस प्रकार कमल हृदय पर रखने से ही ताप दूर करता है, यह प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार दृष्टोपकार से-देखेहुए उपकार से ही ताप दूर होगा ।

यद्यपि आपका चरणकमल भीतर हृदय में हमने स्थापन किया है, किन्तु बाहर नहीं आता है, अतः आपको उसका बाहर स्थापन करना चाहिये ।

अब आगे जिस प्रकार भगवान में छै गुण हैं, उसी प्रकार भगवान के चरणकमल में भी छै गुण हैं, इसका निरूपण गोपियां करती हैं ।

उसमें प्रथम गुण ऐश्वर्य है, उसका वर्णन करती हैं (प्रणत कामदमिति) प्रकर्ष से जो नत—अनन्य कारण हैं, उसको (कामदं) अभिलषित अर्थ आपका चरण देनेवाला है ।

अनन्य शरणागतों की अभिलाषा पूर्ण करनेवाला ईश्वर ही होता है, इच्छित पदार्थ दान करने का सामर्थ्य अन्य में नहीं होता है, ईश्वर के मन में देने की योग्यता से उपस्थित काम को स्तब्ध-ढीठ जो भगवान की शरण में नहीं आये, वे जीव ग्रहण नहीं कर सकते हैं, अतः यहाँ प्रणतत्व कहा है, जिन जीवों को इच्छित पदार्थ लेना हो, उन जीवों को स्तब्धता छोड़कर अनन्य भाव से भगवान की शरण में आने की आवश्यकता होती है ।

(पद्मजार्चितं) भगवान के चरण ब्रह्मा से पूजित हैं, उक्त विशेषण से भगवान के चरण को धर्म रूपता निरूपण की है, कारण कि ब्रह्मा धर्म बुद्धि से ही भगवान के चरण का पूजन करता है, गोपियों की तरह स्नेह से पूजन नहीं करता है, यह भाव है ।

ब्रह्मा भगवान के चरण का पूजन करता है, इसमें गोपियां हेतु कहती हैं, कि ब्रह्मा की प्रार्थना से ही भगवान यहां पधारे हैं । अब गोपियां भगवान के चरणों को कीर्तिरूपता बतलाती हैं ।

'धरणिमण्डनम्' भगवान् का चरण पृथिवी का अलङ्कार-भूषणरूप है । अथवा श्रीरूप है ।

'आपदिध्येयम्' भगवान् का चरण दुःख में ध्यान करने योग्य है, उक्त विशेषण से भगवान् के चरण को श्रीरूप अथवा कीर्तिरूप कहा है ।

भगवान् का चरण कमलसदृश है, इसलिये स्वरूप से उत्कर्ष कहती हैं 'शान्तमं' अत्यन्त कल्याणरूप है । इससे चरण को ज्ञानरूप कहा है ।

'आर्तिहन्' इस संबोधन से, तथा 'ते चरणपङ्कजं' इससे सम्बन्ध निरूपण करने से चरण-कमल को वैराग्ययुक्त निरूपण किया है । 'रमण' इस संबोधन से इष्ट वस्तु का देनेवाला कहा है, और 'आर्तिहन्' इससे अनिष्ट निवारण करनेवाला कहा है ।

उक्त विशेषणों का स्पष्टीकरण योजना में इस प्रकार है, 'धरणिमण्डनम्' इसमें चरण को कीर्तिरूप अथवा श्रीरूप कहा है, 'आपदिध्येयं' इसमें श्रीरूप अथवा कीर्तिरूप कहा है, अतः यदि 'धरणि मण्डनं' इससे श्री का ग्रहण करते हो तो 'ध्येयमापदि' इससे कीर्ति का ग्रहण करना चाहिये, और जो यदि प्रथम से कीर्तिका ग्रहण करते हो तो 'ध्येयमापदि' इससे श्री का ग्रहण करना चाहिये, इस प्रकार दो विशेषणों से दोनों धर्म ग्रहण करने चाहिये ।

'शान्तमं' इस विशेषण से ज्ञानरूपता कही है ।

'आर्तिहन्' इससे वैराग्य कहा है ।

'चरणपङ्कजं' इस विशेष्य के निर्देश से चरण को पङ्कज कहा है, इस प्रकार कहने से स्वरूपधर्म का उत्कर्ष कहा है ।

अथवा आपका चरणारविन्द लोक में पांच प्रकार का उपकार करता है, (१) लौकिक काम का खण्डन (२) ऐश्वर्य का दान करना ।

(३) अनन्य शरणागतों को अभिलषित अर्थ का दान करना ।

(४) अलङ्करण—शोभा देनेवाला ।

(५) आपत्ति—दुःख को दूर करनेवाला, इस प्रकार पांच उपकारों में से आपका चरण हमारा ताप निवारणात्मक एक ही उपकार करे । अर्थात् आप हमारे हृदय का ताप दूर करने के लिये चरण कमल धरो । इस प्रकार गोपी प्रार्थना करती है, अपने अभिलषित अर्थ दान की प्रार्थना नहीं करती है, इसमें हेतु कहती है कि जो प्रणत है, अनन्य भाव से

एव तथाविधो भवति । तत्रत्यः कामः स्तब्धग्रंहीतुं न शक्यत इति प्रणतत्वमुक्तम् । पद्मजार्चितमिति । धर्मरूपता निरूपिता । ब्रह्मप्रार्थनयैवात्रागतमिति । कीर्तिरूपतामाह धरणिमण्डनमिति । धरण्या मण्डनमलङ्काररूपं श्रीरूपं वा । आपदि ध्येयं श्रीरूपं कीर्तिरूपं वा । पङ्कजसाम्यात् स्वरूपोत्कर्ष उक्तः । शान्तमं कल्याणतमम् । ज्ञानरूपम् । आतिहन्ति सन्बोधनात् ते चरणपङ्कजमिति सम्बन्धनिरूपणाद् वैराग्ययुक्तं च । रमणेतीष्टप्रापकः । आतिहन्तिनित्यनिष्ठनिवारकः । अथवा । यल्लोके पञ्चविधमुपकारं करोति, तदस्मात्स्वेकमेव करोत्विति प्रार्थयते । प्रणतासु कामं ददाति । तत्पूर्वमुक्तं 'मनसि नः स्मरं वोर यच्छसी'ति । प्रकर्षेण नम्रेषु वा कामं द्यति खण्डयति । पद्मजेन पद्मजया वा अर्चितम् । ऐश्वर्यार्थं कामार्थं वा पद्मजैः अर्चितम् । तत्तुल्यं वा । अन्यथा तानि चरणपङ्कजजन्म कथं प्राप्नुयुः । धरण्यपि स्त्री अनलंकृता न भुज्यत इति तस्यां पदस्थापनम् । भगवदपेक्षयापि चरणो महान् । आपदि ध्यानमात्रेणैवापदं दूरीकरोतीति । यथैतेषां सर्वोपकारकर्तुं, तथास्माकमपि करोत्विति प्रार्थना । अनेन सर्व एव दुरतबन्धा आक्षिप्ताः ॥ १३ ॥

'प्रणतदेहिनां' इस सातवें श्लोक की कहनेवाली अनन्यपूर्वा कुमारिका है, और 'प्रणतकामदं' इस १३ वें श्लोक की कहनेवाली अन्यपूर्वाश्रुतिरूपा है, इसलिये कहने वालियों का भेद होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है, किन्तु पूर्व की अपेक्षा यहां भगवान के चरण का माहात्म्य अधिक कहा है, और यहाँ जो चरणकमल का वर्णन किया है वह भक्तों को गुणाधायक—कामादि देनेवाला कहा है । पहिले ७ वें श्लोक में जो चरण माहात्म्य कहा है, वह तो केवल दोषनाश करनेवाला कहा है, इसलिये यहाँ चरण का अधिक माहात्म्य वर्णन किया है । हे रमण, रति करनेवाले हमारे स्तनों के ऊपर आप अपना चरण पङ्कज धरो ।

स्तनों के ऊपर चरणकमल धरने का गोपियां कारण बताती हैं कि 'हे आदिहृद्' हे मन की व्यथा को हरण करनेवाले अथवा पाठान्तर में 'हे आतिहन्' हे दुःखहरण करनेवाले अर्थात् हृदयताप और चिन्ता आपको निवारण करनी चाहिये ।

अब गोपियां 'पङ्कज' पद का तात्पर्य कहती हैं ।

जिस प्रकार कमल हृदय पर रखने से ही ताप दूर करता है, यह प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार दृष्टोपकार से-देखेहुए उपकार से ही ताप दूर होगा ।

यद्यपि आपका चरणकमल भीतर हृदय में हमने स्थापन किया है, किन्तु बाहर नहीं आता है, अतः आपको उसका बाहर स्थापन करना चाहिये ।

अब आगे जिस प्रकार भगवान में छै गुण हैं, उसी प्रकार भगवान के चरणकमल में भी छै गुण हैं, इसका निरूपण गोपियां करती हैं ।

उसमें प्रथम गुण ऐश्वर्य है, उसका वर्णन करती हैं (प्रणत कामदमिति) प्रकर्ष से जो नत—अनन्य शरण हैं, उसको (कामदं) अभिलषित अर्थ आपका चरण देनेवाला है ।

अनन्य शरणागतों की अभिलाषा पूर्ण करनेवाला ईश्वर ही होता है, इच्छित पदार्थ दान करने का सामर्थ्य अन्य में नहीं होता है, ईश्वर के मन में देने की योग्यता से उपस्थित काम को स्तब्ध-ढीठ जो भगवान की शरण में नहीं आये, वे जीव ग्रहण नहीं कर सकते हैं, अतः यहां प्रणतत्व कहा है, जिन जीवों को इच्छित पदार्थ लेना हो, उन जीवों को स्तब्धता छोड़कर अनन्य भाव से भगवान की शरण में आने की आवश्यकता होती है ।

(पद्मजार्चितं) भगवान के चरण ब्रह्मा से पूजित हैं, उक्त विशेषण से भगवान के चरण को धर्म रूपता निरूपण की है, कारण कि ब्रह्मा धर्म बुद्धि से ही भगवान के चरण का पूजन करता है, गोपियों की तरह स्नेह से पूजन नहीं करता है, यह भाव है ।

ब्रह्मा भगवान के चरण का पूजन करता है, इसमें गोपियां हेतु कहती हैं, कि ब्रह्मा की प्रार्थना से ही भगवान यहां पधारे हैं । अब गोपियां भगवान के चरणों को कीर्तिरूपता बतलाती हैं ।

'धरणिमण्डनम्' भगवान् का चरण पृथिवी का अलङ्कार-भूषणरूप है । अथवा श्रीरूप है ।

'आपदिध्येयम्' भगवान् का चरण दुःख में ध्यान करने योग्य है, उक्त विशेषण से भगवान् के चरण को श्रीरूप अथवा कीर्तिरूप कहा है ।

भगवान् का चरण कमलसदृश है, इसलिये स्वरूप से उत्कर्ष कहती हैं 'शान्तमं' अत्यन्त कल्याणरूप है । इससे चरण को ज्ञानरूप कहा है ।

'आतिहन्' इस संबोधन से, तथा 'ते चरणपङ्कजं' इससे सम्बन्ध निरूपण करने से चरण-कमल को वैराग्ययुक्त निरूपण किया है । 'रमण' इस संबोधन से इष्ट वस्तु का देनेवाला कहा है, और 'आतिहन्' इससे अनिष्ट निवारण करनेवाला कहा है ।

उक्त विशेषणों का स्पष्टीकरण योजना में इस प्रकार है, 'धरणिमण्डनम्' इसमें चरण को कीर्तिरूप अथवा श्रीरूप कहा है, 'आपदिध्येयं' इसमें श्रीरूप अथवा कीर्तिरूप कहा है, अतः यदि 'धरणि मण्डनं' इससे श्री का ग्रहण करते हो तो 'ध्येयमापदि' इससे कीर्ति का ग्रहण करना चाहिये, और जो यदि प्रथम से कीर्तिका ग्रहण करते हो तो 'ध्येयमापदि' इससे श्री का ग्रहण करना चाहिये, इस प्रकार दो विशेषणों से दोनों धर्म ग्रहण करने चाहिये ।

'शान्तमं' इस विशेषण से ज्ञानरूपता कही है ।

'आतिहन्' इससे वैराग्य कहा है ।

'चरणपङ्कजं' इस विशेषण के निर्देश से चरण को पङ्कज कहा है, इस प्रकार कहने से स्वरूपधर्म का उत्कर्ष कहा है ।

अथवा आपका चरणारविन्द लोक में पांच प्रकार का उपकार करता है, (१) लौकिक काम का खण्डन (२) ऐश्वर्य का दान करना ।

(३) अनन्य शरणागतों को अभिलषित अर्थ का दान करना ।

(४) अलङ्कार—शोभा देनेवाला ।

(५) आपत्ति—दुःख को दूर करनेवाला, इस प्रकार पांच उपकारों में से आपका चरण हमारा ताप निवारणात्मक एक ही उपकार करे । अर्थात् आप हमारे हृदय का ताप दूर करने के लिये चरण कमल धरो । इस प्रकार गोपी प्रार्थना करती है ।

दूसरे पक्ष में गोपी इस श्लोक में ताप-निवारण की ही प्रार्थना करती है, अपने अभिलषित अर्थ दान की प्रार्थना नहीं करती है, इसमें हेतु कहती है कि जो प्रणत है, अनन्य भाव से

भगवान् की शरण जाता है, उसको भगवान् का श्रीमुख काम का दान करता है, यह बात पहिले १२ वें श्लोक में कही है, 'मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ।

अतः पूर्व श्लोक में ही भोग की प्रार्थना सिद्ध ही है, इसलिये इस श्लोक में अन्य प्रकार का अर्थ किया है ।

आपका चरण प्रणत—अत्यन्त नम्र भक्तों के काम का खंडन करता है । प्रथम पक्ष में भगवान् का चरण कामदान करनेवाला कहा है, और द्वितीय पक्ष में काम का खंडन करनेवाला कहा है ।

उक्त अर्थ में मूल श्लोक का अन्वय आगे कहे अनुसार जानना चाहिये ।

श्लोक के पूर्वार्ध में 'प्रणतकामदं' 'पद्मजाचितं' 'धरणिमण्डनं' 'आपदि ध्येयम्' इस प्रकार चार विशेषण कहकर पांच उपकार करनेवाला 'चरणपङ्कजं' चरणकमल हमारे स्तनों में 'शंतमं' ताप-निवारण करने के लिये 'अर्पय' धरो । इस प्रकार अन्वयार्थ है ।

अब दूसरा विशेषण 'पद्मजाचितं' इसका दूसरे प्रकार से अर्थ कहते हैं, 'पद्मजेन' ब्रह्मा से अथवा 'पद्मजया' लक्ष्मी से आपका चरण पूजित है, ब्रह्मा ने ऐश्वर्य के लिये और लक्ष्मी ने काम के लिये भगवान् के चरण का पूजन किया है ।

अथवा 'पद्मज' शब्द का अर्थ नख है, भगवान् के चरण कमल में उत्पन्न हुए पद्मज—नख, इन नखों से भगवान् का चरण कमल अर्चित है, लोक में नख चरण के साथ लगे हुए हैं, इसलिये नखों को संयोगिद्रव्य कहते हैं, अतः लोक में पद के साथ नख का सम्बन्ध अनित्य है, इसलिये नख पद से पृथक् हो जाता है, किन्तु भगवान् के नख सच्चिदानंद रूप हैं, इसलिये स्वरूपात्मक नित्य हैं, इसलिये भगवान् के नखों को संयोगि द्रव्य नहीं कह सकते हैं ।

यद्यपि भगवान् के नख अनित्य नहीं हैं, भगवान् के चरण से पृथक् नहीं होते हैं, तथापि इस श्लोक में कहनेवाली गोपी को भगवान् के चरणकमल का सम्बन्ध प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त आत्ति हुई है, जिसके कारण यह गोपी इस प्रकार मानती है कि जो वस्तु भगवच्चरण संबंधी है, वही वस्तु मुझको भगवान् के चरणकमल का सम्बन्ध प्राप्त कराने में पूर्ण साधन है, इसी आशय से कहा है कि 'पद्मजैरचितम्' भगवान् का चरण नखों से पूजित है ।

अब उक्त पक्ष में गोपी युक्ति कहती है कि 'अन्यथा' ।

यदि इस प्रकार नहीं मानें तो ये सब नख भगवान् के चरणकमल में जन्म कैसे पाते ? पूर्व में कहा है कि भगवान् के नख स्वरूपात्मक नित्य हैं, फिर इनका जन्म होना युक्ति-युक्त नहीं होता है, अतः इस प्रकार की अरुचि से गोपी पक्षान्त कहती है कि 'तत्तुल्यंवा' भगवान् के चरण कमल के नख तुल्य हैं, अनुरूप हैं अर्थात् नखों से चरण कमल की अत्यन्त शोभा है, इसलिये नखों से भगवान् का चरणकमल पूजित सा हो रहा है ।

भगवान् के चरणकमल में वज्रा आदि के चिह्न भी इसी प्रकार के हैं, अर्थात् वज्रा आदि चिह्न भी भगवान् के चरणकमल का संबंध कराने में पूर्ण साधन हैं, इसलिये भगवान् का चरणकमल वज्रा आदि चिह्नों से चर्चित है ।

पृथिवी भी अलंकृत—बिना आभूषण के भोग नहीं की जाती है, अतः पृथिवी में भगवान् ने अपना चरण स्थापन करके उसको अलंकृत किया है, भगवान् की अपेक्षा भी भगवान् का चरण बड़ा है, आपत्ति में ध्यान करने मात्र से ही भगवान् का चरण दुःख दूर करता है, जिस प्रकार 'प्रणतादि' विशेषणों से कहा, सर्व का उपकार आप करते हो, उसी प्रकार हमारा भी ताप निवारणात्मक उपकार करो । यही हमारी प्रार्थना है ।

गोपियों ने उक्त प्रार्थना से सर्व सुरत सम्बंधी बंधों का आक्षेप किया है, अर्थात् 'प्रणत कामदं' इस पद से बाह्यसुरतबन्ध, 'पद्मजाचितं' इस पद में पद्मज से विपरीत बंध का 'पद्मजा से' तिर्यक् बंध का, 'धरणिमण्डनं' पद से समबंध का, 'ध्येयं' इस पद से आन्तर बंध का, इस प्रकार सुरत बंध के पांच प्रकारों का आक्षेप किया है ॥ १३ ॥

(सुबो०) तदनन्तरं तत उत्तमाः प्रार्थयन्ते सुरतेति ।

अब पूर्वोक्त राजस राजसी गोपियों से उत्तम राजस सात्विकी अन्यपूर्वा गोपियां प्रार्थना करती हैं ॥

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।

इतररागविस्मरणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥ १४ ॥

पदपदार्थ—(हे वीर) हे शूर (सुरतवर्धनं) सुरत बढ़ानेवाला (शोकनाशनं) शोक नाश करनेवाला (स्वरितवेणुना) स्वरयुक्त वेणु से (सुष्ठु) अच्छे प्रकार से (चुम्बितम्) चुम्बन किया (इतररागविस्मरणम्) अन्य राग भुलानेवाला (ते) आपको (अधरामृतम्) अधरामृत को (नः) हम सब (नृणां) अधिकारियों को अथवा अनधिकारियों को अथवा दुर्लभ पुरुषार्थों को (वितर) दान करो ॥ १४ ॥

भाषार्थ—हे वीर सुरत बढ़ानेवाला, शोकनाश करनेवाला, और स्वरयुक्त वेणुद्वारा अच्छे प्रकार से चुम्बन किया, इतर राग भुलानेवाला इस प्रकार के अधरामृत का आप हम सब अधिकारियों अथवा अनधिकारियों को दान करो ॥ १४ ॥

(सुबो०) अधरामृतं वितरेति । अत्राप्यधरामृतं गुणाघायकम् । एतस्य चतुर्गुणत्वमेव विवक्षितम् । ज्ञानवैराग्ययोरत्रानुपयोगात् । तस्यैश्वर्यमाह सुरतवर्धनमिति । गोपिकासु परिच्छिन्नः कामः अपरिच्छिन्नेन सह संयोगे क्लिष्टो भवति । यथा रसाः क्षुद्रोद्वेगका भवन्ति, तथायं रसः कामोद्वेगकः । किञ्च, न केवलमयं काममेव पोषयति, किन्तु सर्वानेवान्तःकरणदोषान्निवारयति । अतः शोकनाशकत्वं ज्ञानवैराग्यरूपता च निरूपिता । ऐश्वर्यधर्मरूपता च । यशोरूपतामाह । स्वरितो नादयुक्तो यो वेणुः, तेन सुष्ठु चुम्बितमिति । यशो हि नादज्ञैः कीर्त्यते । वेणुश्च परमभक्त इति तेनापि चुम्बितमेव । न तु पीतम् । इतरराग-विस्मरणमिति श्रियो रूपम् । साहि सर्वं विस्मारयतीति । स्वतः पुरुषार्थत्वेन प्रमेयबलमुक्तम् । पूर्वेण प्रमाणबलम् । शोकनाशनमिति फलबलम् । सुरतवर्धन-मिति साधनबलम् । एवं चतुर्विधपुरुषार्थप्रदं स्वतः पुरुषार्थरूपम् । नृणामस्मा-कमधिकारिणां दुर्लभपुरुषार्थानां वा । यद्यपीदं देयं न भवति, तथापि वितरण-गुणेन दातुं शक्यत इति वितरेत्युक्तम् । वीरेति सम्बोधनात् शौर्यं नान्यथा संभवतीति निरूपितम् ॥ १४ ॥

आप अपने अधरामृत का दान करो, इस प्रकार गोपियां प्रार्थना करती हैं।
पहले श्लोक की तरह इस श्लोक में भी कहा भगवान् का अधरामृत गुणावायक-गुण स्थापन करनेवाला कहा है।

‘मधुरया गिरा’ इस आठवें श्लोक में कहा अधरामृत मरण-दोष निवर्तक है, इस श्लोक में कहा अधरामृत गुण देनेवाला है, इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं है।

इस श्लोक में कहे अधरामृत में चार गुण कहने की इच्छा है, कारण कि यहां ज्ञान तथा वैराग्य का उपयोग नहीं है, इसलिये इस अधरामृत में ऐश्वर्यादि चार धर्मों का निरूपण किया है।

अब प्रथम विशेषण से गोपियां अधरामृत के ऐश्वर्य धर्म का वर्णन करती हैं ‘सुरतवर्धन’ आपका अधरामृत सुरत बढ़ानेवाला है।

जिस समय गोपिकाओं में स्थित परिच्छिन्न-आगन्तुक, अनित्य, काम का भगवान् के अपरिच्छिन्न स्वस्वा के साथ संयोग होता है, उस समय गोपियों का परिच्छिन्न काम विलुप्त होता है।

जिस प्रकार रसादि ओषधियां भूख बढ़ाती हैं, उसी प्रकार भगवान् का अधर रस काम का उद्वोध-बढ़ानेवाला है।

भगवान् का अधर रस केवल काम का ही पोषण नहीं करता है, किन्तु जितने अन्तःकरण में दोष हैं, उन सभी दोषों को दूर करता है, अतः भगवान् का अधरामृत शोकनाशक है, शोकनाशक होने से ज्ञान वैराग्य रूप भी निरूपण किया है।

अथवा ‘सुरतवर्धन’ इस विशेषण से ऐश्वर्य और ‘शोकनाशन’ इससे धर्मरूपता निरूपण की है।

अब गोपियां भगवान् के अधरामृत को यशरूपता कहती हैं, (स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्) स्वरित-अर्थात् नादयुक्त जो वेणु उस वेणु से सुन्दर प्रकार से भगवान् का अधरामृत चुम्बन किया है। नाद को जाननेवाले ही यशगान करते हैं, वेणुभगवान् का परमभक्त है, किन्तु इस वेणु ने भी सुन्दर रीति से चुम्बन ही किया है, पान नहीं किया है, वेणु भगवान् के अधरामृत का चुम्बन करके यश कीर्तन करता है।

(इतररागविस्मरणं) श्री-लक्ष्मीरूप है, लक्ष्मी सबका विस्मरण कराती है, जिस समय लक्ष्मी प्राप्त होती है, उस समय फिर सब भूल जाता है, इसी प्रकार भगवान् का अधरामृत सब में जो राग है, उसका विस्मरण कराता है, भगवान् का अधरामृत स्वयं पुरुषार्थ रूप है, इसलिये ‘सुरतवर्धन’ आदि चारों विशेषणों से प्रमाण प्रमेय साधन और फल, इन चारों का वर्णन किया है।

‘इतररागविस्मरणं’ इस विशेषणसे प्रमेयबल कहा है, और इससे पूर्व का विशेषण ‘स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्’ इससे प्रमाण बल कहा है, कारण कि वेणुनाद वेद रूप है।

यदि कहो कि वेणु वेद रूप है, इसमें क्या प्रमाण है।

तब इसके उत्तर में कहते हैं कि ‘वंशस्तु भगवान् रुद्रः’ इस प्रकार कृष्णोपनिषद् में वेणु को शिव रूप कहा है, और वेदः शिवः शिवो वेदः’ इस श्रुति में शिव को वेदरूपता कही है, इसलिये वेणु को भी वेदरूपता है। जिस प्रकार वेद स्वतः प्रमाण है, उसी प्रकार वेदात्मक होने से वेणुनाद भी स्वतः प्रमाण है, इस प्रकार उक्त विशेषण से प्रमाणबल कहा है।

‘शोकनाशनं’ इस विशेषण से फल बल कहा है, अर्थात् वेणुनाद प्रमाण रूप से इतर राग विस्मरणरूप प्रमेय ज्ञान होता है, और प्रमेय ज्ञान होने पर शोकनाशनरूप फल होता है, इस प्रकार शोकनाशनरूप फल की सिद्धि के लिये साधन ‘सुरतवर्धनं’ इस विशेषण से कहा है, अथवा भगवान् का अधरामृत चार प्रकार के पुरुषार्थ का देनेवाला, तथा स्वतः पुरुषार्थ रूप है।

प्रथम ‘सुरतवर्धनं’ काम का ‘शोकनाशनं’ मोक्ष का ‘स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितं’ धर्म का ‘इतर राग विस्मरणं’ अर्थ का, इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का देनेवाला कहा है, और स्वयं पुरुषार्थरूप है।

हम अधिकारी अथवा अनधिकारी, अथवा दुर्लभ पुरुषार्थ को यद्यपि आप का स्वतः पुरुषार्थ रूप अधरामृत देने योग्य नहीं है, तथापि आपमें वितरण गुण-दान गुण है, इसलिये दान गुण से अधरामृत का दान कर सकते हो, इसीसे गोपी ने ‘वितर’ दान करो, इस प्रकार प्रार्थना की है, मूल में ‘तुणां’ पद साधारण मनुष्य वाची कहा है, इससे अनधिकारिता सूचन की है, अतः निःसाधनों को परमपुरुषार्थ का दान करने से आपका अधिक उत्कर्ष गोपियों ने वर्णन किया है।

अथवा सुबोधिनी में ‘दुर्लभ पुरुषार्थानां’ इस प्रकार दूसरा पक्ष कहा है, इस दूसरे पक्ष में ‘तु’ शब्द से पुरुषजीव कहा है, अतः अन्यद्वारा दुर्लभ, पुरुषार्थ का अर्थ होता है।

यदि यह आपका अधरामृत हम ‘तु’ शब्द वाच्यों को अप्राप्य है, तो फिर हमसे इतरों को प्राप्त नहीं होगा, यह भाव है।

हे वीर, इस संबोधन से शूरता का परिचय हम सबको इस प्रकार की दशा में ही अधरामृत का पान करा करके हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं संभव होता है, इस प्रकार गोपियों ने निरूपण किया है ॥ १४ ॥

(सुबो०) एवं त्रिविधा निरूप्य, पुनस्तामस्यः त्रिविधा निरूप्यन्ते।
देवनिन्दिकाः सात्त्विकतामस्यः। भगवन्निन्दिकाः तामसतामस्यः। स्वनिन्दिका राजसतामस्य इति अटतीति।

इस प्रकार १२-१३-१४ तीन श्लोकों में अन्यपूर्वा राजस गोपियों का क्रम से राजस तामसी, राजस राजसी, राजस सात्त्विकी, उक्त तीन प्रकारों का निरूपण करके अब १५-१६-१७ इन तीन श्लोकों में अन्यपूर्वा तामसी गोपियों के तीन प्रकार निरूपण करते हैं, उसमें देव निन्दा करने वाली गोपियां सात्त्विक तामसी हैं, भगवान् की निन्दा करनेवाली गोपियां तामस तामसी हैं, और अपनी निन्दा करनेवाली गोपियां राजस तामसी हैं। प्रथम इस १५ वें श्लोक में सात्त्विक तामसी गोपियां कहती हैं।

अटति यद्भवानहि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ॥१५॥
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्षमकृद् दशाम् ॥१५॥

पदपदार्थ—(भवान्) आप (अहं) दिन में (काननं) वन को (यत्) जो (अटति) पधारते हैं, (त्वाम्) आपको (अपश्यताम्) बिना देखे हमको (त्रुटिः) सूक्ष्मकाल (युगायते) युग की तरह लगता है (च) और (कुटिलकुन्तलं) टेढ़े-छल्लेदार केशयुक्त (श्रीमुखं) श्रीमुख (ते) आपका (उदीक्षतां) देखनेवाली हमको (दशां) नेत्रों का (पक्षमकृद्) पलक करनेवाला ब्रह्मा (जडः) जड है, इस प्रकार मालूम होता है ॥ १५ ॥

भाषार्थ—आप दिन में वन को जो पधारते हैं, उस समय-दिन में आपके दर्शन बिना हमको सूक्ष्म काल युग की तरह लगता है, और आपका कुटिल-छल्लेदार केशयुक्त श्रीमुख निरखने वाली हमको नेत्रों में पलक बनानेवाला ब्रह्मा जड मालूम पड़ता है ॥ १५ ॥

(सुबो०) भवान् अह्नि काननं यदटति, तत्र दिवसे त्रुटिः युगायते । तत्र निमित्तं त्वामपश्यतामिति । यदा पुनः पश्यामः, तदा कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं ते उदीक्षतां नोस्माकं यः पक्षमकृद् ब्रह्मा स जडः । यथा देवानां पक्षम न करोति, अलौकिकद्रष्टृत्वात्, तदपेक्षयाप्यत्यलौकिकद्रष्टृत्वादस्माकमपि पक्षमकरण-मनुचितम् । अतोऽनुचितकरणात् जडः 'देवा हि बहुकालं जीवन्ति, तथा व्य-मपि । त्रुटियुगायत इति । त्रुटिशब्दः स्त्रियाम् । यदि सार्थकं गमनं भवेत्, तथापि न काचिच्चिन्ता । परमह्नि काननमेवाटति, न तु कानने कश्चन पुरु-षार्थः । अस्माकं च न बहिर्गमनं संभवति । एवं देवत्वं भगवता संपादितम् । मूर्खो ब्रह्मा तादृशीनां पक्षमकृत् ॥ १५ ॥

आप दिन के समय वन में जब डोलते हैं, उस समय दिन में त्रुटि-सूक्ष्मकाल युग की तरह लगता है, इसका कारण गोपियां कहती हैं, (त्वामपश्यताम्) आपके दर्शन बिना सूक्ष्म काल भी युग समान मालूम पड़ता है ।

और जिस समय फिर आपका दर्शन करती हैं, उस समय कुटिल केशयुक्त श्रीमुख आपका निरखने वाली हमको जो पक्षमकृत् पलक बनानेवाला ब्रह्मा है, वह जड मालूम पड़ता है ।

कारणकि पलक आपके श्रीमुख के दर्शन में प्रतिबन्ध करते हैं, आपके दर्शन में क्षणभर का भी प्रतिबन्ध हम को सहन नहीं होता है, अतः ब्रह्मा हमको जड मालूम पड़ता है ।

जिस प्रकार ब्रह्मा ने देवताओं के पलक नहीं बनाये हैं कारण कि देवता अलौकिक द्रष्टा हैं । हम तो देवताओं की अपेक्षा भी अलौकिक देखनेवाली हैं, इसलिये हमारे नेत्रों में ब्रह्मा ने पलक लगाकर अनुचित कार्य किया है, अतः अनुचित कार्य करने से ब्रह्मा जड है ।

देवता बहुत काल तक जीते हैं, उसी प्रकार हम भी बहुत काल तक जीनेवाली हैं, इस बात का सूचन गोपियां 'त्रुटियुगायते' इस पद से कहती हैं, कि हमको भी एक पल युग की तरह व्यतीत होता है ।

त्रुटि शब्द स्त्री लिङ्ग वाचक है, यद्यपि यहां इसका प्रयोजन नहीं है, तथापि शब्द का स्वरूप बतलाने के लिये कहा है ।

यदि आपका वन में सार्थक गमन हो, तो हमको कोई बात की चिन्ता न हो, किन्तु आप तो दिन के समय वन में ही डोलते हैं ।

यहां कानन शब्द में द्वितीया ईप्सतम अर्थ में है, इसलिये आपको वन में फिरना ही अच्छा लगता है, वन में तो कोई पुरुषार्थ नहीं है, और हमारा घर से बाहर निकलना संभव होता नहीं है, भगवान् ने हमको देवत्व संपादन कर दिया है, और ब्रह्मा ने हमारे-देवताओं के पटल बना दिये हैं इसलिए ब्रह्मा मूर्ख है ॥ १५ ॥

(सुबो०) तदपेक्षया हीना आहुः—पतीति ।

अब पूर्वोक्त सात्त्विक तामसी गोपियों से हीन तामस तामसी अन्यपूर्वा भगवान् का निन्दा करती हैं ।

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्यच्युतागताः ।

गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥ १६ ॥

पदपदार्थ—(पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान्) पतिपुत्र वंश भाई संबंधियों को (अति-विलङ्घ्य) उल्लङ्घन करके—छोड़करके (हे अच्युत) हे च्युतिरहित (ते) आपके (अन्ति) समीप में (आगताः) आई हैं (गतिविदः) सबों की गति जाननेवाले (तव) आपके (उद्गीतमोहिताः) उच्चस्वर गान से मोहित हुई हम सब (योषितः) स्त्रियों को (हे कितव) हे कपटी (निशि) रात्रि में (कः) कौन (त्यजेत्) त्याग करे ॥ १६ ॥

भाषार्थ—पतिपुत्र वंश भाई बान्धवों का उल्लङ्घन करके हे अच्युत आपके समीप में हम आई हैं, इस प्रकार सबकी गति जाननेवाले आपके उद्गीत से मोहित हुई स्त्रियों का हे कितव-कपटी रात्रि में कौन त्याग करे ॥ १६ ॥

(सुबो०) हे अच्युत, स्वतः कामनिवृत्तिभयरहित । पतिः, सुताः, अन्वयो वंशः, भ्रातरः, बान्धवाः संबन्धिनः, एते सर्वथा अविलङ्घ्याः, तानप्यतिविल-ङ्घ्य ते अन्ति समागताः । त्वं सर्वेषां गतिं जानासीति गतिवित् । सर्वैर्यावती गतिः संपाद्यते, तां भवानेव दास्यतीति । वयं वा गतिविदः तेषां भजने भगव-द्भुजने च तारतम्यविदः । किञ्च, तव उद्गीतेन च मोहिताः । अतो मोह-यित्वा समानीय उभयभ्रंशार्थम् अरण्ये निशि योषितः कस्त्यजेत् । सर्वदैव स्त्रियो न त्याज्यः । सुतरामरण्ये । सुतरां निशि । यदर्थं वा समाहृताः, तदप्यदत्वेत्य-भिप्रायेण सम्बोधनम् 'कितवानां वयं संबन्धिन्यः' अतोऽस्माकं तेषु न प्रवेशः ॥ १६ ॥

हे अच्युत, स्वतः कामनिवृत्ति भय से रहित, जिस समय दूसरे का काम निवृत्त हो जाता है, अर्थात् च्युत हो जाता है, उस समय स्वयं आप ही इस लीला से निवृत्त हो जाता है, किन्तु भगवान् अपनी लीला से स्वतः निवृत्त नहीं होता है, कारण कि भगवान् का काम निवृत्त नहीं होता है ।

गोपियां कहती हैं कि पति पुत्र वंश भाई बान्धव-संबन्धि ये सब सर्वथा उल्लङ्घन करने-त्यागने योग्य नहीं हैं, किन्तु इन सबका भी उल्लङ्घन करके हम सब आपके समीप में आई हैं, आप सब की गति को जानते हो, इसलिये गतिवित् हो, सबलोग जितनी गति संपादन करते हैं, उसको आप ही देंगे ।

अथवा हमसब गति जाननेवाली हैं, कारण कि पति आदि के भजन में और आप भगवान् के भजन में जो तारतम्य-अन्तर है, उसको जाननेवाली हैं, इस प्रकार गति में तारतम्य ज्ञान से आपके समीप में आई हैं, तथा आपके उद्गीत से मोहित हुई आपके समीप में आई हैं ।

अतः गान से मोह करा करके अपने पास में बुलाकर पति आदि से तथा आप अपने समीप से, इस प्रकार दोनों तरफ से भ्रंश करने के लिये (अरण्ये) वन में, यह अभिप्राय कितव संबोधन का है कितव ही अरण्य में ठग करके छोड़ता है, इसलिये यहां अरण्य कहा है, उसमें भी (निशि) रात्रि में स्त्रियों को आपके बिना अन्य कौन त्याग करे । स्त्रियों का त्याग तो सर्वदा ही नहीं करना चाहिये, उसमें भी वन में, त्याग करना उचित नहीं, उसमें भी रात्रि में त्याग करना तो अत्यन्त अनुचित होता है ।

अब गोपियां 'कितव' संबोधन का दूसरा अभिप्राय कहती हैं, जिस अर्थ के लिये आपने हमको यहां पर बुलाया है, उस अर्थ को दिये बिना हमारा त्याग करते हो, इसलिये आप कितव-कपटी हो इस अभिप्राय से कितव संबोधन है।

अथवा (कितवयोषितः) इस प्रकार समस्तपद जानना चाहिये, इसका अर्थ, कितव-कपटी गोपों की केवल हम संबंधिनी हैं, किन्तु स्त्री नहीं है, गोपों ने हमारा भोग नहीं किया है, कारण कि हम एक आप-भगवान के ही भोग्य हैं, गोपों को तो 'हम इनके पति हैं, इस प्रकार केवल अभिमान मात्र ही है, 'मन्यमानाः स्व पार्श्व' स्थान जिस प्रकार रास क्रीडा समाप्त होने पर, गोपों ने अपनी २ स्त्रियों अपने-अपने पास में जानी थीं, भगवान के पास में गई हुई नहीं जानी थीं, उसी प्रकार गोपों को सर्वदा अभिमान मात्र है; कि गोपियां हमारी पत्नियां हैं, किन्तु गोपकृत भोग नहीं है, कारण कि हम एक भगवान के ही भोग्य हैं, इसलिये गोप योग माया से मोहित हो गये हैं।

और गोपियों के जो पुत्रादि की उत्पत्ति हुई है, वह अलौकिक प्रकार से भगवान के द्वारा ही हुई है, यह बात सत्रह अध्याय की टिप्पणी में स्फुट है।

गोपों में पतित्व का अभाव होने पर भी, जो पतित्व से अङ्गीकार है, वह रसपोषण करने के लिये है, कारण कि रस परकीया में ही होता है, यह वात्स्यायन सूत्र में कहा है, इसलिये वास्तव में गोपियां भगवान के ही एक भोग्य हैं, इस प्रकार निष्कर्ष है, इसीसे आगे कहती हैं कि हमारा गोपों में प्रवेश नहीं है ॥ १६ ॥

(सुबो०) तत उत्तमाः आत्मानमेव निन्दन्ति-रहसीति ।

अब पूर्वोक्त तामसतामसी गोपियों से उत्तम राजसतामसी गोपियां अपनी ही निन्दा करती हैं।

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।

बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहं मुह्यते मनः ॥ १७ ॥

पदपदार्थ—(रहसि) एकान्त में (संविदं) वाक्य-अथवा ज्ञान को (हृच्छयोदयं) कामका उद्बोधक-उदय करनेवाला (प्रहसिताननं) हास्ययुक्त श्रीमुख को (प्रेमवीक्षणं) प्रेमपूर्वक कटाक्ष को (श्रियोः) लक्ष्मी का (धाम) स्थान (ते) आपका (बृहद) विशाल (उरः) वक्षस्थल को (वीक्ष्य) देखकर हमारा (मनः) मन (अतिस्पृहं) अत्यन्त स्पृहा करता हुआ (मुहुः) बार-बार (मुह्यते) मोह को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

भाषार्थ—आपका एकान्त में संभाषण, काम का उद्बोधक हास्ययुक्त श्रीमुख, प्रेमपूर्वक कटाक्ष और लक्ष्मी का धामरूप आपका विशाल वक्षस्थल, इन सबको देखकर हमारा मन अत्यन्त स्पृहा करता बार-बार मोह को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

(सुबो०) नो मनः अतिस्पृहं सत् मुह्यत इति । तत्र कारणत्रयं गुणत्रयं सहितम् वाक्यं हास्यमुरश्चैव कामानन्दाधिकारिणः । रहसि एकान्ते या संविदं ज्ञानं वा । पूर्ववत् हृच्छयस्य कामस्य उदयो येन तादृशम् । प्रहसितयुक्तमाननं प्रेमपूर्वकं वीक्षणं च यस्मिन् । श्रियो धाम बृहदुरः । भगवद्रूपस्य वा षड्गुणत्वमुच्यते । रहसि संविदो यस्मादिति 'एतादृशं त्वाम्' हृच्छयस्य उदयो यस्मात्

'प्रहसितमाननं यस्य' प्रेमपूर्वकं वीक्षणं यस्य । बृहदुरः श्रीधाम च वीक्ष्य । प्रमाणादिबलरूपता भगवद्रूपे निरूपिता 'वक्षसि च स्वस्थित्यर्थ' यसः श्रीश्च निरूपिता । मुखदर्शनेनैव प्रहसितयुक्तत्वात् पूर्वस्थित्यभावः । ततः कामः 'प्रेमवीक्षणेन च तस्य स्थिरीकरणम् । ततः स्वयोग्यता । ततो भोगचातुर्यं प्रथमविशेषणेन' एवं सर्वं भविष्यतीति अतिस्पृहायुक्तं मनः मुह्यते, केवलं मोहं प्राप्नोति, पदार्थालाभात् मुहुर्मूर्च्छा समायातीति जीवनमरणान्यतराभावात् धिग्जीवनमित्यर्थः ॥ १७ ॥

गोपियां कहती हैं कि हमारा मन अत्यन्त स्पृहा-इच्छा करना मोह को प्राप्त होता है । मनके मोह होने में तीन गुण सहित तीन कारण हैं, अर्थात् भगवान के वचन, हास्यसहित मुख, और भगवान् का वक्षस्थल, इस प्रकार तीन कारण हैं, और 'हृच्छयोदयं' कामोदय वचन का गुण है, 'प्रेमवीक्षणं' प्रेमपूर्वक देखना हास्य का गुण है, 'श्रियो धाम' लक्ष्मी का स्थान वक्षस्थल का गुण है, इस प्रकार वचन आदि प्रत्येक के तीन गुण हैं ।

अब श्रीमहाप्रभुजी अर्धकारिका से मोह के कारण तीन कहते हैं ।

'वाक्यं' हास्य मुरश्चैव कामानन्दाधिकारिणः । वाक्य, हास्य और वक्षस्थल, उक्त तीनों क्रम से काम, आनन्द और अधिकार देनेवाले हैं । अर्थात् बंध आदि का ज्ञान देने से भगवान् के वाक्य कामोद्बोधक हैं, हास्य आनन्दोद्बोधक है, तथा लक्ष्मी का धाम होने के कारण वक्षस्थल से रसलीला के अधिकारियों का बोध होता है ।

(रहसि) एकान्त में जो 'संविद-वाक्य अथवा ज्ञान, एकान्त में जिस वाक्य से बंधादि ज्ञान होता है, वह वाक्य 'रहसि संविद' कहा जाता है ।

वाक्य निरूपण करने में जिस प्रकार वाक्य में मधुरत्व, वल्गुवाक्यत्व, बुधमनोज्ञत्व, इस प्रकार तीन गुण दीखते हैं, उसी प्रकार वाक्य से उत्पन्न ज्ञान में भी तीन गुण दीखते हैं, इसलिये ज्ञान भी पूर्ववत् वाक्यों के सदृश ही है ।

पूर्ववत् 'हृच्छय-काम का उदय जिससे इसप्रकार के वाक्य 'हृच्छयोदय' कहलाते हैं । प्रहसित युक्त मुख, और प्रेमपूर्वक कटाक्ष जिस मुख में, इस प्रकार का भगवान का मुख है । और लक्ष्मी का धाम विशाल भगवान का वक्षस्थल है, गोपियां कहती हैं कि आपके कामोदय करनेवाले वाक्य, तथा प्रेमपूर्वक कटाक्षवाला हास्ययुक्त मुख, और विशाल वक्षस्थल, इन तीनों को देखकर वाक्य पक्ष में 'वीक्ष्य' इसका अर्थ जानकर-सुनकर हमारा मन मोह को प्राप्त होता है ।

अथवा 'रहसिसंविदं, इत्यादि से छे गुण भगवान के ही कहे हैं, इस पक्ष में 'रहसि संविद' इत्यादि चार पदों में बहुव्रीहि समास है, 'रहसि संविदो यस्मात्' एकान्त में संविद जिससे, इस प्रकार के आपको देखकर 'हृच्छयस्य उदयो यस्मात्' काम का उदय जिससे, इस प्रकार के आपको देखकर 'प्रहसितमाननं यस्य' हास्ययुक्त मुख जिसका, इस प्रकार के आपको देखकर 'प्रेमपूर्वकं वीक्षणं यस्य' प्रेमपूर्वक वीक्षण जिसका, इस प्रकार के आपको देखकर और आपके विशाल वक्षस्थल को, तथा लक्ष्मी के धाम को देखकर हमारा मन मोह को प्राप्त होता है ।

उक्त चार पदों से भगवान के स्वरूप में प्रमाणादि बलरूपता भी निरूपण की है । 'रहसि संविदं' इसमें भगवान के वाक्य का कथन है, भगवान का वाक्य प्रमाणरूप है, यह स्पष्ट ही है ।

‘हृच्छयोदयं’ इससे प्रमेय बल कहा है, कारण कि भगवान के प्रमाणरूप शृङ्गार रस संबंधी वाक्यों से काम का उदय प्रमेय बल है।

‘प्रहसिताननं’ इससे साधन कहा है, कारण कि इस प्रकार हास्यरहित श्रीमुख सर्वफल साधक है।

‘प्रेमवीक्षणं’ इससे फल कहा है, कारण कि प्रेमपूर्वक भगवान का भक्तों को अवलोकन करना साध्य फल है।

इस प्रकार चार विशेषणों से भगवान के स्वरूप में प्रमाण प्रमेय साधन फल, चार प्रकार के बल का वर्णन किया है।

कहनेवाली गोपियों ने भगवान के विशाल वक्षस्थल में अपनी स्थिति करने के लिये यश का निरूपण किया है।

भगवान का वक्षस्थल बृहत् है, बड़ा-विशाल वक्षस्थल यश सूचन करता है, इस प्रकार साधु-द्रिक शास्त्र में कहा है। इसलिये ‘बृहदुरः’ इससे यश का वर्णन किया है।

‘श्रियोधाम’ इस पद से श्री का वर्णन किया है।

भगवान का हास्ययुक्त मुख का दर्शन करने से ही गोपियों की पूर्व स्थिति नष्ट हो जाती है, अर्थात् गोपियों ने जबतक भगवान के प्रहसित मुख का दर्शन नहीं किया था, उसके पहिले गोपियों में मान था, किन्तु वह मान भगवान का हास्ययुक्त श्रीमुख देखकर चला गया, कारण कि भगवान के हास्ययुक्त श्रीमुख की शोभा को देखने से गोपियों को परम उत्कंठा उत्पन्न हो जाती है, इसलिये मान ठहर नहीं सकता है, यह भाव है।

इसके अनन्तर ‘हृच्छयोदयं’ इससे काम कहा है।

‘प्रेमवीक्षणं’ इससे काम को स्थिर करना कहा है, फिर इसके अनन्तर ‘बृहदुरः श्रियोधाम’ भगवान का विशाल वक्षस्थल लक्ष्मी का धाम है, इस प्रकार कथन से गोपियों ने अपनी योग्यता बतलाई है।

फिर प्रथम विशेषण ‘रहसि संविदं’ इससे एकान्त में शृङ्गार रस संबंधी वाक्यों से भोग में चतुराई का वर्णन किया है। अर्थात् आपके वाक्यों से हममें चातुर्य आजायेगा, इस प्रकार हमारा सर्वकार्य सिद्ध हो जायेगा, इस प्रकार विचारकर अत्यन्त स्पृहा-इच्छा युक्त हमारा मन मोह को प्राप्त होता है, न केवल मोहको ही प्राप्त होता है किन्तु इष्ट पदार्थ के न मिलने से बारंबार मूर्च्छा को प्राप्त होता है।

गोपियां कहती हैं कि न तो हमारा जीवन ही होता है, और न मरण ही होता है, दोनों में से एक भी नहीं होता है, इसलिये हमारे जीवन को धिक्कार है, यह अर्थ है, इस प्रकार गोपियों ने अपनी निन्दा की है ॥ १७ ॥

(सुबो०) पुनरनन्यपूर्वा एतावत्कालं मनोरथाभिनिविष्टा किञ्चित्प्रार्थयते ब्रजवनौकसामिति ।

फिर सत्त्वमिश्रतामसी अनन्य पूर्वा-कुमारिका गोपियां इतने काल पर्यन्त मनोरथ कर रही थीं इसलिये प्रार्थना नहीं कर सकीं, अब फिर कुछ प्रार्थना करती हैं।

ब्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् ।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्गुजां यन्निषूदनम् ॥ १८ ॥

पदपदार्थ—(हे अङ्ग) यह कोमल संबोधन है (ते) आपकी (व्यक्तिः) प्राकट्य-स्वरूप (ब्रजवनौकसाम्) ब्रजवासियों का (वृजिनहन्त्री) पाप नाश करनेवाला है (विश्व-मङ्गलम्) सर्व विश्व तो मङ्गल रूप है, (स्वजनहृद्गुजां) स्वजन-गोपियों के हृदय रोग का (यन्निषूदनम्) जिसके द्वारा नाश होता है (त्वत्स्पृहात्मनां) आपके स्वरूप में स्पृहायुक्त अन्तःकरणवाली (नः) हम गोपियों को (मनाक्) अल्प थोड़ा (त्यज) छोड़ो ‘अर्थात् इस प्रकार की वस्तु हमारे में स्थापन करो ॥ १८ ॥

भाषार्थ—हे अङ्ग आपकी व्यक्ति-प्राकट्य-स्वरूप ब्रजवासियों का पाप नाश करनेवाला है, और सब को मङ्गल रूप है, स्वजन-गोपियों के हृदयरोग का जिसके द्वारा नाश होता है, इस प्रकार आपके स्वरूप में स्पृहायुक्त अन्तःकरणवाली हमको रोगनिवर्तक वस्तु का स्थापन करो ॥ १८ ॥

(सुबो०) इयं ते व्यक्तिः ब्रजवनौकसां वृजिनहन्त्री पापनाशिका । विश्वस्याप्यत्यर्थं मङ्गलरूपम् । ‘दोषनिवर्तकं विशेषाकारेणास्माकमेव गुणाधायकं सर्वेषाम् । अत एतादृशं मनाक् त्यज’ । त्यागावश्यकत्वे हेतुः त्वत्स्पृहात्मनामिति । त्वय्येव स्पृहायुक्त आत्मा अन्तःकरणं यासाम् । किं त्यक्तव्यमित्याशङ्कामाह स्वजनेति । स्वजनानां गोपिकानां हृद्गुजां हृदयरोगाणां कामरूपाणां यदेव निषूदनं भवति, नितरां सूदनं नाशनं यस्मात् । केषाञ्चित्पापनाशकः, केषाञ्चित्फलदाता, तादृशोस्माकं रोगनिवर्तको भवत्विति ॥ १८ ॥

यह आपकी व्यक्ति-प्राकट्य, स्वरूप ब्रजवासियों का वृजिनपाप नाश करनेवाला है, और सर्व विश्व को भी अत्यन्त अर्थमङ्गलरूप है, विशेष करके हम गोपियों का ही दोष दूर करने वाला है, और सबको तो आपका स्वरूप गुण देनेवाला है इसलिये इस प्रकार आपका आनन्दमय स्वरूप का अल्प-नेक स्थापन करो त्यागकरो, आपको त्याग अवश्य करना चाहिये, इसमें गोपियां हेतु बतलाती हैं (त्वत्स्पृहात्मनां) आपमें ही स्पृहायुक्त आत्मा-अन्तःकरण हमारा है।

यदि आप कहो कि किस वस्तु का त्याग-स्थापन करना चाहिये। तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (स्वजनेति) स्वजन-गोपियों का हृदयरोग काम है, उस कामरूप का निरन्तर नाश जिस वस्तु से हो, उस वस्तु को स्थापन करो।

आप कितने ही का पाप नाश करनेवाले हो, और कितने ही को फल देनेवाले हो, इसलिये इस प्रकार के आप हमारे रोग का नाश करो, यह हमारी प्रार्थना है।

मूल सुबोधिनी में ‘एतादृश’ शब्द कहा है, इससे हृदय के रोगों का सूदन-नाशन-जिस वस्तु से हो, उस प्रकार की वस्तु हमारे में स्थापन करो, इस प्रकार की वस्तु आपका स्वरूप ही है, गोपनीयहोने से गोपियों ने गुप्त प्रकार से प्रार्थना की है ॥ १८ ॥

(सुबो०) काचिद्राजसतामसी सखेदमाह—यत्त इति ।

अब कोई राजस तामसी अनन्यपूर्वा गोपी खेदसहित कहती है।

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः

शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।

तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किं स्वित्

कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥ १९ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥

पदपदार्थ—(हे प्रिय) हे प्यारे (ते) आपका (यत्) जो (सुजातचरणाम्बुरुहं) सम्यक् प्रकार से उत्पन्न चरणकमल को (भीताः) डरती हुई हम (कर्कशेषु) कठिन (स्तनेषु) स्तनों में (शनैः) धीरे (दधीमहि) धारण करती हैं । (तेन) उस कोमल चरण से (अटवीं) वन में (अटसि) आप फिरते हो इससे (भवदायुषां) आप की लीला के लिये ही जीवन-वाली (नः) हमारी (धीः) बुद्धिः (भ्रमति) भ्रम को प्राप्त होती है (किं स्वित्) उत्प्रेक्षा में, हम इस बात को जानना चाहती हैं कि क्या (कूर्पादिभिः) कंकड़ आदि से (तद्) वह आपका कोमल चरण (न) नहीं (व्यथते) दुःख पाता है, अर्थात् दुःख पाता ही है ॥ १९ ॥

भाषार्थ—हे प्यारे आपका सम्यक् प्रकार से उत्पन्न हुआ जो चरण कमल है, उसको डरती हुई हम कठिन स्तनों में धीरे से धारण करती हैं, और आप उसी अति कोमल चरण कमल से इस समय वन में फिरते हो इससे आपकी लीला के लिये ही आयु-जीवन जिनका इस प्रकार की हम गोपियों की बुद्धि भ्रमित होती है, कि कंकड़ आदि से आपके कोमल चरणों में क्या व्यथा नहीं होती है, अर्थात् होती ही है ॥ १९ ॥

(सुबो०) सुजातं यच्चरणाम्बुरुहं चरणकमलं भीताः सत्यः स्तनेषु शनैर्दधीमहि । शनैर्धारणे हेतुः कर्कशेष्विति । प्रियेति सम्बोधनात् स्नेहाद्वारणम् । सुजातमिति तथा महत् सम्यक्प्रकारोत्पन्नं शीतलं सुगन्धि तापनाशकं भवति । अतः स्तनेषु स्थापनम् । प्रियत्वात् धाष्ट्येन स्थापनम् । तेनैवातिकोमलेन अस्मान् त्यक्त्वा अस्मद्वेषेण इदानीमटवीमटसि । स्वयमदुःखेन स्थित्वा यद्यन्यस्मै दुःखं दातुं शक्नुयात्, तर्हि प्रयच्छेत्, न तु स्वयमपि दुःखं प्राप्य । तत्रास्माकं संदेहः, किं व्यथते तवेति । स्वदित्युत्प्रेक्षायाम् । किं न व्यथते, अपितु व्यथत एव । कूर्पादिभिः शर्करादिभिः । कूर्पशब्देन विषमाः शर्करा उच्यन्ते । तर्हि व्यथत एव, कथमुत्प्रेक्ष्यते, तत्राह भ्रमति धीरिति । बुद्धिः केवलं परिभ्रमति । यदि व्यथत इति निश्चयः स्यात्, तदा बुद्धिः शान्तैव भवेत् । पुनर्यदा याति तेन संदेहः । तत्र हेतुः भवदायुषामिति । भवल्लीलार्थमेवायुर्येषाम् । एवं खेदेन मनःपीडा निरूपिता इदानीं तु मूर्च्छा निरूप्यत इत्यन्तःस्थितिः । एवं सर्वासां मूर्च्छापर्यन्तं स्थितिर्ज्ञातव्या । पुनर्लीलाप्रवेशे प्रलापः, पुनः स्वरूपस्थितौ गानमिति । एवंसाधनपरीक्षयोर्भावत्, तावत्तासां तापो निरूपितः ॥ १९ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिण्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणेऽष्टाविंशाध्यायविवरणम् ।

सुजात जो आपका चरणकमल, उसको डरती हम स्तनों में धीरे से धारण करती हैं, आपका चरणकमल जो धीरे से गोपियां धारण करती हैं, उसका कारण बतलाती हैं, 'कर्कशेषु' ।

हमारे स्तन कर्कश-कठोर हैं, हे प्रिय इस सम्बोधन से सूचन करती हैं कि भगवान् का चरणकमल गोपियां अपने स्तनों में स्नेह से धारण करती हैं, आपका चरणकमल सुजात है, उसी प्रकार महत् है, जिस प्रकार कमल सम्यक् प्रकार से उत्पन्न शीतल सुगन्धि तापनाशक होता है, उसी प्रकार आपका चरणकमल सम्यक् प्रकार से उत्पन्न शीतल सुगन्धि तापनाश करने वाला है, इसलिये हम स्तनों में स्थापन करती हैं ।

भगवान् गोपियों के प्रिय हैं, इसलिये गोपियां चरणकमल धृष्टता से स्थापन करती हैं, उसी अति कोमल चरण से आप हमको हमारे दोष से त्याग करके इस समय वन में डोलते हो ।

जो कोई स्वयं दुःखरहित स्थित होता है, और वह यदि दूसरों को दुःख देनेका सामर्थ्य वाला होता है तो दूसरों को दुःख देता है ।

और जो स्वयं ही दुःखी होता है, तो वह दूसरों को दुःख नहीं देता है, इसलिये हमको संदेह होता है कि आपको दुःख होता है, अथवा नहीं होता है, (स्वित्) यहां उत्प्रेक्षा अर्थ में है, क्या आपको दुःख नहीं होता है, अर्थात् दुःख होता ही है ।

कूर्प आदि से कंकड़ आदि से, कूर्प शब्द से विषम कंकड़ कहे जाते हैं । यदि कहो कि विषम कंकड़ आदि से भगवान् के चरणकमल में दुःख होता ही है तो फिर उत्प्रेक्षा क्यों करती हो ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (भ्रमति धीः) हमारी बुद्धि केवल परिभ्रमण करती है ।

यदि हमको भगवान् का चरण व्यथा को प्राप्त होता है, इस प्रकार निश्चय होता, तो बुद्धि शान्त ही हो जाती, अर्थात् हमको मूर्च्छा ही हो जाती, विषम कंकड़ों से चरणों में व्यथा होती है, यह बात प्रसिद्ध ही है, इसलिये हमको भगवान् के चरणों में व्यथा होने का ज्ञान है, किन्तु, व्यथा होते भी फिर जो आप वन में पधारते हो, इससे हमको व्यथा नहीं होती है, इस प्रकार का ज्ञान होता है, नहीं तो यदि आपको वन में पधारने से व्यथा होती हो तो, फिर आप वन में नहीं पधारें, इस प्रकार उभय कोटि अवगाही ज्ञान संशय उत्पन्न करता है ।

इस प्रकार से हमारी बुद्धि परिभ्रमण करती है, उस प्रकार को गोपियां बतलाती हैं (भवदायुषां) आपकी लीला करने के लिये ही आयु-जीवन जिनका इस प्रकार की हम हैं ।

पहले ग्यारहवें श्लोक में 'शिलतृणाङ्कुरैः' इस पद से भगवान् के चरणकमल में पत्थर तृण-कुश आदि से क्लेश प्राप्त होता है, इस बात को जानकर गोपियों के मन में पीडा का निरूपण किया है, इस समय इस श्लोक में मूर्च्छा निरूपण की है, कारण कि गोपियों की बुद्धि भ्रमित हो गई है, मूर्च्छा नवम अवस्था है, इसलिये उक्त अवस्था से आगे अन्य अवस्था नहीं है, यही पर अन्तिम अवस्था का वर्णन किया है, इसलिये पुनरुक्ति दोष भी नहीं है ।

इस प्रकार सब गोपियों की मूर्च्छा पर्यन्त स्थिति जाननी चाहिये । गोपियों में लीला सहित भगवान् प्रविष्ट हैं, इस बात को पहले कह आये हैं, अतः किसी समय गोपियों की लीला में स्थिति होती है, फिर जब गोपियों की लीला में स्थिति होती है तब प्रलाप-प्रश्न करती है, प्रश्न अन्तरङ्ग है, इसलिये प्रलाप-प्रश्न के कथन से सत्ताईसवें अध्याय में कहे रसासक्ति, हरेः क्रिया, और गर्वाभाव, इन तीनों का वर्णन किया गया है । इस प्रकार जानना चाहिये ।

इस २८ वें अध्याय में गोपियों की स्वरूप में स्थिति होने से गान कहा है, इस प्रकार गोपियों की विरहावस्था में भगवान् लीलासहित प्रविष्ट हैं, इसलिये रसासक्ति, हरि की क्रिया, और गर्व का अभाव, ये तीन, तथा भगवान् के स्वरूप में स्थिति होने से गान, इन चारों की गोपियों में बारंवार आवृत्ति होती रहती है, इस प्रकार निरूपण करने से भगवान् की प्राप्ति में भक्तों को साधन की जितनी पराकाष्ठा करनी चाहिये, उतनी यहां पर कही है, और भगवान् भक्तों के स्नेह की परीक्षा करते हैं, उस परीक्षा में जितनी स्नेह की पराकाष्ठा है, उतनी यहां पर कही है, अब उपसंहार करते हैं, (एवं साधनेति)

यहां पर उक्तरीति से साधन और परीक्षा का जितना स्वरूप है, उतना स्वरूप गोपियों के ताप का निरूपण किया है ॥ १६ ॥

इति श्री भागवत सुबोधिनी श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचित दशमस्कंध-
अष्टाईसवें अध्याय का उपलब्ध साहित्य सहित मथुरास्थ जगन्नाथ चतुर्वेदीकृत
भाषा विवरण पूर्ण हुआ ॥ श्री हरिः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

(श्रीमद्भागवत सुबोधिनीफलप्रकरण चतुर्थ २९)

फल प्रकरण के २९ वें अध्याय का प्रारम्भ करते हैं ।

(सुबोधिनीकारिका)

एकोन त्रिंशकेऽध्याये प्रसादं भगवत्कृतम् ।
रोदनात् प्राप्य तुष्टास्ता निर्णयज्ञा इतीर्यते ॥ १ ॥
नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित् ।
भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम् ॥ २ ॥
सन्तुष्टः सर्वदुःखानि नाशयत्येव सर्वतः ।
अतो निर्णयवाक्यानि भजनार्थं न्यरूपयत् ॥ ३ ॥

'तासां' तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः । प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत' ॥४८॥
इस २९ वें अध्याय के अन्तिम श्लोक में कहा है कि गोपियों को सौभगमद और मान हुआ, तब भगवान् इनका प्रशमन करने के लिये, तथा गोपियों के ऊपर प्रसाद करने के लिये अन्तर्हित हो गये ।

अनन्तर गोपियों ने अनेक साधन किये, किन्तु भगवान् प्रकट नहीं हुए, उस समय गोपियां रुदन करने लग गयीं ।

जिस समय मनुष्य किसी कार्य को करने के लिये अत्यन्त साधन करता है, और फिर भी जब वह कार्य सिद्ध नहीं होता है, तब उसका साधनाभिमान दूर होकर निःसाधन हो दीन हो जाता है, रुदन करता है, उसी समय वह भगवान् की कृपा का पात्र हो जाता है, अर्थात् उसके ऊपर भगवान् कृपा करते हैं, इसी बात को २९ वें अध्याय में कहते हैं कि 'एकोन त्रिंशकेऽध्याये' इस २९ वें अध्याय में भगवान् ने प्रकट होकर गोपियों के ऊपर प्रसाद किया है, अर्थात् अपना हस्त स्पर्श आदि करके प्रसाद किया है ।

पहिले गोपियां मानिनी थीं, इनके भीतर भगवान् प्रविष्ट हो इनका अभिमान दूर करके रोदन रूप अलौकिक प्रकारसे प्रसन्न हुए हैं, फिर गोपियों ने 'भजतो नु भजन्त्येके' इत्यादि वाक्यों से भगवान् के प्रति प्रश्न किये, और भगवान् के 'मिथो भजन्तियेसख्यः' इत्यादि उत्तर वाक्यों से गोपियों को निर्णय का ज्ञान हो गया, यह सब प्रसङ्ग इसे उन्तीसवें अध्याय में कहा है ॥ १ ॥

भगवान् गोपियों का मान दूर अन्य प्रकार से भी कर सकते हैं, फिर भगवान् को रोदन प्रकार पर्यन्त गोपियों की परीक्षा करनी उचित नहीं थी, यदि इस प्रकार शंका करो तो ।

जिस प्रकार छब्बीसवें अध्याय के आरम्भ में कारिका ९ नवम 'आत्मायावत्प्रपन्नोऽभूत्' इसमें श्री महाप्रभुजी ने शास्त्रमर्यादा कही, उसी प्रकार भगवान् के आविर्भाव में भी शास्त्रमर्यादा है, इस आशय से दूसरी कारिका कहते हैं 'न हि साधन सम्पत्त्या' ।

'मैं अमुक साधन से भगवान् को प्राप्त हो जाऊंगा, इस प्रकार जानकर जो कोई साधन करता है, तो उस साधन से भगवान् कभी किसी के ऊपर प्रसन्न नहीं होते हैं, भक्तों को तो भगवान् के प्रसन्न करने में एकदैन्य ही साधन है ।

जिस समय गोपियों में मदमान के कारण भगवान् तिरोहित हो गये उस समय गोपियों ने भगवान् के मिलने के लिये साधन बुद्धि से प्रलाप रूप प्रश्न, तथा गान किया, किन्तु भगवान् प्रकट नहीं हुए, उस समय साधन करते करते गोपियाँ हार गईं, और निःसाधन हो दीन होकर रुदन करने लग गईं, दैन्यसाधन से भगवान् प्रसन्न हो गये ।

गोपियों का दैन्य-ध्वतः साधन रूप हो गया, कारण कि साधनत्व से जानकर किये गये साधनों को साधन सम्पत्ति कहते हैं ।

पहले किये गये गोपियों के साधन प्रलाप तथा गान जिस समय व्यर्थ हो गये, उस समय गोपियों में दीनता आ गई, और दीनता से रुदन करने लग गईं, यह रुदन स्वतः ही साधन बन गया, गोपियों का रुदन भगवान् के प्रसन्न होने में साधन है, इस प्रकार जानकर नहीं किया, यदि गोपियाँ रुदन को भी साधनबुद्धि से करतीं, तो भगवान् प्रसन्न नहीं होते, अतः जिस प्रकार भगवान् के तिरोधान में शास्त्रमर्यादा है, उसी प्रकार भगवान् के आविर्भाव में निःसाधन होकर जीव में जब तक दैन्य भाव नहीं आता है, तब तक भगवान् का आविर्भाव नहीं होता है ॥ २ ॥

अब आगे भगवान् ने गोपियों से जो निर्णय कहा है, उसका कारण श्रीमहाप्रभुजी तीसरी कारिका में कहते हैं ।

‘संतुष्टः सर्वं दुःखानि’ भगवान् जिस समय प्रसन्न हो जाते हैं, उस समय सब प्रकार से दुःख का नाश निश्चय हो जाता है, अतः गोपियों का सर्वांश से दुःख का नाश करने के लिये, तथा परोक्ष भजन प्रतिपादन करने के लिये ‘मिथोभजन्ति’ इत्यादि निर्णायकवाक्य भगवान् कहें हैं । पुष्टिमार्ग में दुःख आनन्द के अभाव को कहते हैं । प्रतियोगी-आनन्द से आनन्दाभाव-दुःख का नाश निश्चय होता है ।

जिस समय आनन्दमय प्रभु भक्त के ऊपर प्रसन्न होता है, उस समय प्रकट होता है, आनन्दमय स्वरूप के प्रकट होने पर भक्तों का समग्रदुःख नष्ट हो जाता ही है, इस बात को कारिका में ‘एव’ शब्द बतला रहा है, कि आनन्दमय भगवान् के प्राकट्य से भक्तों का सब दुःखनाश हो जाता है, यदि इस बात को नहीं मानते तो इतने काल पर्यन्त भगवान् तिरोहित हो हमको छोड़कर दुःखी करके चले गये थे, इस प्रकार का दुःख ब्रजवधुओं के हृदय कमल से नहीं जाता, किन्तु भगवान् के दर्शन करते ही सर्वगोपियों का दुःख नष्ट हो गया, और जो कुछ शेष रह गया था, वह भगवान् के निर्णय वाक्यों से नष्ट हो गया ॥ ३ ॥

(सुबो०) एवं पूर्वाध्यायान्ते तासां स्तुतिमुक्त्वा, ततः पूर्वाध्याये तासां प्रलापमुक्त्वा, उभयमप्युपसंहरत् तयोरसाधनतायां जातायां रोदनं कृतवत्य इत्याह इतीति ।

इस प्रकार पहले २८ वें अध्याय में गोपियों ने भगवान् की स्तुति की, और इससे पहले सत्ताईसवें अध्याय में गोपियों ने प्रलाप-प्रश्न किया, इसका वर्णन करके अब स्तुति तथा प्रलाप दोनों का उपसंहार करते शुकदेवजी स्तुति, प्रलाप दोनों जिस समय भगवान् की प्राप्ति नहीं कर सके, उस समय गोपियाँ रुदन करने लग गईं, इस बात को आगे श्लोक में कहते हैं ।

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १ ॥

पदपदार्थ—(हे राजन्) हे परीक्षित (इति) पूर्वोक्त प्रकार से (प्रगायन्त्यः) गान करतीं (च) और (चित्रधा) अनेक प्रकार से (प्रलपन्त्यः) प्रलाप करतीं (कृष्णदर्शन-लालसाः) कृष्ण के दर्शन की इच्छा वाली (गोप्यः) गोपियाँ (सुस्वरं) सुन्दर स्वर से (रुरुदुः) रुदन करने लग गईं ॥ १ ॥

भाषार्थ—हे राजन् पूर्वोक्त प्रकार से गान करती तथा अनेक प्रकार से प्रलाप करती श्री कृष्ण के दर्शन की इच्छावाली गोपियाँ सुस्वर रुदन करने लग गईं ॥ १ ॥

(सुबो०) पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वा एव गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च जाताः । अस्माभिरेकः प्रकार उक्तः । तस्तु चित्रधा विलापयुक्ता जाताः । यदा तयो-रसाधनत्वं जातम् तदा सर्वाः सम्भूय महद्रोदनं कृतवत्यः । रोदने निमित्तमाह कृष्णदर्शनलालसा इति । न तु स्वदेहरक्षार्थम् ॥ १ ॥

पूर्वोक्त प्रकार से सभी गोपियाँ गान तथा प्रलाप करने लगीं, शुकदेव जी कहते हैं कि हमने तो यहाँ गान, प्रलाप का एक प्रकार कहा है, किन्तु गोपियाँ तो अनेक प्रकार से विलापयुक्त हो गईं, जिस समय गान और प्रलाप भगवान् की प्राप्ति नहीं करा सके, उस समय गोपियों ने उक्त दोनों साधन भगवत्प्राप्ति में असाधन जान लिये, अर्थात् इन साधनों से भगवान् नहीं मिलेंगे, साधनरहित एकत्रित होकर गोपियाँ महान् रुदन करने लग गईं ।

गोपियों के इतने जोर से इकट्ठे होकर रुदन करने में शुकदेव जी कारण बतलाते हैं कि (कृष्णदर्शन लालसाः) ।

गोपियों को कृष्णदर्शन की अभिलाषा थी, इसलिये रुदन किया, अपने देह की रक्षा के लिये रुदन नहीं किया ॥ १ ॥

(सुबो०) ततो भगवान् ब्रह्मा विष्णु रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जात इत्याह तासामाविरभूदिति ।

इसके अनन्तर भगवान् ब्रह्मा, विष्णु, तथा रुद्र होकर पुनः कृष्ण हो गये, अर्थात् ब्रह्मा आदि का कार्य, उत्पत्ति, रक्षा और उपसंहार करके पुनः सदानन्द हो गये, इस बात को आगे श्लोक में कहते हैं ।

अब ‘ब्रह्मा विष्णु रुद्रश्च’ इसका आशय श्री विट्ठलनाथजी टिप्पणी में इस प्रकार बतलाते हैं ।

भगवान् किस प्रकार से ब्रह्मा विष्णु रुद्र होकर पुनः कृष्ण ही हो गये, प्रथम ब्रह्म कल्प में भगवान् ही ब्रह्मा-चतुर्मुख हुए थे, और पहिले आपने तप किया था ।

‘स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक् । नामरूपक्रिया धत्ते’ इस वाक्य से तथा ‘शब्द ब्रह्मेति यं विदुः’ इस वाक्य से भगवान् ने शब्द तथा अर्थ रूप से ब्रह्मरूप धारण करके नामरूप क्रिया धारण की, तत्त्व चिन्तन करनेवाले जिस परमात्मा को शब्द ब्रह्म जानते हैं, फिर वाच्य वाचक रूप भगवान् ने शब्द सृष्टि, अर्थ सृष्टि करके इस सृष्टि में अपने स्वयं प्रवेश करके सब कार्य किया, और स्वयं रजोगुणरूप रहे ।

प्रकृत-चालू गोपियों के प्रसन्न में भगवान् प्रथम रजोगुणरूप कामरूप से प्रकट हुए, फिर नामरूप से, फिर विविधगान प्रलापरूप से फिर विविध लीलारूप से प्रकट हुए, इस प्रकार भगवान् ने प्रथम रजोगुण रूप-ब्रह्मा का रूप धारण करके रजोगुण का कार्य किया है, इसलिये ब्रह्मा हुए ।

विष्णु स्वयं विशेषरहित शुद्धसत्त्वात्मक है, जिस प्रकार से जिस जीव का पालन हो सकता है, उसी प्रकार से उसका पालन करता है।

प्रकृत-लीला प्रसङ्ग में गोपियां अपनी सखी के वचन सुनकर 'हमारे दोष से ही प्रियभगवान् चलेगये हैं' इस प्रकार के ज्ञान से चित्त विक्षेप छोड़कर पुनः अपने पूर्व स्थान यमुनातट पर स्थित होकर, अपने जीवन के लिये अपने अपने भाव प्रकट करतीं प्रभु का गुणगान करती हुई इस प्रकार गोपियों के भावरूप भगवान् ने गोपियों का पालन करने के लिये विष्णुरूप धारण किया, इसलिये विष्णु हुए।

'यदरोदीत्तद्रूपस्य रुद्रत्वम्' रुदन करने से रुद्र कहलाया। इस श्रुति के अनुसार भगवान् का रुद्रस्वरूप स्पष्ट ही है।

रुद्र का इतिहास श्रुति में इस प्रकार है कि देवता अपना धन अग्नि में रखकर जिस समय संग्राम करने के लिये गये, उस समय अग्नि, देवताओं के धन को लेकर भग गया, पीछे देवताओं ने बलात्कार से जिस समय अग्नि से अपना धन ले लिया, उस समय दुःख से अग्नि ने रुदन किया, इसलिये अग्नि रुद्र कहलाया।

प्रकृत गोपियों के प्रसङ्ग में अपने भोग के लिये भगवान् ने स्वामिनियों को जो किसी के भी देने योग्य नहीं, उस प्रकार का अपना रस दिया, और स्वामिनियों ने मान से वह रस अपने में ही निरुद्ध कर लिया, फिर जिस समय भगवान् ने स्वामिनियों का मान दूर किया, उस समय गोपियां निःसाधन हो अतिदैन्य प्रकट करती रोने लग गईं।

जिस प्रकार रुद्र सर्वनाशक है, उसी प्रकार गोपियों का यह दैन्यपूर्वक रुदन भाव शास्त्र-प्रतिपादित समग्र साधन बल का नाशक है, कारण कि जहां तक जीव में अपने साधन बल की स्फूर्ति रहती है, वहां तक दैन्यपूर्वक रुदनभाव उदय नहीं होता है, और भगवान् का प्राकट्य भी नहीं होता है, जिस समय दैन्यपूर्वक रुदनभाव उदय हो जाता है, उसी समय साधन बल का कार्य का नाश होकर प्रभु का प्राकट्य हो जाता है, सब का नाश करना, तथा रुदन करना रुद्र का कार्य है गोपियों का भी सर्व साधन स्फूर्ति का नाश हो गया, और गोपियों ने दैन्यपूर्वक रुदन किया, यह सब कार्य भगवान् ने रुद्ररूप धारण करके तमोगुण का कार्य किया है। इसलिये भगवान् रुद्र हुए।

'कृपिभूवाचकः' इस वाक्य से कृप घातु सत्ता वाचक है, तथा 'ए' आनन्दवाचक है, इन दोनों का ऐक्य करने से कृष्ण शब्द बनता है, इसका अर्थ सदानन्द परब्रह्म होता है, उक्त वाक्यानुसार यद्यपि सदैव ही भगवान् कृष्ण शब्द वाच्य है, तथापि गोपियों में दैन्यपूर्वक रुदनभाव का उदय होने पर तुरन्त उसी क्षण में यदि भगवान् प्रकट नहीं होते तो भक्तों का देह भाव आदि रह नहीं सकता है, कारण कि सबका नाश करनेवाला दैन्यभाव जिस समय गोपियों में प्रकट हुआ, उस समय गोपियों में पहले जो देहादि में सत्त्व-अस्तित्व था, उसका नाश हो गया, इसलिये भगवान् कृष्ण-सदानन्द स्वयं प्रकट होकर अपना स्वरूपात्मक सत्त्व-सत्ता तथा आनन्द को गोपियों में स्थापन करते हैं, इसीलिये आभास में श्री महाप्रभुजी ने इस समय प्रकट स्वरूप को कृष्ण हुए, इस प्रकार कहा है।

अब 'आभास में ब्रह्मा विष्णु रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जातः' इस पर स्वतन्त्र लेख है, उसका भाषानुवाद कहते हैं।

यहां इस प्रकार आशय कृपा से मालूम होता है कि भगवान् का रूप तीन प्रकार का है, नामरूप तथा रस भेद से, उसमें नामात्मक भगवान् का रूप वेदात्मक शब्द 'ब्रह्म' है, रूपात्मक

अवतार रूप है, और रसात्मक भाव रूप है, इन तीनों प्रकार के रूपों में ब्रह्म अनन्त मूर्ति होने से अनन्त भेद हैं।

जिस प्रकार विश्वात्मक वैकुण्ठवासी के अवतरण में अवतार भेद से अनन्त मूर्तियां हैं, उसी प्रकार एक वेद की अनन्त शाखा भेद से अनन्त मूर्तियां हैं और वे मूल के समान हैं, कारण कि प्रकार भेद होने पर भी उनमें वेदत्व है।

अथवा जिस प्रकार रूपात्मक अवतारों को समानता है, उसी प्रकार स्थायी भावात्मक भगवान् को भी भक्त हृदयगत भाव भेद से आनन्द मुक्तित्व है, भगवान् की समानता नहीं है, केवल प्रकार मात्र का भेद है, जिस प्रकार अवताररूपों में मत्स्य आदि प्रकार हैं।

उक्त रीति से स्वामिनियों में जो भाव हैं, वे सब आनन्द रूप होने से रसात्मक भगवान् ही हैं, इस प्रकार से भगवान् स्वयं मानभाव से प्रकट होते ब्रह्मा हो गये।

फिर अपने जन की रक्षा करने के लिये गुण गान हेतु भूत भाव से प्रकट होते विष्णु हो गये।

फिर उस समय रोदनात्मक होते सर्वनिरास करनेवाले प्रलयकर्त्ता रुद्र हो गये।

इसके अनन्तर परमदैन्य से संतुष्ट हुए भगवान् अपनी सत्ता तथा अपना आनन्द भक्तों में प्रकट करके सदानन्द कृष्ण ही हो गये, इस प्रकार अर्थ है, इसमें यहां गुप्त बात इस प्रकार है कि सत्ता दो प्रकार की होती है, जीवसत्ता, तथा भगवान् की सत्ता, उसमें जीवसत्ता परिच्छिन्न है और भगवान् की सत्ता अपरिच्छिन्न है, अर्थात् निरावरण है, इसीसे जीवसत्ता एक जगह विद्यमान रहती है, और एक जगह विद्यमान भी पर में नहीं जाती है, और भगवान् की सत्ता पर में भी जाती है, इसलिये भगवान् की सत्ता और जीव की सत्ता तुल्य नहीं हैं, पहले जीवों में अपनी सत्ता ही स्थित थी, प्रभु की सत्ता नहीं थी, इसलिये भगवान् की तरह गोपियों का सर्व आविर्भाव आदि में सामर्थ्य नहीं था, इस समय तो अत्यन्त दुःख से गोपियों में जो अपनी सत्ता थी, उसका भी तिरोधान हो गया, इसलिये भगवान् ही सरस यशस्वी ने कृपा करके प्रकट होकर अपनी सत्ता तथा अपना आनन्द गोपियों में स्थापन किया, अतः सदानन्द प्रकट करने से कृष्ण ही हो गये, इस आभास में एवकार सूचन करता है कि जिस समय सदानन्द कृष्णरूप प्रकट हुआ, उस समय पूर्वरूप ब्रह्मा आदि का तिरोधान हो गया, कारण कि मानभाव आदि का तिरोधान हो गया था।

अब गोपियों का स्वरूप यहां से आगे भगवद्रूप आनन्दमात्र सर्वत्र विद्यमान भक्ति से आविर्भाव करने वाला सदा भगवत्सहित मानना चाहिये, इसीसे प्राकट्य में इसी स्वरूप को हमारे आचार्यों ने कहा है।

'तासां मध्यएव भगवानाविर्भूतः' गोपियों के मध्य में ही भगवान् प्रकट हुए हैं।

इसका अर्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार काष्ठ के भीतर रहा अग्नि अपने आच्छादन करनेवाले को दूर करके प्रकट होता है, तथा काष्ठ को अपना स्वरूपभूत करता है, और उस काष्ठ का आकार जिस प्रकार का होता है, उसको उसी प्रकार का स्थापन करता है, उसी प्रकार भगवान् भी गोपियों के भीतर स्थित कृपा करके अपना आधार मायारूप परदा को दूर करके गोपियों में स्वयं ही प्रकट हुए, शरीर, इन्द्रिय आदि गोपियों के ही थे।

इस प्रकार कथन से यहां से आगे आविर्भूत भगवत्स्वरूपात्मिका गोपियां हैं, इस प्रकार निरूपण किया है, इसीसे गोपियों की सेवा करने से भगवान् की सेवा हुई होता है, इसी तरह हमारे आचार्यों में भी तथा उनके आत्मजों में भी जानना चाहिये।

भगवान् का आगमन तो जिस स्वरूप से रमा के साथ रमण किया, उस पूर्व रूप से ही हुआ है, भगवान् का आविर्भाव गोपियों के रसात्मक भाव के उत्तर हुआ है, इसलिये पहले स्वरूप को अविष्टान करके फिर मिश्र रूप की सिद्धि से, उसी प्रकार का रमण किया है, पश्चात् भ्रमरगीत प्रमङ्ग में केवल रसात्मक भगवान् की स्थिति है, इस प्रकार यह स्वतन्त्र का भाषानुवाद है।

तासामाविरभूत् शौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।

पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥ २ ॥

पदपदार्थ—(तासाम्) गोपियों के मध्य में (स्मयमानमुखाम्बुजः) स्मयमान मुख कमलवाला (पीताम्बरधरः) पीताम्बरधारी (स्रग्वी) माला धारण करनेवाला (साक्षान्मन्मथमन्मथः) साक्षात् कामदेव का कामदेव (शौरिः) शूर का नाती भगवान् (आविरभूत्) प्रकट हो गया ॥ २ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार रुदन करती हुई गोपियों के मध्य में स्मयमान मुख कमल वाला पीताम्बरधारी, वनमाला धारण करने वाला, साक्षात् कामदेव का कामदेव शूर का नाती भगवान् प्रकट हो गया ॥ २ ॥

(सुबो०) तासां मध्य एव भगवानाविर्भूतः । मायां जवनिकां दूरीकृत्य भगवान् प्रकटो जातः । यतः शौरिः । शूरस्य पौत्रः । शौर्यमत्र प्रकटनीयमिति । सर्वेषां दुःखनिवारणार्थमेव यदुवंशोऽवतीर्ण इति । तदा तासां दोषनिवृत्त्यर्थं स्मयमानं मुखाम्बुजं यस्य । ईषद्वसन्मुखः । तासां वैक्लव्येन सन्तुष्टः । स्मितयुक्तं स्मयमानम् । स्मयमानाभ्यां वा सहितं मुखाम्बुजं यस्य । भक्तानां दोषभक्तैभ्यो निर्गतः भक्तौ समायातीति ज्ञापनार्थम् । तदानीन्तनं रूपं वर्णयति पीताम्बरधर इति । पीताम्बरं हास्यसंकोचार्थं हस्ते धृत्वा तिष्ठति । अथवा । व्यापिवैकुण्ठरूपेण एतावत्कालं लक्ष्म्या सह रमणं कृत्वा तेनैव रूपेण प्रादुर्भूतः । अतो स्रग्वी वनमालायुक्तश्च । मध्ये ब्रह्मादिपूजां च गृहीतवान् । लक्ष्म्या वा । अतो विलम्ब इत्यपि सूचितम् । अत एव प्रथमश्लोके पूर्वाध्याये 'श्रयत इन्द्रे' त्युक्तम् । तत्र इदानीं तु उपेक्षा कर्तुंमयुक्तेति प्रादुर्भूतः । अत आगमनमुक्तमग्रे । ('यद्वा । तत्र हेतुमाह विशेषणद्वयेन । इदानीमनाविर्भावे तु न रसो, न वा कीर्तिः । स्वयं त्वाच्छादनेन रसत्वसाधकपीताम्बरधरः कीर्तिमयः स्रग्वीश्च । अतः प्रकट इति भावः) ननु कन्दर्पेण कथं न वशीकृतः स्वापृतना खिन्नेति, तत्राह । साक्षान्मन्मथस्यापि मन्मथः । आधिभौतिको मन्मथः देवतारूपः । तत आध्यात्मिकः सर्वहृदयेषु साक्षान्मन्मथः । तस्याप्ययं मण्डलथः आधिदैविकः । सर्वस्यापि सर्वत्वात् अतः कन्दर्पोऽपि मुग्धः । कन्दर्पस्याप्य शक्यमोहः । कन्दर्परूपश्च अतस्तासां

१. चिह्नान्तर्गतं प्रभुणामित्यस्मन्मतिः ।

दैव्ये प्रादुर्भूते तन्निवारणार्थं कामरूपमेव प्रकटीकृतवान् । अतस्तेन पूर्ववत् कामसंपन्नाः ताः कृताः ॥ २ ॥

रुदन करती हुई गोपियों के मध्य में ही भगवान् प्रकट हो गये, मायारूप परदा को दूर कर भगवान् प्रकट हो गये, इसमें कारण कहते हैं कि आप शूर के नाती है, इसलिये शूरता यहां प्रकट करनी ही चाहिये थी ।

प्रथम अट्टाईसवीं अध्याय में 'सुरतवर्धन' इत्यादि चौदहवें श्लोक में भगवान् को दानवीरत्व कहा गया है, जिस वस्तु का कोई भी दान नहीं कर सकता, उस वस्तु का भगवान् दान करे, तो तभी दानवीरत्व प्रकट होगा, इसलिये शुकदेवजी इस श्लोक में 'शौरि' पद का प्रयोग करते हैं, भगवान् को भी इस समय अपनी शूरता बतानी चाहिये, कारण कि भगवान् सब का दुःख निवारण करने के लिये ही यदुवंश में अवतीर्ण हुए हैं ।

जिस समय गोपियों के मध्य में भगवान् प्रकट हुए, उस समय पहिले अट्टाईसवीं अध्याय में कहा 'निजजनस्मयध्वंसनस्मित' इस श्लोक में तीन प्रकार दोषनिवर्तक कहे हैं, इसलिये तदनुसार गोपियों के दोष निवृत्त करने के लिये मंद मुसुकान करते भगवान् प्रकट हुए, स्मयमान मन्द मुसुकान कर रहा 'मुखाम्बुज-मुखकमल जिसका अर्थात् प्राकट्य समय कुछ हँसता हुआ भगवान् का मुख था, गोपियों की दैन्ययुक्त विकलता से भगवान् सन्तुष्ट हो गये, इसलिये स्मयमान-स्मितयुक्त अथवा स्मय और मान सहित मुखकमल जिसका, इस दूसरे पक्ष में स्मय-मन्दमुसुकान और मान-अभिमान इस प्रकार 'द्वन्द्व समास' करके फिर मुखाम्बुज से समास करना चाहिये, स्मय और मानसहित मुखकमल जिसका है, इस प्रकार के भगवान् प्रकट हुए मुख बराबर अन्य कोई नहीं है, इस प्रकार की गोपियां मेरी भक्त हैं, इस प्रकार का भगवान् को स्मय हुआ, और गोपियां यदि मेरी प्रार्थना करेंगी तो मैं और भी जो मेरे भक्त हैं, उनको इस रस का दान करूंगा । और जो प्रार्थना नहीं करेंगे तो मुक्तिदान करूंगा, इस प्रकार भगवान् को मान हुआ, इस प्रकार स्मय तथा मानसहित भगवान् का मुखकमल है, इसीसे भगवान् के मुख को अम्बुज-कमल कहा है, कारण कि कमल में सूर्य की किरणों के सम्बन्ध से विकसितता तथा सद्रस प्रकट होता है, यहां पर भगवान् के मुखकमल में विकसितता तथा सद्रस प्रकट करने के लिये गोपियों की प्रार्थना ही सूर्यकिरण सदृश है ।

भक्तों का दोष भक्तों से निकल कर भक्ति में—अर्थात् भगवान् के मुखारविन्दरूपी भक्ति में प्राप्त होता है, इस बात को ज्ञापन करनेके लिये भगवान् का मुखकमल स्मय और मानसहित है ।

विचार करनेसे निश्चय होता है कि भगवद्रसपान करनेके अनन्तर ही, इस प्रकार का भाव उत्पन्न होता है, इसलिये भगवान् का ही यह धर्म है भक्तिरूप भगवान् का मुख है, भक्ति का ही स्मय मान धर्म है, इसलिये भक्ति में ही आ गया है ।

अब गोपियां प्रत्यक्ष जिस प्रकार का भगवान् का स्वरूप प्रकट हुआ था, उसका वर्णन करती हैं । (पीताम्बरधरः) भगवान् पीताम्बर धारण किये हैं ।

पीताम्बर भगवान्, इतना ही कहते मूल में धारण शब्द कहने का तात्पर्य कहते हैं कि भगवान् हास्य संकोच करने के लिये पीताम्बर को हस्त में धारण करके स्थित है, वस्त्र से कुछ मुख आच्छादन करने से हास्य में संकोच होता है, यह प्रकार रसिकों के अनुकरण से सिद्ध है ।

भगवान् मायारूप परदा को दूर करके गोपियों के मध्य में ही प्रकट हुए हैं, इस प्रकार अर्थ पूर्वपक्ष में कहा है, कारण कि 'मया परोक्षं भजता' इस २९ वे श्लोक में भगवान् ने स्वयं ही कहा है कि मैंने परोक्ष से तुम्हारा भजन किया है, इसलिये भगवान् गोपियों के पास ही स्थित हैं, किन्तु 'तं विलोक्यागतं' इस आगे के तीसरे श्लोक में भगवान् का आगमन कहा है।

जिस रूप से भगवान् प्रथम नहीं विराजते थे, उस रूप से भगवान् का आगमन अवश्य कहना है, और यदि भगवान् गोपियों के मध्य में ही विराजते हैं तो फिर भगवान् का आगमन होना सम्भव नहीं है, इसलिये यहां जिस रूप से भगवान् का आगमन हुआ है, उस रूप का वर्णन पक्षान्तर से श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि (अथवा, 'व्यापिवैकुण्ठरूपेण एतावत्कालं लक्ष्म्या सह रमणं कृत्वा तेनैव रूपेण प्रादुर्भूतः) ।

अभी तक व्यापि वैकुण्ठ में पुरुषोत्तम स्वरूप से लक्ष्मीजी के साथ रमण करके, उसी स्वरूप से भगवान् इस समय गोपियों के मध्य में प्रकट हुए हैं।

यद्यपि भगवान् गोपियों के पास ही में थे, किन्तु तीसरे श्लोक में जो भगवान् का आगमन कहा है, उसका आशय समझाने के लिये दूसरे पक्ष में इस प्रकार कहा है कि पहिले गोपियों के मध्य में भगवान् की स्थिति जिस रूप से नहीं थी, उस रूप से इस समय गोपियों के मध्य में भगवान् प्रकट हुए हैं, इसी दृष्टि से भगवान् का आगमन तृतीय श्लोक में कहा है, अर्थात् जिस रूप से भगवान् की स्थिति पूर्व नहीं थी, उस रूप से भगवान् की स्थिति गोपियों में इस समय हुई है, इसका नाम ही आगमन है।

व्यापि वैकुण्ठ में पुरुषोत्तम ही विराजते हैं, अंशादि नहीं, ब्रज में तो 'श्रयत इन्दिरा' इस वाक्य से लक्ष्मीजी को कभी भी अवसर प्राप्त नहीं होता है, इस समय भगवान् ने विचार किया कि गोपियों का मान दूर करना है, और लक्ष्मीजी की आत्ति दूर करनी है, इस प्रकार दोनों कार्य एक समय में ही करने हैं, इसलिये तिरोहित हो गये और इस समय में लक्ष्मीजी के साथ रमण जिस स्वरूप से करते हैं, उस स्वरूप से करके, वह लक्ष्मीरमण स्वरूप और गोपीरमण स्वरूप दोनों एक हैं, इसलिये लक्ष्मीरमण स्वरूप के धर्मों को प्रकट करके भगवान् प्रकट हुए हैं, इस आशय से यहां भगवान् का आगमन कहा है, अर्थात् जिन धर्मों के सहित इस समय प्रकट हुए हैं, वे सब धर्म पहिले जिस समय गोपियों में भगवान् थे, उस समय प्रकट नहीं थे, इस समय के प्राकट्य में समग्र धर्मयुक्त भगवान् का स्वरूप प्रकट हुआ है, इसलिये यहां इस समय इस प्रकार के समग्र धर्मों वाला भगवान् के स्वरूप का आगमन कहा है, यह भाव है।

भगवान् 'स्रग्वी' वनमालायुक्त हैं।

वैकुण्ठ से आगमन समय मध्य में ब्रह्मा ने भगवान् का पूजन किया है, पूजा के समय समर्पित माला धारण करके पधारे हैं, इसलिये मूल में 'स्रग्वी' पद कहा है।

जहां-जहां भगवान् का अवतार होता है, वहां-वहां ब्रह्मा दर्शन करने को जाते हैं, इसलिये इस समय भी यहां भगवान् का अवतार हुआ है, अतः ब्रह्मा दर्शन के लिये गया, और भगवान् का पूजन किया, कारण कि यहाँ भी व्यापि वैकुण्ठ से भगवान् का इस समय अवतार हुआ है।

व्यापिवैकुण्ठ से भगवान् के प्रपञ्च में आगमन को अवतार कहते हैं, इसीलिये 'तासामाविरभूत्' इस उक्त श्लोक में आविर्भाव कहा है।

अथवा लक्ष्मीजी ने पूजा करके भगवान् को माला समर्पण की है, इसीसे भगवान् को पुनः पधारने में विलम्ब हो गया, इस प्रकार भी सूचन किया है, इसीलिये प्रथम अध्याय २८ के प्रथम श्लोक में 'श्रयत इन्दिरा' यह कहा है।

भगवान् ने विचार किया कि लक्ष्मीजी की सेवा स्वीकार करने में मुझ को बहुत विलम्ब हो गया, अब भी यदि मैं गोपियों की उपेक्षा करूंगा तो फिर गोपियों का जीवन नहीं रहेगा, अतः इस समय गोपियों की उपेक्षा करना उचित नहीं है, इस प्रकार विचार करके भगवान् प्रकट हो गये इसलिये आगे श्लोक में आगमन कहा है।

अथवा, भगवान् के प्रकट होने में हेतु को 'पीताम्बरधरः', 'स्रग्वी' इन दोनों विशेषणों से तात्पर्यान्तर कहते हैं। 'यद्वा' भगवान् ने विचार किया कि यदि मैं इस समय प्रकट नहीं होता हूँ तो ब्रजपुन्दरियों का तिरोधान हो जायेगा, और जब गोपियों का तिरोभाव हो जायेगा, तब न तो रस ही सिद्ध होगा, और न मेरी कीर्ति ही होगी, उलटी अपकीर्ति हो जायेगी, भगवान् को रस की अपेक्षा है, इसलिये रस की अपेक्षा सूचन करने के लिये भगवान् अपना प्रादुर्भाव ही किया।

पीताम्बर भगवान् के स्वरूप का आच्छादन करनेवाला है, रसगुप्त ही रसत्व को प्राप्त होता है, इस प्रकार रसशास्त्र की मर्यादा है।

वनमाला कीर्ति की अपेक्षा सूचन करनेवाली है, इसलिये भगवान् रस, तथा कीर्ति की अपेक्षा से प्रकट हुए हैं, अतः भगवान् ने पीताम्बर तथा वनमाला धारण की है।

भगवान् स्वयं आच्छादन करके रसत्व साधन करनेवाला पीताम्बर तथा कीर्तिमयी वनमाला धारण करनेवाले हैं, अतः इस प्रकार के स्वरूप से प्रकट हुए हैं, यह अर्थ है।

जो कहीं भगवान् रसत्वसाधक पीताम्बर तथा कीर्तिमयी वनमाला धारण करके गोपियों के बीच में प्रकट न होते तो भक्तों का स्वरूप तिरोधान होने पर रस तथा कीर्ति का अभाव होना स्फुट ही है, यह भाव है।

यदि शंका करो कि अपनी सेना—गोपियां खिन्न हो जायगी, इस बात को जानकर कामदेव ने भगवान् को वश में क्यों नहीं किया। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' भगवान् तो साक्षान्मन्मथ के भी मन्मथ हैं।

मूल सुबोधिनीजी में 'पुनना' शब्द कहा है, इसका आशय इस प्रकार है कि पुनना-सेना शत्रु पक्ष का नाश करती है, किन्तु दुःखी सेना शत्रु पक्ष का नाश नहीं कर सकती है, सुखी ही शत्रु पक्ष का नाश कर सकती है।

स्वामिनियों ने भी सर्वात्मभाव से विरुद्ध सभी भावों को निरस्त कर दिया है, इस प्रकार का जब सर्वात्मभाववाली भक्त गोपियों को दुःख हो, तब मर्यादा मार्गवाले भक्त इस प्रकार मानेंगे कि जिसमें दुःख का लेश नहीं, इस प्रकार के मोक्ष की अपेक्षा पुष्टिमार्ग अधिक नहीं है, तो फिर पुष्टिमार्ग में जीवों की प्रवृत्ति नहीं होगी, इस बात को जानकर भगवान् ने अतिरोधान क्यों नहीं किया, अर्थात् भगवान् विराजमान ही रहते तो गोपियों को दुःख नहीं होता, यहां कन्दर्प शब्द का अर्थ सर्वात्मभाव है, गोपियों का कामभाव भी सर्वात्मभाव रूप ही है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये कन्दर्प पद का प्रयोग किया है।

अथवा भगवान् गोपियों के दैन्यभाव से प्रकट हुए हैं, अन्य किसी हेतुवन्तर से प्रकट नहीं

हुए हैं, इस बात को स्फुट करने के लिये यहां भी लौकिक रीति के जाननेवाले भ्रान्त की शंका का अनुवाद करते हैं, कि कन्दर्प ने भगवान् को यश में क्यों नहीं किया ।

इस प्रकार यहां दो प्रकार से शंका की है, जिसमें प्रथम शंका का समाधान इस प्रकार है।

इस मार्ग में मोक्ष की अपेक्षा पुष्टि मार्ग अधिक है, इस प्रकार का ज्ञान जो नहीं होता है वह क्या रसवार्ता जाननेवाले को नहीं होता है, अथवा रसवार्ता जो नहीं जानता है, उसको नहीं होता है। इन दोनों पक्षों में यदि अन्य पक्ष—जो रसवार्ता नहीं जानता है, उसको नहीं होता है, इस प्रकार कहो तो हमको आपका कहना इष्ट है, कारण कि जो रस की बात जानता ही नहीं है, वह रसमार्ग की महत्ता क्या जान सकता है, प्रथम पक्ष—रसवार्ता जाननेवाले को पुष्टिमार्ग की अधिकता का ज्ञान नहीं होता है, इस पक्ष में शंका को स्थान नहीं है, कारण कि जहां विप्रयोग दशा में आध्यात्मिक मन्मथ रस को ही महारसत्व कहते हैं, वहां आध्यात्मिक मन्मथ रूप की विप्रयोग दशा में महारसत्व से ज्ञान होने पर कौन-सी शंका हो सकती है, अर्थात् कोई नहीं। यह प्रथम पक्ष शंका का समाधान किया है।

द्वितीय पक्ष शंका का समाधान तो श्रीसुबोधिनी जी में पिछली पंक्ति में किया ही है।

मन्मथ—कामदेव तीन प्रकार का है।

(१) आधिभौतिक, (२) आध्यात्मिक, (३) आधिदैविक।

आधिभौतिक मन्मथ देवतारूप है।

आध्यात्मिक मन्मथ सर्व के हृदयों में रहनेवाला साक्षान्मन्मथ है।

इस साक्षान्मन्मथ का भी भगवान् मन्मथ आधिदैविक है, यह भगवान् स्वयं हैं, कारण कि भगवान् सब के भी सब हैं।

इस आधिदैविक मन्मथ भगवान् ने कन्दर्प-आधिभौतिक कामदेव को भी मोहित कर दिया, आध्यात्मिक कामदेव स्वयं भगवान् को मोहित नहीं कर सकता, कारण कि भगवान् स्वयं आधिदैविक कामदेव रूप हैं, इसलिये गोपियों में दैन्य रूप प्रकट होने पर दैन्यनिवारण करने के लिये भगवान् ने कामरूप ही प्रकट किया है, अतः कामरूप प्रकट करके पहिले अध्याय २६ श्लोक ४३ 'उदारहास' इसमें जिस प्रकार गोपियों को उसी प्रकार यहां भी भगवान् ने कामयुक्त कर दी ॥ २ ॥

अब 'तासामाविरभूत्' इस उक्त श्लोक पर श्री विठ्ठलेश्वर प्रभु का स्वतन्त्र लेख है, उसके अनुसार भाषार्थ कहते हैं।

अथवा 'तासामाविः' भगवान् का प्राकट्य गोपियों का सम्बन्धी है, अर्थात् गोपियों का सजातीय स्त्रीवेश है।

भगवान् स्त्रीवेश धारण करके पहिले अन्तर्हित गोपियों में स्थित थे, इस समय भी स्त्रीवेश से प्रकट हुए हैं, यद्यपि ज्ञापन समय में स्त्रीवेश का प्रयोजन नहीं है, तथापि इतने समय तक मैं तुम्हारे बीच में इस वेश से स्थित था, परन्तु तुमने मुझ को पहचाना नहीं था, अतः भगवान् ने स्त्रीवेश का प्रदर्शन करके ज्ञापित किया है, इसीसे 'कस्याः पदानि चैतानि' अ० २७, श्लोक २७ ए किसके चरण हैं, इत्यादि से गोपियों ने समुत्प्रेक्षा की है।

उस समय गोपियों को अन्य सम्बन्ध दोष भी स्फुरित नहीं हुआ, नहीं तो—यदि अन्य सम्बन्ध दोष स्फुरित होता तो खण्डिता नायिकाओं की तरह अधिक खेद से गोपियां उसी प्रकार के वाक्य कहतीं, तथा दृष्टि में प्रीति से उत्फुल्लता नहीं होती, इसलिये भगवान् का उक्त प्रकार

का आविर्भाव लक्षित होता है, श्रीशुकदेव जी की उक्ति भी उसी प्रकार की है, 'सहस्रं व्रजाङ्गनाः अतप्यन्' अ० २७, श्लोक १ एकाएकी व्रजाङ्गना ताप को प्राप्त हो गई।

गोपियां यदि परस्पर मुखों को देखकर विचार करें तो विलक्षणता होने से अपने मण्डल में भगवान् को देखकर फिर ताप नहीं करें, किन्तु गोपियों ने परस्पर मुख देखकर विचार नहीं किया, यही बात उक्त सत्ताइसवीं अध्याय के श्लोक में 'सहसा' पद से ज्ञात होती है, इससे आगे 'पप्रच्छुराकाशवदन्तरं वहिर्भूतेषु सन्त' अ० २७ श्लोक ४ में भूतों में अर्थात् भक्तों में भक्तसदृश स्त्रीवेश से 'अन्तः' गोपियों के भीतर मण्डल में तथा रूपान्तर से गोपियों के मध्य पातिनी किसी गोपी के साथ गोपियों के मण्डल से बाहर स्थित, इस प्रकार का अर्थ है।

यदि शंका करो कि सोभगमद से मानवती गोपियों के अनुरोध से ईश्वर ने अपना वेश त्याग क्यों किया ? आत्मवेश त्याग के बिना भी किसी दूसरे प्रकार से भी कर सकते थे ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि (शौरिः) ।

यहां पर इस प्रकार आशय है कि जिस प्रकार श्री वसुदेवजी अपने लिये अपेक्षित प्रभु प्राकट्य साधन करने के लिये, प्राकट्य के आधारभूत देवकीजी की सापेक्षता से शूर पुत्र होकर भी अपना धर्मयुद्ध करना छोड़कर कंस के आगे दैन्यप्रदर्शन करते हुए, दुःख सहन किया।

भक्तदुःख नहीं होता तो अपना अपेक्षित प्रभु का प्राकट्य भी नहीं होता, इसी प्रकार 'रसो वै सः' इस श्रुति के अनुसार ईश्वर भी अपना अपेक्षित रस प्रकट करने के लिये रस का आधार भी अपेक्षित होने के कारण अपना धर्म ऐश्वर्य त्याग कर गोपियों का अनुरोध अङ्गीकार करते हैं।

यदि भगवान् गोपियों का अनुरोध स्वीकार न करते तो 'रसमेव लब्धवानन्दी भवति' इस श्रुति में एवकार से रसरूप होने पर भी जब तक दूसरे से रस का लाभ नहीं होता है, तब तक रसवस्त्व सिद्ध नहीं होता है, इसलिये जिस प्रकार से रस गोपियों में प्रकट होता है, उस प्रकार के करने पर भी भगवान् के ऐश्वर्य की हानि नहीं होती है, प्रत्युत, रसभोक्ता होने के कारण रस की सिद्धि ही होती है, भगवान् में कोई भी बात अयुक्त नहीं होती है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार भक्तों में लीलारस प्रकट करने के लिये पूर्व लीलारस से विलक्षण चतुर्भुज रूप से भगवान् वसुदेवजी के सकाश से प्रकट हुए, फिर वसुदेवजी को चतुर्भुजस्वरूप के दर्शन करके लीला विरोधी माहात्म्य ज्ञान हो जाने से, लीलारस को असम्भव मानकर भक्त सजातीय प्राकृत भाव स्वीकार करके लीलारस प्रकट करते हैं, उसी प्रकार यहां भी पहले नायिकाओं में लीलारस प्रकट करने के लिये लीलारस से विलक्षण नायकरूप से प्रकट हुए, नायक के दर्शन से उत्पन्न लीलाविरोधी मद मानात्मक दोष से रस को असम्भव मानकर रस सजातीय नायिका भाव स्वीकार करके लीलारस प्रकट करते हुए, इसी बात को ज्ञापन करने के लिये 'शौरि' पद कहा है।

दुष्टमारण, लीला का अनुकरण, भगवद्भावापन्न नायिकाओं को सम्भव होता है, किन्तु रससम्बन्धी लीला का अनुकरण नायिका के भाव को प्राप्त भगवान् में ही सम्भव होता है, रस सम्बन्धी लीला में आत्मा को छिपाकर कोई अनिर्वचनीय रस का अनुभव होता है, इसलिये भगवान् ने स्त्रीवेशधारण किया है, यह भाव है।

१. अथवा स्त्रीवेश से स्त्रियों को भी अपनी स्थिति ज्ञात न हो, इस प्रकार की कुशलता जिस प्रकार से सविषय होने से रसशास्त्रवेत्ता क्षत्रिय को होती है, उस प्रकार की अन्य को नहीं होती है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये शौरिपद कहा है।

इस लीला का अनुकरण अनिवचनीय है, इसलिये स्पष्टता से स्त्रीवेश नहीं कहा है।
यदि कहो कि जिस वेश से भगवान् पहिले निर्गोहित हुए, उसी वेश से प्रकट क्यों नहीं हुए, इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (समयमानमुखाम्बुजः) कपटवेश हास्य संकोच से है, जब तक मुख रूपा होता है, तब तक कपट नहीं लखा जाता यह भाव है, फिर स्मित से कपट लखा गया है।

जिस प्रकार सहस्र पत्रवाला कमल प्रत्येक दल पर बैठनेवाले भ्रमरों को रसपूरक होता है, उसी प्रकार आगे प्रतियुगल में एक-एक के प्रति प्रकट होकर गोपियों को रसपूरक भगवान् का श्रीमुख भी है, इस बात को ज्ञापन करनेके लिये अम्बुज पद कहा है।

अथवा समय-गोपियों का गर्व, उस गर्व को भी मान-अहङ्कार जिससे इस प्रकार का मुख-कमल जिसका, यह अर्थ है।

यदि शास्त्र की मर्यादा का विचार किया जाये तो अहङ्कार से कभी भी भगवान् की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु इस समय तो मानवती गोपियों के मध्य में 'तासामाविरभूत्' भगवान् प्रकट हुए हैं, इसलिये मानको भी भगवत्प्राप्ति करनेवाला कहा है, अतः भगवान् को भी अभिमान हुआ, इस कारण से समयमानत्व कहा है, यह अभिमान भी भक्तों में ही होना चाहिये, उसमें भी रसरीति से ही, इस बात को ज्ञापन करने के लिये मुख कमल में समयमान की उक्ति है।

अथवा गोपियों का समय तथा मान मुखकमल में जिसके, जिस प्रकार सङ्गम दशा में तुम्हारे हृदय में समय-मान हुए, उसी प्रकार विप्रयोग दशा में मेरे हृदय में समय-मान नहीं है, किन्तु मुख में है, उसमें भी समय-मान तुमसे निकले मेरे सम्बन्धी हैं, इसलिये मुझ सिवा अन्यत्र नहीं जा सकते हैं।

यद्यपि मेरे हृदय में तुम्हारे दोषरूप है, इसलिये नहीं रह सकते हैं, तथापि भक्त सम्बन्धी दोषों को मैं सहन करता हूँ, अतः मेरे मुख में स्थित हैं, इस बात को ज्ञापन करते हुए भगवान् के मुखकमल में समयमान है, यह भाव है।

अथवा समयमान मुख में अम्बुज, श्रम जल के कण जिसके, श्रमजल कणों को समय मानत्व नाम थोड़े थोड़े जलकण स्फुट होने को कहते हैं, जिस प्रकार गोपियों को भगवान् के अन्वेषण में परिश्रम हुआ, उसी प्रकार मुझ भगवान् को भी अन्वेषण आदि परिश्रम हुआ है, इस बात को सूचन करता भगवान् का समयमान मुख कमल है।

अथवा गोपियां भगवान् को ढूँढ रही हैं, और उनके श्रमका प्रिय को अनुभव होता है, इस प्रकार विरोधाभास दिखाते श्रमजल कण भगवान् के मुख में हैं।

अथवा समयमाना मुख में अम्बुजा-लक्ष्मी जिसके, यद्यपि लक्ष्मी जी का स्थान वक्षस्थल है, यथापि वक्षस्थल में स्थित मुझको देख कर गोपियों के साथ सङ्गम में प्रभुको प्रतिबन्ध होगा, तो फिर प्रभु आज मेरा निराकरण कर देंगे, इसलिये मैं मुख में स्थित हो जाऊँ दर्पण के अभाव से मुख में स्थित मुझ को प्रभु नहीं जाने देंगे, इस प्रकार विचार करके लक्ष्मी भगवान् की चरणरज भी स्थित हो गई, और कहने लगी कि मैंने अनेक साधन किये, किन्तु भगवान् की चरणरज भी प्राप्त नहीं हुई, और गोपियों के अनुरोध से ईश्वर क्या क्या कार्य करता है, इस प्रकार लक्ष्मी हँसने लग गई, फिर लक्ष्मी ने सोचा कि यदि ईश्वर मेरे हँसने को जान लेगा तो न जाने क्या करेगा, इस प्रकार भय से उक्त बात को ज्ञापन करने के लिये हास में मन्दता की है।

अथवा गोपियों का विरह से कृश शरीर तथा इनका वर्ण पहिले से बिगड़ गया था, इसलिये गोपियों के अङ्गान्तरों से निकल कर शोभात्मिका लक्ष्मी, अङ्गान्तरों से निकलने के समय गोपियों के दर्शन से वहाँ स्थिर हो गई, इस प्रकार हर्ष से मन्द हास है।

अथवा लक्ष्मी ने विचार किया कि भगवान् मेरे वश में नहीं हुए, किन्तु मेरी सजातीय गोपियों के वश में हो गये हैं, इसलिये इस समय भगवान् की स्वतन्त्रता हरण हो गई है, इस बात को देखकर मन्दहास करती हुई।

अथवा, समयमान, प्रकट किया मुखाम्बुज-मुखचन्द्र जिसका जिस प्रकार वर्षा में मेघों से पीडित चन्द्रमा होता है, और शरद में मेघ न होने से प्रकट होता है, उसी प्रकार भगवान् का श्री मुख भी गोपियों से अधिक खेद की तरह पहिले नील निचोल से पीडित हुआ, और आविर्भाव के समय नील निचोल को खोल दिया, इस लिये प्रकट हो गया, नहीं तो श्रीमुख के स्फुट भाव में वर्ण में विसदृशता होने से तथा कान्ति विशेष से वेश परिवर्तनमात्र से तिरोधान होना असंभव होता, यह भाव है।

अथवा समयमानमुखा-अम्बुजा-भूमि जिससे, 'अद्भुतः पृथ्वीति' यह श्रुति है, यहाँ पर यह आशय है कि जिस भूमि में गोपियों के साथ प्रभु रमण करते हैं, उस रमण दशा में भूमि को समग्र गोपियों के प्रिय स्वरूप का सम्बन्ध होता है, अन्य समय में तो भूमि को भगवान् के चरण का सम्बन्ध मात्र है, इसलिए भगवान् के विरह में पृथिवी भी पहिले विरह युक्त स्थित थी, अनन्तर भगवान् का जिस समय प्रादुर्भाव हुआ, उत समय गोपियों की तरह पृथिवी भी हँसने लग गई।

यद्यपि भूमि को भगवान् के चरण कमल का स्पर्श होने से अज्ञान उत्पन्न होता है, और अज्ञान से विरह का अभाव है, इसलिये पहिले खेदकी संभावना नहीं है, तथापि पूर्ण स्वरूप का सम्बन्ध न होने से विरह ही है, इसलिये पहिले विरह कहा है।

अथवा समयमान मुख अम्बुज-यमुना जीका वायु जिससे, विप्रयोग में रति नहीं होती है, अतः श्रम भी नहीं होता है, उस समय वायु अपने उपयोगी नहीं होता है, इसलिये वायु अधिक खेद का हेतु होता है, वह वायु पहिले खिल था भगवान् के प्रकट होने पर हर्षयुक्त हो गया, यह भाव है।

अथवा समयमान मुखा, खिलेपुष्प अम्बुज-सरस वृन्दावन भूमि से उत्पन्न वृक्ष लतादि जिससे, पहिले वृक्षादि के नीचे भगवान् की क्रीडा नहीं होती थी, इसलिये माला केशपाश आदि के लिये वृक्षों का अङ्गीकार नहीं होता था इसलिये वृक्षलता आदि खिल थे, भगवान् के प्रकट होने पर हर्षयुक्त हो गये, यह भाव है।

अथवा, समयमान मुख, विकसित अम्बुज, कुमुद-कमल जिससे, पहिले शयन आदि के लिये कमल आदिका अङ्गीकार नहीं था, इस समय भगवान् के प्रकट होने पर मुख कमल विकसित हो गये, यह भाव है।

अथवा समयमान मुख, प्रकाश विशेषवान् अम्बुज, चन्द्र जिससे, चन्द्रमा भगवान् और भगवान् की प्रियाओं को रसोद्दीपन के लिये प्रकट हुआ है, भगवान् के विरह में रस सम्बन्धी सब वस्तु अस्त व्यस्त देखकर मलिन सा था, किन्तु भगवान् के प्रकट होने पर विशेष प्रकाशवान् हो गया।

अथवा, समयमान मुखाम्बुजा, भ्रमर जिससे कारण कि प्रभुका श्रीमुख ही कमल-रसात्मक भ्रमरों को है, इसलिये प्रकट होने पर भ्रमर हर्ष युक्त हुए, भ्रमर भगवान् के एक श्रीमुख का ही

रस पीने वाले हैं, 'एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते' इस प्रभुवाक्य से भ्रमर निरन्तर प्रभु के सङ्ग में ही रहते हैं, इसलिये पहिले प्रभुविरह से असङ्गत थे, प्रभु प्राकट्य होने पर पहिले की तरह प्रभुके सङ्ग में हो गये, यह भाव है, इस प्रकार भगवान् के विरह में जहां रस संबंधियों का भी अन्य प्रकार हो गया, वहां फिर साक्षात् रस का अनुभव करने वाली श्रीमद्व्रजरत्न प्रेयसियों को जो जो हुआ, उस उसमें क्या आश्चर्य है, इस प्रकार समुदाय से तात्पर्य सूचित किया है।

यदि शंका करो कि प्रकट होने के अनन्तर स्त्रीवेश से स्थित रहे, अथवा भगवान् अपने वेश से स्थित हुए।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'पीताम्बरधरः' भगवान् ने स्त्री वेश त्यागकर अन्य वेश धारण कर लिया, यह बात 'पीताम्बरधरः' इस पद के 'धर' पद से सूचित होती है, नहीं तो पीला है अम्बर जिसका, पीताम्बर, इस प्रकार बहुव्रीहि समास से उतना अर्थ सिद्ध हो जाता है, फिर धर पद नहीं कहते, अतः धर पद से स्त्रीवेश त्याग, और दूसरा अपना वेश धारण अर्थ होता है।

यदि कहो कि उक्त वेश समय में पीताम्बर भगवान् ने कहा धरा, इस के उत्तर में कहते हैं कहीं एकान्त में, निकुञ्ज में, अथवा वृक्ष की कोटर में धारण किया है, इसी आशय से 'पीताम्बर धरः' आपने पीताम्बर धारण किया, कहा है।

अथवा आप गोपियों के परिरम्भण, सम्भ्रमण, समारम्भण, से शोभित, इस मेरे वक्षस्थल को अन्य कोई मत देखो, इस प्रकार अन्य से गोपन करने के लिये पीताम्बर धारण किया है।

अथवा पीताम्बर स्वरूप का आवरण करने वाला है, इसलिये मायारूप है, उस पीताम्बर को भगवान् ने बाहिर धारण किया है, अतः भीतर मेरे कपट नहीं है, इस प्रकार कापट्य का अभाव ध्वनित होता है।

प्रश्न और उत्तर पर्यन्त गोपियों के भीतर भगवान् कपटी हैं, इस प्रकार धारणा थी, नहीं तो 'भजतोऽनु भजन्त्येके' इत्यादि प्रश्न गोपियां नहीं करतीं।

भगवान् प्रश्न के उत्तर में अपनी निष्कपटता स्वयं ही कहेंगे 'न पारयेऽहं' इस वाक्य से, नहीं तो जिस प्रकार तुमने अभिमान किया, उस प्रकार मैंने भी अभिमान किया, इस प्रकार भगवान् स्पष्ट कहते, कारण कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' जो मुझ को जिस प्रकार भजता है, मैं तुम्हारा ऋणी उसको उसी प्रकार से भजता हूँ, इस प्रकार ईश्वर का स्वभाव है, फिर भगवान् 'मैं तुम्हारा ऋणी हूँ' इस प्रकार ऋणित्व अङ्गीकार नहीं करते, कारण कि ईश्वर का नियामक कोई नहीं है।

इन सब बातों से सिद्ध होता है कि भगवान् का गोपियों में निरुपधि प्रेम है, और वह निरुपधि प्रेम एकरस है, भगवान् ईश्वर है, इसलिये ईश्वर में कापट्य की सम्भावना नहीं है, यह ज्ञापन किया है।

वास्तव में तो गोपियों के भीतर भी कापट्य की सम्भावना नहीं है, कारण कि अभिमन्यु रस का उपयोगी भगवान् ने गोपियों में मानांश स्थापन किया है, इसी से गोपियों ने भगवान् से प्रश्न किया है।

अतः 'ईषत्कुपिता' गोपियां थोड़ा क्रोध युक्त हो गई, इस प्रकार आगे कहेंगे, गोपियों में कोप स्वाभाविक है, प्रिय भगवान् का किया नहीं है, यदि प्रियकृत कोप होना तो 'कोपिताः' गोपियों को कोप कराया इस प्रकार कहते, गोपियों को ईश्वर में केवल कपट की सम्भावना होती है, वह पीताम्बर बाहिर धारण करने से दूर हो गई है।

यदि कहो कि भगवान् ने स्त्रीवेश भी उसी समय ग्रहण किया है, इस प्रकार मालूम होता है, यदि इस बात को नहीं मानने तो 'रेमे तथा चात्सरतः' इस प्रकार पूर्व में कहा है कि भगवान् ने अन्य गोपी के साथ रमण किया है, यह वाक्य संगत नहीं होगा, अतः भगवान् में कापट्य किस प्रकार नहीं है, भगवान् में तो कापट्य विद्यमान ही है।

इस प्रकार की शंका का उत्तर देते कहते हैं कि आपका कहना ठीक है, किन्तु आगे भगवान् का अविर्भाव प्रत्येक गोपी के साथ कहा है, इसलिये एक रूप से हमारी स्वामिनी के साथ रमण किया, और दूसरे स्वरूप से स्त्रीवेश करके भगवान् गोपियों में स्थित हो गये, इसलिये दो स्वरूप कहने से कापट्य की संभावना भी नहीं होती है।

'रेमे तथा च' इसमें 'च' कारसे गोपियों के साथ स्त्रीवेश धारण करके भगवान् ने प्रकारान्तरीय रमण किया है, इस प्रकार कहा है, अतः तुम्हारा कहा दूषण भगवान् में नहीं है, भगवान् की सर्वलीला उज्ज्वल है।

अथवा 'पीताम्बरधरं' पीत-गोपियों से ग्रस्त-गोपियों से एक व्याप्त तादृश अम्बर-हृदयावच्छिन्न आकाश, उस आकाश को भगवान् धारण करते हैं, इस प्रकार पीताम्बरधारी भगवान् हैं, परब्रह्म एक रस है, कारण कि धर्म, और धर्मों का अभेद है, स्वरूप की तरह हृदय भी व्यापक है, इस बात को कहने के लिये यहां अम्बर पद कहा है, यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो फिर एक विषय में लगा हुआ मन विषयान्तर में नहीं जाता है, इसलिये मन को अनेक नायिकाओं से व्याप्यता नहीं होगी, अतः भगवान् का मन व्यापक है, भगवान् का मन अपने विरह से उत्पन्न गोपियों के क्लेश का दर्शन करके जैसे तैसे फिर जाने की इच्छा से धारण किया स्थित है, इस प्रकार धारण की उक्ति से व्यंजित होता है।

यदि कहो कि भगवान् अच्युत-च्युतिरहित हैं, इसलिये स्त्री विना कभी भी नहीं रह सकते हैं, इस प्रकार अनुभव करने वाली गोपियों के मन में लक्ष्मी जी के साथ, अथवा हमारे बीच में से किसी गोपी के साथ भगवान् अवश्य स्थित हैं, इस प्रकार का वितर्क गोपियों को क्यों नहीं हुआ। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (सखी) भगवान् माला पहिने हैं, यदि किसी अन्य के साथ भगवान् की स्थिति होती तो उसके अङ्ग सङ्ग में प्रतिबन्धकता से माला ही नहीं रहती, और यदि माला रहती तो अङ्ग सङ्ग से विलक्षण हो जाती, अतः भगवान् अन्य स्त्री के साथ स्थित नहीं हैं, दूसरी बात यह है कि माला कीर्ति रूप है, जिस समय गोपी के साथ भगवान् रमण करते हैं, उस समय गोपी जय माला अर्पण करती है, तब उस माला से कीर्ति होती है, अन्य प्रकार से कीर्ति नहीं होती है, इस कारण से भी अन्य स्त्री के साथ भगवान् स्थित नहीं हैं।

और गोपियों के विरह में भगवान् अपना ताप निवृत्त करने के लिये गोपियों द्वारा अर्पित माला को हृदय में जो धारण करता है, वह फिर अन्यथा कैसे करता है, यह भाव है और भी गोपियां कहती हैं कि जिस प्रकार स्वयंवर में वरतनु वर के कण्ठ में माला अर्पण करती है, उसी प्रकार गोपियां भी प्रेमलक्षणा माला अर्पण करतीं अतः प्रेमलक्षणा माला युक्त भगवान् अन्यथा कैसे करते।

वह माला भी केवल कण्ठमात्र में नहीं, किन्तु बाहर-भीतर धारण करते हैं, इसलिये यहां कण्ठ पद नहीं कहा है।

इससे यह भी सूचित होता है कि जिस प्रकार एक गोपी से वृत्त भगवान् अन्य गोपी से भी वृत्त होते हैं, उस समय आपस में सापत्न्यभाव नहीं होता है, जब कि निकट में आई हुई द्विजपत्नियों में भी सापत्न्यभाव नहीं हुआ, तब अन्य स्त्रियों की कहां बात है, यह भाव है।

यदि शंका करो कि काम से मोहित क्या-क्या नहीं करता है, इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (साक्षान्मन्मथमन्मथः) मन्मथ-काम विषय द्वारा सब को ही मोहित करता है, किन्तु साक्षात् स्वयं मोह नहीं करता है, कारण अनङ्ग-अङ्गरहित है, और भगवान् तो प्रकट स्वरूप हैं, इसलिये साक्षात् स्वयं ही मन्मथ को मोहित करते हैं, फिर मन्मथ-काम का किया मोह भगवान् को कैसे हो सकता है, यह भाव है।

दूसरी बात यह है कि भगवान् का स्मित और पीताम्बर दोनों मोह करनेवाले हैं, भगवान् में दोनों वस्तु विद्यमान हैं, इसलिये भगवान् जैसे-जैसे जो-जो करता है, वैसे-वैसे वह-वह सब युक्त ही है, कारण कि आप ईश्वर हैं, इसलिये कोई बात अयुक्त नहीं है, इस प्रकार सिद्धान्त है।

यदि शंका करो कि भगवान् अलौकिक रीति से गोपियों का मान दूर करने के लिये बाहर से तिरोहित होकर गोपियों के भीतर प्रकट हुए, इस प्रकार आचार्यचरणों ने व्याख्यान किया है, अतः आचार्यों के व्याख्यान से विरोध-सा प्रतीत हो रहा है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि आचार्यों के व्याख्यान का तात्पर्य बिना जाने विरोधी मान्य होता है, सुनिये, भगवान् बाहर से तिरोहित हो गये, इस पक्ष में भी बाहिर भगवान् नहीं है, इस प्रकार कह नहीं सकते हो, कारण कि भगवान् व्यापक है, इसीसे 'आकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तम्' भगवान् आकाश की तरह भीतर-बाहिर प्राणियों में स्थित है, इस प्रकार शुकदेवजी ने भी कहा है, इसलिये भगवान् का गोपियों को दर्शन न होना ही—अदर्शन ही तिरोधान है, वह अदर्शन तिरोधान माया से ही वेशान्तर से भी सम्भव होता है, इसलिये कोई विरोध नहीं है।

फल प्रकरण में जिस प्रकार पहिले अलौकिक रात्रियों में रमण अलौकिक रीति से कहा है, उसी प्रकार आगे लौकिक रात्रियों में रमण लौकिक रीति से भी किया है 'एवं शशाङ्कांशु-विराजिता निशा' अ० ३, श्लोक २६ इसमें आगे कहेंगे, इससे अलौकिक रात्रियों में आधिभौतिक लौकिक रात्रियों का स्थापन किया है, और भगवान् की लीला नित्य है, इसलिये एक समय में दोनों जगह लीला सम्भव होती है, अतः एक समय में दोनों प्रकार का कथन है, इसमें कहा हुआ विरोध सम्भव नहीं होता है, इस प्रकार श्रीविठ्ठलेश्वर प्रभु कृत 'तासामाविरभूत्' इस श्लोक के लेख की भाषा पूर्ण हुई ॥ २ ॥

(सुबो०) ततो यज्जातं तदाह तं विलोक्येति ।

अब भगवान् के प्राकट्य के अनन्तर जो कुछ हुआ, उसका वर्णन शुकदेवजी करते हैं।

तं विलोक्यागतं प्रेष्टं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः ।

उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥ ३ ॥

पदपदार्थ—(तं) पूर्व में कहा (प्रेष्टं) प्रियतम को (आगतं) प्रकट हुए को (विलोक्य) देखकर (प्रीत्युत्फुल्लदृशः) प्रीति से प्रफुल्लित दृष्टिवाली (सर्वाः) सर्व (अबलाः) अबलायें (तन्वः) शरीर के कर चरणादि अवयव (आगतं) आया हुआ (प्राणमिव) प्राण की तरह (युगपत्) एकदम (उत्तस्थुः) उठ पड़ीं ॥ ३ ॥

भाषार्थ—परम प्रिय को प्रकट हुआ देखकर प्रीति से प्रफुल्लित दृष्टि वालीं सर्व अबलायें जिस प्रकार शरीर के अवयव कर चरणादि प्राणों के आने से सचेतन हो जाती हैं उसी प्रकार सर्व गोपियाँ एकदम उठ पड़ीं ॥ ३ ॥

(सुबो०) तमागतं विलोक्य युगपत् सर्वा उत्थिताः । पूर्वमाविर्भावमुक्त्वा अधुना यदागमनमुक्तम्, तद्विलोकनसमये स्वामिनीभावानुवादरूपम् । पूर्वमन्तःस्थितोऽधुना बहिरागत इति वा ज्ञापनाय तथोक्तिः । ननु किमाश्चर्यं भगवत्यागते उत्थिता इति । तत्र न ह्येताः सजीवाः स्थिताः, किन्तु निर्जीवा इति वक्तुं दृष्टान्तमाह । तन्वः करचरणाद्यवयवाः । प्राणमागतमिवेति । प्रयत्ने हि एकमेवाङ्गं व्यापृतं भवति, प्राणे तु सर्वाणि सम्भूय । अतो बहुवचनं युगपदुत्थानार्थम् । उत्थानं पञ्चानां भाव्यम्, देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवानाम् । तत्र जीवस्यान्याधीनमुत्थानम् । परं तस्मिन्नागते सर्वाण्युत्तिष्ठन्ति । स तु भगवति प्रविष्टः, भगवत्सङ्गे समागतः, भगवत्युत्थित एवोत्थितः । अन्तःकरणं तु उत्थितमित्यत्र हेतुमाह प्रेष्टमिति । अत्यन्तं प्रियो भगवान् । तं दृष्ट्वा उत्थितम् । भगवति या प्रीतिस्तया कृत्वा उत्फुल्ला दृक् यासाम् । अनेन प्रीत्या इन्द्रियाणामुत्थानम् । ('एतासां विलोकनार्थमेवागमनमित्यागमनमात्रेण विलोकनमादौ संपन्नम् । उत्फुल्लता तु ततो भिन्ना । तस्याः पुष्पधर्मत्वेन तदुक्त्या दशममलत्वं व्यज्यते । तत्र प्रीतेर्हेतुत्वोक्त्या इयदवधि तत्कार्याभावेनाधुनैव तत्प्राकट्यं ज्ञाप्यते रवेरिव । विरहे सर्वतिरोधानादेतत्तिरोधानमप्यासीत् । अत एवाबलात्वमुक्तम् । कार्यमात्रे स्वसामर्थ्याभावज्ञापनार्थम् । दृष्टान्तेनैव प्राणानामुत्थानम् । प्राणानां भगवान् प्राण इति । शरीरं तु पूर्वोक्ताभिलषितपदार्थत्वेन निरूपणात् उत्थितमित्यत्र तमिति हेतुः) ॥ ३ ॥

भगवान् के आगमन को देखकर सब गोपियाँ एकदम उठ पड़ीं, पहिले द्वितीय श्लोक में भगवान् गोपियों के मध्य में ही प्रकट हुए, इस प्रकार कहा है, अब इस तृतीय श्लोक में धर्मी भगवान् स्वयं पधारे ।

अथवा पहिले भगवान् गोपियों के भीतर हृदय में विराजमान थे, इस समय भीतर से बाहर पधारे हैं, इस बात का ज्ञापन करने के लिये भगवान् का आगमन कहा है ।

यदि आप कहो कि भगवान् जिस समय पधारे उस समय सब गोपियाँ उठ पड़ीं, इसमें आश्चर्य की क्या बात है ।

इस शंका का उत्तर लेते शुकदेवजी कहते हैं कि जब तक भगवान् नहीं पधारे थे तब तक गोपियों में जीव नहीं था, बिना जीव की थीं, निर्जीव गोपियाँ भगवान् को पधारे हुए देखकर एकदम उठ पड़ीं, यह तो महान आश्चर्य की बात है, इसलिये इस बात को स्पष्ट करने के लिये शुकदेव जी दृष्टान्त कहते हैं, (तन्वः प्राणमिवागतम्) 'तन्वः' शरीर के कर-चरणादि अवयव जिस प्रकार प्राण आने पर उठ पड़ते हैं, उसी प्रकार भगवान् का आगमन देखकर गोपियाँ निर्जीव थीं, वे सब सजीव होकर उठ पड़ीं ।

अपने प्रयत्न करने पर एक ही अङ्ग अपना कार्य करता है, किन्तु प्राण आनेपर तो हस्त चरण आदि सब अवयव इकट्ठे होकर कार्य करते हैं ।

१. (प्रभुणां स्यादिति) ।

बृहदारण्यक में 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च' इस ब्राह्मण में सब इन्द्रियों की तथा शरीर की स्थिति मुख्य प्राण के अधीन है, इस प्रकार प्रतिपादन किया है, और यह बात प्रत्यक्ष भी है, इसलिये गोपियाँ एक दम उठ पड़ीं, इसी बात को सूचन करने के लिये मूल में 'उत्तस्थुः' यह बहु वचन का प्रयोग किया है।

उत्थान देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, और जीव इन पाँचों का होता है, यद्यपि उत्थान देह का ही प्रतीत होता है, तथापि व्युत्पादन रीति से पाँचों का ही कहा है।

उसमें जीव का उत्थान अन्य के अधीन है, अर्थात् लीलासहित हृदय में स्थित भगवान् में जीव स्थित है, इसलिये जीव का उत्थान भगवान् के अधीन है, जिस समय शरीर में जीव जाता है, उस समय सभी देहादि उठ पड़ते हैं, 'चित्तेन हृदये चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा। विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥' इस प्रकार भागवत तृतीय स्कन्ध में कहा है कि जीव का आगमन होने पर पुरुष का उत्थान हुआ है, अन्यत्र भी इसी प्रकार को जानना चाहिये।

यदि शंका करो कि पूर्व में जीव के अभाव में पहिली दो अध्यायों का कार्य किस प्रकार सम्पादन हुआ।

तो इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि वह जीव भगवान् में प्रविष्ट है, अर्थात् पहिले भगवान् गोपियों के भीतर प्रविष्ट थे, इसलिये सुषुप्ति की तरह जीव भी भगवान् में प्रविष्ट था, इसीसे 'जगृहस्तदात्मिकाः' अ० २७, श्लोक २ इसमें कहा है।

सुषुप्ति में प्राज्ञ को सम्परिष्वङ्गमात्र है, अन्य क्रिया नहीं है, केवल सुखमात्र है, और जीव को तम के अभिभाव से अज्ञान है।

प्रकृत—गोपियों के प्रसङ्ग में तो भगवान् को ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भाव से लीला करने की इच्छा है, इसलिये गोपियों के जीव को तम से अभिभव नहीं है, अतः सर्व कार्य सम्पादन में कोई आपत्ति नहीं है, यह भाव है।

गोपियों का जीव भगवान् के सङ्ग में रहता था, कारण कि भगवान् भीतर विराजमान थे, भगवान् में सङ्गत था, अब भगवान् प्रकट हो बाहिर पधारे, तब गोपियों का जीव भी उत्थित हुआ, अर्थात् अपने स्थान में आ गया।

मूल में (आगतं) इस पद से भगवान् का आगमन जीव के उत्थान में हेतु है। गोपियों का अन्तःकरण भी उठा, इसमें हेतु शुकदेवजी कहते हैं, (प्रेष्ठम्) भगवान् गोपियों के अत्यन्त प्यारे हैं, इसलिये भगवान् को आया देखकर गोपियों का अन्तःकरण भी उठ पड़ा।

भगवान् में जो गोपियों की प्रीति है, उस प्रीति से गोपियों के नेत्र उत्फुल्ल-विकसित हो गये, गोपियों की भगवान् में प्रीति के होने के कारण इन्द्रियों का उत्थान हो गया, अर्थात् इन्द्रियों के उत्थान में गोपियों की प्रीति हेतु है, गोपियों का विलोकन करने के लिये ही भगवान् का आगमन हुआ है, इसलिये भगवान् के आगमनमात्र से गोपियों को भगवान् का दर्शन हुआ है, किन्तु गोपियों के नेत्रों में उत्फुल्लता दर्शन से भिन्न है—अर्थात् भगवान् के दर्शन से गोपियों

विकसित होना पुष्प का धर्म है, इसलिये मूल में नेत्रों को उत्फुल्लता कहने से गोपियों की चक्षुषों का कमलत्व व्यंजित होता है और उत्फुल्लता में प्रीति हेतु कहा है।

इससे पूर्व अब तक प्रीति का कार्य—गोपियों के नेत्र विकसित नहीं हुए थे, किन्तु इस समय सूर्योदय से जिस प्रकार कमल खिल जाते हैं, उसी प्रकार प्रीति का कार्य—गोपियों के नेत्र विकसित हो गये, कारण कि भगवान् के विरह में सब का तिरोधान हो गया था, इसलिये गोपियों की जो भगवान् में प्रीति थी, उसका भी तिरोधान हो गया था, इसीलिये मूल में (अबलाः) बलरहित, इससे कार्य मात्र में अपनी सामर्थ्य का अभाव बतलाया है।

मूल श्लोक में 'प्राणमिवागतम्' यह दृष्टान्त दिया है, इससे प्राणों का उत्थान भी कह दिया है, कारण कि भगवान् प्राणों के भी प्राण हैं, अर्थात् आधिदैविक प्राण हैं।

पूर्व कहा इच्छित पदार्थ निरूपण करने से शरीर का भी उत्थान हुआ है, इसमें 'तम्' यह हेतु है, अर्थात् भगवान् शरीर धारण करके स्वरूप से प्रकट हों इस प्रकार गोपियों की इच्छा थी, यहां भगवान् के प्राकट्य में शरीर-स्वरूप का वर्णन किया है, इसलिये गोपियों का शरीर भी उठ पड़ा, इस प्रकार का तात्पर्य है ॥ ३ ॥

(सुबो०) एवमुत्थितानां भगवता सह स्थितानां कार्यमाह काचिदिति पञ्चभिः ।

इस प्रकार गोपियों के देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और जीव इन पाँचों का उत्थान कहा, उक्त पाँचों भगवान् के साथ रहे, अब इन पाँचों का कार्य कहते हैं। पाँच श्लोकों से।

काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा ।

काचिद् दधार तद्वाहुमंसे चंदनरूपितम् ॥ ४ ॥

पदपदार्थ—(काचित्) कोई गोपी (शौरेः) भगवान् के (कराम्बुजं) हस्त-कमल को (मुदा) आनन्द से (अञ्जलिना) अपनी अञ्जली से (जगृहे) ग्रहण करती हुई (काचित्) कोई गोपी (चंदनरूपितम्) चंदन से लिप्त (तद्वाहुं) भगवान् की भुजा को (अंसे) अपने कंधे पर (दधार) धारण करती हुई ॥ ४ ॥

भाषार्थ—किसी गोपी ने भगवान् का हस्त कमल आनन्द से अपनी अञ्जलि में धारण किया, और किसी गोपी ने चंदन से लिप्त भगवान् का हस्त अपने कंधे ऊपर धारण किया ॥ ४ ॥

(सुबो०) पूर्वमनेकविधा अपि भगवत्याविभूते सप्तविधा एव जाताः । एको भगवान् सर्वार्थं प्रकटीभूतः । तत्र या अग्रे स्थिता, ता अपि निकट स्थिता एव पूर्वमुच्यन्ते । शुद्धसात्त्विक्यः शुद्धरजोयुक्ता रजः सात्त्विक्यश्च, निर्गुणाश्च, शिष्टाः सप्तविधा गण्यन्ते । काचिदत्र शौरेः कराम्बुजं मुदा अञ्जलिना भगवन्मात् । एक एव हस्तो भगवता प्रसारितः । पीताम्बरधर इति द्वितीयेन हास्यनिवारणार्थं पीताम्बर ग्रहणात् । बहुमानेन ग्रहणमञ्जलिना भवति । शौरेरिति वीरत्व जापनाय । मुदेति पूर्वोक्त वलेश व्यावृत्त्यर्थम् । अन्यापुनस्ततोऽप्यन्तरङ्गा भविष्यामीति तद्वाहुमंसे दधार । यथा लिङ्गितैव भवति । अग्रे एतस्या विनियोगो वक्तव्यः । 'भुजमगरुसुगन्धं मूर्धन्यं धास्यत् कदानु' इति । अतएव तदीयो धर्मो-

न्तः स्थितस्तस्या निरोधं साधयिष्यतीति चन्दनरूपितमित्युक्तम् । चन्दनेनरूपितं लिप्तम् । चन्दने हेतुः पूजा लक्ष्मीर्वा पूर्वोक्ता । तथा ताम्बूलेपि । एवं सामग्री प्रकटनेन तासां देवोत्तमानां च कृत्यं प्रदर्शितम् ॥ ४ ॥

पहिले गोपियां अनेक प्रकार की थीं किन्तु भगवान् का आविर्भाव होने के अनन्तर सात प्रकार की ही हो गई, कारण कि जब तक भगवान् प्रकट नहीं हुए थे, तबतक गोपियों के चित्त में विक्षेप हो रहा था, इसलिये पूर्व २८ वीं अध्याय में वचन रीति से गोपियों के भावानुसार अनेक प्रकार प्रतिपादन किये थे, अर्थात् सत्त्व रज तम मिश्रण तथा निर्गुण भाव से अनेक प्रकार कहे थे, किन्तु इस समय तो इस २९ वीं अध्याय में प्रभु भगवद्दार्थ-ऐश्वर्यादि छै गुणों को प्रकट करके स्वयं प्रकट हुए हैं, इसलिये गोपियां भी भगवान् के प्रकट स्वरूप में ही एक स्थित हैं, अतः प्रभुमय हो गई हैं, अर्थात् भगवान् का स्वरूप रसात्मक है, इसलिये गोपियों का भी स्वरूप रसात्मक हो गया, गोपियों के धर्म भी रसात्मक हो गये हैं, इसी से भृकुटि बन्धन आदि भाव गोपियों में संपटित होते हैं, यह भाव है ।

एक ही भगवान् सर्व गोपियों के लिये प्रकट हुए हैं, इसलिये गोपियों के समुह में जो जो गोपियां दूर में स्थित थीं, वे भी भगवान् के समीप में स्थित हो गईं इस बात को पहिले कहते हैं, कारण कि भगवान् का प्राकट्य सभी के लिये है, सर्वत्र ही प्रकट होकर सभी गोपियों को निकटता संपादन की है, इसलिये भगवान् का हस्तकमलधारण आदि कार्य सर्वगोपियां एकसमय में ही करती हैं, यह भाव है ।

मूल श्लोक में 'काचित्' यह एक वचन एक भाव वाली गोपियों का सूचक है, वास्तव में तो इस प्रकार की बहुत सी गोपियां हैं, इस प्रकार जानना चाहिये ।

यद्यपि भगवान् के ऐश्वर्यादि छै धर्म और एक धर्मी भगवान्, इस प्रकार गोपियों में सात प्रकार विवक्षित हैं, तथापि पूर्व अष्टादशवीं अध्याय में सत्त्व रज तम निर्गुण आदि अंशों का निरूपण किया है, वे अंश भी इस समय गोपियों में स्थित हैं, इस कारण से यहां गुणों के प्रकार से सात प्रकार का वर्णन करते हैं, (१) शुद्ध सात्त्विकी, (२) शुद्ध राजसी, (३) राजस सात्त्विकी, मूल में 'रजः सात्त्विक्यश्च' कहा है इसमें चकार से यहां (४) सत्त्व प्रधान राजसी, (५) और निर्गुण, इसी प्रकार मूल में 'निर्गुणाश्च' इसमें चकार है, इससे तमः सजातीय भाववाली छठी जाननी चाहिये, इस प्रकार छै हुईं, शेष चार सत्त्वप्रधान तामसी, रजःप्रधान तामसी, तमःप्रधान सात्त्विकी, और तमःप्रधान राजसी, ये सब एक प्रकार की यहां कही हैं, इस प्रकार सात प्रकार हैं ।

पांचवीं अध्याय, अर्थात् ३० तीसवीं अध्याय में 'काचित् समं' इस दशवें श्लोक में भगवान् के गुणरूप का वर्णन करेंगे, सुबोधिनी में जो क्रम निरूपण किया है, वह क्रम विवक्षित नहीं है, 'निर्गुणाश्च' यहां क्रम की अविवक्षा से पहिले तामसी, इसके अनन्तर निर्गुण का निरूपण करेंगे, इस प्रकार जानना चाहिये ।

कोई गोपी यहां भगवान् के हस्त कमल को आनन्द से अपनी अञ्जलि में ग्रहण करती हुई, भगवान् ने अपना एक ही हस्त प्रसारित-लम्बा किया था, कारण कि 'पीताम्बरधरः' आप पीताम्बर को हास्य निवारण करने के लिये दूसरे हाथ से धारण कर रहे हैं, जिस वस्तु का बहुत सम्मान किया जाता है, वह वस्तु अञ्जलि से ग्रहण की जाती है ।

मूल श्लोक में भगवान् के लिये 'शोरेः' पद का प्रयोग किया है, वह वीरत्व ज्ञापन करने के लिये किया है ।

पहिले अध्याय में गोपियों को जो व्लेश का वर्णन किया था, वह व्लेश गोपियों का दूर हो गया, इस बात को सूचन करने के लिये मूल में 'मुदा' पद का प्रयोग किया है ।

पूर्वोक्त गोपी की अपेक्षा में भगवान् की अन्तरङ्ग हो जाऊं, इस भावना से अन्य गोपी फिर भगवान् की भुजा को अपने कंधे ऊपर धारण करती हुई, इस प्रकार भुजा धारण की कि जिस प्रकार भगवान् आलिङ्गन कर ले ।

आगे ४४ वीं अध्याय में 'भुजमगरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु' अगर से सुगन्धित हस्त प्रभु मेरे मस्तक पर कद धरे'गे, इस प्रकार भगवान् के बाहुका विनियोग आगे उक्त गोपी में कहेंगे ।

यदि शंका करो कि इस २९ वां अध्याय में जो अनुभव हुआ है, उसकी ही ४४ वां अध्याय में स्फूर्ति होनी चाहिये, कारण कि अनुभूत पदार्थ की ही स्फूर्ति होती है, इस प्रकार का नियम है । और यदि कहो कि अमर गीत ४४ वां अध्याय में यहां पर इस २ अध्याय में कहे हुये बाहु का ही सत्त्व है, तो फिर ४४ वां अध्याय में 'अगरुसुगन्ध' के स्थान पर चन्दन सुगन्ध कहना चाहिये था, इसलिये इस बाहु का वहां सत्त्व नहीं है ।

इस शंका के उत्तर में श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि वहां ४४ अध्याय में इसी बाहु की स्फूर्ति हुई है, कारण कि भगवान् का बाहुसंबन्धी जो स्वाभाविक धर्म है, वह चन्दन के भीतर स्थित है, वह अगर सुगन्ध धर्म गोपियों को निरोध सिद्ध करेगा, इसी तात्पर्य को समझाने के लिये, और चन्दन तो आगन्तुक धर्म है, इस बात को स्पष्ट बतलाने के लिये शुक्रदेव जी ने यहां 'चन्दनरूपितम्' कहा है, इसी कारण से जिस समय पूतना का देह जलता था, उस समय भगवान् के सम्बन्ध से पूतना के सर्व पाप नष्ट होकर धूआं में अगर की सुगन्ध का ही वर्णन किया है, 'देहमानस्य देहस्य धूमश्चागस्तीरभः' अतः कोई विरोध नहीं है ।

'चन्दनरूपितं' चन्दन से रूपित-लिप्त भगवान् की भुजा है, भगवान् की भुजा में चन्दन का लेपन कैसे हुआ है, इसमें हेतु बतलाते हैं, कि दूसरे श्लोक में जो 'सखी' पद है, उससे सूचन किया था कि ब्रह्मा, तथा लक्ष्मी जी ने भगवान् के आगमन समय में पूजा की थी, उस समय चन्दन भुजा में लिप्त किया था, अथवा 'पीताम्बरधर' पद से सूचित भगवान् ने लक्ष्मी जी के साथ रमण किया था, उसमें चन्दन का लेपन हुआ था ।

इसी प्रकार आगे पांचवें श्लोक में जो ताम्बूल का वर्णन किया है, उसमें भी ब्रह्मा तथा लक्ष्मी जी ने पूजा के समय पान खिलाया है, अथवा लक्ष्मी जी के साथ रमण में लक्ष्मी जी ने पान खिलाया है, इस प्रकार जानना चाहिये ।

इस प्रकार माला आदि सामग्री सहित भगवान् ने प्रकट होकर गोपियों के ऊपर अनुग्रह विशेष करके देवोत्तम ब्रह्मादिकों का पूजा रूप जो कार्य है वह ब्रजसुन्दरियों के लिये दिखाया है, कारण कि पूजा में स्थापित चन्दनादि का ब्रजसुन्दरियों ने बाहुधारण में प्रत्यक्ष दर्शन किया है ॥ ४ ॥

काचिदञ्जलिनाऽगृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम् ।

एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात् ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—(काचित्) कोई गोपी (तन्वी) कोमल अङ्गवाली (ताम्बूलचवितम्) पानचवित को (अञ्जलिना) अपनी अञ्जलि से (अगृह्णात्) ग्रहण करती हुई (एका) एक गोपी (सन्तप्ता) अत्यन्त विरह से आतुर (तदङ्घ्रिकमलं) भगवान् का चरण-कमल (स्तनयोः) अपने स्तनों पर (अघात्) धारण करती हुई ॥ ५ ॥

भाषार्थ—कोई कोमल अङ्गवाली गोपी भगवान् का चवित-खाया पान अपनी अञ्जलि से ग्रहण करती हुई, और एक गोपी विरह से अत्यन्त तप्त हुई भगवान् का चरण-कमल अपने स्तनों में धारण करती हुई ॥ ५ ॥

(सुबो०) एता आरोहुकामाः देवोत्तमास्तु पूजका इति । अतः काचित्ताम्बूलचवितमञ्जलिना अगृह्णात् । तस्याः ताम्बूलयोग्यतामाह-तन्वीति । कोमलाङ्गी । एका पुनर्बहिः स्थिता साक्षात्संबन्धमलभमाना, उत्थातुं वा अशक्ता, उपविश्यैव तदङ्घ्रिकमलं स्तनयोरधात् । अनुत्थाने धारणे च हेतुः सन्तप्तेति । सा ह्यत्यन्तं विरहातुरा ॥ ५ ॥

इस प्रकार वनमाला पीताम्बर चन्दन आदि सामग्री सहित प्रकट होकर भगवान् ने गोपियों पर विशेष अनुग्रह किया है, और देवोत्तम ब्रह्मा आदि का गोपियों को कार्य दिखाया ।

गोपियां ऊपर चढ़ने की इच्छा वाली हैं, और ब्रह्मादि देवोत्तम तो पूजन करने वाले हैं, अर्थात् देवोत्तम और गोपियां दोनों का कार्य भिन्न भिन्न है, अतः कोई गोपी भगवान् का पानचवित अपनी अञ्जलि से ग्रहण करती हुई ।

इस गोपी की ताम्बूल ग्रहण करने में योग्यता कहते हैं कि (तन्वी) यह गोपी कोमल अङ्गवाली है, कोमल अङ्गवाली स्त्री की चर्म मुदु होती है, इसलिये खाया हुआ पान कण्ठ में प्रति फलित-यथावत् दीखता है, इससे अधिक शोभा होती है, अतः परम सुन्दरी इस गोपी की शोभा देखने के लिये भगवान् ने अपना चवित पान दिया है, इसी का नाम ताम्बूल-योग्यता है ।

एक गोपी तो फिर मण्डल से बाहिर स्थित थी, इसलिये इसको साक्षात् भगवान् का सम्बन्ध नहीं हुआ ।

यह बात पहिले कह चुके हैं कि सब गोपियां भगवान् के निकट आ गईं, फिर मण्डल से बाहिर स्थित थीं, इसलिये इसको भगवान् का साक्षात् सम्बन्ध नहीं हुआ, तो फिर इसकी मण्डल से बाहिर स्थिति कैसे संभव हो सकती है ।

इस प्रकार पूर्व व्याख्यान में अरुचि आने पर पक्षान्तर कहते हैं कि 'अथवा इस गोपी में उठने की सामर्थ्य नहीं थी, इसलिये बैठे ही बैठे भगवान् का चरणकमल अपने स्तनों में धारण कर लिया ।

इस गोपी में उठने की सामर्थ्य क्यों नहीं थी, और चरणकमल धारण कर लिया, इन दोनों का कारण कहते हैं कि (सन्तप्ता) यह गोपी विरह से अत्यन्त आतुर थी ॥ ५ ॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।

घनन्तीवैक्षत् कटाक्षैः सन्दष्टदशनच्छदा ॥ ६ ॥

पदपदार्थ—(एका) एक गोपी (प्रेमसंरम्भविह्वला) प्रेमसहित क्रोध से विह्वल घबड़ाई (भ्रुकुटिम्) भौंह को (आबध्य) चढ़ाकर (सन्दष्टदशनच्छदा) अच्छे प्रकार से इस लिया—दबा लिया दांतों से होठ जिसने, अर्थात् दांतों से होठ को दबाती हुई (कटाक्षैः) कटाक्षों के फेंकने से (घनन्तीव) मारती सी (ऐक्षत्) देखने लगी ॥ ६ ॥

भाषार्थ—एक गोपी प्रेमसहित क्रोध से विह्वल अपनी भ्रुकुटि को चढ़ाकर और दांतों से होठ दबा कर कटाक्षों से प्रहार करती सी देखने लग गई ॥ ६ ॥

(सुबो०) एकेति । अन्यथा पुनर्दूरस्था तामसी तमसा भ्रुकुटिमाबध्य कटाक्षैः घनन्तीव ऐक्षत् । अत्र सवर्णं वर्णलोपः । कटाक्षक्षेपैरित्यर्थः । प्रेम्णा सहितो यः संरम्भः क्रोधः तेन विह्वला । सम्यक् दष्टः दशनच्छदो यया । तादृशी च जाता । भ्रुकुटिबन्धनेन चित्तकौटिल्यम् । प्रेमसहितसंरम्भेण इन्द्रियवैकल्यम् । सन्दंशेन देहक्षोभः । घनन्तीवेति प्राणैर्बलस्फूर्तिः । ज्ञानसाधनमपि तस्या विकृतम् । प्रान्तदृष्टिः कटाक्षः । तत्रापि आक्षेपभावः । यथा वाचावगुरणम्, तथा कटाक्षा एव आक्षेपरूपाः निरन्तरं प्रवृत्ताः । तादृशभावस्य पूर्णत्वाय कालनियमनार्थं वा भ्रुकुटिभङ्गः । स्वभावनियमनार्थं च संरम्भः । लोभनाशार्थं दंशः । मोक्षाभावार्थं ज्ञानवक्रता । प्रमाणनिराकरणार्थं हननमिति । यतो लौकिकभक्तिः पुष्टा भवति । एतदर्थमेवा निरूपिता ॥ ६ ॥

अन्य तामसी गोपी तो फिर दूर में स्थित थी, अर्थात् जितनी दूर खड़े रहकर कटाक्ष मारने से अपना मान भाव रहता है, उतनी दूर स्थित थी, और तम-क्रोध से अपनी भौंह चढ़ा कर कटाक्ष फेंकने से प्रहार करती-सी देखने लग गई, 'कटाक्षैः' इस पद में सवर्ण होने पर वर्ण का लोप हो गया है, अर्थात् एक से वर्ण जब साथ-साथ होते हैं, तब पूर्व वर्ण का लोप हो जाता है, उक्त नियमानुसार एक 'क्ष' वर्ण का लोप हो गया है, अतः 'कटाक्षक्षैः' कटाक्ष के फेंकने से, इस प्रकार अर्थ होता है ।

प्रेम के सहित जो संरम्भ-क्रोध, उससे विह्वल अच्छे प्रकार से दष्ट-दबाया दांत से होठ जिसने, अर्थात् यह गोपी अपने होठ को दांतों से दबा कर भगवान् को कटाक्ष से प्रहार करने लग गई ।

प्रेमसहित संरम्भ-क्रोध से इन्द्रियों की विकलता सूचन की है, दांतों से होठ दबाने से देह के लिये क्षोभसूचन किया है, प्रहार करती-सी देखने से प्राणों से बल की स्फूर्ति कही है, इस गोपी का ज्ञान-साधन-नेत्र भी विकृत कहा है ।

नेत्र के अग्रभाग से देखने का नाम कटाक्ष है, इस कटाक्ष में भी आक्षेपभाव है । जिस प्रकार वाणी से किसी को धमकाते हैं उसी प्रकार इस गोपी के कटाक्ष आक्षेपरूप-धमकी देते हुए निरन्तर प्रवृत्त हो रहे हैं ।

भौंह चढ़ाने आदि का कारण अन्य भी श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि 'तादृशभावस्य' । इस प्रकार के भाव को पूर्णता स्थापन करने के लिये काल का नियमन करना चाहिये, अतः काल का नियमन करने के लिये इस गोपी ने भ्रूभङ्ग किया है ।

स्वभाव-नियमन करने के लिये क्रोध किया है। लोभनाश करने के लिये दाँतों से होठ दबाया है।

मोक्ष के अभाव के लिये ज्ञान की वक्रता है अर्थात् पहिले मानमात्र का निरूपण किया था, इस समय तो मान दूर करने के लिये सकुण्ठ प्रयत्न करने पर भी मैं मान त्याग नहीं करूँगी, इसका नाम गाढमान है, इस प्रकार यहां गाढ मान का निरूपण करते हैं।

कालविलम्ब से मान शिथिल हो जाता है, कारण कि मान व्यभिचारी भाव है, इसलिये बहुत काल तक स्थिर नहीं रहता है, यहां पर मान गाढ है, इसलिये यह मान कभी शिथिल नहीं होता है, सदा गाढ ही रहता है, इस प्रकार सदैव गाढ मान रखना ही काल का नियमन है।

नायिका का स्वभाव होता है कि प्रिय के वचन आदि से मान को अवश्य त्याग देती है, उस मान का त्याग नहीं हो, हमारे में सदैव मानभाव ही रहे, इस प्रकार गोपियों का प्रयत्न है, इसलिये स्वभाव नियमन, प्रिय वचन से मानत्याग जो नायिकाओं का स्वभाव है, उसका नियमन धर्ष प्रयत्न से नहीं हो सकता है, इसलिये उक्त स्वभाव का नियमन करने के लिये संरम्भ-क्रोध का निरूपण किया है।

मान प्रिय के संगम में विलम्ब करता है, इसलिये दुःख देने वाला है, फिर गोपियों ने मान क्यों किया ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि गोपियों को इस प्रकार का विचार उत्पन्न नहीं हुआ कि हम मान करेंगी तो प्रियसंगम में विलम्ब हो जायेगा, कारण कि गोपियां विह्वल हो गई थीं, इस बात को सूचन करने के लिये मूल में विह्वल पद का प्रयोग किया है।

गोपियों ने पहले भगवान् के साथ सुख का अनुभव किया था कदाचित् पूर्व अनुभूत संगमसुख का स्मरण करके सुख के लोभ से मान का त्याग हो जाये, किन्तु उक्त प्रकार से भी मान का त्याग न हो, इसके लिये दाँतों से होठ का दबाना कहा है।

इस प्रकार अत्यन्त आग्रह होने पर भी अपने प्रिय की स्थिति आवश्यक है, और मान भी हृदय में रहता है, इसलिये कदाचित् गोपियों के हृदय का यदि भगवान् में लय हो जाये, तब भी मानरहित गोपियां हो जायें, और निर्दोष होने से गोपियों को मोक्ष हो जाये, किन्तु उक्त प्रकार से मानरहित गोपियां नहीं हों, इसलिये ज्ञान में कुटिलता का वर्णन किया है।

जहां तक हृदय में दोष रहता है, वहां तक मोक्ष नहीं होता है, कुटिलता-दोष के कारण गोपियों को मोक्ष नहीं हुआ, कारण कि निर्दोष भाव में धर्मी हृदय की मुक्ति हो जाती है।

गोपियों का भाव दोषसहित है, इसलिये दोषसम्बन्ध से जहां धर्मी हृदय की भी मुक्ति नहीं, वहां फिर मान की मुक्ति कैसे हो सकती है, यह भाव है, मोक्ष के अभाव के लिये ज्ञान में वक्रता कही है।

प्रमाण निराकरण करने के लिये इनन कहा है।

‘सर्वस्येशानः’ भगवान् सब के ईश हैं, ‘य आत्मानमन्तरो यमयति’ जो भगवान् भीतर स्थित आत्मा का नियमन करता है, इत्यादि श्रुतियां भगवान् में ईश नियामक आदि धर्मों का वर्णन करती हैं, इस प्रकार के धर्म वाले भगवान् की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं मानना, तथा प्रभु के आगे स्तब्धता आदि करना प्रमाण-शास्त्र से विरुद्ध है। और प्रभु तो गोपियों के अन्तःकरण में जो मान है, उसको दूर करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु गोपियों के अन्तःकरण

होता है, यह बात प्रमाण-शास्त्र से विरुद्ध है, इसलिये संभव नहीं होती है, किन्तु प्रमाण बल का निराकरण करने पर संभव हो जाती है, इसलिये गोपियों ने प्रमाणबल का कटाक्षों से हनन ही किया है।

इस प्रकार करने से लौकिकी भक्ति-लौकिक रीति का अनुसरण करने वाला स्नेह पुष्ट होता है, इसलिये इस गोपी का वर्णन किया है ॥ ६ ॥

अपराऽनिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।

आपीतमपि नातृप्यत्सन्तस्तच्चरणं यथा ॥ ७ ॥

पदपदार्थ—(अपरा) अन्यगोपी (तन्मुखाम्बुजम्) भगवान् के मुखकमल को (अनिमिषद्-दृग्भ्यां) एकटक दृष्टि से—जिसमें पलक नहीं लगे, इस प्रकार की दृष्टि से (जुषाणा) पान करती (यथा) जैसे (सन्तः) सन्तपुरुष (तच्चरणं) भगवान् के चरण कमल को (आपीतमपि) समग्र रसपान करके भी (न) नहीं (नातृप्यत्) तृप्त नहीं हुए, उसी तरह गोपी भी (नातृप्यत्) तृप्त नहीं हुई ॥ ७ ॥

भाषार्थ—एक अन्य गोपी भगवान् के मुखकमल को जिसमें पलक नहीं लगे इस प्रकार की एकटक दृष्टि से पान करती जिस प्रकार संतपुरुष भगवान् के चरण कमल के रस का पान करते हुए भी तृप्त नहीं होते हैं, उसी प्रकार तृप्त नहीं हुई ॥ ७ ॥

(सुबो०) एवमतिपुष्टां निरूप्य अत्युत्तमां निरूपयति अपरेति । एषा हि भगवद्दर्शनेन गतदोषा अतो ध्यानेन भगवन्तं हृदये स्थापयितुकामा नेत्राभ्यां नेत्रद्वारा भगवन्तं हृदि स्थापितवती । अत्र लावण्यामृतं पेयम्, मुखस्याम्बुज-त्वोक्तेः । अनिमिषद्दृग्भ्यामिति पानकरणम् । द्रवद्रव्यस्यान्तर्निवेशनं पानम् । मध्ये रसविच्छेदो भविष्यतीति अनिमिषद्दृग्भ्यां पानम् । नेत्रयोरञ्जलित्वं लाव-ण्यामृतस्य विरलत्वात् । प्रीतिसेवनमत्राभिप्रेतम् । यद्यपि आसमन्ताद्धर्मसहितं सर्वमेवाभिनिविष्टं स्वाधीनं जातम् । यदैवेच्छति तदैव हृदये पश्यतीति तथापि नातृप्यत् अलंभावं न कृतवती । तत्र हेतुर्विषयसौन्दर्यम् । न तु प्रयोजना-भावः प्रतिबन्धकः । एतदर्थं दृष्टान्तमाह—सन्तः तच्चरणं यथेति । सन्तो हि जातकार्याः । तथापि चरणारविन्दे सहजो रसः । न तु किञ्चित् प्राप्तव्यं निवर्तनीयं वा ॥ ७ ॥

इस प्रकार अतिपुष्ट गोपी का निरूपण करके, आगे जिस गोपी का वर्णन करते हैं, वह गोपी तो भगवान् के दर्शन करके दोषरहित हो गई है, अर्थात् पहले दुःख को भूल गई है, इसलिये ध्यान से भगवान् को अपने हृदय में स्थापन करने की इच्छावाली नेत्रद्वारा भगवान् को अपने हृदय में स्थापन करती है।

यहां लावण्यरूप अमृत पान करने योग्य है, कारण कि मुख को कमल कहा है, जिस प्रकार कमल का स्थापन करने पर मकरन्द का स्थापन होता है, उसी प्रकार भगवान् के मुख का स्थापन करने पर लावण्य स्थापित होता है।

मूल श्लोक में 'अनिमिषदृग्भ्यां' जिसमें पलक लगते नहीं हैं, इस प्रकार की दृष्टि से, इस प्रकार कहा है, अतः दृष्टि से लावण्यामृत का पान किया है, द्रवत्-प्रवाही पतले द्रव्य का भीतर निवेश करने का नाम पान है, प्रवाही पदार्थ का भीतर प्रवेश करने के समय मध्य में रस के प्रवाह का विच्छेद हो जायेगा, अर्थात् रुक जायेगा, इस बात को विचार करके रस के प्रवाह की धारा बीच में टूटे नहीं, इसलिये गोपी अनिमिष दृष्टि से पान कर रही है।

लावण्यामृत विरल है, इसलिये गोपी नेत्ररूप अञ्जलि से दोने की तरह पुटाकार से पान करती है।

यदि शंका करो कि यहां पान अर्थ किस प्रकार से है। तब इसके उत्तर में कहते हैं कि मूल श्लोक में 'जुषाणा' पद कहा है, इससे प्रीतिसेवन अर्थ यहां दृष्ट है, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' इस प्रकार।

यद्यपि जुष् धातु का अर्थ कहीं प्रीति करते हैं, और कहीं सेवा करते हैं, तथापि यहाँ मूल में प्रीति अर्थ की अन्य धातु को तथा सेवा अर्थ की अन्य धातु को छोड़कर जो जुष् धातु का प्रयोग किया है, इससे जाना जाता है कि यहां प्रीतिपूर्वक सेवा करना अर्थ दृष्ट है, अतः मुखकमल का प्रीतिसेवन नाम मुख में स्थित लावण्यामृत का पान करना है, किन्तु हृदय में स्थापन के बिना प्रीतिसेवन होता नहीं है, अतः इस हेतु से उक्त अर्थ कहा है।

यद्यपि धर्मसहित सब ही हृदय में अभिनिविष्ट स्वाधीन हुआ है, अर्थात् मूल में 'आपीत' इसमें आङ् के प्रयोग से इस गोपी ने समग्र धर्मसहित लावण्यामृत का पान किया है, इसलिये स्वाधीन हुआ है, स्वाधीन का स्वरूप इस प्रकार है कि गोपी जिस समय भगवान् के मुखकमल की अपने हृदय में इच्छा करती है, उसी समय भगवान् का मुखकमल अपने हृदय में देखती है, तथापि इस गोपी की तृप्ति नहीं होती है, अर्थात् लावण्यामृत का पान करते-करते अलंभाव नहीं करती है अलंभाव न करने में कारण विषय सौन्दर्य है, अर्थात् भगवान् के मुखकमल में इतना सौन्दर्य है कि जिसके पान करते-करते गोपी अघाती नहीं है।

यदि कहो कि विषय सौंदर्य होने पर भी प्रतिबन्धक विद्यमान है, इसलिये पान सम्भव नहीं होता है।

इस शंका के उत्तर में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि 'न तु प्रयोजनाभावः प्रतिबन्धकः' इस समय इस गोपी के लिये किसी प्रकार के प्रयोजन का अभाव भी प्रतिबन्धक नहीं है, अर्थात् जब इस गोपी ने भगवान् का मुखकमल अपने अधीन कर लिया, फिर अन्य प्रयोजन शेष रहा नहीं, तो प्रयोजन का अभाव पान करने में प्रतिबन्धक हो सकता है, किन्तु प्रयोजन का अभाव भी यहाँ प्रतिबन्धक नहीं है।

इसी को स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त कहते हैं (सन्तः तच्चरणं यथा) यद्यपि सन्त पुच्छ अपना सब कार्य पूर्ण करके कृतकृत्य हो जाते हैं, तथापि भगवान् के चरणारविन्द में सन्तपुच्छों को स्वाभाविक रस है, किसी प्रयोजन से नहीं है, कारण कि संत को कोई नवीन प्राप्त्य नहीं है, और न कोई त्याग करने योग्य ही है ॥ ७ ॥

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च ।
पुलकाङ्गुपगूह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता ॥ ८ ॥

पदपदार्थ—(काचित्) कोई गोपी (नेत्ररन्ध्रेण) नेत्रद्वार से (तं) उस भगवान् को (हृदिकृत्य) हृदय में धारण करके (च) और (निमील्य) आँखें मींचकर (पुलकाङ्गी) रोमाञ्च अङ्ग में जिसके, इस प्रकार की (उपगूह्य) भगवान् का आलिङ्गन करके (आनन्द-सम्प्लुता) आनन्द में मग्न हुई (योगीव) योगी की तरह (आस्ते) स्थित हो गई ॥ ८ ॥

भाषार्थ—कोई गोपी नेत्र द्वार से भगवान् को हृदय में धारण करके और आँखें मींचकर पुलकाङ्गी आलिङ्गन करके योगी की तरह आनन्द में मग्न हो गई ॥ ८ ॥

(सुबो०) एका पुनर्दूरस्था अनया तुल्यशीला योगानुसारेण भगवन्तं गृहीतवतीत्याह तं काचिदिति । पूर्व लौकिकी पश्चाद् भक्तिमार्गानुसारिणी निरूपिता । इयं योगानुसारिणी । अतोऽस्याः सर्वावयवे दृष्टिः । उभयोरेकीकरणम्, अन्यथा दृष्टिभेदः स्यात् । पूर्वस्यास्तु दर्शनमेव प्रयोजनम् । एषा विरलेति काचिदित्युक्तम् । तं पूर्वोक्तम् । 'न खलु गोपिकानन्दनो भवानिति' यया निरूपितम् । नेत्ररन्ध्रेणेत्येकवचनं रूपप्रवेशार्थम् । हृदिकृत्येति । हृदि कृत्वा असमासेऽपि ल्यप् । हृदिकृत्येत्यलुक् समासो वा । ततोऽन्तःप्रविष्टो बहिर्मा गच्छत्विति निमीलनं कृतवती । न हि तस्या बुद्धौ भगवान् बहिरवशिष्टोऽस्ति । स्वकीयो वा भागस्तया गृहीत इति । चकारात् सर्वेन्द्रियनिवर्तनम् । ततोऽन्तरानन्दे पूर्णं पुलकाङ्गी जाता । केवलानन्देन पुलके गोपीत्वं न भविष्यतीति तदर्थं विशेषमाह उपगूह्यास्त इति । अयं रोमाञ्चः सात्त्विकभावे प्रविष्टः । अत एवान्तरूपगूह्यालिङ्ग्य आस्ते । तामेव स्थितिं धारितवती अवस्थान्तराभावाय । ननु तस्या उत्तरत्र कार्यम्, भगवता सह सम्भोगः कर्तव्यः, आलापाः, गृहे च गन्तव्यमिति कथं तामेवावस्थां स्थापितवती, तत्राह योगीवेति । योगी हि तयैवाग्रे सर्वं कार्यं साधयति, तथेयमपि तयैवावस्थया सर्वं साधनीयमिति स्थिता । किञ्च आनन्दसम्प्लुता । आनन्दे निमग्ना । अत एव बहिःसंवेदनरहिता । संवेदनायामेव सत्यां कार्यानुसन्धानम् । न हि पूर्णं आनन्दे कश्चन कामोस्ति ॥ ८ ॥

अब एक गोपी फिर दूर में स्थित थी, और पहिले सातवें श्लोक में कही हुई निर्गुण गोपी के तुल्य शील, स्वभाव वाली थी, यह गोपी योगानुसार भगवान् को ग्रहण करती हुई, अर्थात् अपने हृदय में स्थापन करती है, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं।

पहले छठा श्लोक 'एका भ्रुकुटिमाबध्य' इसमें लौकिकी सख्य भाववाली गोपी का निरूपण किया है, फिर सातवें श्लोक में भक्तिमार्गानुसारिणी गोपी का निरूपण किया है, भक्तिमार्ग में स्नेह-धन से भगवान् के मुखारविन्द का दर्शन करने पर सबका विस्मरण होकर मुखारविन्द से अन्य वस्तु की अपेक्षा रहती नहीं है, इस प्रकार की गोपी सातवें श्लोक में कही गई है।

अब इस आठवें श्लोक में योगमार्गानुसारिणी गोपी का वर्णन है, योग मार्ग में ध्यान करते समय में भगवान् के प्रत्येक अङ्ग का पृथक्-पृथक् चिन्तन किया जाता है।

तथा धारणा में एकट्ठे सब अङ्गोंद्वारा एक स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, कारण कि अङ्गों के परस्पर सम्बन्धका स्मरण किये बिना एक अङ्गका स्मरण करना अनुचित होने से अपराध रूप है, इसलिये इस गोपी की सब अङ्गों में दृष्टि है, अर्थात् भगवान् के सम्पूर्ण स्वरूप का ही नेत्रद्वारा हृदय में स्थापन किया है, और इस गोपी ने दोनों अवयवों का एकीकरण किया है।

यद्यपि यहां मूल में 'उभयोः' के स्थान में 'सर्वेषां' सब अवयवों का एकीकरण करना कहना चाहिये था, किन्तु संयोग दोनों का ही होता है, इसलिये 'उभयोः' इस द्विवचन का प्रयोग किया है।

यदि एकीकरण नहीं करे तो दृष्टिभेद हो जाये, प्रकृत-गोपियों के प्रसङ्ग में तो भगवान् का स्वरूप रसात्मक होने से भावात्मक है, इसलिये भगवान् का एक एक ही अङ्ग स्वामिनी भाव विषयत्व है, अतः उसमें परस्पर भेद की आपत्ति होती है, वह भेद की आपत्ति उक्त भाव से-भगवान् के सभी श्री अङ्ग के अवयवों का एकीकरण करने से दूर हो गई है, इस बात को 'अन्यथा दृष्टिभेदः स्यात्' नहीं तो दृष्टिकृत भेद स्वरूप में हो जायेगा उक्त पङ्क्ति से श्री महाप्रभुजी ने कहा है, अर्थात् इस आठवें श्लोक में ही गोपी भगवान् के संपूर्ण अङ्गों का एकीकरण करती है इसलिये भगवत्स्वरूप में प्राप्त हुआ भेद दूर हो जाता है।

यदि कहो कि विषयत्व से स्वरूप के भाव से भेद हो जायेगा तो फिर दृष्टिभेद दोष नहीं होगा।

इसके उत्तर में कहते हैं कि इस प्रकार का कोई नियम नहीं है, सब ज्ञान प्रमेय है, इत्यादि में व्यभिचार हो जायगा, कारण कि ईश्वर का ज्ञान सर्वविषयक है, इसलिये अपने विषयक ज्ञान भी सर्वविषयक है, यह सिद्धान्त सर्ववादिसम्मत है।

प्रकृत विषय-गोपियों के प्रसङ्ग में तो भगवान् का स्वरूप स्वयंप्रकाश चिद्रूप है, इसलिये कोई अयुक्ति नहीं है, अर्थात् विषय विषयी के अभेद की अनुपपत्ति, तथा दृष्टि भेदकृत अपराध की अनुपपत्ति नहीं है।

प्रकारान्तर से अनुपपत्ति को हृदय में करके कहते हैं कि केवल योगमार्ग में अपराधमात्र है, योगानुसारी भक्तिमार्ग में तो स्वरूप में भी भेद की आपत्ति होती है।

ये सब भाव व्यभिचारी हैं, इसलिये इन भावों को स्वरूपभेदकत्व नहीं है, स्थायिभाव स्वरूप भेदक होता है, इसलिये स्थायिभाव का समाधान करना आवश्यक है।

योगमार्ग में ध्यान करने के समय प्रत्येक अङ्ग का पृथक् चिन्तन किया जाता है, इसको पहले कह चुके हैं, इसलिये उक्त दोष योगमार्ग में ही है, किन्तु भक्तिमार्ग में नहीं है, कारण कि पहले सातवें श्लोक में कही गोपी भक्ति मार्गानुसारिणी है, इसलिये इसको भगवान् का दर्शन ही प्रयोजन-फल है, इसको रूपकल्पना की अपेक्षा नहीं है, यह बात 'पूर्वस्यास्तु दर्शनमेव' इस प्रकार सुबोधिनी में एवकार से बतलाई है, अर्थात् परिदृश्यमान ही स्वरूप हृदय होता है, यह भाव है।

अब इस आठवें श्लोक में कही भगवान् के स्वरूप को योगानुसार से ग्रहण करनेवाली गोपी दुर्लभ है, इसलिये शुकदेव जी ने मूल श्लोक में 'काचित्' शब्द का प्रयोग किया है।

मूल में 'तं' पद से भगवान् का बोध होता है, 'न खलु गोपिकानन्दनो भवान्' इस प्रकार गोपीगीत में जिस गोपी ने भगवान् का वर्णन किया था, वही यह गोपी है।

मूल श्लोक में 'नेत्ररन्ध्रेण' इस पद में एक वचन भगवान् का स्वरूप प्रवेश करने के लिये कहा है, अर्थात् भगवान् का स्वरूप सर्व अङ्ग समुदित एक है, इसलिये स्वरूप प्रवेश करने के लिये एक नेत्रद्वार की आवश्यकता ही है।

मूलश्लोक में 'हृदिकृत्य' इसका अर्थ 'हृदि कृत्वा' हृदय में धारण करके, इस प्रकार होता है, 'हृदिकृत्य' इसमें समास नहीं है, फिर भी जो ल्यप् प्रत्यय किया है, वह ल्यप् प्रत्यय समास बिना पाणिनीय से भिन्न व्याकरण में सिद्ध किया है, इस लिये श्रीमहाप्रभुजी पक्षान्तर कहते हैं कि 'हृदिकृत्य' इसमें अलुक् समास है 'हृदयभ्यां च' इस पाणिनीयसूत्र से यहां अलुक् समास हुआ है।

भीतर प्रविष्ट भगवान् पश्चात् बाहर न जायें, इस भावसे इस गोपी ने नेत्र भीच लिये हैं। इस गोपी की बुद्धि से बाहर भगवान् अवशिष्ट नहीं हैं, भगवान् का सर्वस्वरूप मेरे हृदय में विराजमान हो गया है।

अथवा इस गोपी ने अपना भाग ले लिया है।

भगवान् प्रत्येक गोपी के प्रति प्रकट होकर रसदान करते हैं इसलिये भगवान् सब गोपियों के भाग-हिस्सारूप हैं।

जिस गोपी के लिये भगवान् का जो प्रकट रूप है, वह उस गोपी का भागरूप है, इस लिये इस गोपीने अपने लिये भगवान् का प्रकट भागरूप स्वरूप अपने हृदय में पधरा लिया।

इस प्रकार कहने से यह सूचन किया है कि जिस प्रकार पिता के धन में पुत्रों का स्वत्व होता है, उसी तरह प्रभुके स्वरूप में स्वामिनियों का स्वत्व-भाग है।

मूल श्लोक में 'व' है, इसका आशय इस प्रकार है कि इस गोपी की सब इन्द्रियां भी निवृत्त हो गई हैं।

अनन्तर इस गोपी के भीतर पूर्ण आनन्द हुआ है, और उस समय इसके शरीर में रोमाञ्च हो गये।

यदि केवल आत्मानन्द से रोमांच खड़े हों तो गोपीत्व नहीं रहेगा, अर्थात् जिस प्रकार योगियों के भीतर जिस समय भगवान् का आविर्भाव होता है, उस समय आनन्द से योगियों का शरीर पुलकित होता है, उस प्रकार से इस गोपी का शरीर पुलकित नहीं हुआ है, इस बात को कहने के लिये शुकदेवजी विशेष कहते हैं कि (उपगृह्यास्ते) यह गोपी तो भगवान् का आलिङ्गन करके स्थित हो गई है, आलिङ्गन में कामभाव मुख्य है, इसलिये इसमें गोपीत्व ही प्रधान है, योगरीति प्रधान नहीं है।

रसशास्त्र में रोमाञ्च होने को सात्त्विक भाव कहा है, इसीलिये यह गोपी भीतर भगवान् का आलिङ्गन करके स्थित है। अन्य अवस्था न आने के लिये इसी अवस्था से अर्थात् भगवान् के साथ आलिङ्गन की अवस्था से स्थिति को धारण कर रही है।

यदि शंका करो कि इस गोपी को पीछे का कार्य भी करना है, अर्थात् भगवान् के साथ सम्भोग करना है, भगवान् के साथ आलाप-रससम्बन्धी बातचीत भी करनी है, और घर में भी जाना है, फिर अन्य अवस्था न हो, इसी अवस्था में रहना किस प्रकार संभव हो सकता है।

इस शंका के उत्तर में शुकदेवजी कहते हैं कि 'योगीव' योगियों की तरह, योगी कोन

इसी अवस्था से आगे सब कार्य साधन करते हैं, उसी प्रकार यह गोपी भी योगी की तरह इसी आलिङ्गन अवस्था से सब कार्य साधन करेगी, इस प्रकार के ज्ञान से वैठी है।

दूसरी बात यह है कि वह गोपी आनन्द में मग्न हो गई है, इसलिये इसको उक्त प्रकार का अनुसन्धान भी नहीं है, इसी बात को शुकदेवजी कहते हैं कि 'आनन्दसंलुता' आनन्द में निमग्न हो गई है, इसलिये बाहर जगत का इसको ज्ञान नहीं रहा; बाहर का ज्ञान इस गोपी को हो तो कार्य का भी अनुसन्धान हो, किन्तु जब बाहर का ही ज्ञान नहीं रहा, फिर कार्य का अनुसन्धान कैसे होता।

जिस समय जीव में पूर्ण आनन्द होता है, उस समय किसी प्रकार का काम अभिलाष इच्छा नहीं होती है ॥ ८ ॥

(सुबो०) एवं विशेषाकारेण कृत्यमुक्त्वा सर्वासां सामान्याकारेण प्रयोजनमाह सर्वास्ता इति ।

इस प्रकार गोपियों का विशेषाकारसे कार्य कहकर अब शुकदेवजी ने सामान्याकार से सब गोपियों का प्रयोजन सम्पादन किया। विरह से उत्पन्न जो ताप है, उसका निवृत्तिरूप फल का निरूपण करते हैं—

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः ।

जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥ ९ ॥

पदपदार्थ—(ताः) पूर्वोक्त वे (सर्वाः) सब गोपियोंने (केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः) केशव भगवान् के दर्शनरूप परम उत्सव से आनन्दित हुईं (यथा) जिस प्रकार से (जनाः) अधिकारी मनुष्य (प्राज्ञं) सुषुप्तिसाक्षी परमात्मा को (प्राप्य) प्राप्त होकर (तापं) ताप को उसी प्रकार (विरहजं) विरह से उत्पन्न ताप को (जहुः) त्याग किया ॥ ९ ॥

भाषार्थ—पूर्वोक्त समस्त गोपियां भगवान् के दर्शन रूप परम उत्सव से आनन्दित हुईं, जिस प्रकार अधिकारी मनुष्य प्राज्ञ-सुषुप्तिसाक्षी परमात्मा को प्राप्त होकर ताप से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार गोपियां भगवान् के विरह से उत्पन्न ताप का त्याग कर चुकी थीं ॥ ९ ॥

(सुबो०) यो हि बलिष्ठरजस्तमोभ्यां व्यासयोरपि फलसम्पादकः, तस्य क्षुद्रगुणक्षोभयुक्तानामासामुद्धारे कः प्रयास इति वक्तुः केशवेत्युक्तम् । तस्य योयमालोकः आलोकनं प्रकाशो वा अन्तर्बहिः । अत एव स एव परमोत्सवः । यथा लौकिकानां महाराज्यप्राप्तिः पुत्रोत्सवो वा । तेन निर्वृताः सर्वा एव जाताः । एवं तासामिष्टसिद्धिरुक्ता । अनिष्टनिवृत्तिमाह जहुर्विरहजमिति । तस्य सति मुक्ता एव ता भवेयुः । न हि संसारे निवृत्ते भगवत्साक्षात्कारेण परम-निर्वृत्तौ सत्यां कश्चन पुरुषार्थोऽवशिष्यते तत्राह प्राज्ञं प्राप्येति । प्राज्ञः सुषुप्ति-साक्षी । स्वाप्यये भगवदाविर्भावो निरूपितः । तत्र च जीवानां प्रवेशो वासना-सहितानाम् । तं प्राप्य यथा जनाः अधिकारिणो मनुष्याः पुनरायान्ति, एव-

मत्राप्यागमिष्यन्तीति भावः । यतो जनाः जायमानाः । न तु उत्तमाधिकारिणः । स्वसम्बन्धख्यापनार्थमेव परं भगवान् प्रकटः ॥ ९ ॥

जो केवल भगवान् बलिष्ठ रजोगुण तथा तमोगुण करके व्याप्त ब्रह्मा तथा शिव को मोक्ष फल सम्पादन करने वाला है, उस भगवान् को क्षुद्रगुण से क्षोभयुक्त गोपियों के उद्धार करने में क्या प्रयास है, अर्थात् कुछ भी प्रयास नहीं है, इस बात को कहने के लिये मूल में 'केशव' पद कहा है, केशव—क—ब्रह्मा ईश—महादेव, इन दोनों को 'व' मोक्षरूप सुख जिस भगवान् से होता है, वह केशव है।

गोपियों के तथा भगवान् के सब गुण महान हैं, किन्तु गोपियों का परोक्ष भजन का अज्ञान क्षुद्र गुण है, इस प्रकार गोपियों का उद्धार करने में भगवान् को श्रम नहीं होगा, इस बात को 'केशव' पद से यहां कहा है, इस प्रकार के केशव भगवान् का जो यह आलोक—आलोकन—दर्शन अथवा भीतर बाहर प्रकाश, इसी से—अर्थात् भीतर बाहर विद्यमान होने से ही आलोक परम उत्सव रूप है।

जिस प्रकार जगत में लौकिक जीवों को महाराज्य की प्राप्ति से, अथवा पुत्रादि प्राप्ति से परम उत्सव होता है, उसी प्रकार गोपियों को केशव भगवान् के दर्शन से, अथवा भीतर बाहर प्रकाश से परम उत्सव हुआ, इस परम उत्सव से सब गोपियां आनन्दयुक्त तो गईं।

मूल में 'सर्वा एव' सब गोपियां कही हैं।

पहले आठवें श्लोक में एक गोपी ने नेत्ररंघ्र द्वारा भगवान् को अपने हृदय में स्थापन किया, कहा है, इसलिये प्रकार भेद से सब गोपियों ने भगवान् को स्थापन किया, इस प्रकार जानना चाहिये, इसी बात को स्पष्ट करने के लिये मूल में 'सर्वाः' इस बहुवचन का प्रयोग किया है।

इस प्रकार गोपियों को इष्टसिद्धि प्राप्त हुई कही है, अब गोपियों की अनिष्ट निवृत्ति भी हो गई, इसको कहते हैं 'जहुर्विरहजम्' गोपियां विरह से उत्पन्न ताप का त्याग कर चुकी थीं।

यदि शंका करो कि जब गोपियों को इष्टप्राप्ति और अनिष्ट निवृत्ति हो गई, तब फिर गोपियां मुक्त क्यों नहीं हुईं, कारण कि उस समय अत्यन्त आर्ति से गोपियों के प्राण इन्द्रिय अन्तःकरण और जीव भगवान् में प्रविष्ट हो गये थे, और भगवान् के सम्बन्ध से परमानन्द को प्राप्त हो गई थीं, इसलिये इस प्रकार की गोपियों को फिर बाहर का अनुसन्धान होना सम्भव नहीं था, अतः गोपियां मुक्त ही हो गई थीं, जिस समय संसार नष्ट हो जाता है, उस समय भगवान् के साक्षात्कार से परम आनन्द होता है, परमानन्द प्राप्त होने पर फिर कोई पुरुषार्थ शेष नहीं रहता है।

इस शंका के उत्तर में शुकदेवजी कहते हैं कि 'प्राज्ञं प्राप्य' प्राज्ञ-सुषुप्ति अवस्था का साक्षी भगवान्, स्वाप्यय-सुषुप्ति 'स्वमपीतो भवति' इस श्रुति के अनुसार सुषुप्ति में—अर्थात् स्वप्नरहित पाद निद्रा में भगवान् का आविर्भाव होता है, 'एवमेवायमात्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिवृक्तः' इस श्रुति में सम्परिवृक्त का कथन है।

सुषुप्ति में वासनासहित जीवों का भगवान् में प्रवेश होता है, जिस प्रकार संसार के अधिकारी मनुष्य सुषुप्ति में प्राज्ञ को प्राप्त होकर फिर लौटकर आ जाते हैं, अर्थात् सांसारिक जाग्रत अवस्था को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सब गोपियां भी परमानन्द का अनुभव करके लौट कर पीछे आ जायेंगी, इस प्रकार भाव है।

संसार का अधिकारी मनुष्य प्राज्ञ में प्रवेश करके पीछे जाग्रत अवस्था में प्राप्त हो जाता है, इसका कारण कहते हैं कि (जनाः) जायमान उत्पन्न होने वाले हैं, उत्तम अधिकारी नहीं हैं ।

यदि शंका करो कि संसार के अधिकारी जीवों की तुल्यता गोपियों में कहोगे तो 'तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपयुंष्वरि सत्त्वरन्तो न विन्देयुः', एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' 'सति सम्पद्य न विदुः' 'सति सम्पद्यामहे' इत्यादि श्रुतियों से संसारी जीव में अज्ञान का कथन किया है, गोपियों में भी अज्ञान होगा तो फिर परमानन्द से यहाँ आयेंगी ।

इस शंका के उत्तर में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि 'स्वसम्बन्धव्यापनायमेव परं भगवान् प्रकटः' भगवान् तो गोपियों में केवल अपना सम्बन्ध प्रसिद्ध करने के लिये प्रकट हुए हैं, अपने में गोपियों का लय संपादन करने के लिये प्रकट नहीं हुए हैं, कारण कि भगवान् के समागम समय में गोपियों में जो ज्ञान था, वह ज्ञान भगवान् की परोक्षभजन दशा में भी था, इस समय की तरह परोक्षदशा में भी तुम्हारे पास स्थित रहता है, किन्तु तुमने मुझको प्रकट नहीं जाना था, अतः परोक्ष भजन समय में भी मेरा सम्बन्ध रहता है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये भगवान् इस समय गोपियों में प्रकट हुए हैं, इसलिये गोपियों में अन्य जीवों की तरह अज्ञान नहीं है ।

इस प्रकार दृष्टान्त से सुषुप्ति काल में प्राज्ञ में प्रवेश करने वाले संसारी जीवों की अपेक्षा गोपियों का विलक्षण भिन्न प्रकार कहा है, इसीको टिप्पणी में कहा है कि गोपियाँ लौकिक नहीं हैं, और प्रसिद्ध मुक्तिमार्गीय भी नहीं हैं, किन्तु बाहिर प्रियसंगम की इच्छा करने वाली हैं, और भगवान् तो गोपियों के मनोरथ पूर्ण करता ही है, इसलिये गोपियों का मनोरथ पूर्ण करेंगे ।

यहाँ पर मुक्ति के अधिकारी जीवों से विलक्षणता मात्र में ही दृष्टान्त है, अर्थात् सुषुप्ति समय प्राज्ञ में प्रवेश करने वाले संसारी जीवों के साथ गोपियों की समानता का जो वर्णन किया है, वह केवल सुषुप्ति समय प्राज्ञ में प्रवेश करने वाले जीव जिस प्रकार मोक्ष के अधिकारी जीवों से भिन्न हैं, उसी प्रकार मोक्ष के अधिकारी जीवों से गोपियाँ भिन्न हैं, बस इस प्रकार की दोनों की तुल्यता है, अन्य प्रकार की नहीं है ॥ ९ ॥

(सुबो०) एवं तासां कृत्यमुक्त्वा ताभिर्भगवत्कृत्यमाह ताभिरिति ।

इस प्रकार भगवान् के प्रति गोपियों का कृत्य वर्णन करके अब गोपियों के साथ भगवान् का कृत्य शुकदेव जी कहते हैं ।

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।

व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥ १० ॥

पदपदार्थ—(हे तात) हे पुत्र (विधूतशोकाभिः) शोकरहित (ताभिः) गोपियों से (वृतः) व्याप्त-धिरा हुआ (अच्युतः) च्युतिरहित (भगवान्) श्रीकृष्ण (यथा) जिस प्रकार (पुरुषः) प्राकृतपुरुष (शक्तिभिः) शक्तियों से (तथा) उसी प्रकार (अधिक) अधिक (व्यरोचत) शोभित हुआ ॥ १० ॥

भाषार्थ—हे तात ! शोकरहित गोपियों से घिरे हुए अच्युत भगवान् जिस प्रकार प्राकृत पुरुष शक्तियों से शोभित होता है, उसी प्रकार अधिक शोभित हुये ॥ १० ॥

(सुबो०) तासां सम्बन्धे प्राकृतीनां भगवतोऽन्यथात्वं शङ्क्येत, तन्निवर्त्यते । अन्यथा स्वार्थमेव भगवत्तिरोधानं स्यात् । 'स नैव व्यरमत' 'तस्मादेकाकी न रमत' इति श्रुतेः । लोकोऽपि केवलं भगवन्तं पश्यन् न निर्वृतो भवति, किन्तु सर्वशक्तियुक्तं परम् । 'पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न'ति वाक्यात् । पूर्ववत् ता दुःखिताश्चेत्, तदोत्तमता न भवतीत्याह विधूतशोकाभिरिति । ताः पूर्वोक्ताः । गुणास्तासामुक्ता एव । सर्वथा प्रपन्ना इति । मध्ये शोकः समजनि । तस्मिन्निवृत्ते यथापूर्वमेव ताः । भगवांश्च षड्गुणैश्वर्ययुक्तः । तथापि प्राकृत इव यदि परिच्छिन्नकामः स्यात्, तथापि वैलक्षण्यात् न रोचेत । भगवांस्तु पूर्वकाम इत्याह अच्युत इति । अतः ताभिर्वृतः अधिकं व्यरोचत सहजापेक्षया । उक्तार्थ-विश्वासेन हि श्रोता वक्तारं पुष्पातीव पितेव पुत्रं स्वार्थम् । अत एवाग्रेऽतिगुप्तार्थकथनेन वक्ता श्रोतारं सुखयति । अन्यथानधिकारिणं मत्वा न वदेदलौकिकमर्थम् । प्रकृते चास्मिन्नर्थे राज्ञो विश्वासं दृष्टातिसन्तोषेण स्नेहेन च पितृत्वेन सम्बोधयति तातेति । नन्वेवं सति भगवत्कान्तेः तारतम्यात् सहजत्वं न स्यात् । अत आह पुरुषः शक्तिभिर्यथेति । यथायं प्राकृतोऽपि पुरुषः सर्वसामर्थ्येषु लीनेषु लोकप्रतीत्या न रोचत इव, स चेत् क्रियाशक्तीराविष्करोति, तदाधिको रोचते, तथा अयमपि भगवान् रोचमान एव प्रकटासु शक्तिषु गोपिकासु सर्वप्रतीत्या भावुकानामप्यतःकरणेन अधिकं व्यरोचत । अतिसौन्दर्यं प्राप्तवान् । ततो भगवान् परमानन्दयुक्तः स एव । 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः ॥ १० ॥

यदि शंका करो कि भगवान् तो सदैव ही रोचमान है, इसको दूसरे की अपेक्षा नहीं है, फिर गोपियों के साथ से अधिक शोभा क्यों कहते हो ? इस शंका का समाधान करते सुबोधिनी में कहते हैं कि (तासां) प्राकृत गोपियों के साथ सम्बन्ध से भगवान् भी प्राकृत होंगे, इस प्रकार शंका हो तो इस १० वें श्लोक में गोपियों का प्राकृतत्व शोभा कथन से निवृत्त करते हैं, अर्थात् गोपियों के प्राकृत होने पर भगवान् भी प्राकृत की तरह क्षीणरस हैं, इस प्रकार की शंका का उदय हो जायेगा, इस शंका का उदय न हो और भगवान् का रस क्षीण न हो इसके लिये शोभा कथन से प्राकृतत्व को निवृत्त करते हैं ।

यदि कहो कि गोपियों का प्राकृतत्व निवृत्त न होने में क्या दोष है ? तो कहते हैं कि यदि गोपियाँ प्राकृत हों तो गोपियों के सम्बन्ध से भगवान् को भी प्राकृतत्व हो जायेगा, तो फिर भगवान् की अलौकिक शोभा का तिरोधान हो जाने की शंका से भगवान् का तिरोधान हो जायेगा, फिर भगवान् की गोपियों के साथ शोभा भी किस प्रकार हो सकती है, इसलिये 'स्वार्थमेव तिरोधानं' भगवान् का अपने स्वार्थ के लिये तिरोधान हो जाना, अर्थात् अपने लिये प्राकृतत्व प्राप्त न हो जाये, और अपनी अलौकिक शोभा न जाय, भगवान् का तिरोधान हो जायेगा तो फिर गोपियों के साथ अधिक शोभा संभव ही नहीं होती है और न रमण ही हो सकता है, अतः भगवान् का स्वार्थ

ही तिरोधान हो जायेगा, जिस कार्य के लिये भगवान् पधारे हैं, वह सब कार्य ही सिद्ध नहीं होगा, यदि गोपियों का प्राकृतत्व दूर न हुआ तो, अतः प्राकृतत्व निवृत्त किया है।

अब इस १० वें श्लो० की सुबोधिनी में 'अन्यथा स्वार्थमेव तिरोधानं स्यात्' इसके ऊपर स्वतन्त्र लेख है, उसका भाषानुवाद कहते हैं, यहां पर यह आशय है।

भगवान् में स्वामिनियों के सम्बन्ध से उत्पन्न प्राकृतत्व की शंका होती है, उसके दूर करने के लिये, तथा स्वामिनियों में भगवान् के सम्बन्ध की योग्यता होने के लिये, यहां स्वामिनियों में अप्राकृतत्व निरूपण करते हैं।

ब्रह्मभूत होने पर ही जीव अप्राकृत हो सकता है, और ब्रह्मभूत शोकादि के अभाव में होता है।

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।' इस वाक्य में ब्रह्मभूत का लक्षण कहा है। इसलिये स्वामिनियों को सांसारिक शोक की संभावना न होने से प्रभु ही स्वामिनियों के लिये शोक उत्पन्न करने को तिरोहित हो गये, और अपना दर्शन न देकर विरह में शोक उत्पन्न करके पश्चात् प्रकट होकर शोक दूर कर दिया, और गोपियां विधूतशोक के कारण ब्रह्मभूत हो गईं, अतः स्वामिनियों को प्रभु ने अप्राकृतत्व ज्ञापन किया है, यदि इस बात को नहीं मानते हैं तो साधारण जगत् में क्रीडा करने के लिये जिस प्रकार भगवान् का जगत् से प्रवेशरूप तिरोहित है, उसी तरह यहां भी प्रवेश रूप तिरोहित होता, तो फिर इतर साधारण की तरह होने से स्वामिनियों में भी प्राकृतत्व ही होता, तो फिर पूर्वोक्त शंका का भी उद्धार नहीं होता।

भगवान् के स्वार्थ का तिरोधान तो 'स वै नैव व्यरमत्' इस श्रुति से ही कह दिया है, इसी लिये सुबोधिनी में श्रुति उपन्यस्त की है, प्रकृत-गोपियों के प्रसङ्ग में तो गोपियों को आनन्द देने के लिये ही भगवान् का गोपियों में प्रवेश है, अपनी क्रीडा करने के लिये नहीं है, अतएव मूल में 'वृत्तः' यह पद कहा है।

भगवान् जगत् में प्रविष्ट हो फिर बाहर प्रकट होकर जगत् से वृत्त नहीं होता है और न जगत् के सम्बन्ध से भगवान् की सबसे अधिक शोभा ही होती है, इस प्रकार यहाँ शोक और शोक का अभाव दोनों विलक्षण हैं, अतः यहां गोपियों को अप्राकृतत्व बोध करने के लिये ही प्रभु ने इस प्रकार किया है, यह हमारे आचार्यचरण का तात्पर्य सावधान तदीय दासानुदासी को जानना चाहिये।

यदि शंका करो कि भगवान् रसरूप भुतिसिद्ध है, इसलिये उक्त शंका का उदय यहां कैसे हो सकता है।

अब इसके उत्तर में कहते हैं 'स नैव व्यरमत्' भगवान् रमण नहीं करता हुआ 'तस्मादेकाकी न रमते' कारण कि 'अकेला रमण नहीं करता है' इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि भगवान् की रमण करने की इच्छा है, तो भी स्वयं तिरोहित हो गये, इसलिये किसी को शंका हो कि गोपियां प्राकृत हैं, प्राकृत गोपियों के सम्बन्ध से भगवान् भी प्राकृत हो जायें, तो भगवान् की अलौकिक शोभा चली जाये, इसलिये इस अर्थ से भगवान् गोपियों में से तिरोहित हो गये इस प्रकार की शंका दूर करने के लिये इस श्लोक में स्पष्ट कहा है कि गोपियों के साथ समागम से भगवान् की अलौकिक शोभा अधिक होती है, इसलिये गोपियां प्राकृत नहीं हैं।

रमण भी द्वितीय के अभाव में नहीं होता है, अर्थात् अकेले से नहीं होता है, दूसरा को ही होता है, तभी बन सकता है, इसलिये रमण का अभाव सिद्ध होने पर, उस रमण की तरह

रमण भी कभी-कभी हो और 'प्रशमाय प्रसादाय' इस प्रकार पहले कहा भी विरुद्ध हो जाये, इसलिये गोपियों को प्राकृत मानते हैं तो उक्त दोष होता है, और अप्राकृत मानते हैं तो उक्त दोष नहीं होता है, तथापि यहां दृष्टान्त का प्रयोजन क्या है, उसको कहते हैं।

पहले दो अध्याय में कहे अनुसार केवल भावना से भगवान् का दर्शन करने से गोपियों को आनन्द प्राप्त नहीं हुआ था, किन्तु इस समय अपने सहित गोपियां भगवान् का दर्शन करके अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुई हैं, उसी प्रकार लोक भी केवल भगवान् का दर्शन करके आनन्द को प्राप्त नहीं होता है किन्तु सर्वशक्तियुक्त पर भगवान् का दर्शन जिस समय करता है, उस समय इनको अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है, भागवत द० स्क० उत्तरार्ध अ० ६ श्लोक ३८ में श्री रुक्मिणी जी ने कहा है, कि 'पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न' पुरुष तथा स्त्री, इन दोनों के परस्पर स्नेह में यदि दोनों ही सुखी हों तो समागम में उत्तम रस प्राप्त होता है, और जो दोनों में से एक सुखी एक दुःखी हो तो उत्तमरस प्राप्त नहीं होता है, इस वाक्य से यदि गोपियां पहले की तरह दुःखी हों, और अकेले भगवान् ही सुखी हों तो भगवान् में रसकी उत्तमता नहीं हो, इसी बात को शुकदेवजी कहते हैं, 'विधूतशोकाभिः' गोपियां शोकदुःख रहित हो गईं।

मूल में 'ताभिः' पद कहा है, इससे यह सूचन किया है कि इन गोपियों का वर्णन तथा इनके गुणों का वर्णन पहले कर चुके हैं।

ये सब गोपियां आपकी सर्व भाव से शरण आई हैं, बीच में गोपियों की शरण भावना दूर हो गई थी, इसलिये गोपियों में शोक उत्पन्न हो गया था, अब इस समय शोक दूर होने पर पहले की तरह गोपियां हो गई हैं।

भगवान् ऐश्वर्य आदि छः गुणयुक्त हैं, तो भी प्राकृत पुरुष की तरह यदि भगवान् का काल-परिच्छिन्न-अनित्य काम हो तो गोपियों से भगवान् की विलक्षणता होने से शोभा नहीं हो, कारण कि गोपियों में अपरिच्छिन्न-नित्य काम है, इस बात को मूल में 'ताभिः' इस पद से स्मरण करा कर सर्वथा प्रपत्ति से निरूपण किया है।

यदि गोपियों में अनित्य काम होता तो कामभाव दशा में प्रपत्ति होना असम्भव है, काम-भाव में सर्वथा प्रपत्ति नहीं होती है, यह भाव है, अतः गोपियों में नित्यकाम है।

और भगवान् में यदि अनित्य काम हो तो परस्पर गोपियों में तथा भगवान् में विलक्षणता हो जाये, विलक्षणता होने पर शोभा नहीं हो।

भगवान् पूर्णकाम हैं, किन्तु गोपियां पूर्णकाम नहीं हैं, भगवान् की तरह यदि भक्त पूर्ण-काम हों तो फिर भक्तों को भगवान् की अपेक्षा नहीं हो, इसी बात को आचार्यचरण ने 'आनन्ददायः प्रधानस्य' ३-३-११ इस व्यास सूत्र में निरूपण किया है, गोपियों में अपरिच्छिन्न नित्यकाम है, और भगवान् पूर्णकाम ही हैं, इसलिये यहां काम काल-परिच्छिन्न अनित्य है, इसकी सम्भावना भी नहीं कर सकते हैं।

भगवान् तथा गोपियां दोनों में काम अपरिच्छिन्न-नित्य है, इसलिये भगवान् गोपियों से वृत्त-व्याप्त घिरे हुए अकेले स्वाभाविक स्वरूप की अपेक्षा से अधिक शोभित हुए हैं।

अब मूल श्लोक में 'हे तात' यह सम्बोधन है, इसका आशय इस प्रकार है कि जिस प्रकार पिता पुत्र को अपने अर्थ के लिये पोषण करता है, उसी प्रकार श्रोता वक्ता के कहे अर्थ में विश्वास करके वक्ता का पोषण करता है, इसीसे आगे अति गुप्त अर्थ के कथन से वक्ता श्रोता को सुख देता है, नहीं तो अनधिकारी जानकर अतिगुप्त अलौकिक अर्थ भगवान् की रसलीला नहीं कहे, प्रकृत विषय में तो शुकदेवजी अतिगुप्त भगवान् की लीला में राजा परीक्षित का विश्वास

देखकर अत्यन्त सन्तोष से तथा स्नेह से पिता की तरह 'हे तात' हे पुत्र ! इस प्रकार सम्बोधन करते हैं ।

यदि शंका करो कि इस प्रकार कहने से तो गोपियों के साथ से भगवान की शोभा स्वाभाविक शोभा से भी अधिक हो गई, तो फिर भगवान की शोभा में तारतम्य-घटावही होने से स्वाभाविकता नहीं रहेगी, विकृति हो जायेगी ।

तब इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (पुरुषः शक्तिभिर्यथा) जिस प्रकार प्राकृत पुरुष की सब सामर्थ्य-शक्तियां जिस समय लीन हो जाती हैं—अर्थात् तिरोहित हो जाती हैं, उस समय लोकप्रतीति से शोभित-सा नहीं होता है, किन्तु जिस समय वह क्रिया ज्ञान आदि शक्तियों को प्रकट करता है, उस समय अधिक शोभित होता है, उसी प्रकार यह भगवान भी शोभायमान ही है, किन्तु जिस समय गोपीरूप शक्तियां प्रकट होती हैं, उस समय सबकी प्रतीति से भावुकों के अन्तःकरण में अधिक शोभित होता है, कारण कि शोभा अन्यदर्शन सापेक्ष है, अर्थात् यद्यपि शोभा को दूसरा देखता है, तब उसका ज्ञान होता है, तथापि यहां परस्पर अपने-अपने सहित दर्शन है, तथा उक्त भाव की भावना करनेवाले भक्तों को शोभा का दर्शन होता है, इस-लिये गोपियों के साथ भगवान अतिसौन्दर्य को प्राप्त हुए, इसीसे भगवान है, वही परमानन्द युक्त है, 'एष ह्येवानन्दयाति' यह ही भगवान आनन्द देता है, इस प्रकार श्रुति भी कहती है ॥१०॥

(सुबो०) तासामानन्दजननार्थं यत् कृतवाँस्तदाह ताः समादायेति ।

अब गोपियों को आनन्द उत्पन्न करने के लिये भगवान ने जो व्यापकता प्रकट की है, उसका वर्णन शुकदेवजी आगे श्लोक में करते हैं ।

ताः समादाय कालिन्ध्या निर्विश्य पुलिनं विभुः ।

विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—(ताः) गोपियों को (समादाय) साथ लेकर भगवान (विकसत्कुन्द-मन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम्) खिले हुए कुन्द तथा मन्दार-देववृक्ष के पुष्पों के सम्बन्ध से सुगन्धि युक्त वायु तथा भ्रमरयुक्त (कालिन्ध्याः) कालिन्दीजी के (पुलिनं) पुलिन में (निर्विश्य) बैठकर (विभुः) व्यापक हो गया ॥ ११ ॥

भाषार्थ—भगवान गोपियों को साथ लेकर खिले हुए कुन्द तथा मन्दार-देववृक्ष के पुष्पों के सम्बन्ध से सुगन्धयुक्त वायु तथा भ्रमरयुक्त कालिन्दीजी के पुलिन में बैठकर व्यापक हो गया ॥ ११ ॥

(सुबो०) ताः सम्यक् आदाय समीचीने पुलिने निर्विश्योपविश्य विभु-र्जातः । कालिन्दी कलिन्द- (कलिं द्यतीति कलिन्दः) कन्या अतस्तस्याः पुलिने तासामन्योन्यं भगवता वा कलहो न भविष्यतीति ज्ञापितम् । पुलिनं वर्णयति क्रीडायोग्यत्वार्थं सार्धेन । सर्वत उपरि अधश्चेति । प्रथमतः सर्वतः सौभाग्यमाह । वायो-विकसन्ति कुन्दमन्दारपुष्पाणि तेषां सुरभ्यनिलः षट्पदा भ्रमराश्च यत्र । वायो-अयो गुणाः स्पष्टाः । मकरन्दोपि पुष्पेष्वधिकः । तेन मत्ता भ्रमरा अपि नाद-साधकत्वेन गानादावुपयुज्यन्ते । विकासो वाय्वर्थ एव । कुन्दगन्धः शान्तः ।

मन्दारगन्धः पुष्टः । तेन गुप्तागुप्तकामयोरुद्धोदको निरूपितः । (शत्रन्तोक्त्या प्रभु-निवेशनसमये एव विकासारम्भो, न तु पूर्वमपीति ज्ञाप्यते । अन्यथा विकसितेति वदेत् । एवं सति यस्मिन्क्षणे यस्यार्थस्योपयोगः, तस्मिन्नेव क्षणे तत्कार्यं भवति, नान्यदेति लीलामात्रोपयोग्येवात्रत्यं सर्वमपि इति ज्ञापितं भवति । अन्यथा सार्धाध्यायत्रयोक्तलीलायां क्रियमाणायां भूयस्येव रात्रिरतीत्यधुनैव विकासे हेत्वन्तराभावात् स न भवेत्, अत एव न वदेदपि । एवं सत्येतादृक्कुन्दादि सम्बन्धित्वेनोक्तत्वादनिलादयोऽप्यधुनैव प्रवृत्ताः न पूर्वमपीति ज्ञेयम् ।) स्वतन्त्र-तयापि सौरभ्यप्रतीत्यर्थं सुरभिरनिल उक्तः । एवं परितो जलं, परितः सुगन्धः, परितः पुष्पाणि, परितो वायुः, परितो नाद इति निरूपितम् ॥ ११ ॥

भगवान् गोपियों को सुन्दर प्रकार से साथ लेकर सुन्दर पुलिन में बैठकर विभु-व्यापक हो गया । अर्थात् सब गोपियों के समीप में स्थित हो गया, इस ११ वें श्लोक में क्रिया निरूपण नहीं की, इसलिये क्रियान्तर का अध्याहार करने की अपेक्षा से स्वरूपधर्म विभुत्व के प्राकट्य का कथन ही श्रेष्ठ है, इसलिये मूलसुबोधिनी में 'विभुर्जातः' इस प्रकार कहा है ।

कालिन्दी, कलिन्द पर्वत की कन्या, कलि-कलह को, द्यति-खंडन करता है, उसका नाम कलिन्द है ।

अतः कालिन्दी के पुलिन में गोपियों के लिये परस्पर मद, तथा मान से कलह नहीं हो, और उसी प्रकार भगवान् के साथ भी आगे कलह नहीं हो, इस प्रकार का भाव यहां कालिन्दी-पद से सूचित किया है, कारण कि गोपियों के मध्य में सब से अधिक ज्ञान रूप मद से ही परस्पर सापत्न्य-भाव होने से कलह होता है, यह भाव है ।

इस समय श्रीयमुनाजी के पुलिन में कलह का खण्डन करने वाला धर्म प्रकट हुआ है, इसलिये जिस पुलिन में पहले लीला हुई थी, उस पुलिन से इस समय भगवान् गोपियों के साथ जिस पुलिन में विराजमान हुए हैं यह पुलिन विशिष्ट है ।

पहले पुलिन में तो गोपियों को मद मान हुआ था, उस पुलिन में कलह खंडन करने वाला धर्म प्रकट नहीं हुआ था, इस बात को सूचन करने के लिये 'नद्याः पुलिनमाविश्य' इस छन्दोसर्वे अध्याय के ४५ वें श्लोक में 'कालिन्दी' पद नहीं कहा है, किन्तु नदी पद कहा है ।

अब इस समय श्रीयमुनाजी का पुलिन क्रीडा करने के योग्य है, इसका वर्णन श्रीशुकदेवजी आधा ११ वें का और पूरा श्लोक बारहवें का इस प्रकार डेढ़ श्लोक से करते हैं ।

श्रीयमुनाजी का पुलिन सब ओर से ऊपर तथा नीचे का भाग क्रीडायोग्य है, पहले चारो ओर के सौभाग्य का वर्णन करते हैं ।

खिले हुए कुन्द तथा मन्दार-देववृक्ष के पुष्प हैं, इन वृक्षों के पुष्पों से सुगन्धयुक्त वायु तथा भ्रमर जिस इस प्रकार का श्रीयमुनाजी का तट है, इसमें वायु के शीतल, मन्द, सुगन्ध, इस प्रकार तीन गुणों का वर्णन स्पष्ट है, मकरन्द भी पुष्पों में अधिक है, उस मकरन्द के सम्बन्ध से भ्रमर भी मत्त हैं ।

यदि कहो कि यहां 'मन्दारैः सुरभिः' इस प्रकार तृतीयासमास करने पर भ्रमरों में

पुष्प सम्बन्ध का अभाव होगा, तो फिर भ्रमरों में मद कैसे कह सकते हो, और यदि कहो कि भ्रमरों में मत्तता कहने का ही क्या प्रयोजन है, अर्थात् मत्तता न कही जाये तो क्या हानि है?

उक्त शंका का उत्तर देते हैं कि भ्रमरों में मद कहने का प्रयोजन यह है कि भ्रमर भी स्वयं नाद करते हैं इसलिये नाद साधन करने वाले भ्रमरों का गान आदि में उपयोग होता है।

पुष्पों का विकास वायु के लिये ही है, अर्थात् वायु में अपना गंध संपादन करने के लिये ही है, पहले की तरह पुष्प चुनने से स्वामिनी की वेणी आदि में पुष्प स्थापन करने के लिये नहीं है, इस प्रकार का भाव सुबोधिनी में 'वाय्वर्थ एव' इसमें एवकार से सूचन किया है।

कुन्द पुष्प की गन्ध शान्त है, और मन्दार पुष्प की गन्ध पुष्ट है, इस प्रकार कहने से वायु गुप्त तथा अगुप्त प्रकट काम का उद्बोधन करने वाला निरूपण किया है।

मूल श्लोक में 'विकसत्' यह पद शतृ प्रत्ययान्त कहा है, इसलिये वर्तमान अर्थ के प्रत्यय से ज्ञापित होता है कि जिस समय भगवान् गोपियों के साथ श्रीयमुना पुलिन में विराजमान हुए हैं, उसी समय पुष्पों का खिलना आरम्भ हुआ है, पहिले से नहीं हुआ है।

यदि पुष्पों का विकास पहले से होता तो शुकदेवजी यहां 'विकसत्' के स्थान पर 'विकसित' इस प्रकार भूतकाल का प्रयोग करते।

इस प्रकार जिन क्षण में जिस पदार्थ का उपयोग होता है, उसी क्षण में वह कार्य होता है, अन्य समय में नहीं, अतः यहां की सब वस्तु लीला मात्र के उपयोगी है, इस प्रकार ज्ञापन किया है।

यदि उक्त बात नहीं मानते तो साढ़े तीन अध्याय में कही गई लीला करने में बहुत-सी रात्रियां व्यतीत हो गई, अतः इस समय ही पुष्पों के विकास में कोई दूसरा कारण न होने से पुष्पों का विकास नहीं होता, और शुकदेवजी भी इसका वर्णन नहीं करते, अतः इस प्रकार विकसित कुन्द पुष्प आदि के सम्बन्धी वायु आदि भी इसी समय ही प्रवृत्त हुए हैं। पहिले नहीं हुए। इस प्रकार जानना चाहिये।

स्वतन्त्रता से भी सुगन्ध की प्रतीति वायु में हो रही है, इसलिये मूल में 'सुरभि सन्तिल' पद कहा है।

इस प्रकार से श्री यमुनाजी के पुलिन में चारों तरफ जल, चारों तरफ सुगन्ध, चारों तरफ पुष्प, चारों तरफ वायु और चारों तरफ नाद है, इस प्रकार निरूपण किया है ॥ ११ ॥

(सुबो०) उपर्युत्तमतामाह । शरदिति ।

अथ श्री यमुना पुलिन के ऊपर की उत्तमता का वर्णन शुकदेवजी करते हैं।

शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमःशिवम् ।

कृष्णाया हस्तरलाचितकोमलवालुकम् ॥ १२ ॥

पदपदार्थ—(शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमः शिवम्) शरदश्रुतु का चन्द्रकिरणों के समूह से दूर हुआ रात्रि का अन्धकार जिस यमुना पुलिन में, इससे श्री यमुना पुलिन की अत्यन्त कल्याणरूप कहा है, तथा (कृष्णाया हस्तरलाचितकोमल वालुकम्) श्री यमुना जी की हस्तरूप तरङ्गों से एकसी बिछाई कोमल बालु जिस पुलिन में हैं ॥ १२ ॥

भाषार्थ—शरदश्रुतु की चन्द्रकिरणों के समूह से दूर हुआ रात्रि का अन्धकार जिस यमुना पुलिन में, इससे अत्यन्त कल्याणरूप है, और श्री यमुनाजी की हस्तरूप तरङ्गों से एक सी बिछाई कोमल बालु पुलिन में है ॥ १२ ॥

(सुबो०) शरत्कालीना ये चन्द्रांशवः, तेषां ये सन्दोहाः समूहाः, तैर्ध्वस्तं दोषाया रात्र्यास्तमो यत्र । तेन अत्यन्तं शिवं कल्याणरूपम् । अन्धकारे गतेपि यदि भूताद्यभिनिविष्टं भवेत्, तथापि पदाग्रसमञ्जसमिति कल्याणरूपता निरूपिता । निर्विघ्नमग्निमेषुकार्यसम्पादकत्वज्ञापनाय च । परितश्च निकृष्टाः पदार्थाः नोपर्यधश्च । अधस्तस्य पुलिनस्य गुणानाह कृष्णेति । सापि भगवत्स-
नाम्नी भूसंस्कारं कृतवती भगवद्रमणार्थम् । कृष्णाया हस्तरूपास्तरलास्तरङ्गाः तैः आचिताः कोमलावालुका यत्र । अन्यया हस्तरूपताभावे समता न स्यात् । तेन शैत्यं कोमलत्वं समता चोक्ता । तादृशं पुलिनं निर्विघ्नं तत्र गत्वा वा स्थितः । उपवेशनमग्रे वक्ष्यति । भावेनैवोपवेशनम् ॥ १२ ॥

शरत् कालीन जो चन्द्रकिरण, उन किरणों का जो सन्दोह समूह उससे दूर किया गया रात्रि का अन्धकार जिस पुलिन में, इससे अत्यन्त कल्याणरूप श्री यमुना जी का पुलिन है।

अन्धकार निवृत्त होने पर भी यदि पुलिन में भूत आदिका निवेश हो, अर्थात् भूतादि रहते हों, तो भी पुलिन ठीक नहीं, इसलिये यहां कल्याणरूपता निरूपण की है, तथा आगेका दृष्ट-
कार्य निर्विघ्न संपादन हो जाये, इस बात को ज्ञापन करने के लिये भी पुलिन की कल्याणरूपता निरूपण की है, श्री यमुना जी के पुलिन में चारों तरफ तथा ऊपर नीचे कोई निकृष्ट पदार्थ नहीं है, सर्वत्र ही उत्कृष्ट-उत्तम पदार्थ है।

अब श्री शुकदेव जी श्री यमुना जी के नीचे पुलिन के गुण कहते हैं (कृष्णेति) श्री यमुना जी का नाम कृष्णा भी है, अतः भगवान् का नाम धारण करने वाली श्रीयमुनाजी ने भगवान् के रमण करने के लिये भूमिका संस्कार किया है, कृष्णा-श्री यमुना जी की हस्तरूप तरङ्ग हैं, उन तरङ्गों से एकसी बिछाई कोमल बालु जिस पुलिन में है।

यदि श्री यमुना जी के तरङ्ग रूप हस्त नहीं हों तो श्री यमुनापुलिन की रेती में समता नहीं होती।

उक्त प्रकार वर्णन से श्री यमुना पुलिन में शीतलता, कोमलता, तथा समता कही गई है, भगवान् इस प्रकार के पुलिन में बैठकर व्यापक हुआ, अर्थात् प्रत्येक गोपी के समीप में स्थित हुआ। अथवा पुलिन में जाकर स्थित हुआ, भगवान् के बैठने की बात शुकदेव जी आगे चौदहवें श्लोक में कहेंगे, कारण कि जिस समय गोपियां भाव से आसन बिछाती हैं, उस समय भगवान् बैठता है। इस लिये आसन बिछाने की बात आगे १३ वें श्लोक में कहेंगे ॥ १२ ॥

(सुबो०) ततो गोपिकानां कृत्यमाह तद्दर्शनाह्लादेति ।

अब इसके अनंतर शुकदेवजी मनोरथान्त प्राप्त होने से आसन बिछाने रूप कार्य गोपियों का कहते हैं।

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।

स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीकलपद्मासनमात्मबन्धवे ॥ १३ ॥

पदपदार्थ—(तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजः) भगवान् के दर्शन से प्राप्त हुआ जो आनन्द उस आनन्द से दूर हुआ हृदय का रोग जिसका इस प्रकार की गोपियाँ (यथा) जिस प्रकार से (श्रुतयः) श्रुतियाँ (मनोरथान्तं) मनोरथ का भी अन्त-भगवान् का आनन्द उसको (ययुः) प्राप्त हुई, उस प्रकार से गोपियाँ भी भगवान् के आनन्द को प्राप्त हो गई, (आत्मबन्धवे) अपने बन्धु भगवान् के लिये (कुचकुङ्कुमाङ्कितैः) स्तनों की कुङ्कुम से अङ्कित (स्वैरुत्तरीयैः) अपने उत्तरीय वस्त्रों से (आसनम्) आसन को (अचीकलपद्म) रचती हुई, बिछायी ॥ १३ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार के भगवान् के दर्शन से जो आनन्द प्राप्त हुआ उससे गोपियों के हृदय का दुःख दूर हो गया, और जिस प्रकार श्रुतियाँ भगवद्गुण गान धर्म से वाणी तथा मनके अगोचर प्रभुका दर्शन करके मनोरथ का भी अन्त-भगवान् के आनन्द को प्राप्त हुई थीं उसी प्रकार गोपियाँ भी भगवान् के आनन्द को प्राप्त हो गई, और इनमें अपने बन्धु प्रभु के लिये स्तनों के कुङ्कुम से अङ्कित अपने वस्त्रों से आसन बिछाया ॥ १३ ॥

(सुबो०) शोके गतेपि कामस्तापात्मको वर्तत एव, सम्बन्धस्याजातत्वात् । यदा पुनस्तादृशस्थाने तदर्थं गतः, तदा तद्दर्शनेन तस्य तदवस्थामाप्स्य दर्शनेन योऽयमाह्लादः भाव्यर्थनिश्चयात् तेन विधूताः हृद्रुजो यासाम् । एवं निवृत्ते दोषे तासां यज्जातं तदाह मनोरथान्तं ययुरिति । ताभिर्यथाकथञ्चित् सम्बन्धोऽभिलषितः । जातस्तु ततोऽनन्तगुणसामग्रीसहितः । अतो मनोरथस्याप्यन्तो यत्र तादृशं ययुः । नन्वनभिलषितं कथं प्राप्नुयुः, तत्राह श्रुतयो यथेति । श्रुतयो हि निरन्तरं भगवद्गुणवर्णनपराः । तेन धर्मेण, वाचः पूर्वरूपं यन्मनः तस्यापि यदगम्यं भगवत्स्वरूपं, तत् प्राप्तवत्यः । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे'ति भगवदानन्दो मनोरथान्तो भवति । तत्प्रतिपादिकाः श्रुतयो जाताः । सर्वे च मन्यन्ते । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इति, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादिवाक्यैः ब्रह्मणि श्रुतयः प्रमाणमित्यध्यवसीयते । 'सर्ववेदान्तप्रत्यय'मिति न्यायाच्च । अलौकिको वेदार्थः । अलौकिका वेदशब्दाः । लोके च न सङ्केतः । तथापि निरन्तरं भगवत्कार्यं कथयन्तीति लोकाः तच्छ्रवणेन शुद्धान्तःकरणाः स्वयमेवालौकिकविषये सामर्थ्यं मन्यन्ते । श्रुतिश्च तत्प्रतिपादिका भगवदिच्छया । नात्र लौकिकं साधनमपेक्षते, युक्ति वा । तथा एतासामपि मनोरथान्तप्राप्तिः । एवं परमपुरुषार्थदातुर्भगवतोऽन्यत्राभिविवेक्षे आधारधर्मसम्बन्धात् स्वस्य कृतार्थता न भविष्यतीति पूजार्थमात्मनिवेदनार्थं च आसनं चक्रुरित्याह स्वैरुत्तरीयैरिति । तद्दर्श-

स्थानां जीवन्नाणि त्रीणि भवन्ति । परिधानीयं, कुचपट्टिका, उपरिवस्त्रं च । सर्वाभिरेव स्वोपरिवस्त्राणि आसनार्थं दत्तानि । उपरिवस्त्राण्यपि द्विविधानि भवन्ति । सर्वदा परिधेयानि, भोगसमये च । तानि सूक्ष्माणि भवन्ति । तान्येव भगवते दत्तानीति ज्ञापयितुमाह कुचकुङ्कुमाङ्कितैरिति । शुष्काण्यपि कुङ्कुमानि क्रीडायामार्द्राणि भवन्ति । अतस्तेनाङ्कितानि उत्तरीयाणि, अचीकलपद्म कल्पयामासुः । ननु स्वोपरि परिधेयं कथमधः कल्पयाश्चक्रुरित्याशङ्क्याह आत्मबन्धव इति । आत्मनः स एव बन्धुः, रक्षित आत्मा, तदर्थमेव देहः स्वात्मा च अत उपर्याच्छादनमपि तदर्थमिति तस्यासनकलृप्तिरुचिता ॥ १३ ॥

'ताभिर्विधूतशोकाभिः' इस दसवें श्लोक में कह आये हैं और १३ वे श्लोक में 'विधूत हृद्रुजः' इस प्रकार कहा है, इसलिये यहाँ पुनरुक्ति दोष होता है ।

इस शंका का निवारण करते हुए श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि गोपियों का शोक तो चला गया था, किन्तु कामतापात्मक गोपियों में स्थित था, कारण कि अभी तक गोपियों का भगवान् के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ है, इसलिये इस श्लोक में मनोरथ का भी अन्त जिसमें इस प्रकार के आनन्द को गोपियाँ प्राप्त हुई हैं, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है । जिस समय भगवान् प्रकट होकर गोपियों के साथ श्रीयमुना पुलिन में पधारे, उस समय उक्त प्रकार की अवस्था को प्राप्त हुए भगवान् का दर्शन करके आगे भगवान् के साथ हमारा संबंध होगा इस प्रकार गोपियों को निश्चय हो पर जो आनन्द प्राप्त हुआ, उस आनन्द से गोपियों के हृदय का रोग नष्ट हो गया, अर्थात् गोपियों का तापात्मक काम नष्ट हो गया ।

अब इस प्रकार दोष निवृत्त होने पर गोपियों को जो कुछ हुआ उसका वर्णन शुकदेव जी करते हैं (मनोरथान्तं ययुः) गोपियाँ यह चाहती थीं कि किसी भी प्रकार भगवान् का संबंध हो जाये, इस प्रकार गोपियों में भगवत्संबंध होने की इच्छा थी, इस समय तो गोपियों का भगवान् से सम्बन्ध अनन्तगुण सामग्री सहित हुआ है, इसलिये मनोरथ का भी अन्त जिसमें उस प्रकार के वाणी तथा मनके अगोचर भगवान् के आनन्द को गोपियाँ प्राप्त हुई ।

यदि शंका करो कि गोपियों को तो किसी भी प्रकार से भगवान् के संबंध की इच्छा थी, इस प्रकार के अनन्तगुण सामग्री सहित भगवदानन्द की इच्छा नहीं थी, विना इच्छा फिर इस प्रकार का आनन्द गोपियों को कैसे प्राप्त हुआ ? और श्रुतियों की वाणी तथा मनके अगोचर की प्राप्ति प्रसिद्ध नहीं है, फिर दृष्टान्त की सङ्गति कैसे होगी ।

इस प्रकार की शंका के उत्तर में शुकदेवजी श्रुतियों की सङ्गति को भी कहते हैं, (श्रुतयो यथा) श्रुतियाँ निरन्तर भगवद्गुणगान करती हैं, इस प्रकार भगवद्गुण वर्णन रूप धर्म से वाणी का पूर्वं रूप जो मन है, उस मन से भी जो अगम्य भगवत्स्वरूप है, उसको श्रुतियों ने जान लिया है ।

इस प्रकार श्रुतियों की प्राप्ति की प्रतिज्ञा करके अब इसमें प्रमाण कहते हैं, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' 'अप्राप्य मनसा सह' जिस भगवान् को मनसहित वाणी प्राप्त किये बिना पीछे लौटती है । भगवान् का आनन्द मनोरथ का अन्त करनेवाला होता है, उसका प्रतिपादन श्रुतियाँ करती हैं ।

यदि शंका करो कि प्रतिपादन मात्र से प्राप्ति का निश्चय कैसे हो सकता है । तब इस

शंका के उत्तर में श्री विट्ठलनाथजी टिप्पणी में प्रतिपादन करते हैं कि यहां पर इस प्रकार भाव है, कि श्रुतियों में दो अंश हैं, (१) भगवान् के स्वरूप का अनुभव करनेवाला ।

(२) दूसरा अंश अन्य लोगों को स्वरूप के अनुभव में साधनरूप है, उसमें यदि अपनी शक्ति से ही भगवत्स्वरूप का अनुभव हो जाता हो तो 'यतो वाचो' इस प्रकार उक्त श्रुति नहीं कहती, कारण कि भगवान् के अनुग्रह से भगवान् का आनन्द अनुभवकवेद्य है ।

यदि भगवान् के आनन्द को अनुग्रह द्वारा अनुभवकवेद्यता नहीं हो तो श्रुतियों को वाणी-रूपता होने से वाणी की निवृत्ति के अनन्तर विद्वत्त्व कथन में वदतोऽव्याधात—अर्थात् कहकर फिर उसका नाश करना रूप दोष हो जायेगा, कारण कि भगवान् का बोध करनेवाला अन्य प्रमाण नहीं है, इसलिये श्रुतियों को पहले भगवत्स्वरूप का ज्ञान नहीं था, फिर जब श्रुतियों ने निरन्तर भगवद्गुण वर्णन किया, तब भगवान् के अनुग्रह से पश्चात् भगवान् के आनन्द का अनुभव हुआ, इस प्रकार श्रुतार्थापत्ति से मानना चाहिये, इसी बात को आचार्यों ने कहा है कि 'श्रुतयो जाताः' भगवान् का आनन्द श्रुतियों ने प्रतिपादन किया है ।

यदि शंका करो कि 'यतो वाचः' इस श्रुति में निषेधमुख से ही भगवान् का प्रतिपादन अभिप्रेत है, विधिमुख से नहीं है, अतः भगवत्प्राप्ति का अवगम कैसे हो सकता है ?

इस शंका के उत्तर में श्रीमहाप्रभु जी सुबोधिनी में कहते हैं कि 'सर्वे च मन्यन्ते' सर्व लोग श्रुतियों से ही भगवान् के स्वरूप को जानते हैं इसको सभी स्वीकार करते हैं ।

'तं त्वोपनिषदं पुरुषं पुच्छामि' में उपनिषद में कहा उस पुरुष को पूछता हूँ, 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इसलिये मैं लोक तथा वेद में प्रसिद्ध पुरुषोत्तम हूँ । 'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति' इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म विषय में श्रुतियां प्रमाण हैं, इस प्रकार निश्चय होता है, 'सर्ववेदान्तप्रत्ययम्' इस न्याय से भी प्रमाण है ।

'तं त्वोपनिषदं' इसमें प्रश्न करने वाला उपनिषत् प्रतिपाद्य ब्रह्म चाहता है, इसलिये उपदेश से पहिले ही पूछनेवाले को इतना ज्ञान है कि उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्म है, अतः ब्रह्म वेदप्रतिपाद्य है, इस बात को जो लोग जानते हैं, वे सत्य ही कहते हैं, उक्त गीतावाक्य से भी वेदप्रतिपाद्य ही कहा है, 'सर्वे वेदाः' इसमें सर्ववेद पदरूप को प्राप्त होते हैं, इसलिये पदप्राप्य जो ब्रह्म है, उसको (आमनन्ति) अभ्यास करते हैं, इस प्रकार के अर्थ से वेद प्रतिपाद्य ही कहा है, अतः वेदों से ब्रह्म प्रतिपादित है ।

श्रुतियों को मनोरथान्त प्राप्ति हुई है, और वह प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह से ही हुई है, नहीं तो 'यतो वाचः' इस श्रुति से मनवाणी से अप्राप्य ब्रह्म का श्रुतियां प्रतिपादन कैसे करती, इसलिये मनोरथ की जहां गति नहीं है, इस प्रकार के ब्रह्म का श्रुतियां जो निरूपण कर रही हैं, यह सब भगवान् के अनुग्रहविशेष से साध्य हुआ है, उसी प्रकार ब्रजसुन्दरियों को मनोरथान्त की प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह से ही साध्य हुई है ।

इसमें भौतिकी शब्दान्मिका श्रुतियां दृष्टान्तरूप हैं, और आधिदैविकी ब्रजसुन्दरी तत्त्व की श्रुतियां दार्ष्टान्तिक हैं, इसलिये दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिकभाव श्रुतियों को ही है, कारण कि ब्रजवधूटियों को भी भक्तिरूपता है, 'न स्त्रियो ब्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः भुतयः किल ।' ब्रजसुन्दरी साधारण स्त्री नहीं हैं, किन्तु वे पुत्र ये श्रुतियां हैं । यह वाक्य भृगु के प्रति ब्रह्माजी ने बृहद्ब्रह्म पुराण के उत्तर खिल्य में कहा है ।

इसी प्रकार 'गोप्यो गावस्तृणस्तस्य' इस वाक्य से कृष्णोपनिषत् में गोपियां श्रुति बतलाई गई हैं, अतः कहे हुए श्रुति स्मृति आदि वाक्यों से विधिमुख प्रतिपादन सभी ने अङ्गीकार किया है ।

इसी बात को टिप्पणी में कहा है, उक्त श्रुतियों से अन्य लोगों को भगवान् का ज्ञान होता है, इस प्रकार निश्चय किया है ।

श्रुतियां वाणी रूप हैं, इसलिये 'यतो वाचः' इत्यादि श्रुतियों से भगवान् का ज्ञान होना संभावित नहीं है, इस प्रकार श्रुतियों से ज्ञान होना, तथा नहीं होना दोनों बात कही हैं, अतः श्रुतियों में परस्पर विरोध होता है, इस विरोध परिहार के लिये श्रुति में कहा भगवद्धर्म—सर्व-भाव से भगवान् का भजन करना है, 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत' यह गीता वाक्य है ।

इस प्रकार इस भगवद्धर्म के श्रवण करने से, अनन्तर उसी प्रकार की कृति करने से भगवान् का अनुग्रह होता है, अनुग्रह होने पर भक्ति उत्पन्न हो जाती है, भक्ति के अनन्तर स्वयं ही भगवान् का आनन्द अनुभव करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसलिये सुबोधिनी में 'सर्वे च मन्यन्ते' से लेकर 'पुक्ति वा' यहां तक कहा है ।

इस प्रकार प्रकृत विषय—गोपियों के प्रसङ्ग में श्रुतियों में दो अंशबोधन करने के लिये 'श्रुतयो यथा' यह दृष्टान्त दिया है ।

इस प्रकार साढ़े तीन अध्याय से कहे हुए स्नेह से गोपियां प्रभु को अपने वश में करके मनोरथान्त को प्राप्त हुई हैं, अन्य लोग भी जिन्होंने बहुत से पुण्य किये हैं, वे सब गोपियों के वाक्यों का श्रवण कीर्तन आदि करके तथा गोपियों के भावानुसार भजन-सेवा करके भगवान् के आनन्द को प्राप्त होंगे उक्त कहने से यह भी कह दिया है ।

यदि शंका करो कि भगवान् सर्वथा वाणी के विषय नहीं हैं, तो फिर श्रुतियां निरन्तर भगवत्कार्य को कहती हैं, इस प्रकार का कथन भी संभव नहीं होता है ।

तब इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि इसी प्रकार से ही कार्य की उक्ति द्वारा भगवद्रूप में वाणी विषय की प्राप्ति होती है ।

और यदि यह कहो कि पहिले यह कहा है कि भगवदानन्द प्राप्ति के लिये ही श्रुतियों ने भगवान् के गुणों का वर्णन किया है, यदि इस प्रकार से भगवद्रूप की वाणी मन से सर्वथा अगोचरता है तो श्रुतियों ने जो गुणवर्णन किया है वह भी बाधित होता है, और जब गुण वर्णन बाधित होता है तो दृष्टान्त में मनोरथान्त प्राप्ति का वर्णन भी बाधित होता है, इसलिये निषेध-मुख से ही वाणी का विषय है, विधिमुख से नहीं है, इस प्रकार 'यतो वाचः' इत्यादि श्रुति का तात्पर्य है, किन्तु पहिले सर्वथा वाणी का अविषय, पीछे इच्छा से वाणी के विषय में तात्पर्य नहीं है, प्राप्तिमात्र में दृष्टान्त है, अतः इस प्रकार की व्याख्या करके विराम करना चाहिये, और मनोरथान्त प्राप्ति की जैसे-तैसे कल्पना करके उसमें दृष्टान्त से अन्यत्र यत्न नहीं करना चाहिये ।

इस शंका के उत्तर में सुबोधिनी में कहा है, कि 'श्रुतिश्च तत्प्रतिपादिका' प्रतिपादन-भगवद्बोधक वाक्यों का कथन, वाक्यार्थ बोध अभिधा शक्तिग्रह के बिना नहीं होता है, और लोक में भगवद्वाचक शब्द प्रसिद्ध नहीं हैं, इसलिये शक्तिग्रह का भी होना संभव नहीं होता है, अतः वेदवाक्यों के अर्थ का बोध भगवान् की इच्छा से ही होता है, इसी से भगवान् ने कहा है कि 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' ।

यदि कहो कि भगवान् इस प्रकार की इच्छा क्यों करते हैं इसके उत्तर में कहते हैं।

यदि भगवान् अपनी इच्छा से भी बोध न कराये तो फिर मुक्ति का उच्छेद हो जाये, अर्थात् 'मोक्षमिच्छेज्जनादंतात्' इस वाक्य से जनार्दन भगवान् ही मोक्षदान करते हैं, वह मोक्ष 'तमेवं विद्वान्' इत्यादि श्रुति के अनुसार ज्ञानद्वारा होती है।

यदि भगवान् की इच्छा नहीं हो तो साधनान्तर के अभाव से ज्ञान का भी अभाव होगा, तो फिर मुक्ति का उच्छेद ही हो जायेगा, फिर किसी का भी मोक्ष नहीं होगा, अतः मुक्ति का उच्छेद न हो, इसलिये भगवान् अपनी इच्छा से वेदवाक्यों के अर्थ का बोध कराते हैं।

जिस प्रकार वीणा बजाने वाले की इच्छा आदि से उस उस अर्थ वाले शब्दों का आविर्भाव वीणा से होता है, उसी प्रकार भगवदिच्छानुसार से श्रुति निरूपण करती हैं।

जिस प्रकार वीणा बजाने वाला अपने इच्छानुसार शब्द का आविर्भाव करता है, उस समय वीणा के ऊपर संतुष्ट हुआ बजानेवाला, उस वीणा की अनेक प्रकार से रक्षा करता है, उसी प्रकार भगवान् ने श्रुतियों के लिये अपना रूप प्रकट करके आनन्द दिया है, यह अर्थ है। और पूर्वपक्ष में जो कहा कि सर्वथा वाणी का अविषय है तो निरन्तर श्रुति भगवत्कार्य का वर्णन करती है, इस प्रकार की बात संभव नहीं होती है।

इसका भी उत्तर कहते हैं कि जीवों को सर्वपुरुषार्थ की सिद्धि के लिये भगवान् ने वेद प्रकट किये हैं, उसमें जिस रूप साधनात्मक से जो पुरुषार्थ जिस प्रकार के अधिकारी को सिद्ध होता है, वह रूप उस पुरुषार्थ को तथा उस अधिकारी को मोक्षपर्यन्त श्रुति निरूपण करती है, इस प्रकार करने से संतुष्ट हुए भगवान् श्रुतियों के लिये अपना स्वरूप प्रकट करके आनन्द दान करते हुए।

श्रुतियों ने भगवान् का वह रूप और वह आनन्द पहले नहीं जाना था, कारण कि अभी तक भगवान् मनवाणी का अविषय था, इस प्रकार की भी फलात्मक वस्तु है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये कहा है कि 'यतो वाचो' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' इस श्रुति में पूर्वाध आनन्द का विशेषण है, अर्थात् ब्रह्मानन्द को प्राप्त न होकर मन सहित वाणी निवृत्त हो जाती है। फलरूप वस्तु के अनुभव से पहले 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्धवानन्दी भवति' इत्यादि श्रुतियों से जो भगवान् का स्वरूप निरूपण किया है, वह सर्वात्मभाव का निर्वचन प्राप्य है, अन्य प्रकार से नहीं है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये सर्वात्मभाव का निर्वचन करना अशक्य है, इसलिये उसका प्रकट करने वाला धर्म उत्तरार्ध से कहते हैं कि एतादृश आनन्द को जो विद्वान्, अथवा एतादृश आनन्द को जो जानता हुआ, वह किसी से भी लोकवेद से भी अधिक क्या कहा जाये परीक्षा के लिये साक्षात् भगवान् के कहे वाक्यों का भी उल्लङ्घन करके मान आदि की दशा में भगवान् के अपराध से भी नहीं डरता है।

मोक्ष का साधन अपनी कृति से साध्य होने से, उसमें 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रवण आदि साधन कहे हैं, और यहां पुष्टिमात्र में तो भगवान् के अनुग्रह से लभ्यता है, इसलिये अपनी कृति से साध्यता न होने से श्रवण आदि साधनों का अनुवाद ही किया है, अतः मूल में मनोरथान्त प्राप्ति पर्यन्त दृष्टान्त है, केवल प्राप्तिमात्र में नहीं है, इस प्रकार टिप्पणी में कहा है।

यही सब बात मूल सुबोधिनी में श्रीमहाप्रभुजी ने कही है कि 'यतो वाचः' इस उक्त श्रुति के अनुसार भगवान् वाणी से गम्य नहीं होने चाहिये। तब इस शंका के उत्तर में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि 'अलौकिको वेदार्थः'।

वेद प्रतिपादित यज्ञ, और उसके अङ्गभूत पशु आदि सब भगवान् के अवयव भूत हैं, यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं, और लोकसिद्ध अनुवाद मानते हैं तो अनधिगत अर्थ का ज्ञान नहीं होगा, और ज्ञान के अभाव होने से प्रामाण्यता नहीं होगी 'शब्द इति चेत्ततः प्रभवात्' इस व्यास सूत्र में वैदिक सृष्टि की भिन्नता प्रतिपादन की है, तामस अहंकार का कार्य शब्द रूप सृष्टि नहीं है, इसी से नामसृष्टि की व्यवस्था भिन्न ही कही है।

संकेतग्रह का अभाव होने से शब्द से ज्ञान नहीं होता है, किन्तु चित्त की शुद्धि से स्वरूप योग्यता संपादन की जाती है, यद्यपि अन्य प्रमाण की अपेक्षा न करके स्वतः प्रमाणभूत वेद में जैमिनि द्वारा अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है, तथापि जैमिनि ने अभिन्नता से विधि अंश का जिस प्रकार अलौकिक धर्म अर्थ स्वीकार किया है, उस प्रकार 'हिरण्यप्रदिवस्ते अर्थम्' इत्यादि द्वारा प्रत्यक्ष मन्त्रवर्णों से यजमान तथा ऋत्विजों को वेद से ही अपने-अपने कार्य का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है तथा 'जमदग्नीनां पञ्चावत्तम्' इत्यादि अनुमान से व्यासपाद ने मन्त्रादि अंश का भी अलौकिक पुरुषावयवरूप अर्थ स्वीकार किया है, अतः वेदार्थ अलौकिक है, और वेदशब्द भी स्वर आदि की विशेषता आदि से स्पष्ट ही अलौकिक हैं, अर्थात् वेद में जो अग्नि, वायु, इन्द्र आदि शब्द तथा दध्यादि शब्द हैं, वे सब अलौकिक हैं, लौकिक नहीं हैं, इसीसे 'वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः। तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः॥' वेदाक्षर जितने ब्राह्मणों ने पढ़े हैं, उतने सब हरिनाम कीर्तन किये हैं, इसमें संदेह नहीं है, इस प्रकार वेदाक्षरों को हरिनामता कही है।

जहां पर हरिनाम के कारण अक्षरों को अलौकिकता है, वहां फिर इस प्रकार के अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न शब्दों को अलौकिकता हो तो क्या कहना है, 'निःश्रसितमस्य वेदाः' इस श्रुति में वेद को भगवान् का निःश्र्वास रूप कहा है। और वेद 'इषेत्योर्ज्ज्वा वायवस्थोपायवः' इत्यादि शब्द रूप है, इसलिये शब्दों को अलौकिकता ही है, 'वेदो नारायणः साक्षात्' इस वाक्य से भी वेद अलौकिक है, इसलिये वैदिक शब्दों का लोक में संकेत नहीं है, और लौकिक शब्दों के सदृश देखकर लौकिक संकेत बल से अर्थ कल्पना में तो जो वेद की अर्थ कल्पना की जाती है, वह वेदार्थ नहीं है, इसलिये वेदों के संकेत का अभाव होने से अर्थज्ञान दुर्लभ है, अतः श्रीकृष्ण के अनुग्रह से ही एक वेदार्थ लभ्य है, यह भाव है।

यह पद इस अर्थ में शक्त है, यह शब्द इस अर्थ में शक्त है, इसका नाम संकेत है। यद्यपि वैदिक शब्दों का लोक में संकेत नहीं है, तथापि जैमिनीय के अनुसार से आकृति में, और व्यासचरण के कहे पक्षान्तर के अनुसार से प्रवाह में शब्दसम्बन्ध का निश्चय करके उसके श्रवण में लोक प्रवृत्त होता है, केवल वेदशब्द पूर्वोक्त श्रुति से निरन्तर भगवत्कार्य को कहते हैं, अर्थात् भगवद् यज्ञ का गान करते हैं, इसलिये लोक, वेद के केवल श्रवण से शुद्ध अन्तःकरण वाले हो जाते हैं, और जिस प्रकार स्वाभाविकी बुद्धि से हर्म्यवादि ब्रह्मा के पुत्र नारदजी के कहे कूटवाक्यों का अर्थ निश्चय किये, उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष स्वयं ही भगवान् के अनुग्रह से हमारा अलौकिक विषय ज्ञान में सामर्थ्य हो गया, अथवा अलौकिक विषय में वेद शब्दों का सामर्थ्य मानते हैं, अतः शक्तिग्रह होने पर सुखपूर्वक विधिमुख प्रतिपादन, तथा बोध अङ्गीकार करना चाहिये।

श्रुति को लौकिक साधन की अथवा पुक्ति की अपेक्षा नहीं है, जिस प्रकार श्रुतियों को मनोरथान्त प्राप्ति हुई, उसी प्रकार गोपियों को भी मनोरथान्त प्राप्ति हुई है।

इस प्रकार परम पुरुषार्थ देने वाले भगवान् की इच्छा यदि अन्यत्र बैठने की हो तो आधारधर्म के सम्बन्ध से अपने को कृतार्थता नहीं होगी, इसलिये पूजा के लिये और आत्म निवेदन के लिये गोपियों ने भगवान् को आसन बिछाया, इस बात को शुकदेवजी 'स्वैरुत्तरीयः' इस पद से कहते हैं।

जो गोपियां अपने प्रिय भगवान् को अपने वस्त्र आसन के लिये नहीं दें तो फिर भगवान् गोपियों का सम्बन्ध रहित अन्य वस्तु पर बैठते, अन्य वस्तु पर बैठते हैं तो इतने अंश में गोपियों की कृतार्थता नहीं होती।

पुष्टिमार्ग का तो यह सिद्धान्त है कि जिसने भगवान् को आत्मनिवेदन किया है, उसकी कोई भी वस्तु, तथा इन्द्रियादि जिस क्षण में भगवत्सेवोपयोगी न हों, उसी क्षण में उसकी कृतार्थता न होकर व्यर्थता हो जाती है, इसलिये भक्त भगवान् की अनुपयोगी वस्तु में भगवत्संबन्ध की इच्छा-अभिलाषा करता है। फिर जिस समय भगवान् के साथ उस वस्तु का सम्बन्ध हो जाता है, उस समय वह वस्तु कृतार्थ हो जाती है, सम्बन्ध बिना वस्तु कृतार्थ नहीं होती है, इस प्रकार यह निरुद्ध भक्तों का सिद्धान्त है।

गोपियां भी सर्वांश में भगवत्सम्बन्ध की ही अपेक्षा करती हैं, कारण कि गोपियों में जो भाव है, उसका स्वभाव ही इस प्रकार का है।

प्रभु भी इस समय गोपियों के लिये ही प्रकट हुए हैं, इसलिये स्वामिनियों के अतिरिक्त अन्य किसी की भगवान् के साथ सम्बन्ध करने में योग्यता भी नहीं है, इसी से आगे श्लोक में कहेंगे (कल्पितासनः)

गोपियों ने भगवान् के लिये अपने उत्तरीय वस्त्रों से आधारधर्म सम्बन्ध से कृतार्थता होने के लिये आसन बिछाया।

व्रज में रहने वाली स्त्रियां तीन वस्त्र पहिनती हैं।

एक वस्त्र शरीर में पहिनने का, दूसरा वस्त्र छाती ढकने का चोली-झंगिया, तीसरा वस्त्र ऊपर ओढ़ने का, जिसको ओढ़नी-फरिया कहते हैं, सब गोपियों ने अपने-अपने ऊपर ओढ़ने के वस्त्र आसन के लिये भगवान् को दे दिये, ऊपर ओढ़ने के वस्त्र भी दो प्रकार के होते हैं, एक वस्त्र सदैव ओढ़ने में आता है, और दूसरा भोग समय काम में आता है, भोग समय काम में आने वाला वस्त्र सूक्ष्म-महीन होता है, ये महीन वस्त्र ही गोपियों ने भगवान् को दे दिये, इस बात को ज्ञापन करने के लिये कहते हैं कि 'कुक्कुमाङ्कितः'।

स्त्रियों में लगा कुंकुम सूख गया हो, तो भी क्रीडा में जाद्वं-गीला हो जाता है, इसलिये कुक्कुम से अंकित उत्तरीय वस्त्र थे, उनका गोपियों ने भगवान् को आसन बिछाया।

यदि कहें कि गोपियों ने अपना ऊपर का वस्त्र भगवान् के नीचे क्यों बिछाया।

इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि 'आत्मबन्धवे' गोपियों की आत्मा का भगवान् ही बन्धु है, इसलिये गोपियों ने अभी तक आत्मरक्षण भगवान् के लिये ही किया है, यहां आत्मा शब्द का अर्थ देह, तथा अपनी आत्मा है, अर्थात् गोपियों का देह तथा आत्मा भगवदर्थ ही है, इसलिये ऊपर ओढ़ने का वस्त्र भी भगवान् के लिये ही है, अतः उत्तरीय वस्त्र का आसन बिछाना उचित ही है ॥ १३ ॥

(सुबो०) ततो भगवान् तासु सर्वत्र निविष्ट इति ख्यापयितुं तदुत्तासन उपविष्ट इत्याह तत्रोपविष्ट इति।

आसन बिछाने के अनन्तर भगवान् गोपियों में सर्वत्र विराजमान हुए, इस बात को प्रसिद्ध करने के लिये भगवान् गोपियों के दिये आसन के ऊपर बैठ गये, इसको शुकदेवजी कहते हैं, आसनरचना कथन से ही बैठना प्राप्त हो जाता है, फिर 'तत्रोपविष्टः' इस पद से पुनः आसन पर बैठना क्यों कहा। इसके उत्तर में पुनः कथन का तात्पर्य यह है कि भगवान् वस्त्र द्वारा वस्त्रों के पहिनने वाली सर्वगोपियों में विराजमान हुए, इस लिये पुनः कथन है।

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो,

योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।

चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चित-

त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥ १४ ॥

पदपदार्थ—(योगेश्वरान्तर्हृदि) योगेश्वरों के भीतर हृदय में (कल्पितासनः) कल्पित है आसन जिसका (सः) वह (ईश्वरः) ईश्वर (भगवान्) षडैश्वर्यवान् (तत्र) आसन पर (उपविष्टः) बैठ गया (त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं) तीनों लोक की लक्ष्मी-शोभा का एक स्थान (वपुः) शरीर को (दधत्) धारण करता (गोपीपरिषद्गतः) गोपियों की सभा में प्राप्त (अर्चितः) गोपियों से पूजित (चकास) परम शोभा को प्राप्त हुआ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—योगेश्वरों के भीतर हृदय में कल्पित आसन जिसका इस प्रकार का वह ईश्वर भगवान् गोपियों के उत्तरीय वस्त्ररूप आसन पर बैठ गया, अर्थात् वस्त्र द्वारा सब गोपियों में विराजमान हो गया और तीनों लोक की लक्ष्मी शोभा का एक ही स्थान रूप शरीर धारण करता गोपियों की सभा में प्राप्त गोपियों से पूजित परम शोभा को प्राप्त हुआ ॥ १४ ॥

(सुबो०) भगवानिति तेषां कार्यसाधकत्वम् । ननूत्तरीयवस्त्रापगमे सभायां रसाभासो भवेत्, अतः कथमुपविष्ट इति चेत्, तत्राह स ईश्वर इति । सः पूर्वं प्रार्थितः । ईश्वरः सर्वकरणसमर्थः । अतस्तासां दिव्यानि वस्त्राणि सम्पन्नानीति बोधितम् । येषां जलक्रीडायां न वाससामाद्रता । अतः सर्वकरणसमर्थः तत्रोपविष्टः सः प्रार्थितः । यद्वा वरदानसमये वस्त्रेष्वपहृतेषु सर्वथा तदभावे यस्य रसाभासो न जातः, तस्य केवलमुत्तरीयाभावे कथमधुनापि स भवेदिति वक्तुं स इत्युक्तवान् । ननु तदानीमपि कथं न रसाभास इत्यत आह ईश्वर इति । कर्तुं सामर्थ्यवत्त्वात् । यदि स भवेत्, तदा तथा न कुर्यादेव । अकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासहेतुत्वेपि तदुत्तासनं त्यक्तुमशक्यमेव । अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासप्रकारेणापि रसमुत्पादयितुं शक्तः । अतस्तादृशो न किञ्चिदनुपपन्नमिति भावः । ननु भगवान् अपवित्रे भोगादिलेपयुक्ते कथमुपविष्ट इति चेत् तत्राह योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासन इति । योगेश्वराणां हृदयं शुद्धम् । तत्राप्यन्तर्हृदयम् । तत्रापि कल्पितमेव भगवदासनम्, न तु

वक्ष्यम । मानसी मूर्तिस्तिष्ठति, न तु कदाचिदपि स्वयमुपविष्ट इति मुख्यमासन-
मेतदेव । अतश्चकास, परमशोभां प्राप्तवान् । पूर्ववद् गोपीनां परिषदं गतश्च
जातः । परितो गोपिका उपविष्टा इत्यर्थः । सभापतिर्भगवान् । अतस्ताभिरर्चितः ।
ततो भगवान् तासामर्थं त्रैलोक्ये यावन्ति लक्ष्मीरूपाणि इन्द्रपदादीनि, तासां
तदेकं पदं, यस्यांशविलासाः तत्तल्लक्ष्मीभोक्तारः, तादृशं वपुर्धृतवान् । अस्मिन्नर्थे
देशकालादिभेदेन यावन्त उत्कृष्टा अर्था अपेक्ष्यन्ते, तान् प्रकटितवान्, तादृश-
वपुर्धारणेन ॥ १४ ॥

मूल में भगवान् शब्द कहा है, इसका तात्पर्य यह है कि गोपियों के वस्त्रों का कार्य
साधकता है, अर्थात् वस्त्रद्वारा भगवान् के साथ गोपियों का सम्बन्ध सम्पादन होता है, कारण
कि बैठने वाले भगवान् हैं ।

इस प्रकार कहने से यह भी स्पष्टसूचन कर दिया है कि भगवान् के लिये समर्पण किये
पदार्थ का अङ्गीकार करने पर उस पदार्थ द्वारा अपने को भी भगवान् का सम्बन्ध हो जायेगा,
अतः इस भाव से भगवान् के लिये भक्तों को सब पदार्थ समर्पण करने चाहिये ।

इस प्रकार यहां अपने भक्तों को उपदेश भी किया है ।

यदि कहो कि गोपियों के उत्तरीय वस्त्रों के जाने से सभा में रसाभास हो जायेगा, अतः
भगवान् क्यों बैठे ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (स ईश्वरः) जिसकी गोपियों ने पहले प्रार्थना की थी,
वह ईश्वर सब करने में समर्थ है, इसलिये गोपियों को दिव्य वस्त्र, जो कामरूप व्रतचर्या में
भगवान् ने दिये थे उनका यहां बोध कराया है, ये दिव्य वस्त्र जलक्रीडा के अनन्तर आर्द्र-गोले
नहीं रहते हैं, अर्थात् दिव्य वस्त्रों में गीलापन नहीं रहता है । इसलिये सर्वकरणसमर्थ ईश्वर
गोपियों ने जिसकी पहिले प्रार्थना की थी, वह वहां बैठा है । फिर रसाभास कैसे हो सकता है ।

अथवा पहिले वरदान समय में भगवान् ने गोपियों के सब वस्त्र अपहरण कर लिये थे,
उस समय गोपियों के शरीर में एक भी वस्त्र नहीं था, तब वस्त्रों के अभाव में रसाभास नहीं
हुआ था, फिर यहां केवल उत्तरीय वस्त्र के अभाव में भगवान् को इस समय कैसे रसाभास हो
सकता है, इसी बात को कहने के लिये मूल में 'स' पद कहा है । यदि कहो कि वरदान समय में
भी रसाभास क्यों नहीं हुआ, रसाभास तो उस समय भी था ।

अब इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'ईश्वरः' वह भगवान् ईश्वर है, ईश्वर में कतुं
सामर्थ्य, अकतुं सामर्थ्य, और अन्यथा कतुं सामर्थ्य होता है ।

यहां भगवान् ने कतुं सामर्थ्य दिखाया है ।

यदि रसाभास हो, तो भी ईश्वर अपने करने के सामर्थ्य से रसाभास नहीं होने देगा ।
नहीं करने के सामर्थ्य से गोपियों द्वारा अपने उत्तरीय वस्त्रों से बिछाया आसन रसाभास उत्पन्न
करने वाला है, तो भी भगवान् गोपियों का दिया आसन त्याग नहीं सकते हैं ।

अन्यथा-अन्य प्रकार से करने के सामर्थ्य से रसाभास प्रकार से भी रस उत्पन्न करने
में ईश्वर शक्त-समर्थ है, इसलिये इस प्रकार के ईश्वर में कभी कोई भी बात अचटित नहीं होती
है, यह भाव है ।

यदि शंका करो कि भगवान् अपवित्र भोगादि के लेप से युक्त वस्त्रों के ऊपर क्यों बैठे ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः' योगेश्वरों का हृदय
शुद्ध होता है, उसमें भी भीतर का हृदय अत्यन्त शुद्ध होता है, उस भीतर के हृदय में भी योगेश्वर
भगवान् के लिये कल्पित ही आसन बिछाते हैं, किन्तु साक्षात् आसन नहीं बिछाते हैं, योगेश्वरों
के हृदय में भगवान् की मानसी मुर्ति विराजमान रहती है, किन्तु स्वयं भगवान् कभी भी
विराजमान नहीं होते हैं ।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् का मुख्य आसन गोपियों के दिये वस्त्र ही है ।

लोक तथा वेद में पवित्रता से जिस प्रकार की वस्तु स्वीकार नहीं है, यदि उस प्रकार
की वस्तु भी गोपियों की सम्बन्धी है, तो उसको भगवान् योगेश्वरों के भीतर हृदय से भी अधिक
जहां स्वीकार करते हैं, वहां फिर लोक तथा वेद में स्वीकार की हुई प्रसिद्ध वस्तु, गोपियों के
सम्बन्धी वस्त्र भगवान् स्वीकार करते हैं, तो इसमें क्या बात है ।

इस भाव के जापन करने के लिये मूल में 'योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः' कहा है ।

भगवान् गोपियों के उत्तरीय वस्त्रों के आमन पर बैठकर परम शोभित हुए हैं, और
पहले की तरह गोपियों की सभा में प्राप्त हुए, भगवान् के चारों ओर गोपियां बैठ गईं, भगवान्
मध्य में सभापति हो गये, इसलिये गोपियों ने भगवान् का पूजन किया ।

अनन्तर भगवान् गोपियों के लिये तीनों लोक में जितने लक्ष्मी रूप इन्द्र पद आदि हैं उन
सबका जो एक पद-स्थान जिस पद के अंश विलास हैं, उस उस लक्ष्मी के भोग करने वाले हैं । उस
प्रकार का श्रीअङ्ग भगवान् ने धारण किया है ।

इस प्रकार का अर्थ साधन करने में देश काल आदि भेद से जितने उत्कृष्ट उत्तम पदार्थों
की अपेक्षा होती है, उन सब पदार्थों को स्वीकार कर इस प्रकार का श्री अङ्ग धारण करके
प्रकट हुए ॥ १४ ॥

(सुबो०) एवं प्रसन्नं भगवन्तं दृष्ट्वा स्वान्तःकरणदोषदूरीकरणार्थं
स्वकृतघ्नतां पूर्वं भगवति कल्पितवत्य इति तन्निराकरणार्थं लोकदृष्ट्या
भगवति कृतघ्नतालक्षणो दोषोऽस्ति न वेति निर्णयार्थं किञ्चित् प्रष्टुमुद्यता
इत्याह सभाजयित्वेति ।

गोपियां इस प्रकार भगवान् को प्रसन्न देखकर अपने अन्तःकरण का दोष दूर करने के
लिये, पहले भगवान् में जो अपनी कृतघ्नता कल्पित की थी, उस कृतघ्नतारूप दोष के निरा-
करण करने के लिये लोकदृष्टि से भगवान् में कृतघ्नता लक्षण दोष है, अथवा नहीं है, इस बात
का निर्णय करने के लिये कुछ प्रश्न करने को उद्यत हुईं, इसको आगे श्लोक में शुक्रदेव जी
कहते हैं ।

परोक्ष भजन करके प्रभु ने हम गोपियों को विरह रस का दान दिया है, इस प्रकार का
ज्ञान गोपियों को नहीं था, अतः इस प्रकार का अज्ञान ही गोपियों में कृतघ्नतादोष है, प्रभु में
तो उक्त कृतघ्नतादोष नहीं है । इसलिये इस दोष का आरोप ही प्रभु में संभव हो सकता है, और
वह आरोप जो पदार्थ ग्रहण करने में, अथवा स्मरण करने में आता है, उस वस्तु का संभव हो
सकता है, स्वामिनियों को तो प्रिय भगवान् के बिना अन्य धर्म की स्फूर्ति नहीं है, इसलिये उक्त
नियम के अनुसार अपने में रहने वाला कृतघ्नता रूप दोष का भगवान् में आरोप किया है, यह

आरोप भी रसमध्यपाती ही है, इसलिये इसको दोष कहना उचित नहीं है, तथापि भगवान् में दोष का अभाव शास्त्रसिद्ध है, आरोप भ्रम होता है, इस नियम से शास्त्रीरिति का अवलम्बन करके इस प्रकार कहा है, आगे भी जहां दोषपद हो वहां इसी प्रकार तात्पर्य जानना चाहिये।

**सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमदभ्रुवा ।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥१५॥**

पदपदार्थ—(सहासलीलेक्षणविभ्रमदभ्रुवा) हास्यपूर्वक जो लीलायुक्त देखना, उससे विलास करनेवाली भ्रुकुटी से (अनङ्गदीपनं) काम उत्पन्न करने वाले (तम्) उस भगवान् को (सभाज-यित्वा) स्तुति करके (अङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः) अपनी गोद में स्थापित भगवान् के चरण, उसके सम्बन्धी हस्तों का (संस्पर्शनेन) सम्यक् प्रकार से स्पर्श करके (संस्तुत्य) स्तुति करके (ईषत्कुपिताः) कुछ कुपित हुई गोपियां (बभाषिरे) बोलीं ॥ १५ ॥

भाषार्थ—हास्यपूर्वक जो लीलायुक्त देखना, उस देखने से विलास करनेवाली भ्रुकुटी से अनङ्ग-काम उत्पन्न करने वाले भगवान् की स्तुति करके अपनी गोदी में स्थापित भगवान् के चरण, उनके सम्बन्धी हस्तों का सम्यक् प्रकार से स्पर्श करके लड़ लड़ाती गोपियां भगवान् की स्तुति करके कुछ कुपित हुई बोलीं ॥ १५ ॥

(सुबो०) प्रश्नार्थं प्रथमतः सभाजनं स्तोत्रं कृत्वा । ननु किमनेन विचारेण साम्प्रतम्, जातं फलं भुज्यतामिति चेत्, तत्राह अनङ्गदीपनमिति । अनङ्ग दीपयति निरन्तरमेव । अङ्गाभावं सम्पादयतीति च ध्वनिः । अतो नैकेन भोगेन कार्यनिष्पत्तिः । पुनस्तेनापि भोगेनाग्रे अधिक एव खेदः स्यात् । स चेत् स्वदोषेण, तदा दोषो दूरीकर्तव्यः । भगवद्धर्मेण चेत्, वाङ्मनस्संयमं कारयित्वा प्रार्थयित्वा वा फलानुभवः कर्तव्य इति भावः । अनङ्गदीपने साधनमाह सहासेति । साधना भावार्थं वा प्रार्थनीय इति साधनकीर्तनम् । हासपूर्वकं यल्लीलेक्षणं, तेन विभ्रमन्ती या भ्रूः, तथा अनङ्ग दीपयति । पञ्चात्र साधनानि । हास लीला ईक्षणं विलासाः भ्रूश्चेति । पञ्च चेद्वेतवः कार्यमप्रतिहतं भवति । माया व्यामोहिका स्वरूपविस्मरणार्थम् । लीलास्वासक्ति साधयति । ईक्षणं तत्र ज्ञानजनकम् । अन्यथा ज्ञानास्तरेण तन्निराकरणं स्यात् । विलासाः पोषकाः । भ्रूयमः नियन्ता काल इति । अङ्गे त्रसाददाता वा तत्रैव । ततः प्रश्नार्थं उपलोकनं कुर्वन्ति संस्पर्शनेनेति । अङ्गे कृतः स्थापितो यो भगवदङ्घ्रिः, एतसंबन्धिनो यौ हस्तौ, तयोः सम्यक् स्पर्शनेन सँलालयन्त्य इत्यर्थः । संस्पर्शनेन सहिताः । तत आभिमुख्यार्थं संस्तुत्य । एवं सर्वभावेन प्रपन्नानपि त्यजतीति भगवति दोषदृष्ट्या ईषत्कुपिताः । साधनैर्वर्तितोऽपि दोषो न सम्यक् निवर्तते, यावद् भगवान्न निवर्तयतीति । अतो विवादमिव कुर्वन्त्यो बभाषिरे ॥ १५ ॥

लोक में यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है कि किसी से कुछ पूछना होता है तो प्रथम उसकी प्रशंसा करते हैं, गोपियों ने भी भगवान् से प्रश्न करने के लिये पहिले भगवान् की स्तुति की ।

यदि शंका करो कि गोपियों को इस समय प्रश्न करने की क्या आवश्यकता थी, भगवान् में कृतघ्नता दोष है, अथवा नहीं, इस विचार से इस समय क्या प्रयोजन है, कारण कि इस समय तो भगवान् सर्वसामग्रीसहित गोपियों को फलदान करने के लिये पधारे हैं, अतः प्राप्त हुए फल का भोग करना चाहिये ।

इस प्रकार की शंका के उत्तर में शुकदेवजी कहते हैं, कि 'अनङ्गदीपनं' भगवान् निरन्तर ही अनङ्ग-काम को दीपन करते हैं, अङ्गाभाव-देह के अनुसंधान का अभाव संपादन करते हैं, इस प्रकार यहां ध्वनि है, अर्थात् भक्त अपनी देह का जिस प्रकार अनुसंधान भूल जाते हैं, उसी प्रकार को करते हैं, इसलिये अनङ्गदीपन होने से एक बार भोग करने से कार्यसिद्धि नहीं होगी, कारण कि एक बार भोग से भी आगे फिर अधिक खेद ही प्राप्त होगा । और यदि खेद अपने-गोपियों के दोष से हो, तो दूर करना चाहिये, और खेद यदि भगवान् के धर्म से हो, तो भगवान् की वाणी का निबन्धन कराके—अर्थात् उनकी वाणी से दोष की स्वीकृति कराके, अथवा हमारे दोष से हो तो वाग्व्यवहार से प्रार्थना करके फल का अनुभव करना चाहिये, इस प्रकार गोपियों का भाव है ।

अब शुकदेवजी अनङ्गदीपन करने में साधन कहते हैं, (सहास०) इत्यादि से ।

अथवा भगवान् अनङ्गदीपन करने का साधन नहीं करे, इसके लिये प्रार्थना करनी चाहिये, अतः मूलश्लोक में 'सहास०' इत्यादि से साधन कहा है, हास्यपूर्वक जो लीलायुक्त ईक्षण, उस देखने से विलास करती जो भ्रुकुटि, उस भ्रुकुटि से भगवान् अनङ्ग का दीपन करते हैं ।

अनङ्ग-कामदीपन करने में पाँच साधन हैं, जिनके द्वारा काम का दीपन होता है (१) हास, (२) लीला, (३) ईक्षण-देखना, (४) विलास, (५) भ्रू, भ्रुकुटि, इन पाँच हेतुओं के होने पर कार्य बिना किसी प्रतिबंध के सिद्ध हो जाता है ।

लोक में भी पञ्चों करके साधित कार्य अप्रतिहत बिना रुकावट हो जाता है, इस प्रकार प्रसिद्धि है ।

हास्यरूप भगवान् की माया व्यामोह करनेवाली है, अर्थात् भक्त माया के द्वारा अपने स्वरूप को भूल जाता है ।

भगवान् की लीला, भगवान् में आसक्ति साधन करती है, अर्थात् लीला में आसक्ति साधन करती है ।

ईक्षण लीला में ज्ञान उत्पन्न करता है, यदि ईक्षण भगवान् का ज्ञान उत्पन्न नहीं करे तो लीला से अतिरिक्त ज्ञान होने से लीला का निराकरण हो जाये, इसलिये जिस समय भगवान् दृष्टि से सूचन करते हैं, उसी समय चिकीर्षित लीला का ज्ञान होता है, अर्थात् इस समय भगवान् की इच्छा यह लीला करने की है, इस प्रकार का ज्ञान दृष्टि से हो जाता है ।

भ्रू-भ्रुकुटि यम-काल है, जो नियमन करता है वह यम-काल है, काल के विलम्ब से कदाचित् गोपियों का वह भाव नष्ट हो जाये, इसलिये भाव नष्ट नहीं हो काल के विलम्ब से, इसके लिये उस भाव का नियमन, तथा सदा उस भाव की स्थिति भगवान् की यमरूप भ्रुकुटि करती है, इसलिये भगवान् की भ्रुकुटि को यम कहा है ।

भगवान् की भ्रुकुटि यमरूप क्यों है, इसमें हेतु कहते हैं कि 'नियन्ता कालः' काल सर्व का नियमन करता है, और भगवान् की भ्रुकुटि भी नियमन करती है, इसलिये यम-कालरूप है, अथवा भ्रुकुटि यहां फल का ही नियमन करती है, इस बात को आगे कहते हैं, 'यावत्प्रसादादाता वा' भगवान् जितना प्रसाद है, उसके दाता हैं, अर्थात् अनङ्ग-कामभाव में ही संपूर्ण स्वरूपानन्द के दाता हैं, अन्यत्र नहीं, इसके अनन्तर गोपियां प्रश्न करने के लिये भगवान् को लाड़ लड़ाती हैं, इस बात को आगे शुकदेवजी कहते हैं ।

'संस्पर्शनेन' गोपियों ने अपनी गोद में भगवान् का चरण स्थापन किया, उस चरण के संबंधी दोनों हाथों को सम्यक् स्पर्श करके लाड़ लड़ा रही हैं, अर्थात् भगवान् स्वामिनी की गोद में स्थापित अपने चरण ऊपर दोनों हस्त स्थापन करके विराजमान थे, इस प्रकार यहां स्वच्छन्द स्थिति के अनुकरण का सूचन किया है ।

मूल श्लोक में 'संस्पर्शनेन' यह पद है, इसमें 'संस्पर्शनेन सहिताः' तृतीया विभक्ति सह अर्थ में है, इसलिये गोपियां सम्यक् प्रकार से स्पर्शसहित भगवान् को लाड़ लड़ा रही हैं, इस प्रकार अर्थ होता है इसके अनन्तर भगवान् का हमारी तरफ ध्यान हो जाये, इसके लिये गोपियों ने भगवान् की स्तुति की ।

यहां पर इस प्रकार क्रम है, गोपियों ने प्रथम भगवान् से कहा कि बहुत अच्छा हुआ जो आपका आगमन हो गया, इस प्रकार सभाजनरूप स्तोत्र कहा, फिर चरण, हस्त का संस्पर्शन, फिर अपने संमुख करने के लिये 'हे स्वामिन्' इत्यादि रूप स्तुति की, और इस प्रकार सर्वभाव से आपकी चरण आई हुई हम सबका आप त्याग करते हो, इस प्रकार की भगवान् में दोष-दृष्टि से गोपियां थोड़ी क्रुपित हो गईं ।

गोपियों ने भगवान् के हस्तकमल धारण आदि साधन किये थे, इन साधनों से गोपियों का दोष निवृत्त भी हो गया था, किन्तु सम्यक् निवृत्त नहीं हुआ था, कारण कि जब तक भगवान् वाणी से दोष निवारण नहीं करे, तब तक दोष समूल नष्ट नहीं होता है, इसलिये गोपियां विवाद की तरह करती हुई बोलतीं ।

यहां पर भी दोषपद प्रथम आभास में कहा है, उसी तरह जानना चाहिये, यदि कहे कि जो दोष स्वरूप से निवृत्त नहीं होता है, वह वाणी से कैसे निवृत्त होगा ? कारण कि वचन स्वरूप से दुर्बल है, इस प्रकार प्रथमाध्याय में प्रतिपादन किया है, इस प्रकार यदि शंका हो तो इसके उत्तर में श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि यहां पर यह भाव है कि 'रसो वै सः ।'

इत्यादि श्रुति के अनुसार भगवान् भावात्मक हैं, वह भगवान् इस समय दोषात्मक हुआ है, कारण कि रस का स्वरूप ही इस प्रकार का है, स्वामिनियों में जो भाव प्रकट हुआ, उसका मूल कारण भगवान् का किया वेणुनादात्मक शब्द है, इसलिये निर्दोष पूर्णगुण रूप जिस प्रकार आविर्भाव भी वाणी रूप शब्द से होगा, इसमें कौन सी बात अनुबिन् है और जिस प्रकार रस वीक्षण से मिलता है, उस प्रकार का रस स्पर्श आदि से नहीं मिलता है तथा जिस प्रकार का रस संभाषण से मिलता है, उस प्रकार का रस ईक्षण से नहीं मिलता है, इस प्रकार अपने प्रसका स्वभाव है । उसी प्रकार हमको छोड़कर भगवान् क्यों गये । इस प्रकार के आप इसी प्रकार वचनों से ही स्वजनों का हृदय शीतल करो, यह भाव है । पहले अध्याय में भी इसी प्रकार जानना चाहिये, अनः मूल में जो कहा है कि 'साधनैर्निवर्तितोऽपि दोषो न सम्यक् निवर्तते' साधनों से निवृत्त हुआ भी दोष सम्यक् प्रकार से निवृत्त नहीं होता है, यह ठीक ही कहा है ।

यदि शंका करो कि गोपियां इस समय प्रभु हमारा भजन करता है, अथवा नहीं भजन करता है, इसका निर्णय करने के लिये उद्यत हुई हैं, फिर इस बात को स्पष्ट न कहकर साधारण रीति से प्रश्न करने का क्या कारण है ? इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहते हैं कि यदि गोपियां भगवद्विषयक प्रश्न को ही साक्षात्-स्पष्ट शब्दों में करें तो हम गोपियां इस प्रकार की भक्त हैं, और आप इस प्रकार की हमको क्यों त्याग करते हो, यह प्रश्न होता, किन्तु इस प्रकार का प्रश्न नायिकाओं में उत्तम स्त्रीरत्न, आगे भगवान् द्वारा जिनकी स्तुति की गई, इस प्रकार की स्वामिनियों के मुखकमल से निकलने योग्य नहीं है । इस प्रकार का प्रश्न तो ग्रामीण रसाभास-युक्त स्त्रियों के मुख से निकल सकता है, शरद् ऋतु में खिले हुए कमल से हमली का खट्टा रस निकलने का सम्भव नहीं होता है, अतः व्याज से अन्य प्रकार से परोक्षरीति के प्रश्न करने पर अपना भाव गुप्त रहने के कारण महान् रस उत्पन्न होता है, इसलिये यहां मुख्य रस के स्वभाव से ही गोपियों ने स्पष्ट प्रश्न न करके व्याज से प्रश्न किया है, इस प्रकार जानना चाहिये ।

भगवान् तो जीवों से विलक्षण है, इसलिये अपने को जीवों से विलक्षण—भिन्न कहना है ।

जीव के स्वरूप का ज्ञान बिना, जीव से भगवान् विलक्षण है, इस प्रकार का ज्ञान नहीं होगा, इसलिये जीव का स्वरूप कहकर अपना स्वरूप भगवान् ने बतलाया है ।

यदि यह बात न हो तो स्वामिनियों का तात्पर्य प्रश्नविषय भगवान् स्वयं ही है, फिर जीवों का निरूपण करना नहीं चाहिये था ॥ १५ ॥

(सुबो०) तासां प्रश्नमाह भजत इति ।

अब आगे के श्लोक में गोपियों का प्रश्न कहते हैं ।

गोप्य ऊचुः—

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् ।

नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥ १६ ॥

पदपदार्थ—(एके) कितने ही (भजतः) भजन करने वाले के (अनुभजन्ति) अनुसार भजन करते हैं, (एके) कितने ही (एतद्विपर्ययम्) भजन नहीं करने वाले का भजन करते हैं, (एके) कितने ही (उभयांश्च) भजन करने वाले तथा भजन नहीं करने वाले दोनों का (न) नहीं (भजन्ति) भजन करते हैं, (एतत्) यह सर्व (भोः) हे सावधानता से (नः) हमारे प्रति (साधु) अच्छे प्रकार से स्पष्ट (ब्रूहि) कहो ॥ १६ ॥

भाषार्थ—गोपियां कहने लगीं कि कितने ही लोग अपना भजन करने के अनुसार भजन करते हैं, कितने ही अपना भजन नहीं करने वाले का भजन करते हैं, और कितने ही लोग भजन करने वाले तथा भजन नहीं करने वाले दोनों का भजन नहीं करते हैं, यह सर्व सावधानता से हमारे प्रति स्पष्ट कहो ॥ १६ ॥

(सुबो०) त्रयः पक्षाः सन्दिग्धाः, फलतः, स्वरूपतश्च, भजनाभजनाभ्याम् । तत्रैके ये यथा भजन्ति, ते तथा तानपि भजन्ति । एके पुनरभजतोऽपि भजन्ति । अन्ये तु उभयानपि न भजन्ति । तेषां त्रयाणां उभयोरपि प्रतियोगिनोः फलं

वक्तव्यम् । ये भजनानुसारेण भजन्ति, ते किं कृतघ्नाः, आहोस्वित् धूर्ताः, आहोस्वित् समीचीना इति । केनचित् पादप्रक्षालनं कृतम्, सोऽपि चेत् करोति, तदा किं स्यात् । फलार्थकरणे फलं देयम् । तेनापि तदेव कर्तव्यमिति करणे तदेव कर्तव्यम् । निरपेक्षकरणे तु सन्देह एव । अभजतो भजने क्वचिदोषः स्यात् यथा निष्कामे कामिनी । क्वचिदुपकारः, अपेक्षितश्चेदर्थः । क्वचित् स्नेहः । क्वचिद्धर्म इति । एकं फलं निर्धारितं वक्तव्यम् । यो वा न भजति पूर्वं, तस्य वा किं फलमिति । ये वा नोभयविधान् भजन्ति, तेषामुभयविधानां वा किं फलमिति । कृतस्य साधनस्य कुत्र वा उपयोगः । एतत् सर्वं ब्रूहि । साधु यथा भवति तथा । भो इति सम्बोधनं सावधानार्थम् । भजतः पुरुषा ननु तदनुसारेण भजन्ति । एके पुनः भजनव्यतिरेकेणैव भजन्ति । इत्युभये भजनकर्तारः । अन्ये तु भजनरहिता एव ॥ १६ ॥

भजन तथा अभजन से फल तथा स्वरूप विषय में तीनों पक्षों में संदेह है, अर्थात् दो पक्ष का फल तथा प्रथम पक्ष का स्वरूप क्या है ।

उसमें कितने ही पुरुष जिस प्रकार से अपना अन्य पुरुष भजन करते हैं, उसी प्रकार से उन भजन करने वालों का भजन करता है, यह प्रथम पक्ष है ।

कितने ही पुरुष जो अपना भजन नहीं करते हैं, उन भजन करने वालों का भजन करते हैं, यह दूसरा पक्ष है ।

अन्य कितने ही पुरुष तो भजन करने वाले तथा भजन नहीं करने वाले, दोनों का ही भजन नहीं करते हैं, यह तीसरा पक्ष है, इस प्रकार भजन करने से तथा भजन नहीं करने से तीन पक्ष होते हैं अर्थात् भजन के अनुसार भजन करने वाला प्रथम पक्ष, नहीं भजन करने वाला दूसरा पक्ष, और पूर्वोक्त दोनों का भजन नहीं करने वाला तृतीय पक्ष है, उक्त तीनों पक्षों के मध्य में द्वितीय तथा तृतीय पक्ष के प्रतियोगियों का फल कहना चाहिये ।

द्वितीय पक्ष में जो भजन करने वाले का भजन नहीं कर रहा है, उसका जो भजन करता है, वह एक प्रतियोगी, और तीसरे पक्ष में जो भजन करने वाले का भजन नहीं करता है, वह दूसरा प्रतियोगी, इस प्रकार इन दोनों प्रतियोगियों का फल कहना चाहिये ।

प्रथम पक्ष, भजन करने वाले के अनुसार जो भजन करते हैं, इस पक्ष में तो प्रतियोगी का फल भजन करने वाले का प्रतियोगी जो भजन करता है, उसका फल दूसरे का किया भजन स्पष्ट ही है, इसलिये निःसन्देह होने से प्रथम पक्ष का उल्लेख सुबोधनी में नहीं किया है ।

संदेह तो द्वितीय तथा तृतीय पक्ष में है, अतः उक्त दोनों पक्षों में फल विषयक संदेह तथा तीनों पक्षों का स्वरूप विषयक संदेह निवारण करना चाहिये ।

जो मनुष्य अन्य पुरुष के भजन के अनुसार भजते हैं, वे क्या कृतघ्न हैं । अथवा धूर्त हैं । अथवा समीचीन अच्छे हैं । इस प्रकार प्रथम पक्ष का स्वरूप निर्णय गोपियां पूछती हैं ।

अन्य पुरुष के भजन रूप उपकार को नहीं मानकर, भजन का फल देने की इच्छा नहीं करता है और अपने किये भजन को अधिक मानकर भजन ही करते हैं, प्रत्युपकार करने का

सामर्थ्य होते भी प्रत्युपकार नहीं करते हैं, और अन्यकृत भजन को निकृष्ट समझते हैं, इसलिये कृतघ्नता की संभावना होती है ।

अथवा अपने किये भजन रूप प्रत्युपकार से अन्य पुरुष के किये भजन का नाश करते हैं, अर्थात् अन्य पुरुष को जो भजन से मुख्य फल मिलता है, उसका सम्पादन नहीं करते हैं, इसलिये कृतघ्न हैं ।

अब दूसरा पक्ष 'अथवा धूर्त हैं' इसको कहते हैं ।

अन्य पुरुष के किये भजन को उपकार मानने पर भी जो पुरुष अपने किये भजन के समान अन्य पुरुष के भजन को मानता है, और अन्य पुरुष के भजन का उत्कर्ष नहीं मानता है, वंचन करता है कि यह अन्य पुरुष मेरा धन प्राप्ति के लिये भजन करता है, किन्तु इसके लिये धन तो देता नहीं है, इसका भजन मुझको करना चाहिये, इस प्रकार की बुद्धि से जो लोग भजन करते हैं, उनमें धूर्तता का संभव होता है ।

जिसका अन्य पुरुष धन के लिये भजन करता है, उसके पास धन विद्यमान भी है, किन्तु उसको धन देता नहीं है, इसलिये धूर्त है ।

अब तीसरा पक्ष 'अथवा समीचीनाः' इसका विवरण करते हैं, किसी पुरुष ने अन्य पुरुष का पाद प्रक्षालन किया—चरण धोये, अन्य पुरुष भी यदि पाद प्रक्षालन करता है तो क्या होगा ? यदि फल के लिये पाद प्रक्षालन करता है, तो फल देना चाहिये, और यदि प्रथम पुरुष ने मैं जिस प्रकार इसके पाद प्रक्षालन करता हूँ, उसी प्रकार दूसरे अन्य पुरुष को भी मेरा पाद प्रक्षालन करना चाहिये, इस भाव से पाद प्रक्षालन करने पर अन्य पुरुष को भी प्रथम पाद प्रक्षालन करने वाले का क्या पाद प्रक्षालन ही करना चाहिये ? और निरपेक्ष भजन करने में, अर्थात् पूर्व पुरुष निरपेक्ष भाव से भजन करता है, तो अन्य पुरुष को प्रत्युपकार का निश्चय न होने के कारण संदेह ही रहता है, अर्थात् पूर्व पुरुष—जिसने निरपेक्ष भाव से अन्य पुरुष का भजन किया है, उसकी फलापेक्षा का ज्ञान नहीं होता है, इसलिये द्वितीय अन्य पुरुष विचार करता है कि इसका प्रत्युपकार मैं क्या करूँ । इस प्रकार फलदान में तथा भजन करने में संदेह युक्त होने से वह द्वितीय पुरुष फिर प्रथम पुरुष का अपना भजन करने का भार अङ्गीकार करता है, अतः समीचीन है ।

इस प्रकार संदेह बीज तीनों प्रकार के परस्पर भजन करने वालों का दर्शन ही है, इस प्रकार प्रथम पक्ष में स्वरूप संदेह का विवरण किया है ।

अब द्वितीय पक्ष में फल संदेह का विवरण करते हैं ।

जो पुरुष भजन नहीं करता है, उसका भजन करता है तो उसको कहीं दोष भी होता है, 'कश्यपजी' संख्या समय में संख्यावर्द्धन आदि कर रहे थे, और निष्काम थे, इनका भजन दिति ने किया था, अतः दिति को दोष प्राप्त हुआ था, यह प्रसङ्ग भागवत तृतीय स्कंध अ० १४ में कहा है । और कहीं पर यदि अपेक्षित पदार्थ हो तो उपकार होता है, इसका उदाहरण भा० पंचम स्कंध दूसरा अध्याय आग्नीध्र का उपाख्यान है, ब्रह्माजी ने पूर्वचित्ति नाम की अप्सरा को प्रिय-व्रत के पुत्र आग्नीध्र के समीप भेजा था, आग्नीध्र का विवाह नहीं हुआ था, किन्तु इसको पितृ-लोक की इच्छा थी, और पूर्वचित्ति अप्सरा के सम्बन्ध से इसके नव पुत्र हुए थे, आग्नीध्र ने इसका प्रत्युपकार—अर्थात् ब्रह्मा का भजन नहीं किया था, तो भी उन्होंने पूर्वचित्ति नाम की अप्सरा को जो आग्नीध्र का अपेक्षित पदार्थ थी, भेजा था, इसलिये ब्रह्मा का आग्नीध्र के ऊपर उपकार हुआ ।

और कहीं पर स्नेह होता है, इसमें उदाहरण भागवत नवम स्कंध में उर्वशी का उपाख्यान है, और कहीं पर धर्म भी होता है, धर्म का उदाहरण महाभारत में सुदर्शन का उपाख्यान है, भारत में उत्तर पुरुष भजन करता है, पूर्व नहीं करता है तथा धर्म का उदाहरण पद्मपुराण के वंशाख माहात्म्य में चित्रा का उपाख्यान है।

इस प्रकार नाना फल का स्मरण होने से द्वितीय प्रतियोगी, अभजन करने वाले का जो भजन करने वाला है, उसके फल विषयक सन्देह का विवरण किया है, अतः निर्धारित एक फल कहना चाहिये। यहां स्वरूप सन्देह भी आनुपञ्जिक जानना चाहिये।

अब अनुयोगी विषयक कहते हैं।

यहां दो अभजन करने वाले हैं, उनके बीच में प्रथम है जो भजन करने वाले कर्णों को नहीं भजता है, उसका क्या फल है ?

इसमें उदाहरण, अर्जुन ने उर्वशी का भजन नहीं किया, नारद ने जरा का भजन नहीं किया। मार्कण्डेय ने वरुथिनी का भजन नहीं किया। उर्वशी ने अर्जुन की निन्दा करके शाप दे दिया, इससे अर्जुन की कृतघ्नता लक्षित होती है, इसी प्रकार नारद से भजन करने की अपेक्षा जरा ने की थी, किन्तु नारद ने जरा का भजन नहीं किया, इसीसे नारद की धूर्तता लक्षित होती है, यही बात नारद ने कही भी है कि 'मयोपदिष्टमासाय वत्रे नाम्ना भयं पतिम्' मेरे उपदेश को प्राप्त होकर भयनाम पति को वरती हुई, इस प्रकार नारद ने जरा को शाप दिया है, इसी प्रकार वरुथिनी ने मार्कण्डेय को जितेन्द्रिय जान करके मार्कण्डेय की अपेक्षा नहीं की, अर्थात् मार्कण्डेय के साथ भजन की आशा त्याग दी, अतः मार्कण्डेय ने वरुथिनी का भजन नहीं किया, इसलिये मार्कण्डेय में धर्म वृद्धि दर्शन से समीचीनत्व लक्षित होता है, इस प्रकार भजन करने वालों को अनेक प्रकार का फल प्राप्त हुआ, देखकर फल तथा स्वरूप विषयक सन्देह होता है।

अब तृतीय प्रश्न में सन्देह निरूपण करते हैं।

जो पुरुष भजने वाले, तथा भजन नहीं करने वाले, दोनों का भजन नहीं करता है, भजन करने वाले तथा भजन नहीं करने वाले, इन दोनों प्रकार के उदासीन पुरुषों का भजन करता है, उस उदासीन पुरुषों का भजन करने वाले तथा उदासीनों का भजन नहीं करने वाले दोनों प्रकार के पुरुषों को क्या फल मिलता है, इसमें भी उदाहरण बतलाते हैं कितने ही लोग सूर्य का भजन करते हैं, और कितने ही लोग सूर्य का भजन नहीं करते हैं, किन्तु सूर्य दोनों प्रकार के लोगों का भजन नहीं करता है, उक्त दोनों प्रकार के लोगों का सूर्य की तरह जो पुरुष उदासीन भजन नहीं करते हैं, अर्थात् वे पुरुष आत्माराम, तथा पूर्णकाम हैं, इसलिये उदासीन तथा भजन नहीं करते हैं, फिर इनको उदासीन सूर्य को जो फल मिलता है, वह फल आत्माराम तथा पूर्णकामों को मिलता है क्या ?

अथवा कृतघ्न आदि को जो फल मिलता है, वह फल मिलता है क्या ? इस प्रकार आत्माराम तथा पूर्णकाम के फल के सन्देह में उदाहरण कहकर अब आत्माराम तथा पूर्णकाम दोनों का भजन करने वाले तथा दोनों का भजन नहीं करने वालों का उदाहरण कहते हैं।

जो पुरुष आत्माराम तथा पूर्णकाम का भजन करते हैं, उनको जो फल धर्मार्थियों को मिलता है, वह फल मिलता है क्या ? और जो पुरुष आत्माराम पूर्णकाम का भजन नहीं करता है, उसको जो फल मूर्खों को मिलता है, वह फल मिलता है क्या ?

तृतीय प्रश्न में चार भेद का वर्णन किया है, उनमें से दो का सन्देह कह दिया, अब 'षष्ठतम' और गुरुद्रोही, शेष दो का कहते हैं।

जो पुरुष किये गये उपकार को नहीं जानते हैं, और जो गुरुद्रोही हैं, वे भजन नहीं करते हैं, तो क्या जो फल उदासीन को मिलता है, वह फल उनको मिलता है क्या ?

अथवा जो फल धूर्त को मिलता है, वह फल मिलता है क्या ? इस प्रकार तीसरे प्रश्न में सन्देह निरूपण करने से फल तथा स्वरूप विषयक सन्देह का वर्णन किया है।

अब जो भजन नहीं करते हैं उनका भजन करने वालों का साधन विषयक सन्देह का निरूपण करते हैं, कि 'कृतस्य साधनस्य कुत्रवापयोगः' भजन करने वाले के साधन का उपयोग कहां होगा ? साधन से अपूर्व उत्पन्न होगा, अथवा स्नेह उत्पन्न होगा, अथवा लोक में प्रशंसा-बढ़ाई होगी। इस प्रकार साधन के उपयोग में सन्देह है।

गोपियां कहती हैं कि इस प्रकार हमने जो प्रश्न-पूछा है, उस सब को आप सम्यक् प्रकार से कहो।

यहां मूल में 'भोः' यह संबोधन सावधान करने के लिये दिया है, अर्थात् हमारे प्रश्नों का उत्तर आप बहुत अच्छे प्रकार से सावधान होकर सोच समझ करके दीजिये।

अब मूल श्लोक में जो तीन पक्ष कहे हैं, उनका विवरण करते हैं। कितने ही भजन करने वाले पुरुषों के अनुसार भजन करते हैं, और कितने ही चाहे अन्य पुरुष अपना भजन नहीं करें, तो भी उसका भजन करते हैं, इस प्रकार भजन करने वाले दो प्रकार के हैं, शेष तो भजन करने वाले ही नहीं हैं ॥ १६ ॥

(सुबो०) एतेषां भेदान् फलं चाह भगवान् मिथो भजन्तीति त्रिभिः।

अब भगवान् तीन श्लोक में पूर्वोक्त तीनों पक्षों के भेद तथा फल को कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच—

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।

न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥ १७ ॥

पदपदार्थ—(हे सख्यः) हे सखियों। (ये) जो पुरुष (मिथः) परस्पर (भजन्ति) भजन करते हैं (ते) वे सब पुरुष (हि) निश्चय (स्वार्थैकान्तोद्यमाः) स्वार्थ में ही एकान्त फल जिसका इस प्रकार का उद्यम जिनका है, अर्थात् स्वार्थ के लिये ही उद्यम करते हैं (तत्र) परस्पर भजन करने वालों में (सौहृदं) सौहार्द (न) नहीं है (धर्मः) धर्म (न) नहीं है (हि) जिससे (तत्) परस्पर भजन करने वालों का उद्यम (स्वार्थार्थं) स्वार्थ के लिए ही है, (अन्यथा) परोपकार के लिये (न) नहीं है ॥ १७ ॥

भाषार्थ—श्री भगवान् कहते हैं कि हे सखियों ! जो पुरुष परस्पर भजन करते हैं, वे केवल स्वार्थ में ही एक फल उद्यम जिनका इस प्रकार के होते हैं, इनमें सुहृदता तथा धर्म नहीं होता है, इनकी प्रवृत्ति स्वार्थ के लिये ही होती है, परोपकार के लिये नहीं होती है ॥ १७ ॥

(सुबो०) तत्राद्यपक्षस्य निर्धारमाह। ये मिथो भजन्ति, ते स्वार्थैकान्तोद्यमाः। स्वार्थ एव एकान्तः एकं फलमुद्यमस्य। ते हि ज्ञात्वैवान्योन्यं

भजन्ते । तरतमभावेन च भजनमनुवर्तयन्ति । अतो न तेष्वन्योन्यं वञ्चनापि सम्भवति । अतः स्वार्थमेव लौकिकार्थमेव तेषामुद्यमः । ननु उभये ब्राह्मणाः, अतोऽन्योन्यभजनेन धर्मः स्नेहो वा भवेत्, कथं स्वार्थं एवेत्याशङ्क्याह-न तत्र सौहृदमिति । क्षणेनैव द्वितीयस्या भजनं ज्ञात्वा क्रोधकरणात् । अतो न सौहार्दम् । नापि धर्मः । 'सम्भोजनी नाम पिशाचभिक्षा नैषा पितृन् गच्छति नोत देवान् । इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्से'ति । गुरुसेवायामपि यदि दृष्टार्थतोभयोः, तदापि न धर्मः । शास्त्रानुसारी चेत् मिथो भजनाभावः । विद्या तु फलरूपा । सख्य इति सम्बोधनादप्रतारणा । य इति प्रसिद्धास्ते वणिज इव । स्वार्थ एव तेषां प्रवृत्तिः । यद्यपि धर्मादयोपि स्वार्था एव, तथाप्यन्योन्यभजने न ते सिध्यन्ति । तथा सौहार्दमपि, यद्यन्यमपेक्षेत । तस्य साधनस्य विनियोगमाह स्वार्थार्थमिति । अन्यार्थमपि प्रतीयमानं स्वार्थमेव । एवं सेवादिदानेष्वपि दुःखनिवृत्तिस्तत्र फलम् । अत्रार्थं सर्वोपि लोकः प्रमाणमिति हिशब्दः । अन्यथा परोपकाराय न । अन्यस्य हृदये तत्प्र-तोकारार्थं चिन्ताजननात् । अतः फलं स्वार्थसिद्धिः लौकिकी । नाममात्रेणैव तेषां धर्मत्वम्, न तु वस्तुतः ॥ १७ ॥

गोपियों ने प्रथम श्लोक में तीन पक्ष कहे हैं, उसमें प्रथम पक्ष परस्पर भजन का भगवान् निर्णय करते हैं ।

जो पुरुष परस्पर भजन करते हैं, वे सब 'स्वार्थकान्तोद्यमाः' एक स्वार्थ में उद्यम वाले हैं, यहाँ पर स्वार्थ में एक अन्त जिनका, इस प्रकार बहुव्रीहि समास करके, स्वार्थकान्त में उद्यम जिनका, फिर बहुव्रीहि समास करके, स्वार्थ में ही एकान्त फल जिसका इस प्रकार का उद्यम जिनका, इस प्रकार के हैं, यह फलित अर्थ हुआ है । अर्थात् परस्पर भजन करने वाले केवल स्वार्थ के लिये ही उद्यम करते हैं, इस प्रकार के लोग परस्पर एक दूसरे के भाव को जान करके ही भजन करते हैं, और कुछ तरतम भाव से-न्यून अधिक भाव से परस्पर भजन एक दूसरे का करते रहते हैं, इसलिये इनमें परस्पर वंचन-प्रतारण की भी संभावना नहीं होती है, अतः स्वार्थ-लौकिक अर्थ के लिये ही इनका उद्यम है ।

मूल में 'मिथः' शब्द कहा है, इससे अन्योन्य भजन का बोध होता है, उसमें भी एक समय में भजन करना संभावित नहीं होता है, इसलिये आगे पीछे भजन करना प्रतीत होता है ।

प्रथम पुरुष का उत्तरपुरुष जब भजन करता है तब उसमें पूर्वकृत भजन की तुल्यता न देख करके उत्तर पुरुष के भजन के अनुरूप ज्ञान का पूर्व पुरुष को अनुमान होता है, उसके अन-न्तर पूर्व पुरुष जब फिर उत्तर पुरुष का भजन करता है, तब उसमें पूर्वकृत भजन की तुल्यता न देखने से पूर्व पुरुष को भी उत्तर पुरुष के भजन के अनुरूप ज्ञान का अनुमान होता है, इस प्रकार बारंबार करने में दोनों को अनुरूप ज्ञान का अनुमान स्पष्ट ही है, इस प्रकार तरतमभाव-न्यून

विशेष भाव की अनुवृत्ति से दोनों को स्वार्थपरता का भी स्पष्ट अनुमान है, यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो फिर इस प्रकार का व्यवहार नहीं करें । अनुवृत्ति से यहाँ काकतालीयता निवारण की है, इस प्रकार बारंबार भजन करने में, मेरा भजन इसके भजन से अधिक है, इस प्रकार अनुसन्धान न होने से परस्पर भजन करने वाले कुतन्त्र नहीं हैं, और परस्पर प्रतारण की संभावना न होने के कारण धूर्त भी नहीं हैं ।

इस प्रकार दोष कोटि निवारण करने पर स्नेह तथा धर्म, इन दोनों में से एक की परस्पर भजन करने वालों में संभावना होने से समीचीनता संभव होती है, उसमें उपकार तो बराबर भजन करने से उपक्षीण नष्ट हो जाता है, अतः उपकार का तो संभव होता नहीं है, अतः उपकार समीचीनता का निर्वाहक नहीं है, अर्थात् उपकार से समीचीनता नहीं कह सकते हो ।

अब स्नेह तथा धर्म से समीचीनत्व का आगे 'ननु' इत्यादि से शंका करके परिहार करते हैं ।

यदि शंका करो कि परस्पर भजन करनेवाले दोनों ही ब्राह्मण हैं, इसलिये परस्पर भजन से धर्म, अथवा स्नेह सिद्ध होगा । फिर परस्पर भजन में आप स्वार्थ ही होता है, इस प्रकार क्यों कहते हैं ?

इस शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि 'न तत्र सौहृदं' जो पुरुष परस्पर भजन करते हैं उनमें स्नेह नहीं होता है, कारण कि जब एक दूसरे का भजन नहीं करता है तब क्षण भर में ही क्रोध आ जाता है, इसलिये परस्पर भजन करनेवालों में स्नेह नहीं है, इसमें उदाहरण तो गजेन्द्रमोक्ष में अगस्त्य का प्रसङ्ग है, इन्द्रद्युम्न राजा ने अगस्त्यमुनि का सत्कार नहीं किया, तब अगस्त्य मुनि को उसी क्षण क्रोध आ गया और इन्द्रद्युम्न राजा को शाप दे दिया, इससे राजा हाथी हुआ था, फिर भगवान् का स्मरण करने से मोक्ष हो गया, यह सर्व प्रसङ्ग भागवत अष्टमस्कंध में है ।

परस्पर भजन करने में धर्म भी नहीं है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा है कि, 'सम्भोजनी नाम पिशाचभिक्षा नैषा पितृन् गच्छति नोत देवान् । इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्सा' ।

परस्पर ब्राह्मण भोजन पिशाच भिक्षा है, यह पितरों को प्राप्त नहीं होती है, और न देवताओं को ही प्राप्त होती है, जिस प्रकार नष्ट बछड़ा वाली गाय दूसरों के घर में डोलती है, उसी प्रकार इसी लोक में क्षीण पुण्यवाली पिशाचभिक्षा भ्रमण करती है, इसलिये उक्त वाक्य से सूचित अन्य भजन में धर्म नहीं होता है, 'अन्योन्य भजन धर्म नहीं है अन्योन्य भजन होने से पिशाचभिक्षा की तरह इस प्रकार उक्त अनुमान ही धर्म में बाधक है ।

यदि शंका करो कि जहाँ-जहाँ परस्पर भजन नहीं है, वहाँ धर्म है, इस प्रकार व्याप्ति द्वारा प्राप्ति से गुरुसेवा में व्यभिचार प्राप्त है और पिशाचभिक्षावत्, यह जो अनुमान आपने कहा है, वह असत् है, इसलिये अन्योन्य भजन-गुरुसेवा में धर्म है, इसमें बाध नहीं है ।

इस प्रकार की शंका में दृष्टार्थ गुरुसेवा में भी धर्मत्व नहीं है, इस बात को कहते हैं कि (गुरुसेवायामपि) ।

गुरु की शिष्य सेवा करता है, उसमें भी यदि गुरु तथा शिष्य में वृत्ति, प्रतिष्ठा आदि अर्थ देखा गया हो, अर्थात् वृत्त्यर्थ, प्रतिष्ठार्थ कारण हो तो गुरुसेवा में भी धर्म नहीं है, गुरु शिष्य

की यदि प्रशंसा करता है तो शिष्य सेवा करता है, यदि गुरु चुपचाप रहता है तो सेवा नहीं करता है, यहां पर गुरुसेवा में जो प्रथम व्याप्ति कही है, वह व्यापार की तरह है उसका आगे प्रत्यनुमान से खण्डन करते हैं, इस प्रकार की सेवा में शास्त्र प्रयुक्तता नहीं है, इसलिये इस प्रकार की गुरुसेवा में धर्मत्व कहना अशक्यवचन होने से, 'परस्पर भजन धर्म है, परस्पर भजन करने से, गुरुसेवा की तरह, गुरुसेवावान् परस्पर भजन करने से, गुरु शिष्य दोनों में परस्पर धर्म होने से मिथो भजन धर्म है।

यहां इस प्रकार की सेवा धर्म नहीं है, कारण इसमें दृष्टार्थता है, व्यापार की तरह, इस प्रकार प्रत्यनुमान से पूर्व कथित अनुमान का निरास हो जाता है अतः जिस गुरुसेवा में दृष्टार्थता है, वह स्वार्थार्थ ही है, उस अन्योन्य सेवा में धर्म नहीं है।

यदि शंका करो कि 'दृष्टार्थता' वृत्ति प्रतिष्ठा आदि प्रयोजनवती सेवा में भी शिष्य तथा गुरु को 'वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीधीत चाहुतः। उपनीय तु यः शिष्यम्' गुरुकुल में वास करता शिष्य इन्द्रियों को वश में करके गुरु के आज्ञानुसार वेदाध्ययन करे, शिष्य का उपनयन करके जो ब्राह्मणवेद का अध्ययन कराता है, उसको आचार्य कहते हैं, इत्यादि शास्त्रवाक्य प्रमाण के अनुसार शिष्य गुरु की सेवा करे तो शास्त्रविहित सेवा करनेवाले शिष्य को गुरुसेवा में धर्म सिद्ध विहित होने से याग की तरह इस प्रकार शास्त्रद्वारा सनाथ अनुमान से गुरुसेवा में धर्म सिद्ध होने पर प्रथम कहा 'वाणिज्य की तरह, हेतु साधारण है, इस प्रकार निश्चय होने से गुरुसेवा रूप अनुमान का बाध नहीं होता है।

तब इस विषय में भी कहते हैं कि 'शास्त्रानुसारी चेत्'।

यदि शिष्य शास्त्र के अनुसार सेवा करता है, तो उस सेवा में वृत्ति आदि का अभिसंधान नहीं होना चाहिये, और यदि वृत्ति प्रतिष्ठा आदि का अभिसंधान हो तो उतने अंश में शास्त्र का अभाव होने से सेवा में दम्भसे पाषण्ड आदि ही हैं, इसलिये पूर्वोक्त हेतु साधारण नहीं है कारण यदि सेवा में वृत्ति प्रतिष्ठा आदि का अभिसंधान नहीं है, तो शास्त्र को ही प्रयोजक होने के कारण सेवा में परस्पर भजन करना ही नहीं है, किन्तु विहितत्व ही है, शास्त्र की आज्ञा पालन करना है, इसलिये उक्त रूप से गुरुसेवा रूप व्याप्तिका भी बाध नहीं होता है, अर्थात् जहाँ अन्योन्य की हानि वहां धर्म नहीं, इस व्याप्ति को गुरुसेवा में प्रथम जो बाधकत्व कहा है, उस बाधकत्व सेवा नहीं है। परस्पर अपने लिये भोजन देनेवाले ब्राह्मण के लिये जो भोजन देता है परन्तु ब्राह्मण सेवा भोजन आदि रूप से अतिशय पुण्यवती होती है, इस बात को जानकर ब्राह्मण भोजन आदि कराता है, वह तो धर्मभाग प्राप्त करता ही है, कारण कि धर्मबुद्धि से भोजन कराया है, उसमें परस्पर भजन नहीं है, अर्थात् उसमें स्वार्थकान्तोद्यमत्व नहीं है।

यदि कहो कि दृष्टार्थ से परस्पर भजन रूप गुरुसेवा में जो तुम धर्म साधन का अभाव कहते हो वह सङ्गत नहीं है, कारण कि विद्या रूप दृष्टार्थ का तो विधि प्रयुक्त सेवा में भी सत्त्व है, शिष्य सेवा करता है, सेवा करनेवाले शिष्य को गुरु विद्यादान करता है, विद्यादान करने में गुरु को पुण्य होता है, इस प्रकार सुना जाता है, किन्तु गुरु सेवा करने पर ही पढ़ाता है, इसलिये मिथो भजन में स्वार्थपरता है, इस प्रकार दृष्टार्थ का विधिप्रयुक्त सेवा में सत्त्व है।

इस प्रकार की शंका में कहते हैं कि 'विद्यातु फलरूपा' गुरु सेवा करने से शिष्य की जो विद्या प्राप्त होती है वह तो फलरूप है, 'तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्' इत्यादि जो जिज्ञासु आदि पदों को, 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि श्रुति में पशुकामादि की तरह फल

बोधकता है, इसलिये इच्छाविषय विद्या को दृष्टत्व होने पर भी शास्त्र में ही प्रवेश होने के कारण धर्मत्व का अभाव साधन करनेवाले हेतु में विधि प्रयुक्त से भिन्न को ही विशेषण कहा है, इसलिये दोष नहीं है।

इस प्रकार यहां तक इतने व्याख्यान से स्पष्ट मालूम होता है कि शास्त्र की आज्ञा से जो गुरुसेवा करता है, उसमें प्रयोजन दृष्ट हो, तो भी उसमें धर्म है, परन्तु शास्त्राज्ञा बिना अन्य कारण वृत्ति प्रतिष्ठा आदि के लिये गुरुसेवा करता है तो उस सेवा में धर्म नहीं होता है। कारण कि विद्यारूप फल प्राप्ति के लिये सेवा करने पर विद्या तो देनी ही चाहिये।

जो जिस अर्थ के लिये प्रयत्न करता है, उसके लिये उस अर्थ का दान करने पर धर्म होता ही है, वहां मिथो भजन नहीं है।

मूल श्लोक में (सख्यः) यह संबोधन दिया है, इसका तात्पर्य इस प्रकार है कि भगवान् गोपियों से कहते हैं कि मैं यह निर्णय जो तुमसे कह रहा हूं, वह सब ठीक ही है, इसमें तुम्हारा वचन नहीं कर रहा हूं, कारण कि तुम सब मेरी सखी हो, सखियों से निष्कपट व्यवहार किया जाता है।

मूल में 'ये' पद है, इसका अर्थ लोक में अन्योन्य भजन करनेवाले पुरुष प्रसिद्ध हैं और वे पुरुष बनियाओं की तरह हैं, कारण कि बनियाओं की प्रवृत्ति किसी स्वार्थ को लेकर ही होती है।

यदि कहो कि परस्पर भजन की निन्दा करना योग्य नहीं है, क्योंकि धर्म आदि जो चार पुरुषार्थ हैं, वे पुरुषार्थता विषय हैं, इसलिये शास्त्रीय होने पर भी उनमें स्वार्थता निर्बाध है, अतः स्वार्थार्थत्व से 'धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य' इत्यादि से भागवत में कहे अनुसार धर्म आदि मोक्ष पर्यवसायी हैं, इसलिये इनकी निन्दा करना योग्य नहीं है।

इसी प्रकार 'सह्यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' इसके संदर्भ में 'देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' गीता. अ. ३ श्लो. १०-११।

प्रजापति ब्रह्मा कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर बोला कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त हो जाओ और यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं का देनेवाला होगा, तथा तुम लोग इस यज्ञ द्वारा देवताओं का भावन करो और देवता तुम लोगों का भावन करें। इस प्रकार परस्पर भावन से परम कल्याण को प्राप्त होओगे।

इस प्रकार उक्त वाक्य से यज्ञ को परस्पर भजन सिद्ध होता है, इस प्रकार दोनों धर्मों में यथार्थता है, इनके मध्य में परस्पर भजन में किसी की निन्दा करना योग्य नहीं है, अतः परस्पर भजन में धर्म का अभाव साधन करना योग्य नहीं है, परस्पर भजन में भी धर्म होता है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (यद्यपि) यद्यपि दोनों प्रकार के धर्म आदि में भी स्वार्थ ही है, तथापि परस्पर भजन से मोक्ष पर्यवसायी—मोक्ष देनेवाले धर्म आदि सिद्ध नहीं होते हैं, यहां पर लौकिक के उपयोगी स्वार्थ का अभिसंधानपूर्वक जो परस्पर भजन है, उसकी निन्दा की है, कारण कि 'भजतोऽनुभजन्त्येकै' पूर्वोक्त १६ वे श्लोक में प्रथमवाक्य से परस्पर भजन का स्वरूप निश्चय किया है, किन्तु वहां सभी स्वार्थ का अभिसंधान नहीं कहा है, इसलिये धर्म आदि को स्वार्थ होने पर भी दोष नहीं है।

यदि कहो कि धर्म आदि की भी तो परस्पर भजन में सिद्धि है। तब इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि, यदि धर्म आदि की परस्पर भजन में सिद्धि मान ली जाये, तो हवि ग्रहण करने

के लिये यहां आकर फल दे रहे देवताओं को भी धर्म होना चाहिये, किन्तु फल दान करके भजन करनेवाले देवताओं को कोई भी धर्म नहीं होता है, कारण कि 'भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव ताम् । छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः' 'देवाः स्वार्थानसाधवः' इत्यादि वाक्यों में निन्दा दीखती है, इस प्रकार कहे संदर्भ में जो परस्पर भावन कहा है, वह भी स्वार्थ साधन करने वाला ही फलित होता है, धर्म साधन करनेवाला नहीं होता है, 'श्रेयः परमवाप्स्यथ' इस प्रकार फल कथन से और न करने पर दोष बोधन करने से 'दृष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ-भाविताः । तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः' इस प्रकार उक्त श्लोक में दोष बोधन से स्वार्थसाधक है, इस प्रकार ही निश्चय होता है, इसी बात को मूल सुबोधिनी में कहा है कि 'अन्योन्य-भजने न ते सिद्ध्यन्ति' परस्पर भजन करने से मोक्ष देनेवाले धर्म आदि पुरुषार्थ भी सिद्ध नहीं होते हैं ।

यहां पर अन्योन्य भजनेन, तृतीया विभक्ति माने तो अर्थ इस प्रकार होता है कि परस्पर भजन करने से लौकिक के उपयोगी धर्मादि सिद्ध होते हैं, अलौकिक मोक्षपर्यवसायी धर्मादि सिद्ध नहीं होते हैं, यहां लौकिक स्वार्थ की ही निन्दा की है, अलौकिक स्वार्थ की निन्दा नहीं की है ।

पहले फल देनेवाले देवताओं को धर्म की अनुपपत्ति कह चुके हैं, इसी प्रकार 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' यहाँ पर भी जानना चाहिये । आगे 'एवं मदर्थोज्जित' इस २१ वें श्लोक की टिप्पणी में इस प्रकार के भजन को प्रवाही कहा है ।

इस प्रकार मिथो भजन में धर्म का अभावसाधन करके अब फिर शंका करते हैं कि कहीं प्रथमपुरुष द्वितीय पुरुष का भजन करता है और द्वितीय पुरुष प्रथम पुरुष का भजन नहीं करता है, तो भी प्रथम पुरुष को क्रोध नहीं होता है, तब इस प्रकार की अवस्था में सौहार्द-स्नेह सिद्ध होगा ही इसका तो आपने निषेध नहीं किया है ।

इस प्रकार के जानने की इच्छा में स्नेह के अभाव का प्रतिपादन करते हैं (तथा सौहार्दमपि) ।

जिस प्रकार परस्पर भजन में धर्म आदि सिद्ध नहीं होता है, उसी प्रकार यदि अन्य परस्पर भजन में थोड़ी भी फल की अपेक्षा आशा करता है तो क्रोध न करने पर भी स्नेह भी सिद्ध नहीं होता है, अर्थात् भोजन वस्त्र आदि देने से स्नेही की तरह आचरण करता हुआ भी यदि यह मेरा इष्टसाधन करता है, इस प्रकार की अपेक्षा से भजन करनेवाले को स्नेह सिद्ध भी नहीं होता है ।

अब परस्पर भजन करनेवाले पुरुष के साधन का विनियोग भगवान् कहते हैं (स्वार्थार्थम्) परस्पर भजन करने वालों का साधन अन्य के लिये ही दीखता हो, तो भी स्वार्थ के लिये ही होता है ।

इसी प्रकार अन्य से सेवा कराकर उसको धन आदि देते हैं, वह भी स्वार्थ के लिये ही है, इसमें सेवा करनेवाले का दुःख निवृत्त होना फल है, किसी को भी धर्म फल नहीं है ।

अब यहां फलित अर्थ यह है कि 'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्' यह जो सेवा करके किसी भी आशिषों की इच्छा करता है, वह भृत्य नहीं, बनियां है, यह सप्तम स्कंध में प्रह्लाद जी का वाक्य है, इस अर्थ में सभी लोक प्रमाण है, इसलिये मूल में 'हि' शब्द का प्रयोग किया है, 'अन्यथा' शब्द का अर्थ, परोपकार के लिये परस्पर भजन नहीं है, कारण कि जिस समय एक पुरुष दूसरे पुरुष का भजन करता है, उस समय दूसरे पुरुष के मन में प्रथम

पुरुष के किये भजन का प्रतीकार-वदला करने के लिये चिन्ता होती है, अतः परस्पर भजन का फल लौकिक स्वाधेसिद्धि है, केवल नाममात्र से इसको धर्म कहते हैं, वास्तव में धर्म नहीं है ॥ १७ ॥

(सुबो०) ये पुनः अभजतोऽपि भजन्ति, ते द्विविधा इत्याह—भजन्तीति ।

अब जो पुरुष पुनः भजन नहीं करने वालों का भजन करते हैं वे दो प्रकार के हैं, इस बात को आगे श्लोक में कहते हैं ।

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा ।

धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥ १८ ॥

पदपदार्थ—(हे सुमध्यमाः) हे सुन्दर कटिवाली गोपियो (ये) जो पुरुष (अभजतः) भजन नहीं करने वालों का (भजन्ति) भजन करते हैं, (ते) वे पुरुष (वै) प्रसिद्ध (करुणाः) दयालु लोग, तथा (पितरौ) माता पिता हैं, (यथा) जैसे माता पिता तैसे ही भ्राता आदि, कभी संसारी पुरुष भी दोनों का भजन करते हैं और स्निग्ध की तरह हो जाते हैं (अत्र) यहां प्रथम में (निरपवादः) अपवाद-निन्दा रहित (धर्मः) धर्म है, (च) और द्वितीय में (सौहृदं) स्नेह है ॥ १८ ॥

भाषार्थ—हे सुन्दर कटिवाली गोपियो, जो लोग भजन नहीं करने वालों का भजन करते हैं, वे करुण-दयालु लोग तथा माता पिता हैं यहां पहले में निरपवाद धर्म है तथा दूसरे में दैहिक सम्बन्ध से स्नेह है ॥ १८ ॥

(सुबो०) ये अभजतोऽपि तूष्णींस्थितान् भजन्ति तत्र निमित्तद्वयम्, लौकिकं वैदिकं वा, स्नेहो विधिश्च । तत्र सौहार्दं धर्मश्च फलं क्रमेणैव । यः पूर्वः तस्य सौहार्दं अवसरे कर्तव्य एवोपकारः । अन्यथा कृतघ्नः स्यात् । धर्म-शेषश्चेत्, प्रायश्चित्तं विधेयम् । तदीय एव धर्मः तद्द्वारा तेषु गच्छतीति । तत्र धर्मं यत्र कर्म प्रधानम्, यत्र वा देवता, तदुभयं न विवक्षितम् । प्रतियोगिनि भजनशङ्काभावात् । यत्र वा असमानता, गोः पङ्कोद्धारणवत्, तत्रापि तथा । यत्र पुनराधारे प्रत्युपकारः सम्भवति, तत्र प्रवृत्तौ, पूर्वस्याभजने, उत्तरभजने निरपवादो-धर्मः, सौहृदं च फलम् । अधिकारिविशेषणं तु एकत्र करुणा, अपरत्र दैहिकः सम्बन्धः । तदाह—करुणाः पितराविति । अन्यत्रापि दृश्यते इति तद्धर्मातिदेश-माह—यथेति । ये संसारिणः क्रूराः, तेऽपि कदाचिद्दीनेषु भजनं कुर्वन्ति, स्निग्धा इव च भवन्ति । तेषां सङ्ग्रहार्थं यथेति । सम्बन्धस्तु जन्मान्तरीयोऽपि भवतीति उपमानोपमेययोरभेदादेकत्रिधा एव । निरपवाद इति । एतदुपकारेण हि तस्या-पवादः । तदभावान्निरपवाद एव । अत्र तादृशेऽर्थे । अनेन यत्र प्रत्युपकारसम्भाव-नापि न, तत्र धर्म इति सूचितम् । अत एव केचित् क्रियमाणमपि नाङ्गीकुर्वन्ति ।

सौहार्देऽपि धर्मोऽस्तीति चकारः । सुमध्यमा इति सम्बोधनमुक्तविश्वासाय ।
धर्मेणैव उत्तममध्यमता ॥ १८ ॥

जो लोग भजन नहीं करनेवाले छुपचाप बैठे पुरुषों को भजते हैं, उसमें दो निमित्त-कारण हैं, (१) लौकिक, (२) दूसरा वैदिक, लौकिक कारण स्नेह है और वैदिक कारण विधि है, इसमें लौकिक स्नेह का फल सौहार्द है और वैदिक विधि का फल धर्म है, इस प्रकार क्रम से सौहार्द तथा धर्म फल है ।

जो पुरुष प्रथम सौहार्द से भजन करनेवाला है, उसके ऊपर जब सौहार्द का—(अर्थात् पुत्र आदि में सामर्थ्य प्राप्त होनेपर) अवसर प्राप्त हो, तब द्वितीय पुरुष जो भजन करने वाला नहीं उसको प्रथम का भजन करके उपकार करना कर्तव्य है, किन्तु द्वितीय पुरुष-पुत्रादि उसका उपकार नहीं करते हैं, इसलिये प्रथम पुरुष में सौहार्द निरपवाद-अपवाद रहित है और द्वितीय पुरुष में कृतघ्न है ।

यदि प्रथम पुरुष द्वितीयपुरुष का धर्मार्थ भजन करे तो द्वितीय पुरुष को प्रायश्चित्त करना चाहिये, अर्थात् भजनीय से भजन करने योग्य से प्रायश्चित्त करना चाहिये । और यदि द्वितीय पुरुष भजनीय से प्रायश्चित्त नहीं करता है, तो प्रथम पुरुष में निरपवाद धर्म है और द्वितीय पुरुष कृतघ्न है ।

धर्मार्थ भजन करनेवाले में धर्म ही मुख्य है, इसलिये द्वितीय पुरुष, जिसका भजन प्रथम पुरुष करता है, वह भजनीय है भजन करने योग्य धर्म का शेष-अङ्ग है, इसलिये भजन करनेवाले को पातक की संभावना होती है, किन्तु वास्तव में निरपवाद धर्म में पातक आदि की संभावना नहीं है, सापवाद धर्म में पातक की संभावना होती है, अतः लौकिक अनिष्ट की संभावना हो तो जिसका भजन प्रथम पुरुष करता है, उस द्वितीय पुरुष को कृतघ्नता दोष दूर करने के लिये पाप आदि का निवारण करना ही चाहिये, कामसूत्र में कहा है कि—

‘श्रोत्रियस्य ब्रह्मचारिणो दीक्षितस्य व्रतिनो लिङ्गिनो वामां दृष्ट्वा जातरागस्य मुमुक्षोर्मित्र-वाक्यादानुशङ्काच्च गमनं धर्मोऽधर्मो वेति संशयः’ श्रोत्रिय-वेदपाठी, ब्रह्मचारी, दीक्षित, व्रती अथवा लिङ्गी (भक्तिमार्गीय आदि भी लिङ्गी होते हैं) पूर्वोक्त किसी को भी स्त्री देखकर राग उत्पन्न हो जाये, और उस स्त्री को ज्ञात हो जाये कि इसकी मुझमें आसक्ति है, और मेरे ऊपर यह मरने को तैयार है, तब इस प्रकार की अवस्था में उसके ऊपर स्त्री को दया आ जाये, और मित्र वाक्य से—किसी भी अपने मित्र के वाक्य से अथवा जिसमें उक्त ब्रह्मचारी आदि की आसक्ति है, उसी मित्र स्त्री के वाक्य से, पूर्वोक्त ब्रह्मचारी आदि का समागम लज्जात्याग कर करे तो उस स्त्री को धर्म होता है, अथवा अधर्म होता है, इस प्रकार संशय होता है ।

इसका निर्णय कामसूत्र में उसी स्थल पर कहा है कि इस प्रकार की परिस्थिति में जिस स्त्री ने जिस पुरुष का भजन किया है, वह पुरुष स्त्री का पाप निवारण करने के लिये स्वयं प्रायश्चित्त आदि करे, कारण कि सापवाद भजन किया है, इसमें उदाहरण पद्मपुराण वैशाख माहात्म्य के प्रथम अध्याय में चित्रा का उपाख्यान है, उसका सारांश इस प्रकार है कि एक वैश्य जाति की वेश्या ने (जो पांच पुरुषों का सङ्ग करती है वह वेश्या प्रायः हो जाती है) अदृष्ट बुद्धि से अर्थात् मेरा दोष यह नाश करेगा, इस बुद्धि से भोग के विविध उपचारों द्वारा तीर्थार्जन करते आये एक सुदेव नाम के ब्राह्मण अतिथि का संसेवन किया, उक्त अतिथि ने ‘देवा’ नदी में

वैशाखस्नान करने का उपदेश दिया, और उस वेश्या के साथ रेवानदी में स्नान करता कराता, दया के कारण उस वेश्या के उपरोध-आग्रह से रेवा नर्मदा तट पर रहता हुआ, फिर उस वेश्या का तथा अपना उद्धार करके दूसरे जन्म में वह सुदेव ब्राह्मण स्वयं पांड्यदेश का राजा वीरसेन हुआ, और वह वेश्या दूसरे जन्म में परम वैष्णव दिवोदास काशी के राजा की पुत्री दिव्या देवी नाम की हुई । उदाहरण से स्पष्ट हो गया कि धर्मार्थ भजन में प्रायश्चित्त करना चाहिये ।

यदि कहो कि ‘धर्मेण पापमपनुदति’ धर्म करने से पाप को दूर करता है, इस श्रुति के अनुसार पुण्य से पाप निवृत्त हो जाता है ।

उक्त श्रुति में कर्ता का ऐक्य विवक्षित है, नहीं तो अतिप्रसङ्ग हो जायेगा, इसलिये पाप-निवृत्ति में भजनीय का कोई उपयोग नहीं है ।

इस शंका की निवृत्ति में कहते हैं कि (तदीय एव धर्मः) जिसका भजन प्रथम पुरुष करता है, उस द्वितीय पुरुष का धर्म, द्वितीय पुरुष के द्वारा प्रथम पुरुष भजन करने वाले में जाता है, अर्थात् धर्म शेषीय ही धर्मभजन द्वारा भक्तों में जाता है, ‘पति त्व पतितं भजेत्’ जो पति पतित नहीं है, उसका भजन करे, इत्यादि स्मृति में पति का अपतित, विशेषण कहने से जिसका भजन करते हैं, उसका धर्म भजन करने वालों में आता है, इस प्रकार ज्ञात होता है ।

यदि स्वयं पति पतित नहीं है, तो भजन करने वाले का पाप निवृत्त करने में समर्थ होता है, और यदि पति स्वयं ही पतित है तो अन्य भजन करने वाले का पाप निवृत्त करने में समर्थ नहीं होता है ।

यदि कहो कि विहित होने के कारण धर्म के लिये जो भजता है, उसके भजन से अपूर्व ही धर्म से भजन करने वाले को भजन से उत्पन्न होता है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि पापनिवृत्ति रूप फल का साधन करने से, उसके भजन विधान में (भजन करने वाले का भजन करने में भजनीय) जो भजन करने योग्य है, उसमें स्थित प्रायश्चित्त रूप धर्मत्व को ही प्रयोजकत्व है, कारण कि ‘तेजस्कामोऽग्निमेव तेजस्वन्तं स्वेन भागधेयेनोपधावति’ जिसकी तेज प्राप्त करने की इच्छा हो, वह तेजवान् अग्नि का ही अपने भागधेय से सेवन करता है, इत्यादि श्रुतियों से पूर्व में कहा ही निर्णय किया है, यदि जिसका भजन करते हैं, उसका धर्म भजन करने वाले भक्त में नहीं आता होता तो उक्त श्रुति में ‘तेजस्वन्तं’ तेजवान्, इस प्रकार नहीं कहते । अतः भजनीय के किये हुए भजन से उसका धर्म पूर्ण भजन करने वालों में आता है ।

इसमें अमूर्तत्व भी बाधक नहीं है, कारण कि अलौकिक अर्थ का निर्णय लोकरीति से करना योग्य नहीं है, ‘अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्’ जो भाव अलौकिक हैं, उनका निर्णय तर्क से नहीं होता है, इस प्रकार श्रुति प्रतिपादन करती है तथा पूर्वोक्त सब बात जातेष्टि, गयाश्राद्ध, पुण्य, दान आदि शास्त्रों से भी सिद्ध हो रही है ।

यहां भजन करने वाले का जो भजन नहीं करता है, उसके भजन रूप धर्म का निर्णय भगवान् कर रहे हैं, वह भजन रूप धर्म क्या है, इसका निष्कर्ष भगवान् कहते हैं कि निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है, इस नियम से यहां पर अपवाद-लोकवाद, लोकनिन्दा का निषेध किया है, जिसमें भजन का बाध होता है, इसलिये जहां धर्म में अपवाद की संभावना हो, वही धर्म यहां ग्रहण किया है, और जहां धर्म में अपवाद की संभावना नहीं हो वह धर्म यहां विवक्षित नहीं है, इस आशय से कहते हैं कि ‘तत्र धर्मो यत्र कर्म प्रधानम्’ उस धर्म में कहां कर्म प्रधान है, ‘कार्य-

मित्येव यत्कर्म' 'एतान्यपि तु कर्माणि' जो कर्म कर्तव्य है, इस प्रकार समझकर शास्त्रविधि से नियत किया हुआ आसक्ति तथा फल त्याग कर किया जाता है, वह सात्त्विक माना गया है, इस लिये हे पार्थ, यज्ञ, दान तथा तप रूप कर्म आदि आसक्ति तथा फल का त्याग कर अवश्य करना चाहिये, यह मेरा निश्चय किया उत्तम मत है, इत्यादि वाक्यों से जहां नित्य कर्म कर्तव्यबुद्धि से किया जाता है, वहां कर्म प्रधान है, और जहां देवता की आराधना से ही धर्म है, वहां वह देवता ही प्रधान है, इन दोनों प्रकार के धर्मों का यहां विवेचन नहीं करना है।

यदि कहो कि कर्ममार्ग में कहे हुए कर्म, देवता, गवादि में क्रम से जडत्व, स्वर्गवासित्व और अज्ञत्व आदि होने से धर्म उत्पन्न होता ही नहीं है, इसलिये गवादि प्रतियोगी में तो भजन की शंका का अभाव है, इसलिये उस धर्म की विवक्षा नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि भगवान् निर्णय कर रहे हैं, निर्णय संदिग्ध विषय का करना उचित है, उक्त कर्म आदि में नित्य कर्म करने वाले, तथा देवता की आराधना करने वाले इन दोनों के भजन में तो कोई शंका ही नहीं है, इसलिये विवक्षा भी नहीं है। किन्तु जहां भजन करने वाला और जिसका भजन किया जाता है, यदि ये दोनों समान न हों, (जिस प्रकार किसी ने कीचड़ में फँसी हुई गाय निकाली, यहां पर भजन करने वाला, गाय निकालने वाला तथा जिसका भजन किया, इस प्रकार की गाय दोनों समान नहीं हैं।)

इस प्रकार के गवादि धर्म का भी यहां विवेचन नहीं करते हैं।

कर्म मार्ग में कहे बहुला व्याघ्र संवाद आदि से तथा इन्द्र आदि की अश्वमेधकथा आदि से निमित्तवश से भी वहां धर्म की उत्पत्ति अवगत होती है, इसलिये गवादिकों में अज्ञत्वादि से धर्म का अभाव अविवक्षित नहीं है किन्तु प्रतियोगी में भजन शंका के अभाव से अविवक्षितत्व है, अतः विवेचन नहीं करते हैं, किन्तु जहां फिर आधार ऊपर, प्रथम भजन करने वाले के ऊपर भजनीय में प्रत्युपकार सामर्थ्य विद्यमान होने पर प्रत्युपकार करना संभव होता है, वहां प्रवृत्ति में, उसके भजन करने में प्रथम पुरुष भजन न करे, और दूसरा पुरुष भजन नहीं करने वाले का भजन करे तो निरपवाद किये भजन का बाधरहित धर्मफल सिद्ध होता है, तथा सौहृद-स्नेहफल सिद्ध होता है, निरपवाद धर्म का उदाहरण महाभारत के अनुशासन पर्व के दूसरे अध्याय में सुदर्शन का उपाख्यान है।

सुदर्शन की स्त्री ओघवती अपने पति के गृहस्थ धर्म की रक्षा करती हुई, जिस समय सुदर्शन समिधा लेने गया, उस समय अपनी ओघवती से कह गया था कि अतिथि के प्रतिकूल कर्म मत करना, इस प्रकार कहकर समिधा लेने स्वयं बाहर गया, और स्त्री घर में रही थी, उसी समय एक ब्राह्मण अतिथि सुदर्शन के घर पर आया, और उसने ओघवती से कहा कि मैं इच्छा तेरे साथ समागम करने की है, ओघवती ने पति के आज्ञानुसार इस अतिथि की इच्छा पूरी की, सुदर्शन समिधा लेकर घर आया, अतिथि ने सुदर्शन से सब हाल कहा, सुदर्शन ने शांति-पूर्वक उत्तर दिया कि आज हमारे गृहस्थाश्रम धर्म का पालन यथावत् हुआ, कारण कि हमारे घर अतिथि का यथेच्छ सत्कार हुआ है, इस बात को सुनकर यह अतिथि पर्णशाला से बाहर गया, और अपना वास्तविक धर्मस्वरूप प्रकट करके ओघवती की अत्यन्त प्रशंसा करने लगा—अनन्तर सुदर्शन ने भी ओघवती को पवित्र बतलाया, “एषा हि तपसा स्वेन संवृत्ता ब्रह्मचारिणी, पावनार्थं च लोकस्य सरिच्छ्रेष्ठा भविष्यति॥ अर्द्धोघवती नाम त्वार्द्धमनोपयास्यति॥ यत्र नावृत्ति-मभ्येति शाश्वतांस्तान् सनातनान्॥ अनेनैव तु देहेन लोकांस्त्वमभिपत्स्यसे॥” यह ओघवती ब्रह्मचारिणी

अपने तप से युक्त जगत् को पवित्र करने के लिये श्रेष्ठ नदी होगी, इसका एक भाग-आधा ओघवती नाम नदी और दूसरे आधे भाग से तुम्हारी सेवा करेगी, इसमें प्राप्त पुरुष इसके द्वारा फिर इस लोक में नहीं प्राप्त होता है, इस प्रकार के शाश्वत नित्य सनातन लोकों को तुम इसी देह से प्राप्त हो जाओगे, फिर अन्त में कहा है कि ‘धन्यं यशस्यमायुष्यमिदमाख्यानमुत्तमम्’ इस प्रकार भीष्मपितामह ने इस आख्यान के श्रवण-कथन का फल कहा है।

यदि कहो कि इस प्रकार संभावित अपवाद जिसमें हो, उस प्रकार का भी भजन नहीं करने वाले का भजन हो तो निरपवाद धर्मरूप भजन में सर्व लोग प्रवृत्त हो जायेंगे, तो फिर मर्यादा भङ्ग हो जायेगी।

इस शंका के समाधान में, इस प्रकार के भजन में अधिकारी कौन है, इस बात को कहते हैं। (अधिकारिविशेषणं तु)।

एक में दया, (दया भी अति तेजस्वी पुरुष में करनी चाहिये, जिस प्रकार ओघवती ने की थी,) सर्वत्र नहीं, इसलिये मर्यादा भङ्ग नहीं होती है, दूसरे में दैहिक सम्बन्ध है, (पुत्रादिकों में स्नेह करना चाहिये) अर्थात् धर्म फल देने वाले भजन में भजन करने वाले पुरुषों में दया होती है, तथा सौहृद-प्रेम फल देने वाले भजन में भजन करने वाले पुरुष में देह का संबंध होता है, वहां श्लोक का अन्वयार्थ इस प्रकार करना चाहिये कि जो दयालु माता-पिता नहीं भजन करने वाले पुत्रादि का भजन निश्चय से करते हैं, तो धर्म निरपवाद है, निश्चय से भजन प्रत्युपकार रहित जानना चाहिये, इस बात को आगे कहते हैं, (कर्षणाः पितरौ) दयालु तथा माता-पिता, इस प्रकार निरपवाद धर्म को कहकर अब सापवाद धर्म कहते हैं कि जिन प्राणियों में स्वाभाविक दया तथा स्नेह नहीं होता है, उनमें भी भजन नहीं करने वाले का भजन करना दीखता है, इसलिये दया तथा स्नेह का अतिदेश कहते हैं (यथा) अर्थात् स्वाभाविक कारण रहित पुरुषों के धर्मों को दृष्टान्त के लिये कहते हैं।

अतिदेश का प्रयोजन कहते हैं कि जो संसारी क्रूर प्राणी हैं, वे भी कभी माता-पिता की तरह दोनों पर दया करके उनका भजन करते हैं, और स्निग्ध की तरह स्नेह करते हैं, इस प्रकार के प्राणियों का संश्लेष करने के लिये मूल श्लोक में ‘यथा’ शब्द का प्रयोग किया है।

यदि दृष्टान्त दाष्टान्त एकप्रकार के होते हैं, इस प्रकार का नियम है फिर सापवाद और निरपवाद भजन करने वाले एक प्रकार के कैसे होते हैं—और कैसे दृष्टान्त दाष्टान्त में एकप्रकारता है।

और इसके उत्तर में यदि तुम यह कहो कि राजधर्म में ‘सहार्थो भजमानस्य सहजः कृत्रिमस्तथा, धर्मात्मा पञ्चमो मित्रम्’ साथ ही अर्थ का भजन करने वाला सहज अथवा कृत्रिम हो तो उस धर्मात्मा को पांचवां मित्र कहते हैं, इत्यादि वाक्य से पांच प्रकार के मित्रों में सहज भजन करने वाला निरुपधि कहा है, इसलिये दोनों के भाव भेद से स्नेह में भी भेद है, अतः यहां दृष्टान्त क्यों दिया है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि ‘सम्बन्धस्तु’।

हाल में किसी का स्नेह हो तो उससे पूर्व जन्म के संबंध का अनुमान होता है, इसलिये सामान्य रीति से ‘यथा’ कहा है।

जिस प्रकार माता-पिता स्नेह करते हैं, उसी प्रकार भ्राता आदि भी स्नेह करते हैं,

सम्बन्ध तो जन्मान्तरीय भी, अन्य जन्म का भी होता है, इसलिये करुणा देखने से ही उपमान, उपमेय दोनों में अभेद होने के कारण उदाहरण एक प्रकार का ही दिया है।

यद्यपि कर्मगति गहन है, सम्बन्ध से ही माता-पिता भाई-बहिन आदि में भाव का भेद होता है, तथापि भावभेद में ही इन सबका स्नेह निरुपाधि है, इसलिये एक प्रकार का है, अतः मूल में एक दृष्टान्त दिया है, इससे यह सूचन किया कि स्नेह से भजन में जन्मान्तरीय सम्बन्ध ही प्रयोजक है, इसलिये इसमें धर्म की सम्भावना नहीं है।

मूल श्लोक में निरपवाद धर्म कहा है, भजन करने वाले के ऊपर, भजन नहीं करने वाला प्रत्युपकार करे तो उस भजन को सापवाद कहते हैं, अर्थात् प्रत्युपकार से प्रथम ने जो भजन किया है, उसका बाधनाम अपवाद हो जाता है। और इस प्रकार पूर्व के भजन का प्रत्युपकार नहीं करे तो धर्म निरपवाद ही है, इससे यह भी सूचन किया है कि स्नेह से भजन करने में पूर्व सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है। इसलिये अपवाद का भी संभव होता है।

मूल में 'अत्र' पद तादृश अर्थ में है, अर्थात् जहाँ प्रत्युपकार रहित भजन है, वहाँ निरपवाद धर्म है।

इस प्रकार व्याख्यान करके अब धर्म स्थल का निष्कर्ष कहते हैं, (अनेन) इससे इस प्रकार सूचन किया है कि जहाँ प्रत्युपकार की सम्भावना भी नहीं होती है, वहाँ धर्म है, इसी कारण से कितने ही लोग किये गये प्रत्युपकार को परस्पर भजन के भय से स्वीकार नहीं करते हैं, इसीसे 'ब्राह्मणस्य कामपरवशस्य प्राणत्राणार्थं गमनधर्मो निरनुबन्धः' ब्राह्मण कामपरवश वालों के प्राणों की रक्षा करने के लिये गमन करने में धर्म बन्धन नहीं है, इस प्रकार कामसूत्र आदि में कहा है कि सजातीय स्थल में धर्मानुबन्ध तथा धर्म स्थल में, पत्नी में धर्म कहा है, उसी प्रकार 'तस्यैव लोक विद्विष्टस्य मायाविन्दे वा तथाभूतस्यैव शरीररक्षार्थं गमनं धर्मोऽधर्मानुबन्धः।'।

ब्राह्मण, लोकद्वेषी तथा मायावी कामपरवश को शरीररक्षा के लिये गमन धर्म, अधर्म का अनुबन्ध कहा है, इस प्रकार कामसूत्र से कहे स्थल में भी अधर्म के अनुबन्ध को बलिष्ठ होने के कारण श्येन की तरह जिस प्रकार श्येन बाज पक्षी, छल से तथा धमका करके गमन करता है, उसी तरह छल से तथा धर्षणा-धमका करके गमन करता है तो अधर्म ही होता है, यह भाव है।

मूल श्लोक का चकार सूचन करता है कि सौहार्द-स्नेह में भी धर्म है, कारण कि स्नेह में भी दया का लेश अंश होता है।

अपने वाक्यों में विश्वास दिलाने के लिये भगवान् गोपियों को संबोधन देते हैं कि (हे सुमध्यमाः) हे सुन्दर कटिवालियो। धर्म से ही उत्तमता तथा मध्यमता होती है, अर्थात् अपनी अपेक्षा से उत्तम जो भजन नहीं करने वाले हैं, उन पुरुषों का जो लोग भजन करते हैं, उत्तम हैं, और अपनी अपेक्षा से मध्यम पुरुषों का जो भजन करते हैं, वे लोग मध्यम हैं, इस प्रकार धर्मकृत ही उत्तम मध्यम भाव भजन करने वालों में ज्ञान्योन्य है।

मध्यमाधिकारियों को भी कहे हुए धर्म में विश्वास होता है, हीनाधिकारियों को नहीं होता है, इसलिये आप सबको इस समय मेरे प्रति भजन की अपेक्षा है, अतः मध्यमाधिकार प्राप्त हुआ है, फिर भी मेरे कहे में विश्वास होगा तो आगे उत्तमाधिकार प्राप्त हो जायेगा ॥१८॥

(सुबो०) ये तु पुनः सर्वथैव न भजन्ति, भजनार्थं भजतः, सौहृदेन वा भजतः। धर्मार्थं तु न शङ्का। तानुभयविधानपि केचिन्न भजन्ति। अभजतो दीनान् धर्माधिकारिणश्च। तानपि न भजन्ति। तेषां स्वरूपमाह भजतोऽपीति।

जो कोई सर्वथा ही भजन नहीं करते हैं और जो कोई भजन के लिये भजन करनेवाले, अर्थात् मिथो भजन करनेवाले तथा स्नेह से भजन करनेवाले, धर्म से भजन करनेवाले, इस प्रकार भजन करनेवाले तीन प्रकार के हुए, इनमें धर्म के लिये जो भजन करते हैं, उनमें तो किसी प्रकार की शंका ही नहीं है।

अर्थात् जो करुण हैं, वे आत्माराम, पूर्णकाम का धर्मार्थं भजन करते हैं, उनके भजन मात्र से धर्म सिद्ध होता है, इसलिये प्रायश्चित्त करने की शंका उनमें नहीं होती है।

और जो स्नेह से भजन करनेवाले हैं, उनमें अवसर प्राप्त होने पर कृतघ्नता दोष परिहार करने के लिये प्रत्युपकार करना आवश्यक प्रतीत होने के कारण शङ्का का सत्त्व है, किसी धर्मार्थं भजन में कृतघ्नतादोष रूप भजन करनेवाले पुरुष को कृतघ्नता दोष दूर करने के लिये प्रायश्चित्त क्रियामात्र से चरितार्थ है, इसमें प्रायश्चित्त करने की शंका नहीं है।

आत्माराम तथा आत्मकाम, इनका प्रायश्चित्त नाम पापनिवृत्त रूप जो स्वाभाविकी क्रिया है, उस क्रिया मात्र से प्रायश्चित्त की चरितार्थता है, अर्थात् उस क्रिया से ही प्रायश्चित्त हो जाता है, इसलिये भजन करने वालों को फलसिद्धि हो जाती है, अतः कृतघ्नता दोष परिहार के लिये पुण्य प्रायश्चित्त करने की स्नेह से भजन करने वालों में शंका होती है, आत्माराम और आत्मकाम में नहीं होती है। इसलिये इनके विषय में उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु पहले दो प्रकार के पुरुष—भजन के लिये भजन करनेवाले तथा स्नेह से भजन करनेवाले, पुरुषों को कितने ही पुरुष भजन नहीं करते हैं, अर्थात् जिनके भजन करने से भजन करने वालों में दया सिद्ध होती है, इस प्रकार के दीनों का, तथा धर्म संपादन करने में समर्थ, जिनके भजन से धर्म सिद्ध होता है, इस प्रकार के धर्म के अधिकारियों का भी जो भजन नहीं करते हैं, उनका स्वरूप कहते हैं।

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।

आत्मारामा ह्यात्मकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥ १९ ॥

पदपदार्थ—(केचित्) कितने ही लोग (भजतोऽपि) भजन करनेवाले को भी (न वै) नहीं (भजन्ति) भजते हैं (अभजतः) नहीं भजन करनेवाले को (कुतः) किस प्रकार से भजन करे, अर्थात् नहीं इस प्रकार के (आत्मारामाः) आत्मा में ही रमण करनेवाले हैं और (आत्मकामाः) प्राप्त काम वाले (अकृतज्ञाः) किये हुए उपकार को नहीं जानने वाले (गुरुद्रुहः) गुरुद्रोही, इस प्रकार चार प्रकार के हैं ॥ १९ ॥

भाषार्थ—कितने ही लोग भजन करने वालों का भजन नहीं करते हैं, तो फिर जो भजन नहीं करते हैं उनका भजन कैसे करे, इस प्रकार के लोग आत्माराम, आत्मकाम, अकृतज्ञ-कृतघ्न, गुरुद्रोही, चार प्रकार के हैं ॥ १९ ॥

(सुबो०) केचिन्महापुरुषा भजतोऽपि न भजन्ति, अभजतः कुतो भजि-
ष्यन्ति । ते पूर्वोक्तन्यायेन चतुर्विधाः । तन्मध्ये उभये समीचीनाः । उभये न ।
ये धर्माधिकारिणस्ते अधमाः । ये लौकिकनिमित्तास्ते उत्तमा इति । तान् गण-
यति साङ्ख्यार्थमावाय । आत्मारामा इति । आत्मन्येव रमन्त इति । अन्येन भज-
नीयो देहादिनापेक्षित इति भजनमेव न मन्यन्ते । तेषां भजनार्थं च साधनत्वेन
स्वदेहादिकमपि न मन्यन्ते । तथा अन्ये आप्तकामाः । आप्तः प्राप्तः कामो यैः ।
यो भुक्तवन्तं ब्रूयात्, त्वं भुङ्क्ष्व, मा भुङ्क्ष्वेति वा । एकत्र आवृत्तिः । अपरत्र
सिद्धसाधनत्वेनानुवादः । उभयथापि वैयर्थ्यम् । प्रवर्तमानस्य धर्मः सेत्स्यति ।
अज्ञानं वा । उभये तु अधमा इत्याह । ये कृतं न जानन्ति तदुपकारं, ते प्रत्युप-
कारसमर्था अपि उभयविधानपि न भजन्ति । तेषामज्ञानमेव हेतुरभजने
ज्ञात्वा चेदभजनं, गुरुद्रोहः । यः कश्चित् स्वस्य पुरुषार्थसाधकः स गुरुः, स पूज्यः ।
तस्यापि स्वशक्तौ सत्यां तदुपेक्षायां तद्द्रोहः अनेनैव कृत इति गुरुद्रोहकर्ता
भवति । एवं सर्वेषां गुणदोषा निरूपिताः ॥ १९ ॥

कितने ही महापुरुष भजन करनेवाले का भजन नहीं करते हैं, तो फिर जो भजन नहीं
करते हैं, दीन धर्माधिकारी के प्रति भजन करने में असमर्थ तथा समर्थ हैं, उनका भजन कैसे करे ।
ये पूर्वोक्त न्याय से अर्थात् 'नोभयांश्च भजन्त्यन्ये' इसमें कहा भजन करनेवाले और भजन
नहीं करनेवाले, उक्त न्याय से चार प्रकार के हैं, इनके बीच में दो समीचीन अच्छे हैं और दो
समीचीन नहीं हैं ।

जो दया में तथा धर्म में अधिकारी—समर्थ हैं, अर्थात् दोनों को साधन करनेवाले हैं,
उनको जो नहीं भजते हैं, वे अधम हैं, इस प्रकार यहां लेखकार ने 'दयाधर्माधिकारिणः' पाठ
स्वीकार किया है, उसके अनुसार अर्थ कहा है, किन्तु श्री विठ्ठलराय जी के पुस्तक में 'दया' शब्द
नहीं है, इसलिये श्रीपुरुषोत्तम जी ने प्रकाश में 'ये दयाधर्म' इसमें 'अदया छेत्तव्यम्' अदया पद
का छेद करना चाहिये, इस प्रकार कहा है, इसमें कारण बतलाते हैं कि ('ये कृतं न जानन्ति
तदुपकारं) जो उसके किये उपकार को नहीं जानते हैं, इत्यादि अग्रिम ग्रंथस्वरस्य से, अतः जो
दया धर्म में अधिकारी नहीं हैं, अर्थात् दोनों के साधक नहीं हैं, वे अधम हैं, जो धर्मार्थ भजन
करने वालों में धर्म संपादन करने के लिये अधिकारी समर्थ हैं, उनको जो नहीं भजते हैं, वे
अधम अकृतज्ञ आदि दोषवान् हैं । इनको आगे कहेंगे और जिनका लौकिक स्नेह आदि निमित्त
भजन में है, वे लौकिक निमित्त वाले हैं, जो लोग स्नेह आदि लौकिक निमित्त, से ही भजन करते
हैं, उनका जो भजन नहीं करते हैं, वे उत्तम हैं, इनको ही आगे आत्माराम धर्मवान् कहेंगे ।

अब इन चार प्रकार के पुरुषों की गणना करते हैं, आत्माराम आदि चार धर्मों को
पूयक् करने के लिये, जिससे साङ्ख्य न हो, अर्थात् एक में एक के धर्म मिले हुए का ज्ञान
नहीं हो, इसलिये गणना करते हैं, (१) प्रथम (आत्मारामाः) आत्मा में ही रमण करते हैं,
इसलिये आत्माराम हैं ।

यदि शंका करो कि उक्त लौकिक निमित्त से जो भजन करने वालों का भजन नहीं करते
हैं, उनको उत्तम कैसे बतलाते हो ।

इस शंका का उत्तर देते आत्मारामादि पदका तात्पर्य कहते हैं कि अन्यद्वारा भजन करने
योग्य जो देह आदि हैं, उनको आत्मा से भिन्न मानते हैं, इसलिये देहादि की आत्माराम को अपेक्षा
नहीं होती है, इसलिये ये लोग अन्यकृत भजन को ही नहीं मानते हैं और न भजन करने वालों
का भजन करने के लिये साधनत्व से अपने देह आदि को भी मानते हैं ।

अब द्वितीय भजन नहीं करने वाले (आप्तकामाः) आप्तकाम हैं, आप्त-अर्थात् प्राप्त काम
जिनसे, उनको आप्तकाम कहते हैं, 'काममयीऽयं पुरुषः, पुरुषात् परं किञ्चित् सा काष्ठा स परा
गतिः' इत्यादि भुक्ति में कहे प्राप्तकाम भक्त हैं, वे भी अन्यका भजन नहीं करते हैं ।

कोई पुरुष भोजन कर चुका हो, उससे अन्यपुरुष कहे कि तुम भोजन करो, अथवा भोजन
मत करो ।

यहां प्रथम पक्षमें अप्रवृत्ति है, अर्थात् भोजन किया हुआ पुरुष कभी भोजन करने में
प्रवृत्त नहीं होगा ।

दूसरे पक्ष में-भोजन मत करो, इसमें भोजन किये हुका अनुवाद है, कारण कि जिसमें भोजन
कर लिया है, उसको भोजन करनेकी इच्छा तो रही नहीं है, फिर भोजन क्या करेगा, अर्थात् नहीं,
इसलिये भोजनका अभाव कथन अनुवाद ही है, उक्त दोनों पक्ष व्यर्थ हैं, अर्थात् जो भोजन कर चुका
है, उससे 'तुम भोजन करो' इस प्रकार कहनेपर भी भोजन करने का अभाव देखने से व्यर्थ है,
कारण कि अर्थ-भोजन, भोजन की प्रेरणा करने वाले को अपेक्षित है, और भोजन कर चुका ही,
उससे 'भोजन मत करो' इस प्रकार कहना अनुवाद है, कारण वह भोजन कर चुका है, इसलिये
उसको भोजन करने की इच्छा ही नहीं है, इसलिये भोजन का अभाव सिद्ध है, फिर मत भोजन
करो, इस प्रकार कथन व्यर्थ ही है, इस प्रकार दोनों पक्ष व्यर्थ हैं, कारण कि वह 'आप्तकाम' है ।

आप्तकाम में 'भोजन करो' इस प्रकार कथन फलसाधक नहीं है, कारण कि वह एतद् है,
इसलिये भोजनका अभाव सिद्ध है, यहां भोजन के अभाव का विधान अकिञ्चित्कर ही है, दोनों
प्रकार व्यर्थ हैं, इस प्रकार प्रतियोगी-पूर्णकाम के विचार से साधन व्यर्थ होनेपर भी, करने वाले
के विचार से विनियोग कहते हैं । (प्रवर्तमानस्य)

जो कोई करुणा आदि के अधीन पुरुष 'भोजन करो' इस प्रकार भोजन के लिये प्रेरणा
करता है, उसको धर्म सिद्ध होता है, कारण कि परोपकारके लिये प्रवृत्त हो रहा है ।

और जो 'भोजन मत करो' इस प्रकार कहता है, उसको अज्ञान सिद्ध होता है, अर्थात्
इसने तो भोजन कर लिया है, फिरमें भोजन के लिये प्रेरणा व्यर्थ करता है, इस प्रकार के ज्ञान का
उसको अभाव सिद्ध होता है ।

इस प्रकार ज्ञाता को पूर्णकाम से धर्म और अज्ञाता को स्वरूप ज्ञान होता है, अर्थात्
आप्तका पूर्णत्व और अपने को अज्ञत्व ज्ञात होता है, इस प्रकार नहीं भजन करने वाले चार
प्रकार के कहे हेतुओं में आत्माराम, तथा आप्तकाम दोनों का निरूपण करके अब 'अकृतज्ञ' और
'गुरुद्रोही' दोनों अधम हैं, अधमों में भी ज्ञान तथा अज्ञान से विशेष निरूपण आगे कहते हैं ।

जो कोई पुरुष किया उपकार दया धर्म आदि को नहीं जानते हैं, और प्रत्युपकार करने में
समर्थ होते भी जिनके भजन में दया तथा धर्म सिद्ध होता है, उन पूर्वोक्त दीन तथा धर्माधिकारी,

पक्षश्च व्यावर्तितः । ननु द्वितीये पक्षे गोपिकानां भजने स्नेहाद्भजनमस्तु, अतो भगवान् निरूपकत्वेन नैषामन्तर्भूतः । ईश्वरश्च नैषामन्तर्भवतीति कथमेवं विचार इति चेत्, मैवम् । गोपिका भोग्या इत्यविवादम् । ताश्च भोग्यसमर्पकत्व एवो-पक्षीणाः । अतो भगवत एव विचारः कर्तव्यः । ईश्वरोऽपि फलार्थं सेव्यश्चेत्, न विचार्यः । व्यवहारे दृष्टार्थश्चेद्, दीयमानग्रहणाग्रहणाभ्यां विचार्य एव । पूर्वं गृहीतत्वात् नात्मारामता, नापि पूर्णकामता । प्रथमप्रवृत्त्या तृप्तावपि परिस्थानो नोचितः । ततस्तृतीयपक्ष एवाभिनिवेश उचितः । तदपि सर्वज्ञस्यानुचितम् । ईश्वराणां फलदातृणां कदाचिदेवं भवतीति शङ्कायाः परिहारमाह नाहं तु सख्य इति ।

इस प्रकार भगवान् के निर्णय को सुनकर गोपियों के हृदय में इस प्रकार जिज्ञासा हुई कि भजन नहीं करनेवालों के आपने चार प्रकार कहे, उनके मध्य में भगवान् कौन से प्रकार के हैं, गोपियों का भजन भगवान् ने नहीं किया, इसलिये, तथा भजन करने का सामर्थ्य भी भगवान् में विद्यमान है । यदि सामर्थ्य नहीं हो तो कीचड़ से गाय निकालने की तरह विवेचन करना ही नहीं हो सकता है, अतः सामर्थ्य विद्यमान है, इसलिये परस्पर भजन पक्ष, तथा भजन नहीं करने वाले का भजन करने का पक्ष, इन दोनों का निषेध कर दिया है, इससे भगवान् में जो गोपियों ने दोष निर्धारित किया था उसका भी परिहार हो गया ।

धर्मार्थं भजनपक्ष निषेध भी कर दिया है, तथापि स्नेह से भजन का निषेध नहीं किया है, इसलिये स्नेह में भक्तों का प्रवेश है शेष वाक्यों की असङ्गति है इसलिये स्नेह भजन पक्ष का भी निषेध करने के लिये आगे शंका करते हैं, (ननु द्वितीयपक्षे) ।

यदि कहो कि (भजतोनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्) इस सोलहवें श्लोक में गोपियों ने प्रश्न किया, उस प्रश्न में दूसरा जो नहीं भजन करने वाले का भजन करनेवाला पक्ष है, उसमें गोपियों ने जो भगवान् का भजन किया है, उसमें स्नेह भजन मानो, जिससे गोपियों का भजन सिद्ध करने के लिये प्रथम से भगवान् स्वयं भजन करते हैं, अतः लौकिक आत्माराम आदि सदृश भगवान् नहीं हैं ।

भगवान् तो गोपियों के स्नेह विषय से भजन में प्रयोजक हैं, इस लिये आत्माराम आदि चारों के मध्य में नहीं हैं ।

द्वितीय पक्ष में गोपियों को चाहे मानो किन्तु भगवान् तो किसी पक्ष के भीतर नहीं हैं । जिस प्रकार माँ-बाप का बालक आदि विचार नहीं करते हैं, उसी प्रकार भगवान् विचार करने योग्य नहीं हैं ।

यदि कहो कि बालक आदि में भी जब सामर्थ्य सत्ता आ जाती है तथा वे भी माँ बाप आदि का विचार करते हैं ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं (ईश्वरश्च) भगवान् स्वयं ईश्वर हैं, ईश्वर आत्माराम आदि के मध्य में नहीं होता है, तथा ईश्वर में प्रतिभजन-भजन करने वाले का भजन करने की शंका का अभाव है, इसलिये ईश्वर आत्माराम आदि चारों से भिन्न पाँचवाँ है (नाहं तु सख्यः)

इस आगे के श्लोक में भजन करने वाले का भजन नहीं करने वाला पाँचवाँ प्रकार है, इसलिये विचार करने योग्य नहीं है ।

तो फिर बीसवें श्लोक में इस प्रकार का विचार क्यों किया है । अर्थात् भजन करने वाले तथा नहीं भजन करने वाले दोनों के बीच में भगवान् विचार करने योग्य न होने से ही प्रबोध्य सिद्ध हो गया फिर आगे के वाक्यों की सङ्गति नहीं होगी ।

इस शंका का समाधान करते श्रीमहाप्रभुजी सङ्गति कहते हैं कि इस प्रकार की शंका मत करो, गोपियां भगवान् की भोग्या हैं, इस विषय में कोई विवाद नहीं है, गोपियों ने जो भगवान् का भजन किया, वह गोपियों को भोग्य होने के कारण भोग्य पदार्थ देह आदि का समर्पण करने में क्षीण-नष्ट हो गया ।

भोग्यत्व सिद्ध होने के लिये गोपियों ने देह आदि का भगवान् में उपयोग किया है, कारण कि गोपियां आत्मनिवेदन कर चुकी हैं, इतने से ही उपक्षीण हैं, अर्थात् प्रतिभजन करने की आवश्यकता के योग्य नहीं हैं, इसलिये भगवान् का ही विचार कर्तव्य है, गोपियों का नहीं । गोपियों को इतने से ही उस प्रकार के भजन की सिद्धि हो गई, अतः विचार योग्य नहीं हैं ।

यदि कहो भगवान् ईश्वर है, इसलिये इनका विचार करना योग्य नहीं है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि ईश्वर भी यदि फल के लिये सेव्य हो तो वह भी विचार करने योग्य नहीं है, अर्थात् फल के लिये सेव्यमान ईश्वर से फल लेना चाहिये, और ईश्वर के भजन का तथा अभजन का विचार कर्तव्य नहीं है । भजन करने वाला दृष्ट ही पशु आदि रूप फल प्राप्ति के लिये भगवान् का भजन करता है, और जब उक्त फल प्राप्त नहीं होता है, तब भजनविषय—ईश्वर में विचार करता है कि मैं ने जो पूजा की है, उसमें अपित गंध आदि उपचारों को ईश्वर ने ग्रहण किया है, अथवा नहीं किया है ।

यदि गंध आदि उपचार ग्रहण किया हो तो मेरे मनका अभिलषित होगा, अभीतक मुझे मेरे इच्छानुसार फल नहीं मिला है, इसलिये ईश्वर ने पूजा में अपित उपचार स्वीकार नहीं किया है, यह एक कोटि है ।

मैं ने शास्त्र के कथनानुसार उसी प्रकार की मर्यादा से गन्ध आदि उपचार अपित किया है, इसलिये ईश्वर ने स्वीकार किया है, यह दूसरी कोटि है, इस प्रकार उपस्थित दोनों कोटियों का निर्णय करने के लिये ईश्वर विचार करने योग्य ही है ।

यदि कहो कि भगवान् आत्माराम है, तुमसे उसको क्या प्रयोजन है ? जो तुम्हारे भजन का प्रति भजन करे, कुछ प्रयोजन होता तो भजन करता, फिर यहां भजन तथा अभजन का विचार क्यों किया जाता है ।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि हमारा समर्पित देह आदि का प्रथम ग्रहण किया है, इसलिये अङ्गीकार करने के कारण भगवान् में आत्मारामत्व नहीं है, किन्तु व्रजसुन्दरियों के गण में विहारैकतान्त्र्य है, इसीसे पूर्णकामत्व भी नहीं है ।

यदि कहो कि भगवान् में आत्मारामत्व तथा पूर्णकामत्व नहीं है, तथापि पहले रमण किया है, उससे भगवान् तृप्त हैं, इसलिये रमण नहीं करते हैं, फिर यहां क्या द्वेषण है ।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि प्रथम किये रमणसे तृप्त भी है, परन्तु हमारा परित्याग करना उचित नहीं है, कारण कि इस समय आप पूर्णकामत्वसे तृप्त हो, कालान्तरमें तो हमारी

अपेक्षा होगी। और यदि, आपको हमारा परित्याग नहीं करना था तो प्रथम से ही प्रवृत्ति आपने क्यों की थी। इसलिये भगवान् की गणना तृतीय पक्ष—कृतघ्न आदि में करनी उचित है, परन्तु कृतघ्नता भी सर्वज्ञ ईश्वर में उचित नहीं है, भगवान् आत्माराम सकाम रूप हैं। इस प्रकार प्रथम कोटिका निषेध कर दिया है, ईश्वर फल देनेवाले में कभी कृतघ्नता भी होती है, इस प्रकार अकृतज्ञ आदि द्वितीय कोटिका भी निषेध कर दिया है, अतः धर्मवान् के धर्म में सन्देह ही पर्यवसान में प्राप्त होता है, उस सन्देह को निवृत्त करने के लिये आगे के वाक्य हैं, अतः असङ्गति नहीं है, इस प्रकार सन्देह दूर करने के लिये भगवान् कहते हैं।

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तये ।

यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥२०॥

पदपदार्थ—(हे सख्यः) हे सखियो (अहं तु) मैं तो (भजतोऽपि) भजन करनेवाले भी (जन्तून्) प्राणियों को (न) नहीं (भजामि) भजन करता हूँ (अमीषाम्) प्राणियों की (अनुवृत्तिवृत्तये) अनुवृत्ति-आगे भजन, अर्थात् मुझ में आगे चित्त की वृत्ति लगने के लिये (यथा) जिस प्रकार से (अधनः) निर्धन (लब्धधने) प्राप्तधन होनेपर (विनष्टे) फिर नष्ट होने पर (तच्चिन्तया) धन की चिन्तासे (निभृतः) व्याप्त हुआ उस चिन्ता में ही मग्न होता (अन्यत्) और किसी वस्तु को (न) नहीं (वेद) जानता है, ॥ २० ॥

भाषार्थ—हे सखियो! मैं तो भजन करनेवाले प्राणियों का भजन नहीं करता हूँ मेरे नहीं भजन करने का कारण यह है कि मेरा भजन करने वाले प्राणियोंका चित्त आगे मुझमें लगा रहे, जिस प्रकार निर्धन को मिला हुआ धन नष्ट होने पर वह धनकी चिन्ता में मग्न होता अन्य किसी वस्तु को जानता नहीं है, उसी प्रकार मुझको प्राप्त हुआ मेरा भक्त भी जिस समय मेरा दर्शन नहीं होता है, उस समय मुझमें मग्नचित्त होता प्रपञ्च का स्मरण नहीं करता है ॥ २० ॥

(सुबो०) तुशब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति । नापीश्वरभजनपक्षः शङ्कनीय इत्याह सख्य इति । गोपिकास्तु सख्यः । रसे तुल्याः । एकार्थाभिनिवेशाश्च । अहमिति भगवान्, नतु जीवः । तेन आत्मारामादिपक्षा व्यावर्त्तयति । अहं न भजामि । राम एव, न त्वात्मारामः । ममात्मव्यतिरिक्तपदार्थाभावात् । अहं न भजामि । कामाभावादेव नाप्तकामत्वम् । अतो मम भिन्नैव व्यवस्था, नतु जीवतुल्यता । नाहं तु सख्य इति तामेव व्यवस्थामाह । भजतोऽपि जन्तून् अहं न भजामि । जन्तुपदेन तत्रान्य एव हेतुः । अमीषामनुवृत्तिवृत्तये इति । अमीषां जीवानाम् । सर्वेषामेवोप-प्राणिमात्रम् । भगवतो न केनाप्युपयोगः । भगवान् फलरूप इति सर्वेषामेवोप-योगः । तथा सति तेषां भजनमेव इष्टमिष्टसाधनं वा । तत्राहं चेत् साधनत्वेन प्रविशामि, तदा भजनमेव नाशयामि । अग्रे भजनस्य प्रतिबन्धात् पूर्वभजनस्य वैयर्थ्यापादनात् । चतुर्धा हि भगवदुपयोगः । भगवान् भोग्यो, भोक्ता वा । भोग्य-पक्षे कामनापूरकत्वेन, स्वातन्त्र्येण वा । भोक्तापि भक्त्या भक्तदत्त पदार्थ-स्वीकाराद्, विषयत्वेन भोगाद्वा । आद्ये भजनं नश्येत् । अल्पफलदानात् ।

स्वरूपतो महत्त्वेऽपि कालपरिच्छेदात् । द्वितीये तु तथा त्वमति भजनेन भवति । तद् गोपिकानां नास्तीति तत्सिद्धयर्थमभजनम् । अपेक्षाभावात् नाहं विषय-न्यायेन भोक्ता । भक्त्यर्थं तु अभजनमेवेति सिद्धान्तसंग्रहः । यथा अभजने अनु-वृत्तिः सिध्यति, तथा प्रकारमाह यथाधन इति । पूर्वमधनः, पश्चात्लब्धं धनं, तच्चेद्विनष्टं, तदा तच्चिन्तया व्याप्तः, निभृतः तदेकनिमग्नः सन्, अन्यत्र वेद । एतत्तु लोकप्रसिद्धम् । तथा गोपिकानामपि पूर्वमप्राप्तो भगवान् प्राप्तश्चेत्तिरो-भवति, तदा निभृताः, तत्रैव मग्नचित्ताः न प्रपञ्चं स्मरिष्यन्ति । निभृतानां प्रयोजनं पूर्वमुक्तमेव ॥२०॥

श्लोक में 'तु' शब्द पूर्वोक्त पांचो कोटियों का निषेध करता है, अर्थात् (१) 'भजतोऽनु-भजन्त्येके' इसमें कितने ही पुरुष भजन करने वाले का भजन करते हैं, परस्पर भजन करने वालों का कैसा स्वरूप है, यह प्रश्नरूप प्रथम कोटि है ।

(२) 'एक एतद्विपर्ययम्' नहीं भजन करने वाले का जो भजन करता है उसको, तथा नहीं भजन करने वाले को क्या फल है ?

(३) 'नोभयांश्च भजन्त्यन्ये' यहां भजन करने वाले का नहीं भजन करनेवाले आत्माराम आदि को तथा आत्माराम आदि का भजन करने वालों को क्या फल है, इस प्रकार पांचो कोटियों के मध्य में भगवान् नहीं हैं ।

ईश्वर गोपियों का भजन करता है, अर्थात् ईश्वर भी प्रतिभजन-फल दान आदि से करता ही है, इसलिये हम सब भी प्रतिभजन की प्रतीक्षा कर रही हैं ।

ईश्वर भजन करता है, इस पक्ष में भी शंका नहीं करनी चाहिये, इसमें हेतु कहते हैं कि (हे सख्यः) गोपिकायें तो भगवान् की सखियां हैं, और रस में तुल्य-बराबरी की हैं, इनका एक अर्थ में ही अभिनिवेश है । गोपियों ने फल का उद्देश करके भजन नहीं किया, किन्तु शुद्ध पुष्टि-मार्ग की रीति से भजन किया है, इसलिये मैं ने भी फलदान नहीं किया है ।

दूसरी बात यह है कि गोपियों की भगवान् में ईश्वरबुद्धि नहीं है, केवल सख्यभाव से रमण किया है, इसलिये प्रतिभजन की अपेक्षा नहीं है, यह भाव है ।

श्लोक में 'अहं' पद है, इसका अर्थ मैं भगवान् हूँ जीव नहीं हूँ, कृतघ्न आदि दोष जीव में हैं, मुझ भगवान् में नहीं होते हैं, भगवान् तो निर्दोष पूर्ण विग्रह आदि हैं, इससे 'अकृतज्ञ' आदिका भगवान् में निषेध कहा है, तथापि भगवान् में आत्माराम आदिका श्रुति में प्रतिपादन किया है, फिर तुम आत्माराम आदिका निषेध क्यों करते हो ।

इस प्रकारको जानने की इच्छा में कहते हैं कि (तेन) जब कृष्ण स्वयं भगवान् हैं, जीव नहीं हैं, इस प्रकार वर्णन किया है, तब इससे आत्माराम आदि पक्षभी भगवान् में संभव नहीं होते हैं, कारण कि 'अहंराम एव न त्वात्मारामः' । भगवान् कहते हैं गोपियो मैं तो राम ही हूँ ।

यहां पर कर्ता में घञ् प्रत्यय हुआ है, 'रमते-रामः' सर्वत्र ही रमण करता हूँ, राम सर्वत्र ही रमण करता है, 'आत्माराम' नहीं हूँ, आत्माराम अपनी आत्मा में ही रमण करने वाला होता है, अन्यत्र रमण करनेवाला नहीं होता है, इसलिए आत्मशब्द को अन्य व्यावर्तकत्व होने के कारण भगवान् में आत्मारामत्व नहीं है ।

'आत्मैवेदं सर्वम्' 'स सर्वं भवति' इत्यादि श्रुतियों से भगवान् सर्वरूप हैं, इसलिये आत्मा से व्यतिरिक्त-भिन्न पदार्थ नहीं हैं, अतः आत्मा में ही रमण करते हैं, अन्यत्र रमण नहीं करते हैं, भगवान् में आत्मारामत्व संभव नहीं है, इस बात को सुबोधिनी में कहा है कि 'ममात्म व्यतिरिक्त-पदार्थाभावात् व्यावर्त्यमस्ति' ।

मेरी आत्मा से व्यतिरिक्त भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं है, इसलिये व्यावर्त्य नहीं है, जीवों को आत्म, अनात्म विवेक होता है, मेरे लिये तो देह आदि और विषय आत्मरूप ही हैं ।

इसी प्रकार मुझे काम-इच्छा नहीं है, इसलिये ही 'आप्तकाम' नहीं हूँ अतः गोपियो मेरी भिन्न ही व्यवस्था है, जीव तुल्यता नहीं है ।

शुकदेव जो प्रभृति के आत्मा में भगवान् रमण करते हैं, इसलिये भगवान् को आत्माराम कहा है, भगवान् में तो 'यह आत्मा भिन्न है, इसमें मैं रमण करता हूँ' इस प्रकार का भेद नहीं है, अतः शुकदेव आदि मुनियों ने भिन्न पदार्थ की व्यावृत्ति-निषेध के लिये आत्माराम भगवान् को कहा है, अतः भगवान् में आत्माराम पक्ष नहीं है ।

इसी प्रकार 'सोऽकामयत' इत्यादि श्रुति में अभिध्याका उपदेश किया है, अर्थात् कथन मात्र से उपदेश किया है, काम का उपदेश नहीं किया है, 'अपुत्र पंडित पुत्र नहीं होता है', इस न्याय से आत्मकाम पक्ष भी निरस्त कर दिया है, अब उक्त व्यवस्था से भगवान् की भिन्न व्यवस्था है, उसका वर्णन करते हैं 'नाहं तु सख्यः' इत्यादि से ।

भगवान् कहते हैं कि हे सखियो ! मैं भजन करने वाले प्रणियों को नहीं भजता हूँ, भजन नहीं करने में अन्य ही हेतु है, उसको कहते हैं कि

(अमीषामनुवृत्तिवृत्तये) ऐ व्रज में रहने वाले ! सर्वजीवों की अनुवृत्ति मुझमें चित्त की वृत्ति लगने के लिये मैं भजन करने वालों का प्रत्यक्ष भजन नहीं करता हूँ किन्तु परोक्ष भजन करता हूँ ।

मूल में जन्तु पद से प्राणिमात्र को कहा है, इससे यह सूचन किया है कि साधनमार्गीय जीव भजन करने वालों का मैं भजन नहीं करता हूँ, उनको तो फल देकर निश्चिन्त हो जाता हूँ ।

भगवान् को किसी भी प्राणिमात्र का उपयोग नहीं है, भगवान् फलरूप हैं, इसलिये सर्व प्राणियों को ही भगवान् का उपयोग है, इस प्रकार उपयोग होने के कारण प्रणियों को भजन ही इष्ट-फलरूप भजन है, अथवा इष्टसाधन-इष्टसाधन रूप भजन है ।

कामना पूरी करने में भोग्य पक्ष में, विषय से भोक्ता—अर्थात् योग करने वाले पक्ष में इष्ट साधनत्व है, शेष दो पक्षों में इष्टत्व है, इस प्रकार विभेद है ।

इष्टसाधन पक्ष में दोनों के मध्य में साधन से भजन करना हो तो मैं यदि काम पूरा करने के लिये प्रवेश करता हूँ तो मैं भजन का नाश करता हूँ अर्थात् कामभोग से आगे भजन में प्रतिबन्ध हो जाता है, इसलिये भजन नष्ट हो जाये । कारण कि भजन करने वाले को भगवान् ही इष्ट है, इसलिये वह साधन भजन का नहीं हुआ, तथा पूर्वकृत भजन नित्य फल का साधन करने वाला न होने से व्यर्थ हो जाता है, अर्थात् भजन फल सिद्ध नहीं होता है, इसी बात को विस्तृत रूप से कहते हैं (चतुर्धाहि भगवदुपयोगः) भगवान् का उपयोग चार प्रकार से होता है ।

(१) भगवान् भोग्य है, (२) अथवा भोक्ता ।

भगवान् भोग्य है, इसमें दो प्रकार हैं, और भगवान् भोक्ता है, इसमें भी दो प्रकार हैं, इस प्रकार (४) चार प्रकार हैं ।

भोग्य है, इसका प्रथम प्रकार यह है कि भगवान् आलिङ्गन आदि से कामिनी स्त्री की अभिलाषा पूर्ण करते हैं, इसलिये उक्त प्रकार से कामिनी के भगवान् भोग्य हैं, दूसरा प्रकार यह है कि भक्त जिस प्रकार की इच्छा करता है, उसी प्रकार स्वरूपानन्द का अनुभव करता है ।

अब भोक्ता हैं इसके दो प्रकार कहते हैं ।

प्रथम प्रकार यह है कि भक्त का दिया हुआ पदार्थ स्वीकार करके भक्त को भक्ति सिद्ध करने के लिये भक्त के दिये पदार्थ के भोक्ता हैं ।

दूसरा प्रकार यह है कि विषयत्व से भोग करने के कारण भगवान् भोक्ता हैं, अर्थात् काम मात्र पूरकत्व में भोग्य हैं, और स्वेच्छा से भोग में भोक्ता हैं, इस प्रकार भगवान् का चार प्रकार से उपयोग होता है ।

उसमें प्रथम पक्ष में, अर्थात् कामना पूर्ण करके भोग्य पक्ष में भजन नष्ट हो जाता है ।

कामना पूर्ण करने से यदि भगवान् भोग्य हो जाते हैं तो अत्यन्त कामना अल्प हो जायेगी इसलिये उतनी कामना की पूर्ति होने पर आगे प्रयोजन का अभाव होने से भजन नष्ट हो जायेगा इसमें हेतु कहते हैं । (अल्पफलदानात्) अल्प फल को प्राप्त करके कामना की निवृत्ति हो जायेगी, और फिर कामना की निवृत्ति हो जाने पर भजन की अनुवृत्ति नहीं होगी ।

यदि कहो कि भगवान् तो अगणितानन्द हैं, इसलिये कामना पूर्ण करने के लिये भी भगवान् के सम्बन्ध में पूर्णानन्द का अनुभव ही होगा । अतः कामना पूर्ण करने से भोग्यत्व में क्या बाधा है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (स्वरूपतो महत्त्वेऽपि) भगवान् का स्वरूप यद्यपि महत्त्व-पूर्णानन्द है, तथापि कालपरिच्छेद से-अर्थात् काल से कामनाविषय रमणका परिच्छेद है, मर्यादित है, अतः इस कारण से उतने ही रमण से मनोरथ पूरा हो जाने पर आगे भजन की अनुवृत्ति नहीं होगी, अर्थात् कामियों का काम पूरा हो जाने पर फिर भजन करने में चित्त की वृत्ति लगती नहीं है ।

द्वितीय पक्ष में स्वतन्त्रता से भोग्यत्व पक्ष में तो अहर्निश विप्रयोग संयोग भेद से यदि भक्त अत्यन्त भजन करता है, तो स्वतन्त्रता से भगवान् फलरूप भोग्य होता है, इसलिये विप्रयोग दान के लिये भगवान् तिरोहित हो गये थे, अतः उक्त प्रकार से भगवान् की सरणि-मार्ग अन्य ही है, आत्माराम आदि चारों में भगवान् का अन्तर्भाव नहीं है । और पूर्वोक्त अतिभजन गोपियों में नहीं है, इस बात को सिद्ध करने के लिये भगवान् गोपियों का भजन नहीं करते हैं ।

अब आगे विषयन्याय से भगवान् भोग करते हैं, इस चतुर्थ पक्ष में दूषण कहते हैं (अपेक्षाभावात्) ।

भगवान् कहते हैं कि मुझे किसी विषय की अपेक्षा नहीं है, इसलिये विषयन्याय से भोक्ता नहीं हूँ ।

अब तृतीय पक्ष भक्त का दिया पदार्थ स्वीकार करने में कहते हैं कि (भक्त्यर्थं तु) भक्ति सिद्ध करने के लिये भक्ति से भक्त के दिये पदार्थ के भगवान् भोक्ता हैं, इस पक्ष में तो भक्ति के लिये—निरन्तर भक्ति सिद्ध करने के लिये भगवान् ने गोपियों का भजन नहीं किया, इसलिये जिस समय निरन्तर भक्ति होगी, उस समय भगवान् भोक्ता—भोग करनेवाले हो जायेंगे, इस प्रकार सिद्धान्त का संग्रह है ।

अब जिस प्रकार भगवान् भक्तों का भजन नहीं करे, और भगवान् के भजन न करने से भक्तों की भगवान् में अनुवृत्ति—आगे भजन सिद्ध होता है, उसका दृष्टान्त से प्रकार बतलाते हैं (यथाधनः) ।

जिस प्रकार कोई पुरुष प्रथम निर्बल है, पीछे उसको धन मिल गया, यदि वह धन नष्ट हो जाये, तो उस धन की चिन्ता से व्याप्त पुरुष धन की चिन्ता में ही एक निमग्न—डूबता हुआ अन्य किसी वस्तु को नहीं जानता है, यह बात लोक में प्रसिद्ध है, उसी प्रकार गोपियों की भी प्रथम भगवान् प्राप्त नहीं थे, पीछे प्राप्त हुए, फिर यदि प्राप्त भगवान् तिरोहित हो जायें तो भगवान् में ही मग्नचित्त होती गोपियां प्रपञ्च-जगत् का स्मरण नहीं करेंगी, इनका चित्त केवल भगवान् में लगा रहेगा, इस प्रकार भगवान् में ही एकचित्त वाली गोपियों के भजन का प्रयोजन फल तो पहिले द्वितीय पक्ष में अतिभजन करने पर स्वतन्त्रता से भगवान् भक्त के भोग्य बन जाते हैं, कहा है ॥ २० ॥

(सुबो०) एवं स्वस्याभजने हेतुमुक्त्वा प्रकृते तदभावमाह एवमिति ।

इस प्रकार भगवान् ने गोपियों का भजन न करने में हेतु कहकर अब गोपियों के विषय में अभजन का अभाव, अर्थात् भजन करनेको, अर्थात् मैं तुम्हारा भजन करता हुआ ही स्थित हूँ इस बात को भगवान् कहते हैं ।

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः ॥ २१ ॥

पदपदार्थ—(हे अबलाः) हैं अबलाओ (एवं) इस प्रकार (मदर्थोज्झितलोकवेद-स्वानां) मेरे लिये त्याग दिये लोक, वेद, अपने सगे सम्बन्धी जिन्होंने, इस प्रकार त्याग करने-वाली (वः) तुम्हारी सब की (मयि) मुझ में (अनुवृत्तये) चित्त की वृत्ति लगने के लिये (परोक्षं) परोक्ष (भजता) भजन करता हुआ (मया) मैंने (तिरोहितं) तिरोधान किया, (हे प्रियाः) हे प्रियाओ । (तत्) परोक्ष भजन करनेवाले (प्रियं) प्रिय (मा) 'मा', मुझको (असूयितुं) गुण में दोषारोपण करने को असूया कहते हैं, अतः निन्दा करनेकी (मा) नहीं (अर्हथ) योग्य हो ॥ २१ ॥

भाषार्थ—हे अबलाओ, इस प्रकार मेरे लिये लोकवेद और स्वजन-सगे सम्बन्धियों का त्याग करनेवाली तुम्हारी, मुझ में चित्त की वृत्ति लगनेके लिये परोक्ष-साक्षात् नहीं भजन करता हुआ मैं तिरोहित हुआ था, इसलिये हे प्रियाओ ! परोक्ष भजन करनेवाले प्रिय मुझको दोषारोपण करने के लिये तुम योग्य नहीं हो ॥ २१ ॥

(सुबो०) यदुक्तं ताभिररण्ये स्त्रियो रात्रौ कथं त्यक्तव्याः । तदर्थमेव मुच्यते । द्वयमत्र कर्तव्यम् । भजनानुवृत्त्यर्थमभजनम्, रात्रौ रक्षार्थं भजनं च । तत् परोक्षभजनेन सिध्यतीति मया परोक्षं भजता तिरोहितम् । भजने हेतुमाह एवमिति । मदर्थमेव उज्झितालोकवेदस्वाभिः । वृथा परित्यागव्यावृत्त्यर्थं मोक्षार्थं परित्यागव्यावृत्त्यर्थं च मदर्थमुज्झितेत्युक्तम् । आद्ये त्यागोनिष्ठहेतुः ।

द्वितीये न मम भारः । त्रयः पदार्थास्त्यक्तव्याः । लोको दुस्त्याज्यः । आर्यमार्गो वैदिकः । प्रकारस्तादृश इति । मयैव लोके तथैव प्रतीतिजननात् । पतिपुत्रा-दयो दुस्त्याज्याः । तत्रापि मयि प्राप्ते, किन्तु मदर्थे मत्कामनायामेव । तदा मे विचिकीर्षितो भवतीति । 'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'ति तादृश एव मम भाव इति त्रितयपरित्यागे मया भजनं कृतम् । (वस्तुतस्तु स्वपदं स्वात्मपरम् । अन्यथा पतिपुत्रादीनामपि लोकवेदमध्यपातात्तेनैव तत्प्राप्तेः स्वपदमनर्थकं स्यात् । तथा च स्वात्मत्वेन स्नेहविषयत्वाभाव एव तत्त्यागः । एतासां भगवदर्थत्वेन प्रीति-विषयत्वादात्मादीनामिति सारम् ।) युक्तश्रायमर्थः । अनन्याः पालनीया इति । वः युष्मान् । मय्यनुवृत्तय इत्येकं फलम् । अबला इति सम्बोधनात् न सतामिव प्रत्यक्षेण भवतीनां भजनं सिध्यतीति ज्ञापितम् । परोक्षं भजता अतिरोहितं वा । भजनं भोगो वा । भोक्त्रैव मया भोगं कुर्वता तिरोहितम् । भवतीभिर्न दूष्ट इत्यर्थः । अनेनाभजनपक्षो व्यावर्तितः । तस्मिन् सत्यसूया सम्भवति । अकृत-ज्ञत्वादोषारोपणेन मा मां असूयितुं नार्हथ । यतः प्रियम् । प्रिये दुष्टे स्वस्यापि तथात्वस्यावश्यकत्वात् त्यक्तुमशक्यत्वात् । किञ्च प्रिया यूयम् । कृतज्ञ-त्वादयो हि धर्मा न प्रीतिविषये भवन्ति । औदासीन्यसामानाधिकरण्यात् ॥ २१ ॥

गोपियों ने प्रथम भगवान् से कहा था कि वन में रात्रि के समय स्त्रियों का त्याग किस प्रकार करते हो, इस बात को ही इस श्लोक में कहते हैं कि यहां इस विषय में दो बात करनी चाहिये, एक तो भक्त भगवान् का भजन निरन्तर किया करे, इसके लिये भक्त का भजन भगवान् नहीं करते हैं ।

दूसरी बात यह है कि रात्रि में भक्त की रक्षा करने के लिये भजन करते हैं, ये दोनों बात परोक्ष भजन से सिद्ध होती है, इसलिये मैं परोक्ष से भजन करता तिरोहित हो गया था ।

अब भगवान् गोपियों के भजन में हेतु कहते हैं, (एवं मदर्थोज्झितेति) इस प्रकार मेरे लिये ही त्याग दिये लोकवेद तथा सगे सम्बन्धी जिनने, इस प्रकार की तुम सबको देखकर मैंने तुम्हारा भजन किया है ।

गोपियों ने जो लोकवेद तथा सम्बन्धियों का त्याग किया है, वह वृथा नहीं किया है, इसी प्रकार मोक्ष के लिये भी परित्याग नहीं किया है, किन्तु मेरे लिये त्याग किया है ।

प्रथम पक्ष-लोकवेद सम्बन्धियों का वृथा त्याग करने के पक्ष में अनिष्टहेतु फल है, अर्थात् वृथा त्याग में विधि के अभाव से किया त्याग त्याज्यों का दुःख सम्पादन करनेवाला होता है, इसलिये अनिष्टहेतु है ।

द्वितीय पक्ष—लोकवेद सम्बन्धियों का त्याग मोक्ष के लिये नहीं किया, इस पक्ष में तो यदि त्याग मोक्ष के लिये नहीं किया हो तो मेरे ऊपर भार रहता नहीं है ।

अथवा योजनाकार लालुभट्ट जी ने 'द्वितीयेन मम भारः' इस प्रकार पाठ स्वीकार किया है, उसके अनुसार अर्थ 'द्वितीयेन' द्वितीय से, अर्थात् मेरे लिये त्याग करने से (मम भारः) मेरे

ऊपर भार होता है, अर्थात् मैं तुम्हारा ऋणी हुआ हूँ, अतः ऋण के दूर करने के लिये परोक्ष भजन करते मैंने तिरोधान किया था, यह अर्थ है।

वास्तव में तो मैं तुम्हारा सबका ऋणी हूँ, इस बात को आगे के श्लोक में भगवान् कहेंगे।

मूल में मुद्रित (द्वितीये न मम भारः) इस प्रकार पाठ कुछ समीचीन प्रतीत होता है, लोकवेद तथा सगे सम्बन्धी, इन तीनों पदार्थों का त्याग करना चाहिये, लोक का त्याग करना अत्यन्त कठिन है, आर्य मार्ग वैदिक है, वैदिक मार्ग का त्याग करना भी कठिन है, उक्त मार्ग दुस्त्याज्य हैं, इसमें हेतु कहते हैं कि मैंने ही स्वयं लोक में इसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न किया है कि पति-पुत्र आदि दुस्त्याज्य हैं, इनका त्याग करना अत्यन्त कठिन है, उसमें भी गोपियों ने मेरी प्राप्ति होने के अनन्तर त्याग नहीं किया है, किन्तु मेरे लिये ही मेरे मिलने की कामना में ही त्याग किया है।

जिस समय इस प्रकार का भक्त होता है, उस समय मेरा विचिकीर्षित होता है, अर्थात् विविष्ट, सबसे अधिक चिकीर्षित, कृति-लीला, उस लीला का इच्छाविषय हो जाता है, अर्थात् उस भक्त में लीला करने की इच्छा मैं करता हूँ। 'यदा पुमास्त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे' जिस समय पुरुष समस्त कर्मों का त्याग करके आत्मनिवेदन करता है, उस समय मेरी विशेष (चिकीर्षित) करनेकी इच्छा होती है, इत्यादि वाक्य पूर्वोक्त वाक्य की पुष्टि करते हैं।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य' सर्वधर्मों का परित्याग करके जो मेरी शरण आता है, इस प्रकार के भक्त में ही मेरा भाव है, इसलिये पूर्वोक्त तीनों, लोक, वेद तथा सम्बन्धियों का परित्याग करने पर ही मैंने तुम्हारा भजन किया है।

मूल में 'स्व' पद का अर्थ पति पुत्रादि कहा है। और उक्त अर्थ में अरुचि मानकर श्री-गोविन्दलनाथजी कहते हैं कि वास्तव में तो 'स्व' पदका अर्थ आत्मपर है, पतिपुत्रादिपर नहीं है।

यदि 'स्व' का अर्थ पति पुत्रादि पर मानते हैं, और आत्मपर नहीं मानते हैं तो पति पुत्र आदि भी लोकमध्यपाती हैं, इसलिये लोकत्याग कथन से ही पति-पुत्रादि का भी ग्रहण हो जाता है, फिर 'स्व' पद अनर्थक हो जायेगा, अतः 'स्व' पदका अर्थ आत्मपर है।

गोपियों का अपनी आत्मा में स्नेह नहीं था, गोपियों ने अपनी आत्मा का त्याग किया, अर्थात् अपने आत्मत्व से पुत्रादि हमारे हैं, इस प्रकार से स्नेहविषय का अभाव ही पतिपुत्रादि का त्याग है, गोपियों की आत्मा आदि में जो प्रीति है, वह भगवदर्थ ही है। सार यह है कि भगवान् के विनियोग के लिये ही आत्मा आदि में प्रीति है, इस प्रकार अर्थ युक्त ही है, अन्य भक्तों का पालन करना ही चाहिये, यह अर्थ मूल के 'हि' शब्द से कहा है।

'वः' शब्द मूल में कहा है, इसकी आवृत्ति एक जगह षष्ठी, और एक जगह द्वितीया विभक्ति से करने पर इस प्रकार अन्वय होता है कि 'वः' युष्माकं, तुम्हारी सब की अनुवृत्ति के लिये, यह षष्ठी का, और 'वः' युष्मान् परोक्ष भजता तिरोहितं' तुमको सबको परोक्ष से भजन करता मैंने तिरोधान किया, यह द्वितीया का, अर्थात् लोक वेद आदि का त्याग करने वाली तुम सब का इस प्रकारका भजन सिद्ध न होने में अनुवृत्ति प्रकार से भजन सिद्ध करने के लिये तुम सबको परोक्ष से भजन करता हुआ मैंने तिरोधान किया था।

(हे अवलाः) हे अवलाओ इस संबोधन से भगवान् सूचित करते हैं कि जिस प्रकार मैं सत्पुरुषों का भजन प्रत्यक्ष करता हूँ, अर्थात् उनको प्रत्यक्ष मात्र से फल सिद्ध होता है, उस प्रकार आप सबका भजन सिद्ध नहीं होता है, किन्तु विप्रयोग से ही अनुवृत्ति रूप फल होता है, सत्पुरुषों का-सा प्रकार करने में तुम्हारा सामर्थ्य नहीं है, इसलिये 'अवला' पद कहा है, इसीसे मैंने तिरोधान किया था।

अथवा 'परोक्ष भजता अतिरोहितं' तुम सबका परोक्ष से भजन करता हुआ मैंने तिरोधान नहीं किया।

अथवा 'भजन भोग' भोक्ता मैंने भोग करते हुए तिरोधान किया था, तुम गोपियों ने मुझे नहीं देखा।

इस प्रकार भगवान् ने गोपियों का भजन नहीं करने का पक्ष निवारण किया है। यदि भगवान् गोपियों का भजन नहीं करे तो असूया संभव होती है, गुणों में दोष आरोप करने को असूया कहते हैं।

भगवान् गोपियों से कहते हैं कि मुझको आप सब अकृतज्ञ-कृतघ्न आदि दोष का आरोप करके असूया करने के लिये योग्य नहीं हो, कारण कि मैं तुम्हारा सबका प्रिय हूँ, प्रिय के दुष्ट होने पर अपने को भी दुष्ट होना आवश्यक है, जब मैं प्रिय दुष्ट हूँ, तो तुम सब गोपियां भी दुष्ट अवश्य होनी चाहिये, कारण कि तुम सब मेरा त्याग ही कर सकती हो, और तुम सब मुझको प्यारी हो इसलिये कृतज्ञत्व, तथा अकृतज्ञत्व धर्म प्रीति विषय में नहीं होते हैं, अर्थात् जिसमें निरुपाधिक प्रीति है, उसमें कृतज्ञ आदि धर्म नहीं होते हैं।

और जहां उदासीनता है, वहां प्रेम नहीं होता है, अपेक्षा बुद्धि होती है, वहां पर ही कृत-ज्ञत्व आदि धर्म होते हैं, इसी बात को वृत्रासुर चतुःश्लोकी में 'प्रियं प्रियेव' इस पद के व्याख्यान में श्रीमत्प्रभुचरण ने, प्रियपद से निरुपाधिक-उपाधिरहित स्नेहका निरूपण किया है।

इसी बात को किसी स्नेह के जाननेवाले ने कहा है कि—
'आविर्भाव' दिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि, क्षीयेतापि नवापराधविधिना नत्या न वैवर्धते। पीयूष प्रतिवादिनस्त्रिजगतां दुःख दुःखःसाम्प्रतं, प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाग्निष्ठता गोरवम्'।

अर्थात्, जिस दिन स्नेह हुआ, उस दिन स्नेह से थोड़ी भी हेतु की गणना नहीं की, और अपराध में कुछ भी कम नहीं हुआ और नति में बढ़ा भी नहीं, त्रिलोकी दुःख नाश कर अमृत वाणी बोलने वाले उस प्रेम गुरु के प्रेमका इस समय आज वाणीनिष्ठ गोरव को मैं क्या करूँ, अतः स्नेह करनेवाले दोनों के मध्य में सोपाधिक स्नेह किसी को भी नहीं करना चाहिये, इस प्रकार यहां सार कहा है ॥ २१ ॥

(सुबो०) एवं तासां मनोमार्जनमुक्त्वा भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुं ताः स्तौति न पारयेऽहमिति ।

इस प्रकार भगवान् गोपियों के मनका मार्जन—गोपियों के मनमें भगवान् दोषी थे, उसका मार्जन—समाधान से करके अब आगे भक्तिमार्ग के विरोधको दूर करने के लिये गोपियों की स्तुति करते हैं।

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलां संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधपूर्वाध्याये रासकीडायां गोपी-
सान्त्वनं नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।

पदपदार्थ—(निरवद्यसंयुजां) निर्दोषभजन युक्त (वः) तुम्हारे (स्वसाधुकृत्यं) उपकारका बदला (विबुधायुषा) ब्रह्मा की आयु से (अपि) भी (अहं) मैं (न) नहीं (पारये) कर सकता हूँ (याः) जो प्रसिद्ध तुम सब (दुर्जरगेहशृङ्खलां) जो कभी जीर्ण नहीं होती इस प्रकार की घररूप सांकरको (संवृश्च्य) काटकर (मा) मुझको (अभजन्) भजती थीं (तत्) वह तुम्हारे भजनका (वः) तुम्हारे (साधुना) साधुत्व से (प्रतियातु) प्रत्युपकार हो ॥ २२ ॥

भाषार्थ—निर्दोष भजन करनेवाली तुम्हारे उपकारका बदला ब्रह्मा की आयुसे भी मैं नहीं कर सकता हूँ, जो तुम सब ने दुर्जर-जीर्ण नहीं हो इस प्रकार की घररूप सांकर को काटकर मुझ को भजा है, इसलिये तुम्हारे भजन का बदला तुम्हारे साधुत्व से हो ॥ २२ ॥

(सुबो०) निरवद्यसंयुजां निर्दुष्टभजनयुक्तानाम् । स्वसाधुकृत्यं स्वप्रत्यु-
पकारकरणम् । विबुधायुषा ब्रह्मायुषा । मन्वन्तरपरिमितायुषा वा । विशेषेण
बुधानां ज्ञानिनामनन्तायुषा वा । न पारये । भजनप्रत्युपकारयोर्वैसादृश्यात् ।
भवतीनां भजनं निष्कपटम् । अस्मद्भजनं सकपटमिति । न ह्यल्पजलस्यापि तुल्यं
बह्वपि मरुमरीचिकाजलं भवति । सत्यभजनं ब्रह्मणोऽशक्यमेव, जीवधर्मत्वात् ।
तत्रापि विशेषमाह या माभजन्निति । दुर्जरा हि गेहशृङ्खला, या जीर्यतोऽपि
न जीर्यत इति । तां संवृश्च्य छित्वा । याः भवत्यः प्रसिद्धाः । मा मामभजन् । बहिः
यैः पूर्वं बद्धाः स्थिताः स्वार्थं तेषामर्थमात्मानं च मध्येव समर्पितवत्यः । बहिः
शृङ्खला त्यक्तुमपि शक्या । नतु सर्वत आवृते गृहं शृङ्खला । एवमलौकिककर्त्रीणां
यद् भजनं तद् भवतीनामेव । साधुना । भावप्रधानो निर्देशः । साधुत्वेन प्रति-
यातु, प्रत्युपकृतं भवतु । साधवो हि महत् कर्म कृत्वा स्वयमेव तुल्यन्ति, न तु
प्रत्युपकारमपेक्षन्ते । अतो मयि भजनं नास्ति । भजनस्य जीवधर्मत्वात् ।
अतोऽप्येव यदि स्वत एव सन्तुष्टा, तदा भजत, नो चेत् यथामुखं विधेयमिति
भावः । न ह्यशक्यं कश्चित् कर्तुं शक्नोतीति ॥ २२ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कंधविवरणे एकोनत्रिंशोऽध्यायविवरणम् ॥

(निरवद्यसंयुजां) इसमें करता में किप् प्रत्यय है, निर्वद्य-निर्दोष यथा स्यात्तथा-जिस प्रकार हो उस प्रकार (संयुज्जन्ति) संयुक्त करती हैं, अर्थात् निर्दोष भजनयुक्त गोपियों का प्रत्युपकार ब्रह्मा की आयु से, अथवा मन्वन्तर परिमित आयु से अथवा विशेष करके ज्ञानियों की अनन्त आयु से मैं उपकारका बदला नहीं कर सकता हूँ, कारण कि गोपियों का किया भजन और भगवान् के प्रत्युपकार में विलक्षणता है, दोनों समान नहीं हैं, गोपियों ने जो भगवान् का भजन किया है, वह निष्कपट किया है, और मैं भगवान् ने गोपियों का जो तुम्हारा भजन किया है वह कपटसहित किया है ।

थोड़े, जलके भी तुल्य बहुतसा मारवाड़ की भूमि में मृगतृष्णा का जल नहीं होता है, अर्थात् मारवाड़ देश में कांस के ऊपर सफेद फूल को जल की तरह दूर से देखकर मृग जल जानकर दौड़ता है, किन्तु पास जाने पर हताश हो जाता है, अतः वातविक थोड़े जल की अपेक्षा बहुतसा मृगतृष्णाका जल अल्पजल के भी बराबर नहीं हो सकता है ।

निष्कपट भजन तथा सकपट भजन में इतना इस प्रकार अन्तर है ।

सत्य भजन जीवधर्म है, इसलिये सत्य भजन तो ब्रह्मा के लिये अशक्य ही है । उसमें भी भगवान् कहते हैं कि 'या मा भजन्' गृह-घर रूप शृङ्खला-सांकर दुर्जर है, जो वह घर रूप सांकर जीर्ण-पुरानी हो जाती है, तो भी जीर्ण नहीं होती है, प्रतिदिन अधिक नवीन होती जाती है, इस प्रकार की गेह शृङ्खला को काट करके (याः) प्रसिद्ध आप सब मुझको भजती थीं ।

जिन पति पुत्रादि रूप सांकरों से पहिले तुम सब घर में बँधी हुई अपने स्वार्थ के लिये रहती थीं, उनके अर्थ को तथा आत्मा को मुझ में समर्पण कर दिया है ।

कोई बाहरी लोहे की सांकर को छोड़ भी सकता है, किन्तु चारों ओर से आवृत होने पर घर रूप सांकर को छोड़ नहीं सकता है, इस प्रकार अलौकिक कार्य करने वाली तुम ने मेरा जो भजन किया है, उस भजन का साधुत्व से प्रत्युपकृत-बदला हो यहां 'साधुता' यह भावप्रधान पद का निर्देश है, अतः साधुता-अर्थात् साधुत्वेन इस प्रकार अर्थ है ।

साधु पुरुष महत् कर्म करके स्वयं ही संतुष्ट होते हैं, प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं करते हैं, इसलिये मुझमें भजन नहीं है, मैं साधु पुरुषों का भजन नहीं करता हूँ, कारण कि भजन करना जीवधर्म है, इसलिये आगे भी यदि तुम सब अपने साधुकृत्य से स्वतः ही संतुष्ट हो जाओगी तो मेरा भजन करो, नहीं तो-और जो अपने साधुकृत्य से संतुष्ट नहीं हो, तो तुमको जिस प्रकार सुख हो, उस प्रकार करना चाहिये, यह भाव है, कारण कि कोई भी मनुष्य अशक्य कार्य नहीं कर सकता है, ॥ २ ॥

इस उक्त बाईसवें श्लोक के आभास में श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि 'भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुम्' ।

भक्तिमार्ग का विरोध दूर करने के लिये भगवान् गोपियों की स्तुति करते हैं । इस विषय का विचार गो० श्री विठ्ठलनाथ जी टिप्पणी में करते हैं यदि शंका करो कि 'नाहं तु सख्यः' इस बीसवें श्लोक में 'जन्तु' पद से कहा है, कि भगवान् साधन मार्ग वाले भक्तों का भजन नहीं करते हैं, और प्रकृत-गोपियों के प्रसङ्ग में भगवान् गोपियों का परोक्ष से भजन करता है, तथा गोपियों की भगवान् में निरन्तर चित्त की वृत्ति रहे इसकी सिद्धि के लिये तिरोहित हो, जो गोपियों का परोक्ष भजन किया, उसमें कारण भगवदर्थ लोकवेद सगे संबंधियों का त्याग बतलाया है ।

अतः गोपियों ने जो भगवान् का भजन किया है, उस भजन के अनुरूप भगवान् को गोपियों का भजन करना उचित है, किसी भी प्रकार की मर्यादा स्थापित करके गोपियों का भजन करना उचित नहीं है, अर्थात् गोपियों के भजनानुरूप भजन दासभाव से ही करना चाहिये। उसमें ऐश्वर्यादि रूप किसी भी मर्यादा का स्थापन नहीं करना चाहिये। यदि भगवान् मर्यादा लेशमात्र भी स्थापन करते हैं तो भक्तिमार्ग विरोध प्राप्त हो जायेगा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस वाक्य से भक्ति मार्ग में विरोध होता है, और गोपियों में जो दुःख का दर्शन हो रहा है, वह भी भगवान् ने गोपियों के भजन के अनुरूप भजन नहीं किया, इसीसे हो रहा है, इस प्रकारकी भक्त गोपियों को भगवान् का दुःख देना भक्ति मार्ग से विरुद्ध है।

इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ पर तुम्हारी शंका यह है कि भगवान् ने गोपियों के भजन के अनुरूप भजन नहीं किया है, इसमें हमारा कहना यह है कि भक्त के भजन के अनुरूप भजन करना तो प्रवाहिक धर्म रूप है, यह बात भगवान् में 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस गीता के श्लोक में कही है कि मेरे दिये फल की इच्छा करने वाले जिस प्रकार का भजन करते हैं, उस प्रकार का फल देकर मैं छुटकारा पा जाता हूँ अर्थात् उनको फल देकर मैं निश्चित हो जाता हूँ। इस आशय से भगवान् ने 'ये यथा मां' इत्यादि में कहा है।

यदि कहो कि गीतावाक्य का यही आशय है, इसमें क्या प्रमाण है। तब इस शंका में कहते हैं यहाँ 'यथा तथा' पादों में जैसा भक्त का भजन तैसा भगवान् का भजन, दोनों का एक स्वरूप कहा है, और गोपियों ने जो भगवान् का भजन किया है उसमें दास्य प्रकार है, वह दास्य प्रकार भक्त का ही धर्म है, ईश्वर में संभव नहीं होता है, ईश्वर कदाचित् दास्यधर्म करे भी तो वह अनुकरण की तरह होता है, किसी समय महाराज प्रसन्न हो कर अपने सेवक के अङ्ग का दर्शन करे तो वह दास नहीं हो जाता है, इसी प्रकार प्रकृत विषय—गोपियों के प्रसन्न में रसवश से मानिनी के चरण कमल के पराग का अनुराग करता हुआ भी पति ही है, दास नहीं होता है।

इस प्रकारसे गोपियों के ऊपर भगवत्कृत प्रत्युपकृति का संभव होना तथा भजन के अनुरूप भजन करना कहाँ संभव होता है, अतः सिद्ध होता है कि यद्यपि गोपियों को प्रत्युपकृति की अपेक्षा थी, किन्तु भगवान् ने प्रत्युपकृति नहीं की इसलिये प्रत्युपकृति न करने से भगवान् में दोष का आरोप नहीं करना चाहिये, कारण कि प्रत्युपकार करना अवश्य है।

यदि कहो कि जब ईश्वर प्रत्युपकार करने में अशक्त है, तो फिर भगवान् ने जो गोपियों का परोक्ष भजन किया, वह भी घट नहीं सकता है, और प्रत्युपकार रहित भजन में जिसके द्वारा दुःख हो इस प्रकार का कार्य भी करना सम्भव नहीं होता है, अर्थात् जिन गोपियों के भजन का प्रत्युपकार नहीं हो सकता है, इस प्रकार की गोपियों का परोक्ष भजन करके भगवान् गोपियों को दुःख संपादन करे, यह बात भी संभव नहीं होती है।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि, भगवान् रसात्मक हैं, यह सिद्धान्त श्रुतिसिद्ध निर्विवाद है।

रस, (१) संयोग (२) विप्रयोग, भेद से दो प्रकार का है, इन दोनों प्रकारों में से एक प्रकार नहीं हो तो रस संपूर्ण नहीं होता है, इसलिये गोपियों को प्रभु ने संपूर्ण रस का दान दिया है, इसके अनन्तर गोपियों में दोषारोपात्मक व्यभिचारी भाव की उत्पत्ति हुई, अर्थात् गोपियों ने भगवान् पर दोष का आरोप किया, उस समय भगवान् ने व्यभिचारी भाव को

शान्ति अपने वाक्यों से की, कारण कि दोष आगे रसानुभव में विरोधी है, इसलिये वचनोंसे शान्ति की, इस प्रकार को जानने से किसी प्रकार की शंका रहती नहीं है।

विप्रयोग के अभाव में रस पूर्ण नहीं होता है, इत्यादि कथन ने इस प्रकार की गोपियों को भगवान् ने दुःख दिया, यह भक्तिमार्ग से विरुद्ध है, इस शंका का भी निरास कर दिया है।

उक्त प्रकार सिद्ध होने पर प्रकृत विषय में दास्य प्रकार है, वह भक्त धर्म है, ईश्वर में संभव नहीं होता है, इत्यादि पहिले कहे अनुसार ईश्वरत्वही अशक्ति में—अर्थात् गोपियोंका भजन न करने में हेतु है, इस आशय से भगवान् ने 'न पारयेहं' इस २२ वें श्लोक में कहा है, इसी से श्री महाप्रभुजी ने सुबोधिनी में 'भक्तिमार्गविरोध' परिहर्तुं ताः स्तौति' भक्ति मार्ग का विरोध परिहार करने के लिये भगवान् गोपियों की स्तुति करते हैं।

यदि शंका करो कि इस २२ वें श्लोक में भगवान् ने अपने को ईश्वरत्व ही कहा है, गोपियों की स्तुति नहीं की है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (अयं भावः) यहाँ पर यह भाव है।

यद्यपि भगवान् ईश्वर है, इसलिए कही हुई रीति से प्रत्युपकार करना संभव ही नहीं होता है, तथापि भगवान् तर्क करके कहते हैं कि यदि, 'कथं चिदकरोः सचिवं दूतम्' भगवान् ने सचिव दूत का कार्य किया, इत्यादि स्थल में लीला से मुक्त में दास्यप्राप्त हो जाये, तथापि तुम्हारा निरन्तर दास्य करने पर भी कभी भी तुम्हारे ऋण से मुक्त नहीं हूँ।

इस प्रकार प्रभु ने गोपियों का निरवधि उत्कर्ष कहा है, अब इससे अधिक गोपियों की कौन सी स्तुति है।

यदि उक्त प्रकार न हो तो 'विबुधा युषापि' ब्रह्म की आयु से भी तुम्हारे भजन का प्रत्युपकार मैं नहीं कर सकता हूँ, इस प्रकार के वाक्य भगवान् नहीं कहते, कारण कि 'स्वसाधुक्रुत्यं न पारये' तुम्हारे उपकार का बदला मैं नहीं कर सकता हूँ, इतने से ही चरितार्थता हो जाती, फिर 'विबुधा युषापि' नहीं कहना था, इसलिये भगवान् ने सबसे अधिक गोपियों की स्तुति की है, इस प्रकार सिद्ध होता है।

यदि कहो कि पूर्वोक्त, अन्य भक्त साधारण की तरह मालूम पड़ता है। इस का स्पष्टीकरण करते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चार प्रकार के पुरुषार्थों की इच्छा करने वाले भक्तों को उक्त चार पुरुषार्थों का दान करना प्रत्युपकृति रूप है, तो भी जिसको आत्यन्तिक भक्ति योग प्राप्त हुआ है, उस भक्त को सेवा से अतिरिक्त-अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती है, कारण कि सेवा स्वतन्त्र पुरुषार्थ है, फिर इस प्रकार के भक्त में क्या प्रत्युपकार शेष रह जाता है, जो किया जाये।

प्रकृत में—गोपियों के प्रसन्न में भी गोपियाँ दास्य से अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं करती हैं, इसलिये प्रत्युपकृति की संभावना नहीं होती है, फिर यहाँ क्या विशेष है, अर्थात् अन्य भक्तों की अपेक्षा गोपियों में क्या विशेष है।

इस शंका के विचार में कहते हैं कि (अत्रेदं प्रतिभाति) यहाँ यह मालूम पड़ता है, कि अपेक्षित वस्तु के दान से प्रत्युपकार का संभव नहीं होता है।

जो अपेक्षित वस्तुका दान देने से प्रत्युपकार संभव होता हो, तो स्वल्प-थोड़ा कार्य करके अधिक वस्तु की इच्छा रखता है, तथा बहुत कार्य करके थोड़ी वस्तु की इच्छा रखता है, इनके अर्थ

में-अर्थात् उसके लिये दीयमान अर्थ में व्यभिचार हो जायेगा, भजन करनेवाले के अनुसार भजन न करने से नियम भङ्ग हो जायेगा, अतः स्वरूप से पूर्वं कृति के अनुरूप का अन्वेषण-खोजने योग्य है, इसमें अपेक्षा तथा अनपेक्षा प्रयोजक नहीं है, कारण कि स्वामिनियों के भजन के अनुरूप भजन करना ईश्वर में भी संभव नहीं होता है, फिर जीव में संभव न हो तो इसमें क्या बात है।

इस प्रकार प्रत्युपकृति का स्वरूप तथा गोपियों के भजन का स्वरूप निश्चय करके अब साधारण का परिहार करते हैं कि (यच्चोक्तं) जो पहिले कहा है कि जिसको आत्यन्तिक भक्ति योग प्राप्त हुआ है, उस भक्त को सेवा के बिना दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती है, इत्यादि के विषय में भी कहते हैं कि वे लोग-आत्यन्तिक भक्तियोग प्राप्त हुए पहिले सकामत्व से-कामना सहित बुद्धि से अथवा नित्य कर्तव्य-कर्म बुद्धि ज्ञान से प्रवृत्त होते हैं, बीच में भगवान् के अनुग्रह से सेवा रस का अनुभव होने पर अपने स्वार्थ के लिये अन्य सर्वपदार्थ की अपेक्षा का त्याग करते हैं, भगवान् के लिये सर्व पदार्थों का त्याग नहीं करते हैं, इस प्रकार की उत्तरोत्तर सेवा संपादन करके केवल भगवत्सेवा से ही साध्य सुखदान ही उक्त प्रकार के भक्तों में भगवत्कृत प्रत्युपकृति है। और यहां गोपियों के विषय में तो (त्वदुपासनाशाः) भा० १०।२६।३८ आपकी सेवा करने की आशा से गृह आदि का त्याग करके हम सब आई हैं, 'एवं मदर्थोज्जितलोकवेद' भा० १०।२९।२१ इस प्रकार तुमने मेरे लिये लोकवेद, सगे-संबंधियों का त्याग किया है, इत्यादि वाक्यों से भगवान् की प्राप्ति से पहिले ही व्रजभक्तों ने गृह आदि का त्याग कर दिया।

व्रजभक्तों का प्रभु में सहज स्नेह है, इसलिये प्रभु के सुख में अपना उपयोग मानकर, प्रभु के उपयोग में जो प्रतिबन्ध था, उसको दूर करके अपने को भगवान् के लिये निवेदन किया; इसी से अ० २८ श्लो० १९ 'यत्ते सुजात चरणाम्बुसुहं स्तनेषु' इत्यादिवाक्य राजास तामसी गोपियों के यथावत् उपपन्न होते हैं, और 'एवं मदर्थोज्जित' इस श्लोक में 'स्वानां' इस पद से स्व का-आत्मा का त्याग भी कहा है।

स्वार्थ के लिये अन्य समस्त पदार्थों का त्याग तो लौकिक तथा अलौकिक पुरुषों में भी संभव होता है, किन्तु यथाकथञ्चित् भी 'स्व' आत्मा का त्याग लौकिक अलौकिक पुरुषों में संभव नहीं होता है, यहाँ 'स्व' पद का अर्थ आत्मा है।

गोपियों को अपनी आत्मा में, यह हमारी आत्मा है, इस प्रकार का भाव नहीं है, अर्थात् आत्मा में स्नेह विषय अभाव ही गोपियों का आत्मत्याग है, कारण कि अपनी आत्मा तथा देह आदि भगवान् के उपयोगी हैं, इस भाव से आत्मा आदि गोपियों के स्नेह विषय हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् के लिये गोपियों को आत्मा प्रिय है, अपनी आत्मा के लिये भगवान् प्रिय नहीं है।

खण्डिता मानिनी नायिका आदि के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिये, कि जिस समय खण्डिता मानिनी नायिकाओं द्वारा सम्पादन किये सुख को भगवान् अङ्गीकार नहीं करते हैं, उस समय खण्डिता को दुःख होता है, और मानिनी को मान होता है, इसलिये जो भक्त भगवान् को सुख संपादन करता है, उसका प्रत्युपकार बदला कौन कर सकता है, अर्थात् कोई नहीं कर सकता है।

यदि शंका करो कि भगवान् को सुख देने के लिये जो साधन भगवान् सिद्ध करते हैं, उन साधनों को ही प्रत्युपकृति मान लो।

तो इसके उत्तर में कहते हैं कि यहां भाव ही साधन रूप है, वह भाव पहिले से ही गोपियों में था, अर्थात् पहिले भाव विद्यमान होता है, तब पश्चात् अन्य साधन होते हैं, पूर्व स्थित साधन,

भाव संपादन नहीं करते हैं, इसलिये भाव पूर्व कक्षापन्न है, और वह भाव स्वामिनियों में सदा एकरूप नित्य है, इसलिये उसका भाव का संपादन करनेवाला साधन, भगवान् कैसे कर सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि जो कार्य भाव बल से ही होता है, उसमें भगवान् की कृति की अपेक्षा नहीं रहती है, कारण कि 'वशेकुर्वन्ति मां भवत्या' भक्ति से भक्त मुझे वशमें करते हैं, भा० ९।४।६६ दुर्वासा के प्रसङ्ग में इस प्रकार वाक्य भगवान् ने कहा है, और भी कहा है कि 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति' कोई मेरी चरण सेवा में लगे हुए एकात्मता-सायुज्यमोक्ष भी नहीं चाहते हैं, इत्यादि प्रारम्भ करके जो सेवा रस में आसक्ति युक्त हैं, 'पश्यन्ति ते मे' ३। २५। ३५ वे सन्त मेरे स्वरूप रस का अनुभव करते हैं, इस प्रकार स्वरूपानुभव कहकर 'भक्ति रनिच्छतो मे गति मण्वी प्रयुङ्क्ते' भा० ३। २५। ३६ स्वरूप रस की नहीं इच्छा करने वाले इस प्रकार के भक्तों को मैं अणुगति सायुज्य देता हूँ, इसप्रकार कपिल देवने कहा है।

फिर यहां गोपियों का तो रसमागं की रीति से अङ्गीकार किया है, इसलिये गोपियों की इच्छा के प्रतिकूल कभी भी भगवान् की कृति संभव नहीं होती है, कारण कि वह रस इसी प्रकार का ही है। और एकबात यह है कि (पूर्वोक्त) अन्य भक्तों का मार्ग धर्ममार्ग है, और गोपियों का मार्ग धर्मीमार्ग है, इसलिये अन्य भक्तिमार्गों से इतना विशेष है।

जिस प्रकार खद्योत-पट बाजनाओं से सूर्य की विशेषता है, उसी प्रकार अन्य मार्गों से पुष्टिमार्ग-गोपियों के मार्ग की विशेषता है, इसकी विशेषता कैसे कह सकते हैं, अतः भगवान् ने ठीक कहा है कि 'न पारये' तुम्हारा बदला मैं ब्रह्मा की आयु से भी नहीं कर सकता हूँ।

यद्यपि गोपियों ने जो घररूप सांकर का छेदन किया है, वह भाव के स्वभाव का कार्य है, अर्थात् भावबल से किया है, और वह भाव भगवान् के अनुग्रह से हुआ है, इसलिये घररूप शृंखला का काटना भी भगवान् ने ही कराया है, इसमें गोपियों की श्रेष्ठता नहीं आती है, तथापि गोपियों के लिये ही इस प्रकार का भाव भगवान् ने दिया है, अन्यभक्तों को नहीं दिया है, यही गोपियों का उत्कर्ष है, जिस उत्कर्ष के कारण गोपियों के लिये ही भगवान् ने भावदान किया, उससमय इस भावदान को ही प्रत्युपकृति रूपस्व भगवान् ने कहा है।

यदि कहो कि भावदान ही प्रत्युपकृति रूप है, तो फिर भगवान् ने 'न पारयेऽहं' कहा है, वह युक्त नहीं होगा। उलटा इस प्रकार का भावदान गोपियों के लिये करनेवाले भगवान् में प्रत्युपकार करना संभव नहीं होगा, विपरीतता प्राप्त हो जायेगी, अर्थात् प्रत्युपकार करने में अशक्यत्व प्राप्त हो जायेगा।

उक्त शंका के उत्तर में कहते हैं कि (अत्रेवं प्रतिभाति) यहां यह जान पड़ रहा है कि प्रभु पूर्ण अखिल शक्ति पूर्ण हैं, तोभी वह जिस कार्य को नहीं करता है, करने में अशक्त होता है, उस कार्य का जगत् में अत्यन्तभाव ही हो नहीं सकता है, यह निश्चय है।

जैसे भगवान् सर्वसामर्थ्यवान् है तो भी दूसरा ईश्वर करने का सामर्थ्य नहीं है, इसी से प्रभु ने कहा है कि 'जन्मकर्मभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः' न शक्यन्तेऽनुसृत्यतुमन्तस्वा-मयापि हि' मेरे जन्म कर्म नाम हजारों हैं, उनकी गणना मैं अनन्त होने के कारण नहीं कर सकता हूँ, यह वाक्य भगवान् ने मुचुकुंद के प्रति दशम उत्तरार्द्ध अ० ५१। श्लो० ३७ में कहा है, अर्थात् जिस प्रकार मेरे जन्म कर्म आदि अनन्त होने से मैं गणना नहीं कर सकता हूँ, उसी प्रकार मुझ में सर्वसामर्थ्य होते भी द्वितीय ईश्वर करने के लिये असमर्थ हूँ।

प्रकृत-गोपियों के विषय में तो गोपियों का केवल भाव रसात्मक से भगवदात्मक-भगवद्रूप है, इसलिये इस भगवद्रूप भाव के अनुरूप वस्तु न होने के कारण भगवान् में प्रत्युपकार करने की अशक्ति होनी ही निर्विवाद सिद्ध माननी चाहिये ।

यदि इस प्रकार प्रत्युपकार करने में अशक्यत्व नहीं मानते हैं, अर्थात् भगवद्रूप भाव के अनुरूप वस्तु मानते हैं तो भगवान् का ईश्वरत्व ही नहीं रहे, कारण कि अनुरूप वस्तु की सत्ता होनेपर 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' भगवान् के समान तथा अधिक कोई वस्तु नहीं दीखती है ।

इस श्रुति में कहा भगवान् का रूप सिद्ध नहीं हो सकेगा, इस प्रकार जानो । और पहिले जो दूषण कहा कि इस प्रकारका भाव देनेवाले भगवान् में प्रत्युपकृति असंभव होने के कारण विपरीतता प्राप्त हो जायेगी, अर्थात् विपरीतता प्राप्त का आशय यह है कि यद्यपि स्वामिनी संयोग विप्रयोग में भावात्मक रसात्मक प्रभुको अनुभव कराती हैं, उसी प्रकार स्वामिनियों को भी भगवान् अनुभव कराते हैं इसलिये स्वामिनियों के भजन के अनुरूप भजन करने की प्रभु में अशक्ति नहीं है, तथापि 'एवं मदर्थोऽभिक्त' इस २१ वें श्लोक में गोपियों का त्याग भी कहा है, इसलिये अपनी प्रत्युपकृति अपने ही आत्मगामी होती है, इसलिये प्रत्युपकार करने की अशक्ति निर्विवाद माननी चाहिये ।

इसके उत्तर में कहते हैं कि कर्म, ज्ञान तथा साधन मार्गीय भक्तिमर्यादा मार्गीय भक्ति ये तीनों मार्ग भगवान् ने जीवों के लिये किये हैं, और फल मार्गीय भक्तिमार्ग तो (पुष्टि-मार्ग तो) अपने लिये प्रकट किया है ।

यदि फलात्मक भक्तिमार्ग भगवान् प्रकट न करते तो रसात्मक स्वरूपानन्द का अनुभव अपने को नहीं होता, 'तस्मादेकाकी न रमते' कारण कि अकेले से रमण नहीं होता है, यह श्रुति कह रही है, इसलिये भावदान आदि से भी स्वार्थ ही कहा है, अर्थात् गोपियों को जो भावदान भगवान् ने किया है, वह भी अपने स्वार्थ के लिये किया है, अतः कहा हुआ विपरीत्य दूषण भी भगवान् में नहीं है ।

यदि कहो कि भावदान भी भगवान् ने अपने स्वार्थ के लिये ही दिया है तो भी 'न पारयेऽहं' यह युक्त नहीं होता है, अर्थात् भगवान् ने स्वरूपात्मक आनन्द अपने भोग के लिये स्वामिनियों में स्थापन करके स्वयं भोग किया, तो स्वामिनीकृत उपकार का अभाव होने के कारण 'न पारयेऽहं' इस प्रकार का कथन युक्त नहीं होता है ।

इस उक्त शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह आनन्द स्वरूपात्मक है, तो भी इन स्वामिनियों के द्वारा ही इस आनन्द का अनुभव भगवान् को होता है, तथा अनुभूत-अनुभव की हुई वस्तु ही इस प्रकार की है जो गोपियों द्वारा ही इस वस्तु का अनुभव होने से भगवान् का इस प्रकार का कथन रसात्मक आनन्दमय स्वरूप का ही निरूपण करने वाला है, (यथा) जिस प्रकार "यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्, विस्मापनं स्वस्य च सीभगद्धैः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्" यहां वस्तु स्वरूप का निरूपण किया है, अर्थात् जिस प्रकार तृतीयस्कंध अ० २।१२ में उद्धवजी ने विदुरजी से वस्तुस्वरूप निरूपण किया है, इसमें भगवान् का सौंदर्य सर्वदा विस्मय कराने वाला है, तो भी अपने को विस्मय करानेवाला जो कहा है वह दर्पण आदि देखने से जिस प्रकार अपने सौंदर्य को देखकर विस्मय होता है, उसी प्रकार यहां भगवान् को विस्मय कराने वाला वस्तु स्वरूप निरूपण किया है ।

उसी प्रकार भगवान् का रसात्मक स्वरूप श्रुतिसिद्ध सर्वदा ही है, तथापि जिस समय स्वामिनियों के सम्बन्ध से भगवान् रस का अनुभव करते हैं, उस समय रसात्मक स्वरूप का अनुभव होने से अपने को विस्मय होता है ।

इस प्रकार सर्व शंकाओं का परिहार करके 'न पारयेऽहं' इसमें कहा सर्व निर्दोष है ।

यहां श्लोक के पूर्वार्ध से ही गोपियों की स्तुति हो जाती है, फिर श्लोक के उत्तरार्ध कथन का तात्पर्य कहते हैं कि मूल सुबोधिनी में कहा है कि (अतो मयिभजनं नास्ति) यहां उपकृति को ही प्रत्युपकृति रूप कहा है, इसलिये उपकृति से भिन्न प्रत्युपकृतिकी अपेक्षा में सोपाधिक भजन कार्य होता है, अर्थात् प्रत्युपकार की अपेक्षा करने से भजन करने पर ही सोपाधिक भजन संभव होता है, इस बात को श्री महाप्रभु जी ने 'नो चेत्' से कहा है, अर्थात् यदि आप सब को इस समय प्रत्युपकार की अपेक्षा हुई है, तो 'यथा सुखं तथा भजनं विधेयम्' जिस प्रकार आप सब को सुख हो उस प्रकार का भजन करना चाहिये, उसी प्रकार में भी प्रत्युपकार के लिये भजन करूंगा, तथापि मेरा प्रत्युपकार नहीं होगा, कारण कि आप सब में असंभावित है, अशक्य होने के कारण, अशक्य कोई कर नहीं सकता है, प्रत्युपकृति अशक्य में यहां सोपाधिभजन का असंभावना रूप भगवन्निष्ठ भी हेतु है, इस प्रकार जानना चाहिये ।

भगवान् में स्वामिनी विषयक सोपाधिभजन संभव नहीं है, इसलिये प्रत्युपकृति करना अशक्य है ॥ २२ ॥

इति श्री भागवत सुबोधिनी श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज श्रीमद्वल्लभदीक्षित विरचित दशम-

स्कंध २९ वें अध्याय का उपलब्ध साहित्य सहित मथुरास्थ जगन्नाथ चतुर्वेदीकृत

भाषा विवरण पूर्ण हुआ

अथ पञ्चमोऽध्यायः

(श्रीमद्भागवत सुबोधिनीफलप्रकरण पञ्चम अध्याय ३०)

(सुबोधिनी कारिका)

त्रिंशत्तमे हरिः प्रीतो लीलां कामकृतामपि ।
इन्द्रादिदुर्लभां चक्रे स्वानन्दार्थमितीर्यते ॥ १ ॥

अस्याः सर्वोपकाराय फलश्रुतिरुदीर्यते ।
लौकिक्यपि यदा दृष्टिस्तदा सिद्धान्त इर्यते ॥ २ ॥

रसात्मकस्तु यः कामः सोत्यन्तं गूढ एव हि ।
अतः शास्त्रं प्रवृत्तं हि तृतीयं भारतं तथा ॥ ३ ॥

अतोऽत्र भगवांश्चक्रे नृत्यं कारितवांस्तथा ।
सर्वाङ्गेषु तु यो लीनः स यथा व्यक्ततां व्रजेत् ॥ ४ ॥

जलं वायुश्च सामग्री श्रमात् शीताच्च जायते ।
अत्रैव लोके प्रकटमाधि दैविकमुत्तमम् ॥ ५ ॥

कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते न चापरः ।

तीसवीं अध्याय में हरि ने प्रसन्न होकर इन्द्र आदि देवताओं को दुर्लभ अलौकिक प्रकार से तथा शास्त्र में कही लौकिक प्रकार से लीला अपने आनन्द के लिये लोक में प्रकट की है, उस लीला का वर्णन शुक्रदेवजी करते हैं ॥ १ ॥

'तासामाविरभूत्' इस २९ वें अध्याय के दूसरे श्लोक के आभास में 'कृष्ण एव जातः' भगवान् ब्रह्मा विष्णु रुद्र होकर पुनः कृष्ण ही हो गये, इससे यह कहा है कि गोपियों में अपना सत्तानन्द भगवान् ने स्थापन किया है, इस समय इस प्रकार की लीला करने में प्रीतिहेतु कहा है ।

प्रीति आनन्द धर्म है, इसलिये प्रीतियुक्त लीला की है । तब इसका इस प्रकार अर्थ होता है कि गोपियों में अपना सत्तानन्द स्थापनपूर्वक लीला की है, प्रथम २९ वें अध्याय की अपेक्षा यह बात यहां विशेष है, यहाँ 'इतीर्यते' इसमें 'इति' शब्द हेतु-वाची है, 'लीलां चक्रे' इस में (लोके प्रकटां) इस प्रकार शेष और जोड़ना चाहिये, तब वाक्यार्थ इस प्रकार हुआ कि यद्यपि भगवान् की यह लीला अतिगोप्य है, अत्यन्त गुप्त रखने योग्य है, इसका वर्णन करना उचित नहीं है तथापि प्रभु ने लोक में प्रकट लीला की है, इस हेतु से इस अध्याय में वर्णन की जाती है, यदि उक्त बात न होती तो श्रीमहाप्रभुजी कारिका में 'इति' पद न कहकर 'रसलीलैर्यते' इस प्रकार कहते ।

श्रीमद्भा० स्क० १०, अ० ३०]

श्रीसुबोधिनी

४०७

यह लीला दो प्रकार की है, (१) एक अलौकिक चंद्र प्रकाशवाली रात्रियों में अलौकिक प्रकार वाली लीला, जिसका वर्णन इस तीसवीं अध्याय में 'यथा मदच्युद्विरदः करेणुभिः' इस २५ वें श्लोक तक किया है ।

इसके आगे काव्यकथा पद में अतिदेश से दूसरी लीला कामशास्त्र में कही रीति के अनुसार लौकिक चंद्र प्रकाशवाली रात्रियों में लौकिक प्रकार की है, इसका वर्णन 'एवं शशाङ्कानु' इस अध्याय के २६ वें श्लोक में किया है ।

इन्द्र विषय भोग में अधिकारी है, इसलिये मूल में इन्द्र का नाम लिया, है, वास्तव में तो ब्रह्मादि देवताओं को भी यह लीला दुर्लभ ही है ।

कामशास्त्र के अनुसार की हुई लीला लोक का अनुसरण करने वाली है, अर्थात् जिस प्रकार लोक में पुरुष करते हैं, उस प्रकार भगवान् ने की है, इस प्रकार जहाँ कामशास्त्रानुसार लोक रीति से की हुई लीला भी इन्द्रादि देवताओं को दुर्लभ है, तो फिर अलौकिक लीला इन्द्रादि देवताओं को दुर्लभ हो तो इसमें क्या कहना है ॥ १ ॥

सर्वलोकों के ऊपर उपार करने के लिये इस लीला के फल का वर्णन पीछे के श्लोक में किया है, इस लीला में कदाचित् लौकिक दृष्टि हो जाये तो इस विषय में सिद्धान्त का वर्णन किया है ॥ २ ॥

उक्त लीला के वर्णन में फलश्रुति की सङ्गति नहीं होती है । इस शका के समाधान में कहते हैं कि 'अस्याः सर्वोपकाराय' इस लीला की 'विक्रीडितं व्रजवधूभिः' इत्यादि से जो फलश्रुति कही है वह सङ्गत नहीं होती है, इसमें कारण यह है कि लोक में काम-कथा होती है, और वह काम की वृद्धि करती है, इस प्रकार देखा गया है, इसलिये काम-वृद्धि की शंका से वैराग्य की इच्छा करने वाला कोई पुरुष कदाचित् भगवान् की इस लीला का श्रवण नहीं करे, तथा भक्ति की इच्छा करने वाला भी विचार करे कि माताओं की रहस्यवार्ता सुनना उचित नहीं है, इसके श्रवण से चित्त में वैषम्य रूप महान् दोष उत्पन्न हो जायेगा, इसी प्रकार की शंका से भक्त भी श्रवण नहीं करेंगे, अवशेष विषयी पुरुष रहे, यदि विषयी पुरुष ही लीला का श्रवण करेंगे, भगवान् की लीला जब हीनाधिकारी विषयी पुरुष ही श्रवण करेंगे तो इस लीला की उत्तमता नहीं होगी ।

उक्त सर्व शंकाओं के परिहार के लिये, तथा सबकी निःशंक श्रवण में प्रवृत्ति सिद्ध करने के लिये फलश्रुति अन्तिम में कही है, कि विषयी लोग भी प्रथम विषय का वर्णन जान करके विषय भावना से श्रवण करते हैं, तो भी इस लीला के स्वभाव से ही, उनके दोष निवृत्तिपूर्वक स्वरूप में परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जायेगी, इसी बात को कारिका में कहा है कि (लौकिक्य-पि यदा दृष्टिः) ।

जो कोई इस लीला के करने से भगवान् में दोष दृष्टि करे तो उसका समाधान अन्त में परीक्षित का प्रश्न और शुक्रदेवजी के उत्तर का तात्पर्य जानकर दोषदृष्टि का निरास कर ले । भगवान् ने गोपियों को सर्वथा प्रपन्न देखकर जो देने के योग्य ही नहीं, उस स्वरूपानन्द का दान दिया है, इस प्रकार की वस्तुस्थिति है ।

भगवान् रसात्मक हैं, और सब गोपियां भगवान् के रसात्मक स्वरूप में स्थित हैं । यदि गोपियों का प्रथम अन्य गोपों के साथ विवाह न हुआ होता तो रस का स्वरूप ही संभव नहीं होता कारण कि इस रस स्वरूप की मर्यादा इस प्रकार की है ।

इस प्रकार के अर्थ में किसी की बुद्धि में यह बात हो कि भगवान् तथा ब्रज भक्त दोनों की प्रवृत्ति लीला में विषयभाव से हुई अनुचित है ।

इस प्रकार की शंका करने वाले की वास्तविक रीति से तो उपेक्षा ही करनी चाहिये, तथापि प्रभु सबका उद्धार करने वाले हैं, इसलिये उक्त दोष बुद्धि वाले की अलौकिक बुद्धि जिस प्रकार से हो जाती है, उस प्रकार को कहना चाहिये, यह परीक्षित के 'संस्थापनाय' प्रश्न का तात्पर्य है ।

श्री शुक्रदेवजी ने 'दुर्जन भी प्रसन्न हो जाये' इस न्याय से शंका करने वाले परीक्षित को उत्तर दिया है ।

यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो आगे 'गोपीनां तत्पतीनां च' इस छत्तीसवें श्लोक में भगवान् ने जो परस्त्री का समागम किया, उस दोष का निरास किया है, किन्तु परस्त्री समागम दोष भगवान् को लगता नहीं है, इसलिये 'तेजीयसां न दोषाय' इस प्रकार तीसवें श्लोक में जो दोष का निषेध किया है, वह अयुक्त हो जाये, तथा 'नैतत्समाचरेत्' इस इकतीसवें श्लोक में कहा है, वह भी अयुक्त हो जाये, इस प्रकार 'कुत एव बन्धः' इस पैंतीसवें श्लोक तक शुक्रदेवजी ने लोकमत के अनुसार उत्तर दिया है, इससे आगे छत्तीसवें श्लोक से वस्तुस्थिति के अनुसार उत्तर दिया है यह भाव है ॥ २ ॥

रसात्मक काम अत्यन्त गूढ़ है, इसलिये उसके प्रकट करने के लिये तीसरा शास्त्र-कामशास्त्र तथा भरत मुनि प्रणीत भारतनाट्यशास्त्र प्रवृत्त हुआ है ॥ ३ ॥

अब श्री महाप्रभुजी भगवान् के अलौकिक प्रकार के रमण में नृत्य बंध आदि का उपयोग कहते हैं कि 'रसात्मकस्तु यः कामः' तीनों लोकों में रसात्मक काम गूढ़ ही है, देवता आदि भी काम से रस उत्पन्न करते अनुभव करते हैं, परन्तु उनका रसात्मक काम नहीं है, उसमें भी रस का लेश अंश मात्र का ही अनुभव करते हैं, रस का अनुभव नहीं करते हैं—

रस शब्द से आनन्द जानना चाहिये, कारण कि श्रुति प्रतिपादन करती है,

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ब्रह्म के आनन्द की मात्रा से ही अन्य समस्त प्राणी जीते हैं । इसलिये भगवान् किस प्रकार के रस का अनुभव करते नहीं हैं, इस प्रकार की जिज्ञासा में कहते हैं कि भगवान् जिस रस का अनुभव करते हैं, वह रस कहीं भी नहीं है, अतः निरूपम होने के कारण उसको कोई जान नहीं सकते हैं, इसी से भगवान् जिस रस का भोग करते हैं, वह अत्यन्त गूढ़-गुप्त है, कारण कि 'रसो वै सः' इस श्रुति के कथनानुसार स्वरूप से अभिन्न रूप है, अर्थात् स्वरूपात्मक है, उस गूढ़ रस के बोध करने के लिये वात्स्यायन, तथा भरत की प्रवृत्ति है, इसी बात को कारिका में कहा है कि 'अतः शास्त्रं प्रवृत्तं हि तृतीयं भारतं तथा' तृतीय वात्स्यायन प्रणीत कामशास्त्र, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में तृतीय कामशास्त्र है, इसलिये, तृतीय कहा है ।

नायक के स्वरूप में काम की स्थिति है, और नायिकाओं के एक-एक अङ्ग में काम की स्थिति है, इस प्रकार भेद कामशास्त्र में कहा है ।

'भारतं, भरत कृत सूत्र है ।

वह अलौकिक आनन्द रूप रस सर्वाङ्ग में गुप्तरिति से स्थित है, इसलिये गुप्तरस के प्रकट करने के लिये भगवान् स्वयं स्वामिनियों के साथ नृत्य करते हैं, तथा कराते हैं ॥ ३ ॥

रमण करने में श्रम होता है, इसलिये श्रम से तथा शीत से जल और वायु सामग्री रमण में होती है ।

यदि कहो कि नृत्य तथा बन्ध से उद्बुद्ध-जाग्रतरस से भोग संपन्न ही है, तथा स्वरूप से ही आनन्द दान भगवान् करते हैं, तो फिर 'ततश्च कृष्णो पवने' इस पच्चीसवें श्लोक में वर्णित जल तथा वायु का कहां पर उपयोग होगा ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'जलं वायुश्च' रमण, जल तथा स्थल के भेद से दो प्रकार का है, जल के रमण में जल सामग्री होती है, और स्थल के रमण में वायु सामग्री होती है, ये दोनों सामग्री इसलिये रमण में उपयोगी हैं कि स्वामिनी तथा भगवान् दोनों को श्रम होता है, इसलिये जल और वायु दोनों सामग्री रमण में अपेक्षित हैं ।

उक्त दोनों सामग्री जल तथा वायु शीतल ही अपेक्षित होती हैं । इसलिये शीतत्व, जल में तथा वायु में हेतु सामग्री होने में कहा है ।

तब इस प्रकार कारिका का अर्थ करना चाहिये कि जल तथा वायु रमण में श्रम तथा शीतत्व हेतु से सामग्री होते हैं, 'सोमभस्यल' इस २४ वें श्लोक में 'जलक्रीडा तथा 'ततश्च कृष्णो पवने' इस २५ वें श्लोक में स्थलक्रीडा का वर्णन है ।

कारिका में 'जायते' इसपद से ज्ञापन किया है कि यह अपूर्व सामग्री भगवत्लीलार्थ ही उसी समय उत्पन्न होती है ।

मूल कारिका में 'शीतात्' यह पद भाव प्रधान है, अर्थात् शीतत्वात्, इस प्रकार है ॥४३॥ अब इसलीला करने का प्रयोजन कहते हैं 'अत्रैव लोके प्रकटम्' इस लोक में आधिदैविकरूप जीवों का जिस प्रकार प्रकट हो जाये, यह लीला करने का प्रयोजन है, अर्थात् आधिदैविक जीवों का रूप कामरहित लौकिक वासनात्मक लिङ्गरहित हो जाता है, कारण कि 'कामं हृद्रोगमाश्रय-हिनोति' इस वाक्य में लिङ्ग भङ्ग का फल कहा है, इसलिये लौकिक लिङ्ग भङ्गरहित ही आधिदैविक रूप है ।

अब उक्त कारिका का इस प्रकार अर्थ होता है कि जीवों का आधिदैविक रूप इसी लोक में प्रकट जिस प्रकार से हो, उस प्रकार से कामाख्य उत्तम-उत्कृष्ट सुख का कृष्ण भोग करता है ।

उत्तम काम सुख तो मोक्ष में भी होता है, किन्तु यहां तो क्षर अक्षर से उत्तम पुरुषोत्तम का मोक्ष सुख से भी उत्कृष्ट सुख है, स्वरूपात्मक नहीं है, कामसुख भगवान् का ही स्वरूप है, अतः भगवत्स्वरूप बिना अन्य कोई इसका भोग नहीं कर सकता है ।

भूतल में इस लीला के प्रकट करने का कारण यह है कि इस लोक में ही जीवों का आधिदैविक रूप प्रकट हो जाये ।

जीव का आधिदैविक रूप प्रकट होने पर ही भगवान् का साक्षात् भजन कर सकता है । जैसे तो इस प्रकार का भजन व्यापि वैकुण्ठ में होता है, परन्तु भगवान् ने कृपा करके इस लोक में ही जीव आधिदैविक रूप प्राप्त करके भगवान् का साक्षात् भजन कर सके, इसके लिये यह लीला की है, और जो कोई भी पुरुष भगवान् की इसलीला का श्रवण करेगा, वह भी आधिदैविक स्वरूप प्राप्त करके भगवान् के साक्षात् स्वरूप का अनुभव करेगा ।

अब यहां कोई यदि शंका करे कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र बनाया, तथा वात्स्यायन मुनि ने कामसूत्र बनाया, इन दोनों ने जीव के लिये बनाया है, कारण कि वात्स्यायन ने शास्त्र की समाप्ति

में कहा है कि 'तदेतद् ब्रह्मचर्येण परमेण समाधिना । विहितं लोक, यात्रार्थं न रागाद्योऽस्य संविधिः' कामसूत्र ७।२।५७ मुञ्ज गौतम ने ब्रह्मचर्यपूर्वक परम समाधि से यह रसशास्त्र-कामशास्त्र कहा है, यह शास्त्र लोकनिर्वाह-व्यवहार के लिये तथा 'यात्रार्थ' रस रूप भगवत्प्राप्ति के लिये कहा है, राग के लिये इस कामशास्त्र की विधि नहीं है, यही प्रकार भारत के नाट्यशास्त्र में भी जानना चाहिये ।

और ब्रह्मा जी ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का वर्णन एक लाख अध्यायों में किया है, यह बात भी कामसूत्र में १-१-५ में कही है, इस प्रकार कामशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र में कही रसके प्रकट करने वाली प्रणाली को स्वीकार करने में रस को भगवद्रूपता नहीं रहती है, और रस को भगवद्रूपता स्वीकार करने में उक्त शास्त्र प्रणाली जीव के लिये होने के कारण व्यर्थ हो जाती है, इसलिये मूल से विरोध है ।

इस प्रकार दोनों प्रकार से पाशा रज्जु है, इस प्रकार पूर्व पक्ष का तात्पर्य है, जबकि कामशास्त्र आदि की रीति से प्रवृत्त जीव को भी उत्तम आनन्द मिलना संभव होता है, फिर भगवान् की लीला में कुछ विशेष आनन्द मिलना शेष नहीं रहता है ।

यदि कहो कि भगवल्लीला में प्रभु का स्वरूप ही विशेष है, तो इस प्रकार कहना ठीक नहीं है, कारण कि प्रभु स्वयं उद्बुद्ध-प्रकट रसात्मक है इसलिये फिर रस प्रकट करनेवाली सर्व सामग्री का प्रयोजन रहता नहीं है, किन्तु भगवल्लीला में रसोद्बोधक सामग्रीका वर्णन किया है, इसलिये प्रभु ने भी लोक का अनुसरण करके लीला की है, स्वरूप की प्रधानता से लीला नहीं की है, इस प्रकार मालूम होता है, इसलिये स्वरूप को भी विशेष नहीं कह सकते हो ।

इस शंका का समाधान करते हैं कि (मैवं) इस प्रकार मत कहो, कारण कि यहां मूल कामशास्त्र आदि में तथा कारिका में भगवान् के रसात्मक स्वरूप का ही वर्णन है ।

यह भगवान् का रसात्मक स्वरूप उद्बोधक-रस प्रकट करने वाली सामग्री सहित ही प्रकट हुआ है, केवल स्वरूप ही प्रकट नहीं हुआ है ।

यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो भगवान् का स्वरूप रसात्मक नहीं हो, कारण कि भगवान् का स्वरूप ही रसात्मक है ।

भगवान् के इस रसात्मक स्वरूप का विशेषता से भान अपने में अज्ञान होने के कारण नहीं हो सकता है, इसलिये भगवान् के रसात्मक स्वरूप का ज्ञान होने के लिये, भारतमुनि तथा वात्स्यायन मुनि ने अपने-अपने शास्त्रों में भगवान् के रसात्मक स्वरूप का वर्णन किया है, इसी से भगवान् ने भारत वात्स्यायन शास्त्र के अनुसार नृत्य तथा रमण किया है ।

और जगत् के जीव तो जिस प्रकार ब्रह्म पर श्रुतियों को जीव पर लगाते हैं, उसी प्रकार भारत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र तथा 'वात्स्यायन मुनि प्रणीत कामसूत्र को जीव पर जानकर प्रवृत्त हो केवल क्लेश पाते हैं, इस प्रकार जानना चाहिये । इसी बात को कारिका में श्री महा प्रभु जी कहते हैं, कि 'कृष्णो भुङ्क्ते न चापरः' कृष्ण के अतिरिक्त इस क्षर अक्षर से उत्तम पुरुषोत्तमात्मक सुख को अन्य कोई नहीं भोग सकता है ।

श्रुति में 'असद्वा इदमग्र आसीत्' 'ततो वैसदजायत' 'तदात्मानं स्वयमकुर्वत्' 'तस्मात् त्सुकृतमुच्यते' इति 'यद्वं तत्सुकृतम्' 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्धवानन्दी' भवति' तैत्तिरीय २-७ ।

यह प्रथम असत् था, इसमें से सत् उत्पन्न हुआ, ब्रह्म स्वयं आप जगद्रूप हुआ, इससे वह सुकृत कहा जाना है, जो यह है वह सुकृत है, परमात्मा रस है, जीव इस रस को प्राप्त कर के आनन्दी होता है, इस प्रकार श्रुति में प्रथम सृष्टि को असत्, असाधु-खराब कहा है, पश्चात् दूसरी सृष्टि को सत्-साधु-अच्छी कहा है, दूसरी सृष्टि को साधु कहने का कारण यह है कि यह सृष्टि ब्रह्मरूपा है, ब्रह्मसुकृत है, सुकृत, रस है, रसको आनन्द रूप कहा है, इस प्रकार दूसरी सृष्टि में रस प्रकट करने वाली सामग्री आदि प्रणाली विवक्षित नहीं हो । अर्थात् सामग्री आदि पद्धति की आवश्यकता नहीं हो, तो भगवान् ने स्वयं अपनी आत्मा को सृष्टिरूप किया है, इस प्रकार श्रुति नहीं कहती ।

यदि दूसरी सृष्टि अन्य सर्व सृष्टि की तरह होती तो पूर्व सृष्टि को असाधु-खराब नहीं कहती, और दूसरी सृष्टि को साधु-अच्छी है, इस प्रकार श्रुति नहीं कहती ।

यदि श्रुति में कहा रस मनका विकार, अथवा रस लौकिक होता, तो भगवान् ने अपनी आत्मा सृष्टिरूप से प्रकट की, और रस आनन्दरूप है, इस प्रकार भी श्रुति नहीं कहती । अतः भगवान् का जो स्वरूप प्रकट हुआ है, वह रस प्रकट करने वाली सामग्री सहित प्रकट हुआ है ।

इस प्रकार यह उद्बोधक आदि विशिष्ट भगवान् का स्वरूप श्रुतिसिद्ध है । इसी बात को श्री गो० विट्ठलनाथजी ने टिप्पणी में कहा है कि 'तत्स्वरूपस्यैव तथात्वादित्यन्तेन' कारण कि भगवान् का स्वरूप ही रसात्मक है, अतः रस प्रकट करने वाली सामग्री आदि प्रणाली अङ्गीकार करने पर भी रस के भगवद्रूपत्व होने में कोई हानि नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि 'ब्रह्मसूत्र अनुकृत्यधिकरण १-२।२२-२३ में कहा है कि सर्व पदार्थ भगवान् का अनुकरण करते हैं 'तमेव भान्तमनुमाति विश्वम्' इस विषय को वाक्य में कहा है कि प्रकाशमान परमात्मा का अनुकरण करके विश्व प्रकाश करता है, इसलिये वात्स्यायन मुनि प्रणीत कामशास्त्र तथा भारत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र में यदि लौकिक रस का प्रतिपादन किया है, तो भी मूल भगवद्रस का अनुकरण करके ही लौकिक रस का स्वरूप सिद्ध होता है, कारण कि लौकिक रस के दृष्टान्त से जीवों को अलौकिक भगवद्रस का अनुमान हो जायेगा ।

लौकिक रस परिच्छिन्न है, परिमित है, कारण कि श्रुति कहती है कि जीव भगवान् के आनन्द की एक मात्रा से ही जीता है, और अलौकिक भगवद्रस अपरिच्छिन्न-परिमित नहीं है कारण कि अलौकिक भगवद्रस सर्वत्र व्यापक है, लोक में अनुकरण मात्र से भगवद्रस का आभास ही प्रकट होता है, भगवद्रस प्रकट नहीं होता है और न जीव का ही रस प्रकट होता है ।

लौकिक रस का अनुभव करने में भी भगवद् रस के संबंध का लेशमात्र नहीं है ।

वात्स्यायन तथा भारतमुनिने कामशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र का जो निर्माण किया है, वह परोक्ष रीति से भगवद् रस का ही ज्ञान कराने के लिये किया है, यह बात उनके रचित शास्त्र से ही स्पष्ट है, स्पष्ट है, वास्तव में तो पद्मपुराण पाताल खंड रामाश्वमेध प्रसङ्ग में शेष वात्स्यायन संवाद से मालूम होता है कि वात्स्यायन ऋषि वैष्णव थे, इसी प्रकार भारतमुनि भी वैष्णव थे, कारण कि भारतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है, कि जो पुरुष नाट्यशास्त्र का ज्ञाता होता होगा, उसका मोक्ष होगा ।

और हनुमान रामभक्त ने भी नाट्यशास्त्र का निर्माण किया है, वह हनुमान जनकतनया-प्राणनाथ राम का परम भक्त था, इसलिये इस प्रकार के वैष्णव परम भक्त महापुरुषों का इतना

बड़ा प्रयास जीव के लिये धर्म, अर्थ, काम, इन तीन पुरुषार्थों की ही सिद्धि के लिये संभव नहीं होता है, किन्तु कही हुई रीति से मोक्ष प्राप्त करने के लिये साधन पर्यन्त ही संभव होता है।

और वात्स्यायन मुनि ने कामशास्त्र के सांप्रयोगिक नाम के द्वितीय अधिकरणमें कहा है कि 'ऋषां दशतयीनां चतुःषष्टि-संज्ञितत्वादिहापि तदर्थं संबन्धात्पाञ्चालसंबन्धाच्च बहुवचरेषा पूजार्थं संज्ञा प्रवर्तितेत्येके कामशास्त्र २-२-३ ।

दशमंडल वाला ऋग्वेद चतुःषष्टि संज्ञित है, इस कामशास्त्र में ऋग्वेद के अर्थ का संबंध है, इसलिये, तथा पंचाल, वाभ्रव्य आदि महर्षियों ने कामशास्त्र के विषय में चर्चा की है, इसलिये ऋग्वेदियों ने 'चतुःषष्टि' संज्ञा आदर करने के लिये कामशास्त्र को दी है, इस बात को कोई कहते हैं, इस प्रकार का सूत्र रचने वाले वात्स्यायन मुनि के संप्रयोग-आलिङ्गन, चुंबन आदि दश कार्य ऋग्वेद के आधार पर सिद्ध हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' सभी वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, यह श्रुति तथा 'वेदेष्व सर्वैरहमेव वेद्यः' समस्त वेद से मैं ही वेद्य जानने के योग्य हूं, यह गीता स्मृति है, इस प्रकार श्रुति स्मृति से वेद भगवत्पर सिद्ध है, अर्थात् सर्व वेद स्मृति भगवान् का वर्णन करते हैं, कामशास्त्र में वेद का ही अर्थ है, वेद भगवान् का ही वर्णन कर रहा है, इसलिये यह कामशास्त्र वेद की तरह परोक्षवाद से लीला सहित भगवान् का ही प्रतिपादन करता है, यह युक्त ही है।

नाट्यशास्त्र में नृत्य तथा संगीत का उपयोग होता है, संगीत आदि गान्धर्व विद्या सामवेद का उपवेद कहा जाता है, इसलिये नाट्यशास्त्र भी लीला सहित भगवान् का ही वर्णन कर रहा है, इस प्रकार वेदत्व दोनों शास्त्रों को सिद्ध होता है, इससे उक्त प्रकार के अर्थ को नहीं जानने वाले जीवों को भ्रान्ति हो जाती है, इस सब बात को ध्यान में रख कर श्री गो० विठ्ठलनाथजी ने कहा है कि 'तच्च विशेषतो न भावयितुं शक्यमज्ञानादिति तज्ज्ञानार्थं भरतवात्स्यायनाभ्यां तत्स्वरूपं निरूपितम्' भगवान् के इस रसात्मक स्वरूप का भान अज्ञान के कारण नहीं हो सकता है, इसलिये रसात्मक रूप के ज्ञान के लिये भरत तथा वात्स्यायन मुनि ने रसात्मक स्वरूप निरूपण किया है, इत्यादि कहकर 'बुध्यस्व' यहां तक वर्णन किया है, इसलिये उक्त विषय में किसी प्रकार की शंका का लेश भी नहीं है, इस प्रकार दशदिगन्त विजयी श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं ॥ ५३ ॥

(सुबो०) एवं पूर्वाध्याये तासां सर्वभावेन प्रमाणेन प्रमेयेन दुःखं दूरीकृतवान् । तद् दुःखमज्ञानतश्चेत्, तदैव दूरीकृतं भवति । अन्यथा भगवतैव दुःखं दत्तं स्यात् । अतो भगवता त्यक्त्वा न गतमिति न भगवान् दुःखे हेतुः, किन्तु ज्ञानमेव । अतो भगवद्वाक्यादज्ञाने गते तन्मूलकं दुःखमपि गतमित्याह इत्थमिति ।

इस प्रकार भगवान् की वाणी श्रवणकर गोपियां विरह से उत्पन्न ताप त्याग करती हुई । यदि कहो कि वाणी शब्द रूप है, इसलिये वाणी से ज्ञान उत्पन्न होता है, ताप निवृत्त नहीं होता है ।

तब इस शंका के उत्तर में पूर्व अध्याय २९ वें के अर्थ का अनुवाद करते हैं कि इस प्रकार पूर्व अध्याय में गोपियों का भगवान् में सर्व भाव होने के कारण प्रमाण से 'नाहं तु सख्यः' इस बीच

श्लोक से लेकर 'तद्वः प्रतियातु साधुना' इस २२ वें श्लोक तक वचनों से, तथा प्रमेय से-अपने प्रकट स्वरूप से भगवान् ने गोपियों का दुःख दूर किया है, यदि गोपियों को यह दुःख अज्ञान से हुआ होता तो उसी समय भगवान् दुःख दूर कर देते, और यदि गोपियों को अज्ञान से दुःख नहीं हुआ हो भगवान् ने ही हमको दुःख दिया है, इस प्रकार की गोपियों को संभावना हो जाती, इसलिये भगवान् हम गोपियों को छोड़कर नहीं गये, इस प्रकार का ज्ञान गोपियों को हो गया, अर्थात् हम गोपियों के दुःख में कारण भगवान् नहीं हैं, किन्तु गोपियों का अज्ञान ही है, इसलिये भगवान् के वचनों से गोपियों का अज्ञान दूर होने पर अज्ञान का कार्य दुःख भी दूर हो गया ।

यहां पर इस प्रकार क्रम है कि शब्द से अज्ञान निवृत्ति, अज्ञान निवृत्ति होने पर विरहरूप दुःख की निवृत्ति, विरहरूप दुःख की निवृत्ति होने पर तापनिवृत्ति हो गई, इस बात को आगे श्लोक में कहते हैं, इत्थं, इत्यादि से ।

श्रीशुक उवाच—

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।

जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥ १ ॥

पदपदार्थ— (इत्थं) इस प्रकार से (भगवतः) भगवान् के (सुपेशलाः) अति मनोहर (वाचः) वचनों को (श्रुत्वा) श्रवण कर (तदङ्गोपचिताशिषः) भगवान् के अङ्ग-अवयवों से पूर्ण मनोरथ वाली (गोप्यः) गोपियां (विरहजं) विरह से उत्पन्न (तापं) तापको (जहुः) त्याग कर दिया ॥ १ ॥

भाषार्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-इस प्रकार भगवान् के अति मनोहर वाक्यों को श्रवण कर भगवान् के अङ्गों से जिनके सर्व मनोरथ पूर्ण हुए इस प्रकार की गोपियां विरह से उत्पन्न ताप को त्याग करती हुई ॥ १ ॥

(सुबो०) भगवतो वाचः श्रुत्वा विरहजं तापं जहुः । अमादेवास्माकं विरहो जात इति । ननु वचनमात्रेण कथमज्ञाननिवृत्तिः, तत्राह भगवत इति । गोप्य इति विपरीतभावनानिवृत्त्यर्थम् । ननु ता वाचः कथं न मनसि सन्देह-मुत्पादितवत्यः, तत्राह सुपेशला इति । अतिमनोहरा इति । मनसि विचिकित्सायामेव सन्देहः । शब्दस्वाभाव्यादेव मनसि सन्देहो न जातः । अतो विरहजं तापं जहुः, नास्माकं विरहो जात इति ज्ञातवत्यः । यथा स्वप्नादुत्थितः स्वापिकं दुःखं न मन्यते । तस्य भगवतः अङ्गैरुपचिता आशिषो यासाम् । भगवत्कार्यव्यतिरेकेणैव भगवदवयवैरेव सर्वमनोरथाः पूरिताः ॥ १ ॥

भगवान् के वचनों को श्रवण कर गोपियां विरह से उत्पन्न ताप को त्याग करती हुई, गोपियों ने जाना कि हमको विरह से जो दुःख हुआ, वह केवल भ्रम से हुआ है, इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर परोक्ष भजन रूप अज्ञान दूर हो गया ।

यदि कोई शंका करे कि विरह शृङ्गार रस का द्वितीय दल भगवद्रूप है, इसलिये उसका भ्रम से उत्पन्न होना कैसे संभव हो सकता है ।

इस शंका का समाधान करते कहते हैं कि यद्यपि आपने जो कहा है, वह सत्य है, तथापि जो विरह भगवदात्मक है, वह भिन्न ही है, उसकी निवृत्ति नहीं हुई, भगवदात्मक विरह तो रस रूप है, और नित्य है, इसकी निवृत्ति कभी भी नहीं होती है, किन्तु जिन भक्तों में भगवान् हमको छोड़कर चले गये, इसलिये भगवान् से हमारा संबंध नहीं है, इस प्रकार की बुद्धि थी, भीतर हृदय में भगवत्स्फूर्ति नहीं थी, अथवा भगवान् का रमण नहीं था, अथवा भगवान् की लीला की स्फूर्ति नहीं है, किन्तु जो कृतघ्न बुद्धि से प्रकट हुए भगवान् में अच्छे प्रकार से सुख का अनुभव नहीं करता है, उसमें वह अज्ञानजन्य विरह था, वह भगवान् के वचनों से नष्ट हो गया।

गोपियों में तो दोनों प्रकार के विरह की स्थिति है, उसमें भगवदात्मक विरह भगवान् के प्रकट होने पर तिरोहित हो गया तथा द्वितीय-भ्रम से उत्पन्न विरह की तो भगवान् के वाक्यों से निवृत्ति हो गई, इस प्रकार जानना चाहिये।

यह द्वितीय विरह अज्ञान से उत्पन्न होता है, इसलिये वास्तविक नहीं है, 'भवतीनां वियोगे मे न हिसर्वात्मना वचित्'।

आप सबका सर्वात्मा होने के कारण मुझसे कभी वियोग नहीं है, इस प्रकार भगवान् ने वियोग के अभाव का वर्णन किया है।

यदि शंका करो कि भगवान् के केवल वचन मात्र से गोपियों का अज्ञान कैसे निवृत्त हुआ, कारण कि जब तक वक्ता में आत्मत्व का निश्चय नहीं हो तब तक उसका वाक्य नहीं मानना चाहिये।

यदि कहो कि भगवत्त्व से आत्मत्व का निश्चय गोपियों को हो गया है, तो फिर पहिले जो अनुभव किया है, उसको भी दृढ होने से दो प्रकार के ज्ञान में संशय हो जायेगा, इसलिये श्री महा-प्रभु जी 'ननु' आदि शब्द से पूर्व पक्ष कह कर कहते हैं कि 'भगवतः' भगवान् के वाक्य हैं, इसलिये इनमें आत्मत्व का संदेह ही नहीं होता है।

तथा मूल में 'गोप्यः' पद कहा है, वह यह सूचन करता है कि नगर में रहने वाली स्त्रियों की जिस प्रकार कुतर्क-खोटे तर्क से बुद्धि बिगड़ जाती है, उस प्रकार गोपियों की बुद्धि कुतर्क से बिगड़ी नहीं है, अतः गोपियों में विपरीत भावना नहीं है।

यदि कहो कि भगवान् की वाणी ने गोपियों के मन में संदेह उत्पन्न क्यों नहीं किया, कारण कि पूर्व अनुभव से विरोधी वचन भगवान् ने कहे हैं, तथा भगवान् में आत्मत्व का निश्चय गोपियों ने कर लिया था।

इस शंका का समाधान करते कहते हैं कि (सुपेशलाः) भगवान् के वाक्य अति मनोहर हैं।

मन में परस्पर विरुद्ध ज्ञान जब होता है, तब संशय होता है, प्रकृत गोपियों के प्रसङ्ग में तो गोपियों को भगवान् के वचनों के प्रभाव से पहिले ही पूर्व सान्निध्य का अनुभव इस समय संपन्न हो गया, इसलिये अनुभव विरोध नहीं है, इसी से संदेह भी नहीं है। भगवान् के वचनों का स्वभाव मन के हरण करने वाला कहा है, इसलिये भी गोपियों के मन में संदेह उत्पन्न नहीं हुआ, कारण कि भगवान् के शब्द मनोहर होने के कारण भगवान् ने जो गोपियों का परोक्ष भजन किया था, उसका अनुभव गोपियों के मन में हो गया, इसलिये गोपियों ने भगवान् के विरह से उत्पन्न ताप त्याग दिया, हमको विरह नहीं हुआ, इस प्रकार गोपियों को ज्ञान हो गया, जिस प्रकार

स्वप्न से उठा पुरुष स्वप्न में हुए दुःख को नहीं मानता है, उस प्रकार गोपियों ने भी भगवद्विरह नहीं माना, भगवान् के अङ्गों से गोपियों के पूर्ण मनोरथ हो गये, अर्थात् भगवत्कार्य-स्पर्श आदि के बिना ही भगवान् के अवयवों से ही पूर्ण हो गया।

"सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमदभ्रुवा" अ० २९ श्लो० १५ में कहा है कि हास्य सहित लीलायुक्त दर्शन द्वारा विलास करती भ्रुकुटि से भगवान् ने काम उद्दीपन किया तथा गोपियां अपनी गोद में पधराये भगवान् के चरण संबंध वाले हस्तों से लाड लड़ाती हुई, इसलिये भगवान् की भ्रुकुटि आदि चरण तथा हस्तादि अवयवों से ही गोपियों के सर्वमनोरथ पूर्ण हो गये, पूर्व कहे श्लोक में इस प्रकार विशेषणों के कहने से भविष्य रमण, विशेषणों द्वारा अवयवों द्वारा सूचन करते हुए ही भगवान् ने वचन कहे हैं, इसलिये भगवान् के अवयव वचन के अङ्ग होते हैं, अतः अवयव कृत पूर्ण मनोरथ भगवान् की वाणी कृत ही है, अर्थात् जो मनोरथ पूर्ण भगवान् के अवयवों से होते हैं, वह वाणी से भी पूर्ण होते हैं, इस भाव से आगे श्लोक के आभास में प्रस्तावना में श्री महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि गोपियों के सुख में प्रतिबंध था, वह भगवान् ने वाणी से दूर कर दिया है, इस प्रकार जानना चाहिये ॥ १ ॥

(सुबो०) एवं दुःखाभावसुखयोः प्रतिबन्धकं रूपेण वाचा च निवार्य स्वकर्तव्यमारभते तत्रारभतेति ।

इस प्रकार गोपियों का दुःख दूर करने में तथा सुख में प्रतिबन्धक ताप भगवान् ने स्वरूप द्वारा तथा वाणी द्वारा निवारण किया।

अब शुकदेव जी कहते हैं कि भगवान् अपने कर्तव्य का प्रारम्भ करते हैं। पहिले २९ वें अध्याय के नवम श्लोक में 'सर्वास्ताकेशवालोकपरमोत्सव निवृत्ताः' जहु-विरहजं तापं' कहा है कि गोपियां विरह से उत्पन्न ताप का त्याग करती हुई। इससे ज्ञात होता है कि ताप दो प्रकार का है, और दोनों तापों का वर्णन यहां अनुवाद से किया है, प्रतियोगी पदार्थ अभाव में प्रतिबन्धक होता है, जिस प्रकार घट के अभाव का प्रतियोगी घट होता है, वह घट घट के अभाव में प्रतिबन्धक है, इसी प्रकार यहां दुःख के अभाव में प्रतिबन्ध करने वाला दुःख है, उसका निरूपण पहिले 'सर्वास्ताः' इस श्लोक में ताप शब्द से किया है।

उक्त ताप को भगवान् ने अपने स्वरूप से निवारण किया है। इस प्रकार 'सर्वास्ताः' इस श्लोक में निरूपण किया है, इसी से वहां सुबोधिनी में 'अनिष्ट निवृत्तिमाह' अनिष्ट-दुःखकी निवृत्ति कहते हैं, इस प्रकार कहा है, अब जिस सुख का निरूपण करेंगे, उस सुख में प्रतिबन्ध करने वाली गोपियों के अङ्ग में कृशता आदि है, उस कृशता आदि का वर्णन इसी अध्याय के प्रथम श्लोक में ताप शब्द से किया है, इसलिये प्रथम श्लोक में 'तदङ्गीपचिता-शिषः' यह कहा है, अर्थात् गोपियों के अवयव 'आशिषः' भगवान् ने व्रतचर्या प्रसङ्ग में वस्त्र-दान करके कालक्रम बिनाही सम्पादन-पूर्ण कर दिये, कारण कि गोपियों के अङ्गों में कृशता आदि विद्यमान रहे तो क्षीणरस हो जाये, इसलिये अवयवों की कृशता आदि निवारण कर रमणयोग्य कर दिये।

इस प्रकार उक्त दोनों प्रकार के ताप की निवृत्ति, प्रतिबन्धक अभाव रूप भगवान् के स्वरूप दर्शन से तथा वचन श्रवण से अपने आप ही सिद्ध हो गई, इसके लिये भगवान् को प्रयत्न नहीं करना पड़ा, यह भाव है।

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।

स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥ २ ॥

पदपदार्थ—(तत्र) उस यमुनापुलिन में (गोविन्दः) गाय आदि का इन्द्र भगवान् (अन्योन्याबद्ध बाहुभिः) परस्पर हस्तों को पकड़ कर (प्रीतैः) प्रसन्न (अनुव्रतैः) रस योग्य (स्त्रीरत्नैः) स्त्रीरत्न गोपियों से (अन्वितः) युक्त (रासक्रीडाम्) रासक्रीडा को (आरभत) प्रारम्भ किया ॥ २ ॥

भाषार्थ—उस समय यमुना पुलिन में गोविन्द भगवान् परस्पर हस्तों को पकड़ कर रस योग्य प्रसन्न स्त्रीरत्न गोपियों से युक्त रासक्रीडा प्रारम्भ करता हुआ ॥ २ ॥

(सुबो०) गोविन्द इति एतदर्थमेवेन्द्रो जातः । अतोऽसाधारणो भोगश्च तस्या-
वश्यक इति च । अनुव्रतैः स्त्रीरत्नैरन्वितः रासक्रीडामारभत । बहुवर्तकी-
युक्तो नृत्यविशेषो रासः रसस्याभिव्यक्त्यर्थस्मादिति । रसप्रादुर्भावार्थमेव हि
नृत्यम् । रासे क्रीडा लीला स्वस्य । क्रीडायां मनसो रसस्योद्गमः । नृत्ये देहस्य ।
कामस्तु भोक्तृनिष्ठ इति स्वप्राधान्यम् । समाजेनापि रस उत्पद्यत इति एक-
वचनम् । तदा हीक्षुरसवद् भक्तिरसवद्वा कामरसोऽप्युत्पद्यते । गोपिकानां
रसयोग्यतामाह अनुव्रतैरिति । अनुव्रतं यासाम् तासामपि रसोत्पादनमावश्यक-
मिति । यादृशो भगवतोऽभिप्रेतः, तादृश एवेति च । नन्वयं रसः अलौकिकः,
न लौकिकेषूपपद्यते, अतो व्यर्थ आरम्भः । न हि सिकतासमूहात् तैलमुत्पद्यत
इति चेत् तत्राह स्त्रीरत्नैरिति । स्वभावतः स्त्रियस्त्रिविधाः, लोकभेदेन । तत्रापि
मानुषीषु जातिभेदाश्चत्वारः पद्मिन्यादयः । वासनाभेदाश्चतुर्दश अश्वप्रकृत्या-
दयः । सर्वास्वेवैता रत्नभूताः । स्वासाधारणधर्मैस्तद्धर्मप्रकाशिकाः । अतः
सर्वभावेन रसोत्पत्तियोग्यता । तैरन्वित इति । स्वयं नायकमणिः । तद्योग्या
एते मणय इति । एकरसत्वाय च मेलनम् । अनेन रसप्रकटनार्थं शुल्कदासिका
भगवते दत्ता इति यदुक्तम्, तदपि समर्थितम् । नन्वेते जीवाः, भगवानानन्दमयः,
कथं वैषम्याद्रसोत्पत्तिरिति चेत्, तत्राह प्रीतैरिति । ता अपि भगवत्सदृश्यो
जाताः । सर्वतः प्रीता इति । तासामभिनवेशप्रकारमाह अन्योन्याबद्ध-
बाहुभिरिति । ताः परस्परमासमन्तादुभयतः बद्धौ बाहु यासाम् । न तु भग-
वता सह ॥ २ ॥

मूल में गोविन्द शब्द कहा है, इसका आशय इस प्रकार है कि भगवान् ने जीवों का आधि-
दैविक रूप प्रकट करने के लिये लीला की है, इसलिये तथा भगवान् इस लीला को करने के लिये
ही गोविन्द हुए हैं, इसलिये असाधारण भोग भी करना भगवान् को आवश्यक है ।
अर्थात् भगवान् ने गोपियों का अङ्गीकार किया है, इसलिये फलदान करने के लिये रास-

क्रीडा कर्तव्य है, गोविन्द पद से इन्द्र निरूपण किया है, 'इदि' धातु का व्याकरण में परम ऐश्वर्य
अर्थ कहा है, अतः भगवान् को असाधारण भोग करना आवश्यक है, 'गोविन्द इति चाम्यधात्' इस
वाक्य में जो 'च' है उससे गोपों का इन्द्र, व्रज का इन्द्र, गोकुल का इन्द्र इत्यादि नाम भी प्रकट
हुए हैं, इसलिये गोकुलेन्द्र होने के कारण गोकुल संबंधी असाधारण भोग भगवान् को करना
चाहिये, यह अर्थ है ।

भगवान् अनुव्रत स्त्रीरत्नों से युक्त रासक्रीडा प्रारम्भ करते हुए बहुत सी नाचने वाली
जिसमें होती हैं, उस नृत्य विशेष को रास कहते हैं । यह रास का लक्षण रूढि सिद्ध है, और 'रसानां
समूहो रासः' रसों का समूह जिसमें होता है, वह रास है, यह लक्षण योगिक है । कारण कि नृत्य
से रस प्रकट होता है, नृत्य वास्तव में रस प्रकट करने के लिये ही है, इसका विग्रह लेखकार इस
प्रकार करते हैं कि 'रसस्यायं रासः' रस का यह रास-अर्थात् रस का अभिव्यंजक नृत्य है ।

रास में भगवान् की क्रीडा-लीला को रास क्रीडा कहते हैं । अब रास और क्रीडा में भेद
वर्णन करते हैं कि (क्रीडायां) क्रीडा में मानसिक रस आनन्द का उद्गम-आविर्भाव, प्रकट होता
है, और नृत्य में दैहिक आनन्द का आविर्भाव होता है ।

नृत्य रास पद वाच्य है, नृत्य को रास कहते हैं, इसलिये रास में देह का आनन्द प्रकट
होता है, इस प्रकार क्रीडा तथा रास में भेद जानना चाहिये । इसीसे सुबोधिनी में 'रासे क्रीडा'
इस प्रकार रास और क्रीडा में भेद से व्याख्यान किया है ।

यद्यपि रस शब्द से कहे आनन्द का आविर्भाव मन में भी होता है, तथापि भगवान् की
सर्व परिकर अलौकिक होने के कारण सच्चिदानन्दरूप है, इसलिये सर्वत्र आनन्द विद्यमान होता
है, तो फिर देह में भी आनन्द का आविर्भाव युक्त ही है ।

यहां क्रीडा में यद्यपि नायिकाओं का प्राधान्य कहना चाहिये था, तथापि भगवान् की
प्राधानता का वर्णन जो 'गोविन्द' कह कर किया है, उसका कारण श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि
'कामस्तु भोक्तृनिष्ठः' काम तो भोगने वालों में रहता है, इसलिये भोक्ता भगवान् का प्राधान्य
है, क्रीडा, कामरूप मानसिक आनन्द के उद्गम में हेतु है, वह आनन्द भोक्ता में रहता है, इसलिये
भोक्ता का ही प्राधान्य 'तत्रारभत गोविन्दः' इसमें गोविन्द पद से कहा है ।

अनेक नायिकाओं में भिन्न-भिन्न रस उत्पन्न होना चाहिये था किन्तु रस अनेक प्रकार
का है, तो भी सर्व समाज से भी एक रस उत्पन्न होता है, इस बात को सूचन करने के लिये यहाँ
'रासक्रीडा' इस प्रकार एक वचन कहा है, जिस समय समाज में रास क्रीडा होती है, उस समय
ईश्वर के रस की तरह, अथवा भक्तिरस की तरह एक कामरस भी उत्पन्न होता है, अर्थात्
जिस प्रकार बहुत से ईश्वर के दण्डों से निकला हुआ रस ईश्वर होने के कारण एक ही होता है,
अथवा जिस प्रकार भक्तिरूप अधरसुधारस अनेक स्वामिनियों के मुखारविन्द से भी निकला सुधा-
रस होने के कारण एक ही है, इसीसे 'अन्तःप्रविष्टो भगवान्' इस कारिका में एक वचन कहा है ।

उसी प्रकार कामरस भी सर्व गोपियों से निकला कामरसत्व होने से एक ही है ।
भगवान् सर्व स्वामिनियों को एक करके भोग भोगते हैं, सुबोधिनी में 'समाजेनापि'
इसमें 'अपि' शब्द कहा है, वह अपि शब्द नृत्य रस का बोध करता है, अतः 'रासे क्रीडा' काम-
लीला, इस प्रकार अर्थ होता है, इसीसे 'स्वस्य' कामभोक्ता भगवान् की प्राधानता कही है ।

आगे तो नृत्य तथा कामरस का प्रत्येक गोपी में पर्यवसान कहेंगे ।

अब गोपियों की रस योग्यता कहते हैं कि 'अनुव्रतः' भगवान् के अनुसार गोपियों का व्रत है, इसलिये गोपियों को भी रस उत्पादन करना आवश्यक है।

जिस प्रकार का रस भगवान् को रमण करने की उत्कण्ठा से गोपियों में उत्पादन करना आवश्यक-इच्छित होता है, उसप्रकार का रस गोपियों को भी रमण करने की उत्कण्ठा से इच्छित होता है, इसलिये गोपियां अनुव्रत हैं, इसीसे भगवान् को गोपियों में रस प्रकट करना आवश्यक हो जाता है।

अथवा 'अनुव्रत' शब्द का अर्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकारके रसका उत्पादन भगवान् को अनुव्रत गोपियों के ऊपर परम अनुग्रह से करना अभीष्ट है, उसी प्रकार का रस गोपियों को भी अभीष्ट है इसलिये दोनों का एक अभिप्राय होने से रस का उत्पादन है।

अर्थात् जिसप्रकार का रस भगवान् को अभीष्ट होता है, उसको ही गोपियां प्रकट करती हैं, कारण कि गोपियां अनुव्रत हैं, भगवान् के अभिप्राय के अनुकूल ही रस प्रकट करती हैं। इस प्रकार 'अनुव्रत' शब्द का अर्थ कहा है।

यदि कोई शंका करे कि कहा हुआ रस अलौकिक है, लौकिकों में उत्पन्न नहीं होता है, इसलिये सर्व आरम्भ व्यर्थ है, अर्थात् 'पादभ्यासः' इस वक्ष्यमाण ८ वें श्लोक में पादआदि शरीर के अवयवों में से रस निकलने के लिये ही रासका प्रारम्भ है, फिर गोपियों की आत्मा तो अलौकिक है किन्तु शरीर के अवयव तो लौकिक हैं, यदि लौकिक न होते तो शरीर के अवयवों का लक्षण पद्मिनी आदि के व्यवहार से नहीं होता, कारण कि पद्मिनी आदि का परिचय करने के लिये लौकिक अवयवों से कामशास्त्र में लक्षण किया है, इसलिये अलौकिक रस लौकिक अवयवों में उत्पन्न नहीं होता है, और न ठहरता ही है, अतः गोपियों के अवयवों से रस निकलना कैसे संभव हो सकता है।

उत्पत्ति का अर्थ सत्ता भी माना गया है, 'अपत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः' इस सूत्र में व्याख्यान किया है, इसलिये ठहरता नहीं है, इस प्रकार भी अर्थ होता है, बालू के समूह से कहीं तैल निकलता होगा। इसलिये आपने जो कहा है कि बहुत सी स्वामिनियों द्वारा भी एकरस उत्पन्न होता है, इत्यादि सब कहना आपका व्यर्थ है।

अब इस शंका के उत्तर में कहते हैं (स्त्रीरत्नः) स्वर्ग, मृत्यु और पाताल, इस प्रकार लोक भेद से स्त्रियां स्वभाव के कारण तीन प्रकार की होती हैं। उसमें भी मनुष्य लोक की स्त्रियों में पद्मिनी आदि चार जातिभेद हैं, और वासना भेद से अश्वप्रकृत्यादि चौदह हैं। उक्त सर्व स्त्रियों में गोपियां रत्न रूप हैं, अर्थात् गोपियां अपने असाधारण धर्म जो पद्मिनीत्व आदि हैं, उन धर्मों को यत्किञ्चित् स्थापन करने से लौकिक स्त्रियों के लौकिक अंगों में पद्मिनीत्व आदि धर्म का प्रकाशन करने वाली गोपियां हैं, इतने से लौकिक स्त्रियों का पद्मिनीत्वादि धर्म गोपियों में होता नहीं है, किन्तु पद्मिनीत्वादि धर्म गोपियों के अवयवों का ही है, लौकिक स्त्रियां तो अपना धर्म पद्मिनीत्व आदि प्रकाशन करती हैं।

जिस प्रकार श्री पुष्टि, आदि भगवान् की द्वादश शक्तियों का कुछ भाग लौकिक पदार्थों में स्थापन होने से लौकिक पदार्थ श्री, पुष्टि आदि धर्म वाले कहे जाते हैं, वास्तव में तो श्री, पुष्टि आदि लौकिक पदार्थों की शक्ति नहीं हैं। भगवान् की ही हैं। इसी प्रकार पद्मिनी आदि धर्म गोपियों के हैं लौकिक स्त्रियों के नहीं हैं, लौकिक स्त्रियों में तो गोपियों से कुछ अंश आये हुए प्रकट होते हैं।

गोपियां तो सर्व स्त्रियों में रत्न सदृश हैं, यह अर्थ है।

जिस प्रकार कङ्कण आदि में जड़े हुए रत्न अपने असाधारण धर्मों से कङ्कण आदि आभूषणों में भी चमक आदि प्रकाश कर देते हैं, उसी प्रकार गोपियां भी रत्न सदृश कङ्कण रूपी स्थानीय लौकिक स्त्रियों में चमक रही हैं।

योजनाकार कहते हैं कि गोपियां अपने असाधारण धर्म कुश अङ्गत्व मृगयनीत्व, चन्द्रमुखीत्व आदिरूप धर्मों से स्त्रीरत्नत्व का प्रकाशन करने वाली हैं, इसलिये गोपियां सर्वभाव से रस की उत्पत्ति करने में योग्य हैं, इस प्रकार पूर्व शंका का समाधान किया है।

इस प्रकार की स्त्रीरत्न गोपियों से युक्त भगवान् हैं, जिस प्रकार मणियों के मध्य में मणि पदक होता है, उसी प्रकार स्त्रीरत्नमणि गोपियों के मध्य में भगवान् नायकमणि हैं, सर्व गोपियां भगवान् के योग्य मणि हैं।

एक रस उत्पन्न करने के लिये भगवान् तथा गोपियां परस्पर मिले हैं, क्रीडा करने के लिये भगवान् गोपियों से युक्त हुए, अर्थात् काम के हेतु से युक्त हुए—मिले।

इस प्रकार कथन से रस प्रकट करने के लिये शुल्क दासिका हमको काम ने आपके लिये—भगवान् के लिये समर्पण किया है।

इस प्रकार पूर्व में गोपिका गीत के दूसरे श्लोक में जो कहा है, उसका समर्थन कर दिया है। यदि कोई शंका करे कि गोपियां तो सर्व जीव हैं और भगवान् आनन्दमय हैं, इसलिये विषमता होने के कारण रस की उत्पत्ति कैसे हो सकती है।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि (प्रीतिः) गोपियां भी भगवान् के सदृश हो गई हैं, अर्थात् प्रीति आनन्द का धर्म है, अतः प्रीतियुक्त आनन्द रूप हो गई, गोपियां सर्व रीति से प्रीत—आनन्द रूप थीं।

अब गोपियों का रास में प्रवेश प्रकार कहते हैं (अन्योन्या बद्ध बाहुभिः) गोपियों ने परस्पर दोनों तरफ से अपने-अपने हाथ पकड़ लिये थे, भगवान् के साथ हाथ नहीं पकड़े थे ॥ २ ॥

(सुबो०) भगवान् पुनः हस्तमण्डलाद्वहिः स्थितो यथा सम्बध्यते, तथा सन्निवेशमाह रासोत्सवः सम्प्रवृत्त इति ।

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।

योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः

प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥ ३ ॥

यं मन्येरन्, नभस्तावद्विमानशतसङ्कुलम् ।

दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥ ४ ॥

पदपदार्थ—(गोपीमण्डलमण्डितः) गोपियों के मण्डल से शोभित (रासोत्सवः) रासोत्सव (कण्ठे) कण्ठ में (गृहीतानां) ग्रहण की (तासां) गोपियों के (द्वयोर्द्वयोः) दो दो के (मध्ये) मध्य में (प्रविष्टेन) प्रविष्ट हुए (योगेश्वरेण) योगेश्वरों के ईश्वर (कृष्णेन) कृष्णद्वारा (सम्प्रवृत्तः) प्रारम्भ हुआ, (स्त्रियः) समस्त गोपियां (यं) उस कृष्ण भगवान् को (स्वनिकटं) अपने पास (मन्येरन्) मानती हुई, (तावत्) तबतक (नभः)

आकाश (औत्सुक्यापहृतात्मनां) उत्कंठा से चुराया गया आत्मास्वरूप अथवा बुद्धि जिनकी इस प्रकार के । (सदाराणां) स्त्री सहित (दिवौकसां) देवताओं के (विमानशतसंकुलम्) सैकड़ों विमानों से भर गया ॥ ३-४ ॥

भाषार्थ—गोपियों के मण्डल से शोभित रासोत्सव, भगवान् ने जिनका कण्ठग्रहण किया, इसप्रकार की दो-दो गोपियों के मध्य में प्रविष्ट योगेश्वर कृष्णद्वारा सम्यक् प्रवृत्त हुआ, गोपियाँ कण्ठ ग्रहण करने के कारण अपने-अपने पास में ही भगवान् को जानती हुई, तबतक आकाश उत्कंठा से अपहरण हुई आत्मा-स्वरूप अथवा बुद्धि जिनकी, इस प्रकार के अपनी-अपनी स्त्रियों सहित आये देवताओं के सैकड़ों विमानों से भर गया ॥ ३।४ ॥

(सुबो०) सर्वेषामेव गुणभावात् रसप्राधान्यात् रासोत्सव एव सम्यक् प्रवृत्तः । उत्सवो नाम मनसः सर्वविस्मारक आह्लादः । उत्सवत्वसंपादनाय सजातीयानेकरसोत्पादनार्थं विशेषमाह गोपीमण्डलमण्डित इति । गोपीनां मण्डलैरनेकविधैर्मण्डितः । उत्सवोऽप्यनेकविधैर्ब्राह्मणादिमण्डलैर्मण्डितो भवति । अत्रापि तुल्यस्वभावाः रसार्थमेकीकृताः पृथङ्मण्डलभाजः । तैरपि मण्डितः । पोषकाश्च रसास्तत उत्पादिता इति उत्तरोत्तरमण्डलैः पूर्वपूर्वरसः पोष्यत इति नायं रसोऽन्यत्र भवितुमर्हति । सम्यक् प्रवृत्तिनिरन्तरमाविर्भावः । ननु काल-कर्मस्वभावानां प्रतिबन्धकत्वाद्नेकत्र जायमानो रसः कथमेकीभवति, तत्राह योगेश्वरेणेति । स हि सर्वोपायवित् । सर्ववस्तुषु विद्यमानं भगवदैश्वर्यादिकं योग एवोद्घाटयतीति साधनेषु योगः प्रधानम् । तत्रैश्वर्ये सर्वत्रैव मूलभूतो रस उत्पादयितुं शक्यत इति सिद्धमेव । किञ्च । कृष्णोऽयमिति । स्वयमेव सदानन्दः । उद्गतोऽग्निः सर्वत्रैवाग्निं लीनं जनयितुं शक्नोति । तस्य भगवतस्तासु सन्निवेश-प्रकारमाह तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोरिति । मण्डलीकृता यावत्यो गोप्यः तासां द्वयं द्वयं भिन्नतया भावनीयम् । द्वित्वद्वयस्य नैकाधिकरणता भाव्या । अतो मण्डल-मध्ये यत्र हस्तद्वयग्रन्थिः, तत्र भगवदुदरं यथा भवति, तथा भगवानुत्थितो जातः । तथोद्गतस्योभयत्र सम्बन्धमाह, द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन भगवता कण्ठे गृहीतानामिति । हस्तद्वयेन पार्श्वस्थितयोः कण्ठे ग्रहणम् । एवं षोडशगोपिकानां मध्येऽष्ट कृष्णा भवन्ति । अन्यथा रसाभासः स्यात् । कृष्णद्वैविध्यप्रतीतेः । इम-मेवार्थमाह स्वनिकटं स्त्रियः यं मन्येरन्निति । स्वस्यैव निकटे, न त्वन्यासाम् । स्वसम्मुखस्थितगोपिकाकण्ठालिङ्गितभगवद्दर्शनमपि भगवदिच्छया तासां न जायत इति । प्रयोजनार्थं हि रूपकरणम् । तदर्धसङ्ख्यैव प्रयोजनं भवतीति न सम-सङ्ख्या मृग्या । 'यावतीर्गोपयोषित' इत्यग्रे समसङ्ख्यां भगवतो वक्ष्यति । यत्पुनः कैश्चिदुक्तं 'अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधव' इति, तत्रापि सविसर्गः पाठो ज्ञेयः । द्विवचने बहुवचनप्रयोगश्च । अन्यदेव वा तन्मण्डलम्, न भागवतोक्तम् । मध्ये

वेणुनादस्योक्तत्वात् । अत्र तु रसार्थे नृत्यमिति । गानार्थमपेक्षायामपि देवैरेव तत्सिद्धिः । 'मध्ये मणीनां हैमाना'मित्यत्र तु दर्शनार्थमुक्तत्वात् गोपिकानां देवानां च दर्शनं तथैवेति नानुपपन्नं किञ्चित् । एवं रसार्थं सर्वसामान्यामुक्तायां स रसः प्रादुर्भूतः सर्वेषां भविष्यतीति देवादयः सर्वे अलौकिकज्ञानयुक्ता दर्शनार्थमागता इत्याह नभस्तावदिति । तावन्नभो विमानशतसङ्कुलमासीत् । मण्डपे हि नृत्यं रसजनकम् । अन्यथोपरि वैचित्र्यं न स्यात् । तदर्थमपि विमानशतेन सङ्कु-लम् । यथा रसोत्पादनार्थं स्त्रियः पुरुषाश्च सम्बद्धाः नानाबन्धयुक्ताः चित्रे स्थाप्यन्ते । तदर्थं भगवता ते चित्रप्रायाः स्थापिताः । अत एवाग्रे 'औत्सुक्या-पहृतात्मना'मिति वक्ष्यति । स्वलीलार्थं सर्वं तथा प्रेरयतीति न औत्सुक्ये-नान्यथा सिद्धिः । तासां रसग्रहणार्थमागमनम्, भगवदिच्छा तु चित्रार्थम् । विमानस्थितान् तत्सम्बन्धिनो वर्णयति दिवौकसामिति । स्वर्ग एव स्थानं येषाम् । सदाराणामिति तेषां भावान्तरव्युदासार्थम् । स्त्रीणामुपसर्जनत्वं तासां भावार्थम् । स्वर्गस्थिता रसाभिज्ञा रसयोग्याश्च भवन्तीति । नन्वी-श्वरलीला न द्रष्टव्येति कथं तेषां दर्शनार्थं प्रवृत्तिः, तत्राह औत्सुक्यापहृता-त्मनामिति । औत्सुक्येन विचाररहितलीलाक्षिसमनसा अपहृत आत्मा स्वरूपं बुद्धिर्वा येषाम् । अतः स्वधर्मदेव प्रवृत्ताः, न तु भगवद्धर्मं विचारित-वन्तः ॥ ४ ॥

काम लीला में उपयोगी आश्रुष आदि सब को ही गुणभाव है, इसलिये रस की प्रधा-नता से रासोत्सव ही सम्यक् प्रवृत्त आरम्भ हुआ, 'मह उद्धव उत्सवः' इस कोश के अनुसार उत्सव का प्रसिद्ध लक्षण कहते हैं कि उत्सव नाम मन को सर्व का विस्मरण कराने वाला—भुलाने वाला आह्लाद है, राससे उत्पन्न आनन्द रासोत्सव है ।

इसप्रकार रास से उत्पन्न आह्लाद-आनन्द को सर्वविस्मारकत्व संपादन करने के लिये, तथा सजातीय—एक जाति के अनेक रस उत्पन्न करने के लिये शुकदेव जी विशेष प्रकार कहते हैं (गोपीमण्डलमण्डितः) गोपियों के अनेक प्रकार के मण्डलों से शोभित रासोत्सव है, उत्सव भी अनेक प्रकार के ब्राह्मण आदि के मण्डलों से शोभित होता है ।

रास में भी तुल्य—एक से स्वभाव वाली गोपियाँ रस के लिये एकत्र कीं, और इन एक से स्वभाव वाली गोपियों के पृथक्-पृथक् मंडल बनाये, अतः इन मण्डलों से भी रासोत्सव शोभित हुआ है ।

रासोत्सव को पोषण करने वाले रस रासोत्सव से ही उत्पन्न किये गये हैं, इसलिये उत्तरो-त्तर क्षण संबंधी मंडलों से ही पूर्व-पूर्व क्षणसंबंधी रस का पोषण होता है, अतः इस प्रकार का यह-रस अन्य स्थल में नहीं हो सकता है ।

अब मूल में 'सम्प्रवृत्तः' कहा है उसका अर्थ सम्यक् प्रवृत्ति—निरन्तर आविर्भाव है, अर्थात् रासोत्सव निरन्तर प्रकट हो रहा है ।

यदि कोई शंका करे कि काल, कर्म स्वभाव, ये प्रतिबन्धक हैं, इसलिये अनेक स्थल में उत्पन्न हुआ रस एक कैसे हो सकता है ? प्राकृत काल कर्म स्वभाव का तो पहिले ही निरास कर चुके हैं किन्तु 'तमदभुतं बालकम्' इस जन्म प्रकरण के श्लोक में कहे भगवद्रूप काल कर्म स्वभावों का भी लीला के लिये प्रतिबन्ध करने का स्वभाव है, फिर रस किस प्रकार एक हो सकता है, यह शंका करने का आशय है।

अब इस शंका का समाधान करते कहते हैं कि (योगेश्वरेण) योगेश्वर सर्व उपायों के जानने वाले होते हैं, सर्ववस्तुओं में विद्यमान भगवान् के ऐश्वर्य आदि धर्म को योग में ही प्रकट करते हैं, इस प्रकार साधनों के बीच में योग प्रधान है।

भगवान् तो योगेश्वर हैं, योग के ऐश्वर्य में सर्वत्र ही स्थित मूलभूत रस उत्पन्न कर सकते हैं। यह बात सिद्ध ही है।

योगेश्वर भगवान् कृष्ण हैं, यह स्वयं ही सदानन्द रूप है। प्रकट प्रज्वलित अग्नि सर्वत्र ही लीन गुप्त अग्नि को उत्पन्न कर सकता है, यहां यह दृष्टान्त इस भाव से दिया है कि 'तासामा- विरभूच्छौरिः' इसको सुबोधिनी में कहा है कि गोपियों के मध्य में भगवान् 'कृष्ण एवजातः' सदानन्द प्रकट हुए हैं, और गोपियों में अपना आनन्द स्थापन किया है।

अब गोपियों के मध्य में भगवान् के प्रवेश प्रकार को कहते हैं कि (तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः) मण्डल करके जितनी गोपियां स्थित थीं, उन में दो-दो गोपियां भिन्न-भिन्न जाननी चाहिये, अर्थात् दो गोपियों की भावना करके एक श्रीकृष्ण की भावना करनी चाहिये इसके अनन्तर फिर दो गोपियों की भावना करनी चाहिये, फिर एक श्रीकृष्ण की भावना करनी चाहिये, इस प्रकार सर्व गोपियों के एक पार्श्व में—एकतरफ में भगवान् हैं, उनके साथ-क्रीडा है।

भगवान् के बाईं तरफ, अर्थात् वाम भाग में जो व्रज सुन्दरी है, उसके साथ क्रीडा, तथा दक्षिण तरफ एक व्रज सुन्दरी है, उसके साथ क्रीडा है, इस प्रकार एक भगवान् के स्वरूप के साथ दक्षिण भाग, वाम भाग, दोनों तरफ की व्रजसुन्दरियों के साथ क्रीडा है, इस प्रकार जानना चाहिये। सुबोधिनी में कहा है कि 'द्वित्वद्वयस्य नैकाधिकरणता' गोपियों के द्वित्व दो की एकाधिक- रणता की भावना नहीं करनी चाहिये, अर्थात् गोपियों का द्वित्वद्वय एक भगवान् में नहीं है एक भगवान् का अवलम्बन करके स्थित नहीं है, किन्तु दूसरे द्वित्व में द्वितीय भगवान् हैं यह अर्थ है।

भावुकों को, चार गोपियां एक भगवान् के स्वरूप का अवलम्बन करके स्थित हैं, इस प्रकार की भावना नहीं करनी चाहिये, किन्तु दो गोपी एक भगवान् का अवलम्बन करके स्थित हैं, इस प्रकार भावना करनी चाहिये, उसमें भी एक गोपी के वाम भाग में और दूसरी गोपी के दक्षिण भाग में भगवान् हैं इस प्रकार ध्यान करना चाहिये।

सुबोधिनी में श्रीमदाचार्यचरण ने (भावनीयम्) भावना में कृत्यप्रत्यय कहा है, इसलिये अवश्य जप आदि के समय सर्वदा ही इस प्रकार का रूप स्मरण करना चाहिये।

मण्डल मध्य में जहां दो हाथों की ग्रन्थि है, वहां भगवान् का उदर-पेट जिस प्रकार हो, उस प्रकार भगवान् खड़े हो गये हैं इस प्रकार खड़े हुए भगवान् दोनों तरफ संबंध कहते हैं (द्वयो-र्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन भगवताकण्ठे—गृहीतानाम्) दो-दो गोपियों के मध्य में प्रविष्ट भगवान् ने गोपियों के कण्ठ—ग्रहण कर लिये हैं, अर्थात् गलबहियां गेर ली (डाल ली) हैं।

भगवान् ने दोनों तरफ की गोपियों के कण्ठ ग्रहण कर लिये हैं इस प्रकार सोलह गोपियों

के मध्य में आठ कृष्ण होते हैं, अर्थात् सोलह गोपियों का एक मण्डल है, इस प्रकार अनेक मंडल हैं उसमें सोलह गोपियां भगवान् की कला रूप हैं, उन कलारूप गोपियों के सहित श्री वृन्दावन- चंद भगवान् का यहां बोध किया है। इसीसे सोलह गोपियों की ही गणना की है, और सोलह ही गोपियों के मंडल का निरूपण किया है।

इस प्रकार कहने से प्रमाण प्रकरण एकादश अध्याय वृन्दावन गमन प्रसङ्ग में 'गोपवृद्धा महोत्पाताननुभूय वृहद्वने, यहां से लेकर 'राममाधवयोर्नृपः' यहां तक सोलह श्लोकों से सोलह संख्या तात्पर्य से सूचित श्रीकृष्ण को चन्द्रत्व, फल प्रकरण में सोलह गोपियों के मंडल कथन से स्फुट किया है, अन्यथा सम संख्या में अर्थात् सोलह कृष्ण के पक्ष में, अथवा चार कृष्ण के पक्ष में, यदि एक एक गोपी के प्रति एक-एक कृष्ण स्वरूप हो, तो मंडल के मध्य में एक-एक गोपी के दोनों तरफ कृष्ण स्वरूप होने से, भगवान् के दो स्वरूपों से एक-एक गोपी का संबंध होने पर रसाभास हो जायेगा। इसलिये पूर्व कहे प्रकार से ही गोपियों के मंडल में भगवान् प्रविष्ट हैं। इसी बात को सुबोधिनी में कहा है कि 'कृष्णद्वैविध्यप्रतीतेः' अर्थात् सोलह गोपियों में सोलह कृष्ण हैं, इस प्रथम पक्ष का खंडन, एक गोपी को दो कृष्ण स्वरूपों की प्रतीति के कारण रसाभास हो जायेगा, इस प्रकार कर दिया है।

अब दूसरा पक्ष सोलह गोपियों में चार कृष्ण का है। इस पक्ष का खंडन तो मूल में ही कर दिया है, उसको आगे कहते हैं कि 'इममेवार्थमाह' इसी अर्थ को सोलह गोपियों के मंडल में आठ कृष्ण प्रकट हुए हैं, शुक्रदेवजी कहते हैं। (स्वनिकटं स्त्रियः यं मन्येरन्) सर्व गोपियां 'भगवान् हमारे ही पास हैं, अन्य के पास नहीं हैं' इस प्रकार मानती हुईं।

जो सोलह गोपियों के मंडल में चार कृष्ण प्रकट हों, तो सोलह गोपियों में से आठ गोपियों को भगवान् का संबंध नहीं होना चाहिये, फिर मूल श्लोक में जो कहा है कि सर्व गोपियां भगवान् को अपने रास में मानती हुईं, इस कथन से विरोध हो जाता है, इसलिये सोलह गोपियों में आठ कृष्ण प्रकट हुए, इस पक्ष का ही आदर करना चाहिये।

अब दूसरे प्रकार से रसाभास की शंका करके परिहार करते हैं अपने सामने स्थित अन्य गोपियों का कण्ठ आलिङ्गन करते भगवान् का दर्शन भी भगवान् की इच्छा से अन्य गोपियों को नहीं होता है।

भगवान् किसी प्रयोजन के लिये अपना रूप प्रकट करते हैं, वह भगवान् का प्रयोजन गोपियों से आधी संख्या आठ से ही सिद्ध होता है, फिर समान संख्या सोलह गोपी, और उनके साथ सोलह कृष्ण की आवश्यकता नहीं रहती है।

यदि कहो कि भगवान् की इच्छा से ही जब दर्शन का अभाव आप समर्थन करते हो, तब सोलह कृष्ण के पक्ष में भी अदृष्ट क्यों नहीं मानते हो, अर्थात् जिस प्रकार अष्टकृष्ण के पक्ष में पहिले कहा सामने स्थित कृष्ण का दर्शन गोपियों को नहीं होता है, उसी प्रकार सोलह गोपी सोलह कृष्ण के पक्ष में भी दर्शन का अभाव ही मानना चाहिये।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'यावतीर्गोपयोषितः' भा० १०।३०।२० जितनी गोपियां थीं, उतने ही भगवान् के स्वरूप हैं, इस प्रकार आगे गोपियों के समान भगवान् की समान संख्या कहेंगे।

यदि कहो कि भले ही भगवान् के स्वरूप की आठ संख्या हो, किन्तु भक्तों को जिस प्रकार

का प्रत्यक्ष होता है, वह भी प्रमाण माना जाता है, बिल्वमंगल को जितनी गोपियां, उतने ही भगवान् के स्वरूपों का दर्शन हुआ है, इसलिये केवल अष्ट संख्या का निर्णय ही नहीं मानना चाहिये।

इस शंका का उत्तर देते श्री महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि जो फिर किसी ने कहा है कि 'अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवः।

प्रत्येक गोपी के मध्य में कृष्ण हैं, यहां पर भी 'अङ्गना अङ्गना अन्तरे' इस प्रकार पाठ जानना चाहिये, यह बहुवचन महत्व की विवक्षा से द्विवचन के अर्थ में कहा है, 'अङ्गनयोः अन्तरे' दो अङ्गनाओं के मध्य में, यह अर्थ होता है।

और यदि यहां बहुवचन प्रयोग न करके द्विवचन का प्रयोग करते हैं तो पररूप होने से 'अङ्गनेङ्गनेन्तरे' इस प्रकार छंदभङ्ग हो जाता है, एक यह भी कारण है।

बिल्वमंगल के कहे उक्त वाक्य को बहुत समय व्यतीत हो चुका है इसलिये इस समय पाठ में फेरफार हो जाना भी संभव हो सकता है।

अथवा यदि इसी पाठ को प्रामाणिक मान लिया जाय तो बिल्वमंगल को जिस गोपियों के मण्डल का दर्शन हुआ था, वह मण्डल अन्य ही रसपोषण के उत्तर भावी है, भागवत में कहा नहीं है, इस प्रकार मानना चाहिये।

कारण कि मध्य में वेणुनाद का वर्णन कहा है, और यहां तो रसके लिये नृत्य है, अर्थात् यहां रस का उद्बोधक नृत्य ही है, वेणुनाद नहीं है, इसलिये भागवत में कहा नहीं है।

यदि कहो कि बीच में वेणुनाद का वर्णन दूसरे रास का बोध नहीं करता है, कारण कि रस के लिये भी मण्डल में गान की अपेक्षा होती है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि गान के लिये वेणुनाद की अपेक्षा में भी देवोंद्वारा ही गान सिद्ध होता है।

यदि कहो कि इस अध्याय के बीसवें श्लोक में आगे कहा है कि जितनी गोपियां, उतने ही कृष्ण के स्वरूप हैं, इस प्रकार समान संख्या पक्ष कहा है, तथा ७ वें श्लोक में, 'मध्ये मणीनां' इस प्रकार का मंडल होने पर भी जिस प्रकार पुवर्ण की मणियों के बीच में मरकत मणि-पन्ना की मणि शोभा देती है, उस प्रकार भगवान् शोभित हुए, उक्त कथन से बहुत सी गोपियों में भगवान् एक ही नृत्य कर रहे हैं, इस प्रकार प्रतीत हो रहा है, यह सब पूर्वोक्त से विरुद्ध है, कारण कि पूर्व में गोपियों के मध्य में दो-दो में भगवान् प्रविष्ट हुए कहा है, फिर संख्या का निर्णय कैसे हो सकता है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'मध्ये मणीनां हैमानां' यहां तो दर्शन के लिये दृष्टान्त कहा है, अर्थात् गोपी, देव तथा गंधर्व आदि को इस प्रकार का ही दर्शन हुआ है।

पहिले जिस प्रकार भगवान् मण्डल मध्य में रूप करके प्रविष्ट हुए, उस प्रकार भगवान् के बहु रूपों का वर्णन शुकदेवजी ने किया है, और 'मध्ये मणीनां' यहां तो जिस प्रकार देव आदि को दर्शन हुआ कि बहुतसी गोपियों में एक भगवान् हैं, उस प्रकार शुकदेव जी ने वर्णन किया है, इसलिये विरोध नहीं है।

योजनाकार 'गोपिकानां देवानां च' इस सुबोधनी की पङ्क्ति का इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'गोपिकानां दर्शनं, गोपिका कर्मदर्शनं' गोपियों का दर्शन, अर्थात् गोपियों के कर्म का दर्शन 'देवानां च, देवकर्तृकदर्शनं' इसका अर्थ यह हुआ कि, देवताओं को भगवद्दर्शन में एक भगवान् मध्य में नृत्य कर रहा है। इस प्रकार का दर्शन होता है, और गोपियों को तो बहुतों का

दर्शन, जिस प्रकार मरकत मणि के चारो तरफ संलग्न सुवर्ण की मणियां हों उस प्रकार का दर्शन होता है, देवताओं को चारो तरफ स्थित गोपियों का ही दर्शन हुआ, गोपिका संबंधी किसी अन्तरङ्ग लीला का दर्शन नहीं हुआ, इस प्रकार अर्थ फलित हुआ।

जिस प्रकार यहां भगवान् की इच्छा से सामने स्थित गोपियों के कण्ठ का आलिङ्गन किये भगवान् के दर्शन का अभाव कहा, उसी प्रकार वहां देवों को सम संख्या का दर्शन है, इतने से यहां समान संख्या सिद्ध नहीं होती है।

इस प्रकार रस प्रकट करने के लिये सर्व सामग्री का वर्णन किया है, उक्त सर्व सामग्री सिद्ध होने पर अलौकिक रस सब देखने वालों को भी अपने-अपने अधिकारानुसार प्रकट होगा, इसलिये देवता आदि सर्व अलौकिक ज्ञानयुक्त भगवान् का दर्शन करने के लिये आये इस बात को शुक-देवजी कहते हैं, (नभस्तावत्) तबतक आकाश सैकड़ों विमानों से भर गया।

मण्डप में नृत्य रस उत्पन्न करने वाला होता है, यदि आकाश में विमान नहीं होते तो ऊपर विचित्रता नहीं होती, अतः विचित्रता सिद्ध करने के लिये दर्शनार्थ देवता आये और उनके सैकड़ों विमानों से आकाश भर गया।

जिस प्रकार रस उत्पन्न करके के लिये स्त्री-पुरुषों के मिले हुए नानाबन्धयुक्त चित्र स्थापन किये जाते हैं, उसी प्रकार रास क्रीडा में रस उत्पन्न करने के लिये भगवान् ने स्थित देव गणों के विमान चित्रप्राय स्थापन किये हैं, इसी से आगे शुकदेव जी 'औत्सुक्यापहृतात्मना' इस प्रकार कहेंगे।

यदि शंका करो कि उत्सुकता भगवान् के दर्शन में आपने कारण कही, तो फिर देवों की आत्मा का अपहरण करना उत्सुकता को कैसे संभव हो सकता है।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि, भगवान् अपनी लीला करने के लिये सब को उसी प्रकार प्रेरण करता है, इसलिये उत्सुकता में अन्यथासिद्धि नहीं है, अर्थात् देवों में उत्सुकता थी, किन्तु देवता दौड़कर भगवान् के पास नहीं आ सके।

देवता तो गोपियों का रस ग्रहण करने के लिये आये थे, किन्तु भगवान् की इच्छा तो देवताओं को चित्र की तरह करने के लिये थी अतः उसी प्रकार देवता हो गये।

अब विमानों में स्थित मिथुनरस संबंधी देवों का वर्णन करते हैं, (दिवोकसाम्) देवताओं का स्वर्ग में ही स्थान है, और देवों की स्त्रियां साथ में हैं, इसलिये देवों में दूसरा भाव नहीं है, (सदाराणां) इस पद से स्त्रियों को उपसर्जनत्व-गौणत्व है, इसका आशय यह है कि देवों को गोपियों का भाव है, कारण कि स्वर्ग में रहने वाले रसाभिज्ञ-रस के जानने वाले, तथा रस योग्य होते हैं।

यदि शंका करो कि ईश्वर की लीला देखनी नहीं चाहिये। फिर ईश्वर की लीला देखने में देवों की प्रवृत्ति क्यों हुई ?

इस शंका के समाधान में शुकदेवजी कहते हैं कि (औत्सुक्यापहृतात्मनाम्) उत्कंठा से विचार रहित, और लीला से चित्त आक्षिप्त-खिचगया, तथा अपहृत-अपहरण-चुराया आत्मा-स्वरूप अथवा बुद्धि जिनकी, इस प्रकार के देवता हो गये, अर्थात् उत्सुकता से देवताओं का मन विचाररहित हो गया, और लीला से आकर्षित हो गया, इसलिये इनका आत्मा-स्वरूप अथवा इनकी बुद्धि का अपहरण हो गया, अतः देवता अपने धर्म से ही भगवल्लीला के दर्शन में प्रवृत्त हुए हैं, इसलिये देवताओं ने तो भगवद्धर्म का विचार नहीं किया है, ॥ ३४ ॥

(सुबो०) ततो नृत्यारम्भे यद् भाव्यम्, तज्जात मित्याह तत इति ।

अनन्तर नृत्य के आरम्भ में जो कुछ होना चाहिये वह हुआ । इस बात को आगे के श्लोक में शुकदेव जी कहते हैं ।

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।

जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—(ततः) अनन्तर (दुन्दुभयः) दुन्दुभियां वजने (नेदुः) वजने लगीं, (पुष्पवृष्टयः) पुष्पों की वर्षाएँ (निपेतुः) होने लगीं (सस्त्रीकाः) स्त्रियों के सहित (गन्धर्वपतयः) गन्धर्वपति (अमलम्) निर्मल (तत्) भगवान् का मलनिवर्तक (यशः) यश को (जगुः) गान करते हुए ॥ ५ ॥

भाषार्थ—अनन्तर दुन्दुभियां वजने लगीं, पुष्पों की वर्षा होने लगी और स्त्रीसहित गन्धर्वपति भगवान् का निर्मल—मलनिवर्तक यश गान करते हुए ॥ ५ ॥

(सुबो०) आदौ दुन्दुभिवादनम् । 'परमा वा एषा राग् या दुन्दुभा'विति श्रुतेः । ततः प्रथमतः पुष्पवृष्टिर्मङ्गलार्था । पुष्पाञ्जलिः प्रसिद्धः । आगतो रसः तदधिष्ठाता वा पूज्यत इति । नाना विधानां पुष्पाणां भिन्ना वृष्टय इति बहुवचनम् । ततो गानं साधारणं जातमित्याह जगुर्गन्धर्वपतय इति । भगवान् श्रोष्यतीति उत्तमैरेव गानम् । गन्धर्वपतयो विश्वावसुप्रभृतयः । ते ह्यधिकारिण इति नटानामिव तेषां दर्शनं न दोषाय । अन्यथा भगवद्वस्तस्थितेन्द्रादीनामपि दोषत्वं स्यात् । 'अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो बलीया'निति न्यायात् । तथापि तेषामन्यथा बुद्धिः सम्भाव्येतेति विशेषणमाह सस्त्रीका इति । वैषयिकदोषव्यावृत्त्यर्थमाह अमलं तद्यश इति । तद्धि मलनिवर्तकम् । अतो न तासां तेषां वा तत्कालोपयोगिपदार्थादतिरिक्तो भाव उत्पद्यते ॥ ५ ॥

पहिले दुन्दुभियां वजने लगीं, 'परमा वा एषा राग् या दुन्दुभा' इति श्रुतेः श्रुति कहती है कि दुन्दुभी में जो वाणी वह श्रेष्ठ है, प्रथम मङ्गल के लिये पुष्पवृष्टि हुई, वह पुष्पाञ्जलि से प्रसिद्ध है, आया हुआ रस, अथवा रस का अधिष्ठाता देव का पूजन किया जाता है, नाना प्रकार के पुष्पों की भिन्न-भिन्न वृष्टि हुई है, इस आशय का सूचन 'पुष्पवृष्टयः' यह बहुवचन कर रहा है ।

पश्चात् गान साधारण हुआ है, इस बात को कहते हैं कि (जगुर्गन्धर्वपतयः) गान को भगवान् श्रवण करेंगे, इस कारण से उत्तम गन्धर्वों ने ही गान किया है, गन्धर्वपति विश्वावसु प्रभृति हैं, इनको ही उत्तम गान करने में अधिकार है, इसलिये नटों की तरह उत्तम गन्धर्वों को भगवल्लीला का दर्शन-दोष नहीं करता है, अर्थात् जिस प्रकार नाचने वाली स्त्रियों को शिक्षण करने वाला पुरुष, उन स्त्रियों का नाच देखे तो उसको दोष नहीं होता है, उसी प्रकार उत्तम अधिकारी गन्धर्व, भगवान् की लीला का दर्शन करे तो उसको दोष नहीं है ।

यदि इस प्रकार सही मानते तो भगवान् के हस्त में स्थित इन्द्रादि देवों को भी दोष-जनकता हो ।

जिस प्रकार विश्वावसु प्रभृति उत्तम गन्धर्व भगवान् की लीला मात्र में उपयोगी नटों की तरह हैं, और साधारण नटों से भिन्न हैं उसी प्रकार भगवान् के एकान्त गृह आदि मात्र में लीला के उपयोगी क्रिया शक्ति मान् इन्द्रादि देवता, दिशाओं के पालन करने वाले इन्द्रादि देवों से भिन्न हैं, दिशाओं के पालन करने वाले इन्द्रादि देवों से भिन्न इन्द्रादि देवता तो भगवान् के भुजदण्ड मात्र के आश्रित हैं ।

भगवान् की दोनों भुजा रस रूप हैं, इसलिये रसात्मक क्रिया शक्ति प्रधान इन्द्रादि देवों की ही भुजाओं में स्थिति होना उचित है, इसीसे सुबोधिनी में ठीक कहा है कि 'भगवद्वस्तस्थितेन्द्रादीनामपिदोषत्वं स्यात्' भगवान् के हस्त में स्थित इन्द्रादि देवों को भी दोषत्व हो, कारण कि 'अर्थद्रव्य विरोधेऽर्थो बलीयान्' जैमिनिसूत्र ६-३-३९ अर्थ तथा द्रव्य के विरोध में अर्थ बलवान होता है, यह न्याय है, इससे सिद्ध होता है कि गन्धर्वों को भगवल्लीला के दर्शन में दोष नहीं है, तथापि मर्यादा मार्ग आदि की रीति के अनुसार गन्धर्वों की अन्यथा बुद्धि-दोष बुद्धि हो जाय तो इसके लिये शुकदेवजी विशेषण कहते हैं कि (सस्त्रीकाः) गन्धर्व स्त्री सहित थे ।

इस विशेषण कहने का आशय यह है कि गन्धर्व आदि ने यह विचार किया कि जिस प्रकार हम लोग भगवान् का दर्शन करते हैं, उसी प्रकार हमारी स्त्रियां भी भगवान् का दर्शन करें, तथा हमारी स्त्रियों का भी उपयोग भगवल्लीला में हो जाये' इस प्रकार का भाव गन्धर्वों का स्फुट होता है, गन्धर्व भक्ति मार्गीय हैं, इसलिये मर्यादा मार्ग आदि की रीति के अनुसार गन्धर्वों की बुद्धि में दोष नहीं है ।

यद्यपि आपका कहा ठीक है, कि गन्धर्वों को भगवल्लीला का दर्शन करने में किसी प्रकार का दोष उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु जिस प्रकार रति संबंधी चित्र दर्शन से काम उत्पन्न हो जाता है, उसी तरह अपनी स्त्रियों में तो गन्धर्वों को काम उत्पन्न हो जायेगा । अर्थात् देवों को भगवल्लीला दर्शन करने पर भगवान् की लीला परिकर में दोष बद्धि नहीं होगी किन्तु अपनी भोग्य स्त्रियों में तो काम का उद्वेग होगा ही । इस प्रकार विषय संबंधी दोष दूर करने के लिये भगवान् का यश गन्धर्वों ने गान किया, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं ।

'अमलं तद्यशः' भगवान् का यश अमल है मल निवर्तक है, इसमें यहां 'न मलं यस्मात्' इस प्रकार पञ्चम्यन्त अन्य पदार्थ में बहुव्रीहि समास करने से मल निवर्तक अर्थ सिद्ध होता है, अतः देव स्त्रियों को तथा देवों को उस समय के उपयोगी पदार्थों से अतिरिक्त भाव उत्पन्न नहीं हुआ है, अर्थात् गन्धर्वों गन्धर्वों को भगवत्परिकर में तथा अपने अपने पुरुष, तथा अपनी अपनी स्त्रियों में भी कामभाव उत्पन्न नहीं हुआ, यह भाव है ॥ ५ ॥

(सुबो०) एवं बाह्यगीतवाद्यादिमुक्त्वा नृत्यमध्ये रसोपयोगिवादिप्राण्याह वलयानामिति ।

इस प्रकार बाह्य के गीतवाद्य आदि कहकर अब नृत्य के मध्यमें रस के उपयोगी वादित्रों का-बाजों का शुकदेवजी वर्णन करते हैं ।

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम् ।

सप्रियाणामभूत् शब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥ ६ ॥

पदपदार्थ—(रासमण्डले) रासमण्डल में (सप्रियाणाम्) श्रीकृष्णसहित (गोपितां) गोपियों के (वलयानां) कङ्कणों का (तूपुराणां) तूपुरों का (च) और (किङ्किणीनां) किङ्किणियों का (तुमुलः) घोर (शब्दः) शब्द (अभूत्) हुआ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—रासमण्डल में श्रीकृष्णसहित गोपियों के कङ्कण, तूपुर और कटिभूषण किङ्किणियों का घोर शब्द हुआ ॥ ६ ॥

(सुबो०) स्थानत्रये हि वादित्राण्यपेक्ष्यन्ते । नीचस्थाने भूमाविव मध्ये उपरि च । तथैव तालभेदाः । अतोऽत्रापि उपरि वलयानां शब्दः । अधो तूपुराणाम् । मध्ये किङ्किणीनाम् । अन्योन्यावद्धवाहव एव मध्ये मध्ये हस्तद्वयं योजयन्तीति वलयानां शब्दः । अथवाग्रे शब्दोत्पत्त्यर्थं प्रकारं वक्ष्यति 'पादन्यासै'रिति । सप्रियाणां कृष्णसहितानाम् । अत एव सर्वलास्यसम्पत्तिः सर्वासां भगवत्संबंधार्थम् । चकारात् अन्येपि कूजितशब्दा मुखशब्दाश्चोक्ताः । सर्व एकीभूय तुमुलो भूत्वा यथा दूरस्थानामवान्तरग्रहणं न भवति । तथासति किं स्यात्, अत आह रासमण्डल इति । रसानां समूहमण्डले । यथानधिकारित्वेन शूद्रस्य वेदश्रवणे तदध्येतुर्मन्त्रस्य च शक्तिह्रासः, शूद्रे च पापसम्भवः, तथैतद्भूतातिरिक्तानामेतच्छ्रवणेऽप्यनधिकारादस्य रसस्यालौकिकत्वादेतच्छ्रवणे मण्डले सर्वेषां रसो गच्छेत् । श्रवणे सति तदन्वेषणपरत्वं स्यात् । तत्तेषामेवानिष्टकरमिति तदेव पापरूपम् ॥ ६ ॥

तीन स्थानों में वादित्रों की-वाजों की अपेक्षा होती है, नीचे के स्थान में भूमि की तरह, मध्य में, तथा ऊपर में, इसी प्रकार ताल भेद भी होते हैं, इसलिये यहां भी ऊपर में कङ्कणों का शब्द हो रहा है, नीचे तूपुरों का शब्द, और मध्य में किङ्किणियों का शब्द हो रहा है । गोपियां परस्पर हाथ पकड़े हुए ही, बीच बीच में दोनों हाथों को मिलाती थीं, अर्थात् ग्रन्थियुक्त हस्त में ही ताल प्रकट करने के लिये बीच बीच में दूसरा हस्त मिलाती थीं, इसलिये वलयों का-कङ्कणों का शब्द होता था ।

अथवा आगे 'पादन्यासैर्भुज विधुतिभिः' इस आठवें श्लोक में शुकदेव जी शब्द की उत्पत्ति के लिये प्रकार कहेंगे ।

(सप्रियाणाम्) प्रिय-श्रीकृष्ण के साथ सर्व गोपियों का संबंध करने के लिये, सर्व प्रकार के लास्य-अर्थात् कोमल नृत्य की संपत्ति सिद्ध हो गई है ।

कुलीन स्त्रियां नृत्य का अभ्यास करें, यह बात घटित नहीं होती है, फिर भी जो इस प्रकार नृत्य का ज्ञान गोपियों को हुआ है, वह भगवान् के अनुभाव से ही हुआ है, इसी तात्पर्य से श्लोक में 'सप्रियाणां' गोपियों का यह विशेषण कहा है ।

मूल श्लोक में जो 'च' कहा है, वह यह सूचना करता है कि अन्य भी कूजित शब्द तथा मुख शब्द भी हुए हैं, इस प्रकार सर्व शब्द एकत्र-इकट्ठे होकर इतना घोर शब्द हो गया कि जिस प्रकार दूर में स्थित लोगों को अवान्तर शब्द ग्रहण नहीं होते थे, अर्थात् रास में जो परस्पर रससम्बन्धी होते थे, वे अन्य किसी को श्रवणगोचर नहीं होते थे ।

यदि शंका करो कि इस प्रकार होने में फिर क्या हुआ । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (रासमण्डले) रसों के समूह मण्डल में घोर शब्द हुआ ।

जिस प्रकार शूद्र को वेद श्रवण करने का अधिकार नहीं है, और यदि शूद्र वेद श्रवण करे तो वेद पढ़ने वाले की शक्ति का, तथा मन्त्र की शक्ति का नाश होता है, और शूद्र को पाप लगता है, इसी प्रकार भक्तों से इतर अन्य पुरुष को रासलीला श्रवण करने का अधिकार नहीं है, कारण कि यह रस अलौकिक है, जो अनधिकारी पुरुष इस रस का श्रवण करे तो मण्डल में सर्व का रस चला जाये, और श्रवण करने वाला अनधिकारी पुरुष इस लीला के विचार में पर जाये ।

विचार में पर जाना ही उसका अतिष्ठ है, और वह पाप रूप है ॥ ६ ॥

(सुबो०) एवं नृत्यमध्ये प्रविष्टो भगवान् गुणभावात् कदाचित्त भासेतेत्याशङ्क्य सर्वजनीना भगवच्छोभा तदा जातेत्याह तत्रेति ।

इस प्रकार नृत्य के मध्य में प्रविष्ट भगवान् गुणभाव-गौणभाव से कदाचित् प्रकाश नहीं करे, इस प्रकार शंका हो तो उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं कि उस समय भगवान् की शोभा सब के जानने में आई है, अर्थात् यहां गौणत्व से संभावित शोभा के अभाव का कैमुतिक न्याय से निरास करना वाक्यार्थ है ।

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।

मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा ॥ ७ ॥

पदपदार्थ—(हैमानां) सुवर्ण के (मणीनां) मणियों के (मध्य) बीच में (यथा) जिस प्रकार (महामारकतमणिः) गरुड़ से निकली सहजमणि (तथा) उसी प्रकार (भगवान्) श्रीकृष्ण (देवकीसुतः) देवकीपुत्र (ताभिः) गोपियों के साथ (तत्र) रासमण्डल में (अतिशुशुभे) अत्यन्त शोभित हुए ॥ ७ ॥

भाषार्थ—सुवर्ण की मणियों के बीच में जिस प्रकार महामारकतमणि शोभित होता है, उसी प्रकार भगवान् देवकीसुत गोपियों के साथ मध्य में अत्यन्त शोभित हुए ॥ ७ ॥

(सुबो०) स्वभावशोभातोऽप्यतिशयेन शुशुभे । तदुक्तं 'शक्तिभिः सहितोऽधिकां शोभां प्राप्नोतीति । कदाचित् स्वतएव शोभां प्रकटयेदिति तदव्यावृत्त्यर्थं ताभिरित्युक्तम् । ननु सहज शोभा युक्तस्य कथं ताभिरिति शोभा, तत्राह भगवानिति । यथा गुणैः । ननु गुणाः सर्वोत्तमाः, न तथैता इति चेत्, तत्राह देवकीसुत इति । भक्त्या यथा देवक्या अपि पुत्रो जातः । स्त्रीणामेवोपकारायाविर्भूतः । अतस्तास्वपि स्वसामर्थ्यमेव दत्त्वा शोभां प्राप्तवान् । सहजस्य कृत्रिमैः शोभा न भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह मध्ये मणीनामिति । महामारकतो न गरुडोदारी स मणिः सहजः । सुवर्णमणयः कृत्रिमाः । तथापि ते परितः क्लृप्ताः सहज मणिमप्यति शोभयन्ति ॥ ७ ॥

भगवान् स्वभाव से शोभित भी हैं, तो भी अत्यन्त शोभित हुए, यह बात पहिले भी कह आये हैं कि भगवान् शक्तियों सहित अधिक शोभित होता है ।

भगवान् कदाचित् अपने आप स्वतः ही शोभा प्रकट करे, तो स्वतः शोभा का निवेष्ट करने के लिये 'ताभिः' कहा है, भगवान् की शोभा तो गोपियों के साथ से ही होती है।

यदि शंका करो कि भगवान् तो सहज शोभायुक्त हैं, फिर गोपियों के साथ से अति शोभा कैसे कहते हो ?

इसके उत्तर में शुक्रदेव जी कहते हैं कि 'भगवान् जिस प्रकार प्रभु ऐश्वर्यादि छे गुणों से भगवान् कहे जाते हैं, उसी प्रकार गोपियों के साथ भगवान् की अधिक शोभा होती है।

यदि कहो कि ऐश्वर्यादि गुण तो सर्वोत्तम हैं, गोपियां तो सर्वोत्तम नहीं हैं।

इस शंका के उत्तर में शुक्रदेव जी कहते हैं कि (देवकीसुतः) जिस प्रकार भगवान् भक्ति से देवकी जी के भी पुत्र हुए, उसी प्रकार भगवान् स्त्रियों के ऊपर उपकार करने के लिये प्रकट हुए हैं, अतः गोपियों को भी अपना सामर्थ्य ही देकर शोभा को प्राप्त हुए हैं।

यदि कहो कि सहजशोभित भगवान् की कृत्रिम-बनावटी पदार्थों से शोभा नहीं होती है—

इस शंका के उत्तर में दृष्टान्त देकर समाधान करते हैं कि 'मध्यमणीनां' महामरकत, गरुडोदगारिमणि सहज शोभा युक्त होती है, और सुवर्णमणि कृत्रिम बनी हुई है, तथापि सुवर्णमणि चारों तरफ ग्रथित होती है तो उस समय सहजमणि को भी अति शोभित कर देती है, उसी प्रकार भगवान् की सहज शोभा को भी गोपियाँ अपने साथ से अतिशोभित कर देती हैं ॥ ७ ॥

(सुबो०) एवं पूर्वपोठिकामुक्त्वा मुख्यं नृत्यमाह पदन्यासैरिति ।

इस प्रकार पूर्वपोठिका कहकर शुक्रदेव जी आगे 'पादन्यासैः' इस श्लोक से मुख्यवृत्त्य कहते हैं।

पूर्व श्लोक में भगवान् को देवकी सुत कहा है, इससे गोपियों को भी अपना सामर्थ्य देकर भगवान् शोभित हुए, अब इस श्लोक में शोभा साधन करने वाले नृत्य सामयिक पादन्यास आदि वाक्यार्थ हैं, इसलिये पादन्यास आदि शोभावर्द्धक हैं, अतः आभास में 'मुख्यं नृत्यमाह' इस प्रकार कहा है।

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैः

भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।

स्विद्यन्मुख्यः कवररशनाऽग्रन्थयः कृष्णवध्वो

गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥ ८ ॥

पदपदार्थ—(पादन्यासैः) विविध प्रकार से चरणों के धरने से (भुज विधुतिभिः) भुजाओं के चलने से (सस्मितैः) मन्दहास्य युक्त कटाक्षों से (भ्रूविलासैः) भ्रुकुटिविलासों से (भज्यन्मध्यैः) भङ्ग-नवेहुए कटि भागों से (चलकुचपटैः) हिलते हुए कुचों के वस्त्रों से (कुण्डलैः) (गण्डलोलैः) हिलते हुए गण्डस्थल में कुण्डलों से (स्विद्यन्मुख्यः) स्वेद-पसीना युक्त मुख वाली (कवर रशना) केश पाश तथा कटिवस्त्र का बंधन (अग्रन्थयः) ग्रन्थ-रहित, शिथिल गांठ जिनकी हो गई है, इस प्रकार की (कृष्णवध्वः) कृष्ण वधू गोपियाँ (तं) उस कृष्ण (गायन्तः) गुणगान करतीं (मेघ चक्रे) मेघसमूह में (तडितः) बिजुली की (इव) तरह (ताः) वे गोपियाँ (विरेजुः) शोभित हुईं ॥ ८ ॥

भाषार्थ—विविध प्रकार से चरणों के धरने से, भुजाओं के चलने से, मन्दहास्ययुक्त कटाक्षों से और भ्रुकुटि विलासों से तथा भङ्ग नवेहुए कटिभागों से हिलते हुए कुचों के वस्त्रों से और गण्ड-स्थल में हिलते हुए कुण्डलों से पसीना युक्त मुख वाली केशपाश और कटिवस्त्र शिथिल जिनका हो गया, इस प्रकार की कृष्ण वधू गोपियाँ भगवान् के गुणगान करतीं मेघचक्र में बिजुली की तरह शोभित हुईं ॥ ८ ॥

(सुबो०) पादन्यासाः सर्व एव चारीकरणरूपाः । भुजानां विधुतयश्च सर्व-हस्तकभेदाः । एकेनावयवेन शिष्टावयवाः तथा संविधानयुक्ता इति ज्ञेयम् । मन्दहाससहिताः सर्व एव कटाक्षा उक्ताः । भ्रूभेदाश्च । तत्तद्वसे हृदयाविष्टे तथैव भवन्तीति । भज्यद् भङ्गयुक्तानि मध्यानि उपरिभाग परिवर्तनात्मकानि । रसाभिनिविष्टानां तासां सर्वावयवानि भ्रमणेन रस एकीभवतीति । परिवर्तनादि भिरेव वा चलेषु कुचेषु पटा इति । सर्वाण्येव कम्पनान्युक्तानि । कुण्डलैर्गण्डलोलै-रिति । सर्वैव शिरोभेदा उक्ताः । शिरोभेदेष्वेव वक्तव्येषु कुण्डलानां यच्चलन निरूपणम्, तद्विद्युतामिव शोभार्थम् । गण्डलोलैरिति सर्वा कान्तिस्तत्रो पक्षीणे-ति ज्ञापनार्थम् । गण्डेहि केवलो रसः । पेयो रसस्तत एव पीयत इति । विद्योतनं तस्यैवाभिव्यक्त्यर्थम् । ततोऽन्तः स्थितो रसः पुष्टोभिव्यक्त इति व्यापनार्थमाह स्विद्यन्मुख्य इति । स्विद्यत् स्वेदयुक्तानि मुखानि यासामिति । कवर रशनासु च अग्रन्थयोजाताः । रसेन सर्वावयवस्थेन एकीभूतेन देहः सूक्ष्मतामापन्नः । अतः केशपाशे रसनायां च ग्रन्थिः शिथिलः । नन्वेवं कथं श्रमः तत्राह कृष्णवध्व इति । सदानन्दस्य हि फलस्य ता उपभोक्त्र्यः । अतः क्रियायां श्रमोभवत्येव । एतादृश्योऽप्यन्तः सन्तोषेण गायन्त्यो जाताः । एवं कायादि श्रमैरपि ता विरेजुः । अतिशोभायुक्ता जाताः । ननु लोकानां दर्शनं सा शोभा, तास्तदा कथं सर्वैर्दृष्टा इति, तत्राह तडित इव ता इति । नहि तडित बहुकालं दर्शनं योग्या भवति । मेघचक्रे शोभामेव परं सम्पादयति । तथा कृष्ण समूहे भगवता आच्छादिताः । परितः कदाचिदेवोदगताः केनचिदंशेन दृष्टा भवन्ति । अतस्तासां शोभा न दोषावहा जाता, किन्तु विशिष्टैव जाता ॥ ८ ॥

पादन्यास अर्थात् 'सर्व एव चारीकरण रूपाः ।' सर्वप्रकार से ही चरण धरने की तथा चलाने की क्रिया, चारी तथा करण ये नाट्य शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं, एक चरण फेरना हो तो, उसे चारी कहते हैं, और दोनों चरण फेरने का नाम करण है।

भुजाओं को चलाने से नाट्यशास्त्र सिद्ध सर्वहस्तक भेद सिद्ध होते हैं, एक अवयव के साथ से शेष अवयव उसी प्रकार संविधानयुक्त हैं, अर्थात् यथोचित करणशील हैं, अपने-अपने योग्य कार्य कर रहे हैं, यह अर्थ है।

गोपियाँ नृत्य में अनेक प्रकार से चारीकरण रूप अपने चरणों को धरने आदि समय में

सङ्गीत शास्त्र में कहे प्रकारानुसार जिस प्रकार भुजाओं का चलना अपेक्षित है, उसी प्रकार भुजाओं का चलन करती हैं।

इसी प्रकार चारीकरण भुजाओं के कम्पनादि व्यापार में जिस प्रकार का नेत्रों का व्यापार उचित है, उसी प्रकार नेत्रों का व्यापार कर रही हैं, इसी प्रकार चारीकरण नेत्र व्यापार में जिस प्रकार भ्रू व्यापार उचित है, उसी प्रकार भ्रू व्यापार हो रहा है, कारण कि भगवदीय परिकर परम अलौकिक है, अतः एक नृत्य से व्यापारित हस्त आदि अवयव के साथ शेष अवयव, भ्रूचरणादि रूप यथोचित विधान करणशील हैं, यह अर्थ हुआ।

यहां पर मन्द हास सहित सर्व ही कटाक्ष कहे हैं तथा भ्रुकुटि भेद कहे हैं।

यदि कहो कि पादन्यास तथा भुज चलाने आदि समय में भ्रू भ्रूति के व्यापार कैसे होते हैं?

इस शंका का उत्तर देते कहते हैं (तत्तद्वत्सेहृदयाविष्टे) जिस समय अनेक प्रकार का रस हृदय में प्रविष्ट होता है, उस समय उक्त सर्वक्रियायें अपने आप ही होती हैं।

यहां पर इस प्रकार आशय है कि नृत्य में संयोग शृङ्गार का अभिनय किया जाता है, संयोग शृङ्गार का अभिनय संयोग की स्फूर्ति के बिना संभव नहीं होता है, इसलिये स्मरण किया जिस प्रकार का संयोग रस होता है, वह उसी क्षण में हृदय में प्रविष्ट हो जाता है, और फिर उसी प्रकार का व्यापार होता है।

गोपियों के हृदय में भगवान् का संयोग आविष्ट है, और वह भगवान् का संयोग सर्वगुण युक्त है, इसलिये गोपियों में सर्वगुण युक्त भगवान् का संयोग प्रविष्ट होने के कारण गोपियों के सर्व अवयव यथोचित विधान युक्त होते हैं, गोपियों के शरीर का कटि प्रदेश भङ्ग युक्त नवा है, और ऊपर का भाग परिवर्तनात्मक चारों तरफ घूमने वाला है।

रस के लिये मण्डल में अभिनिविष्ट गोपियों के सच्चिदानन्दरूप सर्व अवयवों में स्थित रस आनन्द अत्यन्त भ्रमण करने से एक हो जाता है।

अब प्रसिद्ध अर्थ कहते हैं (परिवर्तनादिभिरेववा) अथवा परिवर्तन-भ्रमण आदि करने से अन्तःस्थित रस का अनुभव होता है, अवयवों में स्थित रस एक नहीं होता है, इस प्रकार एवं कार से पक्षान्तर कहा है, गोपियों के नृत्य करने से हिलते हुए कुचों में वस्त्र हैं, इस प्रकार सर्व प्रकार के कम्पनों का वर्णन किया है।

(कुण्डलैर्गण्डलोलैः) गोपियों के गण्डस्थल में कुण्डल हिल रहे हैं, इससे सर्व ही शिर के भेदों को कह दिया है, शिर भेद ही वक्तव्य थे, फिर जो कुण्डलों का चलन निरूपण किया है, वह बिजुली की तरह शोभा के लिये कहा है, अर्थात् भगवान् के गण्डस्थल में व्रजसुन्दरियों के कुण्डलों का संबंध होने पर श्याम तथा गौर प्रभा दोनों के मिलने से मेघों में विद्युत्तुल्य की तरह शोभा हो रही है।

मूल में 'गण्डलोलैः' यह शब्द सूचन करता है कि गोपियों के कुण्डलों की सर्वप्रभा भगवान् के गण्डस्थल के संबंध को प्राप्त होकर क्षीण-नष्ट हो गई, अर्थात् कुण्डलों का सौन्दर्य गर्व चला गया, इसीसे गण्डस्थल को प्राप्त होकर कुण्डलों का चलन होता है।

यह बात युक्त भी है कि जो जिससे गुणों में न्यून होता है, वह उसके आगे ठहरता नहीं है, भगवान् के गण्ड-कपोलों में केवल रस है, अघर रस आदि की तरह कामादि सहित रस नहीं है, इसी से माता-पिता आदि भी कपोलों का चुम्बन करते हैं।

स्नेह वाले सभी लोगों का भोग्य रस भगवान् के गण्डस्थल में रहता है, इसलिये भगवान् के कपोलों में रस केवल सर्वसाधारण है, और अघर रस तो शृङ्गार रस वाली स्त्री के ही भोग्य है,

इस प्रकार के गण्डस्थल में रस नहीं है, इसीसे बाल्यभाव वाली गोपियां कपोलों का चुम्बन करती हैं, अतः कपोलों में रस साधारण है।

और गण्डस्थल में स्थित होकर कुण्डलों द्वारा अघर में जो पीने योग्य रस है, उसका प्रकाशन किया जाता है, इस बात को कहते हैं, कि पान करने योग्य अघर रस नृत्य में भगवान् के गण्डस्थल में स्थित होकर ही पिया जाता है, भगवान् के गण्डस्थल में बिजुली की तरह शोभा रस ही प्रकट करने के लिये है।

केवल रस नाट्य में प्रसिद्ध है, अतः नृत्य में लोभात्मक रस का ग्रहण करना असम्भव होने से केवल रस ही प्रकट करने के लिये भगवान् के गण्डस्थल में विद्योतन-शोभा का वर्णन किया है, अर्थात् भगवान् के गण्डों की शोभा देखती देखती गोपियां नृत्य करती हैं।

काम लीला में तो सब कहेंगे, इस प्रकार नृत्य करने में पश्चात् भीतर स्थित पुष्ट रस प्रकट होता है, इस बात को प्रसिद्ध करने के लिये शुकदेवजी कहते हैं, (स्विद्यन्मुख्यः) नृत्य करते-करते गोपियों के स्वेदयुक्त-पसीना युक्त मुख हो गये, और केशपाश तथा कटिबंधन की गांठें शिथिल हो गईं, शरीर के सब अवयवों में स्थित रस-आनन्द एकत्रित हो गया, इसलिये देहसूक्ष्म हो गये थे, अतः केशपाश में तथा कटिबंधन में जो गांठें थीं, वे शिथिल हो गईं।

गोपियों की देह सच्चिदानन्द रूप है, इसलिये गोपियों की सब देह में आनन्द है, अब वह आनन्द देह के सर्व अवयवों से एक स्थान में आ गया है, इसलिये जिस जिस अवयव से आनन्द आया वह अवयव कुश हो गया, तब उस समय पहिले स्थूलता के अनुसार जो गांठें बांधी थीं, वे पीछे शिथिल हो गई हैं।

यदि शंका करो कि इस प्रकार का श्रम गोपियों को क्यों हुआ। इसके उत्तर में कहते हैं कि (कृष्ण वध्वः)

गोपियां तो भगवान् की वधू हैं, अर्थात् सदानन्द फल रूप का उपभोग करने वाली हैं, उपभोग करना पुरुष धर्म है, पुरुष धर्म गोपियों में रस की अधिकता होने से आया है। अतः उपभोग रूप क्रिया में श्रम होता ही है, यह बात युक्त ही है।

गोपियां लौकिक जीवों की तरह केवल रस का ही अनुभव नहीं करती हैं, किन्तु सृष्टिमान आनन्द का क्रिया रूप उपभोग करती हैं, इस प्रकार मूलस्थ 'कृष्णवध्वः' इस शब्द का अर्थ कहा है।

गोपियां इस प्रकार श्रमिता थीं, फिर भी भीतर सन्तोष के कारण गान करने लग गईं। इस प्रकार शरीर आदि में श्रम होने पर भी गोपियां अति शोभा युक्त हुईं, कारण कि पहिले 'देवकीसुत' पद से कह आये हैं कि गोपियों में भगवान् ने अपना सामर्थ्य स्थापन किया, इससे शोभित हुई पादन्यास आदि से भी शोभित हुईं, इस प्रकार सुबोधिनी का 'अधि' शब्द सूचन करता है।

यदि कहो कि शोभा तो अन्य सापेक्ष-अर्थात् और लोग जब देखते हैं, तब जानी जाती है, तो फिर उस समय गोपियों की शोभा सब लोगों ने कैसे देखी। अर्थात् परस्पर एक की एक गोपी ने देखी, अथवा भावुक लोगों ने देखी, इसका प्रकार क्या है।

इस शंका के समाधान में शुकदेव जी कहते हैं कि (तडित इव ताः) गोपियों की शोभा बिजुली की तरह हुई।

बिजुली बहुत काल तक दर्शन योग्य नहीं होती है, वह तो मेघ समूह में केवल शोभा को ही संपादन करती है, उसी प्रकार कृष्ण-समूह में गोपियां, केवल शोभा संपादन करती थीं, जिस

प्रकार विजुली मेघों से आच्छादित रहती है कभी कभी क्षणिक दर्शन देती है, उसी प्रकार कृष्ण मेघसमूह में गोपियों का आच्छादन किया है, कभी कभी ही दोनों तरफ प्रकट कुछ अंश दृष्टि-गोचर होते हैं, इसलिये गोपियों की शोभा दोष देने वाली नहीं हुई, किन्तु विशेष ही-उत्तम ही हुई, इस प्रकार जानना चाहिये ॥ ८ ॥

अब मूल सुबोधिनी में 'कुण्डलगण्डलोलैः' कहा है, इस पर स्वतन्त्र लेख है, उसका अनुवाद कहते हैं कि—

भगवान् के भक्तिरूप मुखारविंद में दो प्रकार का रस है, एक केवल, और दूसरा काम-मिश्रित, उसमें गण्डस्थल में जो रस है वह है, केवल, काम उत्पन्न न होने पर भी केवल सौंदर्य के दर्शन मात्र से मुख में संयोग होता है, अतः मुख संयोग से पीने के योग्य है, इसीसे बाल लीला में गोपियां तथा माता आदि को भी चुम्बन आदि द्वारा प्राप्त होता है, प्रभु के नृत्य समय में कुण्डलों की कान्ति से प्रकाशित जो स्वामिनियों के कपोल हैं, उनमें सौंदर्य विशेष प्रकट है, उससे रस पान होता है, अतः रस पान करने के लिये ही कुण्डलों द्वारा गण्डस्थल का प्रकाशन है, यह भाव है, काम लीला आगे कहेंगे, इस समय लोभ में स्थित-अर्थात् अघर में स्थित रस का ग्रहण नहीं है, अतः अघर रस का प्रकाश नहीं है, कारण कि नृत्य के मध्य में अघर रस पान करना संभव हो नहीं सकता है, लोभात्मक अघर में कामसहित भक्ति रस है, अतः कामसहित भक्तिरस के उत्पन्न होने पर ही अघर रस का पान संभव हो सकता है ।

यदि शंका करो कि स्वामिनियों की तरह बाहु आदि में भी प्रभु की ही उस प्रकार की कृति हो, अतः कुण्डल प्रकाश भी प्रभु का ही हो ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि गण्डस्थल में ही स्थित होकर पेय रस पिया जाता है, कारण कि 'स्विद्यन्मुखः' इसमें अन्तर्गत सर्वत्र अवयवों में स्थित रस का गोपियों के मुखों पर ही प्राकट्य निरूपण किया है, इससे पान संभव होता है, रस की स्पष्टता से मुखों में ही प्राप्ति है, इसलिये कपोलों में ही पान करने के लिये प्रकाशन है ।

अथवा-पान करने योग्य यहां स्नेहरस है, स्नेहरस की कपोलों में ही समाप्ति है, हृदय से उत्पन्न स्नेह रस का मुख में ही पर्यवसान है, कारण कि स्नेह रस जिनमें प्रविष्ट है, उनके मुख के दर्शन मात्र से ही सकल मनोरथ की पूर्ति होती है ।

कामोदय के हेतुभूत नृत्य में प्रथम काम का उदय न होने से स्नेह मात्र होता है, इससे कपोलों में ही रस पान है, अतः उस समय कुण्डलों द्वारा ही भगवान् के लिये गण्डस्थल का प्रकाशन है, आचार्यों ने जो, (गण्ड एव) इत्यादि कहा है, वह सब निर्दोष है ॥११॥१२॥१८॥

(सुबो०) गाढनृत्यमुक्त्वा मध्यनृत्यमाह—उच्चैर्जगुरिति ।

श्रीमहाप्रभुजी ने 'उच्चैर्जगुः' इस आगे के श्लोक में जो प्रथम व्याख्यान 'नृत्यमाना' इत्यादि के किया है, उसमें नृत्य को गीण कहा है, किन्तु 'अथवा' से जो द्वितीय व्याख्यान किया है, उसके अनुसार आभास में कहते हैं कि गाढनृत्य को कहकर अब आगे मध्य नृत्य कहते हैं, तथा पूर्व श्लोक 'गायन्त्यः' इस पद से गान गीण कहा है, और नृत्य मुख्य कहा है, अब आगे श्लोक में दोनों की समाजता का वर्णन करते हैं ।

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥ ९ ॥

पदपदार्थ—(रक्तकण्ठ्यः) रञ्जक स्वरयुक्त कण्ठवाली (रतिप्रियाः) रति ही प्रिय जिनको है, (कृष्णाभिमर्शमुदिताः) कृष्णभगवान् के किये स्पर्श से मुख पोंछने आदि से आनन्दित हुई (नृत्यमानाः) नाचती गोपियां (उच्चैः) ऊंचे स्वर से (जगुः) गान करती हुई, (यद्गीतेन) जिन गोपियों के गीत से (इदम्) यह जगत् (आवृतम्) व्याप्त हो गया ॥ ९ ॥

भाषार्थ—रञ्जकस्वरयुक्त कण्ठवाली तथा रति ही प्रिय जिनको है, तथा कृष्ण भगवान् के लिये स्पर्श मुख पोंछने आदि से आनन्दित हुई नृत्य करती गोपियां ऊंचे स्वर से गान करती हुई, जिन गोपियों के गान से जगत् व्याप्त हो गया ॥ ९ ॥

(सुबो०) नृत्यमाना नृत्यं कुर्वन्त्य एव उच्चैर्गानयुक्ता जाताः । अथवा आदावुच्चैर्जगुः । ततो नृत्यमाना नृत्यन्त्यो जाताः । उभयत्र हेतुमाह-रक्तकण्ठ्यो रतिप्रिया इति । रक्तः रञ्जकस्वरेण युक्तः कण्ठो यासामस्तीति । रतिरेव प्रिया यासामिति । गानेन व्यामोहनं नृत्येन च तासां प्रसिद्धम् । ननु पूर्वनृत्येन जात-श्रमाः कथमेवं कृतवत्य इत्यत आह-कृष्णाभिमर्शमुदिता इति । भगवतः अभितो मर्शः प्रोज्झनादिविशेषरूपः, तेन मुदिताः अन्तः पूर्णानन्दाः । इतरविस्मरणार्थं नादाधिक्यमाह यद्गीतेनेदमावृतमिति । यासां गीतेनेदं जगद् व्याप्तम् । अथवा यदर्थमेतन्नृत्यादिकम्, तत् सफलं जातमित्याह-यद्गीतेनेति । लोकैः क्रियमाणेन गीतेन एतत्प्रकाशकेन एतज्जगद् रसेन व्याप्तमित्यर्थः । लोके रसप्राकट्यायमेवैतत् कृतमिति । उत्पन्नस्य नादस्यामृतमयत्वाय भगवतापि नादः कृतः । स च मधुर एव कर्तव्यः । तेन च जगत् पूरणीयम् ॥ ९ ॥

गोपियां नृत्य करती ही ऊंचे स्वर से गान करने लग गयीं अथवा प्रथम ऊंचे स्वर से गान किया, पश्चात् नृत्य किया है, नृत्य तथा गान दोनों में हेतु कहते हैं कि (रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः) रक्त-रञ्जक स्वर से युक्त कण्ठ जिनका है, कारण कि रञ्जकस्वर को ही राग पदार्थता है, इसलिये यहां रक्तकण्ठ कहा है ।

'योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः', रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथ्यते बुधैः । जो यह ध्वनि विशेष स्वर वर्णों से विभूषित सब मनुष्यों के चित्तों का रञ्जन करने वाला है, वह जानकार लोगों के द्वारा 'राग' कहा जाता है, इस प्रकार संगीत शास्त्र में कहा है ।

रक्त शब्द में कर्ता में क्त-प्रत्यय हुआ है, इसलिये रञ्जनयुक्त अर्थ कहा है, तथा रति ही प्रिय जिनको इस प्रकार की गोपियां हैं ।

स्त्रियां गान से तथा नृत्य से व्यामोह करती है, यह बात प्रसिद्ध है, गोपियां रतिप्रिया हैं, इसलिये रति करने वाले भगवान् का व्यामोहन करने के लिये नृत्य करती हैं ।

यदि कहो कि गोपियों ने पहिले जो नृत्य किया था, उस नृत्य से थक गई थीं, फिर इस प्रकार नृत्य कसे किया ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (कृष्णाभिमर्शमुदिताः) भगवान् ने जो गोपियों का शरीर पोंछने आदि विशेष रूप क्रिया से स्पर्श किया है, उससे गोपियों के भीतर पूर्ण आनन्द प्राप्त हो गया है, इसलिये फिर नृत्य करने लग गईं ।

इतर विस्मरण कराने के लिये, अर्थात् भगवान् को दूसरी नायिका के किये नाद का विस्मरण कराने के लिये, अपने युगल में स्थित भगवान् दूसरे युगल में किया नाद भूल जायें, इस भाव से नाद की अधिकता को शुकदेव जी कहते हैं, (यद्गीतेनेदमावृतम्) भगवान् सहित गोपियों के गीत से यह जगत् व्याप्त हो गया ।

अथवा जिसके लिये यह नृत्य आदि किया, वह सफल हो गया, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं, 'यद्गीतेन' ।

लोगोंद्वारा किये गये गीत से-अर्थात् अत्यन्त अनुगृहीत इस लीला के मध्य पाति गोविन्ददास प्रभृति लोगों द्वारा किया गीत भगवल्लीला का प्रकाश करने वाला है, उस रस से यह जगत् व्याप्त हो रहा है, यह अर्थ है, लोक में रस प्रकट करने के लिये ही इस प्रकार गान किया है, अर्थात् इस लोक में ही जीवों का आधिदैविक रूप प्रकट हो करके भगवान् के रसका अनुभव करे, इसलिये गोपियों ने भगवत्सहित गान किया है ।

गोपियों ने जो नाद प्रकट किया, उसको अमृतमय करने के लिये भगवान् ने भा नाद किया है, भगवान् ने जो नाद किया वह मधुर ही है, और उस गान से जगत् पूर्ण करना चाहिये, किन्तु स्वामिनियों को ही रस का अनुभव कराने के लिये भगवान् ने गान किया है ।

(सुबो०) ततोऽघटमानमेतदिति तदर्थमाह-काचिदिति ।

फिर इस गान से जगत् पूर्ण करना घटता नहीं है, और भगवान् के आनन्द का अनुभव भी नहीं घट सकता है, इसलिये भगवान् के आनन्द से जगत् पूर्ण करने के लिये मुकुन्द भगवान् सहित गान के कथन मोक्ष के उपयोगी उपनिषद् रूप स्वामिनियों का निरूपण करते स्वरजाति का उन्नयन शुकदेव जी कहते हैं ।

गान करने वाले उपनिषद् के श्रवण की तरह गोपियों का नाद श्रवण करे तो इनके हृदय में अन्य विषय प्रविष्ट नहीं होता है, पश्चात् भगवान् के मधुर नाद का भी श्रवण होता है, फिर भगवान् के आनन्द का अनुभव होता है अनन्तर गान में की भगवल्लीला का श्रवण करके अस्मदादि को भी फल प्राप्त होता है, इस प्रकार सब जगत् पूर्ण हो जाता है, यह सब गोपियों की कृपा से ही होगा ।

'उत्पन्न नाद को अमृतत्व करने के लिये' इस विषय में प्रकाशकार दशदिगन्त विजयी श्री पुरुषोत्तम जी लिखते हैं, कि आहत, अनाहत भेद से नाद दो प्रकार का है, उसमें जो अनाहत नाद है, वह प्राण घोष रूप है, यह लोगों को रञ्जन करने वाला नहीं है, अर्थात् आनन्द देने वाला नहीं है, आहत नाद लोगों को आनन्द देने वाला है, उसके उत्पन्न का प्रकार शास्त्र में इस प्रकार है ।

'आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः । देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
ब्रह्मप्रस्थस्थितः सोऽथ क्रमाद्ब्रह्मपथे चरन् । नाभिहृत्कण्ठमूर्धस्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम् ॥
'नादोत्सूक्ष्मः सूक्ष्मश्च पुण्ड्रोऽपुण्ड्रश्च कृत्रिमः । इति पञ्चविधा धत्ते पञ्चस्थानस्थितः क्रमात् ॥
व्यवहारे त्वसो ब्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते । कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः ॥

तस्य द्वाविंशतिर्भेदाः श्रवणाच्छ्रुतयो मताः ॥'

आत्मा को जिस समय बोलने की इच्छा होती है, उस समय यह मन को प्रेरित करता है, मन देह में स्थित अग्नि को प्रेरित करता है, अग्नि वायु को प्रेरित करता है, ब्रह्म प्रस्थ में स्थित वायु क्रम से ऊर्ध्व मार्ग में जाता हुआ, नाभि, हृदय, कण्ठ, मस्तक और मुख, इन स्थानों में ध्वनि

प्रकट करता है, उक्त नाभि आदि पाँच स्थानों में प्रकट हुआ नाद क्रम से अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट, कृत्रिम इस प्रकार पाँच नाम धारण करता है, व्यवहार में तो यह नाद तीन प्रकार का है ।

हृदय में मन्द्र, कंठ में मध्य, मस्तक में तार नाम से कहते हैं, यह नाद उत्तरोत्तर द्विगुण होता होता है, इसके २२ भेद हैं, श्रवण के कारण श्रुतियां मानी हैं ।

इस प्रकार से उत्पन्न नाद रञ्जक-आनन्द देने वाला है, आसन्न्य प्राण का अंशनाद लोक में भी तुल्य है, इसलिये इस लौकिक नाद में अमृत की प्रचुरता नहीं है, वह नाद जिस समय आसन्न्य, आत्मा मूलरूप अपहृत पाप्मा-पाप रहित पूर्ण होता है, उस समय यह अमृत प्राचुर्य होता है मूल में जो कहा है कि 'नादस्यामृतमयत्वाय' इसका अर्थ नाद को अमृत प्रचुरत्व करने के लिये भगवान् ने गान किया, इस प्रकार जो कहा है, वह उक्त प्रकार से है ।

यदि शंका करो कि स्वामिनियों ने जो गान किया है, उसको भगवान् ने अपने नाद द्वारा अमृतमय किया, तो भगवान् के नाद से अमृतमयत्व क्या, किस प्रकार से है ।

इस प्रकार के जानने की इच्छा में श्री विट्ठलनाथ जी टिप्पणी में इसका आशय स्फुट करते हैं 'अत्रायं भावः' यहाँ यह भाव है, कि यह नाद लौकिक नहीं है, तथा पूर्व सिद्ध भी नहीं है, किन्तु अलौकिक तथा अपूर्व है ।

यदि कहो तुमने जो कहा है, वह कैसे जाना जाता है । तो इस प्रकार की आकांक्षा में अलौकिकत्व, तथा अपूर्वत्व का कार्य द्वारा परिचय कराते हैं, 'स च' वह भगवान् का भाव अन्य किसी में नहीं हो, केवल अपने ही में उत्पन्न हो, इसलिये प्रत्येक गोपी ने गान किया ।

और यह नाद स्वामिनियों को भी कहे भाव के अनुसार भगवान् में विशेष भाव की उत्पत्ति होने पर रस का अनुभव कराने वाला होता है ।

गोपियों का गान भगवान् के गान का मूल कारण है ।
इस प्रकार गोपियों का गान दो कार्य करता है, एक तो भगवान् को गान करने के लिये प्रेरणा करता है, दूसरा कार्य सर्व जगत् में गान व्याप्त हो जाता है ।

यह गोपियों के गान को अमृतमयत्व है ।
गोपियों को जो भगवान् में भाव विशेष की उत्पत्ति होती है, वह भगवान् के नाद से मूल आसन्न्य प्राणरूप प्रकट होती है, इसलिये कार्य से गोपियों के नाद को अमृतमयत्व जानना चाहिये ।

यदि गोपियों का नाद सामान्य हो, तो भगवान् उसका पोषण नहीं करे, इस तर्क से भी गोपियों का नाद अमृतमय है ।

यदि शंका करो कि उस प्रकार से तो भगवान् के नाद की ही गोपियों के कार्य में प्रधानता आती है, स्वामिनियों के गान की कार्य में प्रधानता नहीं सिद्ध होती है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि स्वामिनियों के गान की ही प्रधानता है, इसको विशद करते हैं कि (अपरञ्च) पृथक् पृथक् स्वर जाति के भेदों को ऊँचे ले जाने में गोपियां प्रधान हैं, और भगवान् गोपियों के साथ नाद करते हैं, इसलिये गीत हैं, इस प्रकार वर्णन मूल में करने से ज्ञात होता है कि गोपियों का नाद भगवान् के नाद की अपेक्षा मधुर है ।

यदि गोपियों का नाद भगवान् के नाद की अपेक्षा मधुर नहीं मानते तो भगवान् के तार ऊँचे नाद से गोपियों के नाद को दब जाने से रसाभास हो जाये, और गोपियों का नाद करना व्यर्थ हो जाये ।

और यदि भगवान् तथा गोपियां, दोनों का नाद समान हो, तो दोनों ही स्वतन्त्रता से नाद करें, इसलिये परस्पर अनुकूल न होने से दोनों नाद परस्पर रस में उपयोगी नहीं हों, और गोपियां स्वयं नाद का स्वरूप न जानकर भगवान् के नाद को सुनकर भगवान् के सदृश नाद करें, तो भी पूर्वोक्त, परस्पर रस के उपयोगी नहीं हों, इसलिये भगवान् का विचारित क्रम स्वयं जानकर, उसी प्रकार स्वर के पृथक् पृथक् जाति भेदों को गोपियां ऊँचा ले गईं, इस प्रकार जानना चाहिये ।

भगवान् में पूर्ण रस का उदय हुआ है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये भी तथा भगवान् गोपियों के अधीन हैं, इस बात को ज्ञापन करने के लिये 'गोपियां प्रधान हैं, और भगवान् गोण हैं, इस प्रकार का कथन है, कारण कि नायिका, गोपियों का प्राधान्य होना, इस रस का स्वाभाविक रूप है, अतः उक्त प्रकार से स्वामिनियों के नाद को प्राधान्य होने से उसका ही वह कार्य है ।

तो फिर भगवान् के गान का मुख्य कार्य क्या है ।

इसके उत्तर में कहते हैं कि इस प्रकार ऊँचे नाद से साध्य जगत् का पूर्ण होना है, मधुर नाद से जगत् पूर्ण नहीं होता है ।

अन्य धर्म निवृत्त होने पर ही भगवद्धर्म नाद से जगत्पूर्ण होता है, इसलिये जगत्पूर्ण करने के लिये भगवान् के इस स्वरूपका रस जानने वाली, तथा इस स्वरूप का निरूपण करने वाली गोपियां ही हैं, यह सिद्ध हुआ ।

जिस प्रकार 'तत्त्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' में उपनिषद में वर्णन किया जो पुरुष है, उसको पूछता हूँ । इस श्रुति के अनुसार वर्णन किया गया ही ब्रह्म का स्वरूप है, उसी प्रकार गोपियों से निरूपित धर्म वाला ही पुरुषोत्तम स्वरूप है, अन्य धर्म विशिष्ट नहीं है, इसलिये गोपियों का गान उपनिषद वाक्य रूप होने के कारण, इसके श्रवण ने भगवान् प्राकृत भाव रहित हैं, इस प्रकार का ज्ञान होता है, और नाद श्रवण से अपने में भगवान् का संबंध होने से अन्य धर्म राहित्य, अर्थात् विषयान्तर का अभाव तथा भगवान् के मधुर नाद का श्रवण होता है, श्रवण के अनन्तर फिर भगवान् के आनन्द का अनुभव होता है, यह सब प्रभु के गान के कार्य हैं, इस प्रकार भगवान् के गान से जगत् पूर्ण होता है, अतः सर्व योग्य है ।

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।

उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति ॥

तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बहदात् ॥ १० ॥

पद पदार्थ—(काचित्) कोई एक भगवद्भाव को प्राप्त हुई गोपी (अमिश्रिताः) शुद्ध बिना मिली हुई (स्वरजातीः) स्वर जातियों को (मुकुन्देन) मुकुन्द भगवान् के नाद के (समं) साथ (उन्निन्ये) ऊँचा ले गई । (तेन) स्वरजातियों को ऊँचा ले जाने से (प्रीयता) प्रशंसा की भगवान् ने (साधु, साधु) अच्छा किया अच्छा किया (इति) इस प्रकार (पूजिता) प्रशंसा की अन्य किसी गोपी ने (तदेव) वही ऊँचा स्वर (ध्रुवम्) निश्चल जिस प्रकार हो उसी प्रकार ऊँचा ले गई अर्थात् उस नाद को ध्रुव नाद में योजित किया (तस्यै) उस ध्रुव नाद में योजित करने वाली गोपी के लिये भगवान् ने (बहु) सब गोपियों से अधिक (मानं) सम्मान (अदात्) दिया ॥१०॥

भाषार्थ—कोई एक भगवद्भाव को प्राप्त हुई गोपी शुद्ध अपने बिना मिले स्वर जाति भेदों को मुकुन्द-मोक्ष देने वाले भगवान् के नाद के साथ ऊँचा ले गई, इससे प्रसन्न हुए भगवान् ने बहुत अच्छा बहुत अच्छा इस प्रकार इस गोपी की प्रशंसा की, अन्य भगवान् के द्वितीय पार्श्व में स्थित गोपी ने उस ऊँचे स्वर को ध्रुव नाद के साथ-स्थायी स्वर के साथ योजित किया इसलिये भगवान् ने इसके लिये बहुत मान दिया है ॥१०॥

(सुबो०) मुकुन्देन समं अमिश्रिताः स्वरजातीः काचिदुन्निन्ये । काचित् सम्यग् भगवद्भावं प्राप्ता । भगवतो नादकरणे हेतुः—मुकुन्देनेति । मोक्षदानार्थमेव उपनिषदि स्वनादं पूरितवान् । उभयोरेकता । नादे तुल्यता मोक्षे कार्यद्वयम् । पूर्व-सङ्घातान्निवर्तनं ब्रह्मप्रापणं च । तदर्थमितरनिवारणार्थमुपनिषदामुपयोगः स्वराः षड्जादयः । तेषां जातिभेदाः । यथा मयूरः षड्जं वदति । तथा अन्येपि पक्षिणः मनुष्या अन्येऽपि जीवाः षड्जं वदन्ति, तथापि तेषामवान्तरजाति-रस्ति । ते चेद्यथा क्रमेण यथा रसाभिव्यक्तिः यदभिप्रायेण सृष्टावुत्पादिताः तास्तथैव योजिताश्चेत्, तदा स्वरजातयः अमिश्रिताः भवन्ति । तद्भगवता कर्तुं शक्यम्, नान्येन । तासां चेदुन्नयनम्, तदा युक्त एव सन्तोषः । तदाह—पूजिता तेन भगवतेति । स्वस्य ब्रह्मत्वात् स्वविचारितानुपूर्वीति स्वस्य तथा गानं नाश्चर्यहेतुः । अन्ये तु तत्स्वरूपमेव न जानन्ति, कुतः पुनः करिष्यन्तीति तेनैव पूजिता । किञ्च, कार्यमपि उन्नयनेन जातमिति । साधु साध्विति । प्रीयता प्रीति कुर्वता भगवता । स्वरूपतः फलतश्च साधुत्वाय द्विरुक्तिः । प्रीतिश्च तुल्यत्वात् सर्वथा कार्यानु गुणत्वात् । अन्या पुनः उन्नीतमेव यावद् भगवता पुनर्गृह्यते, तावत्तथैवोन्नयनं कृतवतीत्याह तदेवेति । तदेवोन्नीतं ध्रुवं निश्चलं यथा भवति, तथा उन्निन्ये । तं नादं ध्रुवनादे योजितवती । ध्रुवनादः कारणनादः स्थायी स्वरः । 'यत्रोपविशते रागः स्वरः स्थायी स कथ्यते ।' भगवन्नाद एव वा । भगवता तथैवगीतमिति । ध्रुवतालादिषु योजित वतीति केचित् । तत्र विचार-क्षमम् । एवं ध्रुवयोजनायां भगवाँस्तस्यै बह्वैव सम्मानमदात् । चकारादभीष्ट-मपि । एवं तासामन्तः सामर्थ्यं जातमिति बहिः सामर्थ्यं किं वक्तव्यमिति भावः । बह्विति सर्वगोप्यधिकम् । ऐश्वर्यवीर्यरूपे चैते निरूपिते । अन्याश्चतस्रः क्रमेण बोद्धव्याः ॥ १० ॥

कोई गोपी मुकुन्द के साथ बिना मिली हुई स्वर जाति को ऊँचा ले गई, 'काचित्' अर्थात् सम्यग् भगवद्भाव को प्राप्त हुई यह गोपी थी, और इस स्वर जाति को मैं ऊँची ले जाऊँगी इस प्रकार भगवान् के आशय को यह जानती थी ।

नाद सर्व साधारण है, भगवान् के विचारित क्रमानुसार इस गोपी को ही ऊँचा करना है, इस प्रकार का भाव है ।

भगवान् ने जो नाद किया है उसका हेतु शुकदेव जी कहते हैं (मुकुन्देन) मोक्ष देने के लिये ही, अर्थात् आधिदैविक रूप प्रकट करके औरों को भगवान् का भजन करने के लिये तथा स्वामिनियों को भगवद्विषयक भाव उत्पन्न करके रस का अनुभव कराने के लिये उपनिषद् में, स्वामिनियों के नाद में भगवान् ने अपना नाद पूर्ण किया ।

‘यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति’ ‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्’ जहां पर द्वैत की तरह होता है, वहां दूसरा दूसरे को देखता है, किन्तु जहां तो ब्रह्मवेत्ता का सर्व आत्मा ही हो गया है, वहां फिर किस से कौन को देखे, किस से कौन को जाने, इत्यादि श्रुति से जिस प्रकार मोक्ष में ब्रह्म मात्र की ही एक स्फूर्ति होती है, उसी प्रकार गोपियों की भगवान् ने अपने में ही आसक्ति सम्पादन करके केवल शृङ्गार रसात्मक कृष्ण की अद्वैत स्फूर्ति व्रजसुन्दरियों को जिस प्रकार से हो, उस प्रकार का उपाय करने की भगवान् की इच्छा है, वह उपाय भगवान् का नाद है, नाद से ही परम आनन्द उत्पन्न होता है, और उससे इतर पदार्थ की विस्मृति हो जाती है, यह बात लोक में प्रसिद्ध है, इससे यह सिद्ध हुआ कि शृङ्गार रसात्मक कृष्ण की अद्वैत स्फूर्ति ही मोक्षपदवाच्य है, अर्थात् इसको मोक्ष कहते हैं, तो यहां जो मूल में (मोक्षदानार्थ) इस प्रकार कहा है, उसका अर्थ यह होता है कि मोक्ष देने के लिये, अर्थात् शृङ्गार रसात्मक कृष्ण की अद्वैत स्फूर्ति के लिये उपनिषद् में गोपियों के नाद में भगवान् ने अपना नाद किया ।

व्रज सीमन्तनियों ने जो नाद किया, वह यहां उपनिषद् पदवाच्य है, कारण कि स्वामिनियों का नाद भगवान् के स्वरूप का प्रकाशक है, तथा स्वामिनियों का नाद रसात्मक प्रभु के स्वरूप का ही गान करता है, जिस प्रकार का प्रभु का स्वरूप गोपियां गान करती हैं, उसी प्रकार का प्रभु का स्वरूप है, कारण कि प्रभु का स्वरूप केवल गोपियां ही जानती हैं, इसलिये उपनिषद् रूप स्वामिनियों के नाद में भगवान् ने अपना नाद पूर्ण किया, यह अर्थ सिद्ध है ।

गोपियों का नाद तथा भगवान् का नाद, दोनों एक हैं ।

मोक्ष रूप एक कार्य करने के कारण दोनों नादों में तुल्यता है ।

मोक्ष में दो कार्य होते हैं, पहिले देह आदि संघात में से निवृत्ति करनी, और ब्रह्म प्राप्ति करानी ।

पहिला कार्य गोपियों के नाद से होता है, और दूसरा कार्य भगवान् के नाद से होता है । व्रज-सुन्दरियों के किये भगवद्-गुण-गान श्रवण करने वाले को पूर्व संधान से निवर्तन, और ब्रह्मप्राप्ति होती है, इसी बात को कहते हैं कि उक्त कार्य सिद्ध करने के लिये, तथा भगवान् से इतर सर्व पदार्थों को दूर करने के लिये उपनिषद्-रसात्मक श्री कृष्ण-स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली व्रज-सुन्दरियों के किये नाद का उपयोग है ।

स्वर, षड्ज आदि सात हैं ।

‘स्यातां निषादगान्धारी द्विश्रुती धैवतर्षभौ ।

त्रिश्रुती वेदश्रुतयः षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥

मयूर-चातकच्छाग-क्रौञ्च-कोकिल-दहुराः,

गजश्च सप्त षड्जादीन् क्रमादुच्चारयन्त्यमी ॥’

षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, और निषाद, ये सात स्वर हैं, निषाद तथा गांधार में दो श्रुति हैं, धैवत् तथा ऋषभ में तीन श्रुति हैं, षड्ज, मध्यम तथा पञ्चम में चार श्रुति

हैं, इन सात स्वरों का उच्चारण पृथक् पृथक् है, मोर का स्वर और षड्ज स्वर एक सा है, मोर षड्ज स्वर का उच्चारण करता है, चातक पक्षी ऋषभ स्वर का उच्चारण करता है, बकरी गांधार का उच्चारण करती है, मेढक धैवत स्वर का उच्चारण करता है, हाथी निषाद स्वर का उच्चारण करता है, स्वरों की सात शुद्ध जातियां, और ग्यारह मिश्र जातियां हैं, इनके जातिभेद हैं ।

जिस प्रकार मोर षड्ज स्वर बोलता है, उसी प्रकार अन्य पक्षी, मनुष्य, अन्य जीव भी षड्ज स्वर बोलते हैं, तो भी स्वरों की अवान्तर-भीतर जातियां होती हैं, ब्रह्मा ने स्वरों को क्रम से सृष्टि समय में जिस प्रकार रस की अभिव्यक्ति हो, उस प्रकार के अभिप्राय से उत्पन्न किया है, वे स्वर उसी प्रकार से यदि व्यवहार में लाये जाते हैं तो स्वर जातियां अभिव्यक्ति-बिना मिलीं शुद्ध होती हैं, यह कार्य भगवान् कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं कर सकता है ।

गोपियां यदि स्वर जातियों को ऊँचा करें तो भगवान् को संतोष होना योग्य ही है, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं (पूजिता तेन भगवता) भगवान् ने स्वर जाति को ऊँचा ले जाने वाली गोपी का सम्मान किया ।

भगवान् स्वयं ब्रह्म है, इसलिये अपने विचारित क्रम से यदि स्वयं गान करें तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु अन्य तो इसका स्वरूप भी नहीं जानते हैं, फिर गान कैसे करें, अथवा इनका पूजन कैसे करें, इसलिये भगवान् ने ही पूजन किया, और भगवान् का गोपियों में भाव उत्पन्न करने का कार्य भी स्वर ऊँचा करने से संपन्न हो गया । इस बात को सूचन करने के लिये शुकदेव जी कहते हैं । (साधु साधु प्रीयता) ।

प्रीति करते भगवान् ने ‘साधु साधु’, बहुत अच्छा बहुत अच्छा, इस प्रकार कहा, स्वरूप से तथा फल से गोपियां साधु हैं, इस बात को कहने के लिये मूल में साधु शब्द का दो बार प्रयोग किया है ।

भगवान् गोपियों के ऊपर प्रसन्न हुए, इसका कारण यह है कि गोपियां तुल्य हैं, और सर्वथा कार्य के अनुकूल हैं ।

द्वितीय पार्श्व में दूसरी तरफ स्थित अन्य गोपी तो फिर प्रथम गोपी द्वारा ऊँचा किया स्वर जब तक भगवान् फिर ग्रहण करें, तब तक उसी प्रकार से ऊँचा करती हुई, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं (तदेव) ।

वही स्वर ऊँचा किया ध्रुव निश्चल जिस प्रकार से होता है, उसी प्रकार अन्य गोपी ले गई, अर्थात् उस नाद को ध्रुव नाद में योजित किया ।

ध्रुवनाद, यह कारण नाद है, इसलिये स्थायी स्वर है ।

‘यत्रोपविशते रागः स्वरः स्थायी स कथ्यते ।

जिसमें राग रहता है, वह स्वर स्थायी कहलाता है ।

‘गानक्रिया वर्णसंज्ञया सङ्गीते व्यवह्रियते । गानक्रियोच्यते वर्णः स चतुर्धा निरूपितः ॥

स्थाय्यारोह्यवरोही च संचारीत्यथ लक्षणम् ॥’

‘स्थित्वा स्थित्वा प्रयोगः स्यादेकैकस्य स्वरस्य यः । स्थायी वर्णः स विज्ञेयः’ संगीतशास्त्र में गान क्रिया को वर्ण कहते हैं, वर्ण चार प्रकार का है, स्थायी, आरोही, अवरोही, और संचारी, एक एक ही स्वर का ठहर ठहर कर प्रयोग जहां हो उसको स्थायी वर्ण कहते हैं ।

स्थायी वर्ण का इस प्रकार दूसरा लक्षण है, फिर इस गान में किस प्रकार का स्थायी है। यह संदेह हो तो श्री महाप्रभु जी पक्षान्तर कहते हैं (भगवन्नादएव वा) अथवा भगवान् का नाद है।

‘चतुर्विधाः स्वरा वादी संवाद्यय विवाद्यपि ।
अनुवादीति वादी तु प्रयोगे बहुलः स्वरः ॥
श्रुतयो द्वादशाष्टौ च ययोरन्तरगोचराः ।
मिथः संवादिनी तौस्तो निगावन्यविवादिनी ॥
रिधयोरेव वा स्यातां तौ तयोर्वा रिधावपि ।
शेषाणामनुवादित्वं वादी राजात्र गीयते ॥
संवादी त्वनुसारित्वादस्या मान्योऽभिधीयते ॥’

स्वर चार प्रकार के हैं, वादी, संवादी, विवादी और अनुवादी, इनमें वादी स्वर राजा है, संवादी स्वर वादी के अनुसार होने से अमान्य है, इस प्रकार सङ्गीत शास्त्र में निरूपण किया है।

भगवान् का नाद वादी है और वह राजा होने के कारण ध्रुव है, इसमें ही संवादी नाद स्वामिनियों ने योजन किया है, इसमें हेतु कहते हैं कि (भगवता तथैव गीतम्) जिस प्रकार के नाद में स्वामिनी नाद का योजन होता है, उसी प्रकार का नाद भगवान् ने गान किया है, (तदेव ध्रुव मुन्निये) इस वाक्य का अर्थ कितने ही टीकाकार इस प्रकार करते हैं कि गोपियों ने ध्रुव ताल आदि में अपना नाद योजन किया है, किन्तु उक्त अर्थ विचार से क्षम नहीं है, अर्थात् पूर्वापर का विचार करने से सङ्गत नहीं होता है, कारण कि इस प्रकार का अर्थ मानेंगे तो ध्रुव ताल आदि में अपना गान योजन करना यह कार्य गोपियों का सुकर-सरल है, कठिन नहीं है, फिर गोपियों का जो सम्मान भगवान् ने किया, उसका कारण न होने से (तस्यै मानं च बह्व-दात्) भगवान् ने गोपी के लिये बहुत मान दिया, इस ग्रंथ की सङ्गति नहीं होगी, और यदि अन्य टीकाकार के अनुसार अर्थ माना जाये तो मूल में ‘ध्रुवे उन्निये’ इस प्रकार समझी कहते हैं। अतः अन्य टीकाकारों का अर्थ विचार क्षम नहीं है।

इस प्रकार स्वामिनी ने ध्रुव में जब अपना नाद योजन किया, तब भगवान् ने उसका बहुत सम्मान किया, और उसको अभीष्ट-इच्छित वस्तु का दान दिया, इस प्रकार अर्थ मूल श्लोक में च कार से सूचित हुआ है।

इस प्रकार गोपियों के भीतर सामर्थ्य भगवान् ने दिया, फिर बाहर सामर्थ्य देने की बात कही, यह कहना चाहिये, यह भाव है।

बहु-अर्थात् सब गोपियों से अधिक सामर्थ्य का दान दिया, इस प्रकार ऐश्वर्य, तथा वीर्य-रूप दो गोपियों का वर्णन किया है।

भगवान् ने अपने धर्म दोनों अयोगोलक न्याय से अर्थात् अग्नि में जिस प्रकार लोहे का गोला अग्नि रूप हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् ने ऐश्वर्य, वीर्य दोनों धर्म स्थापित किये हैं, चकार से उपनिषद्रूप भी स्थापन किया है।

(काचित्समं मुकुन्देन) इसमें जिस गोपी का वर्णन किया है, उसमें भगवान् के ही द्वारा ऊँची ले जाने वाली जो स्वर जाति है, उसको ऊँची ले जाने की सामर्थ्य है, इसलिये इस गोपी में ऐश्वर्य है, कारण कि ईश्वर के तुल्य कार्य किया है।

‘तदेव ध्रुवमुन्निये’ इस श्लोक में जिस गोपी का वर्णन किया है, उसमें भगवान् का वीर्य धर्म है, कारण कि ऊँची की गई ही स्वर जाति जब तक भगवान् फिर ग्रहण करें तब तक पहिले से ही इस गोपी ने स्वर जाति को ऊँचा कर दिया, भगवान् के वीर्य बिना भगवान् से पहिले किसी का भी सामर्थ्य नहीं है, जो स्वर जाति का उन्नयन कर सके, भगवद्धर्म वीर्य इस गोपी में स्थित है, इसी से इसने उन्नयन किया है, यह बात स्वीकार करनी चाहिये। शेष चार धर्म कीर्ति श्री, ज्ञान तथा वैराग्य, ये गोपियों में स्थापित किये हैं, अर्थात् ये गोपियां तत्तद्धर्म रूप हैं, इसका वर्णन क्रम से ११ से १४ तक चार श्लोक में किया है ॥ १० ॥

(सुबो०) कीर्तिहि भगवन्तमेवावलम्बते । अतः कायिकं व्यापारं द्वयो-
राह—काचिदिति ।

रासक्रीडा में भगवान् के साथ प्रथम युगल का वाचिक व्यापार-गान कहा, अब ग्यारह तथा बारहवें श्लोक में कायिक व्यापार का वर्णन करते हैं, इस श्लोक में द्वितीय युगल का कायिक व्यापार श्री शुकदेव जी कहते हैं, उसमें ‘श्री’ का कायिक व्यापार प्रसिद्ध है, इसलिये श्री रूप ही स्वामिनी का कायिक व्यापार भगवान् में कहना चाहिये, कारण कि कीर्ति भी भगवान् का ही अवलम्बन करती है, इसलिये कायिक व्यापार कीर्ति तथा श्रीरूप जो दो स्वामिनी हैं, उनका दो श्लोकों से कहते हैं।

काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः ।

जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—(काचित्) कोई एक स्वामिनी (रासपरिश्रान्ता) रास से अत्यन्त थकी (श्लथद्वलयमल्लिका) शिथिल हुई वलय-कङ्कणाकार मल्लिका के पुष्पों की माला जिसकी (पार्श्वस्थस्य) समीप में स्थित (गदाभृतः) गदा धारण करने वाले भगवान् के (स्कन्धं) कंधे को (बाहुना) अपने हस्त से (जग्राह) ग्रहण करती हुई ॥ ११ ॥

भाषार्थ—कोई एक स्वामिनी रास से अत्यन्त थकित तथा शिथिल हुई वलयाकार मल्लिका के पुष्पों की माला जिसकी, वह समीप में स्थित गदाभृत भगवान् के कंधे को अपनी बाहु से ग्रहण करती हुई ॥ ११ ॥

(सुबो०) रासेन परितः श्रान्ता स्वस्यैकस्मिन् पार्श्वे विद्यमानस्य स्कन्धं स्वबाहुना जग्राह । गदाभृत इति भगवतः स्थिरत्वाय । अधिकप्रयत्ने अन्यथा क्रियमाणे रासो भज्येत । परिश्रमो रसाधिक्यात् । अन्यथा रसार्थं प्रवृत्तिर्न स्यात् । मण्डलपरित्यागे मण्डलसिद्धयर्थं भगवतापि हस्तग्रहणं सम्भवति । अत एकस्मिन्पार्श्वे भगवानेव । पार्श्वभागे विद्यमानस्य भगवतः कण्ठग्रहणं वृक्षा-धिष्ठालिङ्गनं भवति । भगवता पूर्वं कण्ठे सा गृहीता, तथापि भगवान् गृहीत इति मित्रवत् स्थितिः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमाह श्लथद्वलयमल्लिकेति । श्लथन्ती वलयाकारा मल्लिका यस्याः । कबरे वलयाकारेण मल्लिकामाला बद्धा । सा च शिथिला जातेति वैकल्यं प्रदर्शितम् । आसता च प्रदर्शिता ॥ ११ ॥

कोई गोपी रास से अत्यन्त थकी अपने एक पार्श्व में-एक तरफ में विद्यमान भगवान का कन्धा गला अपनी बाहु से ग्रहण करती हुई, गदाभूत अर्थात् गदा को धारण करने वाले भगवान की स्थिरता के लिये कंधे को अपनी भुजा से पकड़ लिया ।

भगवान् गदाभृत् हैं, इसलिये रास में श्रमित होने पर स्थिति करने के लिये कदाचित् गदा का स्मरण करें तो इस शंका से इस गोपी ने स्वयं ही भगवान् को रोकने के लिये अपनी भुजा से भगवान् का कंधा गला पकड़ लिया ।

कभी भगवान् गदा को आधार बनाकर खड़ा होता है, और कभी चलता है। रास क्रीड़ा में भगवान् का चरण जिस प्रकार इधर-उधर डगमग नहीं हो, तथा जिस प्रकार पहिले मण्डल तथा नृत्य हो रहा था, उसी प्रकार होता रहे, इस प्रकार भगवान् का कंधा ग्रहण कर लिया है।

यदि कहो कि श्रान्त गोपी का स्थिर भगवान् में अपना भार धरना आदि ही थकावट दूर करने के लिये कहना चाहिये, फंसे मात्र का ग्रहण नहीं कहना चाहिये ।

इस शंका का समाधान करते कहते हैं (अधिक प्रयत्ने) भगवान् करने के लिये गदा से अधिक प्रयत्न करे तो रासभङ्ग हो जाये, कारण कि रस की अधिकता से है । परिश्रम में स्थिति गोपी को परिश्रम

यदि कहो कि रस की अधिकता से ही उत्पन्न श्रम है, इसमें क्या गमक है। इस प्रकार प्रश्न में गमक कहते हैं कि, 'अन्यथा रसाथं' परिश्रम की स्थिति में फिर गोपी की रस के लिये प्रवृत्ति नहीं होती।

यदि गोपी को परिभ्रम शरीर के क्लेश से उत्पन्न होता तो फिर गोपी बैठने आदि का प्रयत्न करती, स्कंध ग्रहण नहीं करती ।

यदि कहो कि जब गोपी ने भगवान् का अपने हस्त से स्कंध ग्रहण कर लिया तब हस्त छूटने पर मण्डल भङ्ग हो जाने के कारण रास भी भङ्ग हो गया होगा ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि उक्त दशा में तथा नृत्य के आवेश से कदाचित् स्वामिनी का हस्त छूट जाये तो मण्डल की सिद्धि के लिये भगवान भी स्वामिनी के हस्त स्थान में अपने हाथ से ग्रहण कर लेते हैं, अर्थात् भगवान भी स्वामिनी का हाथ पकड़ लेते हैं।

उस समय पास में भगवान ही हैं, भगवान से व्यवहित-बीच में स्वामिनी नहीं है, इसलिये एक तरफ में भगवान ही हैं ।

पार्श्व भाग में विद्यमान भगवान का कण्ठ ग्रहण करने से 'वृक्षाधिरूढ' नाम का बालिष्ठ होता है, रसशास्त्र में इसका लक्षण कहा है कि—

‘रमणचरणमेकेनोरुणाक्रम्य स्वित्तश्चसितमपरपादेनाश्रयन्ती तद्वरम् । निजमथ मुञ्च
कं पृष्ठतोऽस्यार्पयन्ती’ ४।६।१

जिस प्रकार मनुष्य वृक्ष ऊपर क्रम से उसकी शाखा को चरण से दबा कर चढ़ जाता है, उसी प्रकार नायिका अपने नायक के चरण को एक जंघा से दबा कर दूसरे चरण से नायक की ऊरु पर आश्रय करती अपनी एक भुजा को पीठ पर रखती है, इत्यादि प्रकार के वृक्षाधिष्ठालिङ्गन कहते हैं।

इस अध्याय के तीसरे श्लोक में 'द्वयोद्व'योः प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे' इत्यादि से कहा है कि भगवान् ने पहिले गोपियों का कण्ठग्रहण किया था, इस गोपी ने भी भगवान् का कण्ठ ग्रहण किया।

एक हस्त से ग्रन्थि स्थापन की, और दूसरे हस्त से कंधा-गला पकड़ लिया, इस प्रकार दोनों का सामुह्य हो गया, यह जानना चाहिये ।

यह प्रकार दूसरी स्वामिनी की स्थिति में नहीं बन सकता है, पास में भगवान ही हैं ।

यदि कहो कि फिर दोनों की मित्र की तरह स्थिति हो गई क्या ?

इस शंका का निवारण करते शुक्रदेव जी कहते हैं कि 'सुखद्वलयमल्लिका' शिथिल हुई वलयाकार-कङ्कणाकार मल्लिका के पुष्पों की माला जिसकी, इस प्रकार की गोपी की दशा हो गई ।

इस गोपी ने कबर में-शिरः प्रान्त शिखा में कङ्कण के से आकारवाली-अर्थात् गोलाकार मल्लिका के पुष्पों की माला बांधी थी, वह माला शिथिल हो गई।

इस प्रकार गोपी का वैकल्य प्रदर्शन किया, तथा आसता दिखाई है।

इस प्रकार गोपी का वैकल्य प्रदर्शन किया, तथा आपत्ता दिखाई है।
 चोटी को पकड़कर चुम्बन रस के अतिमाद में होता है, इसलिये भगवान् ने गोपी का उक्त प्रकार से चुम्बन किया, अतः मल्लिका की माला शिथिल हो गई, इस प्रकार महा रस के दान से आपत्ता यह गोपी मेरी आपत्त भ्रष्ट है, इस प्रकार आपत्ता दिखाई है, इसीसे अङ्गुलियों से पुष्पों की ही शिथिलता हुई, माला की नहीं हुई, यह भाव है।

अथवा शुकदेवजी ने जिस प्रकार भगवान् ने लीला की उसको उसी प्रकार देखकर वर्णन करके अपनी क्षाप्तता दिखाई है,

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।

तत्रकासगत बाहु हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥ १२ ॥
चन्दनालिसमाधाय

चन्दनालिसमाधाय हृष्टरोमा उचुम्ब

पदपदार्थ—(तत्र) उसी समय में (एका) अन्य गोपी (अंसगतं) अपने कंधे पर धरा (उत्पलसौरभम्) कमल की अपेक्षा अधिक सुगन्ध युक्त (चंदनालिसम्) चंदन से सममिश्रित (कृष्णस्य) कृष्ण के (बाहुं) बाहु को (आध्राय) सूँघकर (हृष्टरोमा) भीतर प्रविष्ट आमोद पूर्णानन्द होती रोमाञ्चयुक्त (बाहुमेव) बाहु को ही (उचुम्ब) चुम्बन करती हुई (ह) आश्चर्य में ॥ १२ ॥

हूई (ह) आश्चर्य में ॥ १२ ॥
 साधार्थ—उसी समय अन्य गोपी अपने कंधे पर घरा, कमल की अपेक्षा अधिक गंधयुक्त, और चंदन से समग्र लिप्त श्रीकृष्ण के बाहु को सूंघकर भीतर प्रविष्ट हुए आभोद पूर्णानन्द होती रोमाञ्चयुक्त बाहु का ही चुम्बन करती हुई ॥ १२ ॥
 उत्पलापेक्षया अधिकपरि-

पूर्णानन्द होती रोमाञ्चयुक्त बाहु का ही चुम्बन करती हुई ॥ १२ ॥
(सुबो०) अन्या पुनः स्वस्य एकांसगतं बाहुं उत्पलापेक्षया अधिकपरि-
मलयुक्तं चन्दनेनालिसं बाहुमाघ्राय अन्तःप्रविष्टामोदा पूर्णानन्दा सती हृष्टरोमा
बाहुमेव चुचुम्ब । रूपस्पर्शौ पूर्वमेव स्थितौ । गन्धरसयोरप्यनुभवं कृतवतीति ।
हेत्याश्चर्ये । तत्रेति । तस्मिन्नेव समये, तत्रैव भगवति वा । उभयपार्श्वस्थयोगो-
पिकयोस्तथा सति विनियोग उक्तो भवति । एकांसगतमिति वा । सैव तथा

कृतवतीति केचित् । सदानन्दत्वात् सर्वत्रैव समरसता । उत्पलं हि रात्रिविका-
सि । तत् स्त्रीणां मनोजम् । आघ्राणे चन्दनजसौरभमेव न हेतुः, किन्तु ततोऽपि
विलक्षणं साधारणजनावेद्यं तदपेक्षयापि सौरभयुक्तत्वेनात्यलौकिकभाववतीना-
मेव वेद्यम् । सहजसौरभमित्यपि ज्ञापनायेदं विशेषणम् । चन्दनालेपः विवेक-
धैर्यनाशनार्थः । घ्राणेनान्तः प्रवेशनमस्या विशेषः । एषा श्रीरूपा ॥ १२ ॥

भगवान् के द्वितीय पार्श्व में दूसरी तरफ में स्थित अन्य गोपी फिर अपने एक कंधे पर
प्राप्त हुई कमल की अपेक्षा से भी अधिक सुगन्ध युक्त, चन्दन से समस्त लिप्त हुई भगवान् की
बाहु को सूँघ करके भीतर प्रविष्ट आमोद-पूर्णानन्द होती, रोमाञ्चयुक्त शरीर जिसका इस
प्रकार की भगवान् की बाहु का ही चुम्बन करती हुई ।

इस गोपी को रूप तथा स्पर्श पहिले ही से थे, अर्थात् भगवान् तथा भगवान् के रूप का
दर्शन तथा श्री अङ्ग का स्पर्श पहिले ही से था, इस समय गन्ध रस का भी अनुभव करती हुई, 'ह'
शब्द आश्चर्य अर्थ में है ।

मूल में 'तत्र' कहा है, इसका अर्थ उसी समय में, अथवा भगवान् में, अनुभव किया होता है ।

इन दोनों तरफ की गोपियों का काल भेद से विनियोग है, अतः पार्श्व में भगवान् ही है
इस प्रकार पूर्व कहे से विरोध नहीं है ।

'तास्मिन्नेव समये' उसी समय में ही दोनों तरफ की गोपियाँ अनुभव करती हुई, यदि इस
प्रकार अर्थ करें तो इस पक्ष में तो भगवान् के अनुभाव से ही जिस प्रकार द्वितीय युगल में स्थित
भगवान् का दर्शन नहीं होता है, उसी प्रकार अन्योन्य का भी दर्शन नहीं होता है, यह जानना
चाहिये ।

इस प्रकार भगवान् का श्री हस्त सूँघने वाली तथा चुम्बन करने वाली गोपी भिन्न
भिन्न हैं, और प्रथम श्लोक में कही बाहु से भगवान् के कंधा-गले को ग्रहण करने वाली गोपी भिन्न
है, इस प्रकार भगवान् के दोनों तरफ की गोपियों का विनियोग कहा है ।

कितने ही टीकाकार मानते हैं कि इस श्लोक में जिसका वर्णन किया है, वह गोपी और
प्रथम श्लोक में कही गयी गोपी दोनों एक हैं, भिन्न नहीं हैं ।

यदि इस प्रकार को मान लिया जाये तो दोनों तरफ स्थित गोपियों का विनियोग नहीं
कहते, प्रथम श्रीमहाप्रभुजी ने 'एकासगतम्' इस पद में एक समास मानकर अर्थ किया अब 'एका'
इस प्रकार प्रथमा विभक्ति स्वीकार करके अर्थ कहते हैं कि अथवा तो एक गोपी कंधे ऊपर प्राप्त
भुजा को सूँघती हुई, इस प्रकार अर्थ करना चाहिये ।

(सैव तथा कृतवतीति केचित्) अब कोई टीकाकार कहते हैं कि प्रथम श्लोक में जिस
गोपी का वर्णन किया है, उसी ने इस श्लोक में भगवान् की बाहु सूँघकर चुम्बन किया है ।

यदि यह बात मान लेते हैं तो कीर्ति तथा श्रीरूप से जो दोनों गोपियों का भेद निरूपण
किया है, वह बाधित होता है, इसलिये अन्य टीकाकारों का मत श्रीमहाप्रभुजी को संमत नहीं है,
इस प्रकार सुबोधिनी में 'केचित्' पद सूचन करता है ।

चुम्बन से रस का आस्वाद होता है, कदाचित् यह शंका करो कि अधर में रस होता है,
बाहु में रस नहीं होता है, फिर इस गोपी ने भगवान् की बाहु का चुम्बन क्यों किया ।

इस शंका को दूर करने के लिये श्रीमहाप्रभु जी कहते हैं कि कृष्ण-सदानन्द है, इसलिये
इसके सर्वत्र ही श्री अङ्ग में रसत्व है ।

उत्पल नाम का कमल रात्रि में खिलता है, और वह स्त्रियों को बहुत अच्छा लगता है ।

इस गोपी ने भगवान् की बाहु को सूँघा, इसका कारण चंदन की सुगन्ध ही नहीं है, किन्तु
चन्दन की सुगन्ध से भी विलक्षण जिसको साधारण मनुष्य नहीं जान सके, इस प्रकार की है, और
वह चंदन की सुगन्ध की अपेक्षा भी सुगन्ध युक्त है, अतः जिसमें अत्यन्त अलौकिक भाव हो, वही
इसको जान सकता है भगवान् के श्री हस्त में स्वाभाविक सौरभ है, इस बात को ज्ञापन करने के
लिये भी 'चंदनालिप्तम्' यह विशेषण कहा है ।

भगवान् के श्रीहस्त में जो चन्दन का आलेप है, वह विवेक तथा धैर्य नाश करने के लिये है ।

भगवान् के श्री अङ्ग में अङ्गराग अनुभावात्मक है, इसलिये प्रचुरभाव विशेष उत्पन्न
करता है, इससे विवेक तथा धैर्य का नाश करता है ।

बाहु का चुम्बन करना लोक में प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये सखियों के सामने में बाहु का
चुम्बन क्यों कर्ह, इस प्रकार का विचार विवेक है, और भगवान् के साथ एकान्त समय मिलने की
प्रतीक्षा करके स्थितिका नाम धैर्य कार्य है, आघ्राण कार्य सर्व गोपियों में समान है, फिर इस गोपी
में सूँघने से भीतर आनन्द का प्रवेश होना विशेष है, यह गोपी श्रीरूप है ॥ १२ ॥

(सुबो०) कथाचिद्भगवद्गृहीतताम्बूलं ज्ञानवद्गृहीतमित्याह कस्याश्चिदिति ।

किसी गोपी ने भगवान् द्वारा ग्रहण किया ताम्बूल-पान को ज्ञानवान् की तरह ग्रहण किया
यह स्वामिनी प्रथम अध्याय में 'काचिदञ्जलिना' भा. १०।२१।५ इस श्लोक में कही हुई स्वामिनी
से भिन्न है, इसी बात को ज्ञापन करने के लिये आभास में 'गृहीत' कहा है ।

यदि इस बात को नहीं मानते तो मूल श्लोक में जो 'प्रादात्' दान किया, इस प्रकार जो
कहा है, उससे विरोध आता है ।

पूर्व अध्याय २९ में 'काचिदञ्जलिना' इस श्लोक में जो ताम्बूल का वर्णन किया है, वह ताम्बूल
भगवान् के लिये श्री ने समर्पण किया है, और इस श्लोक में ताम्बूल इस गोपी ने समर्पण भगवान्
को किया है, कारण कि 'कस्याश्चित्' इस पद से षष्ठी विभक्ति संबंध सूचन कर रही है इसलिये
इस गोपी ने ही समर्पण किया है, इसी आशय से आभास में 'भगवद्गृहीतं ताम्बूलं' यह कहा है ।

जिस प्रकार ज्ञान को शिष्य गुरु की शरण जाकर सेवा आदि यत्न से प्राप्त करता है, उसी
प्रकार यह गोपी भगवान् ने ग्रहण किये ताम्बूल को अपना कपोल—गाल भगवान् के कपोल से
मिलाकर यत्न से ग्रहण करती हुई ।

गोपी को भगवान् ने ताम्बूल का दान किया, इस बात को शुकदेवजी आगे तेहरवें श्लोक
में कहते हैं ।

यहां पर यह जानना चाहिये कि द्वितीय स्कंध में 'निरोधोऽस्यानुशयनम्' यह निरोध का
लक्षण कहा है, वहां पर श्री महाप्रभु जी आज्ञा करते हैं कि बहत्तर ७२ नाडी रूप देह की शक्तियाँ
हैं, और भगवान् की श्री, पुष्टि, गौर, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या, अविद्या, शक्ति,
माया, ये बारह शक्तियाँ हैं ।

शयन, (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त) भेद से तीन प्रकार का है, इसीसे दशमस्कंध में ८७
सत्तासी अध्याय संख्या का बीज कहा है, और यह बीज स्थूल दृष्टि से कहा है ।

प्रश्नोपनिषद् में 'अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतं एकैकस्यां द्वांसति प्रतिशाखा
नाडीसहस्राणि' प्र० ३।६ ।

हृदय में एक सी एक नाड़ियां हैं, प्रत्येक नाड़ियों में सी, सी अन्य छोटी नाड़ियां हैं, इन छोटी प्रत्येक नाड़ियों में बहतर ७२ नाड़ियां हैं, इनमें भी हजार प्रति शाखा नाड़ी, अर्थात् अनन्त नाड़ियां हैं।

उसी प्रकार यहां दशम निरोध स्कंध में भी वाक्य, प्रकरण आदि जिन विषयों का प्रतिपादन किया है, उनका विचार करने पर सर्व विषय अनन्त हैं, इस प्रकार 'परास्य शक्तिविविधै' परमात्मा की पराशक्ति विविध ही हैं, उक्त श्रुति में भगवान् की शक्ति अनेक प्रकार की कही हैं।

यहां भक्तों के निरोध में भी भगवान् के गुण धर्म आदि भेद से भक्तों में अनेक भेद हैं।

सर्व गोपियों में अन्तरङ्ग तो धर्म रूप गोपियां ही हैं, कारण कि भगवद्रूप ज्ञान की निर्वाहक-प्राप्त कराने वाली हैं, अर्थात् भगवद्रूप ज्ञान का बोध करने वाली हैं।

यहां पर जो लीला हो रही है, उसमें स्थित अन्तरङ्ग धर्म रूप गोपियां ही हैं, इस प्रकार संख्या बल से निश्चय होता है।

अन्तरङ्ग धर्म रूप गोपियों में यहां प्रथम जो ऐश्वर्यं, वीर्यं, यश तथा श्री, ये चार प्रकार की गोपियों के स्वरूप का परिचय 'काचित्समं' इत्यादि श्लोकों में कहे भिन्न-भिन्न कार्यों से ही हो जाता है, इसलिये वहां विशेष स्पष्ट नहीं किया।

अब इस श्लोक में कही स्वामिनी का तो ज्ञानरूपत्व प्रमाण कार्य यहां तथा आगे स्फुट नहीं है, केवल योग्यता ही स्फुट है, इसलिये योग्यता के बल से यह गोपी ज्ञान रूप है, इस प्रकार को स्पष्ट करना चाहिये।

जिस प्रकार 'अञ्जलिना सक्तुं प्रदाव्ये जुहुयात्' इसमें कहा है कि हस्त में सक्तुआ जिस प्रकार रह सके उस प्रकार अञ्जलि को संकुचित करके हवन करे।

इस वाक्य में सक्तुआ की स्थिति योग्यता बल से अञ्जलि को संकुचित करना कहा है, उसी प्रकार योग्यता बल से इस गोपी में भी ज्ञान रूप स्पष्ट करना चाहिये कि यह गोपी ज्ञान रूप है।

ऐश्वर्यं आदि भगवान् के धर्म भगवान् में नित्य हैं, अन्य में आगन्तुक, अनित्य हैं, इसका वर्णन 'युक्तं भगैः स्वैरितत्र चाध्रुवैः' यहां पर किया है, इसीसे प्रकृत-चालू गोपियों के प्रसङ्ग में गोपियां रस रूप के मध्यपाति हैं, तथा धर्म रूप हैं, इसलिये भगवान् से अभेद होने पर भी अब तार से भिन्न हैं, अतः गोपियों में ऐश्वर्यं आदि धर्म आगन्तुक ही हैं, यह बात गोपियों के कार्य द्वारा भी मालूम होती है।

जब ऐश्वर्यं आदि धर्म आगन्तुक हैं, तो इनमें जो ज्ञान है, वह भी आगन्तुक आया हुआ अनित्य है, इसलिये इसका दान करने में दान लेने वाली गोपी के साधन से तथा स्वरूप से योग्यता दान करने में कारणभूत है, तथा भगवान् का प्रसाद-अनुग्रह, दान करने में कारणभूत है। इस प्रकार मूल में सूचन किया है।

कस्याश्चिन्नाद्यविक्षिप्तकुण्डलत्वमण्डितम् ।

गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्ताम्बूलचर्वितम् ॥ १३ ॥

पदपदार्थ—(कस्याश्चित्) किसी गोपी के लिये (नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्वमण्डितम्) नृत्य से हिलते हुए कुण्डलों की कान्ति से शोभित (गण्डं) कपोल को (गण्डे) भगवान् के कपोल में, (सन्दधत्यै) मिलाने वाली के लिये भगवान् (ताम्बूलचर्वितम्) चर्वित पान को (अदात्) देते हुए। 'प्रादात्' इति पाठान्तरं प्रकाशे ॥ १३ ॥

भाषार्थ—नृत्य से हिलते हुए कुण्डलों की कान्ति से शोभित अपने कपोल को भगवान् के कपोल में मिलाने वाली किसी गोपी के लिये भगवान् ने चर्वित ताम्बूल दिया ॥ १३ ॥

(सुबो०) कस्यैचित् ताम्बूलचर्वितमदादिति । स्वगण्डं भगवद्गण्डे सन्दधत्या इति तस्या अपेक्षा लाघवं च सूचितम् । सम्मुखत्वाभावेऽपि लाघवेनैव प्रादात् । अनेन तस्यै स्वविद्या दत्तेति ज्ञापितम् । तेनेयमेवोपदेष्ट्री भगवदसन्निधाने सर्वासां भविष्यति । तस्याः विद्यायोग्यतां वक्तुं लौकिकक्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वमाह नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्वमण्डितमिति । नाट्येन विक्षिप्तस्य कुण्डलस्य त्विषा मण्डितं गण्डम् । नाट्ये क्रियाशक्तिः प्रतिष्ठिता । कुण्डले ज्ञानशक्तिः । क्रियाशक्त्या विक्षेपोऽन्यभ्यासः । योगात्मकत्वात् साधनानि वा । तस्य कान्तिरनुभवः । तेनालङ्कृता भक्तिः । भगवत्प्रेम्णा सम्बद्धा । यथा सा भगवति रता, एवं तस्यामपि भगवान् रतः । 'तत्रापि गण्डमिदं साध्यरूपा भक्तिरुच्यते ।' तां लक्ष्मीं प्रति मूलपर्यटनमिति । लक्ष्मोवन्तं प्रति पुनः पुनरावर्तत इति ज्ञानताम्बूलयोस्तुल्यता । चर्वितमिति साधनप्रयासाभावेन सिद्धदानम् ॥ १३ ॥

किसी गोपी ने भगवान् को अपना सम्बन्धी जानकर जो पान दिया, उस चर्वित पान को भगवान् ने उस गोपी के लिये दिया।

इस गोपी ने अपना गण्ड-कपोल भगवान् के कपोल में मिलाया, इससे गोपी को भगवान् के चर्वित पान की अपेक्षा और लाघव का सूचन किया है।

यह गोपी भगवान् के सम्मुख स्थित नहीं थी, तो भी भगवान् ने लाघव से सहज ही से चर्वित ताम्बूल दे दिया। 'प्रादात्' इस क्रिया में 'प्र' उपसर्ग दान—में प्रकर्ष सूचन करता है, प्रकर्ष यहां यह है कि भगवान् ने इस गोपी के लिये अपनी विद्या का दान किया है।

जिस प्रकार सर्व वेदान्त वाक्यों का सारभूत अर्थ ब्रह्मविद्या है, उसी प्रकार उपनिषद आदि वाणी के अधिपति रसात्मक भगवान् ने अपने मन में ही भक्तविषयक स्नेहकलाओं से निष्कर्ष-निचोड़ करके ताम्बूलचर्वित का इस गोपी में स्थापन किया। इस प्रकार अपनी विद्या का दान दिया है, इसलिये जिस समय भगवान् अन्य गोपियों के पास में नहीं हो, उस समय यही गोपी सर्वगोपियों के लिये उपदेश करेगी, अर्थात् जिस समय गोपियों की विप्रयोगदशा होगी, उस समय उपस्थित मरणदशा में मरणनिवर्तक वाक्य-कहकर अपनी सखियों को जिलाने वाली होगी।

१. साध्यं फलम्, तद्रूपा फलानुभवरूपेत्यर्थः । तत्र स्थित्वा तत्सम्बन्धेन फलानुभवः कर्तुं शक्यते इति साध्यरूपभक्तिर्वं गण्डस्य ।

२. तां लक्ष्मीं गण्डसम्बन्धिनीं कान्तिरूपलक्ष्मीं प्रति तद्रसानुभवमूलभूतस्य भगवतः पर्यटन-भीषत्तदाभिमुख्यकरणम् ।

३. पूर्वनिरूपितकान्तिरूपलक्ष्मीवान् गण्डः, तत्स्पर्शजनितरसभावप्रकारविशेषलीलाविषयक भगवज्ज्ञानावृत्तिरेवावृत्तिः । तद्वन्मुखे चर्वितदानार्थं वारं वारं ताम्बूलावृत्तिरिति ज्ञानताम्बूलयोस्तुल्यता । अत एवाग्रे चर्वणप्रयासाभावात् सिद्धदानम् ।

जिस प्रकार ब्रह्मविद्या ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली है, उसी प्रकार यहां यह स्वामिनी प्रिय भगवान् की प्राप्ति करायेगी ।

सुबोधिनी में 'स्व' पद कहा है, वह यह सूचन करता है कि भगवान् ने इस गोपी को अपनी विद्या दी, मायानिमित्त विद्या नहीं दी ।

भगवान् ने इस गोपी के लिये इस प्रकार की सामर्थ्य दी, कि जिस से विप्रयोगका अनुभाव न होता है, और इस गोपी के उपदेशद्वारा अन्य गोपियों का जीवन भी स्थिर रहता है ।

विद्यारूप चर्चित पानग्रहण करने से वाणी में कवित्वशक्ति प्राप्त हो जाती है, यह बात लोक में भी प्रसिद्ध है, इसलिये यह गोपी भगवान् के दिये चर्चित ताम्बूल से उपकार कर सकेगी, इसमें किसी प्रकार की शंका को अवकाश नहीं है । श्री गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी ने इसी प्रकार गोपाल दास जी को अपना चर्चित पान दिया था, उस पान से गोपालदास जी को सर्वसिद्धान्त एवं कवित्व आदि का परिज्ञान हो गया था, इसका परिचय पुष्टिसंप्रदाय में 'वल्लभाख्यान' आदि काव्य प्रसिद्ध है ।

इस गोपी में विद्यादान प्राप्त करने की योग्यता है, इस बात को कहने के लिये इस गोपी में लोकसिद्ध संयोगरस का अनुभव कराने वाली क्रियाशक्ति, तथा ज्ञानशक्ति है ।

इस प्रकार संयोगरस का अनुभव करने का सामर्थ्य सिद्ध होने के कारण इस गोपी में विप्रयोग रस का अनुभव संपादन करने वाली विद्या के ग्रहण करने की योग्यता भी है ।

इस गोपी ने भगवान् का जिस समय अनुकरण किया, उस समय इस प्रकार की शोभा देखकर भगवान् ने प्रसन्न होकर इसको ताम्बूल दिया, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं कि 'नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम्' नृत्य से हिलता हुआ जो कुण्डल, उस कुण्डल की कान्ति से शोभित अपने गण्ड-कपोल को भगवान् के गण्ड में धारण करती थी ।

अब योग्यता, तथा प्रसाद द्वारा देय स्वरूप स्पष्ट करते हुए व्याख्यानमुख से क्रिया तथा ज्ञान रूप को दिखाते हैं ।

नाट्य में नृत्य में क्रियाशक्ति प्रतिष्ठित है, और कुण्डल में ज्ञानशक्ति प्रतिष्ठित है, स्थित है । अर्थात् यहाँ आध्यात्मिक रीति से सिद्ध अर्थ का निरूपण करते हैं ।

आध्यात्मिक रीति के अनुसार जो शास्त्र का अर्थ सिद्ध होगा, वह अर्थ उपदेश करने पर साधन करने वाले पुरुष को ग्रहण करना चाहिये ।

नाट्य-नृत्य कर्मेन्द्रिय से उत्पन्न होता है, इसलिये नाट्य में क्रियाशक्ति प्रधान रूप से स्थित है, और कुण्डल में ज्ञानशक्ति स्थित है, 'विभक्ति सांख्यं योगं च देवो मकरकुण्डले' भा० १२।११।१२ । उक्त इस द्वादश स्कंध के वाक्य से भगवान् सांख्य तथा योग रूप मकर कुण्डल धारण करते हैं, इसलिये यहां भी गोपी भगवान् की शक्ति रूप होने के कारण भगवान् से भिन्न नहीं है, इसलिये स्वामिनी के कुण्डलों में भी सांख्ययोगरूपता है ।

स्वामिनी के वाम दक्षिण पार्श्व में स्थित कुण्डलों में से एक का निर्णय यहां नहीं कर सकते, इसलिये पक्षद्वय में प्रथम सांख्य का निर्णय कहते हैं । भगवान् का कुण्डल सांख्य रूप है, सांख्य का ज्ञान में पर्यवसान है, इसलिये कुण्डल में ज्ञानशक्ति की प्रतिष्ठा कही है ।

यद्यपि भगवान् के कुण्डलों को सांख्यरूप तथा योगरूप कहा है, तथापि 'गण्डं गण्डे सन्दधत्ये' इस श्लोक में एक गण्ड का सन्धान तथा 'कुण्डलत्विषमण्डितम्' विशेषण से एक ही कुण्डल ग्रहण करने के कारण सांख्य का ही कारण किया है, योग का नहीं किया है ।

यद्यपि भगवान् का कुण्डल सांख्यरूप है, तथापि व्रजसुन्दरियां भी भगवान् की शक्ति होने से भगवान् से भिन्न नहीं है, अतः इनमें ज्ञानशक्ति प्रतिष्ठित कही गई है ।

इस प्रकार 'नाट्यविक्षिप्त' कहने से अर्थात् नाट्य-नृत्य से क्रियाशक्ति द्वारा विक्षिप्त, अत्यन्त अभ्यास जिसका किया, वह ज्ञान-कर्मेन्द्रिय व्यापारद्वारा गुरुसेवा आदि से साधित जो ज्ञान, वह स्वनिष्ठित है, यह फलित अर्थ हुआ, सांख्यपक्ष में ज्ञानपूर्वक भगवद्विचारित रीति से कर्म की आवृत्ति से इस गोपी में योग्यता है ।

अभ्यास का अर्थ आवृत्ति है, इस प्रकार पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा में—अर्थात् जैमिनिसूत्र, तथा व्याससूत्र में कहा है ।

इस श्लोक में एक ही कुण्डल कहा है, किन्तु यह कुण्डल दक्षिण भाग का, अथवा वाम भाग का है, इसका निर्णय नहीं हो सकता है, इसलिये श्रीमहाप्रभु योगपक्ष का भी व्याख्यान करते हैं 'योगात्मकत्वात् साधनानि वा' इस पक्ष में साधन कुण्डल का अर्थ है, इसलिये नाट्य से क्रियाशक्ति से विक्षिप्त-अत्यन्त अभ्यास किया जो कुण्डल योगात्मक साधन, इस प्रकार अर्थ होता है ।

कर्मेन्द्रिय व्यापार से आसन प्राणायाम आदि द्वारा साधित जो योगात्मक साधन—चित्त की एकाग्रता, इस प्रकार फलित अर्थ हुआ है । कारण कि 'परो हि योगो मनसः समाधिः' मन की समाधि पर योग है, यह वाक्य है । 'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्मों में कुशलता योग है, इस वाक्य से कुशलता से किये गये शम आदि कर्म का नाम योग है, इसलिये योगपक्ष में उक्त साधनसमुदाय से योग्यता है, इस प्रकार का कर्म ज्ञानपर्यवसायी है, अर्थात् इस प्रकार के कर्म से ज्ञान उत्पन्न होता है ।

ज्ञान प्रकाशक है, इस बात को कहते हैं 'तस्य कान्तिरनुभवः' क्रियाशक्ति से अभ्यस्त जो ज्ञान अथवा चित्त की एकाग्रता उसकी जो त्विष्ट-कान्ति-अनुभव, उस अनुभव से अलंकृत भक्ति है । रूखा ज्ञान तो अक्षरपर्यवसायी होता है, यहाँ तो भक्ति का अङ्ग ज्ञान कहा है ।

स्वामिनी के मण्डित-शोभित गण्ड से स्नेह भक्ति का निरूपण किया है, कारण कि मुख भक्ति रूप है, इससे यहां ज्ञान के अनुभव से तथा चित्त की एकाग्रता के अनुभव से अलंकृत भक्ति का वर्णन किया है ।

इस प्रकार के नृत्य से विक्षिप्त जो व्रजसुन्दरी का कुण्डल, उस कुण्डल की जो कान्ति, उस कान्ति से शोभित जो गोपी का गण्ड-कपोल, उसका स्वरूप आध्यात्मिक पक्ष से कहा है । इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मेन्द्रिय व्यापार नृत्यद्वारा हस्तग्रहण आदि से उत्पन्न हुआ जो पुरुषोत्तम का रसरूप ज्ञान, चित्त की एकाग्रता-निरन्तर भगवान् में चित्त लगा रहना, उसके अनुभव से पुरुषोत्तम विषयक व्रजसुन्दरी के हृदय में भक्ति, स्नेहरूप सिद्ध हो गई ।

मूल में 'गण्डं गण्डे सन्दधत्ये' इस प्रकार कहने से इस गोपी ने अपना गण्ड भगवान् के गण्ड में स्थापन किया है, गण्ड भक्तिरूप है, और भक्ति स्नेहरूप है, इसलिये अपना स्नेह भगवान् के स्नेह में स्थापित किया, इसीसे मूल सुबोधिनी में श्री महाप्रभु ने कहा है 'तेनालंकृता भक्तिर्भगवत्प्रमणा सम्बद्धा' इससे अलंकृत भक्ति भगवत् प्रेम से सम्बद्ध है ।

इस प्रकार व्रजसुन्दरी ने अपना गण्ड भगवान् के गण्ड में धारण किया, इसका तात्पर्य आध्यात्मिक पक्ष से कहा है । इससे यह सिद्धान्त का निष्कर्ष हुआ कि गोपी गण्डरूप भगवद् विषयक प्रेमभक्ति में नृत्यरूप क्रियाशक्ति हेतुक विक्षेपात्मक अभ्यास से सिद्ध कुण्डलात्मक ज्ञान

का अथवा चित्त की एकाग्रता का अनुभव होने से जो अलंकृतता से विशेषण दिया है, उससे ज्ञात होता है कि कर्मेन्द्रियों का अभ्यास ज्ञान को तथा योग को भक्तियोगता है, इस प्रकार यहाँ योग्यता की काष्ठा निरूपण की है।

इस प्रकार की योग्यता भगवान् के प्रसाद में कारण है।

अब योग्यताफलभूतप्रसादकाष्ठा को कहते हैं (यथा) जिस प्रकार इस गोपी का प्रेम भगवान् में है, उसी प्रकार भगवान् का प्रेम इस गोपी में है।

भगवान् आत्मरत भी है, इस बात को 'अपि' शब्द सूचन करता है, इसीसे 'आत्मारामोऽपि लीलया' इस प्रकार आगे कहेंगे।

यह गोपी भगवान् में ही रत है, इसको अपनी आत्मा भी भगवान् के अर्थ ही प्रिय लगता है, यह भाव है।

इस प्रकार की भी यह भक्ति फलरूप नहीं है, किन्तु 'चेतस्तत्प्रवणे सेवा' इस वाक्यानुसार साध्यरूप ही है, कारण कि यहाँ मुख के एकदेश का बोध करने वाला जो गण्डपद है, उस गण्ड पद से दोनों की-पुरुषोत्तम तथा गोपी की परस्पर निष्ठा कही है, इस आशय से कहते हैं कि (तत्रापि)।

भगवान् का संबंध होने पर भी यह गण्ड साध्यरूपा भक्ति है। अर्थात् गण्ड कपोल साध्यफलरूप-फलानुभवरूप भक्ति है।

गण्ड में स्थित होकर गण्ड संबंध से फल का अनुभव कर सकते हैं, इसलिये गण्ड साध्य रूप भक्ति है, अर्थात् इस प्रकार का भगवान् से गण्डसंबंध होने पर भी ज्ञान नष्ट होने के कारण साध्यरूप ही है, फल काष्ठा रूप नहीं है। कारण कि गण्ड लोभ में स्थित रस के अनुभव सहित है, 'कुण्डलैर्गण्डलोलैः' इस उक्त श्लोक में कहे अनुसार केवल रसग्रहण सहित नहीं है।

इस प्रकार मूल व्याख्यान से योग्यता तथा प्रसाद स्पष्ट कहकर इन दोनों को देय स्वरूप का निश्चय करने का प्रकार कहते हैं, 'तां लक्ष्मीं' भगवान् ने स्वामिनी को चवित ताम्बूल प्रति, अथवा इसका प्रकारान्तर से अर्थ कहते हैं 'तां लक्ष्मीं' इस गोपी के कुण्डल की शोभा के प्रति, उस गण्ड लक्ष्मीरूप इस गोपी के प्रति मूल स्वामिनीविषयक स्नेहरूप जो भगवान् का गण्ड है, उस गण्ड का पर्यंजन होता है, इस कारण से इस गोपी को चवित ताम्बूल दिया है, अर्थात् भगवान् इस गोपी के गण्ड की शोभा को लक्ष्य करके अपना गण्ड पुनः इस गोपी के गण्ड में संयोजन करते हैं।

'गण्डं गंडे सन्दधत्यै' इस वाक्य से गोपी ने भगवान् के गण्ड में अपना गण्ड स्थापन किया, गण्ड का स्थापन स्नेह से होता है, इसलिये जिस प्रकार इस गोपी ने भगवान् के गण्ड में स्नेह से अपना गण्ड स्थापन किया, उसी प्रकार भगवान् ने भी अपना गण्ड इस गोपी के गण्ड में स्थापन किया।

'प्रादात्ताम्बूलचवितम्' इस पद में 'ताम्' इस प्रकार का 'तत्' शब्द के प्रयोग से जिस गोपी ने गण्ड धारण किया, उसका ग्रहण होता है, इसलिये यहाँ 'तां लक्ष्मीं प्रति' इस प्रकार विवरण किया है।

इस गोपी में लक्ष्मी का प्रवेश है, इसलिये लक्ष्मीत्व कहा है, अतः इसका अर्थ इस प्रकार हुआ कि भगवान् ने लक्ष्मीरूप गोपी के प्रति मूलरूप-स्नेहरूप गण्ड का चवित ताम्बूल पुनः धारण किया।

जिस प्रकार गोपी ने अपना गण्ड स्थापन करके स्नेह दिखाया, उसी प्रकार भगवान् ने भी अपना गण्ड स्थापन करके गोपीविषयक स्नेह दिखाया, यह सिद्ध हुआ।

यह बात युक्त भी है, चवित ताम्बूल का दान परम प्रेम से ही होता है, इससे 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस प्रकार की भगवान् की प्रतिज्ञा भी सिद्ध होती है, यहाँ 'ताम्बूल' शब्द को ताम्, और बूल, दोनों शब्द पृथक् करके मूल की व्याख्या की है, मूलशब्द में यद्यपि वकार है, मकार नहीं है, तथापि आर्ष प्रयोग में इतना आग्रह नहीं करना चाहिये, और ताम्बूल पद में 'घापदान्तः' इस पाणिनीय सूत्र से परसवर्ण करने पर मकार भी है, इसलिये मूलपद में जो कहा है, वह स्य' इस वास्तव में तो इस प्रकार निरुक्ति में व्युत्पत्ति की गई है कि वर्णसाम्य से शब्द विरुद्ध नहीं है। वास्तव में तो इस प्रकार निरुक्ति में व्युत्पत्ति की गई है कि वर्णसाम्य से शब्द का अर्थ कहना चाहिये, इसलिये यहाँ साधुत्व असाधुत्व का अत्यन्त विचार नहीं है, 'अप्यक्षर-वर्णसाम्येन निर्वृत्त्यान् संस्कारमाद्रियेत' इस प्रकार का अनुशासन है।

अब ज्ञानरूप कथन का निगूढ आशय कहते हैं, (लक्ष्मीवन्तं प्रति) इस प्रकार लक्ष्मी-वान् भगवान् के प्रति गोपी का गण्ड बार बार जाता है, अर्थात् स्नेह से वह गोपी बार बार भगवान् के गण्ड में अपना गण्ड धारण करती है।

जिस प्रकार ज्ञान का उपदेश करने वाले के सकाश से ज्ञान प्राप्त करके जिस प्रकार से जानता है, उस प्रकार का ज्ञान बार बार फिर उपदेश करने वालेके आगे निवेदन करता है संशय दूर करने के लिये, शिष्य बार बार आवृत्ति करता है, उसी प्रकार बार बार लक्ष्मीवान्, भगवान् के प्रति गोपी गण्ड धारण करती है।

अथवा इस प्रकार की शोभायुक्त गण्ड के प्रति भगवान् के भीतर मुख में स्थित ताम्बूल बार बार गोपी के मुख में जाता है।

इस प्रकार ज्ञान तथा ताम्बूल में तुल्यता है।

जिस प्रकार ज्ञानवान् पुरुष के पास से उपदेशद्वारा ज्ञानग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार लक्ष्मीवान् पुरुषोत्तम भगवान् के पास से गण्डस्थापन करके गोपी ने चवित ताम्बूल ग्रहण कर ज्ञान प्राप्त किया है।

भगवान् मुझमें अत्यन्त अनुरक्त है, और रसिकशिरोमणि है, इस प्रकार का ज्ञान इस गोपी को है।

ताम्बूल दान के अनन्तर भगवान् कुण्डल की कान्ति से शोभित तथा ताम्बूल की आवृत्ति से चलायमान गण्ड की शोभा से अपहृतचित्त होते हुए उस गण्ड की शोभा को बार बार देखते हैं, इससे मालूम होता है कि ताम्बूल के मिस से इस गोपी को भगवान् ने ज्ञान ही दिया है। अर्थात् अपना ज्ञान इस गोपी में स्थापित किया है। इस प्रकार सार अर्थ का है।

'चवित' शब्द सूचन करता है कि इस गोपी को चर्वणरूप साधन का प्रयास नहीं करना पड़ा, भगवान् ने सिद्ध दान किया है।

लक्ष्मीजी भगवान् का स्वरूप जानती है, तथा भगवान् के स्वरूप का उपदेश करती है, इस प्रकार कूर्मपुराण आदि में सिद्ध है।

यहाँ साधन प्रकरण में गोकुलवासियों को ब्रह्मानन्द में मग्न कर पुनः निकालने की कथा से गोपियों में योग्यता का बोध कर लक्ष्मीत्व सिद्ध किया है।

'क्षीर्धीर्भी' इस श्रुति के व्याख्यान में 'वृत्तिरूपं मनोधर्मः' वृत्तिरूप ज्ञान मन का धर्म है, यह कहा है। विद्यात्मक ज्ञान भी मन का धर्म है, यहाँपर प्रकृत विषय विद्यारूप ज्ञान का है,

इसलिये 'तां' पूर्वोक्त रीति से लक्ष्मी के प्रति 'प्रतिर्लक्षणे' कर्मप्रवचनीयः' इससे प्रति के योग में द्वितीया है, इसलिये 'तां' पूर्वोक्त रीति से लक्ष्मी के प्रति लक्ष्य करके 'मूलपर्यटनं' विद्यामूल भगवान् के मन की बार बार आवृत्ति है, अर्थात् जिस प्रकार भगवान् का ज्ञान प्राप्त होने के अनन्तर भगवान् का उद्देश करके उस ज्ञान की आवृत्ति करते हैं, उसी प्रकार इस गोपी का उद्देश करके विद्या का मूल जो भगवान् उसका मन आवृत्ति बार बार करता है। मूल में 'सन्दर्भत्ये' इसमें धाव् धातु पोषण अर्थ में है, इसलिये बार बार सिद्धि से जिस प्रकार लक्ष्मीवान्, धर्मी, धर्म वाले गण्ड को लक्ष्य करके बार बार मिलने को आता है, अर्थात् पूर्वनिरूपित कान्ति रूप लक्ष्मीवान् गण्ड है, उस गण्ड के स्पर्श से उत्पन्न जो रस भाव प्रकार विशेष है, उस भाव से लीलाविषयक भगवान् के ज्ञान की आवृत्ति ही आवृत्ति है, इसी प्रकार लक्ष्मीवान् मुख में चवित ताम्बूल दान के लिये बार बार ताम्बूल की आवृत्ति है।

इस प्रकार ज्ञान तथा ताम्बूल में कही हुई रीति से योग्यता होने पर देय जो ज्ञान तथा ताम्बूल प्रसाद है, उसमें तुल्यता है।

जिस प्रकार सादृश्य होने से चावलों के स्थल में समाके चावलों का ग्रहण द्रव्य का एक-देश मान कर किया है, उसी प्रकार ज्ञान तथा ताम्बूल की सिद्ध तुल्यता में उस प्रकार ज्ञानांश मान कर उसका दान किया है, इसी अभिप्राय से टिप्पणी में 'तथा सर्ववेदान्त' आदि कहा है, सरस्वती ताम्बूल चवित ग्रहण करने से, ग्रहण करने वाले को कवित्त आदि प्राप्त होना लोक में भी प्रसिद्ध है, इसलिये उपदेश करने में भी संदेह नहीं है ॥ १३ ॥

(सुबो०) अपरा पुनः वैराग्यात्मकं क्रियारूपमच्छिद्रं ज्ञाने सहायार्थं भगवद्वस्तं स्वहृदये स्थापितवतीत्याह नृत्यतीति ।

फिर भगवान् के दूसरी तरफ खड़ी गोपी वैराग्यात्मक क्रियारूप तथा अच्छिद्र कर्णादि में जिस प्रकार छिद्र होता है उस प्रकार नहीं, अर्थात् छिद्ररहित और ज्ञान में सहाय के लिये जो भगवान् का श्रीहस्त है, उसको अपने हृदय पर स्थापन करती थी, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं।

यह गोपी अत्यन्तस्नेह से स्वयं भगवान् का विप्रयोग सहन नहीं कर सकी तो फिर अन्य गोपियों का समाधान करना संभव नहीं हो सकता है, इसलिये विप्रयोगदशा में अन्य गोपियों के समाधान करने में शक्ति हो तथा प्रथम दिया ज्ञानकार्य सिद्ध करने के लिये इस गोपी ने भगवान् का श्रीहस्त अपने हृदय में स्थापन कर लिया है।

भगवान् का श्रीहस्त का क्रियाशक्ति रूप है, और श्रीहस्त अच्युत भगवान् का है, इससे उस समय भी कार्य कर सकता है, भगवान् का श्रीहस्त छिद्ररहित है, इससे निश्चय फल देता है। तथा श्रीहस्त कमल है, इससे उस समय भी तापकार्यनिवर्तक है। इस प्रकार श्रीहस्त भगवान् का अपने हृदय में यह गोपी धारण करती थी।

इस प्रकार वैराग्य में ताप दूर करने की तथा ज्ञान में सहायता देने की शक्ति प्रसिद्ध है। और भगवान् के श्रीहस्त के सम्बन्ध से उपदेश करने में सहाय्यतारूप भक्तकार्य होता है, और इस भक्तकार्य द्वारा वैराग्य का भगवान् के हस्त में निश्चय होता है।

बाण आदि आयुधों के अग्रभाग में शक्ति फल का व्यवहार लोक में दीखता है हस्तक्रिया शक्तिरूप बाहु का अग्रभाग है, और वैराग्य कर्मों का फल है, इससे भी निश्चय होता है, कि भगवान् का श्रीहस्त वैराग्यरूप है, तथा छिद्ररहित है, कारण कि बाहुका हस्त अग्रभाग है, प्रान्त-अग्रभाग में छिद्र नहीं होता है, यद्यपि इस भाव का प्रतिबंध अन्य किसीसे हो नहीं सकता है, तथापि भगवान् के सम्बन्ध से जिस प्रकार इस भाव का प्रतिबंध नहीं हो सकता है, उसी प्रकार

भगवान् के हस्तकमल का भी प्रभु के साथ में सम्बन्ध है, इससे इस गोपी ने भगवान् का श्रीहस्त अपने हृदय में धारण किया है।

उस समय प्रभुसम्बन्धी भाव तथा प्रभुसम्बन्धी हस्तकमल, इन दोनों की अनुवृत्ति से दोनों कार्य उत्पन्न होने से विचित्र महारसात्मक भाव प्रकट हो गया है।

यदि कोई शंका करे कि इससे प्रथम १३ वे श्लोक में तथा आगे १४ वे श्लोक में कही गयी दोनों नायिकाओं में भेद है, इसलिये जो तुमने कहा है वह सब योग्य नहीं मालूम पड़ता है।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि तुमको इस प्रकार कहना नहीं चाहिये, कारण कि यहां भगवान् के ऐश्वर्य आदि छै गुणरूप व्रजमुन्दरियां ही हैं, अतः छै गुण विशिष्ट स्वरूप को ही भगवान् कहते हैं।

यद्यपि भगवान् तथा गोपियां, दोनों के धर्मों का भेद कहना आवश्यक है, तथापि धर्मों एक होने से सब युक्त हो जाता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् के ज्ञान तथा वैराग्य का उपयोग गोपियों के लिये विप्रयोगदशा में हो होता है, तथा इससे यह भी सूचित होता है कि विप्रयोगदशा में प्रभु रसात्मक है, इसलिये गोपियों के विरह से उत्पन्न जो विविध भाव हैं, उनके कार्य की शान्ति ज्ञान तथा वैराग्य से होती है।

यदि किसी को शंका हो कि पतञ्जलि महर्षि ने वैराग्य का लक्षण योगसूत्र में कहा है, तथा वैराग्य की अन्तिम दशा दो सूत्रों में वर्णन की है।

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' योगसूत्र (१०।१।१५) 'तत्परं पुरुषस्यातेगुणवैतृष्ण्यम्' (१।१।१६) इन सूत्रों का अर्थ भाष्य में व्यासपाद ने इस प्रकार किया है कि स्त्री अन्न पान ऐश्वर्यादि रूप जगत में-दृश्य विषय में, तथा स्वर्ग विदेह रूप प्रकृति में-लय है कि स्त्री अन्न पान ऐश्वर्यादि रूप जगत में-दृश्य विषय में, तथा स्वर्ग विदेह रूप प्रकृति में-लय प्राप्तिरूप वेद विषय में तृष्णारहित, उक्त पदार्थों में दोष देखने वाले पुरुष को दिव्य तथा अदिव्य पदार्थ का दान करने पर भी चित्त की 'वशीकारसंज्ञा' अपने वश में करने का नाम वैराग्य है, अर्थात् रागादि रूप कषायों के पक्व होने पर इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति न करके चित्त में उत्कंठा रूप से भी अथवा रागादि के स्थित न रहने से जो चित्त में एकाग्रता है, वह वैराग्य है।

इस प्रकार प्रथम सूत्र में वैराग्य का लक्षण कहा है।

द्वितीय सूत्र में तो सूत्र से भी उत्कृष्टता कही है, इसमें गुणों में तृष्णारहित कहा है, गुणों में तृष्णारहित पुरुष, विविक्त ज्ञानवान् होता है, इसलिये ज्ञान की पराकाष्ठा रूप कैवल्य-मोक्ष वैराग्य की पराकाष्ठा है, अर्थात् गुणपर्यन्त जितने विषय हैं, उनमें उपेक्षाबुद्धि पूर्वक चित्त की आत्मा में एकाग्रता का नाम वैराग्य है, अतः यह फलित अर्थ होता है।

यहां चालू विषय में तो भगवान् में तथा गोपियों में परस्पर राग तथा मात्सर्य का वर्णन किया है, इसलिये आत्मा में एकाग्रता नहीं है, अतः भगवान् के श्रीहस्त में जिस वैराग्य का वर्णन किया गया है, वह मुमुक्षु लोगों के वैराग्य सा साधारण नहीं है, अर्थात् मुमुक्षुओं के वैराग्य से भिन्न है।

यदि कहो कि यहां यत्मान संज्ञा आदि वैराग्य का वर्णन किया है? तो इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'यत्मानसंज्ञा' वैराग्य का जो लक्षण कहा है वह यहां मिलता नहीं है, किन्तु 'सन्त्यज्य सर्वविषयान्' भा. १०।२६।३१ 'यत्पत्यपत्य' भा० १०।२६।३२ 'कुर्वन्ति हि' १०।२६-३३ इत्यादि श्लोकों में स्पष्ट कहा है कि जगत् में लौकिक वैदिक जितने पदार्थ हैं, उनमें गोपियों की तृष्णा नहीं थी, इसलिये गोपियों में यही वैराग्य कहना चाहिये, 'यत्मानसंज्ञा' नहीं कहना चाहिये।

गोपियां तो विप्रयोग दशा में अपनी आत्मा की भी इच्छा नहीं करती हैं, एक भगवान् में चित्त एकाग्र करती हैं ।

इस प्रकार आत्मा की एकग्रता में भी प्रथम कहे वैराग्य से गोपियों की एकतानता विशेष है ।

इस प्रकार वैराग्य तथा एकाग्रताभाव गोपियों में भी सर्वसाधारण सा देखने में आता है, फिर यहां कौन सा वैराग्य वर्णन किया है ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहां पर इस प्रकार मालूम होता है कि नवम स्कंध में 'नाहमात्मानमाशासे' भा० १।४।६४। भगवान् ने कहा है कि मैं अपने भक्त साधुओं के अतिरिक्त अपनी आत्मा की भी इच्छा नहीं करता हूँ, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध हुआ है कि भगवान् की भक्तों में कृपा होती है, तथा भक्तों से अतिरिक्त कहीं भी भगवान् का राग नहीं होता है । भक्तों में ही राग होता है ।

इसी प्रकार 'वेणुगीत' ग्यारहवें श्लोक की सुबोधिनी में 'उत्कर्षश्चापि वैराग्ये' इस कारि-का से भगवान् की सेवा करके भगवान् का क्लेश दूर करने वाला, सेवारूप वैराग्य का उत्कर्ष वर्णन किया है, इस प्रकार उक्त वर्णन करने से सिद्ध होता है कि जिस समय अपने समान अन्य गोपियों को भगवान् का विप्रयोग होता है, उस समय नवम अवस्था-मुर्छा आदि अवस्था की निवृत्ति न होने पर भगवान् को भी क्लेश होना संभव होता है, इसलिये इस प्रकार का क्लेश स्वयं गोपी सहन करके भी अपनी अन्य सखियों का क्लेश निवारण रूप सेवा करती है ।

और जो सेवारूप वैराग्य का उत्कर्ष है, वह प्रथम कहे भगवान् के वैराग्य के बिना संभव नहीं होता है, इसलिये इस प्रकार के वैराग्य का यहां रासक्रीडाप्रसङ्ग में वर्णन किया है, कारण कि भगवान् की भक्तों में कृपा का तथा भक्तों से अतिरिक्त अन्य में भगवान् का राग न होने का यहां स्पष्ट निरूपण किया है ।

इन सब बातों को हृदय में विचार करके प्रभुचरणों ने टिप्पणी में कहा है, (अत्रायं भावः) यहां से लेकर (सूच्यते) यहां तक कहा है, अतः कोई बात अयोग्य नहीं है, इससे इस गोपी ने भगवान् का श्रीहस्त अपने हृदय में स्थापन किया है, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं ।

नृत्यती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।

पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम् ॥ १४ ॥

पदपदार्थ—(काचित्) कोई अन्य गोपी ने (नृत्यती) नृत्य करती (गायती) गान करती (कूजन्नूपुरमेखला) शब्द कर रहे नूपुर और मेखला जिसके (श्रान्ता) थकी हुई (शिवम्) कल्याणरूप (पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं) अपने पास में स्थित अच्युत के हस्त कमल को (स्तनयोः) दोनों स्तनों पर (अधात्) धारण किया ॥ १४ ॥

भाषार्थ—अन्य कोई भगवान् के दूसरी तरफ स्थित गोपी ने नृत्य तथा गान करती हुई जिसके नूपुर और मेखला का शब्द हो रहा था तथा वह थक गई थी, उसने अपने पास में स्थित कल्याणरूप अच्युत भगवान् का हस्तकमल स्तनों पर धारण किया ॥ १४ ॥

(सुबो०) सा नृत्यं गानं च कुर्वती स्थिता । तत्राभिनये यथान्यहस्तः स्थाप्यते, स्वहस्तो वा, तथा भगवद्धस्तमेव स्थापितवती । शाब्दं ज्ञानं तदर्थानुष्ठानं च तस्या वर्तत इति ज्ञापनार्थं नृत्यगानयोः कथनम् । कूजती नूपुरे मेखला

च यस्याः । उपरि गानाभिनयनम् । पादयोर्नृत्यम् । अत एव नूपुरयोर्मेखलायाश्च शब्दः । सच भावोद्दीपकः (रसोद्दीपकः) अनेन तस्याः पूर्वस्थिता सर्वैव क्रिया-शक्तिः सफलेति सूचितम् । एकस्मिन्नेव पार्श्वे विद्यमानस्य भगवतः श्रान्ता सती तत्तापहरणार्थं स्तनयोरधात् । तापहारकत्वमब्जस्य प्रसिद्धम् । श्रमो निवृत्ति-सूचकः । स्वस्याः पूर्वक्रियापरित्यागः बाह्यत एवति भगवत एकस्मिन् भागे स्थितिरुक्ता । भगवत्क्रियाशक्तेरक्षयत्वसूचनायाच्युतेति । अग्रे सम्बन्धस्यापि करिष्यमाणत्वात् तदविधातार्थं च । तस्य पुनः कामाद्युद्बोधकत्वेन तापनाशकत्व-माशङ्क्याह शिवमिति । तदेव कल्याणरूपम्, आनन्दरूपत्वाच्च भगवतः ॥ १४ ॥

वह गोपी नृत्य और गान करने लग गई, नृत्य के अभिनय में जिस प्रकार दूसरे का हस्त अथवा अपना हस्त स्थापन किया जाता है, उस प्रकार इस गोपी ने भगवान् का हस्त ही अपने हृदय में स्थापन किया । वैराग्य का अधिकार इस गोपी में है, इस बात का बोध करने के लिये स्वामिनी के विशेषणों का तात्पर्य कहते हैं कि, इस गोपी में शब्द का ज्ञान और उसके अर्थ का अनुष्ठान करना विद्यमान है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये यहां नृत्य तथा गान का कथन है, कारण कि नृत्य आदि सर्वसाधारण है ।

इस श्लोक में कही गयी एक ही गोपी गान तथा नृत्य कर रही है, इसलिये ये यहां 'गायती' कहने से उस गोपी में शाब्द ज्ञान का वर्णन किया है ।

जिस प्रकार का गानप्रबन्ध में नृत्य का स्वरूप कहा है, उसी प्रकार का नृत्य यह गोपी जानती है, इसलिये जानकर गान करती है, यह कहा है । और जिस प्रकार का अपने नृत्य प्रबन्ध में नृत्य का स्वरूप कहा है, उस प्रकार का ही नृत्य कर रही है, इसलिये 'नृत्यती' कहा है ।

और यह गोपी गान प्रबन्ध का अर्थभूत नृत्य का अनुष्ठान करती है, इसलिये शुकदेवजी ने इस श्लोक में गान तथा नृत्य का वर्णन किया है ।

इस गोपी के नूपुर और मेखला में शब्द हो रहा है, और ऊपर के भाग में गान के अनुसार अभिनय कर रही है, चरणों से नृत्य कर रही है । इसलिये ही दोनों चरणों के नूपुरों में तथा कटिमेखला में शब्द हो रहा है । यह शब्द भाव-अथवा रस का उद्दीपक है, उक्त भावोद्दीपक शब्द के कथन से इस गोपी की प्रथम की सब क्रियाशक्ति सफल हो गई, इस प्रकार सूचित किया है ।

जिस समय यह गोपी थक गई, उस समय एक तरफ ही समीप में विद्यमान भगवान् का श्रीहस्त अपना ताप दूर करने के लिये अपने स्तनों में धारण कर लिया, कमल ताप दूर करता है, यह बात प्रसिद्ध है । भगवान् का श्रीहस्तकमल ताप दूर करने वाला है । श्रम आनन्दसूचक है ।

इस गोपी के नूपुर तथा मेखला के शब्द से भगवान् का भाव उद्दीप्त हुआ, इसलिये अन्य गोपियां नहीं जाने इस प्रकार से इस गोपी के सब मनोरथ भगवान् ने अपने श्रीहस्त से इसके, शरीर के अवयवों का स्पर्श कर पूर्ण किये ।

इसके अनन्तर आनन्द से गोपी थक गई थी, इसलिये इस गोपी ने विचार किया कि कहीं भगवान् से वियोग न हो जाये, वियोग होने पर पुनः ताप हो जायगा, अतः ताप की संभावना से तथा ताप दूर करने के लिये भगवान् का श्रीहस्त अपने स्तनों में धारण कर लिया, इस प्रकार मूल का अर्थ है ।

इस गोपी का अभीष्ट पूर्ण होने के कारण क्रियाशक्ति प्रथम जो भगवद्भावना से की थी, वह सब ही इसकी सफल हो गई ।

यदि कहो कि थक कर जब इस गोपी ने नृत्य का परित्याग कर दिया, फिर इसके पास में भगवान् की स्थिति किसलिये रही, तथा पूर्वक्रिया नृत्य का परित्याग वैराग्य का बोध करने वाला है, वह यहां कह दिया, फिर वैराग्य में शेष क्या रहा ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (स्वस्याः पूर्वक्रियापरित्यागः) इस गोपी ने जो क्रिया-नृत्य का परित्याग किया है, वह श्रम होते हुए भी बाहिर से ही किया है, भीतर तो नृत्य करने की इच्छा स्थित ही है, इसलिये फिर नृत्य करने के लिये भगवान् के एक भाग में स्थिति कही है ।

भगवान् अच्युत है इसलिये इस गोपी को स्पर्शमात्र से अभिलाषा पूर्ण की है, इस बात को कहते हैं, कि भगवान् की नृत्तरूप क्रियाशक्ति का नाश नहीं होता है, इसी बात को सूचन करने के लिये अच्युत पद कहा है भगवान् का श्रीहस्त हृदय में धारण करने से इस गोपी की कार्यसिद्धि होने से आगे मुख्य भोग नहीं होगा, इस शंका का भी अच्युत पद से ही निरास होता है, आगे भगवान् इस गोपी के साथ सम्बन्ध-मुख्य रमण भी करेंगे, इस लिये मुख्य रमण में न्यूनता आदि दोष दूर करने के लिये भी यहां अच्युत पद का प्रयोग किया है ।

यदि भगवान् फिर से गोपियों में काम आदि को जाग्रत करे तो फिर गोपियों के ताप का नाश नहीं होगा ।

इस शंका के उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं (शिवम्) ।

भगवान् का श्री हस्त ही कल्याण रूप है, कारण कि भगवान् आनन्द रूप हैं भगवान् का श्रीहस्त शिव-कल्याण रूप है, इसलिये आनन्द का साधन है, भगवान् का श्रीहस्त है, इसलिये आनन्द रूप है, अतः गोपियों में ताप उत्पन्न नहीं करेगा ॥ १४ ॥

(सुबो०) एवं षण्णां स्वरूपमुक्त्वा स्वरूपेण सर्वासां साधारणीं लीलां माह गोप्य इति ।

इस प्रकार ऐश्वर्य आदि छैगुण रूप छै गोपियों का स्वरूप वर्णन करके अब आगे श्लोक में भगवान् के स्वरूप के साथ सब गोपियों की साधारण लीला शुकदेव जी कहते हैं ।

गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् ।

गृहीतकण्ठचस्तदोभ्यां गायन्त्यस्तं विजह्निरे ॥ १५ ॥

पदपदार्थ—(गोप्यः) गोपियां (श्रियः) लक्ष्मी जी का (एकान्तवल्लभम्) परम प्रिय (अच्युतं) अच्युत भगवान् (कान्तं) सुख का अन्त जिसमें, इस प्रकार के पति को (लब्ध्वा) प्राप्त करके (तदोभ्यां) भगवान् के हस्तों से (गृहीतकण्ठचः) ग्रहण किया जिनका, इस प्रकार की गोपियां (तं) उस भगवान् को (गायन्त्यः) गुण गान करतीं (विजह्निरे) विहार करने लगीं ॥ १५ ॥

भाषार्थ—गोपियां लक्ष्मी जी का एकान्त-परम प्रिय अच्युत भगवान् का कान्त प्राप्त करके भगवान् ने अपने दोनों हस्तों से ग्रहण किया कण्ठ जिनका इस प्रकार की गोपियां प्रभुका गुणगान करती विहार करने लगीं ॥ १५ ॥

(सुबो०) अच्युतः कान्तो भगवानेव भवति । अन्तर्बहिश्च नित्यानन्ददायी । अत एव सर्वस्त्रीणां मूलभूतायाः श्रिय एकान्ततो वल्लभः परमः प्रियः । तादृशं

लब्ध्वा तमेव गायन्त्यो विजह्निरे । ननु परमानन्दे प्राप्ते क्रियाया अपगम एवोचितः, ननु पुनः क्रिया, तत्कथं विहार इति चेत्, तत्राह तदोभ्यां गृहीतकण्ठच इति । भगवत्क्रिययैव व्याप्ताः, न तु स्वक्रिया काचित् । कण्ठे क्रियायाः स्थापितत्वाद् गानं क्रिया च सम्भवतः । इयं क्रिया शक्तिरूपेति स्वातन्त्र्यं तासां निरूपितम् ॥ १५ ॥

अच्युत-च्युतिरहित कान्त भगवान् ही होता है, अन्य नहीं, और वह भगवान् भीतर तथा बाहिर नित्य आनन्द देने वाला है, इसी से सब स्त्रियों की मूलभूत लक्ष्मी जी को भगवान् एकान्त वल्लभ—अर्थात् परम प्रिय है ।

गोपियां इस प्रकार के भगवान् को कान्त प्राप्त करके उनका ही गुण गान करती विहार करने लगीं ।

यदि शंका करो कि परमानन्द प्राप्त होने पर फिर क्रिया नहीं होनी चाहिये, पुनः क्रिया करना उचित नहीं है, फिर भगवान् के साथ गोपियों का विहार कैसे हुआ ।

इस शंका के उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं कि (तदोभ्यां गृहीतकण्ठचः) भगवान् ने दोनों हस्तों से गोपियों का कण्ठ ग्रहण कर लिया है, अतः भगवान् की क्रिया ही गोपियों में व्याप्त है, गोपियों की कोई क्रिया नहीं है ।

भगवान् ने गोपियों के कण्ठ में अपनी हस्त रूप क्रिया स्थापित की है, इसलिये गान तथा क्रिया का संभव होता है ।

'गृहीतकण्ठचस्तदोभ्यां' इस मूल के वाक्य से कण्ठ में भगवान् ने क्रिया स्थापित की है, इसलिये कर्मन्द्रियरूप वाणी का व्यापार—गान संपन्न हुआ है, कारण कि गान कण्ठ के अधीन है ।

भगवान् ने हस्तरूप क्रिया स्थापित की है, इसलिये (विजह्निरे) इस वाक्य से सिद्ध विहाररूप क्रिया सिद्ध हो गई, यह क्रिया शक्ति रूप है, अर्थात् भगवान् की सामर्थ्यरूप है । इसलिये गान तथा क्रिया में गोपियों की स्वतन्त्रता का निरूपण किया है । भगवान् के सामर्थ्य रूप शक्ति के कारण गोपियों के गान तथा क्रिया में स्वतन्त्रता होनी उचित ही है ॥ १५ ॥

(सुबो०) अतः परं राधादामोदरवदुभयोर्नृत्यमाह कर्णेति ।

प्रथम चौदह वे श्लोक के उपक्रम से नृत्य प्राप्त हो रहा है, फिर जो वाच्यों के कथन पूर्वक नृत्य आगे श्लोक में कहा है, उससे मालूम होता है कि प्रथम श्लोक में कहे नृत्य से आगे के श्लोक में कहे नृत्य में विशेषता है, इसलिये श्री महाप्रभु आभास में कहते हैं कि 'अतः परं राधा-दामोदरवद् उभयोः नृत्यमाह' इससे आगे राधादामोदर की तरह, अर्थात् एक कृष्ण और एक गोपी, इस प्रकार युगल स्वरूप का नृत्य कहते हैं ।

इस नृत्य में गोपी और भगवान् तुल्य हैं, अर्थात् इस नृत्य में जिस प्रकार राधा दामोदर दोनों का ही नृत्य होता है, उसी प्रकार प्रत्येक गोपी के साथ भगवान् का नृत्य है, यही पूर्व नृत्य से इस नृत्य में विशेषता है ।

रासलीला में समुदाय रमण, तथा प्रत्येक गोपी के साथ रमण कहेंगे, इसलिये उस रमण के अनुकूल भाव उद्दीपन करने के लिये नृत्य भी उसी उसी प्रकार का कहना चाहिये, इस में

समुदाय नृत्य प्रथम कहा है, अब आगे के श्लोक में प्रत्येक का नृत्य कहते हैं, अतः आभास में 'उभयोर्नृत्यं' कहा है अर्थात् एक एक गोपी के प्रति भगवान् का भी एक एक स्वरूप हो गया है एक स्वामिनी, एक भगवान्, इस प्रकार से नृत्य किया है।

इसमें दृष्टान्त दिया है कि 'राधादामोदरवत्'।

जिस प्रकार प्रथम समुदाय रमण के अनन्तर युगलरस अनुभव करने के लिये एक गोपी को भगवान् पृथक् ले गये थे, यह बात द्वितीय अध्याय में 'ततो गत्वा' १०।२७।३७। इस श्लोक की टिप्पणी में निरूपण की है, उसी प्रकार यहाँ भी युगल रस अनुभव करने के लिये यह नृत्य है, यहाँ पर इतना विशेष है कि पहिले भगवान् ने एक गोपी को साथ ले जाकर एक के साथ ही युगल रस का अनुभव किया था, अन्य गोपियों को विरह का अनुभव हुआ था, किन्तु यहाँ सब गोपियों के साथ युगल रस का अनुभव किया है, 'राधादामोदरवत्' इस वाक्य में पृष्ठी के अर्थ में वति प्रत्यय हुआ है, इसलिये राधा दामोदर के रमण की तरह गोपी, और भगवान् दोनों का रमण है, यह अर्थ है, युगल रस अनुभव करने के लिये ही समान धर्म निरूपण किया है।

'सहस्रनाम' नामावली में भगवान् जिस गोपी को अपने साथ ले गये थे उसका 'राधा' नाम कहा है, इससे उक्त वर्णन जानना चाहिये।

नृत्य के प्रकार में भले ही भेद हो, किन्तु फल में भेद नहीं हो तो वास्तविक भेद नहीं कहा जाता है।

इस नृत्य में प्रथम नृत्य से दोनों की तुल्यता ही विशेष है, इसलिये यह भी पूर्व नृत्य ही है।

यदि कहो कि फल में जब विशेषता नहीं है तो फिर साधननिष्ठ विशेष का अङ्गीकार करना योग्य नहीं है, अतः फिर नृत्य का कथन भी उचित नहीं है।

इस प्रकार पूर्व कथन में अरुचि होने से पक्षान्तर कहते हैं कि 'अथवा' अथवा इसके आवेश से उत्पन्न मर्यादा रहित जो क्रिया है, उसको बिहार कहते हैं, इसका पन्द्रहवें श्लोक में 'विजह्निरे' इस पद से किया है।

'जब उत्तर वस्तु का प्रारम्भ होता है, तब प्रथम वस्तु की समाप्ति हो जाती है' इस न्याय से यहाँ पूर्व नृत्य का विराम सूचन किया है, इस प्रकार से पूर्व नृत्य की समाप्ति होने पर फिर आगे के श्लोक में जो नृत्य का वर्णन किया है, वह उचित नहीं है।

यदि इस आगे के श्लोक में कहा नृत्य प्रथम श्लोक में कहे अनुसार होता तो प्रथम श्लोक में कहे नृत्य का त्याग नहीं होता, कारण कि नृत्य इसके उत्पन्न करने के लिये ही किया है, फिर इसकी उत्पत्ति के बिना नृत्य का त्याग सम्भव हो नहीं सकता है, इसलिये अपूर्व रसके लिये ही यहाँ अपूर्व ही नृत्य कहा है, इस प्रकार ज्ञापन होता है, इसी बात को श्री महाप्रभु परं राधादामोदरवत् इत्यादि से कहते हैं, अर्थात् पन्द्रहवें श्लोक में जो विहार का वर्णन किया है, उस विहार का उत्पन्न करने वाला रस का आविर्भाव पूर्व नृत्य का फल है, और इस सोलहवें श्लोक में जो नृत्य कहा है, उसका फल अपूर्व रस का आविर्भाव है।

इस प्रकार फलभेद से, तथा प्रकारभेद से प्रथम श्लोक में कहा नृत्य तथा इस १६ वें श्लोक में कहा नृत्य दोनों में भेद होने से फिर नृत्य के कथन में कोई पुनरुक्ति दोष की आपत्ति नहीं है।

अब 'राधादामोदरवत्' इस पर स्वतन्त्र लेख का भाषानुवाद कहते हैं। यहाँ पर इस बात का विचार करते हैं कि आगे 'एवं परिष्वङ्ग' इत्यादि श्लोक १७ में समुदाय रमण निरूपण करके 'कृत्वा तावन्तम्' इस तीसवें श्लोक में प्रत्येक गोपी के साथ रमण निरूपण किया है।

प्रत्येक गोपी के साथ रमण भगवान् का जिस समय उसी प्रकार के रस का उद्बोध होता है, उस समय हो सकता है।

रमण में इसको जाग्रत करने वाला नृत्य ही है, नृत्य भी प्रत्येक में अपेक्षित है, नहीं तो प्रत्येक रमण के उपयोगी प्रत्येक रस जाग्रत नहीं होने पर रमण सिद्ध नहीं होता है, इसलिये यहाँ प्रत्येक के नृत्य का निरूपण किया है।

नृत्य में केवल भावात्मक रस का अभिनय होता है, और रमण में तो क्रियाद्वारा सब इन्द्रियों से रस का अनुभव होता है, इसी से 'जं मन्येरन्' इस अध्याय के चौथे श्लोक में कहा है।

इसी अध्याय में 'पादन्पासः' इस ८ वें श्लोक से स्वामिनियों का गाढ नृत्य कहा है, जिसमें अन्य स्फूर्ति का अभाव कहा है।

उसके अनन्तर ९ वें श्लोक में भगवत्स्फूर्ति सहित मध्य नृत्य कहा है, उस मध्य नृत्य में जिस प्रकार नटों को समाज से सन्तोष उत्पादन होता है, उस प्रकार गोपियों द्वारा भगवान् को सन्तोष उत्पादन करना, इस नृत्य का प्रयोजन है, और अपने विषय में भाव उत्पन्न करने के लिये उसी प्रकार के भाव से प्रत्येक का गान है, फिर 'काचित्' अ० ३०।१० इत्यादि छै भगवान् के ऐश्वर्य आदि गुणों से गोपियों में गान रस के आवेश से शास्त्रमर्यादा पूर्वक नृत्य का परित्याग कर भाव से ही विहार-मुख्य लीला का अभिनय रूप करती हुई, इसके अनन्तर विहार का भी परित्याग कर, भाव से ही केवल भगवान् के स्वरूप का परिग्रह करके युगलनृत्य का वर्णन प्रत्येक गोपी में रस जाग्रत करने के लिये 'कर्णोत्पल' इत्यादि १६ वें श्लोक में कहा है।

इसमें यह प्रकार है कि जिस भगवान् का अपने निकटवर्ती होने से मान है, उस भगवान् का इस समय अपने सम्बन्धी होने से मान है, अर्थात् राधा, दामोदर जिस प्रकार सर्वथा एक हुए, दोनों आलम्बन रूप से एकरस रूप हैं, उसी प्रकार सब गोपियाँ भाव से भगवान् में एक हुई नृत्य करती थीं।

वह नृत्य लोक में जिस प्रकार स्त्रियाँ मण्डल नृत्य में हस्त छोड़कर आलिङ्गन करके प्रत्येक नाचती हैं, और उसी प्रकार से ही मण्डल में हस्तों को छोड़कर अनुवर्तन-चौगोल-मंडलाकार नाचती हैं, उसी प्रकार गोपियाँ भी भाव से हस्त परित्याग कर भगवान् का आलिङ्गन करके उसी प्रकार नृत्य करती हैं, अतः हस्त परित्याग से मुख्यमण्डल के न होने पर भी मण्डल के अनुवर्तन होने के कारण रास गोष्ठी की तरह ही है, इसलिये आचार्यों ने गोष्ठीमात्र कहा है, गोष्ठी जिस प्रकार नृत्य के लिये सर्वत्र एकत्रित होती है, उसका नाम है, यह गोष्ठी नृत्यारम्भ से पूर्व होती है।

उसी प्रकार यहाँ भी पूर्वनृत्य का परित्याग करके भगवान् के साथ सम्बन्धित गोपियों की भावना से लीला का अनुकरण करने पर नृत्य करना नृत्य गोष्ठी ही है। ऊपर कहे अनुसार मालूम होता है यहाँ गाढ नृत्य में स्वामिनियों का तथा भगवान् का विनियोग होने से 'नृत्यन्त उच्चजंगुः' इस ९वें श्लोक में तथा 'नृत्यती गायती' इस १४ वें श्लोक में गोपियों ही का गान सम्भव है, 'काचित्समं मुकुन्देन' इस १० वें श्लोक की तरह भगवान् का भी गान सम्भव नहीं है।

गंधर्वपतियों को तो मुख्य लीलानुकरण नृत्य की योग्यता नहीं है, इसलिये इनको दर्शन नहीं होता है, इसीसे यहां गंधर्वपतियों के उपयोगी गान नहीं है।

किन्तु यहां स्वामिनियों के तो केशपाश में स्थित माला का गिरना कहा है, इसलिये यहां उच्च स्वर से गान भ्रमरों की तरह गुञ्जार रूप है।

एकवचन इसलिये कहा है कि सबने एकरूपता से गान किया है, अथवा प्रत्येक के नृत्य में प्रत्येक गोपी को एक एक भगवान् के साथ गान का सूचन एकवचन कर रहा है।

यह गाढ नृत्य है, इसलिये इसमें कानों में कमल जो स्थापन किये हैं, वे गिर नहीं सकते हैं, इस बात को 'कर्णोत्थल' इत्यादि से कहा है। मुखकमल सम्बन्धी मकरन्द के सदृश पसीना के कर्णों की शोभा कहने से श्रम का अभाव सूचन किया है, अतएव 'कृष्णाभिमर्शमुदिता' १०।३०।९ गोपियां कृष्ण के स्पर्श से आनन्दयुक्त हुईं, इस श्लोक में भगवान् के श्रीहस्त मात्र के सम्बन्ध से श्रम का अभाव कहा है, फिर सम्पूर्ण स्वरूप का सम्बन्ध होने पर श्रम की सम्भावना भी कहा हो सकती है, इस प्रकार कैमुतिक न्याय का बोध किया है, इस प्रकार के नृत्य से प्रत्येक गोपी में रस जाग्रत होने पर प्रत्येक गोपी के साथ भगवान् का आगे रमण निर्विघ्न होगा, नहीं तो समुदाय नृत्य से समुदाय रस जाग्रत होने पर समुदाय रमण ही होता, अतः प्रत्येक गोपी के साथ उतने ही स्वरूप से भगवान् का रमण होने में प्रत्येक गोपी में रसोद्बोध का कारण निरूपण किया है, अतः सब प्रकारका रमण आगे कारण सहित सिद्ध होगा, इसीसे यह नृत्य भिन्न प्रकार से निरूपण किया है, इस नृत्य का स्वरूप हमारे आचार्यों ने अति गूढ़ रीति से 'अतः परं राधादामोदरवत्' इस दृष्टान्त से कहा है।

अब इसपर दूसरा स्वतन्त्र लेख है, उसका अनुवाद कहते हैं। अथवा यहां गान करने वाले भ्रमर निरूपण किये हैं, भ्रमर मकरन्द की अपेक्षा करने वाले हैं, मकरन्द पुष्पों में रहता है, पुष्प विद्युत्-पृथक् पृथक् हुए मकरन्दरहित होते हैं, इसलिये अपने नृत्य के अनुरूप भ्रमरों ने जो गान किया, उस गान से अति प्रसन्न होकर गोपियों ने भ्रमरों को अपनी माला ही दे दी, नहीं तो रस के लिये अपने केशों में शोभाहेतु से धारण की गई माला की गोपियां उपेक्षा नहीं करतीं, अतः यहां भ्रमरों की गाननिपुणता, तथा गोपियों की उसकी जानकारी ध्वनित होती है, यहां भ्रमर तथा भ्रमरी, इसमें एकशेष हो जाने से दोनों का ही दर्शन किया है, इससे स्त्री पुरुष के भेद से ज्ञान में द्विविधता कही है। शोभा के लिये धारण की गई माला भी विचित्र हेतुभूत बहुत सी हैं, उनके बीच में स्थित एक एक माला गोपियों ने भ्रमरों को दी है, इस प्रकार आगे रस के लिये केशों में शोभासंपत्ति भी है, इस बात का ज्ञापन करने के लिये केशपाश पद छोड़कर मूल में केश पद कहा है।

यदि कहो कि भ्रमरों को एक एक माला का अल्पदान देने से गोपियों के उदारतागुण में हानि होगी।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भ्रमर भक्त हैं, इसलिये प्रभु के रस में उपयोगी जो वस्तु है, उसके लेने की इच्छा नहीं करते हैं, अपने किये गान से उत्पन्न जो गोपियों की प्रसन्नता उस प्रसन्नता को प्रसिद्ध करने के लिये एक एक माला का दान प्रसादरूप से ग्रहण करना ही भ्रमरों ने उचित समझा, इससे गोपियों की शोभामें भी प्रतिबन्ध नहीं हुआ, कारण कि उतने ही से भ्रमरों के मनोरथ की पूर्ति हो गई। यदि कहो कि माला गान में प्रतिबन्ध करने वाली थी, उस समय मालाओं का उपयोग नहीं था, फिर उनके दान से ही क्या प्रयोजन था।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि रासगोष्ठी में, जिस समय गान का समय नहीं था, उस समय भ्रमरों को भक्त होने के कारण अन्य पुष्पों की अपेक्षा से प्रभु द्वारा उपभुक्त हुईं, तथा प्रभु के गुण से प्राप्त माला ही उपजीवन के लिये युक्त हैं ?

यदि कहो कि भक्त भ्रमरों को प्रभु द्वारा माला उपभुक्त का ज्ञान कैसे हुआ ?

तो इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि जिस जिस गोपी को अधरपान करने की इच्छा करने वाले भगवान् अपने श्रीहस्त में खींचते हैं और उस खींचने में केशपाशों की माला टूट कर गिर गई हैं, वहां भ्रमर पीछे पीछे भ्रमण कर रहे हैं, इसलिये उपभुक्त माला का ज्ञान होता है। आगे भी २३वें श्लोक में भ्रमरों को भगवान् की उपभुक्त माला का सम्बन्ध होगा 'अङ्गसङ्गवृष्ट-वजः स्वकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः गंधर्वपालिभिः' यहां सम्बन्ध प्रकाशित करेंगे। नहीं तो यहां मालाके जो दो विशेषण कहे हैं, वे सङ्गत नहीं होते हैं।

गोपियों की तो इच्छा थी कि सभी मालाएं भ्रमरों के लिये दें किन्तु इनके हस्त मण्डल में लगे हुए हैं, इसलिये हस्तों से माला दान नहीं कर सकती थीं, अतः उक्त प्रकार से केश शिथिल होने पर जो गोपियों की माला गिर गई थीं, वे ही माला उपेक्षा करने से भ्रमरों को दे दी और जो नहीं गिरी थी, वे नहीं दी, वे तो केशों में ही स्थित रही। इस कारण से गोपियों की उदारता में कोई हानि नहीं हुई।

'रास गोष्ठी-नृत्य समाज को कहते हैं, उसमें गान करने वाले की अपेक्षा अवश्य होती है, नृत्य करने से गोपियों को गान करना बन नहीं सकता है, देवता तथा अन्य पुरुष स्त्रियों का प्रवेश अधिकार वहां नहीं है, इसलिये भी गान करना संभव नहीं होता है, भ्रमर पुरुष भी हैं, तो भी बलवान् प्रयोजन के अनुरोध से, तथा विजातीय होने से विरोध का अभाव है, अतः गान करना भी भ्रमरों को प्राप्त होता है, इसलिये रासगोष्ठी पद है, अत्यन्त रहस्य लीलान्तर में तो भ्रमरों का भी प्रयोजन न होने से इनका प्रवेश नहीं है, यह बात बिना कहे ही सिद्ध होती है, वास्तव में तो रास में भगवान् के साथ मण्डलाकार से चारों ओर भ्रमण कर रही गोपियों का नृत्य कहा है, इसलिये नृत्य के उपयोगी गान करने वाले भ्रमर परिभ्रमण कर रही गोपियों के सङ्ग में ही कहने चाहिये, औरों के स्वल्प चलने से भी गान संभव नहीं होता है, कारण कि परिभ्रमण से स्वर ताल आदि भङ्ग हो जाते हैं, और भ्रमरों का तो स्वभाव है कि वे परिभ्रमण करते गान भी करते हैं, इसलिये विशेष रूप से उस समय भ्रमरों को ही गायकत्व योग्य है, यह सब बात भ्रमर पद कहने से व्यक्त होती है, भ्रमर ही उस रससमाज के अनुकूल भाववान् हैं, इसलिये 'भ्रमर गायकरासगोष्ठ्याम्' इस प्रकार समस्त पद कहा है।

पुरुष होने पर भी भ्रमर अत्यन्त अन्तरङ्ग है, अतः निरन्तर अपने समीप रहने का वर्णन भगवान् ने १०।१५।६ में दाऊजी से किया है, 'प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि न जहत्यनघातमदैवम्' प्रायः करके ये भ्रमर मुनिगण आप के मुख्य हैं, वन में भी गूढ़ निर्वोष आत्म-देवको नहीं त्याग करते हैं, अर्थात् निरन्तर समीप में रहते हैं, अब इससे अधिक विस्तार क्या कहें।

कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलधर्म
वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः ।

गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-

स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥ १६ ॥

पदपदार्थ—(कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलधर्मवक्त्राश्रयः) धारण किये कमल सहित अलकों के अलंकाररूप स्थान कपोलों में पसीनाओं से मुख में कोई अलौकिक शोभा प्राप्त वाली (स्वकेशस्तस्रजः) अपने केशों से गिर गयीं मालाएँ जिनकी इस प्रकार की (गोप्यः) गोपियां (भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम्) भ्रमर जिसमें गान करने वाले इस प्रकार की रास गोष्ठी में—राससमाज में (वलयनूपुरघोषवाद्यैः) कंकण और नूपुर तथा किङ्किणी वाद्यों सहित (भगवता) भगवान् के (समं) साथ अथवा नृत्य (ननृतुः) नृत्य करती थीं ।

भाषार्थ—कानों में धारण किये कमल सहित अलक भ्रमर की तरह उनके अलंकरणरूप स्थान कपोलों में जो पसीनाओं से गोपियों के मुख में अलौकिक शोभा हो गई, और गोपियों के केशों से मालाएँ नीचे गिर गयीं, इस प्रकार की गोपियां भ्रमर जिसमें गान करनेवाले इस प्रकार की रासगोष्ठी—नृत्यसमाज में कंकण तथा नूपुर और किङ्किणी वाद्यों सहित भगवान् के साथ अथवा नृत्य गोपियां नृत्य करती थीं ॥ १६ ॥

(सुबो०) रासार्थमेवैतदपि, परं प्रत्येकं रस उत्पद्यत इति गोष्ठीमात्र-मुक्तम् । उभयोर्गठनृत्ये विनियोगात् । भ्रमरो गायकः । वाद्यन्तु पूर्ववदेव भविष्यति । तदाह वलयनूपुरघोषवाद्यैरिति । वलयानां नूपुराणां घोषशब्देन किङ्किणीनां शब्दा एव वाद्यशब्दाः । अत्यन्तं नृत्याभिनिवेशार्थं स्वकेशात् स्रस्ताः स्रजो यासामित्युक्तम् । (यद्वा) गायकास्तु भ्रमरा निरूपिताः, ते च मकरन्दार्थिनः । स च पुष्पेष्वेव तिष्ठति । तानि च वियुक्तानि तद्राहितानि च भवन्तीति स्वनृत्यानुरूपगानकरणादतिप्रसन्नास्तेभ्यः स्रज एव दत्तवत्यः । अन्यथा रसार्थं स्वकेशेषु शोभाहेतुत्वेन धृतानां (श्रान्तानां इति पाठः) तासां मुपेक्षा न भवेत् । (तेन भ्रमराणां गाननैपुण्यं प्रभुप्रियाणां च तदभिज्ञत्वं च ध्वन्यते ।) नृत्यारम्भे तासां शोभामाह कर्णेति । अन्यथा पूर्वोक्तनृत्येन श्रान्तानां पुनर्नृत्यमनुचितमेव स्यात् । न वा रसायाम् । कर्णे उत्पलस्थापनं तस्य अपातने चातुर्यार्थम् । तत्सहिता अलकाः भ्रमरा इव रसपातारः । तेषां विटङ्कः अलङ्करणरूपं स्थानम् । एतादृशौ कपोलौ । तत्र यो धर्मः अन्तरुदगतभ्रमजलं नृत्याभिनिवेशाज्जातम् । तैः कृत्वा वक्त्रे श्रीरलौकिकी काचित् सम्पन्ना । यथा मुक्ताभिर्मण्डितं भवति कपोलद्वयम् । अनेन मुखे श्रमो निवारितः । ताभिः सह भगवतो-नृत्ये अनुभावकश्च भवति । स्वतो वा । कीडानिवृत्तिरनेन सूचिता । गोप्य इति । भगवत एव तासामेतावत्त्वम्, न स्वत इति ज्ञापितम् । अतो भगवता समम्, यथा यथा भगवान् नृत्यति, तथा तथा ता अपि नृत्यन्तीति ॥ १६ ॥

बहुत सी नाचने वाली जिसमें हों, उस नृत्य विशेष का नाम रास है, यह बात पहिले कह चुके हैं, इसलिये प्रत्येक गोपी के पास भगवान् का रहना रास के अनुकूल नहीं होगा ।

इस शंका के उत्तर में श्री महाप्रभु जी कहते हैं कि 'रासार्थमेवैतदपि' यह भी प्रत्येक गोपी के साथ भगवान् का नृत्य रास के लिये-अर्थात् रसों का समूह उत्पन्न करने के लिये ही प्रति युवती भेद से प्रकट हुआ है ।

भगवान् ने जितनी गोपी, उतने रूप धारण कर प्रत्येक गोपी में रस उत्पन्न किया है, इतने करने से बहुततर्की युक्त में क्षति नहीं आती है ।

केवल एकत्रित एक रस न होने से प्रथम द्वितीय श्लोक की तरह यहां 'क्रीडाम्' इस प्रकार एक वचन नहीं कहा है, किन्तु प्रत्येक गोपी में रस उत्पन्न करने के लिये 'गोष्ठी' पद कहा है ।

गोष्ठी में अपने अपने अधिकार के अनुसार सभी भिन्न-भिन्न रस का अनुभव करती हैं । यदि कहो कि यह नृत्य उभय निरूपित है तो फिर मूल में (गोप्यः) इस बहुवचन की संगति कैसे होगी ।

इसका समाधान श्री महाप्रभु जी ने सुबोधिनी में किया है कि केवल प्रत्येक में रस उत्पन्न करने के लिये यहां गोष्ठीमात्र कहा है, और टिप्पणी के कहे अनुसार नृत्यान्तर सिद्ध होने पर यहां प्रत्येक का पर्याय से नृत्य है, इसलिये अन्य गोपियों को दर्शन करने से संभ्यत्व बोधन करने के लिये बहुवचन है, कारण कि दोनों का गाढ नृत्य में विनियोग हुआ है ।

भ्रमर यहां गान करने वाले हैं । यदि कहो कि प्रथम की तरह वाद्य तो होंगे, अर्थात् प्रथम सामान्य नृत्य में 'किङ्किणी-नाञ्च योषिताम्' इस छठे श्लोक में कथित उन वाद्यों का यहाँ भी कहना आवश्यक है, फिर यहाँ क्यों नहीं कहे ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'वलयनूपुरघोषवाद्यैः' किङ्किणी का नूपुरों का और घोष शब्द से किङ्किणियों का शब्द ही वाद्य शब्द है ।

"उच्चैर्घुष्टं तु घोषणा" इस कोश से 'घोषयन्तीति' घोषाः, 'घोष' शब्द ऊँचे शब्द का कहने वाला है, इसलिये इससे किङ्किणी का भी शब्द ग्रहण होने से पुथक् नहीं कहा है, तीनों वाद्यों का शब्द हो रहा है । वाद्य शब्द अजहत् स्वार्थ से वाद्य शब्द का बोधक है ।

नृत्य में अत्यन्त अभिनिवेश-आसक्ति सूचन करने के लिये गोपियों के केश से मालाएँ गिर गयी हैं, यह कहा है ।

अथवा गान करने वाले तो भ्रमर निरूपण किये हैं, भ्रमरों को मकरन्द-पुष्प-रस की अपेक्षा होती है, पुष्परस पुष्पों में ही रहता है, जिस समय पुष्प पुथक्-पुथक् हो जाते हैं, उस समय पुष्प में रस नहीं रहता है, इसलिये अपने नृत्य के अनुकूल भ्रमरों के गान करने से अत्यन्त प्रसन्न गोपियां भ्रमरों के लिये पुष्पमालाओं को ही देती हुईं इस प्रकार नहीं मानते हैं तो रस के लिये अपने केशों में शोभा के कारण से धारण की हुई मालाओं की गोपियां उपेक्षा नहीं करतीं, इससे मालूम होता है कि भ्रमरों की गान करने में निपुणता, और प्रभु की प्रिया गोपियों का गान समझना ध्वनित होता है ।

नृत्य के आरम्भ में गोपियों की शोभा का वर्णन शुकदेव जी करते हैं 'कर्णोत्पल' इत्यादि से ।

यदि शोभा का वर्णन शुकदेव जी नहीं करें तो प्रथम नृत्य से थकी हुई गोपियों को फिर नृत्य करना अनुचित ही हो जाय और रसमय भी न हों । कान में जो कमल स्थापन किया है, वह नीचे नहीं गिर जाय, इस प्रकार की चतुराई दिखाने के लिये है, कमल सहित अलकावली

भ्रमरों की तरह रस पीने वाली है, इन अलकों का जो विटंक-अलंकरण रूप स्थान, अर्थात् शोभा देने वाला स्थान कपोल है, उन दोनों कपोलों में जो धर्म-भीतर से निकला हुआ श्रम का जल-पसीना, नृत्य के अभिनिवेश-आसक्ति से उत्पन्न हुआ, उसके जलकणों से जिस प्रकार मोतियों से दोनों कपोल शोभित होते हैं, उस प्रकार की गोपियों के मुख में कोई अलौकिक शोभा प्राप्त हो गई है। इस प्रकार मुख की शोभा वर्णन करने से श्रम का अभाव सूचन किया है, अर्थात् गोपियों के मुख नृत्य की थकावट से मुरझाये नहीं, किन्तु शोभित हो गये, गोपियों के मुख में पसीना की शोभा का दर्शन च्छुम्बन आदि से अनुभाव कराने वाला धर्म है, इस बात को श्री महाप्रभु जी कहते हैं (ताभिः सह) ।

गोपियों के साथ भगवान् का नृत्य अनुभाव कराता है ।

यदि कहो कि उद्बुद्ध रसात्मक को अनुभावक की अपेक्षा नहीं होती है, इस प्रकार अरुचि से पक्षान्तर कहते हैं कि (स्वतो वा) गोपियों को श्रम नहीं हुआ, कारण कि श्रम का अभाव जापन करने वाली प्रस्वेद-शोभा कथन से रस आवेश द्वारा ही यह नृत्य हो रहा है, इसलिये इस प्रकार का नृत्य होने पर अपने आप ही प्रथम विहार की निवृत्ति हो गई, इस प्रकार सूचन किया है । इस पक्ष में भी 'उत्तरस्य आदिना पूर्वस्यावसानम्' उत्तर कार्य का जिस समय प्रारम्भ होता है, उस समय पूर्व कार्य समाप्त हो जाता है, यह न्याय यहां भी जानना चाहिये, इससे 'स्वतः' इसके अर्थ से ही इस प्रकार के अर्थ का बोध होता है, न्याय तो प्रथम कहा है, इससे पुष्ट अर्थ नहीं होता है, इस प्रकार अरुचि होने से पक्षान्तर कहते हैं 'क्रीडानिवृत्तिरनेन सूचिता' यह वाक्य मूल सुबोधिनी में कहा है, इसको समास 'क्रीडाया अनिवृत्तिः क्रीडानिवृत्तिः' अर्थात् क्रीडा की निवृत्ति नहीं, गोपियों को श्रम का अभाव सूचन करने से पूर्व क्रीडा की निवृत्ति गोपियों 'स्वतः' स्वामिनी की शक्ति से कर नहीं सकीं इस प्रकार सूचन किया है ।

आचार्य वल्लभ जी कहते हैं 'स्वतो वा' इसका सम्बन्ध क्रीडानिवृत्ति के साथ नहीं है, किन्तु यह स्वतन्त्र वाक्य है, अतः इसका अर्थ करते हैं कि गोपियों पसीना से शोभित हैं, इसका दूसरा कारण कहते हैं 'स्वतो' वा गोपियों का मुख अपने आप भी शोभित हो रहा है । इस पक्ष में सहके अर्थ में 'समम्' नहीं है, किन्तु तुल्य अर्थ में है, इसलिये नृत्य में भगवान् की प्रधानता है, अतः 'एताभिः सह' गोपियों ने भगवान् के तुल्य नृत्य किया है, भगवान् ने गोपियों को अपनी तुल्यता सम्पादन की है, अतः (गोपियों ने जो भगवान् के तुल्य नृत्य किया है वह 'स्वतः' अपने आप नहीं किया है ।) भगवान् के नृत्य को देखकर उसके अनुसार गोपियों नाचती थीं इसलिये भगवान् की प्रधानता है ।

मूल में 'गोप्यः' यह पद कहा है, इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् ने ही यह सब नृत्य आदि कार्य गोपियों का सम्पन्न किया है, गोपियों ने 'स्वतः' अपने आप नहीं किया, पूर्व शिक्षा से भी भगवान् के तुल्य गोपियों ने नहीं किया, कारण कि गोपजाति में, उसमें भी कुलवधुओं में नृत्य का शिक्षण करना सम्भव नहीं होता है, इसलिये भगवान् ने ही सम्पन्न किया है । अर्थात् गोपियों में इस प्रकार का रस प्रकट हुआ कि जिससे इस प्रकार का नृत्य 'स्वतः' अपने आप ही हुआ, इस बात को जापन करने के लिये 'गोप्यः' यह पद कहा है ।

गोपियों में भगवान् ने तुल्यता सम्पादन की है, इसलिये शुकदेव जी कहते हैं कि 'भगवता समं' जैसे जैसे भगवान् नाचते हैं, वैसे वैसे गोपियां भी नृत्य करती हैं ॥ १६ ॥

(सुबो०) एवं प्रादुर्भूते रसे अत्यन्तोद्गमनार्थं साक्षात्कामशास्त्रोक्ताश्रेष्ठा निरूपयति एवमिति ।

इस प्रकार प्रकट रस होने पर इस रस के अत्यन्त उद्गम के लिये अर्थात् वृद्धि के लिये साक्षात् कामशास्त्र में कहीं क्रियाओं का निरूपण करते हैं । नृत्य आदि परम्परा से काम जागृत करते हैं, और आलिङ्गन आदि साक्षात् काम जागृत करने करते हैं, अतः यहां आलिङ्गन आदि चेष्टाओं का वर्णन शुकदेव जी आगे के श्लोक में कहते हैं ।

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥ १७ ॥

पदपदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (अर्भकः) बालक (स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः) अपने प्रतिबिम्ब-शीशा इत्यादि में अपने शरीर की परछाई दूसरा स्वरूप, उसको देखकर क्रीड़ा करता है, (एवं) उसी प्रकार (रमेशः) लक्ष्मीपति भगवान् (परिष्वङ्ग-कराभिमर्श-स्निग्धे-क्षणोद्दामविलासहासैः) परिष्वङ्ग—आलिङ्गन, कराभिमर्श-हस्तस्पर्श, स्निग्धेक्षण—स्नेहसे ईक्षण-कटाक्ष, उद्दामविलास-मर्यादा रहित भोग, हास-हास्य, इत्यादि से (व्रजसुन्दरीभिः) गोपियों के साथ (रेमे) रमण किया ॥ १७ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार बालक शीशा जल आदि में अपना प्रतिबिम्ब देखकर क्रीड़ा करता है—खेलता है, उसी प्रकार लक्ष्मीपति भगवान् आलिङ्गन हस्तस्पर्श स्नेहपूर्वक ईक्षण और मर्यादा रहित भोग हास्य आदि से व्रजसुन्दरियों के साथ रमण करते रहे ॥ १७ ॥

(सुबो०) आलिङ्गनादयस्तत्र निरूपिताः । एवमेव रसोद्गमनार्थं परि-
ष्वङ्गः, आलिङ्गनम् । अतः कराभिमर्शः तत्तदवयवेषु भगवद्वस्तस्पर्शः । ततः
स्निग्धेक्षणं भावोद्गारि । तत उद्दामो विलासः, अमर्यादो भोगः । ततो हास्याः
नि पूर्णमनोरथानाम् । एवं परिष्वङ्गादिहासान्ताः सर्वासु । ननु प्राकृतीभि-
कथं रेमे, तत्राह रमेश इति । रमाया ईशः । सर्वत्र तासु रमापि भगवदाज्ञया
निविष्टा । ता अपि अधिष्ठानयोग्या इत्याह व्रजसुन्दरीभिरिति । नन्वात्मा-
रामः कथमेताभी रेमे, लक्ष्मीस्तु ब्रह्मानन्द इति रमणमुचितमपि । एतास्वावेशो-
ऽप्यनुचितः, ब्रह्मभावाभावादिति चेत्, तत्राह यथार्भक इति । बालको हि दर्पण-
जलादिकं पुरतः स्थापयित्वा, तत्र तत्रात्मानं पश्यन् रमते । तथा भगवानपि
स्वसामर्थ्यं स्वरूपं वा तत्र स्थापयित्वा, ब्रह्म ब्रह्मानन्द चाविर्भावयित्वा रेमे ।
नन्वेतदप्यनुचितम्, किमनेनेति चेत्, तत्राह यथार्भकः । यथा बाललीलां कृत-
वान्, तथैतदपि कृतवानित्यर्थः । यद्वा । कदाचित्प्रकारसाम्येऽपि नैतद्रसानु-
भवो लक्ष्म्यां भवितुमर्हति, किन्त्वेतास्वेवेति जापयति पदद्वयेन, रमेशो व्रजसुन्दरी-
भिरिति । रमाया ईशः स्वामी भर्तृति यावत् । एतास्तु व्रजसम्बन्धिन्यः सुन्दर्यो,
न तु विवाहिता इति । रमारमणदशायां एतादृशसानुभवो नोभयोरपि संभवति ।
रसस्वरूपस्यैव तादृशत्वादिति भावः । नन्वीश्वरे नेदमुचितमित्यत आह यथा

भंक इति । 'सम्मुष्णन् नवनीतमन्तिकमणिस्तम्भे स्वबिम्बोद्गमं दृष्टुं' त्यादि-
वाक्यनिरूपितमुष्णलीला वान्यथा निरूप्यते । पूर्णज्ञानोऽपि तद्रसस्वरूपस्य
तथात्वात् । तथेहापि 'रसो वै स' इति श्रुतेरिदं सर्वं रसमध्यपातित्वेन स्वरूपा-
त्मकमेवेति तदुच्यते इति नानुपपत्तिः काचित् । शङ्काया एवानुदयादिति
भावः । एतेन यथा प्रभुस्तद्भावो वा, तथैता एतद्भावोपीति ज्ञापितं भवति ।
तथा प्रतिबिम्बस्वभावात् । अत्र रमणं बहूनामप्येकदा भवति द्वयोश्च । अत्र
तु प्रत्येकपर्यवसानं वक्ष्यति ॥ १७ ॥

इसमें आलिङ्गन आदि का निरूपण किया है ।

यहां मूल में स्थित का अतिदेश प्रयोजन के अंश में ही है, प्रकार के अंश में नहीं है, इस
प्राशय से कहते हैं कि रस प्रकट करने के लिये परिष्वङ्ग-भगवान् ने आलिङ्गन किया है । पश्चात्
कराभिमुख-गोपियों के भिन्न-भिन्न वस्त्रयवों में हस्त से स्पर्श किया है ।

पश्चात् स्निग्धक्षण-भाव उत्पन्न करने वाला स्नेह से ईक्षण किया है, पश्चात् फिर उद्गम-
विलास-मर्यादारहित भोग किया है । फिर पीछे पूर्णमनोरथ वाली गोपियों का हास्य किया है ।

इस प्रकार आलिङ्गन से लेकर हास्यपर्यन्त सब क्रियाएं भगवान् ने सब गोपियों के
साथ में कीं ।

यदि यह शंका करो कि इस प्रकार सर्वभाव से रमण में इसका उद्गम नायक नायिका
दोनों की तुल्यता में ही होता है, न्यूनाधिक भाव में तो नहीं होता है, और प्रकृत विषय में तो
'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च' इत्यादिक श्रुति में भगवान् के तुल्य कोई भी नहीं है, इसलिये गोपियों की
भगवान् के तुल्य न होने से किस प्रकार रस का उद्गम हो सकता है ।

इस शंका को हृदय में धारण करके श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि, 'ननु प्रकृतीभिः कथं रमे'
प्राकृत गोपियों के साथ भगवान् ने कैसे रमण किया ?

प्राकृत शरीर तो अन्तर्गृह्यता गोपियों का था, रासमण्डल में स्थित गोपियों का प्राकृत
शरीर नहीं है, 'उक्तं पुरस्ताद्' १०।२९।१३ इस श्लोक के स्वतन्त्र विचारमें इसी बात को कहकर
अर्थापत्ति से साधन किया है, मूल में प्राकृत अप्राकृत का भेद गोपियों में नहीं कहा है, और आचार्यों
ने भी भेद का वर्णन नहीं किया है, इसलिये वहां इस प्रकार का आशय नहीं है, कारण कि यहाँ
सिद्ध की तरह प्राकृतत्व का कथन है ।

इस शंका के उत्तर में गोपियों में प्राकृत, अप्राकृत का दोनों का बोध कराने के लिये, यहाँ
जो प्राकृतत्वका वर्णन किया है, उस का तात्पर्य श्रीप्रभुचरण टिप्पणी में कहते हैं कि,

यहाँ पर गोपियों को अप्राकृत निरूपण करने के लिये प्राकृत धर्म पूर्वपक्ष में कहा है,
किन्तु ये गोपियाँ प्राकृत नहीं हैं ।

तो फिर इनको मूल की दृष्टि से अप्राकृत सिद्ध कैसे सिद्ध किया जाय ? इस प्रकार की
आकाङ्क्षा में अप्राकृत सिद्ध करने का प्रकार कहते हैं ।

सिद्धान्त में तो रमा, लक्ष्मी ब्रह्मानन्द रूप है, इसलिये अप्राकृत है, और भगवान् तो रमा
के ईश हैं, इसलिये भगवान् का अप्राकृत रमा में ही एक रमण करने का स्वभाव है, अतः इस
श्लोक में भगवान् का जो रमण वर्णन किया है, इससे भी सिद्ध होता है कि भगवान् ने जिन

गोपियों के साथ रमण किया वे सब गोपी अप्राकृत हैं, कारण कि भगवान् का असाधारण
स्वभाव ही, गोपियाँ अप्राकृत हैं, इसका परिचय कराता है, अर्थात् 'रेमे रमेशः' इसे पद
से सिद्ध है ।

यदि कहो कि इस प्रकार ही श्री आचार्यों का आशय है, यह कैसे जाना जाय ।

तब इस प्रकार के जानने की इच्छा में कहते हैं कि (किञ्च) स्वामिनियों के अप्राकृतत्व
होने में कौन सी शंका है, जब कि गोपियों के सम्बन्ध द्वारा रमा ने भी प्रभु का सम्बन्ध प्राप्त
किया, और प्रकार से रमा को भगवान् का सम्बन्ध प्राप्त नहीं हुआ, इस बात को कहते हैं कि
भगवान् रमा के ईश हैं, सर्वत्र गोपियों में रमा भी भगवान् की आज्ञा से प्रविष्ट हुई है, अर्थात्
'अयत इन्दिरा' १०।२८।१। इस श्लोक में इसी बात का वर्णन किया है ।

लक्ष्मी ने भगवान् का स्वामिनियों में अत्यन्त स्नेह देखकर स्वयं लक्ष्मी स्वामिनियों में प्रवि-
ष्ट हो, इनके द्वारा प्रभु सम्बन्ध प्राप्त करने की इच्छा करती हुई भी गोपियों के महत्व की स्फूर्ति
से स्वयं प्रविष्ट नहीं हो सकी, जब लक्ष्मी की आति को देखकर, उसकी आति निवृत्त करने के लिये
भगवान् ने लक्ष्मी को आज्ञा दी, तब लक्ष्मी गोपियों में प्रविष्ट हुई, इसी बात को श्रीमहाप्रभुजी ने
कहा है कि 'रमापि भगवदाज्ञया' रमा भी भगवान् की आज्ञा से निविष्ट हुई है ।

उक्त वाक्य से गोपियों में रमा के प्रवेश में भगवान् की आज्ञा कारण कही है, इसलिये
श्रीमदाचार्य का आशय उक्त प्रकार ही मालूम होता है कि भगवान् अप्राकृत वस्तु के साथ ही
रमण करते हैं ।

गोपियों में भी लक्ष्मी के विराजने की योग्यता है, इस बात को शुक्रदेवजी कहते हैं,
'ब्रजसुन्दरीभिः' ।

रमा के ईश भगवान् ने ब्रजसुन्दरियों के साथ रमण किया ।

यदि कहो कि जब लक्ष्मी के अधिष्ठानयोग्य गोपियाँ हैं तो फिर रमा की अपेक्षा गोपियाँ
न्यून की सी हुई ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि गोपियों की यहाँ न्यूनता नहीं कही है, किन्तु उत्तम-
ताका बोध किया है, इस बात को श्रीविठ्ठलनाथजी कहते हैं कि (अपरञ्च) ।

जो नगर की स्त्रियों की तरह, हमारे अतिरिक्त-दूसरी किसी स्त्री के साथ भगवान् का
सम्बन्ध नहीं हो, इस प्रकार की गोपियाँ के चित्त में कुटिलता होती तो रमा गोपियों में प्रवेश नहीं
कर सकती थी, किन्तु गोपियाँ तो सर्वथा अङ्गीकृत ब्रज सम्बन्धिनी हैं, इसलिये गोपियों में अत्यन्त
सौजन्य आदि गुण स्थित हैं, इनका आराधन सुख से हो सकता है, अतः लक्ष्मी ने भी गोपियों में
प्रवेश किया है, इस आशय से कहते हैं कि 'ता अपि अधिष्ठानयोग्याः' यदि यहाँ गोपियों की
न्यूनभाव से योग्यता का बोधन होता तो मूल में ब्रजपद नहीं कहते, किन्तु 'किल सुन्दरीभिः'
इस प्रकार कहते, अतः मूल में ब्रज पद होने से श्रीमदाचार्यों का भी यही आशय है, और 'न त-
त्समः' इत्यादि से, यद्यपि भगवान् के अतिरिक्त अन्य के साम्य का निषेध किया है, तथापि
'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मुण्डक-३।३।) इस श्रुति के अनुसार भगवान् जिस जीव का, वरण
करते हैं तब वह जीव निर्लेप होकर भगवान् के तुल्य हो जाता है, अतः जीव भगवान् के समान
भी हो जाता है ।

यहाँ भी गोपियाँ भगवान् के तुल्य हो गई हैं, इसलिये रस के उद्गम में कोई आपत्ति नहीं
है, यह भाव है ।

यदि कहो कि इस प्रकार रस उद्गम-प्राकट्य विचार करने में भगवान् का रमण दूसरों के लिये है, इस प्रकार का रमण छवीसवे अध्याय में ही 'अरीरमत्' इस निजन्त पद से कहा है, किन्तु यहां तो इस अध्याय में 'रेमे' इस पद से कर्ता को क्रिया फल बोध करने वाले आत्मनेपद से रमण को स्वार्थता-अर्थात् रमणफल भगवान् के लिये प्राप्त होता है, इसलिये गोपियों भगवान् के तुल्य भी हैं तो भी भिन्न गोपियों के साथ भगवान् का रमण आत्मारामत्व का भङ्ग करने वाला है, इसीसे श्रीमदाचार्यों ने सुबोधिनी में कहा है कि 'ननु आत्मारामः कथं एताभी रेमे'।

आचार्य इस शंका को इस प्रकार से कहते हैं कि आत्मा में-अर्थात् अपनी अर्धाङ्गी रमा में, दम्पतीभाव से रमण करने वाले रमेशने रमा के समक्ष गोपियों के साथ रमण कैसे किया ?

लक्ष्मी तो ब्रह्मानन्दरूप होने के कारण आपकी अर्धाङ्गी है, अर्थात् स्वीया है, इसलिये भगवान् दूसरों के समक्ष लक्ष्मी के साथ रमण करना तो उचित भी है, (अपि शब्द से लक्ष्मी के साथ रमण में भी स्वारस्य नहीं है) मुख्य रस की प्राप्ति तो लक्ष्मी को भी नहीं होती है, किन्तु यथाकथंचित् लक्ष्मी के साथ रमण सम्भव होता है, किन्तु केवल गोपियों के साथ भगवान् का लक्ष्मी के समक्ष रमण करना संभव नहीं हो सकता है।

यदि कहो कि लक्ष्मी की तरह गोपियां भी धर्मरूप हैं, इसलिये तादात्म्य होने से दोष नहीं है। इस प्रकार समाधान करने पर कहते हैं कि इस रस की प्राप्ति के लिये भगवान् ने लक्ष्मी को गोपियों में प्रविष्ट होने की आज्ञा दी, किन्तु भगवान् तथा लक्ष्मी, दोनों का ही दंपति भाव जाग्रत है, इसलिये यहां भगवान् की आज्ञा संभावित नहीं होती, कारण कि प्रिय भगवान् को भी पूर्वभाव से विलक्षण भाव की उत्पत्ति होने से रसाभास प्रसङ्ग प्राप्त हो जायेगा, इससे पूर्व रस को भंग करने वाली भगवान् की आज्ञा है। जिस प्रकार गाय अपने रान के स्पर्श को सहन न करती छीके ऊपर घरे भी दूध को पानी में गेर देती है, उसी प्रकार भगवान् की आज्ञा पूर्व रसका नाश करने वाली है, इसलिये गोपियों में भगवान् की आज्ञा से रमा का प्रविष्ट होना अनुचित है, कारण कि ब्रह्मभाव होने पर ही ब्रह्मानन्द का आविर्भाव होता है।

रमा ब्रह्मानन्द रूप है, अर्थात् स्वरूपात्मक है, ब्रह्मानन्द मध्यपातिनी गोपियां भी ब्रह्मानन्द रूप स्वरूपात्मक हैं, इसलिये यहां आत्मारमण ही है, इसी से आगे 'गोपीनां तत्पतीनां च' कहेंगे। इस प्रकार समाधान करने पर कहते हैं कि गोपियों में ब्रह्मभाव नहीं है, इसलिये ब्रह्मानन्द रूप स्वरूपात्मक गोपियां नहीं हैं।

तो फिर भगवान् की आज्ञा से लक्ष्मी का गोपियों में आवेश है, इसलिये भगवान् ने रमण किया है। इस प्रकार समाधान करने पर कहते हैं कि गोपियों में लक्ष्मी का आवेश भी उचित नहीं है, कारण कि आवेश तो साधन करने वाले पुरुषों में ब्रह्मभाव से प्राप्त होता है, गोपियों में ब्रह्मभाव का साधन न होने से आवेश भी घट नहीं सकता है, अतः भगवान् का रमण लक्ष्मी में तथा गोपियों में भिन्न भिन्न प्रकार का है, इसलिये गोपियों के साथ आत्माराम का रमण अनुचित है।

इस शंका के उत्तर में श्री शुकदेव जी कहते हैं 'यथार्थकः'।

जिस प्रकार बालक दर्पण तथा जल आदि को सामने रखकर वहां अपने स्वरूप को देवता रमण करता है, उसी प्रकार भगवान् भी अपनी सामर्थ्यशक्ति अथवा अपने स्वरूप को गोपियों में स्थापन करके ब्रह्म तथा ब्रह्मानन्द का आविर्भाव करके रमण करता है। अतः आत्मारामत्व भङ्ग नहीं होता है।

यदि कहो कि यह भी अनुचित है, गोपियां तो ब्रह्मानन्द से भी अधिक भगवद्भक्त भाव वाली हैं, इसलिये लक्ष्मी का सम्बन्ध यहां कह नहीं सकते, कारण कि रमा के निवेश से गोपियों को अप्राकृत सूचन किया है, इससे गोपियों की स्वतन्त्रता की हानि होने से रस न्यून ही प्राप्त होगा, तो फिर गोपियों को भगवान् ने फल क्या सम्पादन किया।

इस प्रकार प्रश्न करने पर गोपियों में रसविच्छेद का अभाव दृष्टान्त से कहते हैं, कि 'यथार्थकः' जिस प्रकार भगवान् ने बाललीला की, उसी प्रकार यह भी लीला की है।

श्री विट्ठल नाथ जी स्वतन्त्र लेख में कहते हैं कि अथवा भगवान् का गोपियों के साथ तथा लक्ष्मी जी के साथ रमण प्रकार कदाचित् समान हो, तो भी जिस रस का अनुभव भगवान् को गोपियों में हुआ है, उस रस का अनुभव लक्ष्मी जी में नहीं हुआ है, किन्तु वह तो गोपियों में ही हुआ है, इस बात का ज्ञापन मूल में 'रमेशो व्रजसुन्दरीभिः' इन दो पदों से करते हैं।

रमा का ईश-स्वामी, भर्ता भगवान् है, और गोपियां तो व्रजसम्बन्धिनी-अन्य सम्बन्ध वाली सुन्दरी हैं, भगवान् की विवाहिता नहीं हैं, इसलिये जिस समय भगवान् रमा के साथ रमण करते हैं, उस समय गोपियों का सा रस का अनुभव लक्ष्मी जी तथा भगवान् दोनों को ही सम्भव नहीं होता है, कारण कि रस का स्वरूप ही इस प्रकार का है, यह भाव है।

यदि कहो कि ईश्वर में इस प्रकार का रमण उचित नहीं है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि "यथार्थकः"।

"संमुष्णन् नवनीतमन्तिकमणिस्तम्भे स्वविम्बोद्गमं दृष्ट्वा,

मुग्धतया कुमारमपरं संचिन्तयन् शंकया।

मन्मिथं हि भवान् मयात्र भवतो भागः स्वयं कल्पितो,

मा मां सूचय सूचयेत्यनुनयन् बालो हरिः पातु वः॥"

"भगवान् नवनीत चुराकर भीतर भवन में चल गये, वहां मणियों के स्तंभ में अपना प्रतिविम्ब देखकर मुग्धभाव से स्तम्भ में दूसरे कुमार की शंका से आप विचार करते कहते हैं कि, आप मेरे मित्र हो, इसलिये मैंने नवनीत में से पहिले आप का भाग स्वयं रख दिया है, मुझ को निन्दित मत करो" इत्यादि कृष्णकृष्णामृत के वाक्य में भगवान् की मुग्धलीला का वर्णन अन्यथा निरूपण किया है, कारण कि भगवान् पूर्ण ज्ञानवान् हैं, फिर भी इस प्रकार की मुग्ध लीला करते हैं, अतः उस रस का स्वरूप ही इस प्रकार का है, उसी प्रकार यहां भी भगवान् मुग्धलीला करते हैं।

"रसो वै सः" इस श्रुति के अनुसार जो कुछ भगवान् करते हैं, वह सब रसमध्यपाती है, इससे स्वरूपात्मक है, अतः भगवान् ने रमण किया, इस प्रकार कहा जाता है, यहां कोई आपत्ति नहीं है। कारण कि इस प्रकार की शंका ही यहां उत्पन्न नहीं होती है।

यदि कहो कि इस पक्ष में आत्मारामत्व का समर्थन कैसे हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उक्त कथन से इस प्रकार ज्ञापित होता है कि जिस प्रकार भगवान्, अथवा भगवान् का भाव है, उसी प्रकार गोपियां और गोपियों का भाव भी है। पहिले कही "रसो वै सः" इस श्रुति से रसात्मकत्व तथा रसवान् दोनों के स्वरूप में भेद नहीं है।

इस प्रकार से गोपियों के साथ भी भेद नहीं है, कारण कि गोपियां भी रस स्वरूप के अन्तःपाती हैं, अतः कोई अयोग्य नहीं है।

तेजस्थल में किरणों के प्रवेश से ही प्रतिविम्ब होता है, इसलिये यहां भी दृष्टान्त से ही पूर्वोक्त रीति से आत्मारामत्व का समर्थन है।

अथवा पुरुषोत्तम से अभिन्न आनन्द रूप है। उसमें प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, कारण कि टिप्पणी में 'नहि' इत्यादि से दूषित किया है, कि लक्ष्मी जी ब्रह्मभावात्मक साधन से प्रकट हुआ, ब्रह्मानन्द नहीं है, कारण कि ब्रह्मानन्द तो ब्रह्मभाव रूप साधन करने वाले पुरुषों में भी प्रकट होता है।

द्वितीय पक्ष पुरुषोत्तम से अभिन्न आनन्दरूप है, इसको ही अङ्गीकार करना चाहिये। इसमें भी प्रथम पुरुषोत्तम के स्वरूप का विचार करना चाहिये, पुरुषोत्तम का स्वरूप रसरूप है, यह प्रथम निर्णय किया है।

इसलिये लक्ष्मी जी का पुरुषोत्तम से अभेद होने पर भी दांपत्य-स्त्रीपुरुष भेद से प्रसिद्ध है, इसलिये शक्ति, शक्तिमान् भाव सिद्ध होता है, पुनः यह अभेद तादात्म्य में पर्यवसान को प्राप्त होता हुआ रमा को पुरुषोत्तम के आनन्द का एकदेश व्यवस्थापित करता है।

इस प्रकार का लक्ष्मी का स्वरूप शास्त्रविचार से सिद्ध है, इसलिये ब्रह्मानन्द भाव हेतु से जो गोपियों में लक्ष्मी जी के आवेश के अभाव की शंका की है, उसमें श्रीमदाचार्यों का अभिप्राय नहीं है, किन्तु ब्रह्मानन्द पद से यहां अन्य अभिप्राय कहा है, अतः उस आशय को लेकर यहां शंका की है।

और तुम्हारी रीति के अनुसार श्री आचार्यों की उक्ति में विरोध नहीं है, इसी आशय से टिप्पणी में (किन्तु) पुरुषोत्तम रसात्मक है इत्यादि से पूर्व व्याख्यान में कहा है, तथा लक्ष्मी का स्वरूप जिस प्रकार का निर्धार करके सिद्ध हुआ है, उसका वर्णन 'एतादृश्या' 'इस प्रकार की लक्ष्मी के' यहां से लेकर 'उच्यते' पर्यन्त पहिले व्याख्यान में किया है।

यहां प्रथम पक्ष में लक्ष्मी का मूर्तरूप से स्थापन नहीं है, किन्तु अमूर्त रूप अपनी सामर्थ्य आत्मा, अथवा रूपात्मा से है, इससे लक्ष्मी के अज्ञानपक्ष का संग्रह है।

द्वितीय ज्ञानपक्ष में मुख्य रस और मुख्य रस का पोषण करने वाला स्वरूप प्रकट करके भगवान् ने रमण किया है, इस प्रकार अर्थ है। इसलिये ब्रह्मभाव होने पर ब्रह्मानन्द का आविर्भाव होता है, इस प्रकार जो पूर्व पक्ष किया, उसमें कहते हैं कि रमा में गोपियों का सा रसभाव नहीं है, इसलिये लक्ष्मी का आवेश गोपियों में कहना अनुचित है, अर्थ अभिप्रेत है। अतः विरोध भी नहीं है। इस प्रकार यहां पूर्वोक्त ही आशय कहा है।

इस प्रकार कहने में 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' वह किस में प्रतिष्ठित है, इस प्रकार प्रश्न करने पर 'स्वे महिम्नि' अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है, 'अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः' अन्य में प्रतिष्ठित है, इसकी तरह आगे उत्तर का विचार करने पर अपनी महिमात्मक शक्ति रूपता गोपियों में भी निर्बाध सिद्ध है, इसलिये शक्ति शक्तिमद्भाव लक्ष्मी की तरह गोपियों में भी तुल्य होने के कारण वही समाधान यहां भी समझना चाहिये।

अतः रसरूपत्व आदि तथा आत्मारामत्व आदि में इस प्रकार विरोध नहीं है, इस प्रकार प्रथम दृष्टान्त के व्याख्यान का तात्पर्य स्फुट कह कर अब द्वितीय व्याख्यान स्फुट करने के लिये उसकी अवतारिका से सूचित अरुचि को स्फुट करते श्री गो० विट्ठलनाथजी कहते हैं कि 'ननु स्व'।

यदि कहो कि गोपियों में अपना सामर्थ्य आदि स्थापन करके ही भगवान् रमण करते हैं, तो गोपियां उत्तम नायिका नहीं हुईं, अतः भगवान् को स्वयं उत्तम नायिका नहीं मिलने पर गोपियों में अपना सामर्थ्य आदि योजन करने से उत्तम रस का अनुभव नहीं होगा।

इस प्रकार अरुचि से श्रीमहाप्रभुजी ने पक्षान्तर कहा है कि 'ननु एतदप्यनुचितम्' यह भी अनुचित है।

भगवान् गोपियों में अपना सामर्थ्य आदि स्थापन करके रमण करे तो भगवान् को विलम्ब कर्मत्व प्रसङ्ग हो जायेगा।

कारण कि भगवान् तो अकिल्बकर्म हैं, अर्थात् जिस प्रकार कार्य करने में क्लेश नहीं हो, उस प्रकार कार्य करते हैं, इसलिये भगवान् ने गोपियों में अपना सामर्थ्य आदि स्थापन करके रमण किया, इस प्रकार का व्याख्यान करना अनुचित है।

यदि कहो कि आवश्यक कार्य में क्लेश करने में भी दोष नहीं है। जिस प्रकार 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' महद्भय में वज्र धारण।

इस शंका के उत्तर में लक्ष्मी का विधर्म बोध कराने के लिये कहते हैं, 'पक्षान्तरे' पक्षान्तर में दृष्टान्त के आभास को कहते हैं, 'किमेनेति चेद्' यदि गोपियों के लिये ही यह लीला क्रियमाण है तो फिर लक्ष्मी के आवेश से रमण करने में स्वामिनियों को फल क्या सम्पादित किया। यहां पर आभास का अर्थ कहने से ही लक्ष्मी जी से गोपियों का धर्म पृथक् कहा है, अतः गोपियों के धर्म का नियमन करने के लिये आवश्यक कार्य होने से इसमें क्लेश नहीं है।

पूर्व कही अनावश्यकत्व का बोध करने वाली शंका 'यथार्भकः' इस दृष्टान्त से दूर की जाती है।

जिस प्रकार गोपियों का धर्म नियमन के लिये क्लेश आवश्यक है, उसी प्रकार लक्ष्मी जी को भी भक्त होने के कारण उसकी अभिलाषा पति आवश्यक है, अतः भगवान् ने अपना सामर्थ्य आदि स्थापन कर रमण में क्लेश किया है।

यदि कहो कि क्लेश मुख्य रस का पोषक है, यह बात प्रथम कह आये हैं, इस शंका के उत्तर में दृष्टान्त का अर्थ श्री गो० विट्ठलनाथ जी कहते हैं कि 'तथा हि'।

जिस समय यशोदा रोहिणी आदि के सामने संकोच से भगवान् गोपियों का आलिङ्गन आदि नहीं करते, उस समय गोपियों को अत्यन्त आति होती है, उस आति को देखकर, आति दूर करने के लिये बालभाव के व्याज-बहाने से गोपियों के वक्षस्थल पर विविध बिहारों को करते हैं, उस समय गोपियों की रस रीति से ही रसपूति, तथा आति-दुःख दूर होता है, और अन्य यशोदा प्रभृति स्त्रियों को तथा नन्द प्रभृति पुरुषों को तो विचित्र बाल चेष्टाभाव से बाललीला रस का अनुभव ही होता है।

इसी प्रकार यहां भी गोपियों को निजरस भाव के अनुरूप ही रस का अनुभव होता है, तथा लक्ष्मीजी को गोपियों के प्रसङ्ग से अपने भाव के अनुरूप ही रस का अनुभव होता है।

इस प्रकार का व्याख्यान करके गो० श्री विट्ठलनाथ जी ने गोपियों की अयोग्यता का परिहार किया है।

अब आगे मूल ग्रन्थ को स्फुट करते हैं, "तथाच" यहां पर दो दृष्टान्त जानने चाहिये, "यथार्भकः" जिस प्रकार बालक खेलता है। भगवान् ने बालभाव से रमण किया, यह प्रथम दृष्टान्त है।

दूसरा दृष्टान्त "यथार्भकः" जिस प्रकार लौकिक बालक रमण करता है-खेलता है, उसी प्रकार भगवान् ने लीला की है।

मूल में गोपियों का सात्त्विक-समीप होने के कारण बालक ही इस प्रकार का है, इसलिये "यथा" शब्द कहा है।

यहां पर अर्भक शब्द की आवृत्ति की है, इससे दूसरा लौकिक दृष्टान्त कहा है, दूसरा दृष्टान्त लौकिक प्रकार का है, इसका वर्णन यहां आचार्यों ने नहीं किया है।

इस प्रकार कही गयी रीति के अनुसार गोपियों में रमा का आवेश स्वीकार करने पर, रमाप्रवेश से ही गोपियों में रमणयोग्यता है, इस प्रकार कोई माने तो, इस अरुचि से पक्षान्तर श्री विठ्ठलनाथ जी ने कहा है "यद्वा" इसका व्याख्यान पहिले मूल सुबोधिनी के व्याख्यान के साथ में किया है, इसलिये यहां नहीं किया है ॥ १७ ॥

(सुबो०) एवं सर्वभावेन भगवद्धर्मविशेषे तासां देहादिविस्मरणपूर्वकं महारसाभिनवेशमाह तदङ्गेति ।

इस प्रकार सर्वभाव से गोपियों में भगवान का धर्म-स्वरूपानन्द एवं ऐश्वर्य आदि धर्मों का प्रवेश होने पर गोपियां अपने देह आदि को भूलकर महारस में प्रविष्ट हो गईं, महारस में प्रविष्ट व्यापार से उत्पन्न जो फल गोपियों को मिला, उसका वर्णन आगे के श्लोक में श्रीशुकदेवजी कहते हैं ।

तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।

नाञ्जः प्रतिव्योदुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरुद्वह ॥ १८ ॥

पदपदार्थ—(हे कुरुद्वह) हे कौरवों में श्रेष्ठ "तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रियाः" भगवान के श्री अङ्ग के सङ्ग से जो प्रकृष्टमद-देहादि को भुलाने वाला भाव, उससे व्याकुल इन्द्रियां जिनकी "विस्रस्तमालाभरणाः" गिर गयीं मालाओं और आभरण जिनके इस प्रकार की "व्रजस्त्रियो" गोपियां (केशान्) केशोंको (दुकूलं) वस्त्र को (वा) और (कुचपट्टिकां) चोली-अंगिया को (अञ्जः) समग्रता से (प्रतिव्योदुम्) सम्मुखता से विशेष करके धारण करने के लिये (अलं) समर्थ (न जाताः) नहीं हुईं ॥ १८ ॥

भाषार्थ—हे कौरवों में श्रेष्ठ ! भगवान के श्री अङ्गसङ्ग से देहादि को भुलाने वाला जो प्रकृष्टमद-भाव उत्पन्न हुआ, उस भाव से गोपियों की इन्द्रियां व्याकुल हो गईं, और मालाएं, तथा आभरण गिर गये, इस प्रकार की व्रजस्त्रियां अपने केश, और पहिने हुए वस्त्र चोली आदि को स्वयं अपने स्थान पर धारण नहीं कर सकीं, सम्हाल नहीं सकीं ॥ १८ ॥

(सुबो०) तस्य भगवतः अङ्गसङ्गेन यः प्रकृष्टो मदः देहादिविस्मरणो भाव उत्पन्नः, तेन आकुलानीन्द्रियाणि यासाम् । सर्वा इतिकर्तव्यतामूढा जाताः । ततः केशपाशं परिहितदुकूलं कुचपट्टिकां वा स्वयमञ्जसा सामस्त्येन प्रतिसम्मुखतया विशेषेण व्योदुमलं न जाताः । पुनरल्पेनैव तथाविधा जाता इत्यत्र हेतुमाह व्रजस्त्रिय इति । श्रमोऽपि जात इत्याह विस्रस्तमालाभरणा इति । आकुलेन्द्रियत्वान्न विचारो लौकिकः । गोपिकात्वान्न पारमार्थिकः । श्रमान्न दैहिकः । अतः आद्यन्तमध्येषु तासु युक्ता भगवतैव धृताः, न ताभिरित्यर्थः । यद्यप्यन्य-प्रतीत्याघ्रियमाणा इव तथापि न स्वतो धारणम् । कुरुद्वहेति सम्बोधनमभ्रमाय विश्वासार्थं च ॥ १८ ॥

भगवान के अङ्गसङ्ग से जो प्रकृष्ट मद-देह आदि का भुलाने वाला भाव उत्पन्न हुआ,

उस भाव से व्याकुल इन्द्रियां जिनकी, इस प्रकार की सभी गोपियां किकर्तव्य, क्या करना चाहिये इस प्रकार के विचार में विमूढ हो गईं, अतः अपना केशपाश-वेणी को, पहिने वस्त्र को और चोली को स्वयं समग्रता से-अच्छे प्रकार से यथास्थान "प्रतिव्योदुम्" प्रति-सम्मुखता से विशेष करके वोदुं—धारण करने के लिये समर्थ नहीं हुईं ।

मूल श्लोक में जो "व्योदुम्" पद कहा है, वह वास्तव में 'विवोदुम्' है, इसमें वकार का छान्दस प्रकार से लोप करके यण् प्रत्यय करने पर "व्योदुम्" सिद्ध हुआ है ।

फिर थोड़ा सा विहार करने से गोपियों की इन्द्रियां व्याकुल हो गईं, इसमें हेतु श्रीशुकदेव जी कहते हैं (व्रजस्त्रियः) ।

'गायन्त्यस्तं विजहिरे' प्रथम १५ वे श्लोक में नृत्यादि का विराम कथन से स्पष्ट मालूम होता है कि नृत्य स्वभाव से प्राप्त गोपियों की इन्द्रियां व्याकुल हो गई थीं, और फिर 'कर्णोत्पला-लक' इस १६ वे श्लोक में गोपियों में भाव जागृत हुआ, 'एवं परिष्वङ्ग' इस १७ वे श्लोक में गोपियों ने विहार किया, इस प्रकार कहा ।

अब इस अठारवे श्लोक में थोड़े से ही विहार से गोपियों की इन्द्रियां व्याकुल हो गईं, इसका कारण यह है कि गोपियां व्रज की स्त्रियां हैं । व्रज की स्त्रियों में विषुद्ध भाव होता है ।

गोपियों को श्रम भी हुआ है, इसका वर्णन शुकदेवजी करते हैं कि 'विस्रस्तमालाभरणाः' गोपियों की माला और आभरण गिर गये थे, और इन्द्रियां व्याकुल हो गई थीं, इसलिये लौकिक विचार नहीं रहा, कारण कि गोपियां रसोन्मुख थीं । वस्त्र आदि का विचार लौकिक है, शरीर में वस्त्र नहीं हो तो, लोक में लज्जा लगती है, किन्तु गोपियों की इन्द्रियां व्याकुल होने के कारण अपने पहिनने का वस्त्र गिर जाने का भी विचार नहीं रहा । पहिनने का वस्त्र का विचार करना मुख्य है, अर्थात् प्रथम है ।

गोपियां प्रमेय मार्गीय हैं, इसलिये इनके भीतर पारमार्थिक विचार भी नहीं रहा, कारण कि केशों के विधुर जाने से परमार्थ में दोष लगता है, किन्तु गोपियां प्रमाणमार्गीय नहीं हैं, प्रमेय मार्ग वाली हैं, इसलिये इनको केश विधुरने का भी विचार नहीं रहा ।

दैहिक विचार मध्य-दूसरा है, चोली-अंगिया आदि न होने से कुचोंका अन्यथाभाव हो जाता है, किन्तु गोपियां श्रान्त हो गईं, इसलिये अपनी अव्यवस्थित चोलियों की व्यवस्था करने का विचार भी नहीं रहा ।

अतः आदि मध्य और अन्त में, अर्थात् पहनने का वस्त्र, केश और चोलियां, इन तीन स्थानों में गोपियों के वस्त्र, केश और चोलियां, जो वस्तुयें थीं, वे सब भगवान् ने ही धरी थीं, कारण कि गोपियों को तो प्रकृष्ट मद से देहादि का विस्मरण हो गया था, इसलिये भगवान् ने ही सम्हाली, यह अर्थ है ।

यद्यपि दूसरों के देखनेमें धारण की हुईं सी देखती हैं, तथापि गोपियों ने अपने आप धारण नहीं कीं भगवान् ने ही धरी थी ।

'कुरुद्वह' यह सम्बोधन श्री शुकदेवजी ने राजा परीक्षित को दिया है वह भ्रम न होने के लिये, तथा विश्वास दिलाने के लिये किया है ॥ १८ ॥

(सुबो०) एवं समुदायलीलां निरूप्य तस्याः परिज्ञानं केषामपि न जात-मिति वक्तुं देवस्त्रीणां चन्द्रस्य च विस्मयमाह कृष्णेति ।

इस प्रकार समुदायलीला वर्णन करके, इस समुदायलीला का परिज्ञान किसी को भी नहीं हुआ, इस बात को कहने के लिये आगे के श्लोक में देवस्त्रियों को और चन्द्र को विस्मय हो गया, इसको शुकदेव जी कहते हैं, गंधर्व आदि को तो इस लीला का दर्शन ही नहीं हुआ, स्त्रियों को और चन्द्र को विस्मय हो गया, अतः समुदायलीला का किसी को ज्ञान नहीं हुआ ।

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः ।

कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥ १९ ॥

पदपदार्थ—(कृष्णविक्रीडितं) श्री कृष्ण की विशेष क्रीड़ा को (वीक्ष्य) देखकर (खेचरस्त्रियः) आकाश में डोलने वाले देवों की स्त्रियां (कामार्दिताः) काम से पीड़ित होती (मुमुहुः) मोहित हो गईं (च) और (सगणः) नक्षत्रसहित (शशाङ्कः) कलङ्की चन्द्रमा (विस्मितः) विस्मित (अभवत्) हो गया ॥ १९ ॥

भाषार्थ—श्रीकृष्ण की विशेषक्रीड़ा देखकर आकाश में डोलने वाले देवों की स्त्रियां काम से पीड़ित-मोहित हो गईं, और नक्षत्र सहित चन्द्रमा विस्मित हो गया ॥ १९ ॥

(सुबो०) नहि कस्याश्चित् पतिः परमानन्दो भवति । नहि निरानन्देनानन्दो दातुं शक्यते । 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः । एवकारेणोत्तरनिषेधश्च । तत्रापि विशेषेण क्रीडा । नहि जीवो विशेषक्रीडां जानाति । खेचराणां स्त्रिय इति तासां सर्वदर्शनार्थं भगवद्भक्तो वरो निरूपितः । स्त्रीणां च दर्शनं न दोषाय । तासां मोह एवोत्पन्नः । न तु परिज्ञानं रसो वा । लौकिकोऽपि चन्द्रो दृष्टवान् । सोमात्मकत्वात् देहस्य । 'सोमः प्रथम' इति श्रुतेश्च । साधारण्यश्च स्त्रियः । तथापि तस्य दर्शनं तस्यैव हितकारि न भवतीति निरूपयितुमाह शशाङ्क इति । स हि कलङ्की । आनन्दमयोऽपि । सगणो नक्षत्रसहितः । तेनोद्दीपनेऽपि न तस्यान्यासु चित्तसम्भवः । चक्रात् सोऽपि मुमुहे । यथा पुनरेताः मोहनानन्तरं पुनः पुनर्दर्शने उदबुद्धकामा जाताः । गत्वास्माभिरपि कामरूपतया क्रीडा कर्तव्येति कामार्दिता जाताः । तथा चन्द्रोऽपि भगवति निवेशनार्थं यत्नं कृतवान् । अतः कामार्दितो जातः । अनेनाग्रे निसर्गात् सुखमिति पक्षे उपपत्तिरुक्ता । अस्यैव चन्द्रस्य अंशास्ततो निवर्तिष्यन्त इति । अन्यथा 'सहस्र दर्शानामुक्ति' रित्येतत्सूत्रं विरुध्येत । सहस्रवणाभावात् । किञ्च, सगणः स्वस्त्रीसहितोऽपि विस्मितो जातः । विस्मयरस एवोत्पन्नः, नान्यो रस इति ॥ १९ ॥

किसी का पति परमानन्द कृष्ण नहीं होता है, और जो निरानन्द हो, आनन्द रहित हो, वह आनन्द का दान कर नहीं सकता है ।

सन्निवदानन्द के सत्ता, ज्ञान और आनन्द धर्म है, इसलिये आनन्द को आनन्द स्वरूप होने से-यहा आनन्द पद ही कहा है, अतः निरानन्द का अर्थ आनन्दरहित है, आनन्दरहित आनन्द का दान कर नहीं सकता है, कारण कि श्रुति कहती है 'एष ह्येवानन्दयाति' एष ह्येव, आनन्द ही

परमात्मा आनन्द देता है, एवकार से इतर का निषेध किया है, अर्थात् परमात्मा के बिना अन्य कोई आनन्द दे नहीं सकता है ।

यहाँ पर विशेष क्रीड़ा है, जीव विशेष क्रीड़ा नहीं जानता है, आकाश में डोलनेवाले देवों की स्त्रियां, मूल में इस प्रकार के कहने से सब दर्शन करने के लिये देवों की स्त्रियों को भगवान् ने वरदान दिया है, इस प्रकार निरूपण किया है, स्त्रियों को भगवल्लीला का दर्शन करने में दोष नहीं है, देवस्त्रियों को भगवान् की लीला देखकर मोह ही उत्पन्न हो गया है, किन्तु भगवान् की समुदाय लीला का परिज्ञान नहीं हुआ, और न रस ही प्राप्त हुआ ।

अब 'वीक्षा' इस पद से गौण क्रिया का विवरण करते हैं कि लौकिक भी चंद्र लीला का दर्शन करता है, मूल में 'शशाङ्क' पद से लौकिक चन्द्र ही प्राप्त होता है, अतः लौकिक चन्द्र ने दर्शन किया, यह कहा है ।

यदि कहो कि रासक्रीड़ा में समागत रगणियों के दर्शन से चन्द्र को दोष उत्पन्न होता है । फिर कैसे चंद्र ने दर्शन किया ?

इस शंका के उत्तर में श्रीमहाप्रभुजी चंद्र को दोष उत्पन्न न होने का कारण कहते हैं 'सोमात्मकत्वात् देहस्य' इसका देह सोमरूप है ।

'अग्नीषोमात्मकं जगत्' श्रुति कहती है कि यह जगत् अग्नि तथा चंद्ररूप है, इस प्रकार श्रुतिसंमत चंद्र तथा गोपियों के देह में भेद नहीं है, एक ही है, अतः चन्द्र को इस लीला के देखने से दोष उत्पन्न नहीं होता है ।

जिस प्रकार आलौकिक चन्द्र भगवद्भावात्मक है, उसी प्रकार यह लौकिक चन्द्र स्वामिनी भावात्मक है ।

स्वामिनियों की आत्मा में नियत-सदैव रहने वाले सोम का देह सोमात्मक है, इसलिये आध्यात्मिक रूप से गोपियों की देह में विद्यमान रहने से चन्द्र को गोपियों के रमणसमय में दर्शन करने में दोष नहीं है ।

अब 'लोकवत् लीलाकैवल्यम्' भगवान् की लोक की तरह भी की गई लीला मोक्ष देने वाली है, इस न्याय के अनुसार अर्थ कहते हैं ।

'सोमः प्रथमो विविदे' 'सोम प्रथम स्त्री को प्राप्त हुआ' इस श्रुति के अनुसार सोमने स्त्रियों के देहका प्रथम से ही भोग किया है, इसलिये गोपियों के दर्शन करने से चंद्र को दोष नहीं है, कारण कि यह चंद्र स्वामिनियों के भावरूप है ।

यदि शंका करो कि गोपियों का देह अलौकिक है, इसलिये इनके देह सोमात्मक कैसे हो सकते हैं, जिससे चंद्र को दोष नहीं लगा ।

इस शंका का समाधान करते हैं कि (साधारण्यश्च स्त्रियः) साधारण देवस्त्रियों ने भी दर्शन किया था, इस प्रकार आचार्य ने अर्थ इस पंक्ति का किया है । और योजनाकार कहते हैं कि गोपियों से भिन्न साधारण स्त्रियां भी रास के दर्शन करने के लिये आई थीं, अर्थात् रास से एक भगवद्भोग्य कृष्णवधू ब्रजरमणियां ही रासक्रीड़ा रूप पूर्ण फलसिद्धि के लिये आई थीं, और रासके दर्शन करने के लिये तो बहुतसी अन्य साधारण स्त्रियां भी आई थीं, इसीलिये 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में निरूपण किया है कि रासक्रीड़ा में गोपियों से अन्य बहुत सी स्त्रियां भी आई थीं, इसलिये साधारण गोपवधुओं के दर्शन से चंद्र को दोष नहीं लगता है, कारण कि साधारण गोपों की स्त्रियों का देह लौकिक होने से सोमात्मक है, तथापि-चंद्रको दर्शन करने पर भी रासक्रीड़ा का दर्शन चंद्र को ही हितकारी नहीं हुआ, इस बात का निरूपण शुकदेव जी करते हैं, (शशाङ्कः) ।

यह लौकिकचन्द्र कलंकी है, इसका आशय यह है कि, 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र.सू.३।३। १०) पूर्ण आनन्द ऐश्वर्य आदि धर्म ब्रह्म के ही हैं, इस न्याय के भगवान् के सकाश से ही चंद्र आनन्द की इच्छा करता है, कारण कि चंद्र स्वामिनियों के भाव रूप है, किन्तु चंद्र स्वयं पूर्ण नहीं है, इसलिये चंद्र को अपने हित की इच्छा रहती ही है।

चंद्र आनन्दमय भी है, इसमें आनन्दमय अलौकिक चंद्र ने भी भगवान् की लीला का दर्शन किया है।

मूल श्लोक में 'कामादिताः शशांकश्च' इस एक ही वाक्य में यहां जितने धर्मविशिष्ट चंद्र के साथ कहा, तथा बिना कहा, अथवा दोनों का समुच्चय है, इसलिये कहे में, बिना कहे में अथवा दोनों में उतने ही धर्मों का आ जाना आवश्यक होता है, अतः दोनों की स्त्रियों की तरह चंद्र भी काम से पीड़ित हो गया है, इस बात को मूल में 'च' कार से बोध कराया गया है।

तथा उक्त वाक्य में नहीं कहा जो कलंकरहित अलौकिक चंद्र है, उसका भी वर्णन 'च' कार से ही होता है, इसलिये श्री आचार्यों ने आनन्दमय चंद्र भी है, इस प्रकार कहा है।

आगे लौकिक चंद्र का वर्णन करते हैं कि लौकिक चंद्र अपने गण, नक्षत्रसहित भगवान् की क्रीड़ा का दर्शन करता है, इससे रस उद्दीपन होने पर भी अन्य स्त्रियों में चंद्र का चित्त नहीं लगता है।

अब पूर्व कहे समुचित अर्थ का वर्णन करते हैं कि मूल के चकार से इस प्रकार का सुचित होता है कि लौकिक चंद्र भी मोहित हो गया।

देवों की स्त्रियों में, और लौकिक चंद्र में काम से पीड़ा तुल्य है, इस बात को कहते हैं (यथा)।

जिस प्रकार देवस्त्रियों को मोह होने के अनन्तर लीला का बार बार दर्शन करने से काम जागृत हुआ, और इनकी इच्छा हुई की यहाँ से जा करके हमको भी कामरूपता से क्रीड़ा करनी चाहिये, इस प्रकार काम से देवस्त्रियां पीड़ित हो गईं, उसी प्रकार लौकिक चंद्र भी काम से पीड़ित हो गया।

लौकिक चंद्र स्वामिनियों के भावरूप है, इसलिये देवस्त्रियों की तरह इसको अभिलाष होना उचित ही है।

अलौकिक चंद्र में पीड़ा का भिन्न निरूपण करते हैं, 'भगवति' अलौकिक चंद्र ने भगवान् में प्रवेश करने के लिये यत्न किया इसलिये काम से पीड़ित हुआ।

देवस्त्रियां और लौकिक चंद्र इन दोनों को भगवद्विषयक काम से पीड़ा हुई, और अलौकिक चंद्र को कामिनीविषयक काम से पीड़ा हुई, इस प्रकार दोनों चंद्रों की पीड़ा में भेद है।

मूल में 'भगवति निवेशनार्थम्' यहाँ से लेकर 'जातः' यहाँ तक अलौकिक चंद्र का वर्णन है, फिर नहीं तो, यदि यह बात नहीं मानते तो यहाँ अतिदेश से ही कामपीड़ा प्राप्त हो जाती है, फिर 'तथाचन्द्रोपि' इस प्रकार फिर नहीं कहना चाहिये था, अतः जातः, तक अलौकिक चंद्र का वर्णन मानना चाहिये।

इस प्रकार यहाँ निरूपण करने में नियामक कहते हैं कि (अनेनाग्रे) इससे आगे, चंद्र को स्वभाव से सुख है, इस निसर्ग-स्वभाव से सुखपक्ष में चन्द्रांश निवर्तनरूप युक्ति कही है, अर्थात् 'सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः' इस छवीसवे श्लोक में कहे पक्ष में रमण की अलौकिक ही रीति है, लोकानुसारिणी नहीं है, 'निसर्गात् सुखम्' निसर्ग से सुख इस लोकानुसारी पक्ष में चंद्र भगवान् का रेत रूप है, इसलिये चंद्र भगवान् में प्रवेश करेगा, इस प्रकार निसर्ग पक्ष में युक्ति कही है, अर्थात्

इसी चंद्र की किरण, इसमें से पीछे चली जायंगी। अन्यथा निसर्ग के अभाव में 'सहस्र दर्शनान्मुक्तिः' सहस्र दर्शन से मुक्ति होती है, इस सूत्र से विरोध होता है। कारण कि एक साथ स्रवण का अभाव है।

अब निसर्ग से सुख का आशय श्रीविठ्ठलनाथ जी कहते हैं, 'एवं परिष्वङ्ग' प्रथम कहे १७वें श्लोक में रस शास्त्र की रीति से रमण कहा है, इस प्रकार रस शास्त्र रीति से रमण कथन से एक साथ स्रवण आदि भी प्राप्त होता ही है, कारण कि उस रमण का स्वरूप ही इस प्रकार का है, परन्तु अखण्डरूप भगवान् में एक साथ स्रवण की अपनी बुद्धि से कल्पना नहीं कर सकते हैं, और गुप्त होने से प्रकट भी नहीं कर सकते हैं, अतः 'अनेनाग्रे निसर्गात् सुखम्' इस प्रकार से शुकदेवजी ने ज्ञापन किया है, इसी से आचार्यों ने भी उसी प्रकार कहा है।

सोम की रेत रूप श्रुति सिद्ध है, इसलिये चंद्र के अंश निवर्तन में कोई आपत्ति नहीं है। यदि कहो कि भगवान् का स्वरूप रसात्मक होने से ही उक्त सर्व हो सकता है तो फिर भगवान् में चंद्र के प्रवेश की क्या आवश्यकता है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि, चंद्ररेत रूप है, इसलिये चंद्र आध्यात्मिक रूप से स्वरूप के भीतर स्थित है, अतः आध्यात्मिक रूप से चंद्र का प्रवेश भगवान् में आवश्यक है।

यदि कहो कि जब चंद्र भगवान् के स्वरूप में ही स्थित है, फिर चंद्र को प्रवेशरूप साधन नहीं करना चाहिये।

इसके उत्तर में कहते हैं कि चंद्र इस रमण लीला के प्रकार का प्रवेश बोध करता है, इसलिये चंद्र ने प्रवेश साधन किया है।

यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो यह लीला रात्रि में नहीं हो, और यह चंद्र (सगण-स्त्री सहित) भी स्मित हो गया, अर्थात् चंद्र को विस्मय रस ही उत्पन्न हुआ, अन्य रस उत्पन्न नहीं हुआ ॥ १९ ॥

(सुबो०) एवमाधिभौतिकानामाधिदैविकस्य च भगवदुत्पादितरसाभिनिवेशमुक्त्वा 'नन्दगोपसुतं देवि पति मे कुर्वि'ति प्रत्येकप्रार्थनया व्रतं कृतमिति प्रत्येकं रेम इत्याह—कृत्वेति।

इस प्रकार आधिभौतिक स्वामिनियों की देह में स्थित जो चन्द्रात्मक भाव है, उसका तथा आधिदैविक, भगवद्भाव रूप अलौकिक चंद्र का भगवान् द्वारा उत्पन्न किया काम रस में अभिनिवेश कहकर 'नन्दगोपसुतं देवि पति मे कुरु' हे देवि नन्द गोप का सुत मेरा पति करो, इस प्रकार भा. १०।१९।४ में प्रत्येक कुमारिका ने प्रार्थना करके व्रत किया था, इसलिये भगवान् ने प्रत्येक के साथ रमण किया, इसको आगे श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं।

स्त्रियों के पक्षिनी आदि सोलह भेद^१ कहे हैं, इससे एक के साथ भगवान् सहस्र प्रकार से भोग करते हैं, इसलिये सोलह हजार संख्या सर्वयूथों की है, कारण कि 'सहस्रभगदर्शनान्मुक्तिः' इस प्रकार सूत्र में कहा है

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीगोपयोषितः।

रेमे स भगवौस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥ २० ॥

१. स्त्रीणां पद्मिन्यादिषोडशभेदाः, तेनैकस्याः सहस्रप्रकारेण भगवान् भोगं करोति। तस्मात् षोडशसहस्रसंख्याकानि सर्वाणि यूथानि। सहस्रभगदर्शनान्मुक्तिरित्युक्तेः।

पदपदार्थ—(यावतीः) जितनी (गोपयोषितः) गोपजाति की स्त्रियां थीं, (तावन्तम्) उतने ही (आत्मानं) अपने स्वरूप को (कृत्वा) प्रकट करके (आत्मारामोऽपि) आत्माराम भी (सः) वह (भगवान्) श्रीकृष्ण (लीलया) लीला से (ताभिः) गोपजाति की स्त्रियों के साथ (रेमे) रमण करता हुआ ॥ २० ॥

भाषार्थ—जितनी गोप जाति की स्त्रियां थीं उतने ही अपने स्वरूप प्रकट करके आत्माराम भी वह भगवान् श्रीकृष्ण लीला से उन व्रजस्त्रियों के साथ रमण करता हुआ ॥ २० ॥

(सुबो०) गोपजातीया योषितो यावत्यस्तावन्तमात्मानं कृत्वा तत्र तत्र मायोद्धाटनेन तथा तथा प्रकटो भवति । एतन्महासौरतम् । एवं करणे सामर्थ्यम्, यतः स भगवानिति । स इति तदर्थमेवावतीर्णः । अत्र तासां व्रतार्थताभिः सहैव रेमे । न त्वात्मारामता पूर्ववत् । इममर्थमाह—आत्मारामोऽपीति । न त्वात्माराम एव चन्द्रप्रवेशाद् रमणं सम्भवति । अस्यामपि दशायामात्मारामत्वमेव । 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तद्धानि'रिति । तत्रापि आत्मारमण एव मुख्यतेत्याह—लीलयेति । यथा महानपि लीलया विसदृशं करोति । स्वयं पदातिरिव मृगयायां गच्छति । यथा अन्या अपि अवतारलीलाः, तथैतामपि कृतवानित्यर्थः ॥ २० ॥

कुमारिकाएँ गोप सम्बन्धिनी स्त्रियां नहीं हैं ।

इस प्रकार शंका करने पर मूल में कहते हैं (गोपयोषितः) गोप जाति की स्त्रियां हैं, जितनी गोप जाति की स्त्रियां थीं, उतने ही अपने स्वरूप प्रकट करके भगवान् ने रमण किया है, अर्थात् भगवान् वहां वहां माया प्रकट करके उस उस प्रकार से प्रकट होता है ।

यह महासौरत-महारमण है । इस प्रकार के रमण करने का भगवान् में सामर्थ्य है, कारण कि वह भगवान्-षडैश्वर्यवान् है ।

मूल श्लोक में जो 'सः' कहा है, वह यह सूचन करता है कि भगवान् ने गोप जाति की स्त्रियों के साथ इस प्रकार की लीला करने के लिये ही अवतार लिया है

यहां गोप जाति की स्त्रियों के व्रत के लिये ही भगवान् ने इनके साथ रमण किया है, प्रथम अध्याय में तो 'गोपीरेवारमयत्' भगवान् ने गोपियों को ही रमण कराया था, स्वयं तो आत्माराम ही रहे, इस प्रकार कहा है, किन्तु यहां तो गोपियों के साथ ही रमण है, गोपियों से भिन्न रहकर रमण नहीं किया है, इस बात को सुबोधिनी में 'एव' कार सूचन करता है प्रथम की तरह आत्मारामता नहीं है, इसी अर्थ को कहते हैं 'आत्मारामोऽपि' ।

अब इस समय भगवान् अपनी प्रधानता से, अपने इच्छानुसार रमण करते हैं, इसका कारण श्रीमहाप्रभुजी बतलाते हैं (चंद्रप्रवेशात्) भगवान् में चंद्र का प्रवेश होने से रमण संभव होता है । कारण कि रेत रूप चंद्र का पुष्ट करना आवषोषक होता है, इस प्रकार स्वतन्त्र लीला में भी भगवान् आत्माराम ही है, कारण कि प्रमाण सिद्ध होने के कारण रमण, और आत्मारामत्व दोनों में विरोध का अभाव है, विरोध नहीं है, दोनों ही प्रमाण सिद्ध हैं, इसको विशेष विस्तार से विद्वन्मण्डन में गो. श्री विट्ठलनाथ जी ने कहा है ।

वास्तव में तो भगवान् की लीला स्वरूपात्मक है, इसलिये भगवल्लीला मध्यपाति जितने पदार्थ हैं, वे सब स्वरूपात्मक ही हैं ।

गोपियां भी लीलामध्यपातिनी हैं, 'अतः स्वरूपात्मक हैं, इसलिये यहां भी आत्मरमण ही है । इसी को आगे 'गोपीनां तत्पतीनां च' १०।३०।२६ इस श्लोक में कहेंगे ।

इसी आशय से श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है कि 'तत्रापि आत्मरमण एव' 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिः' जहां पर अधिक प्रविष्ट हो जाता है, वहां उसकी हानि नहीं होती है, इस न्याय से आत्मरमण में ही मुख्यता है, इस बात को श्री शुकदेवजी कहते हैं (लीलया) भगवान् ने लीला से रमण किया ।

अब लीला पद से ध्वनित अर्थ कहते हैं कि जिस प्रकार महान पुरुष भी लीला से 'विसदृश, जो अपने करने योग्य कार्य नहीं हो उस को भी करता है, पैरों से चलने वाले सिपाहियों की तरह स्वयं शिकार खेलने में जाता है ।

और जिस प्रकार अन्य भी अवतार लीला भगवान् करते हैं, उसी प्रकार यह लीला भी भगवान् ने की है, यह अर्थ है ।

भवान् स्वयं ईश्वर भी है, तो भी नायिका की प्रधानता से और आप स्वयं गोप भाव से रमण करते हुए, कारण कि यह रस इस प्रकार का ही है ॥ २० ॥

ततस्तासां सुरनान्तो जात इत्याह—तासामिति ।

इसके अनन्तर गोपियों के रमण का अन्त हुआ, इसका वर्णन आगे के श्लोक में श्रीशुकदेव जी करते हैं ।

तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः ।

प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग ! पाणिना ॥ २१ ॥

पदपदार्थ—(हे अङ्ग) यह सम्बोधन यथार्थ कहने में है (अतिविहारेण) अत्यन्त विहार से (श्रान्तानां) थक गईं (तासां) गोप जाति की स्त्रियों के (वदनानि) मुखों को (करुणः) दयालु (सः) वह भगवान् (शन्तमेन) सुखरूप (पाणिना) अपने हस्त द्वारा (प्रेम्णा) प्रेम से (प्रामृजन्) मार्जन करता हुआ ॥ २१ ॥

भाषार्थ—हे अङ्ग अत्यन्त विहार से थकी हुई गोप जाति की स्त्रियों के मुख दयालु भगवान् सुखरूप अपने श्री हस्त द्वारा प्रेम से मार्जन करता हुआ ॥ २१ ॥

(सुबो०) अतिविहारेणानेकबन्धैः सम्यक् श्रान्ता जाताः । ततोऽग्रिम-लीलार्थं तासां वदनानि स्वहस्तेन प्रामृजत् । यतः स कृष्णः । तदर्थमेवावतीर्णः । सर्वत्रैव तथाविधं जातमिति ज्ञापयितुं बहुवचनम् । तथा करणे हेतुः करुण इति । करुणायुक्तः । सा करुणा उदासीना न भवतीत्याह—प्रेम्णेति । मार्जने क्लेश एव निवर्तत इति ज्ञापयितुं शन्तमेनेत्युक्तम् । अङ्गेतिसंबोधनमप्रतारणाय । एवं तासां दुःखनिवारणपूर्वकं परमानन्दं स्थापितवान् ॥ २१ ॥

अति विहार से—अनेक प्रकार के बन्धों से गोपियां अत्यन्त थक गईं, फिर आगे लीला करने के लिए गोपियों के मुख का भगवान् ने अपने श्रीहस्त से मार्जन किया, कारण कि यह कृष्ण सदानन्द है, और इसने गोपियों के लिये ही अवतार लिया है । सर्वत्र इस प्रकार हुआ है, अर्थात् सभी गोपियों के मुख का मार्जन किया है ।

सभी गोपियां अति विहार से थक गई थीं, इस बात को सूचन करने के लिये मूल में 'श्रान्तानां तासाम्' इस प्रकार बहुवचन कहा है।

गोपियों के मुख मार्जन में हेतु कहते हैं कि (कृष्णः) भगवान् कृष्ण युक्त हैं, यह कृष्ण उदासीन-भाव रहित नहीं है, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं (प्रेम्णा) भगवान् ने गोपियों के मुख का प्रेम से मार्जन किया है।

मुखमार्जन में क्लेश ही दूर होता है, इसको जापन करने के लिये कहते हैं कि (शान्तमेन) लोक में मार्जन करने से क्लेश दूर ही होता है, किन्तु अधिक सुख प्राप्त नहीं होता है, इस कारण से यहाँ क्लेश दूर, तथा अधिक सुख दोनों ही 'शतम' पद से सूचन किये हैं।

श्लोक में 'अङ्ग' यह सम्बोधन सूचन करता है कि श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित से वृत्तन करने के लिये नहीं कहते हैं किन्तु यथार्थ कह रहे हैं, इस प्रकार गोपियों का दुःख दूर करके भगवान् ने गोपियों में परमानन्द स्थापन किया है ॥ २१ ॥

(सुवो०) ततोऽतिमुदितानां कृत्यमाह—गोप्य इति ।

अब इसके अनन्तर आगे के श्लोक में अत्यन्त आनन्दित गोपियों का कार्य कहते हैं।

गोप्यः स्फुरत् पुरटकुण्डलकुन्तलत्विङ्-
गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन ।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि
पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥ २२ ॥

पदपदार्थ—(स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विङ्गण्डश्रिया) उज्ज्वल सुवर्ण के कुण्डल तथा केशों की कान्ति युक्त कपोलों की शोभा से (सुधितहासनिरीक्षणेन) सुधा की तरह प्राप्त हास पूर्वक निरीक्षण से (मानं) मान को (दधत्यः) धारण करतीं (गोप्यः) गोपियां (तत्कररुह-स्पर्शप्रमोदाः) भगवान् के नखस्पर्श से आनन्द को प्राप्त हुईं (ऋषभस्य) श्रेष्ठ भगवान् के (पुण्यानि) पुण्यजनक, और पाप दूर करने वाले (कृतानि) किये कर्मों का (जगुः) गान करती हुईं ॥ २२ ॥

भाषार्थ—उज्ज्वल सुवर्ण के कुण्डल तथा केशों की कान्तियुक्त कपोलों की शोभा से, और सुधा की तरह प्राप्त हासपूर्वक निरीक्षण से मानधारण करती गोपियां भगवान् के नखस्पर्श से आनन्दित हुईं भगवान् के पुण्य कर्मों का गान करने लगीं ॥ २२ ॥

(सुवो०) गोप्यो मानं दधत्यः तत्कृतानि जगुः । गाने हि रजोगुणाभिनि-
वेशो हेतुः । तदर्थं सहजमेकं भगवत्कृतं च हेतुद्वयमाह । तत्र प्रथमं सहजं
निरूपयति । स्फुरद्यत् पुरटं सुवर्णं दाहोत्तीर्णमुज्ज्वलीकृतं च, तस्य ये कुण्डले
कुन्तलाश्च, तेषां त्विषा सहिता या गण्डश्रीः । उज्ज्वला गण्डश्रीः पीता वा ।
उज्ज्वला नीला चेतरे । एवं कान्तित्रयं मूलभूतगुणकार्यरूपम् । तेनासां सर्वो-
त्कर्षयोग्यता । सुधितं सुधामिव प्राप्तं यद्धासपूर्वकं निरीक्षणम् । अत्राप्यन्तः-
स्थितो रागः निरीक्षणं हासश्चेति त्रितयमुक्तम् । भगवदीयमेतत् । अतः उभाभ्यां

सन्माननमभिमानं वा दधत्यः स्वहृदयकृतविपरीतबुद्ध्या जानदोषनिरा-
करणार्थं तत्कृतानि जगुः । तेषां न केवलं पापनिवर्तकत्वम्, किन्तु पुण्यरूपत्व-
मपीत्याह पुण्यानीति । भगवता कृतानि पापनिवर्तकानि पुण्यजनकानि
च । अतस्तासां दोषाभावः । अग्रिमलीलायां पुण्योपचयश्रोक्तः । पूर्वक्लेश-
विस्मरणार्थमानन्दाविर्भावमाह । तस्य भगवतः कररुहा नखाः, तेषां स्पर्शेन
जातपीडया स्मृतसम्भोगाः प्रमुदिताः जाताः । अन्तःपूर्णानन्दा गानेनापि
जाता इति अन्ते विशेषणम् ॥ २२ ॥

भाषा—गोपियां मान धारण करती भगवान् के किये कर्मों का गान करती हुईं, गान करने में कारण यह है कि गोपियों में रजोगुण प्रविष्ट हो गया है। इस श्लोक से पहिले श्लोक में कहा है कि भगवान् स्वाधीन भर्ता हैं, अर्थात् गोपियों के अधीन हैं।

इस श्लोक में भी गोपियों के कुण्डल, केश, और कपोलों की शोभा, प्रिय भगवान् ने अपने श्रीहस्त कमल से संपादन की है, इसलिये इन गोपियों को जो मान हुआ, उसमें कुण्डल आदि की शोभा संपादन करना हेतु है, इस प्रकार यह शोभा गोपियों में स्थित है, इससे मान स्वाभाविक है।

इस प्रकार उत्साह विशेष जो गान का उत्पन्न करने वाला मान है, वह रजोगुण शब्द से कहा जाता है।

पहिले मान से गोपियों को दुःख हुआ था, किन्तु इस समय उस प्रकार का पहिले का-सा मान नहीं हुआ है, इसलिये गोपियों ने गुणगान किया है।

मान उत्पन्न होने में श्री शुकदेव जी मूल श्लोक में दो कारण बतलाते हैं, एक सहज है, दूसरा कारण भगवान् ने किया है, इस प्रकार दोनों हेतु कहते हैं, उसमें प्रथम शुकदेव जी सहज कारण का निरूपण करते हैं, (स्फुरत्) इत्यादि से, स्फुरन्-प्रकाश करता जो 'पुरट' सुवर्ण अग्नि में तपाकर निकाला तथा उज्ज्वल किया, उस सुवर्ण के कुण्डल, और केशों की त्विषा कान्ति से, अथवा कुण्डल तथा केशों की कान्ति सहित, जो गण्ड-कपोलों की शोभा है।

गोपियों के कपोलों की शोभा उज्ज्वल रंग की, अथवा कोई कहते हैं पीले रंग की है।

गोपियों के कुण्डलों की शोभा हीरा आदि की कान्ति से उज्ज्वल थी, और केशों की शोभा नीले रंग की थी। इस प्रकार उज्ज्वल, पीली, और नील तीन प्रकार की शोभा में कारणभूत भगवान् के गुण का कार्य रूप है, तीन प्रकार की कान्ति भगवान् की चतुराई का कार्य है, अन्य का नहीं है, इसको श्री महाप्रभु जी कहते हैं (तेनासां सर्वोत्कर्षयोग्यता) ।

इससे गोपियों की तीन प्रकार की शोभा वर्णन करने से सब से उत्कर्ष-श्रेष्ठ मान संपादन में योग्यता है, अर्थात् मान धारण करने में हेतु है।

'सुधितहासनिरीक्षणेन' 'सुधितं' अमृत की तरह प्राप्त जो हासपूर्वक भगवान् का निरीक्षण, यहाँ भी भीतर स्थित राग, निरीक्षण और हास तीन कहे हैं, ए तीनों भगवदीय हैं, भगवान् ने किये हैं, इस प्रकार यह दूसरा हेतु गोपियों के मान धारण में कहा है। उक्त हेतु भगवत्कृत है, गोपियां कुण्डल आदि की शोभा तथा निरीक्षण, इन दोनों कारणों से सम्मान अथवा अभिमान को धारण करती, अपने हृदय में की हुई विपरीत बुद्धि से उत्पन्न जो दोष, उस दोष को निवारण करने के लिये भगवान् के किये कर्मों का गान करती हुईं।

गोपियों की विपरीत बुद्धि इस प्रकार की हुई कि हम सबसे अधिक हैं, इस प्रकार के ज्ञान से उत्पन्न मान हुआ, उस मान की निवृत्ति के लिये भगवत्कर्मों का गान करने लग गईं ।

भगवान् के कर्मों का गान केवल अभिमान रूप आदि पाप निवृत्त करने वाला नहीं है, किन्तु पुण्य भी—पुण्य उत्पन्न करने वाला भी है, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं कि 'पुण्यानि' ।

भगवान् के किये कर्म पाप निवर्तक और पुण्य उत्पन्न करने वाले हैं, यहां गान से उत्पन्न हुआ पुष्ट भाव विशेष को अलौकिक दृष्ट साधन करने वाला पुण्य पद से कहा है । इसलिये गोपियों में दोष का अभाव है, दोष नहीं है, और आगे की लीला में पुण्य का संग्रह भी कह दिया है ।

अब पूर्व क्लेश भुलाने के लिये आनन्द का आविर्भाव कहते हैं । इस श्लोक से पहिले श्लोक में जो 'शान्तम्' पद कहा है, उससे सूचित गोपियों को सुख उत्पन्न होने पर क्लेश की निवृत्ति वर्णन की है, किन्तु क्लेश का विस्मरण नहीं कहा है, इस श्लोक में तो आनन्द से गोपियां क्लेश दुःख भूल गईं इस बात को कहते हैं कि 'तत्कररुह स्पर्श प्रमोदाः' ।

भगवान् के जो कर रुह नख हैं, उन नखों के स्पर्श से जो गोपियों को पीडा हुई, उससे गोपियों को संयोग सुख का स्मरण हो गया, इसलिये गोपियां प्रमुदित-अत्यन्त आनन्दित हुई हैं ।

गोपियों ने भगवान् के किये कर्मों का गान किया, इससे भीतर पूर्ण आनन्द का प्रादुर्भाव हो गया । इस बात को कहने के लिये शुकदेव जी ने अन्त में 'तत्कररुह' यह गोपियों को विशेषण दिया है ॥ २२ ॥

(सुबो०) नमस्तामिस्तुल्याभिभंगवान् जलक्रीडां कृतवानित्याह—ताभिर्युत इति ।

इसके अनन्तर अपने तुल्य गोपियों के साथ भगवान् जलक्रीडा करते हुए, इसको आगे श्लोक में श्री शुकदेव जी कहते हैं ।

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग-

घृष्टस्रजः स्वकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः ।

गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः

श्रान्तो गजीभिरभराडिव भिन्नसेतुः ॥ २३ ॥

पदपदार्थ—(श्रान्तः) थका (भिन्नसेतुः) पानी की मर्यादा (मेंड) जिसने तोड़ दी (श्रमम्) थकावट को (अपोहितुम्) दूर करने के लिये (गजीभिः) हथिनियों के साथ जल में (इभराड् इव) गजराज की तरह, (श्रान्तः) थका, (भिन्नसेतुः) मर्यादा जिसने भङ्ग की अर्थात् अपनी ब्रह्ममर्यादा आत्माराम रूप, तथा जीवमर्यादा भंग करने वाले (स्वकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः) गोपियों के स्तनों में लगी हुई कुङ्कुम से रंगी हुई (अङ्गसङ्गघृष्टस्रजः) परस्पर अङ्गसङ्ग से संघषित मिड़ गई माला के (गन्धर्वपालिभिः) गंधर्वों में उत्तमरूप भ्रमरों से अनुद्रुत—अर्थात् माला के पीछे गंधर्वोत्तम-भ्रमर जा रहे हैं । अतः शीघ्र गमन कर रहे हैं इस प्रकार के भगवान् (श्रमम्) थकावट को (अपोहितुम्) दूर करने के लिये (ताभिर्युतः) गोपियों के सहित (वाः) श्री यमुनाजल में (आविशत्) प्रविष्ट हुए ॥ २३ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार थका हुआ पानी की मेंड तोड़ने वाला गजराज श्रम दूर अपना आ करने के लिये हथिनियों के साथ जल में प्रवेश करता है, उसी प्रकार सब गोपियों के साथ अपनी ब्रह्ममर्यादा आत्मारामरूप तथा जीवमर्यादा तोड़कर श्रान्त भगवान् थकावट दूर करने के लिये गोपियों के स्तनों में लगी कुङ्कुम से रंगी और परस्पर अङ्गसङ्ग से संघषित मिड़ी हुई माला के पीछे गंधर्वोत्तम रूप भ्रमर जा रहे हैं अतः त्वरा से गमन कर रहे हैं इस प्रकार के भगवान् भी यमुनाजल में क्रीडा करने के लिये प्रविष्ट हुए ॥ २३ ॥

(सुबो०) ताभिः सर्वाभिरेव । महारात्रसमये यमुनायां जलक्रीडार्थं प्रविष्टः । तत्र प्रयोजनं श्रममपोहितुमिति । तासां सर्वाङ्गश्रमं जलक्रीडयैव दूरी-कुर्वन् । भगवतस्ताभिः सह गमने जायमानां शोभां वर्णयति—स्रजः गन्धर्वपालि-भिरनुद्रुत इति । यमुनाया वा विशेषणानि । गंधर्वाणां रक्षकाः गन्धर्वपाः गंधर्वो-त्तमाः । तेच ते अलयश्च तैरनुद्रुतः । सङ्गे शीघ्रं गतः वाः आविशत् । आमोदस्य निवारणार्थं च तथाकरणम् । सम्भोगेन श्रमोदके पद्मिनीनां कमलरूपो गन्धो भवति । यदुपरोधेन च द्रुतपदविन्यास इत्यनुद्रवणम् । ते च भ्रमरा भग-वदीया एवेत्याह । अङ्गयोः सङ्गेन घृष्टा या स्रक् तस्यास्ते । यस्यां वा स्रक् तादृशी । स्वा चासौ कुचकुङ्कुमरञ्जिता च । भगवत एव माला । कालिन्दी च कुचकुङ्कुमै रञ्जिता । तत्र देहामोदः पुष्पामोदः कुङ्कुमामोदश्चेति । स्वकीय-त्वेनासाधारण्यं च । आधिदैविकास्ते भ्रमरास्तद्गन्धभोक्तार इति विशेषणं गंधर्व-पेति । श्रान्त इति विशेषणः लीलया गमनार्थम् । प्रत्येकसम्भोगावधि भगवतोऽ-न्यो भावो निरूपित इति तदपगमात् श्रमलीलाप्याविष्कृता । गजीभिरित्यन्यश्रमो निवारितः । सेतवो बध्यन्ते जलरक्षार्थम् । ते सर्वे भिन्नाः तादृशगजेन भवन्ति । भगवतापि ब्रह्ममर्यादा आत्मारामत्वरूपा जीवानां च मर्यादा तथा सति निवृत्ता । कामरूपस्पर्शात् परदारानामभिर्मर्षणाच्च । पूर्वं तासां भगवत्-स्पर्श-निवृत्ता । कामाभावात् । देशकालमर्यादा च एव स्थितः, नतु भगवता ताः स्पृष्टा इति । कामाभावात् । देशकालमर्यादा च भगना । अतो हस्तिश्रेष्ठ इव जलक्रीडार्थं जलदेवतां दूरीकृत्य स्वयं तत्र प्रविष्ट इत्यर्थः ॥ २३ ॥

भगवान् सब गोपियों के साथ ही अर्धरात्र समय श्री यमुनाजी में जलक्रीडा करने के लिये पधारे, इसमें कारण कहते हैं कि—

“श्रममपोहितुम्” श्रम दूर करने के लिये, पधारे ।

भगवान् ने गोपियों के सर्व अङ्ग का श्रम, जलक्रीडा से ही दूर करने के लिये श्री यमुना जी में प्रवेश किया, यद्यपि गोपियों का क्लेश भगवान् ने मुखमार्जन करके निवृत्त कर दिया था, यह बात पहिले २१ वे श्लोक में कह चुके हैं, तथापि कहीं कहीं स्थित श्रमजल—पसीना था, उस-की निवृत्ति जलक्रीडा से की है ।

अब श्रीशुकदेव जी गोपियों के साथ भगवान् की यमुना जी में गमनसमय की शोभा-वर्णन करते हैं। "स्त्रजः गन्धर्वपालिभिरनुद्रुतः"

गंधर्वों में उत्तम रूप भ्रमर भगवान् की माला के पीछे जा रहे हैं, इस प्रकार भगवान् की शोभा हो रही है।

अथवा श्री यमुना जी के विशेषण जानने चाहिये।

गंधर्वों के रक्षा करने वाले गंधर्वप, गन्धर्वोत्तम होते हैं, गन्धर्वोत्तम रूप भ्रमर हैं, भ्रमरों से भगवान् अनुद्रुत हैं, अर्थात् भगवान् भ्रमरों के संग में सीधे जाते श्री यमुनाजी के जल में प्रविष्ट हो गये, सम्भोग सूचक आमोद-गन्ध प्रातःकाल तक राखना ठीक नहीं है, इस कारण से तथा श्रम निवृत्त करने के लिये भगवान् ने श्री यमुनाजल में क्रीड़ा की है, पद्मिनी स्त्रियों के साथ संभोग करने से श्रमोदक में कमल रूप गन्ध होता है। इसलिये यदि गन्ध शेष रह जाता है तो सम्भोगसूचन कर सकता है, अतः गन्ध निवारण आवश्यक है।

भगवान् के गमन में भ्रमरगण और गोपियां प्रतिबन्ध करती हैं, इसलिये भगवान् जल्दी-जल्दी चरण धरते हैं, और भ्रमर भी पीछे दौड़ते हैं।

भ्रमर भगवदीय हैं, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं "अङ्गसङ्गधृष्टस्त्रजः" परस्पर अङ्ग-सङ्ग से सघर्षित-मिठी जो माला, उस माला के सम्बन्ध वाले भ्रमर हैं।

अथवा श्री यमुनाजी का विशेषण मानने में, श्री यमुना जी में परस्पर अङ्ग-सङ्ग से माला मिड़ गयी है, इस प्रकार का श्री यमुनाजल "स्वकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः" अपने देह को सर्व गोपियों के कुचों में लगी हुई कुङ्कुम से रंगी हुई, इस प्रकार की भगवान् की माला है।

"स्वकुच" इत्यादि विशेषण श्री यमुना जी का मानने में श्री महाप्रभु जी आज्ञा करते हैं कि कालिन्दी गोपियों के स्तनों में लगी हुई कुङ्कुम से—केशर से रंगी हुई है।

भगवान् की माला में देह की गंध, पुष्पों की गंध, और कुङ्कुम-केशर की गन्ध इस प्रकार तीन गन्ध हैं, माला भगवान् की है, इसलिये असाधारण है।

"अङ्गसङ्गधृष्टस्त्रजः" इस विशेषण को श्री यमुना जी का मानने में भ्रमर माला सम्बन्धी हैं, इस बात को ज्ञापन करने के लिये "गन्धर्वप" यह विशेषण भ्रमरों का कहते हैं कि 'आधिदैविका' भ्रमर आधिदैविक हैं, अर्थात् भगवान् की अन्तरङ्गलीला में रहने वाले हैं, और सम्भोग से उत्पन्न वनमाला की दिव्य गन्ध का भोग करने वाले हैं, 'गन्धर्वप' गान करने वालों में श्रेष्ठ होते हैं, इसलिये अन्तरङ्गलीला करने के समय में भी भगवान् के पास स्थित होकर गान करने के लिये योग्य हैं।

इस समय भगवान् को किसी प्रकार का विचार नहीं रहा, इसका हेतु शुकदेव जी कहते हैं कि 'श्रान्तः इभराडिव' यके गजराज की तरह, भगवान् ने जल में प्रवेश किया।

'श्रान्त' विशेषण लीला से गमन करने के अर्थ में है।

जहां तक प्रत्येक गोपी के साथ भगवान् ने सम्भोग लीला की, वहां तक भगवान् का अन्य भाव निरूपण किया, अर्थात् पहिले कहा चन्द्र स्थापन रूप भाव निरूपण किया, उसके जाने से अर्थात् चन्द्रांश का निवर्तन होने से श्रमलीला भी प्रकट हुई। सम्भोग से श्रम हुआ अन्य प्रकार से श्रम नहीं हुआ, इस बात को 'गजीभिः' हथिनियों के साथ प्रविष्ट हुए, यह पद सूचन कर रहा है।

जल की रक्षा करने के लिये सेतु बांध बनाये जाते हैं, मेंड़ बनाई जाती हैं, वे सब इस प्रकार के गजराज द्वारा भिन्न—तोड़े जाते हैं, भगवान् ने भी अपनी ब्रह्ममर्यादा-आत्मारामत्वरूप,

और जीवों की मर्यादा, इस प्रकार रमण करसे से निवृत्त कर दी, कारण कि कामरूप-स्पर्श से—भोग से तथा परस्त्रियों के साथ संग करके, मर्यादा भंग कर दी है।

इस अध्याय के प्रथम में 'अत्रैव लोके प्रकटम्' इत्यादि कारिकाएँ कही हैं, इन कारिकाओं में कहा है कि आधिदैविक उत्तम 'काम' सुख का भगवान् कृष्ण ही भोग भोगता है, अन्य कोई नहीं भोग करता है। भगवान् पुरुषोत्तम का स्वरूप कामात्मक है, इस कामरूप से गोपियों का भोग किया है, इससे भगवान् का आत्मारामत्व निवृत्त हो गया, और पर स्त्रियों के साथ संग करने से नम्र भाव से जो भगवान् का हास्य करने की जीवमर्यादा थी, उसकी निवृत्ति हो गई। इस प्रकार ब्रह्म और जीवमर्यादा दोनों ही भगवान् ने तोड़ दीं।

भगवान् ने अपने निज जनों को तो अपने साथ संग करने का अधिकार दिया ही है, इसलिये श्री महाप्रभु जी ने यहां सुबोधिनी में 'परदारानामभिमर्षणाच्च' इसमें 'पर' शब्द का प्रयोग किया है। वास्तव में तो परत्व दूषित है, तो भी रस के लिये परकीयात्व स्थापन करके ही भगवान् ने लीला की है।

विकाररहित होना ब्रह्ममर्यादा है, भगवान् में शृंगार रसात्मक अनेक विकार प्रकट हुए, अतः ब्रह्म-मर्यादा तिरोहित हो गई।

जबतक रस में अत्यन्त पुष्टता थी, तबतक भगवान् ने गोपियां अपने से अभिन्न ही जानी थीं, अर्थात् अपने से पृथक् नहीं जानी थीं, और इनके साथ क्रीड़ा की, उस समय तक भगवान् में आत्मारामत्व ही रहा, किन्तु जिस समय शृंगार रस अत्यन्त पुष्ट हुआ, उस समय भगवान् में जो गोपियां मुझसे भिन्न नहीं हैं, इस प्रकार का ज्ञानांश था, उसका तिरोभाव हो गया, और केवल आनन्दांश का आविर्भाव रह गया।

इसलिये गोपियों में भगवान् की आत्मत्व स्फूर्ति भी नहीं रही, भिन्न स्फूर्ति हुई, अर्थात् नायिका भाव की स्फूर्ति ही हुई, अतः भगवान् की आत्मारामत्वमर्यादा भी तिरोहित हो गई।

यदि कहो कि रमण तो प्रथम २६ वीं अध्याय में भी कहा है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि प्रथम अध्याय के रमण में और इस अध्याय के रमण में अन्तर है, अर्थात् पूर्व अध्याय के रमण से इस अध्याय का रमण विशेष है, इसी बात को स्पष्ट कहते हैं कि प्रथम गोपियों ने भगवान् का स्पर्श ही किया था, किन्तु भगवान् ने गोपियों का स्पर्श नहीं किया था, कारण कि भगवान् में उस समय काम का भाव नहीं था।

'क्रिया सर्वापि सेवात्र परं कामो न विद्यते' अ० २६।४२ कारिका ? इसमें भगवान् को काम का अभाव निरूपण किया है, इसलिये यहां भगवान् का यथेच्छ भोग करना विशेष है।

भगवान् ने देश और काल मर्यादा भी तोड़ दी, इसलिये श्रेष्ठ हाथी की तरह जलक्रीड़ा करने के लिये जल देवता को दूर करके स्वयं जल में प्रवेश किया, यह अर्थ है। देश शब्द से गोपियों के अवयव—अर्थात् शरीर के पृथक्-पृथक् अवयवों में चुम्बन, दंश आदि से स्पर्श भोग करने का वर्णन रसशास्त्र में किया है।

इस प्रकार के भोग-रसानुभव को देशमर्यादा कहते हैं। भगवान् ने गोपियों के अवयवों का स्पर्श यथेच्छ—अपने इच्छानुसार किया है, रसशास्त्र की रीति अनुसार नहीं किया है, इसलिये भगवान् ने देशमर्यादा भंग की है, अर्थात् देशमर्यादा दूर कर दी।

रसशास्त्र में कहा है कि प्रतिपदा आदि तिथियों में पृथक्-पृथक् वन्ध आदि करने चाहिये, इत्यादि रूप मर्यादा, तथा 'पद्मिनी तुयंयामे' पद्मिनी स्त्री के साथ चतुर्थ प्रहर में रमण करना चाहिये, इत्यादि वाक्य से अमुक प्रहर में अमुकप्रकार की नायिका प्रसन्न करनी चाहिये, इस प्रकार की रसशास्त्रोक्त कालमर्यादा भी यथेच्छ क्रीडा करने से भंग कर दी, इसीसे श्री महाप्रभु जी ने सुबोधिनी में कहा है 'देशकालमर्यादा च भग्ना' इसमें चकार से ब्रह्ममर्यादा सूचन की है अर्थात् भगवान् ने ब्रह्ममर्यादा भी दूर कर दी है।

मूल में 'आविशत्' इस क्रिया में 'आङ्' उपसर्ग कहा है, उसका अर्थ श्री महाप्रभुजी सुबोधिनी में कहते हैं 'जलदेवतां दूरीकृत्य' जल देवता को दूर करके स्वयं भगवान् जल में प्रविष्ट हुए।

श्री पुरुषोत्तम जी प्रकाशकार कहते हैं कि इस विषय में श्री हरिरायजी आज्ञा करते हैं कि २६।२७।२८।२९ इन चार अध्यायों की लीला में यद्यपि भगवान् ने गोपियों का स्पर्श किया है, तथापि 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' १०।२६।४२ 'रेमे तथा आत्मारमत् आत्मारामोऽपि' भा० १०।२७।३४ 'तासामाविरभूत्' भा० १०।२९।२ 'काचित्कराम्बुजं' भा० १०।२९।४ इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि गोपियों की इच्छा से ही भगवान् ने रमण किया है, अपना सामर्थ्य प्रकट करके स्वार्थ के लिये नहीं किया है, इसलिये वहाँ की लीला में 'त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदम्' इस प्रकार नहीं कहा है, किन्तु इस लीला के प्रारम्भ में ही कहा है, इसीसे श्री मदाचार्यों ने इस ३० वें अध्याय के प्रारम्भ में 'स्वानन्दार्थमितीर्यते' इस प्रकार आज्ञा की है।

प्रथम कहे चार अध्यायों में रमण का सत्त्व होने पर भी भ्रमलीला प्रकट नहीं हुई, इस तीसवें अध्याय में तो भगवान् ने अपनी इच्छा से सब किया है, इसलिये भगवान् में लौकिक सजातीय—लौकिक का-सा कामभाव तथा सुरत का अन्त हुआ।

लौकिक का-सा भाव होने पर जिस प्रकार आत्मारामात्त्व आदि मर्यादा भंग हुई, उसी प्रकार देशकालमर्यादा भी भंग हो गई, देश—अर्थात् रस के अनुभव करने का स्थान, काल—अर्थात् रस अवष्टम्भ-धारण करने का समय, इसी से भगवान् मर्यादा भंग करते जल क्रीडा करने के लिये श्री यमुना जल में प्रविष्ट हुए। इस प्रकार पुरुषोत्तम जी ने हरिराय जी का मत प्रदर्शन किया, अब श्री पुरुषोत्तम जी तो इस विषय में स्वयं इस प्रकार कहते हैं कि मुझको तो यह प्रतिभास होता है कि पहली लीला में 'आत्मारामत्व' तथा भक्तों का विक्लव-विकल। ध्यान में रखकर ही भगवान् ने लीला की है, और तीसवें अध्याय में वर्णन की हुई लीला में तो हाथी का दृष्टान्त, तथा सेतुभंग आदि विशेषण से आत्मारामत्व और भक्तों के क्लेश का अभाव बोधन किया है, इसी से इस अध्याय की लीला लोक तुल्य जानकर राजा परीक्षित ने भी धर्मसेतु-भङ्ग करने के सन्देह से इस लीला में प्रश्न किया है।

वास्तविकता से तो इस लीला में गज, दृष्टान्त देने से और पहले बीसवें श्लोक में 'आत्मारामोऽपि लीलया' इसमें 'लीलया' लीला से रमण किया, इस पद का प्रयोग किया है, इसलिये ब्रह्मधर्म आदि का भंग करने पर भी इसमें भगवान् को श्रम नहीं कहा है।

भगवान् अविलम्बकर्म है, इस बात का बोध करने के लिये 'लीलया' इस प्रकार कहा है, इसलिये मर्यादा भंग होने पर भी भङ्ग नहीं हुई, इससे तो भगवान् के निरंकुश-आत्मतन्त्रत्व का समर्थन होता है।

यदि इस प्रकार भगवान् निरंकुश-आत्मतन्त्र स्वाधीन हैं, इस बात को नहीं मानते तो स्वधर्म-देश्यादि के अधीन होने से स्वतन्त्रता भंग होती है, और देशकाल के द्वारा रस का अनु-

भव करने में तथा अवष्टम्भ-रस धारण करने में यदि भगवान् देशकाल की मर्यादा पालन करें तो देश काल के अधीन होने से ब्रह्मरूपत्व भंग हो जाता है, इसलिये स्वतन्त्रता और ब्रह्मरूपत्व, इन दोनों के रक्षार्थ देश-काल की निवृत्ति के लिये भगवान् ने देशकाल की मर्यादा भंग की है, इसी से अन्तरङ्गमर्यादा श्री महाप्रभु जी कहते हैं कि 'अतो हस्तिश्रेष्ठ इव जलक्रीडार्थं जलदेवतां दूरी-कृत्य स्वयं तत्र प्रविष्टः' इसका अर्थ पूर्व में कहा है ॥ २३ ॥

(सुबो०) तत्र जलक्रीडां च कृतवानित्याह—स इति ।

भगवान् गोपियों के साथ श्री यमुनाजल में प्रवेश करके वहाँ क्रीडा करते हुए, इस बात का आगे श्लोक में श्री शुकदेव जी वर्णन करते हैं।

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः

प्रेम्णेश्वितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग !

वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो,

रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥ २४ ॥

पदपदार्थ—(हे अङ्ग) इस संबोधन का आशय यह है कि अङ्ग होने से तुझसे इस लीला को कहता हूँ (सः) वह प्रथम स्त्रियोंसहित कहा भगवान् (अम्भसि) श्री यमुनाजल में (युवतिभिः) गोपियोंद्वारा (परिषिच्यमानः) चारो ओर से खूब अभिषिक्त किया-सिञ्चन किया, (प्रहसतीभिः) फिर हँसती हुई गोपियों द्वारा (इतस्ततः) चारो तरफ सिञ्चित किया, (प्रहसतीभिः) प्रेम से (ईक्षितः) देखा गया (कुसुमवर्षिभिः) पुष्पों की वर्षा करने भगवान् को (प्रेम्णा) प्रेम से (ईड्यमानः) अभिनन्दित (स्वयं) आप (स्वरतिः) वाले (वैमानिकैः) विमान में बैठे देवताओं से (ईड्यमानः) अभिनन्दित (स्वयं) आप (स्वरतिः) अपनी आत्मा में रमण करने वाले भगवान् (आत्तगजेन्द्रलीलः) गजेन्द्रलीला स्वीकार करने वाले (रेमे) रमण करते हुए ॥ २४ ॥

भाषार्थ—हे अङ्ग उस भगवान् को जल में युवतियों ने चारो तरफ से खूब अभिषिक्त किया, सींचा, और फिर हँसती हुई गोपियों ने जहाँ-तहाँ अभिषिक्त भगवान् का श्री अङ्ग प्रेम से देखा, पुष्पों की वर्षा करने वाले विमानों में बैठे देवताओं से अभिनन्दित भगवान् स्वयं आत्माराम गजेन्द्र-लीला स्वीकार करके रमण करते हुए ॥ २४ ॥

(सुबो०) स पूर्वोक्तः स्त्रीसहितः । अम्भसि अलं युवतिभिः परिषिच्यमानो जातः । ततः प्रेम्णा ईक्षितश्च । प्रहसतीभिः कौतुकाभिनविष्टाभिः इतस्ततः सिच्यमानः, यदभिमुखमेव व्रजति, तथैव सह रेमे इति । एवं सर्वाभिः । यथा स्वयं माहात्म्यज्ञानपूर्वकं निर्भरस्नेहेन निर्दोषभावेन वदति शुकः, तथैव राजापि शृणोतीति ज्ञात्वा स्नेहेन स्वमध्यपातित्वं सूचयन् सम्बोधयति—अङ्गेति । अतएव तुभ्यमिमां लीलां वदामीति भावः । ननु देवैः कथं न निषिध्यते, तत्राह-कुसुमवर्षि-भिर्वैमानिकैरीड्यमान इति । सर्वे देवा अभिनन्दनमेव कुर्वन्ति, न तु निरणमित । अन्यथा लोके कामरसो न व्यक्तो भवेदेति युवत्य इत्यविचारे । परिषेके वीर-रसो मा भवत्विति प्रेम्णैव ईक्षितः । स्वयमितिपदेन बलात्कारेणापि तथेति

सूच्यते । तदापि स्वस्मिन्ने वरतिर्यस्य । वरं स्वीकृता गजेन्द्रलीला येन । यथा यथा जलेनोक्षणम्, तथा तथा सुखमिति गजदृष्टान्तः महासौरतं च ॥ २४ ॥

वह प्रथम कहा स्त्रियोंसहित भगवान् ने जल में युवतियों को पूर्ण अभिषिक्त किया, इसके अनन्तर प्रेम से ईक्षण किया, देखा । फिर अत्यन्त हँसती हुई कौतुक जिनमें प्रविष्ट हुआ, इस प्रकार की गोपियों में इधर-उधर सिञ्चित किये गये भगवान्, जिस गोपी के सामने जाता है, उसी गोपी के साथ रमण करता हुआ, इस प्रकार सब गोपियों के साथ भगवान् ने रमण किया ।

जिस प्रकार श्री शुकदेव जी स्वयं माहात्म्य ज्ञानपूर्वक अत्यन्त स्नेह और निर्दोष भाव से कहते हैं, उसी प्रकार राजा परीक्षित भी श्रावण कर रहा है, इस बात को जान करके श्री शुकदेव जो स्नेह से राजा परीक्षित को अपना अन्तरङ्ग सूचन करते सम्बोधन देते हैं कि (हे अङ्ग) राजन् तुम मेरे अङ्ग हो इसलिये इस लीला को तुम्हारे लिए कह रहा हूँ, यह भाव है ।

यदि शंका करो कि यथेच्छक्रीडा करने में भगवान् को देवों ने निषेध क्यों नहीं किया । और बहुत लोग एक ही समय में बिना विचारे जल से दूसरे मनुष्य का अत्यन्त सिञ्चन करें तो, वह मनुष्य व्याकुल हो जाता है, यह बात लोक में देखी गई है, इसलिये यहां भी भगवान् व्याकुल हो गये होंगे, अतः व्याकुल होने की सम्भावना से अन्तरङ्ग भक्तों को भगवान् का अभिषेक धीरे-धीरे करना चाहिये, इस प्रकार सब मिलकर एक साथ एक समय में मत करो । इस प्रकार देवों ने स्वामिनियों से विज्ञप्ति विनती क्यों नहीं की ?

इस शंका के उत्तर में श्री शुक मुनि कहते हैं कि (कुसुमवर्षिभिर्वैमानिकैरीड्यमानः) विमानों में स्थित देवों ने पुष्पों की घुष्टि करके भगवान् की स्तुति की, अतः देवों ने भगवान् का अभिनन्दन ही किया है, निषेध नहीं किया है, यदि देव निषेध करते तो लोक में कामरस प्रकट नहीं होता ।

गोपियों के साथ में भगवान् के रमण का दर्शन अन्य भक्तों को भी दुर्लभ है, परन्तु प्रथम इस अध्याय के चतुर्थ श्लोक में 'विमानशतसंकुलम्' देवों के सैकड़ों विमानों से आकाश भर गया था, इस प्रकार निरूपण किया है, इसलिये विमानों में स्थित देवों के लिये दर्शन की सम्भावना की जाती है, देवों को तो प्रभुलीलोपयोगी मण्डप रूप आकाश में स्थिति लक्षण संबंध से ही आनंद उत्पन्न हो गया, और भगवान् की इच्छा से पुष्प वृष्टि, भगवान् की स्तुति, और रस प्रविष्ट ही हुआ, किन्तु भगवान् की लीला का दर्शन नहीं हुआ ।

यद्यपि देवों को भगवल्लीला का दर्शन हो जाता तो भी गोपियों से कुछ भी कहने का सामर्थ्य देवों में नहीं है, कारण कि केवल भगवान् के बिना अन्य किसी को भी गोपियों से कहने का अधिकार नहीं है, तथापि जो किया कार्य अन्य पुरुष को दुःखदायी होता है, वह गोपियों का किया भगवान् को अत्यन्त सुख देने वाला होता है, इस बात का ज्ञापन करने के लिये श्री मदाचार्यों ने आभास में कहा है, (ननु देवैः कथं न निषिध्यते) देवताओं ने गोपियों से निषेध क्यों नहीं किया, इस प्रकार कहा है ।

इसी कारण से शुकदेव जी ने भी कहा है कि (आत्तगजेन्द्रलीलः) भगवान् ने गजेन्द्र लीला स्वीकार की है । अतः भगवान् जिस प्रकार गोपियाँ सिञ्चन करती हैं, उस प्रकार से भगवान् भी गोपियों के ऊपर जल के छींटाओं का बदला अपने दोनों हस्तों से छिरक कर ले सकते हैं, किन्तु भगवान् गोपियों को सिञ्चन नहीं करते हैं, और उलटे अपनी दोनों बाहु गोपियों के सामने ही पसारते हैं, इसी आशय से यहां कहते हैं कि सर्व देव भगवान् का अभिनन्दन ही

करते हैं, निषेध नहीं करते हैं । भगवान् की दोनों बाहु देवता रूप हैं, इसलिये बाहु के अवयवभूत अङ्गुली करतल आदि को भी देवरूपत्व है, यह भाव है ।

भगवान् यदि अपने देवरूप बाहु से गोपियों को निवारण करे तो स्वामिनिरूप लोक में कामरस प्रकट नहीं होता ।

इस प्रकार श्री विट्ठल नाथ जी टिप्पणी में मूल श्लोक तीसरे चरण के दो अर्थ कहते हैं । एक प्रत्यक्ष, और दूसरा परोक्ष ।

प्रत्यक्ष अर्थ विमान में स्थित देवों के विषय में है, और द्वितीय परोक्ष अर्थ में भगवान् की बाहु को देवरूप कहा है ।

परोक्ष अर्थ में विशेष्य की ही-देवों की ही बाहु में लक्षणा है, 'वैमानिकैः' और 'कुसुमवर्षिभिः' इन दोनों विशेषणों का संबंध भगवान् की बाहु के साथ नहीं है, इसलिये 'वैमानिकत्व' और कुसुमवर्षित्व, इन दोनों का बाहु में अन्वय नहीं करना चाहिये । जिस प्रकार गभीर में धोप है, यहां गभीरत्व और नदीत्व तीर में नहीं है, उसी प्रकार उक्त विशेषण भगवान् की बाहु में नहीं है ।

मूल श्लोक में 'युवतिभिः' इसमें युवती शब्द यह सूचन कर रहा है कि गोपियाँ युवती हैं, इसलिये शृङ्गार रस से कौतुक इनमें प्रविष्ट है, इससे विचार न करके भगवान् का चारो तरफ से एक समय में ही सिञ्चन करती हैं, अर्थात् जल के छींटे देती हैं ।

जल के छींटा देने में वीररस उत्पन्न न हो जाये, इसके लिये प्रेम से ही भगवान् के ऊपर दृष्टिपात कर रही हैं ।

मूल में (स्वयं) पद कहा है, इसलिये बलात्कार से भी भगवान् ने रमण किया है, इस बात का सूचन करता है ।

उस समय में भी भगवान् की रति अपने में ही थी, अर्थात् इस प्रकार रमण करने पर भी भगवान् आत्माराम ही है, किन्तु आपने केवल गजेन्द्र लीला स्वीकार की है ।

जैसे जैसे भगवान् के ऊपर गोपियाँ जल छींटी थीं, वैसे वैसे भगवान् को सुख होता था, इस बात का सूचन गजदृष्टान्त कर रहा है, और महासौरत का भी सूचन गज दृष्टान्त ही कर रहा है ॥ २४ ॥

(सुबो०) ततः पुष्पावचयक्रीडामाह—तत इति ।
जल क्रीडा के अनन्तर आगे श्लोक में श्री शुकदेव जी पुष्पावचय-पुष्प एकत्रीकरण क्रीडा कहते हैं ।

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल-प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिवतटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद्द्विरदः करेणुभिः ॥ २५ ॥

पदपदार्थ—(ततः) जल क्रीडा के अनन्तर (जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिवतटे) जल और स्थल के पुष्पों की सुगन्ध संबंधी वायु से सेवित सर्वदिशाओं का भाग जिसमें इस प्रकार के (कृष्णोपवने) श्री यमुना जी के बगीचा में (भृङ्गप्रमदागणावृतः) भ्रमर और स्त्रियों के यूथ से चारो तरफ से व्याप्त भगवान् (यथा) जिस प्रकार (मदच्युत्) मदस्त्राव करने वाला (द्विरदः) हाथी (करेणुभिः) हथिनियों के साथ (तथा) उस प्रकार (चचार) विचरते हुए ॥ २५ ॥

भाषार्थ—जलक्रीडा के अनन्तर जल और स्थल के पुष्पों की सुगन्ध सम्बन्धी वायु से सेवित सर्वदिशाओं का भाग जिसमें इस प्रकार के श्री यमुना जी के बगीचा में भ्रमर और स्त्री

गण से आवृत चारो तरफ घिरे हुए भगवान् जिस प्रकार मदस्त्राव करने वाला हाथी हथिनियों के साथ विचरता है, उस प्रकार विचरते हुए ॥ २५ ॥

(सुबो०) जलक्रीडानन्तरं कृष्णायाः यमुनायाः उपवने जलस्थलप्रसूनानां ये गन्धाः तत्सम्बन्धिना वायुना जुष्टाः दिक्ताः सर्वदिग्भागा यस्मिन् वने तत्र पुनश्चचार । भङ्गैः प्रमदागणैश्चावृताः । पुनर्भुङ्गाणां गमने हेतुं दृष्टान्तेनाह । यथा मदच्युत् मदस्त्रावी गण्डयोरन्यत्र च । द्विरदो हस्ती करेणुभिः सहितो भवति, भ्रमरैश्च सहितः । सहज एवान्तः स्थितो रसः आविर्भूत इति भ्रमराणामनुद्रवणम् । चचारेति सर्वत्र नानाविधलीला निरूपिता । कचिल्लतानां भङ्गः, कचिद् वृक्षशाखानां । तथा मर्यादामार्गः लौकिकश्चान्यथाकृत इति । एषा त्रिविधा लीला अत्यलौकिकी । ततः अविचारेण रमणमिति ॥ २५ ॥

भाषा—जलक्रीडा के अनन्तर कृष्ण श्री यमुना जी के बगीचा में जल और स्थल के पुष्पों के गंध सम्बन्धी वायु से सेवित सर्वदिशाओं के तट-भाग जिसमें इस प्रकार के श्री यमुना जी के बगीचा में भगवान् पुनः भ्रमर तथा स्त्रियों के यूथ से आवृत विचरते हुए ।

जल क्रीडा करने में कुंकुम पुष्पमाला आदि का अभाव होने से भ्रमरों का साथ जाना वन नहीं सकता है, इसलिये श्री महाप्रभु जी सुबोधिनी में 'पुनश्चचार' यहां पुनः शब्द का प्रयोग किया है, भगवान् के पीछे भ्रमर फिर से गये हैं, इसमें हेतु दृष्टान्त से कहते हैं कि (यथा-मदच्युत्) ।

मदस्त्रावी—मद जिसके गण्डों में और अन्यत्र सेवित हो रहा है, इस प्रकार का हाथी-हथिनियों सहित, और भ्रमरों सहित होता है ।

स्वाभाविक ही भीतर स्थित रस बाहर प्रकट होता है, इसलिये भ्रमरों का पीछे-पीछे जाना कहा है । इसी प्रकार भगवान् भी गोपियों से आवृत, और भ्रमरों से आवृत श्री यमुना जी के बगीचा में विचरते हुए ।

मूल में 'चचार' यह किया सूचन करती है कि भगवान् ने श्री यमुना जी के बगीचा में डोलकर नाना प्रकार की लीलाएँ की हैं ।

जिस प्रकार हाथी कहीं लताओं को भङ्ग करता है, और कहीं वृक्ष शाखाओं को भङ्ग करता है, उसी प्रकार भगवान् ने भी कहीं मर्यादा मार्ग भङ्ग किया, और कहीं लौकिकमार्ग भङ्ग किया है ।

इस प्रकार यह काम लीला स्थल, जल और पुष्पावचयन पुष्पों का एकत्रित करना, इस प्रकार तीन प्रकार से भगवान् की लीला अत्यन्त अलौकिक है, अलौकिक प्रकार की है ।

लौकिक प्रकार की भगवान् की लीला का वर्णन आगे के श्लोक में 'काव्यकथा' पद से करेंगे ।

यह लीला भगवान् ने हथिनियों के साथ हाथी की तरह की है, इसलिये इस लीला में जिस प्रकार पूर्वं लीला में देशकाल और नायिकाओं का विचारपूर्वक रमण किया था, उस प्रकार भगवान् ने इस लीला में देशकाल और नायिकाओं का विचार नहीं किया है ॥ २५ ॥

(सुबो०) एवं लीलामुक्त्वोपसंहरति—एवमिति ।

इस प्रकार भगवाद्की लीला वर्णन करके आगे श्लोक में शुक्रमुनि लीला का उपसंहार करते हैं ।

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः

ससत्यकामोऽनुरताबलागणः ।

सिषेव आत्मन्युपरुद्धसौरतः

सर्वाःशरत्काव्यकथा रसाश्रयाः ॥ २६ ॥

पदपदार्थ—(एवं) इस प्रकार से (ससत्यकामः) सत्यकाम गोपियां जिसके साथ में वह सत्यकाम भगवान् (अनुरताबलागणः) अनुरत प्रीतियुक्त अवलाओं के यूथ जिसके (आत्मनि) आत्मा में (उपरुद्धसौरतः) उपरुद्ध है सौरत-सुरत वीर्य जिसके, इस प्रकार का भगवान् (शरत्का-व्यकथाः) शरद् ऋतु का वर्णन करने वाली सर्वकाव्यकथा जिनमें (रसाश्रयाः) रसके आश्रय-भूत (शशांकांशुविराजिताः) चन्द्रकिरणों से शोभित (निशाः) इस प्रकार की रात्रियों का (सिषेवे) सेवन करता हुआ ॥ २६ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार सत्यकाम गोपियां जिसके साथ में वह सत्यकाम और प्रीतियुक्त स्त्रियों के यूथ जिसके, आत्मा में ही उपरुद्ध सुरत वीर्य जिसके इस प्रकार के भगवान् शरद् ऋतु का वर्णन करने वाली सर्व काव्यकथाओं के रस के आधारभूत, और चन्द्रकिरणों से शोभित रात्रियों का सेवन करते हुए ॥ २६ ॥

(सुबो०) शशाङ्कांशुभिः चन्द्रकिरणैः लौकिकैः या विराजिता निशाः ता एवं रेमे । पूर्वोक्तप्रकारस्तु सर्वदा लीलारूपः । स केनापि न विरुध्यते । नन्वेवं रमणे को हेतुरिति चेत्, तत्राह—ससत्यकाम इति । सत्यकामोः यासां ताः सत्यकामाः । ताभिः सहित इति ससत्यकामः । स इति तथा प्रार्थितो वा । एवमपि क्रीडायां कामः सत्य एव स्थितः, न तु क्षीणः, असद्विषयको वा जातः । अनुरता अबलागणा यस्य । सर्वथा रतासु नित्यसंबद्धासु स्वविवाहितासु न कापि शङ्का, सर्वथा प्रपन्नासु च । अग्रे मर्यादाभङ्गे रसपोषाय । तदुक्तं—'शास्त्राणां विषयस्तावद् यावद् मन्दरसा नराः । रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रम' इति । तथापि तासु सत्य एव कामः स्थापितः । यो मोक्षपर्यवसायी । स कामो भगवन्तं प्रापयिष्यत्येव । एवं निशाः सिषेवे । तदनन्तरमात्मन्येव उपरुद्धं सौरतं यस्य तथा जातः । न तु तासु रति स्थापितवान् । तथा सति तासु स्वस्मात् पुत्रा भवेयुः । सर्वा एव निशा एवं नीताः । शरदपि नीता । काव्य-कथा अपि नीताः । काव्योक्तप्रकारेण गीतगोविन्दोक्तन्यायेनापि रति कृतवान् । तत्र हेतुः—रसाश्रया इति । कामरसस्तेष्वेव प्रसिद्धः । यावत् पुरुषो रसे गौणभावं न प्राप्नोति, तावन्न रसिको भवतीति । शरद्वर्णनायां वा यत् काव्यं, तत्र याः कथाः, तासां रसाश्रया इति । निशा एता न लोकप्रसिद्धाः, किन्तु काव्योक्ता

एव । तत्र हि नियतकृत्यादि राहित्यं लादैकता अनन्याधीनता, तथा अन्येऽपि गुणाः । तथा भगवल्लीलारात्रयो जाता इत्यर्थः ॥ २६ ॥

लौकिक चन्द्र की किरणों से शोभित रात्रियों में भगवान् ने इस प्रकार से रमण किया है ।

प्रथम एक रात्रि में रमण कहा था, अब इस श्लोक में सब रात्रियों में उस एक रात्रि का अति देश करते हैं, अर्थात् लौकिक रात्रियों में अलौकिक रात्रि का स्थापन आदि करके सर्व रात्रियों में भगवान् ने कामलीला की है ।

प्रथम कहा रमण प्रकार तो सर्वदा लीला रूप है, अर्थात् प्रथम नृत्य द्वारा भीतर भाव जाग्रत होने से आन्तर रमण रूप है, इस रमण में जो भाव जिस गोपी के भीतर स्थापन किया, वह गोपी उस भाव का सदैव अनुभव करती है, इसीसे ज्ञानात्मक ताम्बूल ग्रहण करने वाली गोपी का कार्य, जिस समय भगवान् तिरोहित हो जाते हैं, उस समय सर्व गोपियों को उपदेश करना वहां कहा है ।

प्रथम रमण का प्रकार किसी से विरुद्ध नहीं है, और गृह गमन आदि प्रकार से भी विरुद्ध नहीं है, इसीसे श्री महाप्रभु जी ने छव्वीसवें अध्याय के प्रारम्भ की कारिका में कहा है कि 'स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम्' भगवान् स्त्रियों में अहर्निश रमण करते हैं ।

यह रमण दिन में भी विद्यमान होने से इसमें अलौकिक रात्रियों का स्थापन आदि प्रकार नहीं है ।

यदि शंका करो कि इस प्रकार कामलीला से रमण करने में क्या हेतु है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'ससत्यकामः'

सत्य है काम जिन गोपियों का वे गोपियां सत्यकामा हैं, इस प्रकार की गोपियों के सहित भगवान् है, इसलिये भगवान् 'स सत्यकाम' है, कुमारिकाओं ने 'पति मे कुरु' इस प्रकार काम-प्रकारक अभिलाषा की, और श्रुति रूपाओं ने 'कामिनीभावमासाद्य' इस वाक्य से काम-प्रकारक अभिलाषा की, और अन्तर्गृहगताओं का तो स्पष्ट ही कामाभिलाष है, अतः तीनों की अभिलाष सत्य होने से, उसके पूर्ण करने के लिये इस प्रकार का रमण भगवान् ने किया है ।

अब 'स' और 'सत्यकाम' दोनों पद पृथक् करके महाप्रभु जी अर्थान्तर कहते हैं ।

सः—जिसकी गोपियों ने इस प्रकार से प्रार्थना की है वह भगवान् काम लीला करता हुआ, इस प्रकार की क्रीड़ा में भी भगवान् का काम सत्य ही स्थित है, अर्थात् भगवान् के धर्म नित्य हैं, इसलिये भगवान् का काम क्षीण नहीं हुआ, और भगवान् का काम असत् पदार्थ विषय कभी नहीं हुआ । अर्थात् भगवान् के धर्मों का नित्य सत्त्व है ।

इस प्रकार व्यवस्थापित करने से विषय होने पर भी असत्-हीन पदार्थ सर्वधन नहीं हुआ ।

यदि कहो कि लोक दृष्टि से परदारात्व विद्यमान है इसलिये भगवान् का रमण असत्-हीनविषयकत्व कैसे नहीं है ।

इस शंका के निवारण के लिये कहते हैं कि 'अनुरताबलागणः'

प्रीतियुक्त हैं अबला जिसकी, गोपियों की भगवान् में सर्वथा प्रीति है ।

गोपियों का प्रकार यह है कि (१) प्रथम कुमारिका, (२) द्वितीय नित्य लीलास्थ श्रुतिसिद्धा, तथा अन्तर्गृहगता (३) तृतीय द्वारका लीला में स्थित विवाहिता, और (४) चतुर्थ गोपों के घर सम्बन्धी, ये चार प्रकार की स्त्रियां भगवान् में प्रीति करती हैं, इसलिये भगवान् का आत्मारामत्व भङ्ग नहीं होता है, इस प्रकार श्रीपुरुषोत्तम जी इन चार प्रकार की स्त्रियों में किसी प्रकार की दोषशंका नहीं है ।

इस विषय में आचार्य श्रीवल्लभजी तो अन्य अर्थ करते हैं, वह इस प्रकार का है कि पूर्व व्याख्यान के अनुसार गोपियों के गण-यूथ तीन प्रकार के हैं, इसलिये सुबोधिनी में 'गणाः' इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग किया है ।

इन तीनों प्रकार की गोपियों का वर्णन मूल में कहे तीन विशेषणों से क्रम से किया है, (१) श्रुतिरूपा (२) अन्तर्गृहगता (३) कुमारिका ये तीनों प्रकार की गोपियां भगवान् में प्रीति करती हैं ।

यद्यपि लोकन्याय से कुमारिकाओं के साथ भगवान् का विवाह नहीं हुआ, किन्तु 'पति मे कुरु' मेरा पति नन्दगोपसुत करो, इस प्रकार प्रार्थना करने से वर सिद्ध विवाह हुआ है, इसलिये मूल में 'स्वविवाहिता सु' इसमें 'स्व' पद का प्रयोग किया है, इसका आशय यह है कि भगवान् ने कुमारिकाओं के साथ विवाह किया है, लोक के सामने नहीं किया है ।

इस प्रकार की गोपियों के साथ मनोरथ पूर्ण करने के लिये रमण करने में दोष शंका नहीं है ।

अब प्रसङ्ग से श्री महाप्रभुजी साधारण पक्ष भी कहते हैं कि जो गोपी सर्वथा भगवान् की शरण प्राप्त हुई हैं, उनमें भी दोष शंका करने का अवकाश नहीं है, जो शरण में आई गोपियां हैं, उनमें अनुरतत्व-प्रीति साधारण है ।

यदि आप कहो कि जिन गोपियों में प्रीति साधारण है, उनके साथ भगवान् को फिर उतना ही रमण करना उचित है, किन्तु मर्यादा-रहित रमण करना उचित नहीं है ।

इस शंका के उत्तर में श्रीमहाप्रभु जी कहते हैं कि भगवान् ने रमण करने में मर्यादा भंग आगे रस-पोषण करने के लिये की है ।

यदि भगवान् मर्यादा-भंग किये बिना रमण करे तो रस का पोषण नहीं होने से उतना रस भी सिद्ध नहीं होता, अतः रस सिद्ध करने के लिये भगवान् ने मर्यादा भंग की है ।

प्रकाशकार श्री पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि प्रथम जो गोपी कुमारिका आदि चार प्रकार की कही हैं, उनसे अन्य गोपियां यद्यपि स्पष्ट नहीं कही हैं, तथापि 'भिन्न सेतुः' मूल में कहा है, इससे 'निबन्ध' में कही रीति के अनुसार जाननी चाहिये, इसी बात को प्रथम श्लोक में श्री आचार्यों ने कहा है कि मर्यादा मार्ग, तथा लौकिक भगवान् ने अन्यथा भंग कर दिया है, इसी बात को लक्ष्य करके श्री आचार्यों ने सुबोधिनी में 'अग्रे' यहां से लेकर 'प्रापयिष्यत्येव' यहां तक कहा है, अर्थात् आगे रस पोषण करने के लिये भगवान् ने मर्यादा भंग की है । इसी को वात्स्यायन सूत्र में कहा है कि—

“शास्त्राणां विषयस्तावद् यावन्मन्दरसा नराः ।

रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रमः ॥ २।२।३२

जब तक पुरुष में मन्द रस होता है, तबतक शास्त्रों का विषय-अर्थात् शास्त्रानुसार रति करता है, किन्तु जब मनुष्य रति चक्र में प्रवृत्त हो जाता है । तब न तो शास्त्र विषय रहता है, और न क्रम ही रहता ।

इस प्रकार मर्यादा भंग करके रमण करने पर भी भगवान् ने गोपियों में सत्य ही काम स्थापन किया है । यही सत्य काम मोक्ष-नित्य लीला में प्रवेश करायेगा ।

अर्थात् यह सत्यकाम गोपियों को भगवान् की प्राप्ति ही करायेगा ।

श्री मदाचार्यों ने तृतीयाध्याय सूत्र के आशय में नित्य लीला प्रवेश रूप पुष्टिमार्गीयों की मुक्ति निरूपण की है ।

इस प्रकार भगवान् ने रात्रियों का सेवन किया, इसके अनन्तर भगवान् ने अपने ही में सौरत-रति वीर्य स्थापन किया, किन्तु गोपियों में रति वीर्य स्थापन नहीं किया, रमण करने में सहस्रवर्ण हुआ तो भी भगवान् ने चन्द्रकिरणों को अपने ही में स्थापन किया है, गोपियों में स्थापन नहीं किया है।

जिस प्रकार पात्र में घरा घृत पतला हो जाये तो भी पात्र ही में रहता है, उसी प्रकार रति-वीर्य भगवान् ने अपने ही में स्थित रखा, अर्थात् चन्द्रकिरणों का स्राव हुआ तो भी ये चन्द्र-किरणें भगवान् में ही रहीं।

यदि भगवान् गोपियों में रतिस्थापन करते तो गोपियों में भगवान् से पुत्र उत्पन्न होते।

यद्यपि गोपियों को पुत्रोत्पादन भी भगवान् से ही किसी प्रकार से हुआ है, तथापि इस समय भगवान् को रति स्थापन करने में अपने से ही प्रकट स्वरूप होते। इसलिये रति स्थापन नहीं किया।

सभी रात्रियाँ भगवान् ने इस प्रकार रमण में व्यतीत कीं, काव्यों में कहे प्रकार से तथा जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' नाम काव्य में कहे न्याय से भी भगवान् ने रमण किया है।

गीतगोविन्द में कहे लौकिक प्रकार के रमण करने में हेतु कहते हैं कि 'रसाश्रयाः' काम-रस काव्यों में ही रात्रि आदि की कथा के अन्त में ही प्रसिद्ध है, जबतक पुरुष नायिका को प्राधान्य करके स्वयं गौण भाव को प्राप्त नहीं होता है, तबतक रसिक नहीं होता।

अब श्रीमहाप्रभु शरद आदि का दूसरा अर्थ करते हैं, अथवा शरद का वर्णन करने में जो काव्य है, उसमें जो कथाएँ उनके रस की आश्रय रात्रियाँ हैं, इस प्रकार की रात्रियाँ लोक में प्रसिद्ध नहीं हैं, किन्तु काव्य में ही कही हैं, 'मम्मट' आचार्य ने 'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार ही कहा है, ब्रह्माजी ने जो नियम कार्य आदि जगत् में बनाये हैं काव्य उनसे रहित भी है, अर्थात् वे नियम आदि काव्य में नहीं हैं, काव्य में केवल आनन्द ही होता है, और यह अन्य के आधार ऊपर नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु अन्य गुण भी काव्य शास्त्र में होते हैं। उसी प्रकार भगवल्लीला की रात्रियाँ हुईं।

लौकिक काव्यों में भी सरस्वती भगवान् के सम्बन्ध वाले पदार्थों का वर्णन करती है, किन्तु लौकिक पुरुष ही काव्यों का अर्थ भिन्न भिन्न संसारी जीवों में घटाते हैं, इसी से प्राचीन महानुभाव लौकिक गाथाओं में भी जीव नाम दूर करके वहाँ भगवान् का नाम रखकर गान कराते हैं ॥ २६ ॥

अब इस २६ वें श्लोक पर स्वतन्त्र लेख है, उसका भाषानुवाद कहते हैं, मूल में 'ता एवं रेमे' भगवान् लौकिकी रात्रियों में इस प्रकार कामलीला से चन्द्रप्रवेश क्रीडा से, चन्द्र अंश निवर्तन प्रकार द्वारा रमण करते हुए मूल में 'पूर्वोक्त प्रकारस्तु' नृत्य आदि से केवल रसात्मक गूढ़ भाव प्रकट करने से सर्वदा लीला रूप है।

मूल में 'स केनापि न विरुध्यते' भावात्मक रमण तो किसी से भी गृहगमन आदि से भी विरुद्ध नहीं है। कारण कि भावात्मक रमण का सर्वदा हृदयगृह में परोक्ष में भी अनुभव होता है। नाट्य में रस के उत्पन्न भाव से ही सर्व का अनुभव सम्पन्न होता है, इसीसे 'आन्तरं तु महाफलम्' इस २६ वीं अध्याय कारिका ५ की टिप्पणी में प्रभुचरण ने कहा है कि जो भाव विशेष भीतर उत्पन्न होते हैं, वे समागम में नहीं होते हैं।

मूल में 'ननु एवं रमणे को हेतुः' यदि कहो कि नित्य लीला के आश्रयभूत स्वामिनियों में कामलीला से रमण क्यों किया? यह अर्थ है।

मूल में 'ससत्यकामः' सत्य है काम गोपियों का अथवा यस्य, भगवान् का, इस प्रकार बहुव्रीहि समास से गोपियों में तथा भगवान् में सत्यकाम के सत्त्व से इस प्रकार रमण करने पर भी

नित्य लीला में कोई क्षति नहीं है। यह भी लीला भगवान् की नित्य ही है, केवल इतना विशेष है कि यहाँ बाहर प्राकट्यपूर्वक उसी प्रकार की क्रिया प्रकट की है, और आन्तर रमण में भाव मात्र से प्रकट है।

अब कामलीला से रमण में हेतु को दूसरे प्रकार से कहते हैं।

'स तथा प्राथितो वा' 'पति मे कुरु' इत्यादि से प्रथम गोपियों ने कामलीला का अनुभव करने के लिये भगवान् की प्रार्थना की थी, तथा कामिनीभावमासाद्य' इस वाक्यानुसार श्रुति-रूपाओं ने भी की थी, इसी से 'लब्धकामाः कुमारिकाः' एवं भगवतः कृष्णालब्धकामाः' इत्यादि वाक्य कहे हैं। अतः भगवान् को कुमारिका तथा श्रुतिरूपाओं की प्रार्थना ही कामलीला करने में हेतु है।

मूल में (एवमपि क्रीडायाम्) चन्द्रकिरणनिवर्तन प्रकार से क्रीडा में, यह अर्थ है, (मूल में 'सत्यएव' निवृत्त चन्द्रांशों की भी भगवान् में स्थिति होने से, यह भाव है) इसीसे आगे कहेंगे 'आत्मन्यवच्छसौरतः' सत्य को ही कहते हैं कि 'न तु क्षीणः', असद्विषयको वा जातः' भगवान् की क्रीडा में काम सत्य ही स्थित है, क्षीण नहीं है, क्षय होने पर सत्यत्व सिद्ध नहीं होता है, संसार की तरह ही सिद्ध होता है, प्रकृत विषय में काम का द्रवण होने पर चन्द्रांशकिरण निवृत्त होने पर भी भगवान् के भीतर ही स्थिति से क्षीण नहीं है, जिस प्रकार एक पात्र में स्थित नव-नीत घाम आदि से पतला होकर उसी पात्र में रहने पर क्षीण नहीं कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी रतिवीर्य द्रवीभूत होने पर भी भगवान् में स्थित रहने से क्षीण नहीं है, यह भाव है।

यदि कहो कि यहाँ स्वाभाविक सुख के लिये साथ में स्नान कहना चाहिये। साथ में श्रवण कहने पर ही अन्यत्र भी उसका सम्बन्ध आवश्यक है, फिर यहाँ अक्षीणत्व पूर्वक ही रीति श्रवण कहने पर ही अन्यत्र भी उसका सम्बन्ध आवश्यक है, फिर यहाँ अक्षीणत्व पूर्वक ही रीति से कैसे कहते हो। इस प्रकार अरुचि से पक्षान्तर कहते हैं कि 'असद्विषयको वा जातः' स्वामिनियों में भगवान् का रतिवीर्य प्रविष्ट होने पर भी लौकिक काम की तरह यह असद्विषयक नहीं हुआ, कारण कि वहाँ भी भगवान् के काम का ही सत्त्व है, भगवत्काम पूर्ण करने पर उसको सद्विषय-कत्व ही है, इसी से आचार्य चरणों ने 'तासां कामस्य संपूर्तिनिष्कामेनेति तास्तथा' कहा है, और भगवान् ने भी आज्ञा की है कि 'न मय्यावेशितधियाम्' इत्यादि। इसलिये इस प्रकार रमण करने पर भी भगवान् से पुत्रादि की उत्पत्ति नहीं हुई, इसी बात को प्रथम आचार्यों ने (कामाभावेन पूर्णस्तु) इत्यादि से कहा है।

अब और भी कहते हैं कि गोपियों में लौकिक काम होने पर भी कोई क्षति नहीं है, गोपियाँ सर्वथा भगवत्पर हैं, इसलिये उनका कामबीज दग्ध हो गया, इस अभिप्राय से विशेषण का अर्थ कहते हैं कि (अनुरता अबलागणा यस्य)

यहाँ तीन गण हैं श्रुतिरूपाओं का, अन्तर्गृहगताओं का, और कुमारिकाओं का, ये तीनों ही युथ भगवान् में सर्वथा प्रपन्न हैं, तीनों में शरण धर्म तुल्य है, प्रपन्न-शरणधर्म सर्व भाव से शरण आने को कहते हैं।

पूर्वोक्त सभी गोपियों की भगवान् में प्रीति है, उसमें श्रुतिरूपाओं के गण में अनुरतत्व भगवान् के रतत्व के अनन्तर रतत्व है, इसी से 'त्वयाभिरमिता' यह कहा है और अन्तर्गृहगताओं के गण में अनुरतत्व लक्ष्मी की तरह नित्य संबद्धत्व ही है, कुमारिकाओं के गण में पूर्वधर्म का सत्त्व होने पर भी, हमारे ही है, इस प्रकार स्वयं अनुरतत्व है, भगवान् ने विवाह करके सम्बन्ध किया है, इस प्रकार सभी गोपियाँ सर्वभाव से भगवत्पर हैं। इसलिये लौकिक काम का सत्त्व होने पर भी कोई शंका नहीं है, यह भाव है।

यदि कहो कि इस प्रकार कामलीला करने के अनन्तर 'इभराडिव भिन्नसेतुः' इस प्रकार का गजदण्डान्त कथन से मर्यादाभंग करना भगवान् को उचित नहीं है, और शास्त्र में कहीं देश काल की मर्यादाभंग करने पर कामरस का उस प्रकार का अनुभव नहीं होता है, और यहां तो मर्यादाभंग गजदण्डान्त से, गज की तरह स्पर्श से स्वामिनियों के कामनिवर्तन से कहा है, काम निवृत्त हो जाता है, तब काम शास्त्र में कहीं देश काल मर्यादा नहीं रहती है, देशकाल मर्यादा के अभाव में आगे उस प्रकार के रमण का भी संभव नहीं होता है, फिर निवृत्तकाम वाली गोपियों का उस देश में उतने काल तक प्रभु के साथ रहना भी संभव नहीं हो सकता है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'अग्रे मर्यादाभंगो रसपोषाय' आगे जो मर्यादा का भगवान् ने भंग किया है, वह रसपोषण करने के लिये ही किया है, कामलीला में ही आगे मर्यादाभंग-अर्थात् काम मर्यादा का भंग रसपोषण करने के लिये ही है। सर्वथा कामनिवृत्ति के लिये नहीं है, कारण कि मर्यादा रहित भोग रसपोषक होता है, इसी बात को 'तदुक्तं', शास्त्राणां विषयः' इत्यादि से कहा है। नहीं तो काम निवृत्त होने पर इस लीला को नित्यत्व नहीं होगा।

यद्यपि इस प्रकार शंका का समाधान हो सकता है, तथापि स्वामिनियों में भगवान् ने लौकिक काम स्थापित नहीं किया है, कारण की लौकिक काम स्थापन करने पर संयोग रस का भंग हो जाता है।

भगवान् को देय तो आत्यन्तिक वियोग है, उसमें कामगूढ स्थायीभाव है, इसी से मोक्षपर्यवसायी है, कारण कि काम नित्यसुख के अनुभव में हेतु है, अनन्तर स्वरूपमात्र की प्राप्ति है। इसी से कहा है कि 'ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम्' फल भी इसी से कहा है कि इस लीला का श्रवण जो कोई करेगा, उसके लौकिक काम की निवृत्ति होगी।

गोपियों में सत्य ही काम भगवान् ने स्थापन किया, इस प्रकार जो आचार्यों ने कहा है, वह अत्यन्त रमणीय है, इसलिये कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥२६॥

(सुबो०) एवमेतां लीलां श्रुत्वा राज्ञः सन्देह उत्पन्नः । तन्निवारणार्थं शङ्कते-संस्थापनायेति त्रिभिः ।

इस प्रकार इस लीला को सुनकर राजा परीक्षित को सन्देह उत्पन्न हो गया, सन्देह दूर करने के लिये तीन श्लोकों में राजा शंका करता है, तथा किसी भ्रान्त पुरुष को भगवान् की इस लीला में विषयत्व से अनुचित बुद्धि होने के कारण शंका उत्पन्न हो तो शंका निवारण करने के लिये राजा की शंका, और शुकदेव जी का किया समाधान सुनने से अन्य की बुद्धि का भी निवारण श्री शुकदेव जी करते हैं।

राजोवाच—

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।

अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥ २७ ॥

पदपदार्थ—(धर्मस्य) धर्म का (संस्थापनाय) सम्यक् प्रकार से स्थापन करने के लिये (च) और (इतरस्य) अधर्म का (प्रशमाय) नाश करने के लिये (जगदीश्वरः) जगत के ईश्वर (भगवान्) षडैश्वर्यवान् श्रीकृष्ण (अंशेन) बलदेवसहित (अवतीर्णः) अवतरित हुए हैं ॥ २७ ॥

भाषार्थ—राजा बोला, धर्म का सम्यक् प्रकार से स्थापन करने के लिये और अधर्म का नाश करने के लिये जगत् के ईश्वर भगवान् ने बलदेव सहित अवतार लिया है ॥ २७ ॥

(सुबो०) अवतारविहृदं लोकवेदविहृदं प्रमेयविहृदं चेति । तादृशकरणे अवश्यं हेतुर्वक्तव्यः । तदभावेऽपि लीलायाः सिद्धत्वात् । तत्र प्रथममवतारविरोधमाह । धर्मसंस्थापनाय भगवदवतारः । 'धर्मसंस्थापनाय चे'ति वाक्यात् । अधर्मनिवृत्तये च । तदुभयार्थमेव भगवदवतारः, दैत्यादिवधो भूभारहरणं च अधर्मनिवृत्तये । एतदर्थमेवावतारः, नान्यार्थमिति हिशब्द आह । भगवानिति तस्य साधनम्, अन्यथा पूर्णकामस्यावतारो न घटेतेति । लोकोपकारश्च एताभ्यामेव अंशेन बलभद्रेण । आगत्य तथाकरणे हेतुः जगदीश्वर इति स हि सर्वरक्षकः । अतः पालनार्थमेवं कृतवान् ॥ २७ ॥

राजा परीक्षित प्रश्न करता है कि भगवान् की लीला अवतार से विरुद्ध है, लोक वेद से विरुद्ध है, और प्रमेय से विरुद्ध है, इस प्रकार विरुद्ध लीला करने में हेतु अवश्य आपको कहना चाहिये, कारण कि भगवान् इस प्रकार से लीला करते तो भी भगवान् की लीला तो सिद्ध थी, उक्त तीनों प्रकार की विरुद्ध लीला में प्रथम राजा परीक्षित अवतार विरुद्ध लीला कहता है कि भगवान् का अवतार धर्म संस्थापन करने के लिये हुआ है, धर्म 'संस्थापनाय च' इसमें धर्म संस्थापन करने के लिये युग युग में अवतार लेता हूँ, इस प्रकार गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है। और अधर्म नाश करने के लिये अवतार लेता हूँ अर्थात् धर्मसंस्थापन और अधर्मनिवृत्ति, इन दोनों प्रयोजन से भगवान् का अवतार होता है।

यदि कहो कि दैत्यनाश, और पृथिवी का भार दूर करना भी अवतार कार्य है, उसी तरह इस प्रकार की लीला भी अवतारकार्य मान लो।

इस शंका को समाधान करते हैं कि दैत्यनाश और भूभार हरण ये दोनों कार्य तो अधर्म निवृत्त करने के लिये हैं, इस कार्य को करने के लिये ही भगवान् का अन्य कार्य करने के लिये भगवान् का अवतार नहीं है, बात का सूचन मूल का 'हि' शब्द कर रहा है।

भगवल्लीला अधर्म का नाश करने में उपयोगी नहीं है, अतः अधर्मनाश के लिए नहीं है, इसलिये भगवल्लीला अवतार का गौण कार्य भी नहीं है।

आप 'भगवान्' हैं, ऐश्वर्य आदि हैं भगवान् के गुण हैं, और धर्म भगवद्वचन जो ऐश्वर्यादि गुण हैं, वे उनके भीतर हैं, इसलिये धर्मरक्षण आवश्यकता से रक्षण साधन भगवत्त्व है, अर्थात् धर्मरक्षा का साधन भगवान् है, इस प्रकार प्रकाशकार पुरुषोत्तम जी कहते हैं।

इस विषय में आचार्य वल्लभ जी कहते हैं कि (तस्य साधनम्) भगवान् के गुण ही लीला में साधन है, 'अन्यथा' यदि भगवान् के गुण लीला में साधन नहीं हो तो पूर्णकाम भगवान् का अवतार ही नहीं घट सकता है, और लोक का मोक्षरूप आदि उपकार तो धर्मसंस्थापन और अधर्मनाश इन दोनों से होता है।

'अंशेन' बलभद्र के साथ, भगवान् अवतार लेकर जगत में आकर धर्मसंस्थापन, और अधर्मनाश करता है, इसमें हेतु कहते हैं कि (जगदीश्वरः) भगवान् सबकी रक्षा करने वाले हैं, इसलिये पालन करने के लिये अवतार लेकर धर्मसंस्थापन, और अधर्मनाश करते हैं ॥ २७ ॥

(सुबो०) किमतो यद्येवम्, एवमेतदित्याह—स कथमिति ।

शुकदेव जी कहते हैं कि यदि भगवान् धर्मरक्षा और, अधर्मनाश करने को ही अवतार लेते हैं, इससे आपका कहने का क्या मतलब है । तब इसके उत्तर में राजा परीक्षित कहता है कि मेरा कहने का आशय इस प्रकार है सुनिये कहता हूँ ।

स कथं धर्मसेतूनां कर्ता वक्ताऽभिरक्षिता ।

प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥ २८ ॥

पदपदार्थ—(हे ब्रह्मन्) हे ब्रह्मरूप (धर्मसेतूनां) धर्म की मर्यादाओं का (कर्ता) करनेवाला (वक्ता) कहनेवाला (अभिरक्षिता) सर्व प्रकार से रक्षा करने वाला (सः) भगवान् 'परदाराभिमर्शनम्' पर स्त्रियों के साथ सङ्गरूप [प्रतीपम्] धर्मविरुद्ध कार्य को (कथं) क्यों (आचरत्) आचरण किये ॥ २८ ॥

भाषार्थ—हे ब्रह्मन् धर्म की मर्यादा रक्षा करने वालों का भी रचने वाला और स्वयं कहने वाला, सर्व प्रकार से रक्षा करने वाला भगवान् परस्त्रियों के साथ सङ्गरूप धर्मविरुद्ध कार्य क्यों किये ? ॥ २८ ॥

(सुबो०) धर्ममर्यादापालकानां निर्माता । स्वयं वक्ता च । उपघातेऽभिरक्षिता च । तादृशः प्रतीपं प्रतिकूलमाचरत् । धर्मो नष्टः, अधर्मः स्थापितः । अधर्मः कृत उक्तः रक्षितश्च । अतः प्रतीपाचरणमयुक्तम् । तत्र हेतुर्वक्तव्य इति ब्रह्मन्निति सम्बोधनम् । ये पञ्च पदार्था उक्ताः, तेषां स्वरूपमेकत्रैवेति तन्निदिशति परदाराभिमर्शनमिति ॥ २८ ॥

भगवान् धर्ममर्यादा रक्षा करने वाले मनु आदि ऋषियों के रचने वाले हैं, मनु आदि के द्वारा मर्यादा का पालन करते हैं ।

और स्वयं धर्म का उपदेश करने वाले हैं, धर्म का नाश होने पर, उसकी सर्व प्रकार से रक्षा करने वाले हैं, इस प्रकार के भगवान् ने धर्मविरुद्ध आचरण किया है, धर्म नष्ट किया, २. अधर्म स्थापन किया, ३. अधर्म किया ४. अधर्म कहा ५. और अधर्म की रक्षा की है ।

इसलिये भगवान् को इस प्रकार धर्मविरुद्ध आचरण करना योग्य नहीं है, इसमें आप को कारण कहना चाहिये कि इस प्रकार का धर्मविरुद्ध आचरण भगवान् ने क्यों किया ।

उक्त कार्य करने का कारण आप जानते हैं, इस बात को सूचन करने के लिये राजा ने श्री शुकदेव जी को 'ब्रह्मन्' संबोधन कहा है ।

धर्म का नाश, अधर्म स्थापन, अधर्म का आचरण, अधर्म का उपदेश, अधर्म का रक्षण, ये पांचो पदार्थों का स्वरूप एक स्थान में ही है, श्री शुकदेव उस स्थान को बतलाते हैं कि 'परदाराभिमर्शनम्' उक्त पांचो पदार्थ परस्त्रीसङ्ग में हैं ।

यहाँ मूल में 'संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च' धर्मस्थापन और अधर्मनाश करने के लिए भगवान् का अवतार कहकर 'प्रतीपमाचरत्' इससे धर्म नष्ट, अधर्म स्थापन, दो पदार्थ कहे हैं, और 'वक्ता कर्ताभिरक्षिता' इसको कहकर 'प्रतीपमाचरद्' इससे अधर्म किया, अधर्म कहा, और अधर्म रक्षण किया, ये तीन पदार्थ कहे हैं, इस प्रकार पांच पदार्थ प्रतीप के अर्थनिरूपण किये हैं ॥ २८ ॥

(सुबो०) ननु कामात् करणमिति चेत्, तत्राह—आप्तकाम इति ।

यदि आप कहो कि भगवान् ने काम से इस प्रकार प्रतिकूल आचरण किया है, तब इसके उत्तर में राजा परीक्षित कहता है ।

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।

किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥ २९ ॥

पदपदार्थ—(आप्तकामः) स्वतः ही प्राप्तकाम (यदुपतिः) यादवों के पति भगवान् (जुगुप्सितम्) परस्त्रीसंग रूप लोक निन्दित कार्य को (कृतवान्) किये (किमभिप्रायः) इसमें क्या अभिप्राय है (एतं) पूर्वोक्त (नः) हमारा सबका ही (संशयं) संदेह को (हे सुव्रत) हे सदाचार लक्षण व्रतयुक्त (छिन्धि) दूर करो ॥ २९ ॥

भाषार्थ—आप्तकाम यदुपति भगवान् लोकनिन्दित कार्य किये, इसमें क्या अभिप्राय है, हे सुव्रत सदाचारी शुकदेव जी, हमारा सबका संशय दूर करो ॥ २९ ॥

(सुबो०) स्वत एवाप्ताः कामा येन । यदुपतिरिति विद्यमानायामपि कामनायामनेकस्त्रीप्राप्तिः तादृशोऽपि भूत्वा जुगुप्सितं लोकनिन्दितं कृतवान् । तत्र करणे कोऽभिप्रायः । परस्परविरुद्धार्थत्वादुभयोर्ग्रहणं न सम्भवति । नैकतापि विरुद्धानाम् । विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेऽपि प्रयोजनं वक्तव्यम् । नैतत् कर्म लोकहितम्, नापि स्वहितम् । स्वस्य पूर्णत्वात् । लोकस्य मर्यादैव हितकारिणी । तथा गोपिकानामपि । अन्तर्यामिण ईश्वरस्य न किञ्चिदसाध्यम् । अत एव सति किमभिप्राय एतत् कृतवान् । कः अभिप्रायो यस्येति । एतं नोऽस्माकं सर्वेषामेव संशयं छिन्धि । किञ्च, सुव्रत हे सदाचारलक्षणव्रतयुक्त । यदीदमसङ्गतमिव स्यात्, त्वया नोक्तं स्यात् । यदि वा अधर्मः स्यात्, तव रुचिर्न स्यात् । प्रतीयते च विपरीतम्, अतो निर्णयो वक्तव्य इत्यर्थः ॥ २९ ॥

स्वतः ही आप प्राप्त काम जिस करके, अर्थात् भगवान् ने अपने आप ही सर्व काम प्राप्त किये हैं, भगवान् को किसी काम की आवश्यकता नहीं है, आप स्वयं आप्तकाम हैं और यदुपति हैं, यादवों के पति हैं, इसलिये यदि भगवान् को कामना हो, तो भी इसको अनेक स्त्रियां प्राप्त हो सकती हैं ।

भगवान् इस प्रकार के होकर भी लोक में जिस कार्य से निन्दा हो उस परस्त्रीसंग रूप कार्य को किये, इस प्रकार करने में भगवान् का क्या अभिप्राय है, कारण कि परस्पर विरुद्ध अर्थ है, परस्पर विरुद्ध धर्म अधर्म दोनों का ग्रहण सम्भव नहीं होता है । विरुद्ध पदार्थ एक स्थान में रह नहीं सकते हैं ।

यदि कहो कि 'द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्हति' इस न्याय से दोनों के ग्रहण में क्या दोष है । इसके उत्तर में कहते हैं कि, भगवान् विरुद्ध सर्व धर्मों के आश्रय हैं, तो भी इस प्रकार का धर्मविरुद्ध कार्य करने का आपको प्रयोजन कहना चाहिये ।

परस्त्री-संग कार्य लोक का हित करने वाला नहीं है, और अपना भी हित करने वाला नहीं है । कारण कि भगवान् स्वयं पूर्ण हैं ।

लोक को मर्यादा का आचरण ही हित करने वाला है। इसी प्रकार गोपियों को भी मर्यादा हित करने वाली है।

यदि कहो कि गोपियों का काम पूर्ण करना ही भगवान् की लीला का प्रयोजन है, कारण कि गोपियां भगवान् की भक्त हैं, इसलिये गोपियों के मनोरथ की पूर्ति करना आवश्यक है।

इसके उत्तर में राजा कहता है कि ईश्वर अन्तर्यामी है, इसलिये इसको कोई भी कार्य असाध्य नहीं है, इनका मनोरथ भीतर ही पूर्ण कर देते, अथवा अन्तर्यामी होने के कारण गोपियों को अन्य प्रकार से ही प्रेरणा करके दूसरा मनोरथ ही उत्पन्न क्यों नहीं किया। अथवा गोपियों को इस प्रकार प्रेरणा करते कि जिससे गोपियों में इस प्रकार का निदितभाव उत्पन्न ही नहीं होता, अथवा गोपियों के साथ विवाह कर लेते। अतः इस प्रकार की परिस्थिति में किस अभिप्राय से भगवान् ने यह लीला की है।

आचार्य इस शंका का अन्य प्रकार से अर्थ करते हैं। अथवा, लीला असाध्य नहीं है, भगवान् ने इस प्रकार की लीला नहीं की, इस बात को मान लो तो इसके उत्तर में राजा कहता है कि इसमें दृष्टान्त के लिये दो विशेषण हैं, जिस प्रकार अन्तर्यामी होकर ईश्वर बाहर भी फलदाता है, उसी प्रकार यह विरुद्ध लीला भी असाध्य नहीं है। तथापि इस लीला करने का अभिप्राय क्या है।

राजा परीक्षित को पहिले संदेह नहीं था, किन्तु अभिप्राय संबंधी संदेह तो स्थित है ही, इसलिये राजा प्रश्न कर रहा है।

‘कः अभिप्रायो यस्य’ कौन सा अभिप्राय है जिसका, इस लीला करने में भगवान् का कौन सा अभिप्राय है। इस प्रकार हमारा सबका ही संशय दूर करो।

‘हे सुव्रत’ हे सदाचारलक्षण व्रतयुक्त श्री शुकदेव जी।

यदि भगवान् की यह लीला असंज्ञत सी-संज्ञत सी नहीं होती, तो आप इस लीला का वर्णन नहीं करते, और यदि भगवान् की इस लीला में अधर्म होता, तो आपकी इसमें रुचि नहीं होती, किन्तु विपरीत प्रकार की दीखती है, इसलिये आपको इस लीला करने का निर्णय कहना चाहिये, यह अर्थ है। भगवान् की इस लीला में दो प्रकार की शंका है, प्रथम भगवान् की लीला निदित है, द्वितीय अभिप्राय शङ्का है, इसमें प्रथम शंका दूसरों की है, और दूसरी स्वयं राजा परीक्षित की है, दूसरी शंका का समाधान ‘अनुग्रहाय भक्तानां’ इस ३७वें श्लोक में करेंगे ॥ २९ ॥

(सुबो०) प्रथमतः अवतारविरुद्धं कृतवानिति यदुक्तम्, तत्रोत्तरमाह-धर्मव्यतिक्रम इति।

प्रथम राजा ने कहा कि भगवान् ने अवतारविरुद्ध कार्य किया है, इसका उत्तर श्री शुकदेव जी देते हैं।

श्राशुक उवाच—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।

तेजीयसां न दोषाय बह्वैः सर्वभुजो यथा ॥ ३० ॥

पदपदार्थ—(धर्मव्यतिक्रमः) धर्म का उल्लंघन (च) और (साहसम्) साहस (ईश्वराणां) ऐश्वर्य धर्म वालों में (दृष्टः) देखा गया है (यथा) जिस प्रकार (बह्वैः) अग्नि (सर्वभुजः) सर्व भक्षण करने वाले को (दोषाय) सर्वभक्षण दोष के लिये (न) नहीं है (तथा) उसी प्रकार (तेजीयसां) अतितेजस्वियों को विरुद्ध कार्य दोष के लिये नहीं है ॥ ३० ॥

भाषार्थ—श्री शुकदेव जी कहते हैं कि धर्मका उल्लंघन, और साहस ईश्वर-ऐश्वर्य धर्म वालों में देखा गया है, जिस प्रकार अग्नि सर्वभक्षण करता है, किन्तु अग्नि को किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है, उसी प्रकार अति तेजस्वी पुरुषों को विरुद्धाचरण करने से दोष उत्पन्न नहीं होता है ॥ ३० ॥

(सुबो०) किमेतदीश्वराणां चरित्रं न भवतीत्युच्यते। आहोस्विदन्याथ-मागतोऽन्यत् करोतीति। नहि किञ्चिद् घटनार्थमागतः किञ्चिन्न विषट्यति। न ह्यन्यार्थमप्यागतः स्वधर्मं परित्यजति। प्रकाशनार्थमागतो दीपः गृहेण स्पृष्टश्चेद् दहत्येव। अत ईश्वरधर्मोऽयम्। अन्यथा ईश्वर एव न भवेत्। न हि वणिजा-मिव प्रभोर्नियमोऽस्ति सर्वकर्मसु। ईश्वरधर्माश्चैते इति तान् गणयति धर्मव्य-तिक्रमः साहसमित्यादयः। धर्मव्यतिक्रमो विद्यमानोल्लङ्घनम्। साहसमविद्य-मानकरणम्। एतदुभयमीश्वरे दृष्टम्। ‘नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम’। चकारादीश्वर-सेवकानामपि, वीर्यादिमतां वा। एतदेव वा साहसम्, सहसा क्रियमाणत्वात्। नन्वेवं सति तत्कर्मफलं कथं न भवेदित्याशङ्क्याह—तेजीयसामिति। अतितेज-स्विनामेतन्नाधर्मजनकम्। विधिनिषेधवाक्यानां नियोज्यविषयत्वात्। यथा लोके, तथा वेदेऽपि। अतितेजस्विनां सर्वकर्मदहनसमर्थानां न दोषजनकं भव-तीत्यत्र दृष्टान्तमाह बह्वैः सर्वभुज इति। न हि सर्वान् दहन् बह्विर्वधभाग् भवति। सर्वं भक्षयन् अभक्ष्यभक्षको वा। तथा सर्वं पिबन् सर्वत्र प्रविशन् सर्व-सम्बद्धः तत्तत्कारी भवति। मिथ्याज्ञानसलिलावसिक्तायामेवात्मभूमौ कर्मबीजं धर्माधर्माङ्कुरतामारभते, नतु तत्त्वज्ञाननिदाघनिष्पीतसलिलतयोषरायाम् ॥ ३० ॥

राजा परीक्षित से श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि क्या यह ईश्वरों का चरित्र नहीं होता है, जो आप इस प्रकार कहते हैं।

अथवा आपसे यह पूछते हैं कि भगवान् अन्यकार्य करने के लिये अर्थात् धर्मशिक्षण अधर्म नाश करने के लिये पधारें हैं, और ‘अन्यत्’ अन्यकार्य अधर्म किया है, इस प्रकार प्रश्नकी दो कोटि की हैं, उसमें प्रथम द्वितीय का उत्तर देते हैं, कि किसी एक कार्य करने के लिये आया हुआ, दूसरे कार्य का नाश नहीं करता है, और अन्य अर्थ दूसरे प्रयोजन के लिये आया हुआ भी स्वधर्म का त्याग नहीं करता है।

जिस प्रकार घृगया-शिकार खेलने के लिये निकला राजा उपवन में विहार करता है, और वह विहार करता हुआ भी सेवक आदि का शासन भी करता है, शिकार भी खेलता है, उसी प्रकार अन्य प्रयोजन के लिये पधारें भगवान् धर्म का परित्याग नहीं करते हैं।

यदि कहो कि गोपियों को तो अधर्म करने से बंध संभव होता है, तब इसके उत्तर में कहते हैं कि ‘प्रकाशनार्थम्’।

प्रकाश करने के लिये आया दीपक यदि घर से उसका स्पर्श हो जाये तो घर को फूंक ही देता है, अपने स्वरूप का योजन करके घर को अपने सदृश कर देता है।

उसी प्रकार भगवान् धर्म का स्थापन करने के लिये पधारे हैं, किन्तु जो भगवान् का प्रेमभाव से भजन करे तो भगवान् उसमें स्वरूपानन्द स्थापन करते हैं, और अपने तुल्य बना लेते हैं।

‘नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप’ हे राजन्, मनुष्यों के कल्याण करने के लिये भगवान् का प्राकट्य है, इस प्रकार इस श्लोक में पहिले भगवान् के अवतार का कार्य कहा है, अवतार कार्य भगवान् की लीला भी हो सकती है, अभी पहले कह आये हैं कि मोक्षपर्यवसायी है नित्यलीला प्राप्त कराने वाली भगवान् की यह लीला है, अतः धर्मस्थापन, अधर्मानाश भी इस लीला का प्रयोजन है। इसलिये प्रकारान्तर से सिद्ध होने पर धर्मस्थापन, और अधर्मानाश दोनों की आवश्यकता रहती नहीं है। अतः भगवान् की यह लीला अवतार विरुद्ध नहीं है।

अब पहिले राजा ने भगवान् की लीला लोकविरुद्ध और प्रमेयविरुद्ध है, इस प्रकार प्रश्न किया है, उसका विरोध दूर करते हैं। (अतः) इसलिये इस प्रकार की लीला करना ईश्वर-धर्म है, साधन से विरुद्ध फल दान करना ईश्वरधर्म है। इसीको ‘न मर्यादेनितधियाम्’ (१०।१९२६) मुक्त में जिसकी बुद्धि लग गई है, उसका काम, काम के लिये नहीं है, अर्थात् उसको फिर विषयो-त्पत्ति नहीं होती है, जिस प्रकार भुने अथवा उबले घान बीज के काम में नहीं आते हैं।

यहाँ यह सिद्ध किया है कि भगवान् वेद के भी नियामक हैं, अर्थात् वेद भगवान् की आज्ञा मानता है, किन्तु वेद की आज्ञा भगवान् पर नहीं चलती है इस बात का बोध करते हैं, इस प्रकार का ईश्वरधर्म है, अन्यथा—यदि भगवान् वेद से नियम्य होकर, अर्थात् वेद की ही मर्यादानुसार कार्य करे तो आत्मा ईश्वर ही नहीं होगा। व्यापारियों की तरह सर्व कार्यों में प्रभु का नियम नहीं है।

ये सब ईश्वरधर्म ही हैं, अतः ईश्वरधर्मों की गणना करते हैं।

‘धर्मव्यतिक्रमः, साहसम्’ इत्यादि-धर्मव्यतिक्रम-अर्थात् विद्यमान का उल्लंघन करना। साहस—जो विद्यमान नहीं है, उसका करना। ये दोनों ही धर्म ईश्वर में देखे गये हैं। ‘न हि हृष्टे अनुपपन्नं नाम’ देखी हुई बात कभी अयुक्त नहीं होती है, यह न्याय है।

मूल में ‘च’ है, इससे यह सूचन होता है कि ईश्वर के सेवकों में भी धर्मव्यतिक्रम और साहस देखा गया है।

अथवा वीर्य आदि धर्म वालों में धर्मव्यतिक्रम और साहस देखा गया है। अथवा धर्म का उल्लङ्घन ही साहस है, कारण कि ऐसे लोग बिना विचारे एकदम बल से ही कार्य कर डालते हैं।

यदि कहो कि जब इस प्रकार सहसा धर्म का उल्लङ्घन करते हैं, तो फिर उनको कर्म का फल क्यों नहीं होता।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (तेजीयसां) अतितेजस्वियों को कर्म फल नहीं होता है, कारण कि अतितेजस्वी पुरुषों में धर्म का उल्लङ्घन-अधर्म उत्पन्न करता नहीं है।

तो फिर वेद से विरोध होता है। तब इस शंका के समाधान में कहते हैं कि वेदविरोध भी नहीं होता है, कारण कि विधि और निषेधवाक्य, जिसका नियमन वेद से हो सकता है, उसीके उद्देश्य से कहे हैं, वेद भगवान् का नियामक नहीं है, इसलिये वेद शास्त्र स्मृतियों में कहे विधिवाक्य, और निषेधवाक्य भगवान् पर लागू नहीं होते हैं।

जिस प्रकार लोक में ईश्वर-अतितेजस्वी विधि-निषेध के अधीन स्वयं नहीं होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी वेद में कहे विधि-निषेध के अधीन नहीं है।

सर्व कर्मों को भस्म करने में समर्थ अतितेजस्वी पुरुषों को दोष उत्पन्न नहीं होता है। इसमें दृष्टान्त कहते हैं (वृद्धेः सर्वभुजो यथा)

सब को दहन करने वाले अग्नि को वधदोष नहीं लगता है, उसी प्रकार सर्व का भक्षण करना अग्नि को अभक्ष्य का भक्षण करनेवाला कोई नहीं कहता है। उसी प्रकार सब को पान करना, सर्वत्र प्रवेश करना सब से संबंधित हुआ भी अतितेजस्वी, उस उस कर्म का करने वाला नहीं कहा जाता है।

मिथ्याज्ञानरूप जल से सींची गयी आत्म-भूमि में-अन्तःकरण में कर्मबीज, धर्म-अधर्म का अङ्कुर उत्पन्न करता है, किन्तु तत्त्वज्ञान रूप ताप से सूख गया है जल जिसका इस प्रकार की ऊपर भूमि में-अन्तःकरण में कर्म बीज धर्म अधर्म का अङ्कुर उत्पन्न नहीं करता है, किन्तु स्वयं नष्ट हो जाता है ॥ ३० ॥

(सुबो०) ननु ‘तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यम्’ ति न्यायाद् ‘यद्वृत्त-मनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पत’ इति विरोधाच्च कथमेतत् कर्तुं शक्यत इति चेत्, तत्राह—नैतत् समाचरेदिति।

यदि शंका करो कि ‘तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यम्’ (भा० ३।१२।३१) ब्रह्मा जी से मरीचि प्रभृति मुनि कहते हैं कि अतितेजस्वी पुरुषों की भी परस्त्रीगमन से कीर्ति नहीं होती है, लोक में निन्दा-बुराई होती ही है, इस न्याय से ‘यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते’ (३।१२।३१।)

अतितेजस्वी पुरुषों के चरित्र का अनुकरण करके लोक कल्याण प्राप्त करता है, इस प्रकार उक्त वाक्यों से विरोध होता है। फिर भगवान् पर स्त्रीसंग कैसे कर सकते हैं, अर्थात् भगवान् ने परस्त्री-संग क्यों किया ?

इस शंका के उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं कि ‘नैतत् समाचरेत्’ ईश्वरकृत कर्म का अनीश्वर आचरण नहीं करे, विशेष क्या है, मन से भी आचरण नहीं करे।

यद्यपि परीक्षित की शंका का समाधान ‘नैतत्’ इस श्लोक से नहीं होता है, तथापि इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में ‘विनश्यत्याचरन्’ इत्यादि से कहा है कि भगवान् बिना अन्य कोई पुरुष इस प्रकार करेगा तो उसका नाश हो जायेगा, ऐश्वर्य आदि संपत्ति वाले भगवान् के करने से नाश नहीं होता है, इस प्रकार से उक्त शंका का समाधान हो जाता है, इसी आशय से यह श्लोक कहा है, इस प्रकार जानना चाहिये।

आगे ३४ वें श्लोक में श्रीमदाचार्यों ने कहा है कि अन्तरङ्ग भक्त ही इस भगवान् की लीला को जानते हैं, इसलिये परस्त्री-गमन से भगवान् की कीर्ति का नाश नहीं होता है।

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।

विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम ॥ ३१ ॥

पदपदार्थ—(अनीश्वरः) जो ईश्वर नहीं है वह (एतत्) ईश्वर कर्म को (जातुः) कभी-भी (मनसा) मनसे (अपि) भी (न) नहीं (समाचरेत्) आचरण करे (हि) यह अर्थ युक्त है (मौढ्यात्) मूढता से (आचरन्) आचरण करता हुआ (विनश्यति) नष्ट हो जाता है (यथा) जिस प्रकार (अरुद्रः) रुद्रसमान पराक्रमरहित (अब्धिजं) समुद्र से निकला (विषम) विषको (आचरन्) आचरण करता-भक्षण करता हुआ (विनश्यति) नष्ट हो जाता है ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—जो ईश्वर नहीं है, वह मन से भी कभी ईश्वरकृत कर्म का आचरण नहीं करे, जिस प्रकार अरुद्र-रुद्रसमान पराक्रम रहित समुद्र से निकला हुआ विष पानकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अनीश्वर मूढता से ईश्वरकृत कर्म का आचरण करने से नष्ट हो जाता है ॥३१॥

(सुबो०) एतदीश्वरकृतमनीश्वरो न समाचरेत् । ऐश्वर्यसमानाधिकरण-मेवैतत् नानिष्टं करोति । अतः जातु कदाचिदपि औत्सुक्यादपि न समाचरेत् । किं बहुना मनसापि । ऐश्वर्यतुल्यमेव तेषां तत्कर्म । यथैश्वर्यकामनायामपि अनीश्वरो वधमर्हति, यथा महाराज्याधिकारी तदिच्छां कुर्वन्, अतो मनसाऽपि न समाचरेत् । विपरीते बाधकमाह—विनश्यतीति । मौढ्यादैश्वर्यसहभावं तस्य कर्मणः अज्ञात्वा केवलं तत् कर्म आचरन् तेनैव कर्मणा नष्टो भवति । नत्वेकमेव कर्म कथं धर्मान्तरसहितं न नाशकम्, इतरथा नाशकमिति चेत्, तत्राह । अरुद्रः रुद्रव्यतिरिक्तः रुद्रसमानपराक्रमरहितः अब्धिजं विषं कालकूटमाचरन् आ समन्ताद् भक्षयन् विनश्यति तथेत्यर्थः । निन्दितं कर्मपि कालकूटवन्नाशकम् । तदीश्वरस्यैव शोभाकरम्, येन न लकण्ठो भवति । तथैव गोपीजनवल्लभ इति ॥३१॥

इस ईश्वरकृत कर्म का जो ईश्वर नहीं है, वह नहीं आचरण करे । जिसमें इस प्रकार का ऐश्वर्य है, वही मनुष्य करे तो उसको आचरण अनिष्ट नहीं करता है, इसलिये कभी भी-उत्कंठा से भी आचरण नहीं करे, विशेष क्या कहें, मन से भी आचरण नहीं करे ।

अब मूल में 'हि' शब्द है, उससे सूचित अर्थ कहते हैं कि जिसमें जितना ऐश्वर्य है, वे पुरुष अपने ऐश्वर्य के तुल्य ही कर्म करते हैं, और जिनमें ऐश्वर्य नहीं है, वे यदि ऐश्वर्य की इच्छा करें तो वध के योग्य होते हैं ।

जिस प्रकार महाराज्य प्राप्ति में अनधिकारी, राज्य की इच्छा करे तो वधयोग्य होता है, अतः मन से भी ईश्वरकर्म का आचरण नहीं करे ।

ईश्वरकर्म आचरण करने में बाधक कहते हैं (विनश्यति) धर्मविरुद्ध आचरण ऐश्वर्य के साथ है, अर्थात् ऐश्वर्य बिना नहीं हो सकता है ।

यदि ऐश्वर्य वाले के कर्म को मूढता से नहीं जानकर आचरण करता है, परस्त्रीसङ्ग करता है तो उसी कर्म से नष्ट हो जाता है ।

यदि शंका करो कि एक ही कर्म ऐश्वर्य वाले का नाश नहीं करता है और अनीश्वर का नाश करता है, यह कैसे संभव होता है ।

इस शंका के समाधान में श्री शुकदेवमुनि कहते हैं कि (अरुद्रः) रुद्र से अन्य, अर्थात् रुद्रसमान पराक्रम रहित पुरुष जिस प्रकार समुद्र से निकला विष कालकूट सबका भक्षण करके नष्ट हो जाता है, निन्दित कर्म भी कालकूट विष की तरह नाश करता है ।

वही कालकूट विष ईश्वर-महादेव की शोभा करने वाला है, जिसके कारण महादेव जी नीलकण्ठ हो गये, उसी प्रकार निन्दित कर्म, परस्त्रीगमन भगवान् की शोभा करने वाला है, जिसके कारण अर्थात् गोपियों के साथ रमण करके गोपीजनवल्लभ कहलाये ॥ ३१ ॥

(सुबो०) ननुक्तं 'यद्वत्तमनुतिष्ठ' न्निति, तत्राह ईश्वराणामिति ।

राजा ने प्रथम कहा कि अतितेजसी पुरुषों के चरित्र का अनुकरण करके लोक कल्याण प्राप्त करता है, इसका उत्तर श्रीशुकदेवजी आगे श्लोक में देते हैं ।

ईश्वराणां वचस्तथ्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिर्मास्तत् समाचरेत् ॥
पाठान्तरे तेषां स्वच्छन्दचरितं बुद्धिमान्न समाचरेत् ॥३२॥

पदपदार्थ—(ईश्वराणां) ऐश्वर्य वाले पुरुषों के (वचः) वचन (तथ्यम्) सत्य है (तथा) उसी प्रकार (एव) ही (क्वचित्) कहीं पर (आचरितं) आचरण किया सत्य है, (तेषां) आचरणों के मध्य में (यत्) जो आचरण (स्ववचो) अपनी वाणी से (युक्तं) योग्य है, (बुद्धिमान्) बुद्धिमान् पुरुष (तत्) उस को (समाचरेत्) करे । पाठान्तर अर्थ—(तेषां) ईश्वरों के (स्वच्छन्दचरितं) स्वतन्त्र आचरण को (बुद्धिमान्) जानवान् (न) नहीं (समाचरेत्) आचरण करे ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—ऐश्वर्यवाले पुरुषों का वचन सत्य होता है, और कहीं आचरण भी सत्य होता है, उन आचरणों में जो आचरण अपनी वाणी से योग्य हो उसका बुद्धिमान् आचरण करे, अथवा ऐश्वर्य वाले पुरुषों के स्वच्छन्द स्वतन्त्र आचरण का बुद्धिमान् नहीं आचरण करे ॥ ३२ ॥

(सुबो०) ईश्वराणां वच एव तथ्यम्, न त्वाचरितम् । क्वचिदाचरित-मपि वचनानुगुणं चेत् । ईश्वराणां बहवो धर्माः । अथैश्वर्यम्, तथा धर्मात्मित्वम्, तथा दया । तत्रैश्वर्यज्ञानवैराग्यैर्यत् करोति, तत् स्वच्छन्दचरितमित्युच्यते । बुद्धिमान् तन्न समाचरेत् । ते ह्यन्यथा न वदन्ति । अन्यार्थं कथनमन्याधिकारेणेति । अतस्तद्विरुद्धं न कथयन्तीति ॥ ३२ ॥

ईश्वरों की वाणी ही सत्य है, आचरण सत्य नहीं है ।

भगवान् का आचरण-गोपियों के साथ रमण चरित्र लोकसंग्रह के लिए नहीं है, किन्तु निरङ्कुश-जिसका कोई प्रतिबंध नहीं कर सके, इस प्रकार का अपना ऐश्वर्य बोधन करने के लिये है, इसलिये भगवान् का चरित्र बाहर के रूप देखने में सत्य नहीं है, अर्थात् साधारण जीव को आचरण करने योग्य नहीं है ।

किसी समय ईश्वरों का आचरण भी यदि वचन के अनुकूल हो तो सत्य है । भगवान् का वचन सत्य है, इसका आशय यह है कि भगवान् का वचन मानकर करना चाहिये, भगवान् का आचरण वचनानुकूल सत्य है, इसका आशय यह है कि भगवान् के समान अन्य ऐश्वर्य वाला पुरुष इस प्रकार का आचरण कर सकता है, साधारण पुरुष नहीं कर सकता है । इस प्रकार जानना चाहिये ।

ईश्वरों के बहुत धर्म हैं, जिस प्रकार ऐश्वर्य धर्म है, उसी प्रकार धर्मात्मत्व भी है, दया भी है, इन धर्मों में ऐश्वर्य, ज्ञान और वैराग्य, इन तीन धर्मों से जो कार्य करता है, उसको स्वच्छन्द चरित्र कहते हैं, बुद्धिमान् पुरुष स्वच्छन्द चरित्र का आचरण नहीं करे ।

आगे ३३ वें श्लोक में 'एषां' इस पद से ऐश्वर्य का, और 'निरहंकारिणां' इस पद से ज्ञान वैराग्य का विवरण किया है ।

योजनाकार लालू भट्ट जी 'किमुताखिलसत्त्वानां' इस ३४ वें श्लोक में 'ईशतुः' इस पद से ऐश्वर्य का निरूपण करते हैं, शेष सर्व व्याख्यान एक-सा है ।

ईश्वरों की वाणी सत्य है, इसमें उपपत्ति कहते हैं कि ईश्वर असत्य झूठ नहीं बोलते हैं, कारण कि ईश्वर दूसरों का अधिकार देखकर, उसके अनुसार ही वचन कहते हैं—उपदेश देते हैं, अतः ईश्वर अधिकार विरुद्ध दूसरों से नहीं कहते हैं। जिसका जिस प्रकार का अधिकार होता है, उसको अधिकारानुसार कहते हैं ॥ ३२ ॥

(सुबो०) ननु यथान्यस्मै न कथयन्ति, तथा स्वयमपि कुतो न कुर्वन्ति, तत्राह कुशलाचरितेनेति ।

यदि शंका करो कि जिस प्रकार ईश्वर अन्य के लिये अधिकारानुसार कहते हैं, अधिकार वरुद्ध नहीं कहते हैं, उसी प्रकार स्वयं भी आचरण क्यों नहीं करते हैं। इस शंका के उत्तर में आगे कहते हैं।

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते ।

विपर्ययेण वाऽनर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो ॥ ३३ ॥

पदपदार्थ—(हे प्रभो) हे राजन् (निरहंकारिणां) अहंकार रहित (एषां) ऐश्वर्ययुक्त पुरुषों के (कुशलचरितेन) कुशल कर्म आचरण करने से (इह) इसमें (स्वार्थः) अपना प्रयोजन (वा) अथवा (विपर्ययेण) निषिद्ध कर्म आचरण करने से (अनर्थः) अनर्थ-अनिष्ट (न) नहीं (विद्यते) उपस्थित होता है ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—हे राजन् अहंकार रहित ईश्वरों को कुशल पुण्य-कर्म आचरण करने से इसमें स्वार्थ सिद्ध नहीं होता है, अथवा निषिद्ध कर्म आचरण करने से अनर्थ नहीं होता है ॥ ३३ ॥

(सुबो०) एवमीश्वराणां कुशलाचरितेन अर्थः प्रयोजनं न विद्यते, ततोऽप्यनन्तफलस्य प्राप्तत्वादेव । विपर्ययेण अकुशलाचरितेन अनर्थोऽपि न विद्यते । ईश्वराणामेव निषिद्धकर्मणा अनिष्टाभाव इति न, किन्तु जानिनामपीति ज्ञान-वैराग्ययोस्तुल्यं स्वरूपमाह निरहङ्कारिणामिति । अहङ्काररहितानाम् । न केनापि किमपि, कर्तृत्वाभिमानाभावात् । प्रभो इति सम्बोधनमोश्वरस्य लोक-विलक्षणत्वज्ञापनार्थम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ईश्वरों को कुशल आचरण से अर्थ प्रयोजन नहीं होता है, कारण कि ईश्वरों ने इससे भी अधिक अनन्तफल प्राप्त किया है, और ईश्वरों को विरुद्ध आचरण से अनर्थ भी नहीं होता है।

केवल ईश्वरों को ही निषिद्ध कर्म से अनिष्ट नहीं होता है, यह बात नहीं है, किन्तु ज्ञानियों को भी निषिद्ध कर्म करने से अनिष्ट नहीं होता है, अतः ज्ञान वैराग्य दोनों का तुल्य स्वरूप श्रीशुकदेवजी कहते हैं, 'निरहंकारिणाम्' अहंकार रहित पुरुषों को भी निषिद्ध कर्म से अनिष्ट नहीं होता है, कारण कि किसी प्रकार से भी कुछ भी ज्ञानियों में कर्तृत्व अभिमान नहीं होता है ।

हे प्रभो, यह सम्बोधन राजा परीक्षित को इसलिये दिया है कि ईश्वर जिसमें ऐश्वर्य होता है, वह जगत् से विलक्षण होता है, इस बात का आपको स्वयं अनुभव है ॥ ३३ ॥

(सुबो०) यत्र ज्ञानसहकृतमेव तत्कर्म नानिष्टजनकम्, किं वक्तव्यमैश्वर्य-
सहकृतमित्याह किमुतेति ।

जहां ज्ञान के साथ कर्म किया जाता है, वहां वह कर्म अनिष्ट उत्पन्न नहीं करता है, फिर वह कर्म ऐश्वर्य के साथ किया जाये तो क्या कहना चाहिये, इस बात को आगे श्लोक में शुक्रमुनि कहते हैं ।

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।

ईशितुश्चेतितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥ ३४ ॥

पदपदार्थ—(अखिलसत्त्वानाम्) सब जीवों के (तियंङ्मर्त्यदिवीकसाम्) पशु-पक्षी मनुष्य और देवताओं के (ईशितुः) ईश्वर नियामक कृष्ण के (च) आत्मा के (ईशितव्यानां) सेवकों के सम्बन्धी (कुशलाकुशलान्वयः) इष्ट अनिष्ट सम्बन्ध (किमुत) कैसे हो सकता है ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—पूर्व श्लोक में कहा है कि जब ज्ञान से किया कर्म अनिष्टजनक नहीं होता है, तो फिर सब जीव पशु-पक्षी मनुष्य और देवताओं के ईश्वर नियामक कृष्ण को सेवकों के सम्बन्ध-कृत गुण दोषों से इष्ट-अनिष्ट पुण्य-पाप का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ॥ ३४ ॥

(सुबो०) ईश्वरस्य सेवकमारणे सेवकानामन्यथा करणे च न काचित्
शङ्का भवति । यथैहिकी, तथा पारलौकिकी । नियामकाद्धि शङ्का । भगवतो न
नियामकोऽन्योऽस्तीत्याह अखिलसत्त्वानां सर्वजीवानाम् । तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसां
गुणत्रयकार्याणां जीवजडानामप्राकृत-प्राकृतानां वा सर्वेषामेव ईशितुः प्रभोः कृष्ण-
स्य । चकारादात्मनश्च । ईशितव्यानां सेवकानां सम्बन्धी । तत्कृतगुणदोषाभ्यां
कुशलाकुशलयोरन्वयः कुतः । न हि दासीभिः स्वात्मभूताभिः सम्बन्धे अनियम्य-
स्य ऐहिके पारलौकिके वा कश्चनापकारः सम्भवति । अन्तरङ्गैरेव तथा ज्ञायत
इति न सूश्लोक्यतानिवृत्तिः ॥ ३४ ॥

इति न सुश्लोक्यतानवृत्तिः ॥ २४ ॥

ईश्वर सेवक को मारे, अथवा जिलावे, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में रखे, तो भी इसमें नियामक ईश्वर को किसी प्रकार की इसलोक-परलोक की शंका नहीं होती है, कारण कि शंका तो अपने ऊपर कोई नियामक हो, उससे होती है, भगवान् का तो कोई अन्य नियामक नहीं है, इसी बात को शुकमुनि कहते हैं 'अखिलसत्त्वानाम्' सब जीवों के पशु, पक्षी, मनुष्य, देवताओं के भगवान् ईश्वर हैं।

भगवान् ईश्वर हैं।
पशु पक्षी मनुष्य देवता, ये तीनों गुणों के कार्य हैं, अर्थात् पशु-पक्षी तमोगुण के कार्य हैं,
मनुष्य रजोगुण के कार्य, और देवता सत्त्वोगुण के कार्य हैं।
इस प्रकार अर्थ करने से 'अखिलसत्त्वानां' इस पद का 'तिर्यङ्मर्त्यदिवोकसाम्' यह

विशेषण हो जाता है ।
और यदि दोनों पदों को भिन्न-भिन्न मानते हैं, तब इसका व्याख्यान श्रीमहाप्रभु जी इस प्रकार करते हैं 'जीवजडानां' भगवान जीव जड़ों के ईश्वर हैं, इस अर्थ में 'अखिलसत्त्वानां' इस पद से जीवों का वर्णन किया है, और त्रियंङ् आदि पद से जड़ों का वर्णन किया है ।

अथवा तीसरा अर्थ—‘अप्राकृतप्राकृतानां’ भगवान् अप्राकृत और प्राकृतिक पदार्थों के ईश्वर हैं इस अर्थ में पूर्व ‘अखिल’ आदि पद से अप्राकृत और ‘द्वितीयतिर्यङ्’ आदि पद से प्राकृत पदार्थों का वर्णन किया है।

इस प्रकार सब का ही ईश्वर प्रभु कृष्ण है, इलोक में 'च' चकार सूचन करता है कि सब को कृष्ण आत्मा है ।

‘ईशित यानां’ इस पद का चतुर्थ चरण से अन्वय है, इस बात को श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि ईशितव्यों के—सेवकों के सम्बन्धी, अर्थात् सेवकों के किये गुण और दोषों से सब के ईश्वर कृष्ण के लिये इष्ट, अनिष्ट सम्बन्ध कैसे हो सकता है, अपनी आत्मभूत दासियों के साथ सम्बन्ध में कोई भी जिसका नियमन नहीं कर सके, इस प्रकार के सर्व के ईश्वर कृष्ण को इस लोक में तथा परलोक में किसी प्रकार का अपकार सम्भव नहीं होता है ।

अथत्त्वं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रं भगवान् चाहे जो करे कोई कुछ कह नहीं सकता है ।

कृष्ण सब की आत्मा है, ब्रह्म है। इसलिये परलोक के विषय में भी कोई कुछ नहीं कर सकता है।

दासियों के साथ भगवान के सम्बन्ध को अन्तरङ्ग भक्त ही जानते हैं, अन्य कोई नहीं जानते हैं, इसलिये भगवान की अपकीर्ति निन्दा नहीं होगी ॥ ३४ ॥

(सुबो०) नापि कर्ममार्गविचारेण कर्मप्राधान्यपक्षेऽपि दोषः शङ्कनीयः ।
यथा 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्' 'ब्रह्मा वा इदमग्र आसीत्' 'स आत्मान-
मेवावैत्' इत्यादिश्रुतिषु यथा ज्ञानकर्मभ्यामुत्कर्षः, एवमपकृष्टज्ञानकर्मभ्या-
मपकर्षोऽपि सम्भाव्यत इति, तत्राह यत्पादेति ।

कर्ममार्ग के विचार से भी जिसमें कर्म की प्रधानता है, इस पक्ष में भी भगवान में दोष शंका नहीं करनी चाहिए । जिस प्रकार 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्' परमेष्ठी का यह प्रथम यज्ञ हुआ, 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' 'यह ब्रह्म प्रथम था' 'स आत्मानमेवावैत्' वह आत्मा को ही जान इत्यादि श्रुतियों में जिस प्रकार ज्ञान और कर्म का उत्कर्ष कहा है । प्रथम श्रुति में कर्म से उत्कर्ष और द्वितीय श्रुति में ज्ञान से उत्कर्ष कहा है, इसी प्रकार अपकृष्ट, अर्थात् हीन ज्ञान और हीन कर्म से अपकर्ष-अधोगति भी संभावित होती है । इस प्रकार की शंका का समाधान करते श्री शुक्रदेव जी कहते हैं ।

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता

योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।

स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-

स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥ ३५ ॥

पदपदार्थ—(यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ताः) जिस भगवान के चरण कमल के पराग की सेवा से जो तृप्त हैं (योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः) योग के प्रभाव से दूर किया है कर्मों का बंधन (अपि) भी (न) नहीं (नह्यमानाः) बंधन को प्राप्त होते (स्वैर) यथेच्छ अपने इच्छानुसार (चरन्ति) आचरण करते हैं, (इच्छ-

यात्तवपुषः) जिसने अपनी इच्छा से शरीर धारण किया है (तस्य) उस भगवान को (बन्धः)
बन्ध (एव) ही (कुतः) कैसे ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—जिस भगवान के चरण कमल के परागभूत सेवकों की सेवा से तृप्त हैं, और योग प्रभाव से अणिमादि ऐश्वर्य संपत्ति अथवा ज्ञान आदि से जिनका कर्म बन्धन दूर हो गया है, और मुनि भी कर्मबन्धन को प्राप्त नहीं होते हैं, और अपने इच्छानुसार आचरण करते हैं, फिर अपनी इच्छा से शरीर धारण करने वाले भगवान को बंध कैसे हो सकता है ॥ ३५ ॥

(सुबो०) नहि सर्वेषामेव जीवानां समानकर्मणा समानं फलमुपलभ्यते । अन्यथा शास्त्रवैफल्योपपत्तिः । उत्कृष्टकर्मादौ प्रवृत्तो नापकृष्टकर्मणा कादाचित्केन अपकृष्टो भवति । तत्र मार्गत्रयम् । त्रिव्वपि प्रवृत्तो नापकर्षं यातीत्याह । तत्र प्रथमं भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य, तत्र पुष्टस्य, न केनाप्यपकर्षं इत्याह । यस्य भगवतः पादपङ्कजस्य परागभूता ये सेवकाः तेषां निषेवो निषेवणं तेन तृप्ताः । भगवद्भक्तैः सह भगवद्गुणस्मरणेनैव विस्मारितदृष्टश्रुतमुखलेशाभासाः स्वैरं चरन्ति । न तेषां कर्मोत्कर्षापकर्षौ साधकबाधकौ । तथा कर्ममार्गेऽपीत्याह योगप्रभावेति । योगो हि महान् धर्मः । 'अयं हि परमो धर्म' इति स्मृतेः । तस्य प्रभावः अणिमाद्यैश्वर्यसम्पत्तिः ज्ञानादयश्च । तेनैव विशेषेण धृताः । पूर्वकर्मजनिता अपि अखिलकर्मबन्धाः विशेषेण धृता भवन्ति । तेऽपि स्वैरं चरन्ति । ज्ञानमार्गेऽप्याह मुनयोऽपि स्वैरं चरन्तीति । सर्व एव न नह्यमानाः अबध्यमानाः । णह बन्धने । सर्वत्रैव असम्बध्यमानाः । यत्र भगवत्प्रवर्तितमार्गेऽवप्येषा व्यवस्था, तत्र भगवतः किं वक्तव्यमित्याह तस्येच्छया तत्त्वपुष इति । इच्छया भागार्थं आत्तानि वपूषि 'यावत्तीर्गोपयोषित' इति तावन्ति येन । तस्य कुत एव बन्धो भवेत् । यो हि तावद्रूपो भवति, कार्यं कृत्वा च तान्याच्छादयति, तस्य केन कर्मणा बन्धो भवेत् । कर्मं हि प्रतिनियतं व्यवस्थितम् । तत्र यदि भिन्नो भिन्नो जीवः स्यात्, तदा तेन क्रमणा बन्धो वा भवेत् । आकाशवद् भगवद्रूपाणि प्रतिपदमन्यान्येव भवन्ति । यथान्नभेदेनाप्येकदेहव्यवहारः एवं देशभेदेनापि भगवतः सर्वतः पाणिपादान्तस्य तावत्परिच्छेदेन प्रादुर्भाव इच्छयेति । स्वामिनीनां वा वपूषि । अतः सर्वथा प्रमाणप्रमेयविचारेणापि न बन्धः सम्भवति ॥ ३५ ॥

सभी जीवों को समान कर्म से समान फल नहीं मिलता है, कारण कि निषिद्ध कर्म करके यदि प्रायश्चित्त करे तो उस कर्म का अनिष्ट नहीं होता है, यदि ज्ञानी अथवा योगी निषिद्ध कर्म करे, तथा भगवान का भक्त करे तो उसको निषिद्ध भी कर्म से अनिष्ट नहीं होता है, इसलिये समान कर्म से समान फल नहीं होता है, इस प्रकार जो कहा है, वह योग्य ही है।

यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो ज्ञानादिशास्त्र व्यर्थ हो जाता है। अर्थात् यदि साधारण जनों की तरह प्रायश्चित्त करने वाले भी ज्ञानी, योगी और भगवान् के भक्तों को अनिष्ट फल हो, तो प्रायश्चित्त शास्त्र 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्मणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' हे अर्जुन ! ज्ञानरूप अग्नि सर्वकर्मों को भस्म करता है, 'योगेनैव दहेदहः' योग से ही पाप दूर करे 'नाम्नोस्ति यावती शक्तिः पापनिर्दहने मम। तावत्कतुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः' भगवान् कहते हैं कि मेरे नाम की शक्ति जितनी पापदहन करने में है, उतना पाप पातकी जन नहीं कर सकता है, इत्यादि शास्त्र व्यर्थ हो जायेगा।

उत्तम कर्म आदि करने वाला पुरुष कभी नीच कर्म करे तो वह उस नीच कर्म से नीच नहीं होता है, इसमें तीन मार्ग कारण हैं, तीनों मार्गों में प्रवृत्त पुरुष हीन नहीं होता है, इस बात को कहते हैं कि इन तीनों मार्गों में प्रथम भक्ति मार्ग में प्रवृत्त पुरुष का, उसमें भी पुष्टभक्त किसी कर्म से हीन नहीं होता है, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं कि, 'यत्पादपङ्कज' इत्यादि।

जिस भगवान् के चरणकमल के परागभूत सेवकों की सेवा करने से जो पुरुष तृप्त हैं, और भगवान् के भक्तों के साथ भगवद्गुणों का स्मरण करके देखा और सुना सुखलेश का आभास भूल गये हैं, इस प्रकार के पुरुष अपने इच्छानुसार कार्य करते हैं, इस प्रकार के भक्तों को उत्तम कर्म की उत्तमता तथा हीन कर्म की हीनता साधक बाधक नहीं है।

इस विषय में यहाँ प्रकाशकार श्री पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि जिस प्रकार के भक्तों के लक्षण श्री महाप्रभु जी ने कहे हैं, यदि उसी प्रकार के भक्त हों, तो ही उत्तम हीन कर्म साधक बाधक नहीं होते हैं, किन्तु वर्तमान काल में जो भक्त उक्त प्रकार के नहीं हैं, पुष्टिमार्ग में प्रवेशमात्र से इच्छानुसार आचरण करते हैं, उनको दुष्ट जानना चाहिये। उनका सङ्ग नहीं करना चाहिये।

कर्ममार्ग विचार से भी कर्मप्राधान्य पक्ष में भगवान् में दोष शंका नहीं करनी चाहिये, इस प्रकार जो आभास में कहा है, उसका वर्णन करते हैं, (योगप्रभाव) इत्यादि से, योग महान् धर्म है, 'अयं हि परमो धर्मः' इस प्रकार स्मृति में कहा है, योग का प्रभाव-अणिमा आदि ऐश्वर्य संपत्ति, और ज्ञान आदि हैं, इसी योग के प्रभाव से विशेष करके दूर किये कर्म बन्धन जिनमें, अर्थात् योगीजनों में पूर्व कर्म से उत्पन्न हुए भी सर्वकर्मबन्ध योग द्वारा विशेष से दूर हो जाते हैं, इसलिये योगीजन भी अपनी इच्छा से चलते हैं।

अब ज्ञानमार्ग के विषय में भी कहते हैं (मुनयोऽपि स्वीरं चरन्ति) मुनि लोग भी अपने इच्छानुसार चलते हैं।

इस प्रकार भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग, और ज्ञानमार्ग वाले तीनों प्रकार के पुरुष कर्मों से बँधते नहीं हैं।

'नह्यमानाः' इस मूल के पद में 'णह बन्धने' धातु है, इसका बन्धन अर्थ है, इस प्रकार के पुरुषों को सर्वत्र ही बन्धन नहीं होता है।

जब कि भगवान् के किये मार्गों में भी इस प्रकार की व्यवस्था है, तो फिर भगवान् के विषय में क्या कहना चाहिये। इसी बात को श्री शुकदेव जी कहते हैं (तस्येच्छया तव पुषः) अपनी इच्छा से भोग करने के लिये प्रकट किये हैं, शरीर जितनी गोप स्त्रियाँ उतने ही जिसने इस प्रकार के भगवान् को बन्ध ही कैसे हो सकता है, मूल में 'वपु' शब्द शरीर प्राकट्य पर है, इस प्रकार श्री महाप्रभु जी का आशय है। जो भगवान् इतने स्वरूप प्रकट करता है, और कार्य करके उन स्वरूपों को तिरोहित करता है, उस भगवान् को किस कर्म से बन्ध हो सकता है।

भगवान् ने जिस रूप से कर्म किया है, उस रूप का तथा कर्म का आच्छादन तिरोधान ही किया है, उत्पत्ति और नाश नहीं किया है।

इस प्रकार सभी भगवान् के कर्म नित्य हैं, अतः भगवान् में उचित अनुचित कर्म सर्वदा विराजमान हैं, इसलिये किस कर्म से बन्ध हो, कारण कि भगवान् में बन्ध छुड़ाने वाले भी कर्म विद्यमान हैं।

जिस स्थान में मोक्ष करने वाले कर्म नहीं होते हैं, उस स्थान में बंध करने वाला कर्म प्राणी को बंध करता है, और जिस स्थान में बन्ध करने वाले तथा मोक्ष करने वाले दोनों ही प्रकार के कर्म रहते हैं, उस स्थान में बन्धक कर्म से बन्ध नहीं होता है, इसलिये भगवान् में बन्ध संभावना नहीं है, इसी बात को श्री महाप्रभु जी ने सुबोधिनी जी में 'यो हि तावद्रूपः' यहाँ से लेकर 'आच्छादयति' यहाँ तक कहा है।

तिरोभाव से सब कर्मों का नित्यत्व सूचन किया है, इससे भगवान् में सर्वबन्धक और मोक्षक कर्म सर्वदा विद्यमान हैं, इसलिये भगवान् का बन्ध तथा मोक्ष नहीं है, यह भाव है।

कर्म प्रतिनियत हैं, अर्थात् यहाँ नियत, नियत के प्रति लक्ष्य करके हर एक-प्रत्येक जीव का कर्म नियत व्यवस्थित है, अर्थात् उसका समय निर्धारित है, जिस प्रकार 'यथा वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्नियों का आधान करे।

इसी प्रकार क्षत्रियों को भी इस समय में अमुक कर्म करना चाहिये, इस समय अमुक कर्म नहीं करना चाहिये, इत्यादि प्रकार से प्रत्येक का कर्म व्यवस्थित है।

उसमें भी यदि ब्राह्मण क्षत्रिय आदि प्रकार से जीव भिन्न भिन्न हो तो, उस उस जीव को उस उस कर्म से बन्ध हो जाये, किन्तु यहाँ तो भगवान् के बहुत रूप होने पर भी जीव का अभाव है, अतः भगवान् के बहु रूप भी आत्म रूप हैं, यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भाव न होने से भगवान् को कुछ भी कर्म विहित, तथा निषिद्ध नहीं है, अतः बन्ध नहीं है, इस प्रकार योजनाकार लालुभट्ट जी कहते हैं, यह भाव है।

प्रकाशकार पुरुषोत्तम जी तो इस प्रकार कहते हैं कि कर्म अमुक अमुक शरीर का उद्देश्य करके कहा है, शरीर में यदि भिन्न भिन्न जीव हों तो उस शरीर से अथवा कर्मबन्ध हो जाये, आकाश की तरह भगवान् के स्वरूप तो पद पद में अन्य अन्य ही होते हैं।

जिस प्रकार अन्न भेद से भी एक देह का व्यवहार होता है। जब तक जिसके अन्न से देह पोषित होता है, तब तक देह अन्नदाता का होता है, इस प्रकार लोक में व्यवहार होता है। फिर दूसरे के अन्न से पोषित वही देह दूसरे का तब तक होता है, इस प्रकार लोक में व्यवहार होता है।

प्रकाशकार कहते हैं कि अन्न, पृथिवी है, 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' जो पृथिवी में कृष्ण वर्ण है, वह अन्न का है। इत्यादि श्रुतियों से अन्न पृथिवी सिद्ध किया है।

लौकिक देह में वृद्धि - बढ़ना तथा विपरिणाम-अवस्था से और का और हो जाना, आदि के देखने से पृथिवी के अंशों का एकत्र संयोग तथा वियोग के संदेह भेद से भी जिस प्रकार पृथिवी के अंशों की सन्तति का ऐक्य होने से, अथवा अवच्छेद का ऐक्य होने से, एक देह का व्यवहार होता है, उस प्रकार यहाँ पृथिव्यात्मक के साथ देश का ऐक्य न होने के कारण, अवच्छेद देह का ऐक्य नहीं है, अतः एक देह व्यवहार है, इसी बात को कहते हैं कि (भगवतः) इस प्रकार देशभेद से भी भगवान् के 'सर्वतः पाणिपादान्तं' सर्वत्र हस्त चरण आदि हैं, इस प्रकार के भगवान् का उतने ही परिच्छेद से अपनी इच्छा से प्रादुर्भाव है।

यदि कहो कि भगवान् के हस्त चरण सर्वत्र हैं, इस प्रकार का समाधान (आत्मवपुः) इस पद से विरुद्ध है, अतः उक्त प्रकार कोई नहीं माने तो श्रीमहाप्रभु जी प्रकारान्तर से समाधान करते हैं (स्वामिनीनां वा वपुषि) भगवान् ने स्वामिनियों के शरीर भोग करने के लिये अपनी इच्छा से धारण किये हैं, इसलिये स्वामिनियों के शरीरों के अन्य व्यवस्थापकों का अभाव होने से यहां कर्म से बन्ध नहीं है । अतः सर्वथा प्रमाण तथा प्रमेय के विचार से भी भगवान् को बन्ध संभव नहीं है ।

यहाँ तक श्री शुकदेव जी ने राजा परीक्षित की शंका का लौकिक रीति से समाधान किया है, अब आगे छत्तीसवें श्लोक में वस्तुस्थिति के अनुसार समाधान करेंगे ॥ ३५ ॥

(सुबो०) ननु तथापि लोकमर्यादाभग्नत्वात् 'यद् यदाचरति श्रेष्ठः' इति न्यायेन शब्दबलविचारेण बन्धो भवेत् ते ह्यवधूतास्त्रयोऽपि, न ते व्यवहार-नियामकाः । अतो विषमो दृष्टान्त इति चेत्, तत्राह—गोपीनामिति ।

यदि शंका करो कि तो भी मर्यादा का भंग भगवान् ने किया है, 'यदाचरति श्रेष्ठः' जिस जिस आचरण को श्रेष्ठ पुरुष करता है, इतर लोक उसके अनुसार चलता है, इस न्याय से शब्द बल विचार करने से भगवान् को बन्ध ही होगा । और प्रथम श्लोक में भक्ति मार्ग, कर्म मार्ग और ज्ञान मार्ग का अनुसरण करने वालों का उदाहरण दिया है, वे तीनों तो अवधूत हैं, ये जगत् व्यवहार में नियामक नहीं हैं । इसलिये दृष्टान्त विषम है । इस प्रकार की शंका में शुकदेव जी शंका करने वालों को भ्रान्तत्व कहते हैं ।

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनाम् ।

योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥ ३६ ॥

पदपदार्थ—(गोपीनां) गोपियों के (तत्पतीनां च) और गोपियों के पतियों के (सर्वेषाम्) सर्व ही (देहिनाम्) देहधारियों के (अपि) भी (यः) जो भगवान् (अन्तः) भीतर (चरति) भ्रमण करता है, (सः) वह भगवान् (इह) यहां (अध्यक्षः) प्रत्यक्ष (क्रीडनेन) क्रीडा करके (देह भाक्) मनुष्य देह धारण करने वाला है ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—गोपियों के और गोपियों के पतियों के तथा सर्व देहधारियों के भीतर जो भगवान् भ्रमण करता है, वह भगवान् यहाँ प्रत्यक्ष क्रीडा करके पुरुष देह धारण करने वाला है ॥ ३६ ॥

(सुबो०) न हि स्वस्पर्शः स्वस्य कापि निषिद्धः । परा चासौ स्त्री च परस्य च स्त्री । उभयमपि न भगवति । यतः भगवान् गोपीनां तत्पतीनां च आत्मा । बान्धवाः सर्वे लौकिकाश्च न मन्यन्ते इति चेत्, तत्राह । सर्वेषामपि देहिनामय-मात्मैति । यो भगवान् अन्तश्चरति । आसन्नो जीवो वा । सर्ववासिद्वान्त-सङ्ग्रहाय सामान्यवचनं योऽन्तश्चरतीति । स एवायं भगवानध्यक्षः प्रत्यक्षः क्रीड-नेन कृत्वा नटवत् पुरुषदेहं भजते । वस्तुतस्तु नायं पुमान्, न च स्त्री, नाप्यन्यः कश्चित् । 'न स्त्री न षण्डो न पुमानिति' श्रुतेः । अतः केनापि विचारेण नास्य दोषसम्भवः ॥ ३६ ॥

अपना ही स्पर्श अपने को कहीं भी निषिद्ध नहीं है, परस्त्री अर्थात् दूसरी स्त्री, अथवा दूसरे की स्त्री, ये दोनों ही भगवान् में नहीं हैं, कारण कि भगवान् गोपियों की और गोपियों के पतियों की आत्मा है, इस बात को सर्व बान्धव और सर्व लौकिक पुरुष नहीं मानते हैं ।

इस प्रकार शंका करने पर उत्तर देते हैं कि (सर्वेषामपि) सर्व देहधारियों की यह भगवान् आत्मा है, जो भगवान् मुख्य प्राण आसन्न रूप से अथवा जीव रूप से सब के भीतर रहता है ।

प्रथम पक्ष 'मुख्य प्राण रूप' में परितोष न होने के कारण यहाँ दूसरा पक्ष जीव कहा है । इसलिये दूसरा पक्ष जीव उत्तम है, अतः भगवान् गोपियों के जीव रूप होने से गोपियों के देह, भगवान् के ही देह हैं । इसलिये कोई दोष नहीं है । इसी बात को लक्ष्य करके प्रथम कहा है कि अपना स्पर्श अपने को कहीं भी निषिद्ध नहीं होता है ।

सर्ववादियों के सिद्धान्त का संग्रह करने के लिये श्री शुकदेव जी ने सामान्य वचन का प्रयोग किया है कि 'योऽन्तश्चरति' जो भगवान् भीतर भ्रमण करता है, वह भगवान् यह प्रत्यक्ष क्रीडा से नट की तरह पुरुष देह धारण कर रहा है ।

यहाँ 'क्रीडनेन' इस पद से शंका करनेवाले भ्रान्त हैं, इसमें हेतु विशद किया है । वास्तव में तो भगवान् का देह पुरुष नहीं, स्त्री नहीं, और अन्य कोई नहीं है, इस बात को श्रुति बतलाती है कि 'न स्त्री न षण्डो न पुमान्' इस श्रुति में निषेध तत्तद्देह कृत कर्म का किया है, प्रभु तो स्वयं ही पुरुष है, देह के कारण पुरुष नहीं है । इसी से श्रुति में एक ही वाक्य में 'पुरुषं पुरुषविधम्' कहा है । अतः किसी भी विचार से भगवान् को दोष संभव नहीं होता है ॥ ३६ ॥

(सुबो०) ननु तथापि एवं करणे कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राह अनु-ग्रहायेति ।

यदि शंका करो कि तो भी इस प्रकार लीला करने में भगवान् का अभिप्राय क्या है ? इस शंका का उत्तर श्री शुकदेव जी आगे श्लोक में देते हैं ।

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः ।

भजते तादृशीः क्रीडाः याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥ ३७ ॥

पदपदार्थ—(भक्तानां) भक्तों के ऊपर (अनुग्रहाय) अनुग्रह-कृपा करने के लिये (मानुषं) मनुष्य (देहम्) देह को (आस्थितः) स्वीकार करने वाले भगवान् (तादृशीः) उस प्रकार की (क्रीडाः) लीलाओं को (भजते) करते हैं (याः) जिन क्रीडाओं को (श्रुत्वा) श्रवण करके (तत्परोः) भगवत्पर जीव (भवेत्) हो जाये ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये मनुष्य देह में स्थित भगवान् उस प्रकार की लीला करते हैं कि जिनका श्रवण कर जीव भगवत्पर हो जाये ॥ ३७ ॥

(सुबो०) भक्तानामनुग्रहार्थमेव भक्तसमानरूपं देहमास्थितः । विजातीये तेषां विश्वासो न भवेदिति । ततो यथा मनुष्यानुग्रहाय मानुषो देहः प्रदर्शितः, एवं गोपिकानामप्यनुग्रहाय स्वानन्दं गोकुले दातुं तादृशीः क्रीडाः भजते । तत्त-दमंप्रवेशव्यतिरेकेण तस्य तस्य दोषस्यानिवृत्तत्वात् । यद्वा भक्तानां मानुषं देहं प्रति

आस्था सञ्जातास्मिन्निति स तथा । तत्रापि महान् पूर्णकामः सर्वं दातुं शक्तः । न त्वेवं निषिद्धप्रकारेणात्मानं दातुमिति । अत एतां लीलां निरोधपूर्वकादेय-
दानरूपां यः श्रोष्यति, सः सर्वथा भगवत्परो भविष्यतीति भगवता तथाचरणं
कृतम् । तदाह याः श्रुत्वा तत्परो भवेदिति ॥ ३७ ॥

भगवान् भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये ही भक्तसमान रूप धारण करते हैं, अतः
यहां भी भक्तसमान रूप मनुष्यदेह धारण किया है ।

यदि भगवान् भक्तसमान रूप धारण न करते, और विजातीय अन्य प्रकार का रूप
धारण करते तो भक्तों को विश्वास नहीं होता; इससे जिस प्रकार मनुष्यों के ऊपर अनुग्रह करने
के लिये भगवान् ने मनुष्य शरीर का प्रदर्शन किया है, उसी प्रकार गोपियों के ऊपर भी अनुग्रह
करने के लिये भगवान् अपने स्वरूपानन्द का दान गोकुल में करने को उस प्रकार की क्रीड़ा करते
हैं, कारण कि भगवान् के पृथक् पृथक् धर्मों के प्रवेश बिना श्रोताओं के पृथक् पृथक् दोषों की निवृत्ति
नहीं होती है, और जिस भगवान् की लीला श्रवण करने से भगवद्भाव प्राप्त हो जाता है, तो
फिर भगवल्लीला मध्यपाती-भगवान् के साथ लीला करने वाले भक्तों के स्वरूप विषय में क्या
कहना है, यह भाव है ।

अथवा भक्तों के मनुष्यदेह के प्रति आस्था उत्पन्न हुई जिसमें इस प्रकार के भगवान्
हैं, इस पक्ष में 'आस्थितः' इसका विग्रह षष्ठी विभक्ति से ही करना चाहिये यहां 'तदस्य सञ्जा-
तम्' इस सूत्र से 'इतच्' प्रत्यय हुआ है । इसका अन्वय इस प्रकार है कि भक्तों के मनुष्यदेह के
प्रति आस्था उत्पन्न हुई, इस प्रकार का भगवान् अनुग्रह करने के लिये उस प्रकार की लीला
करता है, कि जिस लीला का श्रवण कर जीव भगवत्परो हो जाता है ।

अब अनुग्रह-पद का तात्पर्य कहते हैं कि (तत्रापि) उसमें भी भगवान् ने भक्तों के
मनुष्य देह के प्रति आस्था की है, उसमें भी भगवान् महान् पूर्णकाम सर्वं वस्तु दान करने के
लिये समर्थ है, किन्तु इस निषिद्ध प्रकार से आत्मा का स्वरूपानन्द का दान नहीं दे सकता है,
अर्थात् अनुग्रह की उक्ति से स्वयं पूर्णकाम होने के कारण निषिद्ध प्रकार से स्वरूपानन्द देने के
लिये समर्थ नहीं है, अतः उक्त प्रकार निषिद्ध नहीं है, भगवान् तो स्वरूपभूत ही आनन्द देने में
समर्थ है, इसलिये जिस प्रकार जीव इन्द्रियों के द्वारा सुख उत्पन्न करता है, उस प्रकार भगवान्
इन्द्रियों के द्वारा सुख उत्पन्न नहीं करता, अतः रमण प्रकार निषिद्ध नहीं है ।

इस प्रकार भगवान् की लीला में निषिद्ध प्रकार नहीं होने से जो मनुष्य निरोधपूर्वक
अदेय दानरूप-देने योग्य नहीं इस प्रकार के स्वरूपानन्द का दानरूप, इस भगवान् की लीला का
श्रवण करेगा, वह सर्वथा भगवत्परो हो जायेगा, इसीलिये भगवान् ने इस प्रकार का आचरण किया
है, इसी बात को श्री शुक्मुनि कहते हैं कि 'याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्' जिस लीला का श्रवण कर
जीव भगवत्परो हो जाता है ॥ ३७ ॥

(सुबो०) ननु तथापि लोकव्यवहारे स्त्रियोऽन्याधीना इति अदत्तोपादानं
गोपानां मनसि खेदः तैः क्रियमाणा अपकीर्तिश्च भवेदित्याशङ्क्याह नासूयन्निति ।
यदि शंका करो कि भगवान् ने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करके इस प्रकार का जो आचरण
किया है, इसके श्रवण करने वालों को भी भगवत्परोता हो जाती है, इस प्रकार आपका कहना

सब ठीक है, किन्तु तथापि लोक व्यवहार में स्त्रियां अन्याधीन होती हैं, इसलिये बिना दी हुई
वस्तु का लेना, गोपों के मन में खेद और गोपों द्वारा भगवान् की अपकीर्ति करना, इस प्रकार
तीन दोष प्राप्त होते हैं । इस शंका के उत्तर में कहते हैं ।

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥ ३८ ॥

पदपदार्थ—(तस्य) उस भगवान् की (मायया) माया से (मोहिताः) मोहित हुए
(व्रजौकसः) व्रजवासी गोप, (स्वान्) अपनी (स्वान्) अपनी (दारान्) स्त्रियों को (स्वपार्श्व-
स्थान्) अपने पास ही (मन्यमानाः) मानते (कृष्णाय) कृष्ण के लिये (न) नहीं (असूयन्)
ईर्ष्या से देखे (खलु) यह बात प्रसिद्ध है ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—भगवान् की माया से मोहित व्रजवासी गोप अपने पास ही अपनी अपनी स्त्रियों
को मानते कृष्ण के लिये ईर्ष्या से नहीं देखते थे, यह बात प्रसिद्ध है ॥ ३८ ॥

(सुबो०) ते भगवन्तं नासूयन्, असूयया न दृष्टवन्तः । प्रथमतः प्रवृत्ति
ज्ञात्वापि भगवन्मायया मोहिता नासूयन् । अग्रे तु स्वपार्श्वस्थानेव स्वान् स्वान्
दारान् मन्यमाना जाताः । यतो व्रजौकसः पूर्वपिरानुसन्धानरहिताः । सर्वथा
अङ्गीकृता इति वा । एतादृशानां प्रभौ दोषारोपासम्भवादिति भावः । अयमर्थः
सर्वजनीन इति खल्वित्युक्तम् । भगवत्सान्निध्येऽपि मोहार्थं तस्येति । बुद्धिरेव
तेषां भ्रमात् । शिष्टं भगवत एवेति । मननमात्रेणैव सर्वदोषपरिहारः । अनेन
तास्वपि दोषारोपो निवारितः ॥ ३८ ॥

गोप भगवान् को ईर्ष्या से नहीं देखते हुए, गोप प्रथम इस बात को जानते थे कि हमारी
स्त्रियां भगवान् के पास गई हैं, प्रथम इस बात को जान करके भी भगवान् की माया से मोहित
हुए भगवान् से ईर्ष्या नहीं करते थे ।

भगवान् के निकट गमन से लेकर पुनः अपने घर लौटने तक अपने पास हमारी स्त्रियां
स्थित हैं, इस प्रकार अभिमान से ईर्ष्या की संभावना ही नहीं है, इस बात का हृदय में विचार
करके कहते हैं कि 'अग्रे तु' आगे तो अपने पास में स्थित ही अपनी अपनी स्त्रियों को मानते हुए,
इसमें कारण कहते हैं कि (व्रजौकसः) व्रज में रहने वालों को पूर्व पर का अनुसंधान नहीं
रहता है ।

अज्ञान से गोपों ने भगवान् को दोष नहीं लगाया, इससे भगवान् ने गोपों का अङ्गीकार
नहीं किया है, इस प्रकार सूचित होता है, इसी अरुचि से पक्षान्तर कहते हैं (अथवा) 'व्रजौकसः'
व्रजवासियों का भगवान् ने सर्वथा अङ्गीकार किया है, इस प्रकार अङ्गीकृत व्रजवासियों का प्रभु
में दोषारोपण करना संभव नहीं होता है । यह भाव है ।

मूल का 'खलु' पद सूचित कर रहा है कि इस अर्थ को सब लोग जानते हैं 'सर्वथा अङ्गी-
कृता इति वा' इस पक्ष में मायापद बुद्धिवाचक है, अनेकार्थकोश में कहा है 'स्यात् मायां शाम्बरी
क्रिया, दम्भो बुद्धिश्च' ।

इस पक्ष में इस प्रकार अर्थ है कि भगवान की माया से भगवत्सम्बन्धिनी उत्तम बुद्धि से मोहित-अर्थात् अत्यन्त स्नेह कला युक्त होने वाले गोपों ने भगवान की असूया नहीं की, 'खलु' यह बात प्रसिद्ध है कि अपनी स्त्रियों को अपने अपने पास मानते सम्मान करते हुए। इसी अर्थ को आगे विशद करते हैं कि गोपियां भगवान के पास में थीं, फिर भी गोपों को मोह हो गया, इस बात का ज्ञापन मूल में (तस्य) भगवान की माया से, यह पद करता है।

भगवान की माया से गोपों की बुद्धि ही भ्रम से इस प्रकार की हो गई कि गोपियां हमारे समीप में ही स्थित हैं, भगवान ने इस प्रकार का भ्रम संपादन करके गोपों की बुद्धि ही माया से मोहित कर दी, भ्रम से गोपों की बुद्धि इस प्रकार की हो गई कि हमारी स्त्रियां हमारे समीप में ही हैं, भगवान के समीप नहीं गईं।

इस प्रकार की बुद्धि केवल गोप संबन्धिनी है, शेष सर्व देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण जीव आस घर आदि भगवान का ही है, भगवदीय है, इस प्रकार मनन करने से वास्तव में भगवान के रमण करने में भी दोष नहीं है। बुद्धि से दोषारोप भी संभव हो सकता है, कारण बुद्धि इस समय भगवदीय नहीं है, शेष सब देह आदि भगवदीय हैं, इस प्रकार मन में विचार करने से सब दोष मन से दूर हो सकते हैं।

गोपियों का भी सब भगवदीय है, इसलिये गोपियों के प्रसिद्ध पति भी भगवदीय वस्तु के भीतर होने से निवेदित हैं। अतः गोपियों के पतियों की भगवान में दोष बुद्धि की स्फूर्ति ही महान् दोष है, वह दोषारोप 'मन्यमानाः स्वपाश्वस्थान्' गोपियों को अपने पास मानने से दूर हो गया है, अतः सब दोष का परिहार है।

इस प्रकार गोप निर्दोष हैं, और निर्दोष भगवान के सङ्ग से गोपियों में भी किसी प्रकार का दोष नहीं है।

यदि गोप निर्दोष नहीं होते तो गोपों के संसर्ग से उत्पन्न दोष गोपियों में भी आ जाता।

यहां प्रथम (ब्रजौकसः) इस पद में दो पक्ष कहे हैं, प्रथम पक्ष में ब्रजवासी हैं, इसलिये इनको पूर्व पर का अनुसन्धान नहीं होता है, इस प्रकार प्रथम अज्ञान पक्ष, और द्वितीय पक्ष, ब्रजवासियों का भगवान ने सर्वथा अङ्गीकार किया है, इस प्रकार दो पक्ष कहे हैं, उसमें जो गोप रात्रि में गान करते हैं, उनका समावेश द्वितीय पक्ष में है, और अन्य गोप जो अज्ञान से भगवान में दोषारोप नहीं करते हैं, उनका समावेश प्रथम पक्ष में है ॥ ३८ ॥

(सुबो०) एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य उक्तां लीलामुपसंहरति ब्रह्मरात्र इति ।

इस प्रकार प्रासङ्गिक दोष का परिहार करके पूर्व वर्णित लीला का उपसंहार श्री शुकदेव जी करते हैं।

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।

अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ॥ ३९ ॥

पदपदार्थ—(ब्रह्मरात्रे) अरुणोदय (उपावृत्ते) सम्यक् प्राप्त होने पर (वासुदेवानुमोदिताः) वासुदेव भगवान से अनुमोदित (गोप्यः) गोपियां (भगवत्प्रियाः) भगवान जिनको प्यारे अथवा भगवान की प्यारी (अनिच्छन्त्यः) घर जाने की इच्छा नहीं करती (स्वगृहान्) अपने अपने गृहों को (ययुः) गईं ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—ब्रह्मरात्र अरुणोदय होने पर वासुदेव भगवान से अनुमोदित भगवान की प्रिय गोपियां घर जाने की इच्छा न होने पर भी अपने अपने गृहों को गईं ॥ ३९ ॥

(सुबो०) अरुणोदयो ब्रह्मरात्रम्, तस्मिन् उपावृत्ते सम्यक् जाते । तदन्तर्गमितया प्रविष्टो भगवान् गृहे गन्तव्यमितीच्छामुत्पादितवान् । ततः भगवतानु-जाताः । यतो भगवान् मोक्षदाता । ताश्चेत् आसन्ध्यमन्तःस्मरणं करिष्यन्ति, तदा मोक्षाधिकारिण्यो भविष्यन्तीति वासुदेवेनानुमोदिताः । यद्यपि तासामिच्छा न स्थिता, सर्वपरित्यागेन भगवद्भजनस्य कृतत्वात्, किं गृहेण लोकैर्वेति, तथापि गोप्य इति, विपरीतबुद्धिर्हन्तुबुद्धिश्च तासां नास्तीति, स्वगृहान् ययुः । तथापि तासां न गृहाः प्रियाः, किन्तु भगवानेव । नापि संसारभयम्, यतो भगवतः प्रियाः ॥ ३९ ॥

अरुणोदय-ब्रह्मरात्र जिस समय अरुणोदय हुआ, उस समय गोपियों में अन्तर्गामी रूप से प्रविष्ट भगवान गृह में जाना चाहिये इस प्रकार की इच्छा उत्पन्न करते हुए, अर्थात् गोपियों ने घर जाने की इच्छा प्रकट की, और भगवान ने घर जाने की आज्ञा प्रदान कर दी, कारण कि भगवान मोक्षदाता है।

दिन में विप्रयोग से उत्पन्न आर्ति में और सायंकाल प्रिय भगवान के संगम में जो आनन्द प्राप्त होता है, वह भगवान के सदा दर्शन में नहीं है, इसलिये यहां विप्रयोग के अनन्तर भगवान के समागम में जो आनन्द है वह मोक्ष पद से कहा है।

प्रकाशकार कहते हैं कि यदि शंका करो कि पूर्व श्लोक में दार पद से यहां अन्यपूर्वा-श्रुतिरूपा गोपियों का ही गृह गमन है, कुमारिकाओं का गृहगमन नहीं है। इस शंका का निरास श्री टिप्पणी में 'दिवाविप्रयोग' इत्यादि कहने से ही कर दिया है, यह जानना चाहिये।

सभी गोपियां अपने अपने घर गईं, गोपियां यदि सन्ध्या समय तक अन्तःकरण में भीतर भगवान का स्मरण करेंगी, तो मोक्ष की अधिकारिणी हो जायेंगी, इसके लिये वासुदेव ने—मोक्ष-दाता ने अनुमोदित किया, अर्थात् गोपियों में घर जाने की इच्छा उत्पन्न की।

यद्यपि गोपियों के घर जाने की इच्छा नहीं थी, कारण कि सर्व त्याग करके भगवान का भजन किया है, फिर गोपियों को घर जाने से क्या प्रयोजन है, और लोक से क्या प्रयोजन है तथापि, 'गोप्यः' गोपियां हैं, इनकी विपरीत बुद्धि और हठबुद्धि नहीं है, इसलिये अपने अपने गृहों को चली गईं, अपने गृह सभी गोपियों को प्रिय नहीं हैं, किन्तु भगवान ही प्रिय हैं, गोपियों को संसारभय भी नहीं है, कारण कि भगवान की प्रिया हैं ॥ ३९ ॥

(सुबो०) मोक्षार्थमिदं चरित्रमिति ज्ञापयितुं एतदुपाख्यानश्रवणस्य फल-माह विक्रीडितमिति ।

भगवान का यह चरित्र मोक्ष देने के लिये है, इस बात को ज्ञापन करने को श्री शुकदेव जी इस उपाख्यान श्रवण का फल कहते हैं।

विक्रीडितं ब्रजवधूभिरिदं च विष्णोः

श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं

हृद्रोगमाश्रयपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे

रासक्रीडावर्णनं नाम त्रिंशोऽध्यायः ।

पदपदार्थ—(ब्रजवधूभिः) गोपियों के साथ (विष्णोः) व्यापक भगवान का (इदं) इस (विक्रीडितं) रमण चरित्र को (यः) जो कोई (श्रद्धान्वितः) श्रद्धायुक्त पुरुष (अनु-
शृणुयात्) श्रवण करे (अथ) अनन्तर (वर्णयेत्) वर्णन करे वह (भगवति) भगवान में
(परां) पर (भक्तिं) भक्ति को (प्रतिलभ्य) प्राप्त करके (हृद्रोगम्) हृदय रोग (कामं)
काम को (आशु) शीघ्र (अपहिनोति) दूर करता है (च) और वह (अचिरेण) अल्पकाल में
(धीरः) धीर हो जाता है ॥ ४० ॥

भाषार्थ—गोपियों के साथ व्यापक भगवान के इस रमणचरित्र को श्रद्धायुक्त जो कोई
पुरुष श्रवण करे और अनन्तर वर्णन करे वह भगवान में पराभक्ति प्राप्त करके हृदय रोग काम
को शीघ्र दूर करता है, और फिर अल्प काल में धीर हो जाता है ॥ ४० ॥

(सुबो०) ब्रजवधूभिः सह भगवत इदं विशेषेण क्रीडितं श्रद्धान्वितो भूत्वा
सम्यक् कथ्यमानमुपशृणुयात् । अथवा वर्णयेत् । श्रवणानन्तरमेव कीर्तनमि-
त्यथशब्दः । य इति नात्र वर्णादिनियमः किन्तु यः कश्चन । भगवतो माहात्म्य-
श्रवणादेवमपि मोचयतीति । भक्तानां च सर्वथा प्रतिपत्तिश्रवणाच्च । भगवति
परां भक्तिमुपगतः । ततो भक्त्या अन्तःस्थिरीभूतया हृदयस्य रोगरूपं काम-
माशु शीघ्रमेवापहिनोति । यः पूर्वं हृदयबाधकत्वेन स्थितः, शीघ्रमेव च बाध-
कर्ता, तमाश्वेव दूरीकरोति । श्रवणमात्रेणैव । ततः पूर्ववासनया पुनरुद्गमे
अचिरेणैव धीरो भवति । अत इदं साभिप्रायं श्रोतव्यमिति फलप्रकरणत्वात् फल-
मुक्तम् ॥ ४० ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिण्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षित-
विरचितायां दशमस्कन्धविवरणे त्रिंशोऽध्यायविवरणम् ।

गोपियों के साथ भगवान का यह विशेष करके क्रीडित-रमण चरित्र श्रद्धायुक्त हो करके
सम्यक् प्रकार से कहा गया जो कोई श्रवण करे अथवा वर्णन करे, श्रवण के अनन्तर ही कीर्तन
होता है, इसलिये मूल में 'अथ' शब्द कहा है, मूल में 'यः' शब्द है, इससे श्रवण करने में ब्राह्मण
आदि वर्ण का नियम नहीं है, किन्तु जो कोई श्रवण करे, अथवा वर्णन करे उसको आगे कहा

फल प्राप्त होता है । भगवान का माहात्म्य श्रवण करने से इस प्रकार का भी संसार से मोक्ष करता
है, अर्थात् जीव में अन्य गुण होने पर भी इस चरित्र का श्रवण-वर्णन करने मात्र से ही मुक्त हो
जाता है ।

भक्तों की श्रवण करने से भगवान में सर्वथा प्रतिपत्ति हो जाती है, और भगवान में परा-
भक्ति हो जाती है, इसके अनन्तर भीतर स्थिर होने से हृदय का रोगरूप काम शीघ्र ही दूर हो
जाता है, जो काम प्रथम हृदय की बाधकत्व से स्थित था, और शीघ्र ही बाध करने वाला था,
उस हृदय रोग काम को इस लीला के श्रवणमात्र से शीघ्र ही दूर करता है, इसके अनन्तर पूर्व
वासना से काम फिर उत्पन्न होने पर भगवान की लीला श्रवण करने वाला पुरुष शीघ्र ही धीर
हो जाता है, इसलिये भगवान का यह रमण चरित्र अभिप्राय सहित इसका रहस्य समझ करके
ही सुनना चाहिये । यह फल प्रकरण है, इसलिये फल का वर्णन किया है ।

श्लोक में 'हृद्रोगमाशु' इसका 'आशुहृद्रोग' इस प्रकार अन्वय करके श्री महाप्रभुजी ने
व्याख्यान किया है, 'शीघ्रमेव च बाधकर्ता' और 'तमाश्वेव दूरीकरोति' इस वाक्य में आशु शब्द
का 'अपहिनोति' इस पद के साथ अन्वय करके व्याख्यान किया है, इस प्रकार आशु पद का देहली-
दीपक न्याय से दोनों जगह अन्वय किया है । इस प्रकार जानना चाहिये ॥ ४० ॥

अब श्री गो० विठ्ठलनाथ जी फल प्रकरण की टिप्पणी की समाप्ति में कहते हैं ।

श्रुतिसिद्धरसात्मत्वं प्रकटीकृत्य भूतले ।

क्रीडन् मल्लोचने शशच्छिरीकुरुते प्रभुः ॥

श्रुतियों में जिस प्रकार भगवान का स्वरूप रसरूप कहा है, उस स्वरूप को भूतल में
प्रकट करके प्रभु क्रीडा करते मेरे नेत्रों में निरन्तर झीतलता करते हैं । योजनाकार लालभट्ट जी
योजना की समाप्ति में कहते हैं ।

शृङ्गारस्थायिभावत्वाद् बालकृष्णस्वरूपवान् ।

स एव रसतां प्राप्नो गोवर्धनधरः प्रभुः ॥

शृङ्गार के स्थायी भाव होने के कारण बालकृष्ण स्वरूपवान ही रसता को प्राप्त गोवर्धन
धारण करनेवाले प्रभु हैं ।

मार्गशीर्षसिते पक्षे सप्तम्यां चन्द्रवासरे ।

वर्षे श्रीविक्रमांकस्य त्रिकराभ्रकरमिते (२०२३) ॥ १ ॥

चतुर्वेदकुलोत्पन्नजगन्नाथस्य शर्मणः ।

फलाध्यायस्य भाषेयं पूर्णं जाता कृपाबलात् ॥ २ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनी के श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितदशमस्कन्ध-
तामसफलप्रकरणतीसवीं अध्याय के उपलब्ध साहित्य सहित मथुरास्थ
जगन्नाथ चतुर्वेदी (सर्वन) कृत भाषाविवरण पूर्ण हुआ ।

समाप्तश्चास्य ग्रन्थः ।

रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनीगत-
श्रीमद्भागवतोक्तश्लोकानुक्रमणिका

अटति यद् भवानह्नि	३०५	कच्चित्तुलसि कल्याणि	१९५	तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं	३३०
अतोऽत्र भगवांश्चक्रे	४०६	कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्मं	४६३	तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण	३४०
अत्र प्रसूनावचयः	२३०	कस्याः पदानि चैतानि	२२२	ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल	४९३
अथवा मदभिस्नेहाद्	८७	कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्त	४४८	ततो गत्वा वनोद्देशं	२३५
अनयाऽऽराधितो नूनं	२२४	कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः	२०९	ततो दुन्दुभयो नेदुर्	४२६
अनुग्रहाय भक्तानां	५१७	कस्याश्चित् स्वभुजं न्यस्य	२१३	ततोऽविशन् वनं चन्द्र	२४७
अन्तर्गृहगताः काश्चित्	४३	काचित् कराम्बुजं	३३३	तत्राऽतिशुशुभे ताभिर्	४२९
अन्तर्हिते भगवति	१७६	काचिदब्जलिनाऽग्ल्लात्	३३५	तत्रारमत गोविन्दो	४१६
अन्विच्छन्त्यो भगवतो	२४५	काचिद् रासपरिश्रान्ता	४४३	तत्रैकांसगतं बाहुं	४४५
अपराऽनिमिषद्दृग्भ्यां	३३९	काचित् समं मुकुन्देन	४३८	तत्रैकोवाच हे गोपाः	२१५
अप्येष पत्न्युपगतः प्रिययेह	२००	कामं क्रोधं भयं स्नेहं	४९	तत्रोपविष्टो भगवान्	३६१
अस्याः सर्वोपकाराय	४०६	कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं	४०६	तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रिया	४७६
अस्वर्ग्यमयशस्यं च	९२	का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृत	१४४	तदोदुराजः ककुभः करैर्मुखं	२३
आरुह्यैका पदाक्रम्य	२१५	किं ते कृतं क्षिति तपो	१९८	तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्भुजो	३५४
आहूय दूरगा यद्वत्	२१२	कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः	११६	तद्यात मा चिरं गोष्ठं	८५
इति गोप्यः प्रगायन्त्यः	३१६	कृत्वा तावन्तमात्मानं	४८१	तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन	१३५
इति विक्लवितं तासां	१५४	कृत्वा मुखान्यवशुचः	९७	तन्मनस्कास्तदालापाः	२४८
इति विप्रियमाकर्ण्य	९६	कृष्णं विदुः परं कान्तं	४७	तमेव परमात्मानं	४३
इत्थं भागवतो गोप्यः	४१३	कृष्णरामायते द्वे तु	२११	तया कथितमाकर्ण्य	२४६
इत्युन्मत्तवचो गोप्यः	२०५	कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य	४७८	तव कथामृतं तप्तजीवनं	२८३
इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताः	२३५	केशप्रसाधनं त्वत्र	२३१	तस्या अमूनि नः क्षोभं	२२८
उक्तं पुरस्तादेतत्ते	४९	गतिस्मितप्रेक्षण	१८१	ता दृष्ट्वान्तिकमायाता	७२
उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना	४३४	गत्यानुरागस्मित	१७७	ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्ग	४८६
उपगीयमान उद्गायन्	१६५	गायन्त्य उच्चैरमुमेव	१८३	ताभिर्विधूतशोकाभिर्	२४६
एका भ्रुकुटिमावध्य	३३६	गोपीनां तत्पतीनां च	५१६	ताभिः समेताभिर्द्वार	१६२
एकोनत्रिंशकेऽध्याये	३१५	गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डल	४८४	ता वार्यमाणाः पतिभिः	४०
एवं कृष्णं पृच्छमाना	२१८	गोप्यो लब्ध्वाऽच्युतं कान्तं	४५८	तासां तत्सौभगमदं	१७०
एवं परिष्वङ्गराभिमर्शं	४६७	चलसि यद् व्रजाच्चालयन्	२९२	तासामतिविहारेण	४८३
एवं भगवतः कृष्णाद्	१६९	चित्तं सुखेन भवतापहृतं	१२३	तासामाविरभूत् शीरिः	३२०
एवं मदर्थोज्झितलोकवेद	३९४	चूतप्रियालपनसाशन	१९७	ताः समादाय कालिन्ध्या	३५०
एवमुक्त्वा प्रियामाह	२३६	जयति तेऽधिकं जन्मना	२५५	तैस्तैः पदैस्तत्पदवी	२२१
एवं शशाङ्कांशुविराजिता	४९५	जलं वायुश्च सामग्री	४०६	त्रिशक्तमे हरिः प्रीतो	४०६
कच्चित् कुरबकाशोक	१९३				

पृष्ठांकाः	पृष्ठांकाः	पृष्ठांकाः
दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैः २९६	प्रणतकामदं पद्मयाचितं २९९	रहसि संविदं हृच्छयोदयं ३०८
दुःशीलो दुर्भंगो वृद्धो १०	प्रणतदेहिनां पापकर्षणम् २७४	रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो ४१९
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रता ४३	प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं २८९	रेमे तथा चात्मरत २३१
दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित् ३६	प्रेष्ठं प्रियेतरमिव ९८	लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या ३८
दृष्टं वनं कुसुमितं ९३	बद्धान्यया सखा काश्चित् २१७	वलयाणां नूपुराणां ४२७
दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ १९०	बाहुप्रसारपरिरम्भ १६७	विक्रीडितं व्रजवधूभिर्दं ५२१
दृष्ट्वा कुमुदन्तमखण्डमण्डलं ३२	बाहुं प्रियांस उपधाय २०२	विरचिताभयं वृष्णिधूर्यं ते २६८
दैत्यायित्वा जहारान्या २१०	ब्रह्मरात्र उपवृत्ते ५२०	विपजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् २६४
धन्या अहो अमी आत्यो २२७	भगवानपि ता रात्रीः १५	वीक्ष्यालकावृत्तमुखं तव १३८
न खलु गोपिकानन्दनो २६५	भजतोऽनुभजन्त्येक ३६७	व्रजजनातिहन् वीर २७०
न चैवं विस्मयः कार्या ४९	भजतोऽपि न वै केचिद् ३८३	व्रजवनीकसां व्यक्तिरङ्गं ते ३१०
नद्याः पुलिनमाविश्य १६६	भजन्त्यभजतो ये वै ३७७	व्यक्तं भवान् व्रजभ्यातिहरो १५१
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां ३९८	भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां ८९	शरच्चन्द्रांशुसन्दोह ३५२
न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र २२९	मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया २८०	शरदुदाशये साधु जात २५८
नहि साधनसम्पत्त्या ३१५	मातरः पितरः पुत्राः ८०	श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानात् ९३
नासूयन् खलु कृष्णाय ५१९	मानं दधत्य ऋषभस्य ४८४	श्रीयत्पदाम्बुजरजश्चकमे १३२
नाहं तु सख्यो भजतोऽपि ३९०	मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां २१४	सन्तुष्टः सर्वदुःखानि ३१५
निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनं ३४	मालत्यदर्शि वः कच्चित् १९६	समाजयित्वा तमनङ्गदीपनं ३६४
नृणां निःश्रेयसार्थाय ४९	मिथो भजन्ति ये सख्यः ३७१	सर्वास्ताः केशबालोक ३४४
नृत्यती गायती काश्चित् ४५६	मैवं विभोऽर्हति भवान् १०३	सा च मेने तदात्मानं २३५
पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवाः ३०७	यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं ३११	सिञ्चाङ्गं नस्तदधरामृत १२५
पदानि व्यक्तमेतानि २२०	यत्पत्यपत्यमुहूदामनु ११०	सुरतवर्धनं शोकनाशनं ३०३
परिवेषयन्त्यस्तद्वित्वा ३८	यं मन्येरन् नभस्तावद् ४१९	सोऽम्भस्यलं युवतिभिः ७५
पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः ४३०	यहाम्बुजाक्ष तव पादतलं १२९	स्वागतं वो महाभागाः २४३
पुनः पुलिनमागत्य २५०	रजन्येषा घोररूपा ७८	हा नाथ रमण प्रेष्ठ
पृच्छतेमा लता बाहू २०४	रसात्मकस्तु यः कामः ४०६	

रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनीगत- व्याख्योद्धृतश्लोकानुक्रमणिका

पृष्ठांकाः	पृष्ठांकाः	पृष्ठांकाः
अतोऽत्र भगवांश्चक्रे ४०६	ततो रूपप्रपञ्चस्य ३	राजसी तामसी चैव २५२
अतो न कापि मर्यादा १५७	ततो हि भजनानन्दः २	लीकिकस्त्रीषु संसिद्धः २
अथवा प्रार्थनाद् यायाः २५२	तथैवानन्यपूर्वाश्च २५२	वाक्प्राणैस्तु तृतीया स्यात् ३
अनन्यपूर्वा द्विविधा २५२	तदर्थं भगवांस्तासु १७४	वाक्यानां बाधवाक्यानि १०२
अन्तःस्थितो रसः पुष्टो २६४	तत्तद्वाक्यानुसारेण तासां २५२	शब्दो हि धूमवज्जोके १८४
अष्टाविंशे हरेर्नामं २५२	तमोरजःसत्त्वभेदाः ७६	श्रीकृष्णगोपिकास्तत्र २५०
अस्याः सर्वोपकाराय ४०६	तादृशीं भावनां कुर्यात् ५४	षड्गुणैश्वर्यभावेन १५४
आत्मा यावत् प्रपन्नोऽभूत् ३	तिरोभावस्ततश्चाऽपि १५४	षड्विंशे तु हरिः पूर्व ३
एकोनविंशकेऽध्याये ३१५	त्रिंशत्तमे हरिः प्रीतो ४०६	सत्त्वादिगुणभावेन २०७
एकोनविंशतिविधा गोप्यः २५२	दोषोऽभिमानवचनं २३६	सन्तुष्टः सर्वदुःखानि ३१५
कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं ४६०	नहि साधनसम्पत्त्या ३१५	सत्त्वविशेषे तिरोधानात् १७४
कामेन पूरितः कामः १५६	पुनस्ता एव त्रिविधा २४२	सर्वत्र हरिबुद्ध्या वा २०७
कृत्रिमत्वात् भावस्य १८४	पूर्वोक्तमपि सर्वं हि २८१	सात्त्विकी तामसी चैव २५२
कृष्णभावनया सिद्ध २५२	बाह्याभ्यन्तरभेदेन २	सामान्यरमणं पूर्वं १५४
क्रिया सर्वापि सैवात्र १५६	ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्य २	स्त्रिय एव हि तां पातुं २
गर्वाभावश्च तत्रादौ १७४	भक्त्यातिमत्तास्तद्भावम् २०७	स्वयं प्रयुक्तकरणात् २३७
जलं वायुश्च सामग्री ४०६	भगवच्चरितं सर्वं यतो १५७	स्वानन्दस्थापनाथयि १७४
जीवेऽन्तःकरणे चैव ५४	यथा भगवतो नागात् १८४	हरेर्नामं प्रियं मत्वा २५१
ततो नानाविलासेन १५४	रसात्मकस्तु यः कामः ४०६	हस्तेन च स्वरूपेण २८१

Handwritten text at the top of the left page, possibly a title or header.

Main body of handwritten text on the left page, consisting of approximately 15 lines of script.

Large area of handwritten text on the right page, appearing as a continuous block of script.

